आ. पक्षी घोंसले क्यों बनाते हैं ? क्योंकि ऐसा करने की उनकी सहज प्रवृत्ति होती है।

इ. अधिकतर प्राणी जितने अंडे देते हैं उनकी संख्या उनकी अपेक्षा अधिक क्यों होती है जो पूर्णतः विकसित बच्चे बन सकते हैं ? क्योंकि वे जाति को अन्य प्रतिस्पर्धी जीवों, शीत, तूफान और अन्य विनाशकारी तत्त्वों से नष्ट होने से बचाना चाहते हैं।

ई. मित्रराष्ट्र दूसरे महायुद्ध को क्यों जीत गए ? क्योंकि वे यही चाहते थे और आम तौर पर लोग जो चाहते हैं कर ही डालते हैं।

उ. यह पदार्थ गरम होने पर अधिक हल्का (आयतन की प्रत्येक इकाई के अनुसार) क्यों हो जाता है ? क्योंकि इसमें एक अदृश्य पदार्थ फ्लोजिस्टन है और इसकी मात्रा इसमें जितनी अधिक होगी उतना ही यह अधिक गरम होगा ; फ्लोजिस्टन इतना हल्का होता है कि उसकी हानि से वस्तु अधिक भारी हो जाती है।

ऊ. वह कल रात क्यों पहुँचा ? क्योंकि ऐसी ही ईश्वर की इच्छा थी और ईश्वर जो चाहता है वही होता है।

ए. वह चीज पानी में डूब क्यों गई ? क्योंकि वह लोहे की बनी है।

ऐ. आज मैं और आप शहर में कैसे मिल गए ? क्योंकि आज सुबह हम बाजार के खुलते ही एकही दूकान में पहुँचना चाहते थे।

ओ. यह घड़ी रोजाना कई बार क्यों बंद हो जाती है ? क्योंकि इसके अंदर एक शैतान बैठा है।

औ. लॉटरी में आप एक लाख रुपए का इनाम कैसे जीत गए ? क्योंकि कुछ लोग बड़े भाग्यशाली होते हैं।

अं. वह दरवाजा अभी क्यों खुला ? क्योंकि किसी दरवाजा खोलनेवाली शक्ति ने ऐसा किया।

८. उस महिला ने उसे छुरा क्यों मार दिया ? उत्तर १ : 'क्योंकि वह उससे तीव्र घृणा करती थी और उसे मरा हुआ देखने की उसकी सबसे बडी इच्छा थी।" उत्तर २ : "क्योंकि उसके मस्तिष्कीय द्रव्य के कुछ कणों की हलचल के फलस्वरूप किन्हीं तंत्रिकीय पथों से विद्युत्-रासायनिक आवेग विसर्जित हुए जिन्होंने कुछ अपवाही तंत्रिकाओं को उद्दीप्त किया, उसके हाथ और भुजा की पेशियों को सक्रिय किया और इस प्रकार उनमें एक विशेष

गति को उत्पन्न किया।………" क्या ये दो व्याख्याएँ परस्पर विरुद्ध हैं ? क्या प्रयोजनमूलक व्याख्या का अवश्य ही इस प्रकार की यान्त्रिक व्याख्या से विरोध होता है जैसी उत्तर २ मे है.? आपकी इनके संबंध के बारे मे क्या धारणा है ? क्या दोनो पूर्ण व्याख्या के अग हैं ?

९. नीचे के वार्तालाप की जाँच कीजिए और अपनी समझ से उसकी अच्छी और बुरी बातो को बताइए।

क. क्या न्यूटन ने किन्ही ऐसे इंद्रियानुभविक तथ्यो को खोजा जिनका तब तक पता नही था ?

ख. हाँ, उसने गुरुत्वाकर्षण की खोज की।

क. परंतु, हमे यह जानने के लिए कि सेव गिरते है, न्यूटन की जरूरत नही थी।

ख. उसने यह बताया था कि सेव क्यो गिरते है। वे गुरुत्वाकर्षण के कारण गिरते हैं।

क. परंतु गुरुत्वाकर्षण इसकी व्याख्या नही है कि वे क्यो गिरते है। यह तो एक सुपरिचित तथ्य को, यानी इसको कि चीजे जरूर गिरती हैं, बतानेवाला एक बढिया-सा शब्द है। यह कोई व्याख्या नही है बल्कि इस जाने-पहचाने तथ्य का अधिक सामान्य शब्दों मे एक नया वर्णन मात्र है कि चीजें गिरती हैं। (डाक्टर के इस कथन से इसकी तुलना कीजिए कि आपकी यह शारीरिक दशा इसलिए है कि आप दुर्बल हो गए है।) गुरुत्वाकर्षण सेव इत्यादि के गिरने के अलावा है ही क्या ?

ख. अहा, आपने तो मेरी ही बात स्वीकार कर ली है : गुरुत्वाकर्षण सचमुच ही सेवों के गिरने से कहीं बडी बात है—वह सेव इत्यादि का गिरना है। न्यूटन ने बाग के सेवों को आकाश के तारो से जोड दिया। वह असंबद्ध दिखाई देनेवाली घटनाओं को एक सामान्य नियम के नीचे ले आया, और यही तो उनकी व्याख्या करना है। निस्सदेह यदि आप जीवत्वारोपी प्रवृत्ति के अनुसार गुरुत्वाकर्षण के बारे मे ऐसा सोचें जैसे कि कोई विराट् दैत्य चीजों को खींच रहा है तो यह गलत होगा। गुरुत्वाकर्षण कोई खिंचाव नही है; यह शब्द इस तथ्य का नाम मात्र है कि भौतिक द्रव्य एक निश्चित तरीके से व्यवहार करता है; परंतु यह नियम कि वह सचमुच ऐसा व्यवहार करता है, महत्त्व रखता है, और इससे घटनाओं की एक बड़ी संख्या की व्याख्या हो जाती है जिसमें ग्रहों का परिभ्रमण और सेवों का गिरना शामिल है।

१०. हम कुछ नियमों की उन्हें अन्य नियमो से व्युत्पन्न करके व्याख्या कर सकते है। पहले समूह के नियमों में जिन एकरूपताओ की ओर सकेत है वे दूसरे समूह के नियमों मे बताई हुई एकरूपताओ के परिणाम हैं। परतु दूसरे समूह के नियमों के बारे मे जो आधारभूत या अव्युत्पन्न है, क्या कहना है ? क्या यह पूछना कोई अर्थ रखता है कि इनमे बताई हुई एकरूपताएँ जो हैं वे क्यों हैं ? आप इस सवाल का क्या जवाब देंगे कि "प्रकृति के चरम नियम जैसे हैं वैसे क्यों है ?"

११. आप नीचे के किन विकल्पो को अधिक पसंद करेंगे और क्यो ?

अ. हम इस बात की व्याख्या नही कर सकते कि विश्व मे जो एकरूपताएँ हैं वे वैसी क्यो है। यह एक ऐसा रहस्य है जिसे हम नही समझ सकते।

आ. किसी नियम की व्याख्या करना उसे किसी अधिक व्यापक नियम या नियमों के संदर्भ में रखना है। यदि नियम आधारभूत या अव्युत्पन्न है तो इस परिभाषा के अनुसार ही उसकी व्याख्या नही की जा सकती— ऐसा करना तर्कतः असंभव होगा। अत , उसकी व्याख्या की माँग अवैध है : किसी आधारभूत नियम की व्याख्या करना (उसे और अधिक आधारभूत नियम के अतर्गत रखना) स्वतोव्याघाती है।

१२. क्या जिस तथ्य या नियम की व्याख्या करनी है उसे सदैव व्याख्या से निगमनीय होना चाहिए ? पहले इस मत का एक वर्णन पढिए कि यदि *किसी व्याख्या को संतोषजनक मानना है तो इस निगमनीयता-संबंध को सदैव* लागू होना चाहिए : जैसे कार्ल जी० हेम्पेल द्वारा लिखित ऐस्पेक्ट्स ऑफ साइंटिफिक ऐक्सप्लेनेशन, भाग ४, तथा मिनेसोटा स्टडीज इन दि फिलॉसफी ऑफ सायन्स, जिल्द ३ मे इसी लेखक का लेख "डिडक्टिव-नोमोलॉजिकल वर्सस स्टैटिस्टिकल ऐक्सप्लेनेशन" , इसी जिल्द मे मे ब्रॉडबेक का लेख "ऐक्सप्लेनेशन, प्रिडिक्शन, एँड 'इम्पर्फेक्ट नॉलेज'" भी। तब इस मत का कोई वर्णन पढिए कि निगमनीयता-संबंध की जरूरत नही है, जैसे मिनेसोटा स्टडीज इन दि फिलॉसफी ऑफ सायन्स, जिल्द २ मे माईकेल स्क्रिवेन का लेख 'डेफिनीशस, ऐक्सप्लेनेशस, ऐंड थ्योरीज" और जिल्द ३ मे इसी लेखक का लेख "एक्सप्लेनेशस, प्रिडिक्शंस, ऐंड लॉज" । फिर समस्या के पक्ष और विपक्ष मे आपको जो-जो बातें लगती है उन्हे बताइए।

१३

१ इस कथन की जाँच कीजिए कि एक विशेष आगमनिक प्रक्रिया का औचित्य सिद्ध करने की मांग करना तो अर्थ रखता है, पर आगमन के सामान्य रूप का औचित्य सिद्ध करने की माँग करना अर्थहीन है।

२. आगमन की समस्या को हल करने (या उसे हल करने मे सहायता करने) के नीचे के प्रयत्नों की जांच कीजिए :

अ. हमारी सर्वोत्तम जानकारी के अनुसार गुरुत्वाकर्षण का नियम भूतकाल मे सदैव सत्य सिद्ध हुआ है। उसके कोई अपवाद नही पाए गए है। अतः, यह बात प्रसंभाव्य है कि भविष्य मे वह सत्य बना रहेगा।

आ. भूतकाल में जब भी हमने यह भविष्यवाणी की कि प्रकृति का एक नियम अगले दिन सत्य बना रहेगा तब हमारी भविष्यवाणी सही निकली। इससे यह बात प्रसभाव्य बन जाती है कि यदि वही भविष्यवाणी हम आज करें तो इस बार भी वह सही निकलेगी।

इ. हम प्रकृति की एकरूपता के सिद्धांत को किसी अन्य ऐसे सिद्धात से जिसे हम सत्य मानते है, निगमित नही कर सकते ; परंतु उसके पक्ष में हम आगमनिक साक्ष्य प्रस्तुत कर सकते है।

ई. यह पूरी तथाकथित समस्या परिभाषा देकर हल की जा सकती है। हम तब तक किसी बात को प्रकृति का नियम नही कहेगे जब तक वह भविष्य मे सत्य न निकले। "प्रकृति का नियम" से हमारा जो मतलब होता है उसमें क्या यह शामिल नही है ?

उ. आगमन इस बात में निगमन के सदृश है कि दोनो ही मे ऐसे आधार-भूत सिद्धात हैं जिन्हे सिद्ध नही किया जा सकता। हम तादात्म्य के या अव्याघात के नियम को सिद्ध नही कर सकते, फिर भी इन्हे हम स्वीकार करते है। यही बात हम प्रकृति की एकरूपता के नियम के संबध मे क्यों नही कर सकते ?

ऊ हम भविष्य को कैसे जान सकते हैं ? हम जान ही नही सकते, बस। आगमन की समस्या के संबध मे हमें इतना ही कहना है।

३ यह दिखाइए कि किसी सिद्धात को सिद्ध करना उसके हमारे द्वारा अपनाए जाने का औचित्य दिखाने मे किस प्रकार भिन्न है। तब यह बताइए

कि आगमन का औचित्य दिखाने के एक प्रयत्न मे यह बादवाली बात ठीक किस तरह शामिल है।

१४

१. निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए . "मैं जानता हूँ कि इस बात का क्या अर्थ है कि आर्द्रा का व्यास २,००,००० मील है और वह ६५० प्रकाश-वर्ष दूर है, हालाँकि मेरी समझ मे थोडा-सा भी यह नही आता कि इसका सत्यापन कैसे किया जाएगा। मैं जानता हूं कि खगोलज्ञो को इन कथनो के सत्यापन का, या कम-से-कम उन्हे सपुष्ट करने का तरीका मालूम है, हालाँकि मुझे बिल्कुल पता नही है कि वे कैसे यह करते है। इसके बावजूद म जानता हूँ कि ऐसे कथनो का क्या अर्थ होता है।"

"नही, आप तब तक उनका अर्थ नही जान सकने जब तक आप यह नही जानते कि उनका सत्यापन कैसे होगा। परतु, यह जरूरी नही है कि वह वही हो जो खगोलज्ञो का उनका सत्यापन करने का वास्तविक तरीका है। उदाहरणार्थ, यह कहकर कि व्यास २,००,००० मील है आप यह कह रहे होगे कि यदि आपके पास एक फुटा हो तो आपको उसका प्रयोग ५,२८० (एक मील मे फुटो की सख्या) × २,००,००० बार करना होगा ताकि आप तारे की सतह के एक हिस्से से उसके केंद्र मे से होते हुए दूसरे हिस्से तक पहुँच सकें। यही आपका मतलब है और इसे एक तर्कत सभव सत्यापन के रूप मे बताया गया है, हालाँकि खगोलज्ञ असल मे इस तरह से उसका सत्यापन नही करते।"

२. क्या "इद्रियानुभविक सत्यापन" का सप्रत्यय स्वय स्पष्ट है ? आप "रमेश अपने बडे भाई से अधिक अपने छोटे भाई से मिलता-जुलता दिखाई देता है" का सत्यापन कैसे करेगे ? मान लो कि हम समानताएँ और विषमताएँ गिनते हैं और हमारी सूची मे बडे भाई से समानताएँ अधिक निकलती है तथा छोटे भाई से कम, परतु कोई हमसे असहमत होकर कहता है, "मैं आपकी सूची से सहमत हूँ पर फिर भी मैं कहता हूँ कि रमेश अपने छोटे भाई से अधिक मिलता-जुलता लगता है।" अथवा जॉन विज़डम के उस महिला के उदाहरण पर विचार कीजिए जो अपनी नई टोपी को परख रही थी, उससे सतुष्ट थी और अपनी महिला-मित्र की उसके बारे मे राय पूछ रही थी। उसकी मित्र बोली, "ताजमहल की तरह है!" पहली महिला टोपी को पहनने के लिए दुबारा

कभी तैयार न हो सकी। अब उसे वह नई रोशनी मे दिखाई देने लगी थी उसमे अवश्य ही एक गुबद-जैसी विशेषता थी। क्या उसने इस कथन का सत्यापन कर लिया था कि उसकी नई टोपी ताजमहल की तरह दिखाई देती है ?

३ "सब कौवे काले होते है' सत्यापनीय नही है, पर मिथ्यापनीय अवश्य है। एक ही ऐसे कौवे का दिखाई देना जो काला न हो इस कथन को असत्य सिद्ध कर सकता है। अत क्या कसौटी मे सत्यापनीयता के स्थान पर मिथ्यापनीयता को रख देना अधिक सतोषजनक नही होगा ? इस तरह के कथनो पर विचार कीजिए जैसे, "सब हस श्वेत होते है", "दुनिया मे कही एक मोतिया बत्तख है," "इस समस्या का एक समाधान है, सिर्फ उसके मिलने की बात है।" इनके सत्यापन के लिए क्या जरूरी होगा ? इनके मिथ्यापन के लिए क्या जरूरी होगा ?

४ नीचे के कौन से कथन परीक्षणीयता की कसौटी पर खरे उतरेंगे और कौन नही ? खरे उतरनेवाले और न उतरनेवाले दोनो को क्या आप साथक मानेंगे, और क्यो ?

अ जहाँ मै इस समय खडा हूँ उसके नीचे ५०० फुट की गहराई मे कोयले का भडार है।

आ सूर्य के केन्द्र का तापमान ८०,०००,०००° सें० है।

इ पृथ्वी की आयु ३,०००,०००,००० वर्ष है।

ई निकटतम मानवीय बस्ती से ५०० मील दूर निर्जन प्रदेश मे एक सन्यासी ने अभी छींका है।

उ हाइड्रोजन के परमाणु मे एक इलेक्ट्रोन होता है।

ऊ भूत होते है।

ए तारो के विशाल मध्यवर्ती स्थानो मे भी जिनमे भौतिक द्रव्य नही है, कास्मिक किरणें होती हैं।

ऐ ब्रह्माड का किसी समय आरभ हुआ था।

ओ किसी दिन युद्ध का होना बद हो जाएगा।

औ कोई मनुष्य अमर नही है।

अ ब्रह्माड (मनुष्यो और उनकी स्मृतियो के सहित) की उत्पत्ति पाँच मिनट पहले हुई।

अ ईश्वर ने ब्रह्माड की उन सब जीवाश्मो, शैल-स्तरो इत्यादि के सहित

जिनसे ऐसा लगता है कि वह बहुत पुराना है, सृष्टि ४००४ ई० पू० में की थी।

५. क्या नीचे के कथनों के प्रत्येक जोड़े मे अर्थ में कोई अंतर है ? उनके सत्यापन के लिए आप जो करेंगे उसमें क्या कोई अंतर है (क्या कोई चीज एक का सत्यापन मानी जायगी और दूसरी की नहीं) ?

अ. अ ब से बड़ा है और ब स से बड़ा है।
अ स से बड़ा है।

आ यह एक स्तनधारी है।
यह एक पशु है।

इ. मुझे खीर पसंद है।
मुझे खीर नापसंद नही है।

ई. छोटी हरी परियाँ जंगल में रहती हैं।
छोटी नीली परियाँ जंगल में रहती हैं।

उ. अदृश्य परियाँ जंगल में रहती है।
अदृश्य बैताल जंगल में रहते हैं।

ऊ. दृश्य कुर्सियाँ कमरे में है।
अदृश्य कुर्सियाँ कमरे में है।

ए. भूत होते हैं।
भूत नही होते।

ऐ. यह तार चिनगारियाँ छोड़ता है, छूने पर बिजली का झटका देता है और वोल्टमापी को प्रभावित करता है। इस तार मे बिजली है।

ओ. पानी इस नल के एक सिरे से आता है और दूसरे सिरे से निकल जाता है।
पानी इस नल के अंदर बहता है।

औ. आक्सीजन की संयोजकता १ है।
आक्सीजन की संयोजकता २ है।

अं उसके अंदर प्रबल अचेतन अपराध-भावनाएं हैं जो दंड की मांग करती हैं।

यह (बगैर जाने-बूझे) इस तरह काम करती है कि उसे हमेशा दुःखदायी दुर्घटनाओं में फँसना पड़ता है, उसके मित्र उसे नासमझ कहते हैं.

कभी तैयार न हो सकी। अब उसे वह नई रोशनी मे दिखाई देने लगी थी: उसमें अवश्य ही एक गुंबद-जैसी विशेषता थी। क्या उसने इस कथन का सत्यापन कर लिया था कि उसकी नई टोपी ताजमहल की तरह दिखाई देती है ?

३ "सब कौवे काले होते है" सत्यापनीय नही है, पर मिथ्यापनीय अवश्य है। एक ही ऐसे कौवे का दिखाई देना जो काला न हो इस कथन को असत्य सिद्ध कर सकता है। अतः क्या कसौटी मे सत्यापनीयता के स्थान पर मिथ्यापनीयता को रख देना अधिक संतोषजनक नही होगा ? इस तरह के कथनो पर विचार कीजिए जैसे, "सब हंस श्वेत होते हैं", "दुनिया मे यही एक मोतिया बत्तख है," "इस समस्या का एक समाधान है, सिर्फ उसके मिलने की बात है।" इनके सत्यापन के लिए क्या जरूरी होगा ? इनके मिथ्यापन के लिए क्या जरूरी होगा ?

४. नीचे के कौन-से कथन परीक्षणीयता की कसौटी पर खरे उतरेंगे और कौन नही ? खरे उतरनेवाले और न उतरनेवाले दोनो को क्या आप सार्थक मानेंगे, और क्यो ?

अ. जहाँ मैं इस समय खड़ा हूँ उसके नीचे ५०० फुट की गहराई मे कोयले का भंडार है।

आ. सूर्य के केन्द्र का तापमान ४०,०००,०००° सें० है।

इ. पृथ्वी की आयु ३,०००,०००,००० वर्ष है।

ई. निकटतम मानवीय बस्ती से ५०० मील दूर निर्जन प्रदेश मे एक सन्यासी ने अभी छीका है।

उ. हाइड्रोजन के परमाणु मे एक इलेक्ट्रोन होता है।

ऊ भूत होते है।

ए तारो के विशाल मध्यवर्ती स्थानो मे भी जिनमे भौतिक द्रव्य नही हैं, कास्मिक किरणें होती है।

ऐ. ब्रह्माड का किसी समय आरभ हुआ था।

ओ. किसी दिन युद्ध का होना बद हो जाएगा।

औ. कोई मनुष्य अमर नही है।

अं. ब्रह्माड (मनुष्यो और उनकी स्मृतियो के सहित) की उत्पत्ति पाँच मिनट पहले हुई।

अ. ईश्वर ने ब्रह्माड की उन सब जीवाश्मो, शैल-स्तरो इत्यादि के सहित

जिनसे ऐसा लगता है कि वह बहुत पुराना है, सृष्टि ४००४ ई० पू० मे की थी।

५. क्या नीचे के कथनो के प्रत्येक जोडे मे अर्थ मे कोई अतर है? उनके सत्यापन के लिए आप जो करेंगे उसमे क्या कोई अतर है (क्या कोई चीज एक का सत्यापन मानी जायगी और दूसरी की नही) ?

अ. अ ब से बडा है और ब स से बडा है।
अ स से बड़ा है।

आ यह एक स्तनधारी है।
यह एक पशु है।

इ मुझे खीर पसंद है।
मुझे खीर नापसंद नही है।

ई. छोटी हरी परियाँ जंगल मे रहती हैं।
छोटी नीली परियाँ जगल मे रहती हैं।

उ. अदृश्य परियाँ जंगल मे रहती है।
अदृश्य बैताल जंगल मे रहते है।

ऊ. दृश्य कुर्सियाँ कमरे मे है।
अदृश्य कुर्सियाँ कमरे मे हैं।

ए. भूत होते है।
भूत नही होते।

ऐ. यह तार चिनगारियाँ छोडता है, छूने पर बिजली का झटका देता है और वोल्टमापी को प्रभावित करता है। इस तार मे बिजली है।

ओ. पानी इस नल के एक सिरे से आता है और दूसरे सिरे से निकल जाता है।
पानी इस नल के अदर बहता है।

औ. आक्सीजन की संयोजकता १ है।
आक्सीजन की संयोजकता २ है।

अं उसके अदर प्रबल अचेतन अपराध-भावनाएँ है जो दंड की मांग करती हैं।

वह (बगैर जाने-बूझे) इस तरह काम करती है कि उसे हमेशा दुःखदायी दुर्घटनाओ मे फँसना पडता है, उसके मित्र उसे नापसद करते है.

उसकी नौकरी छूट जाती है और उसके साथ अन्य अनिष्टकारी बातें हो जाती हैं।

६. प्रश्न ५ के किन जोड़ों में पहले कथन को स्वीकार करना और दूसरे को अस्वीकार करना स्वतोव्याघाती है ?

७. परीक्षणीयता वाली कसौटी के संदर्भ में इनपर विचार कीजिए :

अ. क्या यह कहना कोई अर्थ रखता है कि अन्य लोग, शायद मंगल ग्रह के चेतन प्राणी, ऐसी ज्ञानेंद्रियाँ रखते हैं जिनकी सहायता से उन्हें ऐसे प्रत्यक्ष होते हैं जिनकी हम मनुष्य कल्पना ही नहीं कर सकते ?

आ. "कल्पना कीजिए कि हममें से किसी एक के रक्त-प्रवाह की एक कोशिका पर मनुष्यों का एक समुदाय रहता है—इतने छोटे मनुष्यों का कि उनके अस्तित्व का हमारे पास प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई भी प्रमाण नहीं है। फिर यह कल्पना कीजिए कि वे स्वयं हमारी तरह के वैज्ञानिक उपकरण इस्तेमाल करते हैं और हमारी-जैसी वैज्ञानिक प्रणाली जानते है तथा हमारी बराबरी का वैज्ञानिक ज्ञान रखते हैं। इनमें एक कुछ अधिक साहसी विचारक यह मत प्रस्तुत करता है कि जिस विश्व में ये रहते हैं वह एक विराट् मानव है। क्या यह प्राक्कल्पना वैज्ञानिक आधार पर स्वीकार-योग्य है अथवा इस आधार पर इसे हँसी में उड़ा देना चाहिए कि यह 'तत्वमीमांसीय' है ? हम स्वयं अपने स्तर पर भी क्यों न इस तरह की प्राक्कल्पना प्रस्तुत करें : यह कि हम एक विराट् मानव के हिस्से हैं और हम जिस दुनिया को जानते हैं वह सारी ही शायद उसके विराट् रक्त-प्रवाह का एक अंश है ? (चार्ल्स डब्ल्यू० मॉरिस, "ऐम्पीरिसिज्म, रिलीजन ऐंड डेमोक्रेसी" पृ० २१९।)

८. आप अर्थ की इस कसौटी के बारे में क्या कहेंगे ? "कोई कथन मेरे लिए तब सार्थक होता है जब वह मेरे बाद के अनुभव में कोई अंतर लाता है या ला सकता है।"

९. "यदि यह एक क्षारक (बेस) है तो यह लाल लिटमस कागज को नीला कर देगा।" क्या "यह एक क्षारक है" ऐसा कथन है जो दूसरे कथन के बिना ही अर्थ रखता है ? अथवा क्या दूसरा कथन, "यह लाल लिटमस कागज को नीला कर देगा," पहले को सार्थक बनाने के लिए जोड़ा गया है ?

१०. सत्यापनवाली कसौटी को शुरू में जो समर्थन मिला उसकी जानकारी के लिए फिलॉसोफिकल रिव्यू, १९३६ में छपे मॉरित्स श्लिक के लेख "मीनिंग

ऍंड वेरिफिकेशन" (एच० फेल तथा डब्ल्यू० सेलर्स के रीडिंग्ज इन फिलॉसोफिकल अनैलिसिस में पुनर्मुद्रित) तथा ए० जे० एयर-कृत. लैंगुएज, ट्रुथ ऍंड लॉजिक के पहले अध्याय को पढ़िए। तत्पश्चात् बाद में प्राप्त समर्थन की जानकारी के लिए रिव्यू इन्टरनेशनेल दि फिलॉसोफी, १९५० में कार्ल हेम्पेल का "प्रोब्लेम्स ऍंड चेंजेज इन दि ऐम्पीरिकल क्राइटीरियन ऑफ़ मीनिंग (ई० नैगेल तथा आर० ब्रैंट के मीनिंग ऍंड नॉलेज में पुनर्मुद्रित) पढ़िए। फिर ब्रैंड ब्लैंशर्ड के रीज़न ऍंड अनैलिसिस के अध्याय ५ में परीक्षणीयतावाली कसौटी के सभी रूपों की आलोचना पढ़िए।

११. प्रोफ़ेसर डब्ल्यू० टी० स्टेस ने सत्यापनीयतावाली कसौटी में संशोधन करके "प्रेक्षणगम्य प्रकारों का सिद्धांत" प्रस्तुत किया है : कुछ चीजों, जैसे भावी सूर्यास्त और अन्य लोगों के दर्द, के अस्तित्व का सत्यापनीय होना आवश्यक नहीं है, पर उन चीजों का उन चीजों के वर्ग से संबंध होना आवश्यक है जिनका सत्यापन हो सकता है (सूर्यास्त, दर्द)। इस मत का माइन्ड, १९३५ में छपे लेख "मेटाफिजिक्स ऍंड मीनिंग" (पी० एडवर्ड्स तथा ए० पैप के ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसफी, द्वितीय संस्करण में पुनर्मुद्रित) तथा माइन्ड, १९४४ में छपे लेख "पॉजिटिविज्म" के अनुसार सारांश दीजिए तथा उसकी समीक्षा कीजिए।

१२. अब इस कसौटी पर विचार कीजिए : "कोई वाक्य सार्थक तब होता है जब उसका कोई उपयोग होता है ; हम उसका अर्थ जानते हैं यदि हम उसका उपयोग जानते हैं।" (जी० जे० वार्नोक, "वेरिफिकेशन ऍंड दि यूज ऑफ लैंगुएज," रिव्यू इन्टरनेशनल दि फिलॉसोफी, १९५१।) "उपयोग" शब्द के जो विभिन्न अर्थ संभव हैं उनपर विचार कीजिए। इस संबंध में आगे गिल्बर्ट राइल के निबंध "ऑर्डिनरी लैंगुएज" और "दि थियरी ऑफ मीनिंग" तथा पी० एफ० स्ट्रॉसन का निबंध "ऑन रेफ़रिंग" पढ़िए (ये तीनों सी० ई० कैटन द्वारा संपादित फिलॉसफी ऍंड ऑर्डिनरी लैंगुएज में पुनर्मुद्रित हुए हैं जो इलिनॉयस विश्वविद्यालय प्रेस से १९६३ में निकली थी) और डब्ल्यू० पी० ऐल्स्टन के फिलॉसोफिकल क्वार्टरली, १९६३ में छपे निबंध "मीनिंग ऍंड यूज" को भी पढ़िए।

१५

१. नीचे के उदाहरणों में "चाहिए" शब्द का कैसे प्रयोग किया जा रहा है ?

अ. तुम्हें जैसा बताया जा रहा है वैसा करना चाहिए, नहीं तो तुम्हें दंड मिलेगा।

आ. कल तो मौसम बढ़िया ही होना चाहिए ; नही तो सैर नहीं हो पाएगी।

इ. यदि कल मेरे पास १० रुपये थे और उसके बाद न मैंने कुछ खोया, न मैंने कुछ खर्च किया और न मैंने कुछ पाया तो इस समय मेरे पास वही १० रुपये होने चाहिए।

ई. चूहा पकड़ने के लिए पहले चूहा होना चाहिए।

उ. यदि हम विषय ब को समझना चाहते हैं तो पहले हमे विषय अ पर चर्चा कर लेनी चाहिए।

ऊ. यदि आप चाहते हैं कि पूरियां अच्छी निकलें तो आपके पास पहले कड़ाही में खूब उबलता हुआ घी होना चाहिए।

ए. तुम्हें ऐसी बातें कहनी ही नही चाहिए।

ऐ. उसे नशे में काफी अधिक धुत होना चाहिए, नहीं तो वह कभी ऐसा काम न करता।

ओ. तुम्हें तो मन की बातें पढ लेनेवाला होना चाहिए।

औ. अब तक तो आपका आहाता बहुत ही सुंदर बन जाना चाहिए।

अं हर चीज अस्त व्यस्त है—हमारी अनुपस्थिति में मकान के अंदर किसी व्यक्ति को होना चाहिए।

२. इनमे से प्रत्येक उदाहरण में अ का ब से संबंध अनिवार्य उपाधि का है। यह बताइए कि अ उस तरह की एक अनिवार्य कारणात्मक उपाधि है जिसकी हमने इस अध्याय मे चर्चा की है, या उस तरह की एक तर्कतः अनिवार्य उपाधि है जिसकी हमने अध्याय ३ मे चर्चा की थी।

अ	ब
क. आक्सीजन की उपस्थिति	जलने की क्रिया
ख. तीन कोणों का होना	त्रिभुज होना
ग. विस्तारयुक्त होना	आकृतियुक्त होना
घ. सोडियम का अस्तित्व	नमक का अस्तित्व
ङ. नमी की उपस्थिति	फसल की वृद्धि

च ऐसी वस्तु की उपस्थिति जो अपारदर्शी न हो	वस्तु के आर-पार दिखाई देना
छ. ताप की उपस्थिति	लौ का उठना

३. नीचे के उदाहरणों में अ का ब से संबंध अनिवार्य उपाधि का है या पर्याप्त उपाधि का या दोनों या कोई भी नही ?

अ	ब
क. अति भोजन	बीमारी
ख. अपना हाथ उठाने का निश्चय	अपना हाथ उठाना
ग. एक निबंध लिखना	उस निबध को पढ़ना
घ. दौड़ना	थकावट लगना
ङ. साकेट से प्लग का निकलना	रेडियो का न बजना
च. साकेट में प्लग को डालना	रेडियो का बजना
छ. पत्थर का खिड़की पर लगना	खिड़की का टूटना
ज. घर्षण का होना	ताप की उत्पत्ति
झ. वर्षा का सड़क पर गिरना	सड़क का गीली होना

४. इन उदाहरणों मे जो कारण बताया गया है उसमें आवश्यकता से अधिक किस रूप में शामिल किया जा रहा है ? आवश्यकता से कम किस रूप में ? (मिल के मत को सही मानकर चलिए ।)

अ. माचिस की तीली का झाड़ा जाना उसके जलने का कारण है ।

आ. विष खाने से उसकी मृत्यु हुई ।

इ. जलती हुई तीली के कागज के ढेर मे गिरा दिए जाने मे वह जल उठा ।

ई. तीर के निशाने पर बैठने का कारण उसका नीले सूट पहने एक आदमी के द्वारा छोड़ा जाना था ।

उ. नदी मे बाढ आने का कारण ऊपर भारी वर्षा का होना था ।

५. क्या आप समझते हैं कि नीचे के उदाहरणो मे कारण यथार्थ अनेक हैं ?

अ सिरदर्द अनेक कारणों से हो सकता है : आँखों पर जोर पड़ना, संवेगात्मक तनाव इत्यादि ।

आ. एक ही संदेश टेलीफोन से, टेलीग्राम से, और चिट्ठी इत्यादि से भी भेजा जा सकता है।

इ. पत्थर मेरे द्वारा, आपके द्वारा, घिरनी इत्यादि के द्वारा हिलाया जा सकता है।

ई. स्त्री लैंगिक संबध या कृत्रिम वीर्य-सेचन से गर्भ धारण कर सकती है।

उ. मृत्यु के अनेक कारण होते हैं : हृदय-रोग, कैंसर, निमोनिया, मोटर-दुर्घटना, पानी मे डूबना, विष, छुरे के घाव .... ।

ऊ. कपडे का दाग अनेक रसायनो से मिट सकता है।

ए. अपरदन के विभिन्न कारण संभव हैं : हवा, पानी का तेजी से निकास, समोच्च जुताई का न किया जाना · ··· .... ।

६. नीचे के वाक्यो का सावधानी के साथ विश्लेषण कीजिए। यदि आप उन्हे दोषपूर्ण पाते है तो बताइए कि उनमे क्या संशोधन किया जा सकता है।

अ. पहली बिलियर्ड गेंद ने दूसरी को चलने के लिए बाध्य किया।

आ. जब पहली गेद दूसरी से टकराती है तब दूसरी हिले बिना नही रह सकती।

इ. जब पहली गेद दूसरी से टकराती है तब दूसरी की गति अनिवार्य हो जाती है।

ई पहली गेंद ने दूसरी से टकराकर उसको चला दिया।

उ. पहली गेंद ने दूसरी से टकराकर दूसरी मे गति पैदा कर दी।

७. कारण-संबंधी नियमितता-सिद्धात के अनुसार (जसे, ह्यूम, राइकेनबाक, श्लिक इत्यादि के मतानुसार), "माचिस की तीली के झाडे जाने और उसके अनंतर उससे लौ के उठने के बीच उस संबंध की अपेक्षा कोई अधिक विशेष संबध नही है जो तीली के झाडे जाने और उसके ठीक बाद मे कभी होनेवाले एक भूचाल के बीच होता। फर्क सिर्फ यह होगा कि तीली के झाडे जाने के फौरन बाद प्राय लौ उठती है और भूचाल प्राय नही होता। बस इतना ही। हम नही कह सकते कि तीली के झाडे जाने ने लौ को पैदा किया । इस मत के अनुसार कारण बताना कार्य के होने की व्याख्या मे थोडा भी सहायक नही होता ; वह केवल यह प्रकट करता है कि वह कार्य से पहले हुआ।" (ऐलेक्ज़ड सी० यूइग, दि फंडामेटल क्वेश्चन्स ऑफ फिलॉसफी,

पृ० १३० ।) इस उद्धरण के एक-एक वाक्य की समीक्षा कीजिए। (उदाहरणार्थ, "क ने ख को उत्पन्न किया" का नियमितता-सिद्धात के अनुसार अर्थ लगाने से क्या इस बात की व्याख्या असभव हो जाएगी कि क्यो क ने ख को उत्पन्न किया ?) ।

८. कारण बतानेवाले नीचे के कथनो मे से कौन गैसकिंग के कारण-संबंधी मत के समर्थक लगते है ? यदि कोई उसके विरोधी लगते हैं तो वे कौन-से हैं ?

अ. आग इंजनवाले कमरे मे विस्फोट होने के कारण लगी।

आ. उसकी मृत्यु प्राकृतिक कारणो से हुई।

इ पत्थर ठीक वही पडा रहा क्योकि किसीने उसे हटाया नही।

ई. उसके पाँव मे घाव होने का कारण यह है कि उसने एक कील के ऊपर पैर रख दिया था।

उ. कीचड होने का कारण वर्षा का होना था।

९ हार्ट-हॉनोर विश्लेषण के अनुसार इन उदाहरणो मे आप कारण क्या बताएँगे ?

अ. पडोस के मकान तक आग सामान्य रूप मे हवा चले बिना न फैली होती। फिर भी हम कहते है कि हवा नही बल्कि बिजली उस दुर्घटना का कारण थी। यदि कोई जानबूझकर अगारो पर हवा करके उन्हे सुलगावे अथवा यदि जब आग बुझनेवाली हो ठीक उस समय जीप के पीछे से एक पेट्रोल का टीन जो टपक रहा हो वहाँ लुढक पडे, तो क्या कोई अतर पडेगा ?

आ. हम कहते है कि फूलो के मुरझाने का कारण माली के द्वारा उन्हे पानी न दिया जाना है। पर क्या हमारा यह कहना भी उतना ही सही न होगा कि उनके मुरझाने का कारण आपके, मेरे या राष्ट्रपति के द्वारा उन्हे पानी न दिया जाना है ?

इ अ ब को एक गगनचुंबी इमारत से धकेल देता है। जब वह गिर रहा होता है तब स नीचे की एक खिडकी मे से उसे गोली मार देता है। ब की मृत्यु का क्या कारण है ?

ई. युद्धकाल मे अन्य जहाजो की रक्षा के काम मे लगे हुए एक जहाज का युद्धेतर समुद्री खतरो के विरुद्ध बीमा हो चुका है। अधिकारियो के आदेश से वह एक टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर चलता है, अपनी बत्तियो को मद कर देता है,

अप्रत्याशित रूप से ऊँची लहरों में फँस जाता है और कुहरे में मार्ग से भटककर चट्टानों से टकरा जाता है। क्या बीमे का रुपया मिलेगा ?

१० "मान लो कि किसी ने कैंसर के कारण को ढूंढ लेने का दावा किया है, पर यह भी कह दिया है कि उसकी खोज के सही होने पर भी वह व्यवहार में उपयोगी इसलिए नही है कि जो कारण उसने ढूंढा है वह कोई इच्छानुसार पैदा की जा सकनेवाली या रोकी जा सकनेवाली चीज नहीं है ..... । कोई भी नही मानेगा कि जिसका उसने दावा किया है वह काम उसने किया है। यह कहा जाएगा कि उसे नहीं मालूम कि 'कारण' शब्द का (आयुर्विज्ञान के संदर्भ में) क्या अर्थ होता है, क्योंकि इस संदर्भ में 'क ख का कारण है' में यह गर्भित होता है कि 'क एक ऐसी चीज है जो इच्छानुसार पैदा की जा सकती है अथवा रोकी जा सकती है', 'कारण' शब्द की परिभाषा का एक अंश है" (कॉलिंगवुड)। आप इससे सहमत है या नही ? हेतु देते हुए बताइए।

११ "व्यक्तियों के मध्य जो कारण-संबंध होता है उसमें मुझे यह जानने के लिए कि क ख के किसी काम का कारण था, एक से अधिक उदाहरणों की जाँच करने की जरूरत नही पड़ती। यदि कोई रिश्वत देकर मुझसे कोई काम करवाता है तो इतने मात्र से ही मैं जान लेता हूँ कि रिश्वत मेरे उस काम का कारण है। मुझे किन्ही और उदाहरणो की जरूरत नहीं है, और न इससे यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि फिर मैं रिश्वत के लालच से ऐसा काम करूंगा। यदि आप मुझे एक संगीत-गोष्ठी में जाने के लिए तैयार कर लेते हैं तो मैं जानता हूँ कि आपका कहना मेरे गोष्ठी में जाने का कारण बना। शायद मैं दुबारा कभी आपके कहने मे न आऊँ, पर इस अकेले उदाहरण से मैं जान गया हूँ कि इस बार आपका कहना ही मेरे गोष्ठी में जाने का कारण था। मैं जानता हूँ कि भारत से मेरी बहिन का अप्रत्याशित रूप से आ पहुँचना (मैंने उसे ३० साल से नही देखा था) मेरे आश्चर्य का कारण बना—हालाँकि यदि वह दुबारा आवे तो मुझे बिल्कुल आश्चर्य न होगा।" इस मत की समीक्षा कीजिए। (संकेत : जिन युक्तियों का निष्कर्ष कारण-संबध का होना बताता है उनकी आधारिकाओं में प्रयुक्त कारणबोधक शब्दो से सावधान रहिए।)

१२. आप नीचे के तर्क से सहमत हैं या असहमत हैं : "कारण और कार्य को समकालिक होना चाहिए, क्योंकि कार्य उसी क्षण में हो जाता है जब अंतिम शर्त (पर्याप्त उपाधि में शामिल) पूरी हो जाती है। यदि उसके और

कार्य के बीच थोड़ी भी प्रतीक्षा की अवधि हो तो कार्य के होने के पहले किसी और चीज का होना शेष होना चाहिए ; अन्यथा कार्य तुरंत क्यों नहीं हो पाता ?"

१३. इस कथन का मूल्यांकन कीजिए : "ख का नियमित रूप से क के अनंतर होना हमारे यह जानने का उपाय है कि क ख का कारण है। परंतु कारण-संबंध इससे नही बनता ; यह कारण-संबंध का सूचक है, उसका स्वरूप नही।"

१४. "मैंने यह इसलिए कहा कि यह सत्य है।" क्या किसी वाक्य की सत्यता आपके उसका कथन करने का कारण (या कारण का एक अंश) हो सकती है ? (यह याद रखिए कि किसी वाक्य की सत्यता एक काल-निरपेक्ष तथ्य है, जबकि कारण सदैव एक कालसापेक्ष घटना या उपाधि होता है।) ऊपर के कथन के रूप में क्या परिवर्तन किया जाए कि वह अधिक सही बन जाए ?

१६

१. नीचे के किन कथनों को आप इंद्रियानुभविक मानेंगे, यानी ऐसे जिनकी इंद्रियानुभव से संपुष्टि ही नहीं बल्कि विसंपुष्टि भी की जा सकती है ? क्यों ? (यह मानकर न चलिए कि उन सभी की इंद्रियानुभव के द्वारा विसंपुष्टि हो चुकी है, परंतु स्वयं से यह पूछिए कि "क्या उनकी विसंपुष्टि हो सकती है?" क्या आप कोई ऐसे इंद्रियानुभव बता सकते हैं जो उनकी विसंपुष्टि करें [उनके विरुद्ध हों] ?)

अ. बिल्लियाँ चार पैरोंवाली होती हैं।

आ. बिल्लियाँ बिल्लियाँ हैं।

इ. बिल्लियों के मुलायम बाल होते हैं।

ई. पूर्ण सत्ता कभी गलती नही करती।

उ. पानी गीला होता है।

ऊ. घर्षण से ताप पैदा होता है।

ए. प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है।

ऐ. प्रत्येक घटना का एक कारण होता है।

ओ. सब कौवे काले होते हैं।

ओ. विश्व में भौतिक द्रव्य का प्रत्येक कण गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार व्यवहार करता है।

अं. "दूरी पर प्रभाव डालना" नाम की कोई चीज नहीं है।

अः. विश्व में ऊर्जा की कुल मात्रा स्थिर बनी रहती है।

क. प्रकृति के नियम जिस प्रकार भूतकाल में सत्य सिद्ध हुए हैं उसी प्रकार भविष्य में भी सत्य बने रहेंगे।

ख. जिन एकरूपताओं को हम प्रकृति के नियम मानते हैं वे भविष्य में उसी तरह लागू होंगे जिस तरह वे भूतकाल में लागू हुए हैं।

ग. कोई चीज अ और न-अ दोनों नही हो सकती।

घ. यदि प सत्य है और प में फ आपादित है तो फ सत्य है।

ङ. सभी प्रतिज्ञप्तियों को परीक्षणीय (संपुष्टियोग्य या विसंपुष्टियोग्य) होना चाहिए।

च. सभी इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियों को परीक्षणीय (संपुष्टियोग्य या विसंपुष्टियोग्य) होना चाहिए।

छ. हमें कमरे से चले जाना चाहिए।

ज. कोई भी बल्लेबाज गेंद को लगातार चार बार नहीं मार सकता।

२. ऊपर की सूची में आप किसे इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति नही समझते, किसे आप प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति समझते हैं, और क्यों ? (क्या कोई ऐसी हैं जिन्हें आप प्रागनुभविक समझते हों पर जो असत्य हों ? कोई ऐसी हैं जिन्हें आप प्रागनुभविक मान्यताएँ मानते हों ?)

३. जिन्हें आप प्रागनुभविक मानते हैं उनमें किसे आप विश्लेषी समझते हैं ? क्यों ? क्या कोई ऐसी हैं जिन्हें आप प्रागनुभविक और साथ ही संश्लेषी भी मानते हों ?

४ यदि कोई ऐसी हैं जिन्हें आप न इंद्रियानुभविक समझते हैं और न प्रागनुभविक, तो उनकी स्थिति क्या है ? क्या सूची में कुछ चीजें ऐसी भी हैं जो प्रतिज्ञप्तियां हों ही नही ? क्या कोई ऐसी हैं जो प्रतिज्ञप्तियां न होकर "मार्गदर्शक सिद्धांत" हों या "खेल के नियम हों" ? हेतु बताते हुए उत्तर दीजिए।

५. यदि आप समझते हों कि कारण-सिद्धांत एक इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति है, तो कुछ वस्तुस्थितियां ऐसी बताइए जिनके होने से यह सिद्धांत विसंपुष्ट

(खंडित) हो जाएगा। (क्या आप यह सोचते हैं कि ऐसी कोई वस्तुस्थितियाँ सचमुच पाई जाती हैं या पाई गई हैं ?)

१७

१. नियतत्ववाद का (अ) अनियतत्ववाद और (आ) नियतिवाद से अंतर बताइए।

२. एक छात्र, जो लंबे अरसे से संकल्प-स्वातंत्र्य और नियतत्ववाद की समस्या से परेशान रहा, इस प्रकार तर्क करता है : "विज्ञान ने काफी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि जो कुछ भी होता है वह नियत होता है। यदि ऐसी बात है तो जो कुछ भी मैं करता हूँ उस सब पर यह लागू होता है। तदनुसार मेरा संकल्प स्वतंत्र नहीं है। यदि मेरा संकल्प स्वतंत्र नहीं है तो अच्छा यह होगा कि मैं जीवित न रहूँ।" इसलिए उसने आत्महत्या कर ली। उसके तर्क में क्या त्रुटियाँ थीं ?

३. नीचे के कथनों की सावधानी से जाँच कीजिए :

अ. नियतत्ववाद सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि दुनिया में दैवयोग भी होता है। हम सभी कहते हैं कि अमुक घटना "दैवयोग से" हुई है।

आ. यदि हर चीज जो हम करते हैं नियत है, तो अच्छा होगा कि हम काम न करें और आराम से बैठें (या सब बंधन तोड़ डालें और जो मन में आए सो करें)। यदि सब कुछ नियत है तो हमारे प्रयत्न व्यर्थ हैं।

इ. "यदि भौतिक जगत् के द्रव्य पर शासन करनेवाले नियम पहले ही पाइप, तंबाकू और धुएँ के रूप में मेरे ओंठों से संबंधित द्रव्य के कल के विन्यास को निर्धारित कर चुके हैं तो आज रात के मेरे इस मानसिक संघर्ष का क्या महत्त्व है कि मैं तंबाकू पीना छोड़ दूँ या नहीं ?" (आर्थर ई० एडिंगटन, फिलॉसफी, जनवरी १९३३, के पृ० ४१ पर)

ई. नियतत्ववाद सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि हम हर घटना का कारण नहीं जानते।

उ. नियतत्ववाद को अवश्य ही सत्य होना चाहिए, क्योंकि विज्ञान के अस्तित्व के लिए यह बात आवश्यक है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण हो।

ऊ. नियतत्ववाद सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि लोग निरी मशीनें नहीं हैं।

ए. नियतत्ववाद सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि मुझे महसूस होता है कि

मैं स्वतंत्र हूँ ; ऐसा मुझे अंतर्निरीक्षण से ज्ञात होता है। यह किसी भी युक्ति से कहीं अधिक अच्छा प्रमाण है।

ऐ. स्वतंत्र-संकल्प नियततत्ववाद के विरुद्ध है।

ओ. स्वतंत्र-संकल्प नियतिवाद के विरुद्ध है।

औ. स्वतंत्र-संकल्प अनियततत्ववाद के विरुद्ध है।

अं. प्रकृति के नियम ही हर चीज से वह करवाते हैं जो वह करती है।

अः मेरी पृष्ठभूमि मुझे वह व्यवहार करने के लिए बाध्य करती है, जो मैं करता हूँ।

क. यदि मेरे ऊपर भिन्न प्रभाव पड़े होते तो मैंने भिन्न तरीके से व्यवहार किया होता ; और यदि दो अवसरों पर मेरे ऊपर पड़नेवाले कुल प्रभाव बिल्कुल एकही होते तो मैंने दूसरी बार ठीक वही काम किया होता जो पहली बार किया था—मैं उसे किए बिना न रह सका होता। अतः, मैं स्वतंत्र नहीं हूँ।

ख. जिस रूप में मैंने काम किया उससे भिन्न मैं कर ही न सका होता। जिस काम को करने की बात मैंने सोची थी वह जो भी रहा हो, मेरे सामने केवल एकही रास्ता था (हालाँकि उस समय मुझे ऐसा ज्ञान नहीं था), केवल एकही चीज थी जो मैं उन विलक्षण परिस्थितियों में कर सका होता : अर्थात् वह जो मैंने की।

ग. यह सत्य है—कम-से-कम कोई नियततत्ववादी सिद्धांत जितना सत्य प्रतीत होगा उससे अधिक—कि मनुष्य विमर्श करते हैं। अब सच्चे विमर्श में विकल्पों में से चुनाव करना होता है और ठीक उस समय चुनाव का परिणाम संदिग्ध होता है। परंतु यदि परिणाम पहले से निश्चित है तो विमर्श सच्चा नहीं है। चूँकि विमर्श होता है, इसलिए नियततत्ववाद अवश्य ही असत्य है।

घ. कहा जाता है कि नियततत्ववाद के अनुसार प्रत्येक इच्छा, प्रत्येक आवेग, प्रत्येक विचार पूर्ववर्ती उपाधियों का अनिवार्य परिणाम होता है। परंतु, यहाँ "अनिवार्य" शब्द का दुरुपयोग हुआ है। "अनिवार्य" का मतलब "अपरिहार्य" है ; और यह कहना सत्य नहीं है कि प्रत्येक बात अपरिहार्य है। कुछ बातें, जैसे मृत्यु, अपरिहार्य हैं, परंतु अन्य, जैसे किसी मोटर-साइकल-दुर्घटना में मारा जाना, अपरिहार्य नहीं होती—मोटर-साइकल पर न चलने से ऐसी दुर्घटना से बचा जा सकता है। यहाँ दोष सामान्य रूप से यह है कि

कुछ बातों पर लागू होनेवाले एक शब्द के अर्थ का इस प्रकार विस्तार कर दिया जाता है कि वह हर बात पर लागू होने लगता है। परंतु ऐसा करने से तो शब्द का मूल अर्थ ही समाप्त हो जाता है।

ङ. अब हाइसेनबर्ग के अनियतत्व-सिद्धांत को भौतिकी में काफी अच्छी मान्यता प्राप्त हो गई है। यदि अजैव प्रकृति के क्षेत्र में अनियतत्ववाद काम कर रहा है तो क्यों नहीं वह मनुष्य के अंदर काम कर सकता? इस तरह अंततोगत्वा हमारा संकल्प स्वतंत्र ही है।

१८

१. द्रव्यविषयक निम्नलिखित कथनों का अर्थ बताइए और उनकी समीक्षा कीजिए :

अ. जॉन लॉक, ऐसे कंसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग, खंड ११, अध्याय २३, परिच्छेद १ : "यदि शुद्ध द्रव्य की अपनी सामान्य धारणा की कोई जांच करे तो उसे पता चलेगा कि जो गुण हमारे अंदर सरल प्रत्ययों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं, जिन्हें कि आकस्मिक गुण कहते हैं, उनके किसी अज्ञात आधार की कल्पना ही वह है, उसके अलावा कुछ भी नहीं। यदि किसीसे पूछा जाय कि वह चीज क्या है जिसमें रंग या भार समवेत है तो उसके पास कहने के लिए इसके अलावा कुछ नहीं होगा कि वह ठोस और विस्तृत भाग है : और यदि उससे तब यह पूछा जाय कि वह क्या है जिसमें ठोसपन और विस्तार समवेत हैं तो उसे उस आदमी से अच्छा उत्तर नहीं सूझेगा जिसने ब्रह्मांड को एक विराट् हाथी के ऊपर टिका बताने के बाद यह पूछे जाने पर कि हाथी किस पर टिका है, यह जवाब दिया था कि वह एक विराट् कछुए पर टिका हुआ है। परंतु फिर यह पूछे जाने पर कि चौड़ी पीठ वाला कछुआ किस पर टिका हुआ है उसने जवाब दिया था कि किसी ऐसी चीज पर, जिसे वह नहीं जानता।····जिसका हम 'द्रव्य' के सामान्य नाम से निर्देश करते हैं वह हमारा प्रत्यय उन गुणों के अज्ञात आधार की कल्पना मात्र है जिनका अस्तित्व हम देखते हैं और जिनके हम किसी आधार के बिना अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते··········।"

आ. जॉर्ज बर्कली, प्रिंसिप्ल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज, पैरा १६ : "कहा जाता है कि विस्तार पुद्गल (भौतिक द्रव्य) की एक अवस्था या उसका एक आकस्मिक गुण है और कि पुद्गल वह अधिष्ठान है जो उसे धारण किए

है। अब मैं चाहता हूँ कि आप मुझे समझावें कि पुद्गल का विस्तार को धारण करना क्या होता है। आप कहेंगे कि पुद्गल के बारे में आपको कुछ नहीं मालूम और इसलिए आप उसकी व्याख्या नही कर सकते। मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि आपको यह क्या है, यह तो मालूम नहीं है, तथापि आपका उससे यदि कोई मतलब है तो कम-से-कम एक संबंधमूलक धारणा तो आपकी उसके बारे में होनी ही चाहिए ; आप यह तो नहीं जानते कि वह क्या है पर इतना हमें मान लेना होगा कि आप आकस्मिक गुणों से उसका संबंध अवश्य जानते है और यह भी जानते हैं कि उसके उनको धारण करने का क्या अर्थ है। स्पष्ट है कि धारण करने का यहाँ वह आम अभिधा वाला अर्थ नहीं हो सकता जो हमारे यह कहने में प्रकट होता है कि खंभे इमारत को धारण करते हैं। तो फिर किस अर्थ में उसे लिया जाय ?"

२. सामान्यों के बारे में निम्न कथनों की परीक्षा कीजिए :

अ. दुनिया में विशेषों को छोड़कर कुछ भी अस्तित्व नही रखता। अतः, नामवाद ही किसी रूप में सही है।

आ. किसी गुणधर्म (नीलत्व) का काल में दृष्टांतीकरण तभी हो सकता है जब काल में उसका अस्तित्व हो। जैसे विशेष कालनिरपेक्ष नहीं हैं वैसे ही गुणधर्म भी नही हैं।

इ. यह कहना बिल्कुल गलत है कि विशेषों के अतिरिक्त किसी चीज का अस्तित्व नहीं है। सचाई इसके विपरीत है : गुणधर्मों (सामान्यों) के अतिरिक्त किसी चीज का अस्तित्व नही है। एक विशेष वस्तु, जैसे नमक की एक डली, एकसाथ अस्तित्व रखनेवाले गुणधर्मों के एक समूह के अलावा कुछ भी नहीं है।

ई. गुणधर्म (सामान्य) एक वर्ग के अलावा कुछ नहो है, और विशेष उस वर्ग का एक सदस्य है। अतः, "सामान्यों का अस्तित्व है" का वही अर्थ है जो "वर्गों का अस्तित्व है" का है।

उ. प्लेटो का कहना सही था : सामान्य विशेषों से बिल्कुल स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। एकशृंग होते नहीं हैं, फिर भी हमें एकशृंगत्व का संप्रत्यय होता है, और जब हमें यह संप्रत्यय होता है तब कोई चीज अवश्य होती है जिसका हमें संप्रत्यय होता है : एकशृंगत्व का अवश्य ही किसी अर्थ में अस्तित्व होना चाहिए, हालांकि दिक् और काल मे इसके कोई उदाहरण नही होते (जहाँ तक

हम जानते हैं वहाँ तक)। "एकशृंग" शब्द यदि किसी चीज का निर्देश न करता तो उसका कोई अर्थ होता ही कैसे ? परंतु वह किन्हीं विशेष एकशृंगों का निर्देश नहीं करता। अतः वह अवश्य ही सामान्य का निर्देश करता है।

ऊ. अरस्तू की बात स्पष्टतः सत्य थी : गुणधर्म (सामान्य) वह है जो विशेष वस्तुओं में समान होता है। यही गुणधर्म है—गुणधर्म होने का बिल्कुल यही मतलब होता है। यह कथन एक परिभाषा मात्र बताता है, लेकिन ऐसी परिभाषा जो गुणधर्मों का बोध करानेवाले शब्दों का हम जिस तरह प्रयोग करते हैं उसको प्रतिबिंबित करती है।

३. क्या हमें विशेष वस्तुओं (रामू, यह नीली चीज) के समान ही गुणधर्मों (कुत्तापन, नीलत्व) के भी संप्रत्यय हो सकते हैं ?

४. बारीकी के साथ समझाइए कि (अ) सामान्यों की स्थिति और (आ) संप्रत्ययों (जो कि सामान्यों के हमारे बोध को प्रकट करते हैं) की स्थिति की दृष्टि से आत्यंतिक नामवाद, बिंबवाद, संप्रत्ययवाद और अरस्तवी वास्तववाद में परस्पर क्या अंतर है।

५. जाति-उपजाति-संबंध का सामान्य-विशेष-संबंध से अंतर स्पष्ट कीजिए। क्या इनमें से कोई ऐसा है जो वर्ग-सदस्य-संबंध से अभिन्न हो ?

१९

१. "जीव जटिल मशीनें मात्र हैं।" पर "मशीनें" से क्या मतलब है ? उन शर्तों की एक सूची बनाने की कोशिश कीजिए जिनके पूरी होने से कोई चीज मशीन कहला सकेगी। तब इस परिभाषा की सहायता से इस मत की समीक्षा कीजिए कि जीव मशीनें हैं।

२. निम्न कथनों का मूल्यांकन कीजिए :

अ. जीवविज्ञान का भौतिकी और रसायन में अपचयन किया जा सकता है।

आ. कोई भी व्यक्ति हाइड्रोजन और आक्सीजन के अलग-अलग जो गुणधर्म हैं उन सबको जानकर यह भविष्यवाणी करने में समर्थ नहीं हो सकेगा कि एच$_2$ओ (पानी) के क्या गुणधर्म होंगे।

इ. कोई भी व्यक्ति यदि जीवों का निर्माण करनेवाले पदार्थों के सब गुणधर्मों को जान ले तो भी यह जीवित जीवों के समस्त व्यवहार का

भविष्यवाणी नहीं कर पाएगा (जैसे, भ्रूण की आंख के इस प्रकार विकसित होने की कि मानो उसका प्रयोजन जीव को देखने में समर्थ बनाना हो)।

ई. पृथ्वी के ऊपर दो अरब वर्ष पहले (पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व में आने के पहले) जो कुछ घट रहा था उसके आधार पर जीवन की उत्पत्ति की भविष्यवाणी न की जा सकी होती।

उ. प्राणतत्ववाद का विवाद है किस बारे में ? हर आदमी जानता है कि जीव चट्टानों और नदियों से भिन्न तरीके से व्यवहार करते हैं।

ऊ. इस युक्ति का मूल्यांकन कीजिए : "सभी जीव अपनी तरह का जीव उत्पन्न कर सकते हैं। परंतु कोई मशीन अपनी-जैसी एक मशीन को उत्पन्न नहीं कर सकती। अतः जीव मशीन नहीं है।"

ए. भविष्यवाणी के किए जा सकने की जो बात कही जा रही है उसका क्या मतलब है ? किसी चीज की भविष्यवाणी की जा सकती है या नहीं, यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि (१) भविष्यवाणी करने वाला कौन है और (२) वह किस आधार पर भविष्यवाणी कर रहा है। इस प्रकार कोई इस सवाल का एक सामान्य जवाब नहीं दे सकता कि अमुक घटना की भविष्यवाणी की जा सकती है या नहीं।

३. क्या सब इंद्रियानुभविक विज्ञानों का एक विज्ञान, भौतिकी, में अपचयन संभव है ? (यहां किसी अन्य विज्ञान, जैसे रसायन, के बजाय भौतिकी को ही क्यों चुना गया है ?)

४. (अ) मॉरिस आर० कोहेन, रीजन ऐंड नेचर, पृ० २४१-२८२ तथा (आ) सी० डी० ब्रॉड, दि माइन्ड ऐंड इट्स प्लेस इन नेचर, अध्याय २ में से किसी एक के अनुसार यांत्रिकवाद और प्राणतत्ववाद के विवाद का विवेचन कीजिए।

२०

१. नीचे के प्रत्येक वाक्य में भौतिक शब्दों का प्रयोग करके कुछ मानसिक घटनाएँ या क्रियाएँ बताई गई हैं। वाक्य के अभिप्रेत अर्थ को (यथाशक्ति) न बदलते हुए लाक्षणिक प्रयोग के स्थान पर सीधे अर्थ वाले शब्द रखिए।

अ. आपने उसे सचमुच देखा नहीं—यह सब आपके मन के अंदर है।

आ. उसके सिर के अंदर अनेक मूर्खतापूर्ण विचार भरे हुए हैं।

इ. यह विचित्र विचार उसके मन के पृष्ठभाग मे बार-बार उठता रहा।

ई. वह बडी चलचित्त थी—उसके विचार उसके मन मे इधर-से-उधर उडते रहते थे।

उ. वह अपना दिमाग इतनी जल्दी-जल्दी बदलता है कि कोई नही जान पाता कि वह वस्तुतः मानता क्या है।

ऊ. इतनी अधिक जिम्मेदारियो की वजह से उसके मन के ऊपर भयानक बोझ हैं।

२. नीचे के प्रत्येक कथन की समीक्षा कीजिए :

अ. मानसिक घटनाएँ मस्तिष्कीय घटनाओ के अलावा कुछ नही हैं।

आ. मनोदैहिक समातरवाद के अनुसार मन भौतिक द्रव्य के ऊपर कोई प्रभाव नही डालता।

इ. मस्तिष्क से विचार वैसे ही स्रावित होता है जैसे यकृत से पित्त।

ई. जो कुछ मैं देखता हूँ वह सदैव मेरे ही मस्तिष्क के अदर चलनेवाली कोई बात होता है।

उ. मानसिक घटनाएँ और भौतिक घटनाएँ तर्कतः परस्पर संबधित होती है।

ऊ. यदि मन.पर्यय एक तथ्य है तो मैं आपके दर्द का साक्षात् अनुभव कर सकता हूँ।

ए. यदि मनःपर्यय सचमुच होता है तो मेरे अनुभव वास्तव मे निजी नही हैं, क्योकि अन्य लोग उनका अनुभव कर सकते है।

ऐ. मानसिक घटनाएँ वास्तव मे इस समय भी (मन.पर्यय के अभाव मे) निजी नही है, क्योकि मैं आपके साथ रहकर और तदनुभूति के द्वारा आपके अनुभवो का (जैसे आपके दुःख का) सहभागी बन सकता हूँ।

ओ. कुछ मानसिक घटनाओ की भौतिक दिक् के अदर स्थिति बताई जा सकती है, जैसे मेरी उंगली मे, या मेरे दांत मे या मेरी टांग मे दर्द हो रहा है। (यहां तक कि टांग के काट कर अलग कर दिये जाने पर भी टांग मे मुझे दर्द हो सकता है।)

औ. यह सच है कि किसी के मस्तिष्क को खोलकर किसी सर्जन ने कभी मानसिक घटनाएं नही देखी, परतु शायद इसकी वजह यह है कि किसी ने कभी बारीकी से नही देखा।

३. देकार्त एक अन्योन्यक्रियावादी था। उसके मतानुसार मन और शरीर का संपर्क-स्थल मस्तिष्क की पिनियल ग्रंथि है, जिसकी सहायता से भौतिक उद्दीपन चेतना की अवस्थाएं उत्पन्न करते हैं और संकल्प कार्यान्वित होते हैं। "हम आत्मा के बारे में यह मान सकते हैं कि उसका मुख्य निवास मस्तिष्क के बीच में स्थित इस छोटी-सी ग्रंथि में है, जहां से वह प्राणतत्व, तंत्रिकाओं और रक्त तक के द्वारा शरीर के संपूर्ण शेषांश में व्याप्त हो जाती है—रक्त प्राणतत्व से प्रभावों को ग्रहण करके उन्हें धमनियों के माध्यम से सब अंगों को पहुँचाने में समर्थ होता है।" इस मत की समीक्षा कीजिए।

४. "मृत्यु के बाद अस्तित्व मन का नहीं बल्कि आत्मा का बना रहता है।" "आत्मा" यदि "मन" का समानार्थक नहीं है तो इसका क्या अर्थ हो सकता है? क्या आत्मा एक द्रव्य है? एक मानसिक द्रव्य है? क्या आत्मा-संबंधी सिद्धांत मन-संबंधी सिद्धांत से भिन्न होगा? (यदि हाँ तो कैसे?)

५. क्या आप नीचे लिखी बातों को तर्कतः संभव समझते हैं, और क्यों?

अ. एक मन का पुद्गल की मध्यस्थता के बिना दूसरे मन को प्रभावित करना।

आ. मन का शरीर के बिना अस्तित्व रखना।

इ. मन का किसी शरीर को छूना।

ई. एक व्यक्ति के दो शरीर होना।

उ. एक व्यक्ति के दो मन होना।

ऊ. एक मन का सीधे दो शरीरों को नियंत्रित करना (जैसे, उसकी भुजा को ऊपर उठाने का संकल्प करके)।

ए. एक शरीर का दो मनों के द्वारा नियंत्रित होना।

पहले उस परिस्थिति का वर्णन करने की कोशिश कीजिए जिसे उस प्रकार की चीज का एक उदाहरण गिना जाएगा जिसका प्रत्येक में उल्लेख है।

६. क्या आप मरणोत्तर अस्तित्व की प्राक्कल्पना की अर्थ की परीक्षणीयता वाली कसौटी से संगति मानते हैं? पहले इस प्रश्न के निषेधात्मक उत्तर के लिए ए०जे० एयर कृत लैंगुएज, ट्रूथ ऐंड लॉजिक, पृ० १९८ देखिए; तब इसके स्वीकारात्मक उत्तर के लिए देखिए मॉरित्स श्लिक का लेख "मीनिंग ऐंड वेरिफिकेशन" तथा वर्जिल सी० आल्डरिच का लेख "श्लिक ऐंड एयर ऑन् इमॉर्टेलिटी"—ये दोनों एच० फेग्ल और डब्ल्यू० सेलर्स द्वारा संपादित रीडिंग्ज

इन फिलॉसोफिकल अनैलिसिस (न्यूयार्क, : ऐपलटन-सेंचुरी-क्रॉफ्ट्स, १९४९) में हैं।

७. क्या स्वयं अपनी शवयात्रा को देखना तर्कतः संभव है ? (इस विषय पर एन्टोनी फ्ल्यू के दो लेख है : हिबर्ट जर्नल, १९५६ में प्रकाशित "कैन ए मैन विटनेस हिज ओन फ्यूनरल ?" तथा दि ह्यूमैनिस्ट १९६० में प्रकाशित 'सेंस ऐंड सर्वाइवल" ।)

८. यदि शरीर के अस्तित्व का बीच-बीच में लोप होता रहे तो आप वैयक्तिक तादात्म्य के बारे में क्या कहेंगे ? प्रत्येक तीन मिनट की अवधि में दो मिनट तक शरीर रहता है—आप उसे चलते-फिरते देखते है और उसके होंठों से शब्दों को निकलते सुनते हैं—और तीसरे मिनट में कुछ भी नही होता : ऐसा कुछ नही जिसे देखा और छुआ जा सके, जिसका फोटो और ऐक्स रे लिया जा सके, जो भौतिक वस्तु की किसी भी कसौटी के अनुसार न हो। आप इस प्राक्कल्पना का क्या अर्थ (यदि कोई हो तो) लगाएँगे कि एक मिनट की उन अवधियों में उसका अस्तित्व रहता है ? हमारे यह कहने का क्या आधार होगा (यदि कोई हो तो) कि हर बार उस एक मिनट की अवधि मे लुप्त रहने के बाद जो प्रकट होता है वह वही व्यक्ति है जो लोप के पहले अस्तित्व रखता था ? (क्या उसे उसी स्थान पर प्रकट होना होगा जहाँ वह लोप के पहले था अथवा उसमें वही शारीरिक विशेषताएँ होनी होंगी जो उसमे लोप से पहले थीं ? किन कसौटियों से आप यह निश्चय करेंगे कि वह "सचमुच वही व्यक्ति" है ?)

९. आप कहने के निम्नलिखित तरीकों में से किसे अधिक पसंद करेंगे और क्यों ?

"मैं एक मन हूँ" या "मेरा एक मन है" ? "मैं एक शरीर हूँ" या "मेरा एक शरीर है" ? क्या आप अपनी पसंद का कोई आधार बता सकते हैं ? इनमें से आप किसे अधिक पसंद करते हैं : "मैं एक मन हूँ जिसका एक शरीर है या जो एक शरीर से संबद्ध है" अथवा "मैं एक शरीर हूँ जिसका एक मन है या जो एक मन से संबद्ध है" अथवा "मैं एक व्यक्ति हूँ जिसका एक मन है और एक शरीर है" अथवा "मैं एक मन और एक शरीर दोनों से युक्त एक व्यक्ति हूँ"—अथवा कोई और रूप ?

१०. यदि निम्नलिखित बातें हों तो क्या फिर भी आप कहेंगे कि "यह वही व्यक्ति है" ?

अ. उसकी स्मृति का पूर्ण रूप से और हमेशा के लिए लोप हो गया है पर उसका शरीर वही है।

आ. वह एक बंदर बन गया है पर जब वह मनुष्य था तब की उसकी स्मृतियाँ यथावत् है।

इ. वह एक बंदर बन गया है और मानवावस्था की उसकी स्मृतियां भी नष्ट हो गई है।

ई. उसका शरीर हमारे सामने ही खंड-खंड होकर गायब हो गया, पर उसकी आवाज (या हू-ब-हू उसकी-जैसी लगनेवाली आवाज) बोलती जा रही है।

उ. उसका शरीर हमारे देखते-देखते लुप्त हो जाता है और दस वर्ष बाद वह (या ठीक उसके-जैसा लगनेवाला एक शरीर) अपनी पहले की सब स्मृतियों और व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ प्रकट हो जाता है।

११. यदि आप किसी के शरीर को चीर डालें और रक्त, मांस और हड्डियों के बजाय वहाँ आप तार और बिजली के सर्किट देखें तो क्या आपका यह कहना उचित होगा कि वह शरीर सोचने या महसूस करने में असमर्थ एक रोबट या यंत्रमानव है ? यदि हाँ, तो इसका आधार क्या होगा ? (यदि कोई आपके शरीर को चीरकर देखे और वहाँ रक्त-मांस न पाकर तार और सर्किट पावे तो क्या उसका यह कहना सही होगा कि आप सोचने-समझने और महसूस करने की क्षमता से रहित हैं ?)

१२. निम्नलिखित में से एक मत के समर्थन में तर्क दीजिए : (अ) आप जान सकते हैं कि दूसरों को पीड़ा की अनुभूति होती है और इसका प्रमाण दे सकते है; (आ) आपको इस बात का दृढ़ विश्वास हो सकता है कि दूसरों को पीड़ा का अनुभव होता है पर यह विश्वास ज्ञान के स्तर तक नही जाता; (इ) इस संबंध में आपको दृढ़ विश्वास तक नही होता।

२१

१ (अ) चार्ल्स हार्टशॉर्न के ग्रंथ दि लॉजिक ऑफ पर्फेक्शन अथवा (आ) नॉर्मन मैलकम के निबंध "ऐन्सेलम्स ऑन्टोलॉजिकल आर्ग्युमेंट" (फिलॉसोफिकल रिव्यू, १९६०; उसके ग्रंथ नॉलेज ऐंड सर्टंटी में पुनर्मुद्रित) में प्रत्यय-सत्ता-

युक्ति के पक्ष में जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनका विवेचन कीजिए।

२. आपातिता पर आश्रित युक्ति किस सीमा तक दुबारा प्रत्यय-सत्ता-युक्ति का ही प्रयोग मानी जाएगी? समझाकर बताइए।

३. विश्व की किन प्रेक्षणगम्य विशेषताओं के आधार पर आप (अ) बहुदेववाद, (आ) द्विदेववाद और (इ) एकदेववाद को स्वीकार करेंगे?

४. नीचे के कथनों का मूल्यांकन कीजिए :

अ. ईश्वर प्रथम घटना था।

आ. ईश्वर प्रथम घटना का कारण था।

इ. कोई प्रथम घटना नहीं थी, पर ईश्वर प्रथम घटना के होने की तथा बाद में होनेवाली घटनाओं की भी व्याख्या है।

ई. ईश्वर काल के प्रारंभ से पहले ही वर्तमान था।

उ. ईश्वर ने काल को रचा।

ऊ. ईश्वर ने काल को रचा, फिर जगत् को।

ए. ब्रह्मांड ईश्वर से उत्पन्न हुआ।

ऐ. पहले एक चेतन सत्ता (ईश्वर) थी, शरीररहित एक मन था, तब उसने पुद्गल (शरीरों के सहित) की सृष्टि की।

ओ. ईश्वर ने दिक् में व्याप्त पुद्गल को रचने से पहले दिक् को रचा।

औ. केवल ईश्वर में विश्वास करने से ही यह रहस्य समझ में आ सकता है कि किसी का भी क्यों अस्तित्व है।

अं. यदि ब्रह्मांड को रचने और उसकी योजना बनानेवाले ईश्वर में आप विश्वास नहीं करते तो आपको यह मानना पड़ेगा कि जो कुछ भी होता है और हो चुका है वह सब एक विराट् संयोग है।

अः. चूंकि इस जीवन में निर्दोष लोग प्रायः दुःख भोगते हैं और दोषी दंड से बचे रहते हैं, इसलिए एक और जीवन होना चाहिए जिसमें ईश्वर गलतियों को दुरुस्त करता है और प्रत्येक व्यक्ति का उसकी अर्हता के अनुसार निष्पक्ष न्याय करता है।

५. नीचे की युक्तियों में से कौन वैध निगमनात्मक युक्तियां हैं? समझाकर बताइए। आप किनमें आपादिकाओं को सत्य समझते हैं?

अ. दिव्य अनुभव (एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक घटनाएं) होते हैं; अतः ईश्वर का अस्तित्व है।

आ. दिव्य अनुभव (ईश्वर के अनुभव) होते हैं ; अतः ईश्वर का अस्तित्व है ।

इ चमत्कार (प्राकृतिक नियमों के द्वारा जिन घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकती वे) होते है ; अतः ईश्वर का अस्तित्व है ।

ई. चमत्कार (ईश्वर के द्वारा हस्तक्षेप) होते हैं ; अतः ईश्वर का अस्तित्व है ।

उ. जीवों की एक विशेष तरीके से रचना होती है ; परंतु रचना में रचयिता विवक्षित है ; अतः जीवों का एक रचयिता (ईश्वर) है ।

ऊ. यदि पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना वंद हो जाय तो यह एक चमत्कार होगा ।

ए. यदि पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना वंद हो जाय, और इस घटना की कोई प्राकृतिक व्याख्या न मिले, तो यह एक चमत्कार होगा ।

ऐ. पुद्गल के प्रत्येक संभव आकार के अंदर कोई व्यवस्था होनी चाहिए । व्यवस्था के लिए व्यवस्थापक का होना आवश्यक है । अतः एक व्यवस्थापक (ईश्वर) का अस्तित्व है ।

ओ. विश्व में वस्तुओं की एक उपयोगी (अच्छी या वांछनीय) व्यवस्था देखी जा सकती है । परंतु ऐसी व्यवस्था के लिए कोई व्यवस्थापक होना चाहिए । अतः एक व्यवस्थापक (ईश्वर) का अस्तित्व है ।

६. निम्नलिखित प्राक्कल्पनाएँ (बारी-बारी से) प्रसंभाव्य जिस प्रकार के विश्व मे होंगी उसका वर्णन कीजिए :

अ. दो देवता हैं (एक शुभ और एक अशुभ) जो विश्व को अपने अधिकार में करने के लिए लड़ रहे है ।

आ. अनेक देवता है और प्रत्येक का अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र है ।

इ. विश्व मे प्रत्येक चीज बुराई की ओर उन्मुख है ।

ई. विश्व में अशुभ प्रतीन होनेवाली हर चीज अंत में उत्तम वन जाएगी ।

उ. विश्व में शुभ प्रतीत होनेवाली हर चीज अंत में अशुभ वन जाएगी ।

ऊ. ईश्वर एक है और सर्वशक्तिमान् तथा करुणामय दोनों है ।

ए. ईश्वर एक है और सर्वशक्तिमान् है पर करुणामय नहीं है ।

ऐ. ईश्वर एक है और करुणामय है पर सर्वशक्तिमान् नहीं है ।

७. क्या कोई घटनाएँ या घटनाओं की शृंखलाएँ ऐसी है जिनके होने पर आप कह सकें कि "यह तो एक चमत्कार है" ? यदि हैं तो उनका वर्णन कीजिए और बताइए कि आप उन्हें चमत्कार क्यों कहेंगे ।

८. "मेरा बीमार बच्चा ठीक हो गया, और इस बात को मैं एक करुणामय ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मानता हूँ" । "परंतु मेरा बीमार बच्चा ठीक नहीं हुआ, और इसलिए इस बात को मैं इसका प्रमाण मानता हूँ कि कोई करुणामय ईश्वर नहीं है ।" क्या इनमें से कोई भी बात ऐसी है जो उस प्राक्कल्पना को संपुष्ट करती हो जिसका उसे प्रमाण बताया गया है ? अपने उत्तर को तर्क द्वारा पुष्ट कीजिए ।

९. "दो सौ वर्ष पूर्व मनुष्य की औसत आयु जितनी आज है उससे केवल आधी थी । उसमें जो वृद्धि हुई है वह प्रत्यक्ष रूप से आयुर्विज्ञान की प्रगति का परिणाम है। आज दीर्घायु का कारण आयुर्विज्ञान है न कि ईश्वर ।" "नहीं, जो तथ्य आपने बताए हैं वे एक और प्राक्कल्पना के भी उतने ही समर्थक हैं : इस प्राक्कल्पना के कि ईश्वर ने मनुष्य के जीवन-काल को बढ़ाने की अपनी योजना को पूरी करने के लिए आयुर्विज्ञान को साधन बनाया है (शायद आयुर्विज्ञानियों के मन में नए विचारों को उपजाया भी है) ।" इसका विवेचन कीजिए ।

१०. हम सब जानते हैं कि एक कविता, या किसी उपद्रव या किसी विचार की सृष्टि क्या होती है । पर शून्य से सृष्टि क्या होती है ? कल्पना कीजिए कि आप एक चेतन सत्ता है और भौतिक जगत् का अस्तित्व नहीं है । आप कहते हैं, "तारे पैदा हो जायँ", और एकाएक जहाँ पहले कुछ भी नहीं था वहाँ तारे उत्पन्न हो जाते हैं । आप कैसे जानेंगे कि तारों की सृष्टि करनेवाला आपका वाक्य "तारे पैदा हो जायँ" था ? आप कैसे जानेंगे कि आपके वचन और इस घटना के मध्य कारण-कार्य-संबंध है ? आप कैसे जानेंगे कि आपका इस वाक्य का उच्चारण और उसी समय तारों का उत्पन्न होना एक संपात या संयोग नहीं था ?

११. ब्रह्मांड के आयोजक में विश्वास करने के लिए शरीररहित एक मन में विश्वास करना क्यों जरूरी होगा ?

२२

१. "कोई भी वैज्ञानिक युक्ति—जिससे मेरा अभिप्राय प्राकृतिक तथ्यों पर आधारित युक्ति से है—ऐसी नहीं है जो ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध या असिद्ध करने की थोड़ी सी भी क्षमता रख सके।" (डब्ल्यू० टी० स्टेस, रिलीजन ऐंड दि मॉर्डन माइन्ड, पृ० ७६)। क्या आप इस कथन से सहमत हैं, और क्यों ? इंद्रियानुभविक तथ्यों की धार्मिक विश्वास से संबद्धता के सामान्य प्रश्न पर विचार कीजिए।

(स्टेस के रिलीजन ऐंड दि मॉडर्न माइंड का अध्याय ५ पढ़िए। उसमें इस प्रश्न के बारे में अधिक सामग्री है।)

२. आपके मत से निम्नलिखित कथनों में से किन्हें अक्षरशः सत्य माना जा सकता है ? जिनके शब्दों या शब्द-समुच्चयों को अभिधा में नहीं लिया जा सकता उन्हें ऐसे वाक्यों में बदलने का प्रयत्न कीजिए जिन्हें अभिधा में लिया जा सकता है। जिन्हें अभिधा में लिया जा सकता है उनकी आंतरिक संगति की जाँच कीजिए।

अ. ईश्वर तारों से ऊपर है।
आ. ईश्वर मानवीय चिंताओं से ऊपर है।
इ. ईश्वर का काल के शुरू होने से पहले से अस्तित्व था।
ई. "और ईश्वर ने कहा······।"
उ. ईश्वर संपूर्ण दिक् और संपूर्ण काल में अस्तित्व रखता है।
ऊ. पृथ्वी ईश्वर का पादपीठ है।
ए. ईश्वर ने संसार को उत्पन्न किया।
ऐ. ईश्वर प्रेम है।
ओ. ईश्वर सत्यता है।

३. नीचे के प्रत्येक वाक्य के संबंध में "अस्तित्व होना" के प्रयोग की कसौटियों का विवेचन कीजिए :

अ. "मेजों का अस्तित्व है।"
आ. "सिरदर्द का अस्तित्व है।"
इ. "चुंबकत्व का अस्तित्व है।"
ई. "भूतों का अस्तित्व है।"
उ. "ईश्वर का अस्तित्व है।"

४. "ईश्वर में वे गुणधर्म सचमुच नही है जिनका हम उसमें आरोप करते हैं (पुरुषत्व, काल में अस्तित्व रखना, बुद्धि और अनुभूति से युक्त होना, इत्यादि), परंतु उसमें इनसे मिलता-जुलता कुछ अवश्य है। ईश्वर की विशेषताएँ बताने के लिए हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे केवल सादृश्यपरक हैं।" इस मत की समीक्षा कीजिए।

५. आप नीचे के किन कथनों को स्वीकार करेंगे और किनको अस्वीकार करेंगे, और क्यो ?

अ. इस कमरे में एक हाथी है जो न दिखाई दे सकता है और न जिसको छुआ जा सकता है।

आ. इस कमरे में अदृश्य और अस्पृश्य रेडियो तरंगें हैं।

इ. पुद्गल के प्रत्येक अंश में अदृश्य और अस्पृश्य परमाणु हैं।

ई. विश्व में एक ईश्वर है जो अदृश्य और अस्पृश्य है।

६. यदि निम्नलिखित घटनाएँ हों तो उनसे क्या सिद्ध होगा ? क्या ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होगा ? ("ईश्वर" का कौन-सा अर्थ ?)

अ. एक आदमी जो एक दूसरे आदमी की हत्या करने ही वाला है, एकाएक दिल के दौरे से मर जाता है।

आ. बादलो के बीच से एक आवाज यह कहती सुनाई देती है : "जो दूसरों की हत्या करते है उनके ऊपर तत्काल वज्र गिरेगा और वे मर जाएँगे।" और ऐसा उसी क्षण से सचमुच होने भी लगता है : जो आदमी दूसरे की हत्या करता है वह तत्काल वज्रपात से मर जाता है।

इ. आप मर जाते है और तब पुनः एक भिन्न शरीर के साथ, पर सांसारिक जीवन की अपनी सभी स्मृतियों को अक्षुण्ण रखते हुए जी उठते है। आप अपने चारों ओर एक सोने का शहर, एक प्रकाशयुक्त आकाश और इधर-उधर उड़ते हुए सफेद प्राणी देखते हैं। कोई एक लंबा सफेद चोगा पहने हुए आपके पास आता है और कहता है : "अब आप स्वर्ग मे हैं।"

ई. कोई पृथ्वी पर प्रकट होकर कहता है : "ईश्वर अदृश्य है, परंतु मैं दृश्य हूँ और ईश्वर का प्रतिनिधि हूँ।" इसके प्रमाणस्वरूप वह पानी को शराब में बदल देता है और मृतकों को जीवित कर देता है।

२३

१. "मैं कैसे जानता हूँ कि भौतिक वस्तुओं का (पेड़, पत्थर, मेज

इत्यादि का) अस्तित्व है ?" "क्योकि मैं उन्हे देखता और छूता हूँ।" क्या आप इस उत्तर को संतोषप्रद समझते है ? क्यो ?

२. कौन-सी विचार-धारा इस निष्कर्ष पर पहुँचाएगी कि व्यक्ति केवल अपनी ही चेतना की अवस्थाओ से परिचित हो सकता है (जैसे, मेज से नही बल्कि कुछ मेज-अनुभवो से) ? इस विचार-धारा की यथार्थता का मूल्याकन कीजिए।

३. टेलीफोन-केन्द्र वाली उपमा मे क्या असगतियाँ है ? क्या आप स्वयं कोई ऐसी उपमा सोच सकते है जो इससे कम दोषपूर्ण हो ?

४. (लॉक के मूल बनाम गौण गुणो के सिद्धात के विरुद्ध) बर्कली ने अवियोज्यता के आधार पर जो तर्क दिया था उसकी समीक्षा कीजिए। क्या आप उसे ठीक समझते है, और क्यो ? तत्पश्चात् उसके परिवर्तनशीलता पर आधारित तर्क की समीक्षा कीजिए।

५. मूल गुणो का गौण गुणो से भेद करने के यहाँ छः तरीके सुझाए जा रहे है। प्रत्येक की बारी-बारी से जाँच कीजिए। क्या प्रत्येक मे कोई अतर है, और यदि है तो क्या आकृति मूल और रग गौण गुण बन जाता है (अर्थात् क्या उसके अनुसार "मूल" और "गौण" का वही अतर बनता है जो लॉक चाहता है) ?

अ. मूल गुण विश्व मे तब भी होते है जब उनका किसी को प्रत्यक्ष नही हो रहा होता; गौण गुण तब नही होते।

आ. मूल गुणो का एक से अधिक इंद्रियो से प्रत्यक्ष होता है; गौण गुणों का नही होता।

इ. मूल गुण गौण गुणो की तरह परिवर्तनशील नही होते : जैसे, रंग बदल सकता है पर आकृति स्थिर बनी रहती है।

ई. मूल गुण वे है जो वस्तु को खड-खंड कर देने के बाद भी उसमें बने रहते हैं। (देकार्त ने कहा था कि यदि हम मोम को पिघला दें तो उसका ठोसपन और उसकी आकृति लुप्त हो जाते हैं—लॉक ने इन दोनो को मूल गुण बताया था—परतु उसका विस्तार कभी लुप्त नही होता, और इसलिए देकार्त ने विस्तार को ही भौतिक द्रव्य का एकमात्र "मूल" गुण माना था। टिप्पणी क्या मोम आकृति से रहित हो जाता है या केवल एक विशेष आकृति से रहित ?)

उ. मूल गुण वे है जो तब भी बने रहते है जब अपाहार के द्वारा वस्तुओ के यथाशक्ति अधिक से अधिक गुणो को निकाल दिया जाता है और फिर भी वस्तुएँ रहती है। (कोई चीज रग या गध के अभाव मे भी चीज होगी पर आकृति या परिमाण के अभाव मे नही।)

ऊ मूल गुण वे हैं जो वस्तुओ के "असवेद्य भागो" से सबधित होते हैं। (यदि हम एक वस्तु से आणविक विन्यास को पूरी तरह समझ लें, तो हम उसके रग और उसकी गध की भविष्यवाणी कर सकेंगे, परतु रग और गध के ज्ञान से हम आकृति और परिमाण की भविष्यवाणी नही कर सकेंगे।)

६ "क्या परमाणुओ मे रग होता है ?" "बिल्कुल भी नही।" "आपका मतलब यह है कि वे रगहीन यानी पारदर्शी होते हैं ?" "नही, उनका कोई भी रग नही होता।" "तो फिर उनकी कल्पना कैसे की जाएगी ?" "उनकी कल्पना नही की जा सकती, उन्हे हम उस तरह कल्पना मे नही देख सकते जिस तरह स्थूल वस्तुओ को (जैसे गोलियो और ग्रहो को)।" "तो फिर यह लौकिक विश्वास गलत है कि परमाणु छोटी-छोटी ठोस गोलियो के सदृश हैं ?" "अवश्य।" 'तो फिर परमाणुओ का रग नही होता। क्या स्थूल वस्तुओ के कोई अन्य गुण भी उनमे नही होते, जैसे परिमाण, आकृति और भार ?" "हाँ, होते हैं, भौतिकीविद् हमे बता सकते हैं कि प्रत्येक घनसेंटीमीटर के अदर कितने परमाणु होते है और उनका द्रव्यमान कितना होता है।" "तो उनमे स्थूल वस्तुओ के अवश्य ही कुछ गुण होते हैं।" "हाँ उनमे कुछ होते हैं—मूल गुण होते है।" 'परतु बात अब मेरी समझ मे नही आ रही है—परिमाण, आकृति और द्रव्यमान होते हैं, पर रग नही होता। अब मुझे वही आपत्ति है जो बकली को हुई थी क्या आकृति किसी रग की सीमा (सीमावर्ती रेखा) नही है ? ऐसा कैसे हो सकता है कि किसी चीज की आकृति हो पर रग न हो (वह पारदर्शी तक न हो) ?" क्या आप इस आपत्ति से बच सकते हैं ? क्या आप अतिसूक्ष्म "कणो" के बारे मे भौतिकीविद् जो कुछ बताता है उसका एक सगतिपूर्ण वर्णन प्रस्तुत कर सकते हैं ?

७ आपके मत से क्या मूल और गौण गुणो के अतर का कोई आधार है ? यदि है तो यथासभव स्पष्ट रूप से उसे बताइए। (क्या कोई भौतिकीविद् इस अतर को परमाणुओ पर लागू होनेवाला मानेगा ?)

८ निम्नलिखित मतो मे आपको जो कठिनाइयाँ लगती हो उन्हे बताइए:

अ भौतिक वस्तुएँ इद्रियानुभवो के कारण हैं।

आ. हमारे इंद्रियानुभव जिन भौतिक वस्तुओं के (या के बारे में) होते हैं उनके ही सदृश होते है।

२४

१. बर्कली के इस मत की समीक्षा कीजिए कि "असली वस्तु स्पर्शगोचर वस्तु है।" क्या आप इसका कोई अपवाद सोच सकते हैं ? (टिप्पणी : हमने अभी तक पृथ्वी के अलावा किसी भी ग्रह का स्पर्श नहीं किया है। इसके बावजूद हम उन्हें असली भौतिक चीजें क्यों मानते हैं ? बिजली की चमक, इंद्रधनुष इत्यादि को क्या कहेंगे ?)

२. कभी-कभी यह कहा जाता है कि हम अपने स्पर्शानुभवों को निर्णायक इसलिए मानते हैं कि "अनुभव स्पर्शसंबंधी भ्रमों और अपभ्रमों की अपेक्षा दृष्टिसंबंधी भ्रमों और अपभ्रमों का अधिक होना बताता है।" इस तर्क में क्या दोष है ?

३. यदि हमें दृष्टिसंबंधी या स्पर्शसंबंधी इंद्रियानुभव न होते, बल्कि केवल सुनने और सूंघने के ही अनुभव हुए होते तो क्या हम एक भौतिक वस्तु का संप्रत्यय बना सके होते ? यदि आपने कभी एक घंटी को देखा या छुआ न होता बल्कि केवल उसकी आवाज सुनी होती, तो क्या आप यह कह सके होते कि "आवाज घंटी की है" या यह तक कि "आवाज किसी भौतिक वस्तु की है" ?

४. निम्नलिखित अंतरों को करने के लिए हमारे पास क्या कसौटियाँ हैं ?

अ. हम कहते हैं कि दूरस्थ पर्वत-शिखर पर जो पेड़ हैं वे वास्तव में हरे हैं, हालांकि इतनी दूरी से वे नीललोहित मिश्रित धूसर दिखाई देते हैं।

आ. हम कहते हैं कि बिंदुओं की शैली में बने हुए एक चित्र में एक क्षेत्र हरा दिखाई देता है परंतु वस्तुतः है पास-पास अंकित नीले और पीले बिंदुओं का समूह ही।

इ. हम कहते हैं कि परदे नीले हैं, हालांकि लाल रंग के चश्मे से देखने पर वे नीले नहीं लगते। (एच० एच० प्राइस, पर्सेप्शन, पृ० २१०-१३)

ई. हम कहते हैं कि एक रेल के इंजन की सीटी का तारत्व स्थिर है, हालांकि यदि आप इंजन से दूर जा रहे हैं तो उसका तारत्व घटता प्रतीत होता है और यदि आप उसके निकट आते जा रहे हैं तो तारत्व बढ़ता प्रतीत होता है। (प्राइस, वही, पृ० २१४)

उ. हम कहते है कि संतरे का स्वाद असल में यह है, हालाँकि पहले कुछ न खाए होने पर उसे खाने में उसका स्वाद एक प्रकार का लगता है, पहले नींबू खा लेने के बाद उसे खाने में स्वाद एक-दूसरे ही प्रकार का लगता है और थोड़ी चीनी खा लेने के बाद खाने में वह और भी भिन्न प्रकार का लगता है। (वही, पृ० २१४-१५)

ऊ. हम नही कहते कि "मुझे जिस उत्तर-प्रतिमा का अनुभव हुआ वह वास्तव मे लाल थी, हालाँकि उस समय वह मुझे निश्चित रूप से पीली लगी थी।" क्यो नही ?

५. हम एक ऐसी चीज के निकट जाते है जो एक समान रंग की, जैसे हरी, लगी थी, और निकट पहुँचकर हम पाते हैं कि वह छोटे-छोटे नीले और पीले वर्गों से बनी हुई है। यह निकट से दिखाई देनेवाला रूप अधिक विभेदयुक्त—विशेषताओं को अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत करनेवाला—है और इसलिए हम इसे अधिक वरणीय मानते है। परंतु यदि मुझे एक की दो चीजें दिखाई देने का रोग हो तो ? आप केवल एक चीज देखते हैं और मैं दो देखता हूँ। क्या यह अधिक विभेदयुक्त नही है ? अथवा जब मैं "विषम शीशे वाले चश्मे से देखता हूँ तब क्या मुझे सामान्य से अधिक विभेदयुक्त दृश्य नही दिखाई देता ? ...... मैं एक जटिल शवल वाली बल खाई हुई चीज देखता हूँ जबकि आप केवल एक समरूप, सरल पार्श्वों वाली, चीज देखते है। तब क्या दोनों मे से मुझे दिखाई देनेवाला रूप अधिक अच्छा नही होना चाहिए ? लेकिन हरेक सोचता है कि वही खराब है" (वही पृ० २२४)। बताइए कि ऐसा क्यों है (प्राइस के द्वारा सुझाया हुआ उत्तर पृ० २२४-२५ पर है)।

६. यदि हम इंद्रियानुभवों के परे कभी नही जा सकते—इंद्रियानुभव की इंद्रियानुभवेतर किसी चीज से यह पता लगाने के लिए कि उनमे "सवाद" है या नही, तुलना कभी कर ही नही सकते—तो हम प्रत्यक्ष मे आभास और सत्य के अंतर को, चीजें जैसी दिखाई देती हैं और जैसी वास्तव में होती हैं, इस अंतर को कैसे बनाए रख सकते हैं ? अथवा क्या हम कभी जान ही नही सकते कि वे वास्तव में कैसी हैं ?

७. यथासंभव ठीक-ठीक बताइए कि (अ) हम कैसे जानते हैं कि एक इंद्रियानुभव अपभ्रम है या नही ; (आ) हम कैसे जानते हैं कि कब एक

आ. हमारे इंद्रियानुभव जिन भौतिक वस्तुओं के (या के बारे में) होते हैं उनके ही सदृश होते है।

२४

१. बर्कली के इस मत की समीक्षा कीजिए कि "असली वस्तु स्पर्शगोचर वस्तु है।" क्या आप इसका कोई अपवाद सोच सकते हैं ? (टिप्पणी : हमने अभी तक पृथ्वी के अलावा किसी भी ग्रह का स्पर्श नहीं किया है। इसके बावजूद हम उन्हें असली भौतिक चीजें क्यों मानते है ? बिजली की चमक, इंद्रधनुष इत्यादि को क्या कहेंगे ?)

२. कभी-कभी यह कहा जाता है कि हम अपने स्पर्शानुभवों को निर्णायक इसलिए मानते हैं कि "अनुभव स्पर्शसंबंधी भ्रमों और अपभ्रमों की अपेक्षा दृष्टिसंबंधी भ्रमों और अपभ्रमों का अधिक होना बताता है।" इस तर्क में क्या दोष है ?

३. यदि हमे दृष्टिसंबंधी या स्पर्शसंबंधी इंद्रियानुभव न होते, बल्कि केवल सुनने और सूंघने के ही अनुभव हुए होते तो क्या हम एक भौतिक वस्तु का संप्रत्यय बना सके होते ? यदि आपने कभी एक घंटी को देखा या छुआ न होता बल्कि केवल उसकी आवाज सुनी होती, तो क्या आप यह कह सके होते कि "आवाज घंटी की है" या यह तक कि "आवाज किसी भौतिक वस्तु की है" ?

४. निम्नलिखित अंतरों को करने के लिए हमारे पास क्या कसौटियाँ हैं ?

अ. हम कहते हैं कि दूरस्थ पर्वत-शिखर पर जो पेड़ हैं वे वास्तव में हरे है, हालांकि इतनी दूरी से वे नीललोहित मिश्रित धूसर दिखाई देते है।

आ. हम कहते हैं कि बिंदुओं की शैली में बने हुए एक चित्र में एक क्षेत्र हरा दिखाई देता है परंतु वस्तुतः है पास-पास अंकित नीले और पीले बिंदुओं का समूह ही।

इ. हम कहते हैं कि परदे नीले है, हालांकि लाल रंग के चश्मे से देखने पर वे नीले नहीं लगते। (एच० एच० प्राइस, पर्सेप्शन, पृ० २१०-१३)

ई. हम कहते है कि एक रेल के इंजन की सीटी का तारत्व स्थिर है, हालांकि यदि आप इंजन से दूर जा रहे हैं तो उसका तारत्व घटता प्रतीत होता है और यदि आप उसके निकट आते जा रहे हैं तो तारत्व बढ़ता प्रतीत होता है। (प्राइस, वही, पृ० २१४)

उ. हम कहते है कि संतरे का स्वाद असल में यह है, हालांकि पहले कुछ न खाए होने पर उसे खाने में उसका स्वाद एक प्रकार का लगता है, पहले नींबू खा लेने के बाद उसे खाने में स्वाद एक-दूसरे ही प्रकार का लगता है और थोडी चीनी खा लेने के बाद खाने में वह और भी भिन्न प्रकार का लगता है। (वही, पृ० २१४-१५)

ऊ. हम नहीं कहते कि "मुझे जिस उत्तर-प्रतिमा का अनुभव हुआ वह वास्तव मे लाल थी, हालांकि उस समय वह मुझे निश्चित रूप से पीली लगी थी।" क्यो नही ?

५. हम एक ऐसी चीज के निकट जाते है जो एक समान रंग की, जैसे हरी, लगी थी, और निकट पहुँचकर हम पाते हैं कि वह छोटे-छोटे नीले और पीले वर्गों से बनी हुई है। यह निकट से दिखाई देनेवाला रूप अधिक विभेदयुक्त—विशेषताओं को अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत करनेवाला—है और इसलिए हम इसे अधिक वरणीय मानते हैं। परंतु यदि मुझे एक की दो चीजें दिखाई देने का रोग हो तो ? आप केवल एक चीज देखते हैं और मैं दो देखता हूँ। क्या यह अधिक विभेदयुक्त नही है ? अथवा जब मैं "विषम शीशे वाले चश्मे से देखता हूँ तब क्या मुझे सामान्य से अधिक विभेदयुक्त दृश्य नहीं दिखाई देता ? .... मैं एक जटिल शक्ल वाली बल खाई हुई चीज देखता हूँ जबकि आप केवल एक समरूप, सरल पार्श्वों वाली, चीज देखते हैं। तब क्या दोनों मे से मुझे दिखाई देनेवाला रूप अधिक अच्छा नही होना चाहिए ? लेकिन हरेक सोचता है कि वही खराब है" (वही पृ० २२४)। बताइए कि ऐसा क्यों है (प्राइस के द्वारा सुझाया हुआ उत्तर पृ० २२४-२५ पर है)।

६. यदि हम इंद्रियानुभवों के परे कभी नही जा सकते—इंद्रियानुभव को इंद्रियानुभवेतर किसी चीज से यह पता लगाने के लिए कि उनमे "संवाद" है या नही, तुलना कभी कर ही नही सकते—तो हम प्रत्यक्ष मे आभास और सत्य के अंतर को, चीजें जैसी दिखाई देती हैं और जैसी वास्तव में होती हैं, इस अंतर को कैसे बनाए रख सकते हैं ? अथवा क्या हम कभी जान ही नहीं सकते कि वे वास्तव में कैसी हैं ?

७. यथासंभव ठीक-ठीक बताइए कि (अ) हम कैसे जानते हैं कि एक इंद्रियानुभव अपभ्रम है या नहीं ; (आ) हम कैसे जानते हैं कि कब एक

इंद्रियानुभव भ्रम है ; (इ) हम कैसे जानते हैं कि कब हम स्वप्न देख रहे हैं या थे ; (ई) हम कैसे जानते हैं कि हमारा समूचा अनुभव एक बड़ा लंबा स्वप्न नहीं है ?

८. क्या प्रत्ययवादी निम्नलिखित का संतोषजनक उत्तर दे सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ?

अ मैं मेज के ऊपर एक कपड़ा इस तरह बिछाता हूँ कि मेज का कोई भी भाग नहीं दिखाई दे सकता। तब प्रत्ययवादी को कहना पड़ेगा कि मेज का अस्तित्व नहीं है, केवल कपड़े का अस्तित्व है। तो फिर कपड़ा किस पर टिका है ? क्या वह हवा में लटका हुआ है और गुरुत्वाकर्षण का नियम उसपर काम नहीं कर रहा है ?

आ. देखनेवाला अकेला मैं ही हूँ और मैं इमारत के केवल ऊपर के आधे भाग को ही देख रहा हूँ। परंतु नीचे का आधा भाग भी अवश्य होना चाहिए, हालाँकि मैं उसे नहीं देख रहा हूँ। जब तक नीचे का आधा भाग नहीं होगा तब तक ऊपर का आधा किस चीज पर खड़ा रहेगा ?

इ. आग अँगीठी में जल रही है और मैं कमरे से बाहर चला जाता हूँ। आधे घंटे बाद मैं वापस आता हूँ और अँगीठी में मैं केवल धधकते हुए कोयले ही शेष पाता हूँ। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आग उस समय भी थी और जल रही थी जब मैं बाहर गया हुआ था ? परंतु यदि जब मैं बाहर था तब वह जल रही थी तो मेरी अनुपस्थिति में उसका अवश्य अस्तित्व था।

ई. मैं आपको सिद्ध करके दिखाऊँगा कि मेज का तब भी अस्तित्व रहता है जब कोई उसका प्रत्यक्ष नहीं करता होता। हम सब कमरे से बाहर चले जाएँगे, परंतु ऐसा करने से पहले हम मेज की ओर एक मूवी कैमरे का मुँह करके उसे चालू कर देंगे। बाद में हम वापस आएँगे, फिल्म को निकाल देंगे और उसे परदे पर दिखाएँगे। तब हमको "हमारी अनुपस्थिति में मेज के अस्तित्व के बने रहने" का रोमांचक नाटक दिखाई देगा—जो यथार्थतः रोमांचक तो नहीं होगा पर कम-से-कम इतना अवश्य सिद्ध करेगा कि मेज का बिना किसी के देखे अस्तित्व रहा।

९. प्रत्ययवादी निम्नलिखित का क्या उत्तर देगा ? आपके मत से उसका उत्तर क्या संतोषप्रद होगा ?

अ. यदि प्रत्ययवाद सत्य है तो विज्ञान असंभव है। और चूंकि विज्ञान न केवल संभव है बल्कि वास्तविक है, इसलिए प्रत्ययवाद अवश्य ही मिथ्या है।

आ. इंद्रियानुभव बिल्कुल अकेले अस्तित्व नहीं रख सकते। हमें भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व में भी विश्वास करना होगा, भले ही इसका हेतु इसके अलावा कोई न हो कि इंद्रियानुभव जिस क्रम में होते हैं उसकी हमे कोई व्याख्या देनी ही होगी। उदाहरणार्थ, मेज-अनुभव इसलिए होते है कि उन्हें उत्पन्न करनेवाले एक मेज का सचमुच अस्तित्व है।

इ. यदि इंद्रियानुभवों के व्यवस्थित ढंग से होने की व्याख्या करने के लिए आप ईश्वर का आश्रय ले सकते हैं तो उसी काम के लिए मेरा भौतिक वस्तुओं का आश्रय लेना कही अधिक युक्तिसंगत लगेगा।

ई. यदि "दृश्यते इति वर्तते" सत्य है तो जब मैं सो रहा होता हूँ तब मेरा अस्तित्व तक नहीं होना चाहिए। (टिप्पणी : भौतिक वस्तुओ के बारे में बर्कली ने माना था "दृश्यते इति वर्तते" और मन के बारे में बर्कली ने माना था "पश्यति इति वर्तते"। प्रस्तुत प्रश्न के प्रसंग में इस अंतर का क्या असर होगा ?)

उ. प्रत्ययवादी मानते हैं, असल में इस बात का आग्रह करते हैं, कि इंद्रियानुभव होते हैं। पर जब तक इंद्रिया, तंत्रिकाएँ और मस्तिष्क न हो तब तक इंद्रियानुभव हो ही कैसे सकते हैं ? लेकिन इंद्रियां, तंत्रिकाएँ और मस्तिष्क भौतिक वस्तुएँ हैं। तो इस प्रकार अंततोगत्वा भौतिक वस्तुएँ हैं।

१०. प्रत्ययवाद के समर्थक निम्नलिखित निगमनात्मक तर्कों की परीक्षा कीजिए। (प्रथम तर्क का निष्कर्ष अगले तर्क की एक आधारिका है।) क्या आप प्रत्येक के निष्कर्ष को स्वीकार करते हैं ? यदि नही तो क्या आप कोई दोष तर्क में बता सकते हैं ? कोई ऐसी आधारिका बता सकते हैं जिसे आप स्वीकार नहीं करेंगे ?

हम अवश्य ही भौतिक वस्तुओं से परिचित हैं।
जिससे हम परिचित हो सकते हैं वह केवल अनुभव है।
अतः भौतिक वस्तुएँ अनुभव हैं।
भौतिक वस्तुएँ अनुभव हैं।
अनुभव का अस्तित्व अननुभूत नही हो सकता।
अतः भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व अननुभूत नही हो सकता।

११. क्या आप समझते हैं कि निम्नलिखित तर्क प्रत्ययवाद के लिए कोई कठिनाई पैदा करेंगे ? क्यों ?

अ. भौतिक वस्तुएँ अनुभव (या अनुभवों के संयोग) होते हैं; अनुभव एकगोचर होते हैं; पर भौतिक वस्तुएँ अनेकगोचर होती हैं ।

आ. भौतिक वस्तुएँ विस्तारयुक्त होती हैं; अनुभव अविस्तारयुक्त होते है; अतः भौतिक वस्तुएँ अनुभव नही हो सकती ।

१२. आप ऐसा कहनेवाले से क्या कहेंगे कि वह एक अहंमात्रवादी है ? क्या आप समझते है कि अहंमात्रवाद का खंडन किया जा सकता है ?

१३. नीचे दिए हुए प्रत्येक मत के समर्थन या विरोध में तर्क दीजिए :

अ ("दुर्बल" प्रत्ययवाद :) यदि भौतिक वस्तुओं का तब जब कोई उन्हें नही देख रहा होता, अस्तित्व हो भी, तो भी हमारे पास इस बात में विश्वास करने का कोई हेतु नही हो सकता, क्योंकि उनके अनदेखे अस्तित्व को देखनेवाला कोई हो नही सकता ।

आ. ("सबल" प्रत्ययवाद :) इस प्रतिज्ञप्ति का समर्थक कोई प्रमाण नहीं है कि भौतिक वस्तुएं अनदेखे ही अस्तित्व रखती है : असल में इसका समर्थक (या विरोधी भी) कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह प्रतिज्ञप्ति स्वतोव्याघाती है ।

१४. पहले जी० ई० मूर का "दि रिफ्यूटेशन ऑफ आइडियलिज्म" शीर्षक निबंध (उनके ग्रंथ फिलॉसोफिकल स्टडीज में) पढ़िए, तब डब्ल्यू० टी० स्टेस का निबंध "दि रिफ्यूटेशन ऑफ रीयलिज्म" (माइन्ड, १९३४) पढ़िए । प्रत्येक निबंध की मुख्य युक्तियों की रूपरेखा बताइए। किसे आप अधिक विश्वसनीय पाते है और क्यों ?

१५. क्या नीचे लिखी बातों से यह निश्चय करने में मदद मिलेगी कि कौन स्वप्न है और कौन जाग्रत् अवस्था ?

अ. स$_2$ शृंखला का अनुभव करने से ठीक पहले मुझे याद है कि मैं लेट गया था, मुझे झपकी आने लगी थी और मैं सोने की कोशिश कर रहा था। अतः स$_2$ अवश्य ही स्वप्न था ।

आ. जैसा कि फ्रॉयड ने सिद्ध कर दिया है, आदमी के स्वप्न के अनुभव उसके जाग्रत् अवस्था के अनुभवों का (विशेषतः उसके मानसिक द्वंद्वों का) अनुमान करने के लिए अच्छा आधार होते हैं; परंतु उसके जाग्रत् अवस्था के

अनुभव उसके स्वप्नों के बारे में अनुमान करने के लिए आधार नहीं हो सकते। इसलिए यह पता लगाकर कि किस समूह से अनुमान अधिक सफल रहता है, हम बता सकते है कि कौन क्या है।

इ. किसी निर्दिष्ट स्थान में सभी लोगों के जाग्रत् अवस्था के अनुभव बहुत समान होते हैं (जैसे, उन्ही इमारतों को देखना इत्यादि), परंतु प्रत्येक व्यक्ति के स्वप्न प्रत्येक अन्य व्यक्ति के स्वप्नों से अत्यधिक भिन्न होते है। मैं अन्य लोगों की इस दृष्टि से जाँच-पड़ताल करके कि उनके अनुभव मेरे अनुभवों के समान हैं या नहीं, जाग्रत् अवस्था के अनुभवों की पहचान कर सकता हूँ।

२५

१. यह स्पष्ट कीजिए कि संवृतिवादी क्यों "इंद्रियदत्त" शब्द को (अ) "प्रत्यय", (आ) "इंद्रियानुभव" और (इ) "संवेदन" से अधिक पसंद करते है।

२. मिल के संवृतिवाद ("भौतिक द्रव्य संवेदन का स्थायी रूप से संभव होना है") के विरुद्ध इन आपत्तियो पर विचार कीजिए :

अ. संभवता (संभव होना) कुछ भी कैसे कर सकती है ? या तो कोई चीज अनदेखे अस्तित्व रखती है (उस अवस्था मे संभवता की जरूरत नहीं है) या नही (उस अवस्था में कुछ करने के लिए कुछ है ही नही और संभवताओं की बात कहने से कोई सहायता नही मिलेगी)।

आ. हमे संवेदन (मानसिक) होता है और भौतिक द्रव्य संभव संवेदन (फिर मानसिक) है। अतः मिल के संवृतिवाद के अनुसार सपूर्ण भौतिक जगत् मानसिक जगत् का अंश है। (क्या "सवेदन" के स्थान पर "इंद्रियदत्त" शब्द को रख देने से यह बात समाप्त हो जाती है ?)

३. यदि अपभ्रम न होते, भ्रम न होते और स्वप्न न होते तो क्या इंद्रिय-दत्तो का आश्रय लेने की जरूरत होती ? क्या इंद्रिय-दत्त और भौतिक वस्तु का अंतर अनावश्यक, महत्वहीन या निरर्थक होता ? समझाकर बताइए।

४. नीचे के प्रत्येक वाक्य मे "देखना" क्रिया किस अंतर के साथ प्रयुक्त हुई है ?

अ. मैं हरा देखता हूँ।

आ. मैं एक नखलिस्तान देखता हूँ। (यह मान लो कि नखलिस्तान है नही।)

इ. मैं एक पेड़ देखता हूँ। (यह मान लो कि पेड़ है।)

५. "कोई नहीं जानता कि भौतिक वस्तुएँ असल में कैसी होती हैं ; हम केवल यह जानते हैं कि वे हमें कैसी दिखाई देती हैं, न कि वे सचमुच कैसी हैं, उनमें सचमुच क्या गुण हैं।" संवृतिवादी इस मत के बारे में क्या कहेंगे और क्यों ?

६. "इंद्रिय-दत्त-कथन निश्चयात्मक होते हैं, बशर्ते वक्ता शब्दों के प्रयोग में कोई गलती न कर रहा हो या झूठ न बोल रहा हो।" "परंतु ऐसे इंद्रिय-दत्त-कथन हो ही नहीं सकते जो विशुद्ध हों।" इन दोनों मतों की समीक्षा कीजिए। क्या इनका संवृतिवाद की स्वीकार्यता पर कोई प्रभाव पड़ता है ?

७. संवृतिवाद के अनुसार सब भौतिक-वस्तु-विषयक वाक्यों का इंद्रिय-दत्त-विषयक वाक्यों में अनुवाद किया जा सकता है। तो फिर ऐसे अनुवाद में सफलता क्यों नहीं मिल पाई है ? इसके जितने हेतु आप बता सकते हों बताइए। क्या इस असफलता से यह सिद्ध होता है कि संवृतिवाद गलत है।

८. संवृतिवाद की चर्चा में जो बातें बताई गई हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए इस विषय पर एक लघु निबंध लिखिए : "क्या कोई अ-विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियाँ निश्चयात्मक होती हैं ?"

९. नीचे दिए हुए किसी एक मत के समर्थन में तर्क दीजिए :

कुछ भौतिक-वस्तु-विषयक प्रतिज्ञप्तियाँ (अ) पूर्णतः निश्चयात्मक होती हैं ; (आ) व्यवहारतः निश्चयात्मक होती है पर सिद्धांततः निश्चयात्मक कदापि नहीं ; (इ) अपेक्षाकृत निश्चयात्मक होती है (इतनी काफी निश्चयात्मक कि उनके आधार पर कार्य किया जा सकता है) पर कदापि पूर्णतः निश्चयात्मक नहीं।

१०. इस कथन का अर्थ स्पष्ट कीजिए कि प्रत्येक भौतिक-वस्तु-विषयक कथन एक अप्रकट भविष्यवाणी होता है। किसकी भविष्यवाणी ? "वह वहाँ एक मेज है" में शामिल भविष्यवाणियों की शृंखला असीम है या सीमित है ? हेतु बताते हुए उत्तर दीजिए।

११. इस मत का खंडन या समर्थन कीजिए कि प्रकृति के नियमों को पूर्णतः इंद्रिय-दत्तों के नियमितता-संबंधों के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। (वास्तविक इंद्रिय-दत्त या संभव ? और यदि संभव इंद्रिय-दत्त, तो प्रतिज्ञप्तियाँ किस प्रकार की होंगी और क्यों ?)

२६

१. क्या बर्कली का ईश्वर हमारे इंद्रियानुभव मे पाई जानेवाली व्यवस्था की उतनी ही संतोषजनक व्याख्या है जितनी स्थायी भौतिक वस्तुओ में विश्वास ? अपने मत के समर्थन में तर्क दीजिए।

२. संवृतिवाद के अनुसार "इस समय दक्षिणी ध्रुव मे बर्फ है" यह कहने के तुल्य है कि "यदि मै वहाँ होता तो मैं देख सकता कि ... ..." इत्यादि। परंतु इस समय वहाँ कोई भी नही है, तो फिर मैं कैसे जानता हूँ ? निश्चय ही मैं हवाई जहाज से वहाँ पहुँच सकता हूँ और देख सकता हूँ ; परंतु तब मैं सत्यापन एक बाद के, स$_2$ समय के, जब मैं वहाँ पहुँचूंगा तब के, कथन का करूँगा—न कि पहले के स$_1$ समय के कथन का। परतु स$_1$ मे जब मैं कहता हूँ कि वहाँ बर्फ है तब मेरा आशय यह होता है कि बर्फ वहाँ इस समय है, न कि बाद मे जब मैं इस कथन का सत्यापन करता हूँ।

क्या आप इस आपत्ति को संवृतिवाद के लिए घातक समझते हैं ? नीचे दिए हुए उत्तर के बारे मे आप क्या सोचते हैं और क्यों ? "यह सही है कि मैं सत्यापन बाद में ही कर सकता हूँ, उससे पहले नही; पर इसके बावजूद जब मैं कहता हूँ कि वहाँ बर्फ है तब मेरा आशय यह होता है कि यदि इस समय वहाँ कोई होता तो उसे बर्फवाले दत्तों का अनुभव होता। और इस समय मेरे पास यह विश्वास करने का हेतु है कि यह सच है। साक्षात् प्रमाण (देखना) तो मुझे तब तक उपलब्ध नही होगा जब तक मैं वहाँ (बाद मे) नही पहुँचता, पर परोक्ष प्रमाण मेरे पास इस समय है—परोक्ष होते हुए भी है वह प्रमाण ही।"

३. आप संवृतिवाद मे शामिल प्रतितथ्य सोपाधिकों को निकाल बाहर करने के लिए सुझाए गए निम्न उपाय के बारे मे क्या सोचते हैं ? "परिभाषा के अनुसार इंद्रिय-दत्तों का केवल तभी अस्तित्व होता है जब उनका संवेदन होता है ; परतु संवेद्यार्थ भी होते हैं जो इंद्रिय-दत्तों के ठीक समान ही होते हैं, इस बात को छोडकर कि उनका अस्तित्व संवेदन-निरपेक्ष होता है : संवेद्यार्थ वे इंद्रिय-दत्त हैं जिनका संवेदन व्यक्ति को उसके सही स्थिति इत्यादि में होने की दशा में हुआ होता। मान लो कि मैं एक दराए को एक निर्दिष्ट कोण से देख रहा हूँ और एक दीर्घवृत्तीय इंद्रिय-दत्त का अनुभव कर रहा हूँ ; इस

समय (रुपए के) किन्ही अन्य इंद्रिय-दत्तों का अस्तित्व नही है। यदि मैं उपर से उसे देखूं तो मुझे एक गोल इंद्रिय-दत्त का सवेदन होगा ; यदि एक अन्य कोण से देखूं तो एक और ही दीर्घवृत्तीयता वाले इंद्रिय-दत्त का मुझे सवेदन होगा, इत्यादि। अब ये सभी सभाव्य इंद्रिय-दत्त वास्तविक सवेद्यार्थ है जिनका अस्तित्व संवेदन-निरपेक्ष होता है और जो (मानो) इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि कोई उनका संवेदन करे। इन सवेद्यार्थो के बोध के लिए जरूरत केवल मेरे द्वारा कुछ शर्तो की पूर्ति की है (अपनी स्थिति को बदलना, अच्छी रोशनी मे देखना इत्यादि)। इन सवेद्यार्थों मे केवल थोड़े ही वास्तविक इंद्रिय-दत्त बन पाते है, परंतु होते वे सब अवश्य ही असीम सख्या मे और सर्वत्र है, तथा अनेक ऐसे सवेद्यार्थ भी अस्तित्व रखते है जिनका बिल्कुल भी कभी सवेदन नही हो पाएगा क्योकि उनके सवेदन के लिए आवश्यक बिल्कुल सही स्थिति मे कोई भी नही हो पाएगा।"

४. कभी-कभी रंग की तीन छटाएँ ऐसी होती है कि आपको अ और ब या ब और स के मध्य कोई अतर नही दिखाई देता, पर अ और स के मध्य आपको अतर मालूम पडता है। चूँकि इंद्रिय-दत्तो का जहाँ तक सबंध है वहाँ तक जो प्रतीत होता है वह है, इसलिए आप कहेगे कि (केवल प्रतीतियो के प्रसंग मे) अ ब से अभिन्न है और ब स से अभिन्न है पर अ स से अभिन्न नही है। लेकिन क्या यह एक अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति नही है कि जो चीजें किसी एक चीज से अभिन्न होती है वे परस्पर अभिन्न होती हैं ? (देखिए ए० जे० एयर, फाउन्डेशन ऑफ ऐम्पीरिकल नॉलेज, पृ० १३१-३४)

५. क्या संवृतिवाद के विरुद्ध जो आपत्तियां की गई है उनमे से कोई गलतियो या गलतफहमियो पर आधारित है ? यदि है तो उन्हें बताइए।

६. आपके मत से, "इंद्रिय-दत्त" शब्द के प्रयोग के विरुद्ध जो आपत्तियाँ हैं वे क्या यह प्रदर्शित करती हैं कि यह शब्द निरर्थक है या इसे ज्ञानमीमासा की शब्दावली से निकाल देना चाहिए ? क्या इससे संवृतिवाद अयुक्तियुक्त हो जाता है ?

२७

१. क्या आप "उचित" (या "शुभ") के अर्थ के बारे मे कोई ऐसे प्रकृतिवादी सिद्धात सोच सकते हैं जो उनसे अधिक युक्तिसंगत प्रतीत हो जिन पर हमने इस परिच्छेद मे विचार किया था ?

२. क्या नीचे के सिद्धांत प्रकृतिवादी (नीतिशास्त्रीय शब्दों की अ-नीतिशास्त्रीय शब्दों में परिभाषा देनेवाले) हैं ? क्या आप उन्हें संतोषजनक मानते हैं ? समझाकर बताइए।

अ. अच्छा वह है जिसके बाद मुझे अच्छा महसूस होता है।

आ. अच्छा वह है जो वांछनीय है।

इ. अच्छा वह है जिसकी एक तर्कबुद्धिशील व्यक्ति इच्छा करे।

ई. उचित कर्म वह है जिसके लिए मेरा अंतर्विवेक "हाँ" कहे।

उ. उचित कर्म वह है जो आदमी को करना चाहिए।

ऊ. अनुचित कर्म वह है जिससे किसी के अधिकारों का उल्लंघन होता है।

ए. अच्छा वह है जो सब लोगों का लक्ष्य है।

३. क्या आप न-प्रकृतिवादियों से इस बात में सहमत हैं कि नीतिशास्त्रीय शब्दों की परिभाषा इस तरह दी जाए (यदि दी जा सके तो) जिससे मानकीय नीतिशास्त्र के किसी सिद्धांत के सही होने या न होने का प्रश्न उससे अछूता रहे ?

४. "अनावश्यक रूप से दुःख और कष्ट देना बुरी बात है।" यह किस प्रकार का कथन है ? विश्लेषी है या संश्लेषी ? अनुभवाश्रित है या प्रागनुभविक ? क्या यह एक प्रतिज्ञप्ति है भी ? हेतु बताते हुए उत्तर दीजिए।

५. यदि "शुभ" तथा अन्य नीतिशास्त्रीय शब्द अन्य शब्दों के द्वारा (अ-नीतिशास्त्रीय शब्दों के द्वारा) अपरिभाष्य है तो क्या निष्कर्ष निकलता है ? यह कि वे अर्थहीन हैं ? यह कि उनकी निदर्शनात्मक परिभाषा दी जानी होगी ? यह कि वे असंवेद्य गुणों के बोधक है ? यह कि उनका केवल संवेगात्मक अर्थ होता है और वे गुणों के बोधक बिल्कुल नहीं हैं ?

६. "यदि एक आदमी पहले यह विश्वास करता है कि हत्या कभी उचित नहीं होती (कट्टर शान्तिवाद) और बाद में यह मानने लगता है कि कभी-कभी वह उचित होती है (भले ही बहुत ही कम अवसरों पर ऐसा हो), तो निश्चय ही हत्या की अनुचितता के बारे में उसका विचार बदल गया है। उसका इस समय जो विश्वास है वह उसके पहले के विश्वास से संगति नहीं रखता। यह सिद्ध करने के लिए कि 'हत्या करना सदैव अनुचित होता है' यह वाक्य एक प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करता है, इतना ही काफी है—और इस प्रकार यह सिद्ध करने के लिए भी कि शुद्ध संवेगपरक सिद्धांत गलत है।

यदि उसका पहले एक विश्वास था और अब उससे तार्किक असंगति रखनेवाला एक और ही विश्वास है, तो अवश्य ही उसने पहले एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति को सत्य माना था जिसे अब वह असत्य मानता है। संवेगपरक सिद्धांत एक इतने सरल और मामूली तथ्य की व्याख्या नहीं कर पाता।" इस युक्ति पर टिप्पणी कीजिए।

७. 'मान लो कि एक आदमी कभी कट्टर शांतिवादी था और फिर उसका विचार बदल गया। यह कतई जरूरी नहीं है कि संबंधित तथ्यों के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल गया हो : (उदाहरणार्थ) हत्या के परिणामों के बारे में उसके पहले जो विचार थे वही अब भी हो सकते है। परिवर्तन केवल इतना जरूरी है कि अब वह हत्या का (कम-से-कम कुछ परिस्थितियों में) अनुमोदन करने लगा है जबकि पहले नहीं करता था। इस प्रकार अब वह 'हत्या कभी-कभी उचित होती है' इस नीतिशास्त्रीय वाक्य का प्रयोग कुछ परिस्थितियों में हत्या के अनुमोदन की अपनी वर्तमान अभिवृत्ति को प्रकट करने के लिए करता है जबकि पहले वह सभी परिस्थितियों में हत्या के अननुमोदन की अपनी अभिवृत्ति को प्रकट करने के लिए 'हत्या सदैव अनुचित होती है' कहता था। तो इससे यह सिद्ध होता है कि संवेग-सिद्धांत सही है : हम नीतिशास्त्रीय वाक्यों का प्रयोग संबंधित बात के प्रति कुछ अभिवृत्तियों को व्यक्त करने (तथा अन्यों के मन में उन्हे पैदा करने) के लिए करते हैं।" इस युक्ति पर टिप्पणी कीजिए।

८. मिल की इस युक्ति की समीक्षा कीजिए : "किसी चीज के 'विजिब्ल' (दृश्य) होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे देखते है। किसी चीज के 'ऑडिब्ल' (श्रव्य) होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे सुनते हैं। इसी प्रकार किसी चीज के 'डिजायरेब्ल' (वांछनीय) होने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसकी इच्छा करते हैं।"

२८

१. नीचे के आक्षेपों का क्या उत्तर सुखवादी देगा ?

अ. एक ऐसा जीवन जिसमें सुख-भोग के अलावा कुछ न हो, शीघ्र ही असह्य बन जाएगा। हरेक के जीवन में परिवर्तन, विविधता, का होना जरूरी होता है। इसके बावजूद भी सुखवादी उस जीवन को आदर्श मानता है जो सुख से भरपूर हो और किसी चीज से नहीं।

आ. सुखवादी का मत गलत है : सभी सुख स्वतःशुभ (स्वतः मूल्यवान्) नहीं होते, केवल कुछ ही सुख ऐसे होते हैं—साहचर्य का और अच्छे संगीत का सुख स्वतःशुभ है पर विनाश करने या दूसरे की पीड़ा से मिलनेवाला सुख नही।

इ. आमतौर पर आनंद शुभ होता है पर निरपवाद रूप से नहीं : आनंद शुभ केवल तभी होता है जब व्यक्ति में उसकी पात्रता हो। (स्वतः या साधन-रूप में ?)

ई. यदि सुखवाद सही है तो परिष्कृत अभिरुचियों वाले और विरासत में धन-संपत्ति जिसे प्राप्त हुई हो ऐसे व्यक्ति का भोग-विलासमय जीवन उस प्रतिभासंपन्न व्यक्ति (जैसे, गैलीलियो या बेटहोवेन) के जीवन से अच्छा है जो अपने जीवन-काल में एकाकी और उपेक्षित रहा तथा गलत समझा गया, भले ही ऐसे व्यक्ति ने मनुष्यजाति का आनेवाली अनेक पीढ़ियों तक अपरिमित कल्याण किया हो।

उ. सुखवादी कहेगा कि आनंद उत्पादक कार्य से श्रेष्ठ है। पर क्या आनंद केवल तभी अच्छा नहीं होता जब वह उत्पादक कार्य करने के फलस्वरूप प्राप्त होता है ?

२. नीचे के कथनों के बारे में आपका क्या मत है ? क्या आपका उत्तर सुखवाद के अनुकूल है, या उसके प्रतिकूल है, या दोनों ही नही है ? समझाइए।

अ. क्या हमें भौतिकी के एक तेज अल्पवयस्क विद्यार्थी को अपने विषय में प्रगति करते जाने के लिए इसलिए प्रोत्साहित करना चाहिए कि इससे उसे मूल्यवान् ज्ञान की प्राप्ति होगी ? अथवा इसलिए कि इससे वह सुखी रहेगा ? (यदि सुखी न हुआ तो ?) या इसलिए कि उसका ज्ञान अन्य लोगों के आनंद की वृद्धि करेगा ? या सिर्फ इसलिए कि "ज्ञान की प्राप्ति एक अच्छी बात है" ?

आ. "उसे कुछ समय तक कठिन परिश्रम करने दो। इससे वह आदमी बन जायगा।"

"पर इससे वह अभी या बाद में अधिक सुखी नही होगा। यदि आप इस बात से सहमत हैं तो क्या आपको उसे कठिन परिश्रम करने देने के बारे मे अपनी धारणा नही बदल देनी चाहिए ?"

इ. "यदि कठिन परिश्रम, मितव्ययिता, ईमानदारी, निष्ठा जैसे सरल गुणों के बजाय रोमन लोगों ने आनंद को आदर्श माना होता तो वे कदापि महान् न बन पाते।"

ई. "कठिन परिश्रम आवश्यक है ताकि लोगों के पास कुछ हो जिसका वे आनंद ले सकें। परंतु बीच-बीच में उन्हें यथासंभव अधिक सुखोपभोग करना चाहिए। जीवन आखिर है किसके लिए ? शुद्धाचारवादी साधन को साध्य मान बैठता है।"

उ. "एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के उपयुक्त जीवन बिताना ही एकमात्र स्वतःशुभ चीज है। आनंद ऐसे जीवन का एक परिणाम होगा, मात्र एक परिणाम, न कि वह जिससे कोई चीज शुभ होती है।"

३. (अ) मूल्य, (आ) मनुष्य का मनुष्य के रूप में अस्तित्व बना रहना, (इ) एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के उपयुक्त जीवन, (ई) मानक बनाम प्रयोजन—इन पदों का एन रैंड के अनुसार ठीक क्या अर्थ है ?

४. शोपेनहावर का विश्वास था कि मनुष्य की सभी इच्छाओं का विफल होना अनिवार्य है और कि इन परिस्थितियों में जीवन का लगातार अस्तित्व बना रहना कोई अच्छी बात नहीं है। क्या यह रैंड के मूल्य-सिद्धांत के विरुद्ध है ? (यदि इच्छा की विफलता बुरी बात है तो क्या उसकी पूर्ति [बशर्ते वह संभव हो] अच्छी बात होगी ?) क्या शोपेनहावर के मत से जीवन स्वतः अशुभ है या सभी इच्छाओं के अनिवार्यतः विफल होने से (जिसे कि शोपेनहावर ने मानव-जीवन के बारे में सत्य माना था) ?

५. एन रैंड के शुभत्व-विषयक सिद्धांत को माननेवाला नीचे के प्रत्येक कथन का क्यों विरोध करेगा ?

अ. जीवन, कुछ भी हो, हर हालत में, मूल्यवान् है ; मरने से जीवित रहना सदैव अच्छा होता है।

आ. जंगल में पशु एक-दूसर को मारकर और खाकर जीवित रहते हैं। ऐसा ही मनुष्यों को भी करना चाहिए।

इ. किसी भी दशा में आदमी को किसी ऐसे आदर्श के लिए जिसमें वह विश्वास करता है अपने जीवन को उत्सर्ग नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने जीवन का उत्सर्ग कदापि किसी के लिए हितकर नहीं होता।

ई. लोगों को अपनी तर्कबुद्धि की शक्तियों को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि तर्कबुद्धि वह चीज है जो आदमी को जानवरों से अलग करती है।

उ. लोगों के तर्कबुद्धिमूलक स्वार्थ प्रायः परस्पर विरुद्ध होते हैं, और जब ऐसा होता है तब व्यक्ति को दूसरों के हित की कीमत पर अपने ही हित को सिद्ध करना चाहिए।

२९

१. क्या निम्नलिखित उक्तियों को सर्वव्यापी बनाया जा सकता है? किन्हें सर्वव्यापी बनाना वांछनीय होगा? समझाकर बताइए।

अ. जीविका के लिए अपने ऊपर निर्भर न रहो—दूसरों की चीजें मांगो या चुराओ।

आ. लड़ाई कभी शुरू न करो, पर यदि कोई आपके ऊपर हमला करता है तो अपनी रक्षा अवश्य करो।

इ. अपनी आधी आय गरीबों को दे दो।

ई. दूसरों से मदद न मांगो और न दूसरों को मदद दो।

उ. दूसरों से सहायता लो और दूसरों की सहायता भी करो।

ऊ. अपने शत्रुओं से प्रेम करो।

ए. हर किसी से अधिक दानी बनो।

ऐ. अपने वचन का पालन करो, यदि ऐसा करना आपके लिए असुविधाजनक न हो।

ओ. हरेक चीज जितनी अधिक आप प्राप्त कर सकें उतनी अधिक लो।

२. निम्नलिखित नियमों की समीक्षा कीजिए। क्या कुछ शर्तें जोड़कर आप किसी में सुधार कर सकते हैं? प्रत्येक की शर्तों को बताइए और यह दिखाइए कि उनके होने से नियम अधिक अच्छा क्यों होगा?

अ. किसी को आत्म-रक्षा के अलावा कभी दूसरे मनुष्य की हत्या नहीं करनी चाहिए।

आ. लोगों को आपसी व्यवहार में सदैव ईमानदार और विश्वसनीय होना चाहिए।

इ. लोगों को सदैव आपात-काल में एक-दूसरे की सहायता करने की कोशिश करनी चाहिए।

ई. किसी नौकरी के प्रार्थियों के साथ किसी को कभी उनकी जाति के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए।

उ. जिन दम्पतियों के बच्चे हों उन्हें कभी तलाक नहीं लेना चाहिए।

ऊ. बच्चों को कभी शारीरिक दंड नहीं दिया जाना चाहिए।

ए किसी को किसी दूसरे की चीज स्वामी की सहमति के बिना नहीं लेनी चाहिए।

ऐ. अभियुक्त को तब तक सदैव निरपराध मानना चाहिए जब तक वह अपराधी सिद्ध न हो जाए।

३. स्वार्थवाद का उल्टा परार्थवाद है : स्वार्थवाद कहता है कि व्यक्ति के कामों का लक्ष्य उसका स्वकीय हित होना चाहिए, और परार्थवाद कहता है कि वह दूसरों का हित होना चाहिए (न कि स्वयं अपना)। क्या उपयोगितावाद परार्थपरक है ? कान्ट का नैतिक सिद्धांत परार्थपरक है ? ईसाई धर्म की नीति परार्थपरक है ? स्पष्ट रूप से बताइए।

४. विरोधी दृष्टिकोणों वाले नीचे दिए हुए कथनों पर टिप्पणी कीजिए :

अ. "जीने के योग्य केवल वही जीवन होता है जो दूसरों की सेवा में अर्पित हो"। "आदमी का प्रेम इससे बड़ा नहीं हो सकता कि कोई अपने मित्र के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दे।" "तुम्हारे पास जो कुछ है उसे बेच डालो और गरीबों को दे डालो।"

आ. "यदि सुखोपभोग एक मूल्य है तो दूसरों को उसका प्राप्त होना नीतिसम्मत और स्वयं को उसका प्राप्त होना नीतिविरुद्ध क्यो है ? यदि केक को खाने का अनुभव एक मूल्य है तो आपके पेट को उसकी प्राप्ति होना अनैतिक, पर दूसरों के पेट के लिए उसे प्राप्त कराने का आपका लक्ष्य नैतिक क्यों है ? आपके लिए इच्छा करना अनैतिक पर दूसरों के लिए वह नैतिक क्यों है ? किसी मूल्य को उत्पन्न करना और उसे अपने लिए रखना अनैतिक पर उसे दूसरे को दे देना नैतिक क्यो है ? और यदि एक मूल्य को अपने लिए रखना आपके लिए नीतिसम्मत नही है तो जब आप उसे दूसरों को दे देते हैं तब क्या दूसरो का उसे ले लेना स्वार्थपूर्ण और दोषयुक्त नहीं है ? क्या अच्छाई बुराई को बढ़ाने में निहित है ? क्या जो अच्छे हैं उनका नैतिक उद्देश्य जो बुरे हैं उनके लिए स्वयं को कुर्बान कर देना है ?" (एन रैंड, एटलस श्रग्ड, पृ० १०३१)

५. एपिक्यूरसीय स्वार्थवाद किन बातों में एन रैंड के स्वार्थवाद से भिन्न है ?

६. क्या एन रैंड के सिद्धांत का समर्थक इन बातों का विरोध करेगा और क्यों ? (अ) कान्ट की सर्वव्यापीकरणीयता की कसौटी ; (आ) कर्म-

-उपयोगितावाद ; (इ) नियम-उपयोगितावाद ; (ई) न्याय के एक पृथक् सिद्धात से युक्त नियम-उपयोगितावाद ।

७. आप नियम-उपयोगितावाद की नीचे की किस व्याख्या को पसद करते हैं (यदि किसी को करते हो तो) और क्यो ? क्या आप कोई ऐसा विशिष्ट नियम सोच सकते है जिसे व्याख्या (अ) के अतर्गत अपनाया जाना चाहिए पर व्याख्या (आ) के अतर्गत नही, अथवा व्याख्या (आ) के अतर्गत अपनाया जाना चाहिए पर व्याख्या (अ) के अंतर्गत नही ?

(अ) अभी मुझे वे नियम अपनाने चाहिए जो सबके द्वारा अपना लिए जाने पर अधिकतम शुभ उत्पन्न करेंगे ।

(आ) अभी मुझे वे नियम अपनाने चाहिए जो सामाजिक रूढियो के वर्तमान सदर्भ मे अधिकतम शुभ उत्पन्न करेंगे ।

८. इन समस्याओ के नियम-उपयोगितावादी और कर्म-उपयोगितावादी समाधानो मे क्या अंतर होगा ?

अ. सत्र के अत मे विद्यार्थी अपने प्रोफेसर के पास जाता है और श्रेणी बदलने की प्रार्थना करता है । प्रोफेसर कहता है, "पर तुम इससे अच्छी श्रेणी की योग्यता नही रखते ।" विद्यार्थी कहता है, "मैं यह मानता हूँ, पर यदि मुझे अच्छी श्रेणी नही मिलती तो मेडिकल कालेज मे मुझे प्रवेश नही मिलेगा, जो कि मेरी हार्दिक इच्छा है । उस श्रेणी के न मिलने का परिणाम यह होगा कि जिस पेशे को मै चाहता हूँ उसमे मेरा प्रवेश नही हो सकेगा और मुझे ऐसी जीविका अपनानी होगी जिसे मैं अधिक पसद नही करता । मेरे सुखी होने के लिए इसके परिणाम बहुत बडे होगे । जहाँ तक आपके सुखी होने का प्रश्न है, मुझे प्रथम श्रेणी देने से उसमे बहुत ज्यादा फर्क नही पडेगा । अतः उपयोगिता की दृष्टि से विचार करके प्रत्येक दशा मे आपको मेरी श्रेणी बदल देनी चाहिए ।"

आ. एक आदमी को सशस्त्र डकैती के अपराध मे कैद की सजा मिली है और वह अपराध को स्वीकार करता है । वह कहता है, "मै फिर कभी ऐसा काम नहीं करूँगा । मै पागल नही हूँ और समाज के लिए खतरा नहीं हूँ । जेल के अदर रहने के बजाय बाहर रहकर मैं अधिक सुखी रहूँगा । मेरी पत्नी मेरे ऊपर आश्रित है और यदि मैं फिर परिवार के लिए रोटी कमाने मे समर्थ हो जाऊँ तो पत्नी और बच्चे कही अधिक सुखी हो जाएँगे । जहाँ तक दूसरो

के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव का प्रश्न है, शायद कोई भी कभी इस बात को नहीं जान पाएगा ; आप मामले को समाचारपत्रों में जाने से रोक सकते हैं और आपको छोड़कर कोई जान तक नही पाएगा कि डकैती हुई थी। अतः आपको मुझे मुक्त कर देना चाहिए।"

९. क्या नीचे की समस्याओं के समाधान के लिए आप नियम-उपयोगितावाद को पर्याप्त मानते हैं, या उसमें कुछ संशोधन जरूरी समझते हैं, जैसे मानवीय अधिकारों के किसी पृथक् सिद्धांत को अपनाकर ?

अ. पुलिस एक नगर की अदालत की एक ऐसी भीड़ से रक्षा कर रही है जो एक कैदी को हथियाने और अभियोग के चलने से पहले ही उसे मार डालने के लिए अदालत में बलपूर्वक घुसना चाहती है। यदि भीड़ को सफलता नहीं मिलती तो फिर जो दंगा भड़केगा उसमें अनेक लोगों के मारे जाने की आशंका है। क्या पुलिस को कैदी को भीड़ के हवाले कर देना चाहिए और इस प्रकार अनेक के बजाय एक की बलि दे देनी चाहिए ?

आ. क्या सौ आदमी मिलकर एक आदमी को इसलिए मार दें कि उनका जीवन अधिक शांतिपूर्ण हो सके (यह मानते हुए कि वह आदमी निकम्मा है, जनता को तंग करता है और हमेशा से झगड़े खड़े करनेवाला रहा है) ?

इ. क्या समाज के धनी सदस्यों से गरीबों (बीमारों, बेरोजगारों और काम करने से इन्कार करनेवालों) के लिए जबर्दस्ती कर वसूल करना चाहिए ?

१०. क्या आप इस बात को किसी के अधिकारों का उल्लंघन मानते हैं (और क्यों) ?

अ. सरकार का अखबारों और रेडियो-टेलिविजन प्रोग्रामों को सेन्सर करना।

आ. कालेज-प्रशासन के द्वारा छात्रों को एक मैगजीन को निकालने से रोका जाना।

इ. एक मां या बाप का अपने बारह वर्षीय बेटे की चिट्ठियां खोलना।

ई. मित्र ने आपको गुप्त रूप से जो कुछ अपने निजी जीवन के बारे में बताया था उसे अन्यों को बता देना।

उ. किसी सरकार का राष्ट्र के उत्पादन के सभी साधनों को अपने अधिकार में ले लेना।

ऊ. खुफिया पुलिस का आपके घर में कही जानेवाली बातों को जानने के लिए आपके टेलीफोन को चोरी से सुनना।

ए. गुंडों के एक संगठन का एक नगर के शासन में होनेवाली नियुक्तियों पर नियंत्रण होना।

ऐ. सरकार का लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध सैनिक सेवा के लिए बाध्य करना।

ओ. कुछ अपराधों के लिए मृत्युदंड देना।

औ. ऐसे कानून का होना जिससे आपको अपनी संपत्ति को इसलिए छोड़ देना पड़े कि वहाँ सरकार कोई पुल इत्यादि बनवाना चाहती है।

अं. सरकार के द्वारा निजी संपत्ति (फैक्टरी इत्यादि) का राष्ट्रीयकरण।

अः किसी राजनीतिक प्रत्याशी की आकाशवाणी का अपने प्रचार के लिए निःशुल्क उपयोग करने की माँग।

परिशिष्ट II

अध्यायानुसार ग्रंथ-सूचियाँ

1

Anthologies of readings :

Anderson, wallace and Norman Stageberg (eds.), *Introductory Readings on Language.* New York : Holt, Rinehart & Winston, Inc., 1962, Paperback.

Caton, Charles E. (Ed.), *Philosophy and Ordinary Language.* Urbana ; University of Illinois Press, 1965. Paperback.

Chappell, V. C. (Ed.) *Ordinary Language.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice Hall, Inc., 1964. Paperback.

Linsky, Leonard (ed.). *Semantics and the Philosophy of Language.* Urbana : University of Illinois Press 1952. Primary Sources :

Alston, William P., *Philosophy of Language.* Englewood Cliffs, N. J., Prentice Hall, Inc., 1964, Paperback.

Austin, John L., *How to Do things with words.* New York : Oxford University Press, Inc . 1964. Paperback.

Beardsley, Monroe C., *Thinking Straight* (3rd ed.). Englewood Cliffs, N J : Prentice Hall, Inc., 1966.

Black, Max, *Language and Philosophy* Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1949.

......, *Models and Metaphors*, Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1964.

Brown, Roger, *Words and Things.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1958. Especially Chapter 3.

Drange, Theodore, *Type Crossings.* The Hague : Mouton & Co., 1966.

Johnson, Alexander B., *A Treatise on Language,* ed. David Rynin. Berkeley : University of California Press, 1947. Originally published 1836.

Katz, Jerrold J., *The Philosophy of Language*. New York : Harper & Row, Publishers, Inc. 1966.

Mill, John Stuart, *A System of Logic*. London : Longmans, Green & Company, Ltd., 1843. Book 1.

Plato, *Laches; Euthyphro; Meno; Cratylus*. Many Editions.

Quine, Willard V., *Word and Object*. New York : John Wiley & Sons, Inc., 1960.

Robinson, Richard, *Definition*. New York : Oxford University Press, Inc., 1950.

NOTE : Most of the items in the reading lists are books rather than essays or articles. Since articles in philosophical periodicals are usually less available to the reader, they have been listed only when they are of special interest or when they contain ideas not contained, or not expressed as clearly, in available books.

2

Ambrose, Alice "Moore's Proof of an External world," in *The Philosophy of G. E. Moore*, ed. P. A. Schlipp. Evanston, Ill. : Northwestern University Press, 1942.

Ayer, Alfred J., *The Problem of Knowledge*. New York : St. Martin's Press, Inc., 1956.

Bouwsma, O. K., "'Descartes' Evil Genius," *Philosophical Review*, 1949.

....., "'Descartes' Skepticism of the Senses," *Mind*, 1945.

Descartes, Rene, *Meditations*, 1621. Many editions.

Edwards, Paul and Arthur Pap (eds.), *A Modern Introduction to Philosophy* (2nd Ed.). New York : Free Press of Glencoe. Inc., 1965. Chapter 2.

Hume, David, *An Enquiry Concerning Human Understanding*, 1751. Section 2. Many Editions.

......, *Treatise of Human Nature*, 1739. Book I, Part 1. Many editions.

Lewis, Clarence I., *An Analysis of Knowledge and Valuation.* LaSalle, Ill. : Open Court Publishing Co., 1947. Chapters 7-9.

......, *Mind and the World Order.* New York : Charles Scribner's Sons, 1929.

Locke, John, *Essay Concerning Human Understanding.* Books 2 and 4. Many editions.

Malcolm, Norman, "Knowledge and Belief" and "The Verification Argument," in *Knowledge and Certainty.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1963.

......, "Moore and Ordinary Language." in *The Philosophy of G. E. Moore*, ed. P. A, Schlipp. Evanston. Ill. : Northwestern University Press, 1942.

Moore, G. E., "Proof of an External World" and "Certainty" in *Philosophical Papers.* London : George Allen and Unwin, Ltd., 1959. Also Collier Books paperback, 1962.

......., *Some Main Problems of Philosophy.* London : George Allen and Unwin, Ltd., 1952. Especially Chapters 4, 15 and 16.

Nagel, Ernest and Richard Brandt (eds.) *Meaning and Knowledge.* New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1965. Chapter 2.

Pap, Arthur, "Indubitable Existential Statements," *Mind*, 1946.

......, "Ostensive Definition and Empirical Certainty," *Mind*, 1950.

Price, H. H., *Thinking and Experience*, London : Hutchinson and Co., (Publishers), Ltd., 1953.

Rollins, Calvin D., "Are There Indubitable Existential Statements ?" *Mind*, 1949.

Scriven, Michael, *Primary Philosophy*, New York : Mc Graw-Hill Book Company, 1966. Chapter 2.

Stace, Walter T., "Are All Empirical Statements Merely Hypotheses ?" *Journal of Philosophy*, 1947.

Yolton, John, *John Locke and The Way of Ideas.* London : Oxford University Press, 1956.

3

Ayer, Alfred J., *Language, Truth, and Logic*. London : Victor Gollancz, Ltd., 1936. Chapter 4.

Barker, S. F., *Philosophy of Mathematics*. Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1964. Paperback.

Benacerraf, Paul and Hilary Putnam (eds.), *Philosophy of Mathematics*. Englewood Cliffs, N. J.: Prentice-Hall, Inc., 1964.

Black, Max, "Necessary Statements and Rules," *Philosophical Review*, 1958.

Blanshard, Brand, *The Nature of Thought*. London : George Allen & Unwin, Ltd., 1939. Vol. 2, Chapters 28-30.

........, *Reason and Analysis*. La Salle, Ill. : Open Court Publishing Co., 1963. Chapter 6.

Campbell, C. A., "Contradiction : Law or Convention ?" *Analysis*, 1958.

Castaneda, Hector N., "Arithmetic and Reality," *Australasian Journal of Philosophy*, 37 (1959).

Cohen, Morris R., *Reason and Nature*, New York : Harcourt, Brace & World, Inc., 1931. Especially Book 2, Chapter 1.

Ewing, Alfred C., "The Linguistic Theory of A Priori Propositions," in *Clarity Is Not Enough*, ed. H. D. Lewis. London : George Allen and Unwin, Ltd. 1963.

Frank, Philipp, *Philosophy of Science*. Englewood Cliffs, N. J.: Prentice-Hall, Inc., 1962 Chapter 3.

Frege, Gottlob, *The Foundations of Arithmetic*. Oxford : Blackwell, 1953.

Gasking, Douglas, "Mathematics and the World," in *Logic and Language*, First Series, ed. Antony Flew. Oxford : Blackwell, 1953.

Grice, H. P., and P. F. Strawson, "In Defence of a Dogma", *Philosophical Review*, 1956.

Hempel, Carl G., "Geometry and Empirical Science," *American Mathematical Monthly*, 52 (1945), Reprinted in H. Feigl and W. Sellars, *Readings in Philosophical Analysis*. New York : Appleton-Century-Crofts, 1949.

........., "On the Nature of Mathematical Truth," *American Mathematical Monthly*, 52, 1945. Reprinted in Feigl and Sellars, *Readings in Philosophical Analysis*. New York : Appleton-Century-Crofts, 1949.

Hume, David, *Enquiry Concerning Human Understanding*, 1751.

Section II. *Treatise of Human Nature*. 1739. Book I, Part I. Many editions.

Kemeny, John G , *A Philosopher Looks at Science*. Princeton, N. J. : D. Van Nostrand Co., Inc., 1959, Chapter 2.

Kneale, William, "Are Necessary Truths True by Convention ?" *Proceedings of the Aristotelian Society*, Supplementary Volume, 1947. Reprinted in H. D. Lewis (ed.), *Clarity Is Not Enough*. London : George Allen and Unwin, Ltd., 1965.

Korner, Stephen, *The Philosophy of Mathematics*. London : Hutchinson and Co. (Publishers), Ltd , 1960.

Lewis, Clarence I., *Analysis of Knowledge and Valuation*. La-Salle, Ill. : Open Court Publishing Co., 1947. Chapters 3-6.

........., *Mind and the World Order*. New York : Charles Scribner's Sons, 1929. Chapters 7 and 8.

Locke, John, *Essay Concerning Human Understanding*. Especially books II and IV. Many editions.

Malcolm, Norman. "Are Necessary Propositions Really Verbal ?" *Mind*, 49, 1940.

........., "The Nature of Entailment," *Mind*, 1940.

Nagel, Ernest, *Logic without Metaphysics*. New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1956.

Pap, Arthur, "Are All Necessary Propositions Analytic ?" *Philosophical Review* 58 (1949).

........, *Introduction to the Philosophy of Science*. New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1962. Chapters 5-7.
........, *Semantics and Necessary Truth*. New Haven, Conn : Yale University Press, 1958. Also in paperback.
Pears, David, "Incompatibilities of Colors," in *Logic and Language*, SecondSeries, ed. Antony Flew. Oxford : B. H. Blackwell, Ltd. 1953.
Putnam, Hilary, "The Analytic and the Synthetic," in *Minnesota Studies in the Philosophy of Science*, Vol. 3, Ed. H. Feigl and G. Maxwell. Minneapolis : University of Minnesota Press, 1962.
Reichenbach, Hans, *The Rise of Scientific Philosophy*. Berkeley : University of California Press, 1951. Especially chapters 3 and 8.
Robinson, Richard, "Necessary Propositions," *Mind*, 1958.
Russell, Bertrand, *Introduction to Mathematical Philosophy*. London : George Allen & Unwin, Ltd. 1919.
........, *The Problems of Philosophy*. New York : Oxford University Press, Inc, 1912. Chapters 7,8,11.
Ryle, Gilbert, Karl Popper and Casimir Lewy, "Why are the Calculuses of Logic and Mathematics Applicable to Reality ?" *Proceedings of the Aristotelian Society*, Supplementary Volume 1946.
Waismann, Friedrich, "Analytic-Synthetic", *Analysis*, 1949-1952.
........, "Are there Alternative Logics ?" *Proceedings of the Aristotelian society*, 1945-1946.
........, *The Principles of Linguistic Philosophy*. London : Macmillan & Co., Ltd., 1965.
Wittgenstein, Ludwig *Remarks on the Foundations of Mathematics*. Oxford : B. H. Blackwell, Ltd. 1958.

4

Law, hypothesis, explanation :

Broad, C. D , *Scientific Thought*. London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1923.

Campbell, Norman, *What Is Science?* London : Methuen and Co., Ltd., 1920.

Danto, Arthur and Sidney Morgenbesser, *Philosophy of Science.* Cleveland, Ohio : World Publishing Company, 1961. Meridian Books.

Frank, Phillip, *Philosophy of Science.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1962.

Hanson, Norwood R., *Patterns of Discovery.* London:Cambridge University Press, 1958.

Hempel, Carl G., *Aspects of Scientific Explanation.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1966.

........., *Philosophy of Natural Science.* Englewood Cliffs, N. J. Prentice-Hall, Inc., 1966 Paperback.

Hospers, John, "What Is Explanation ?" in *Essays in Conceptual Analysis*, ed, Antony Flew. London : Macmillan and Co., Ltd., 1956.

Mill, John Stuart, *A System of Logic.* London : Longmans, Green and Company, Ltd., 1843. Part 3.

Nagel, Ernest, *The Structure of Science.* New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1961.

Pap, Arthur, *Introduction to the Philosophy of Science.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1962.

The problem of induction :

Black, Max, "Can Induction Be Vindicated ?" *Philosophical Studies*, 1959. Reprinted in M. Black, *Models and Metaphors.* Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1962.

........., "Pragmatic Justifications of Induction," in *Problems of Analysis.* Ithaca, N. Y : Cornell University Press, 1954.

........., "Induction and Probability," in *Philosophy in the Mid-Century*, Vol. I, ed. R. Klibansky. Florence : La Nuova Italia Editrice, 1958.

Edwards, Paul, "Bertrand Russell's Doubts about Induction," in *Logic and Language*, First Series, ed. Antony Flew. Oxford : B.H. Blackwell, Ltd., 1951.

Harre, R. *An Introduction to the Logic of the Sciences*. London : Macmillan and Co., Ltd., 1960.

Katz, Jerrold J., *The Problem of Induction and Its Solution*. Chicago : University of Chicago Press, 1962.

Kneale, William, *Probability and Induction*. Oxford : Clarendon Press, 1949. part II.

Madden, E.H. "The Riddle of Induction," in *The Structure of Scientific Thought*. Boston : Houghton Mifflin Company, 1960.

Nagel, Ernest and Richard Brandt (eds.), *Meaning and Knowledge*. New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1965. Chapter 5.

Popper, Karl. *The Logic of Scientific Discovery*, London : Hutchinson and Co. (Publishers), Ltd. 1959.

Russell, Bertrand, *Human knowledge*. London : George Allen and Unwin. Ltd., 1948.

Salmon, Wesley, "Should We Attempt to Justify Induction ?" *Philosophical Studies*, 1957.

........, "Vindication of Induction," in *Current Issues in the Philosophy of Science*; ed. H. Feigl and G. Maxwell. New York : Holt, Rinehart and Winston, Inc., 1961.

Strawson, P. F., *Introduction to Logical Theory*. London : Methuen and Co., Ltd., 1952.

Will, Frederick, "Will the Future Be Like the Past ?" *Mind*, 1948.

Williams, Donald, *The Groud of Induction*, Cambridge. Mass. : Harvard University Press, 1947.

Testability and Meaning :

Alston, William P. *Philosophy of Language*, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall. Inc., 1964. Paperback Chapter 4.

Ayer, Alfred J., *Language, Truth and Logic*. Loadon : Victor Gollancz, Ltd., 1936.

Campbell, Norman, *What Is Science?* London : Methuen and Co., Ltd., 1920.

Danto, Arthur and Sidney Morgenbesser, *Philosophy of Science.* Cleveland, Ohio : World Publishing Company, 1961. Meridian Books.

Frank, Phillip, *Philosophy of Science.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1962.

Hanson, Norwood R., *Patterns of Discovery.* London:Cambridge University Press, 1958.

Hempel, Carl G., *Aspects of Scientific Explanation.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1966.

........., *Philosophy of Natural Science.* Englewood Cliffs, N. J. Prentice-Hall, Inc., 1966 Paperback.

Hospers, John, "What Is Explanation ?" in *Essays in Conceptual Analysis*, ed, Antony Flew. London : Macmillan and Co., Ltd., 1956.

Mill, John Stuart, *A System of Logic.* London : Longmans, Green and Company, Ltd., 1843. Part 3.

Nagel, Ernest, *The Structure of Science.* New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1961.

Pap, Arthur, *Introduction to the Philosophy of Science.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1962.

The problem of induction :

Black, Max, "Can Induction Be Vindicated ?" *Philosophical Studies*, 1959. Reprinted in M. Black, *Models and Metaphors.* Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1962.

........., "Pragmatic Justifications of Induction," in *Problems of Analysis.* Ithaca, N. Y : Cornell University Press, 1954.

........., "Induction and Probability," in *Philosophy in the Mid-Century*, Vol. I, ed. R. Klibansky. Florence : La Nuova Italia Editrice, 1958.

Edwards, Paul, "Bertrand Russell's Doubts about Induction," in *Logic and Language*, First Series, ed. Antony Flew. Oxford : B.H. Blackwell, Ltd., 1951.

Harre, R. *An Introduction to the Logic of the Sciences.* London : Macmillan and Co., Ltd., 1960.

Katz, Jerrold J., *The Problem of Induction and Its Solution.* Chicago : University of Chicago Press, 1962.

Kneale, William, *Probability and Induction.* Oxford : Clarendon Press, 1949. part II.

Madden, E.H. "The Riddle of Induction," in *The Structure of Scientific Thought.* Boston : Houghton Mifflin Company, 1960.

Nagel, Ernest and Richard Brandt (eds.),*Meaning and Knowledge.* New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1965. Chapter 5.

Popper, Karl. *The Logic of Scientific Discovery,* London : Hutchinson and Co. (Publishers), Ltd. 1959.

Russell, Bertrand, *Human knowledge.* London : George Allen and Unwin. Ltd., 1948.

Salmon, Wesley, "Should We Attempt to Justify Induction ?" *Philosophical Studies*, 1957.

........, "Vindication of Induction," in *Current Issues in the Philosophy of Science*; ed. H. Feigl and G. Maxwell. New York : Holt, Rinehart and Winston, Inc., 1961.

Strawson, P. F., *Introduction to Logical Theory.* London : Methuen and Co., Ltd., 1952.

Will, Frederick, "Will the Future Be Like the Past ?" *Mind*, 1948.

Williams, Donald, *The Groud of Induction*, Cambridge. Mass. : Harvard University Press, 1947.

Testability and Meaning :

Alston, William P. *Philosophy of Language*, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall. Inc., 1964. Paperback Chapter 4.

Ayer, Alfred J., *Language, Truth and Logic.* London : Victor Gollancz, Ltd., 1936.

Campbell, Norman, *What Is Science?* London : Methuen and Co., Ltd., 1920.

Danto, Arthur and Sidney Morgenbesser, *Philosophy of Science.* Cleveland, Ohio : World Publishing Company, 1961. Meridian Books.

Frank, Phillip, *Philosophy of Science.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1962.

Hanson, Norwood R., *Patterns of Discovery.* London:Cambridge University Press, 1958.

Hempel, Carl G., *Aspects of Scientific Explanation.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1966.

........., *Philosophy of Natural Science.* Englewood Cliffs, N. J. Prentice-Hall, Inc., 1966 Paperback.

Hospers, John, "What Is Explanation ?" in *Essays in Conceptual Analysis*, ed, Antony Flew. London : Macmillan and Co., Ltd., 1956.

Mill, John Stuart, *A System of Logic.* London : Longmans, Green and Company, Ltd., 1843. Part 3.

Nagel, Ernest, *The Structure of Science.* New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1961.

Pap, Arthur, *Introduction to the Philosophy of Science.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1962.

The problem of induction :

Black, Max, "Can Induction Be Vindicated ?" *Philosophical Studies*, 1959. Reprinted in M. Black, *Models and Metaphors.* Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1962.

........., "Pragmatic Justifications of Induction," in *Problems of Analysis.* Ithaca, N. Y : Cornell University Press, 1954.

........., "Induction and Probability," in *Philosophy in the Mid-Century*, Vol. I, ed. R. Klibansky. Florence : La Nuova Italia Editrice, 1958.

Edwards, Paul, "Bertrand Russell's Doubts about Induction," in *Logic and Language*, First Series, ed. Antony Flew. Oxford : B.H. Blackwell, Ltd., 1951.

Harre, R. *An Introduction to the Logic of the Sciences.* London : Macmillan and Co., Ltd., 1960.

Katz, Jerrold J., *The Problem of Induction and Its Solution.* Chicago : University of Chicago Press, 1962.

Kneale, William, *Probability and Induction.* Oxford : Clarendon Press, 1949. part II.

Madden, E.H. "The Riddle of Induction," in *The Structure of Scientific Thought.* Boston : Houghton Mifflin Company, 1960.

Nagel, Ernest and Richard Brandt (eds.), *Meaning and Knowledge.* New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1965. Chapter 5.

Popper, Karl. *The Logic of Scientific Discovery,* London : Hutchinson and Co. (Publishers), Ltd. 1959.

Russell, Bertrand, *Human knowledge.* London : George Allen and Unwin. Ltd., 1948.

Salmon, Wesley, "Should We Attempt to Justify Induction ?" *Philosophical Studies,* 1957.

........, "Vindication of Induction," in *Current Issues in the Philosophy of Science*; ed. H. Feigl and G. Maxwell. New York : Holt, Rinehart and Winston, Inc., 1961.

Strawson, P. F., *Introduction to Logical Theory.* London : Methuen and Co., Ltd., 1952.

Will, Frederick, "Will the Future Be Like the Past ?" *Mind,* 1948.

Williams, Donald, *The Groud of Induction,* Cambridge. Mass. : Harvard University Press, 1947.

Testability and Meaning :

Alston, William P. *Philosophy of Language,* Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall. Inc., 1964. Paperback Chapter 4.

Ayer, Alfred J., *Language, Truth and Logic.* London : Victor Gollancz, Ltd., 1936.

........., (ed.), *Logical Positivism.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1959.

Berlin, Isaiah, "Verification." *Proceedings of the Aristotelian Society,* 1938-1939.

Blanshard, Brand, *Reason and Analysis.* La Salle. Ill.: open Court Publishing Co., 1962. Chapter 5.

Carnap, Rudolf, *Philosophy and Logical Syntax,* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1935. Reprinted in William Alston and George Nakhnikian (eds.). *Twentieth Century Philosophy.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1963.

........., "Testability and Meaning," *Philosophy of Science,* 1936-1937.

........., "The Criterion of Cognitive Significance : A Reconsideration," *Proceedings of the American Academy of Arts and Sciences,* 1951.

Hempel, Carl G., "Problems and Changes in the Empiricist Criterion or Meaning." *Revue Internationale de Philosophie,* 1950. Reprinted in Carl. G. Hempel, *Aspects of Scientific Explanation.* New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1966

Lazerowitz, Morris, *The Structure of Metaphysics.* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1955.

Marhenke, Paul, "The Criterion of Significance," in *Semantics and the Philosophy of Language,* ed. Leonard Linsky. Urbana : University or Illinois Press, 1952.

Passmore, J., *Philosophical Reasoning,* London : Gerald Duckworth and Co., Ltd,, 1961 Chapter 5.

Schlick, Moritz, "Meaning and Verification." *Philosophical Review,* 1936. Also in H. Feigl and W. Sellars, *Readings in Philosophical Analysis.* New York : Appleton-Century-Crofts, 1948.

Stace, Walter T., "Positivism," *Mind,* 1944, and "Metaphysics and Meaning," *Mind,* 1936.

Watkins, J.W.N., "Confirmable and Influential Metaphysics," *Mind*, 1958.

5

Anthologies of readings :

Adler, Mortimer J., *The Idea of Freedom*. 2 vols. Garden City, N.Y. : Doubleday and Company, Inc., 1958, 1961.

Berofsky, Bernard (ed.), *Free-will and Determinism*. New York : Harper and Row, Publishers, Inc., 1966. Paperback.

Edwards, Paul and Arthur Pap (eds.), *A Modern Introduction to Philosophy* (rev. ed.). New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1965, Chapter 1.

Hook, Sidney (ed.), *Determinism and Freedom in the Age of Modern Science*. New York : New York University Press, 1957. Collier Books paperback.

Lehrer, Keith (ed.), *Freedom and Determinism*, New York : Random House, 1965. Paperback.

Morgenbesser, Sidney and J. Walsh (eds.), *Free will*, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall, Inc , 1962.

Morris, Herbert (ed.), *Freedom and Responsibility*. Standford, Cal. : Standford University Press, 1961. Chapter 10.

Pears, David F. (ed.). *Freedom and the Will*. London : Macmillan and Co., Ltd 1963.

Sellers, Wilfrid and John Hospers. *Readings in Ethical Theory*. New York : Appleton-Century-Crofts. 1952. Section 7.

Primary Sources :

Ayer, Alfred J., *The Foundations of Empirical Knowledge*. New York : The Macmillan Company, 1940. Chapter 4.

California Associates, "On the Freedom of the Will," in *Knowledge and Society*. New York : Appleton-Century-Crofts, 1938. Reprinted in H. Feigl and W. Sellars, *Readings in Philosophical Analysis*. New York : Appleton-Century-Crofts, 1949.

Campbell, C. A., *In Defense of Free-Will.* Glasgow : Jackson Son and Co. (Booksellers) Ltd., 1938.

Ducasse, Curt J., *Nature, Mind, and Death.* La Salle, Ill. : Open Court Publishing Co., 1951. Part 2.

Ewing, Alfred C., *The Fundamental Questions of Philosophy.* New York : The Macmillan Company, 1951 Chapters 8 and 9.

Fullerton, G S , *A System of Metaphysics.* New York : The Macmillan Company, 1904. Chapter 33.

Hart, H. L. A., and A. M. Honore, *Causation in the Law.* Oxford : Clarendon Press, 1959.

Hobart, R. E. (Dickinson Miller) "Free-Will as Involving Determinism and Inconceivable without It," *Mind,* 1934. Reprinted in Berofsky, above.

Hume, David, *An Enquiry Concerning Human Understanding.* Sections 7 and 8. Many editions.

Melden, A. I., *Free Action.* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1961.

Mill, John Stuart, *A System of Logic.* London : Longmans, Green and Company, Ltd., 1843. Book 3, Chapter 5, and Book 6, Chapter 2, Contained also in Ernest Nagel (ed.), *John Stuart Mill's Philosophy of Scientific Method.* New York : Hafner Publishing Co., Inc., 1950.

Moore, G. E., *Ethics.* London : Oxford University Press, 1912. Chapter 6.

Rashdall, Hastings, *Theory of Good and Evil.* 2. Vols. London : Oxford University Press, 1924. Chapter 3 of Book 3.

Reichenbach, Hans, *The Rise of Scientific Philosophy.* Berkelev : University of California Press, 1951. Chapter 10.

Ross, W. D., *Foundations of Ethics.* Oxford : Clarendon Press, 1939. Chapter 10.

Schlick, Moritz, "Causality in Everyday Life and in Science," *University of California Publications in Philosophy,* XV (1932).

Stebbing, Susan L., *Philosophy and the Physicists.* London : Methuen and Co., Ltd , 1937. Part 3.

Stevenson, C. L., "Ethical Judgments and Avoidability" *Mind*, 47, 1938. Reprinted in W. Sellars and J. Hospers, *Readings in Ethical Theory.* New York : Appleton- Century-Crofts, 1952. Section 7.

Taylor, Richard, *Metaphysics.* Englewood Cliffs. N J. : Prentice-Hall, Inc., 1963. Chapters 3-6.

6

The Problem of universals :

Aaron, R. I., *The problem of Universals.* Oxford : Clarendon Press. 1952.

Blanshard, Brand, *Reason and Analysis.* La Salle, Ill : Open Court Publishing Co., 1962.

Bochenski, J. M., Alonzo Church and Nelson Goodman, *The Problem of Universals.* South Bend, Ind. : University of Notre Dame Press.

Brandt, Richard, "The Languages of Realism and Nominalism," *Philosophy and Phenomenological Research,* 17 (1956-1957).

Locke, John, *Essay Concerning Human Understanding.* Book III. Many editions.

Pap, Arthur, *Elements of Analytic Philosophy.* New York : The Macmillan Company, 1949. Chapter 4.

Pears, David. "Universals," *Philosophical Quarterly,* 1950-1951.

Plato, *Parmenides*; *Phaedo.* Many editions.

Price, H H , *Thinking and Experience.* London : Hutchinson and Co. (Publishers), Ltd., 1953. Chapter 1.

Quine, Willard V., *Word and Object.* New York : John Wiley and Sons, Inc., 1960.

Rand, Ayn, "The Objectivist Theory of Knowledge," *The Objectivist,* July-Dec., 1966.

Russell, Bertrand, *The Problems of Philosophy*. London: Oxford University Press, 1912. Chapters 9 and 10.

Ryle, Gilbert, "Abstractions," *Dialogue*, June-July, 1962.

Woozley, A. D., *Theory of Knowledge*. London : Hutchinson and Co. (Publishers), Ltd., 1949. Chapter 4.

Matter and Life :

Bergson, Henri, *Creative Evolution*. London : Macmillan and Co., Ltd. 1911.

Broad, C. D., *The Mind and Its Place in Nature*. London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1925. Chapter 2.

Cohen, Morris R , *Reason and Nature*. New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1931. Book 2, Chapter 3.

Drake, Durant, *Invitation to Philosophy*. Boston : Houghton Mifflin Company, 1933. Chapter 18.

Driesch, Hans, *The History and Theory of Vitalism*. New York: The Macmillan Company, 1914.

Haldane, John Scott, *Materialism*. London : Hodder and Stoughton, Ltd., 1932.

——, *Mechanism, Life, and Personality*. New York : E. P. Dutton and Co., Inc , 1923.

McDougall, William, *Modern Materialism and Emergent Evolution* London : Methuen and Co., Ltd., 1929.

Meehl, Paul and Wilfrid Sellars, "The Concept of Emergence." in *Minnesota Studies in the Philosophy of Science*, Vol. I Minneapolis : University of Minnesota Press, 1956.

Needham, D., *Man a Machine*. London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1926. Psyche Miniatures.

Needham, Joseph, *Order and Life*. New Haven, Conn. : Yale University Press, 1936.

Rignano, Eugenio, *Man Not a Machine*, London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1925. Psyche Miniatures.

Schubert-Soldern, Rainer, *Mechanism and Vitalism.* South Bend. Ind. : Notre Dame University Press, 1962.

Simpson, George G., *The Meaning of Evolution.* New York : New American Library, 1951. Mentor Books Paperback.

Scriven, Michael, *Primary Philosophy.* New York : McGraw-Hill Book Company, 1966, Chapter 5.

Woodger, J. H., *Biological Principles.* New York : Humanities Press, 1966.

Mind and Body :

Anderson, A. R. (ed.), *Minds and Machines.* Englewood Cliffs, N. J.; Prentice-Hall, Inc., 1964. Paperback.

Aune, Bruce, "The Problem of other Minds," *Philosophical Review,* 1961.

Ayer, Alfred J , "One's Knowledge of Other Minds," in *Philosophical Essays.* London : Macmillan & Co., Ltd., 1955.

......, "Privacy," *Proceedings of the British Academy,* 1959. Reprinted in *The Concept of a Person and Other Essays.* London : Macmillan & Co , Ltd., 1964.

Blanshard, Brand, *The Nature of Thought,* Vol. I, London : George Allen and Unwin, Ltd., 1939.

Brain, W. Russell, *Mind, Perception and Science.* Oxford : B. H. Blackwell, Ltd., 1951.

Broad, C. D., *The Mind and its Place in Nature.* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1925.

Descartes, Rene, *Meditations,* 1962. Many editions.

Ducasse, Curt J., *Nature, Mind, and Death.* LaSalle, Ill. : Open Court Publishing Co., 1951. Parts 3 and 4.

Ewing, Alfred C., "Professor Ryle's Attack on Dualism," *Proceedings of the Aristotelian Society,* 1952-53. Reprinted in H. D. Lewis (ed.), *Clarity Is Not Enough.* London : George Allen and Unwin, 1963.

......, *The Fundamental Questions of Philosophy.* New York : Crowell-Collier and Macmillan, Inc., 1962. Paperback.

Feigl, Herbert, "The Mental and the Physical," in *Minnesota Studies in the Philosophy of Science*, Vol. 2, ed. H. Feigl and M. Scriven Minneapolis : University of Minnesota Press, 1957.

Feyerabend, H., and Grover Maxwell (eds.), *Mind, Matter, and Method.* Minneapolis : University of Minnesota Press, 1966.

Flew, Antony (ed.), *Body, Mind, and Death.* Crowell-Collier and Macmillan, Inc., 1962.

......, "Can a Man Witness His Own Funeral ?" *Hibbert Journal*, 1956.

Fullerton, G. S., *A System of Metaphysics.* New York : The Macmillan Company, 1904. Part 3.

Laslett, Peter (ed.), *The Physical Basis of Mind.* Oxford : B. H. Blackwell, Ltd., 1951.

Lewis, H. D., "Mind and Body," in *Clarity Is Not Enough.* London : George Allen and Unwin, Ltd., 1963.

Reeves, J. W, (Ed.), *Body and Mind in Western Thought.* Baltimore : Penguin Books, Inc., 1958. Paperback.

Ryle, Gilbert, *The Concept of Mind.* London : Hutchinson and Co. (Publishers), Ltd., 1949.

Scriven, Michael, "A Study of Radical Behaviorism," in *Minnesota Studies in the Philosophy of Science*, Vol. I. ed. H. Feigl and M. Scriven. Minneapolis : University of Minnesota Press, 1956.

Shaffer, Jerome, "Can Sensations Be Brain Processes ?" *Journal of Philosophy*, 1961.

....., "Persons and Their Bodies," *Philosophical Review*, 1966.

....., "Recent Work on the Mind-Body Problem", *American Philosophical Quarterly*, II (1965), 81-104.

Shoemaker, Sydney, *Self-knowledge and Self-identity.* Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1963.

Strawson, P. F., *Individuals.* London : Methuen and Co., Ltd., 1959. Also in Paperback.

Vesey, G. N. A. (Ed.), *Body and Mind.* London : George Allen and Unwin, Ltd., 1964.

Wisdom, John, *Other Minds.* Oxford : B. H. Blackwell, Ltd., 1949.

7

Alexander, Samuel, *Space, Time, and Deity.* 2 Vols. London : Macmillan and Co., Ltd. 1918.

Alston, William (ed.), *Religious Belief and Philosophical Thought.* New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1963.

Baier, Kurt, *The Meaning of Life.* Canberra, Australia : Commonwealth Government Printer, 1957. Paperback.

Dewey, John, A *Common Faith.* New Haven, Conn : Yale University Press, 1934.

Ducasse, Curt J., *A Philosophical Scrutiny of Religion.* New York : The Ronald Press Company, 1953.

Findlay, John, N., *Language, Mind, and Value.* London : George Allen and Unwin, Ltd., 1963.

Flew, Antony and Alasdair MacIntyre, *New Essays in Philosophical Theology.* London : SCM Press, 1955.

Hartshorne, Charles, *The Logic of Perfection.* LaSalle, Ill. : Open Court Publishing Co., 1963.

......, and William L. Reese, *Philosophers Speak of God.* Chicago : University of Chicago Press, 1953.

Hepburn, R. W., *Christianity and Paradox.* London : C. A. Watts and Co., Ltd., 1958.

Hick, John (ed.), *Classical and Contemporary Readings in the Philosophy of Religion.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1964.

..... , *The Existence of God.* New York : The Macmillan Company, 1964. Paperback.

......, *Faith and Knowledge*. Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1957.

......, *Philosophy of Religion*. Englewood Cliffs, N. J. : Prentice Hall, Inc., 1962. Paperback.

Hook, Sidney (ed.). *Religious Experience and Truth*. New York : New York University Press, 1961.

Hume, David, *Dialogues Concerning Natural Religion*. First published 1779. Many editions,

James, William. *The Varieties of Religious Experience*. New York : David Mckay Co., Inc . 1902.

Lewis, C.S., *The Problem of Pain*. New York : The Macmillan Company. 1962. Paperback.

Lewis, H.D., *Our Experience of God*. London : George Allen and Unwin, Ltd., 1959.

Macpherson, Thomas. *The Philosophy of Religion*. Princeton. N.J. : D. Van Nostrand Co., Inc., 1965, Paperback.

McTaggart, J.E., *Some Dogmas of Religion*. London : Edward Arnold and Co., 1906.

Martin, C. B., *Religious Belief*. Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1959.

Matson, Wallace I., *The Existence of God*. Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1965.

Mill, John Stuart, *An Examination of Sir William Hamilton's Philosophy*. London : Longmans, Green and Company, Ltd., 1865. Chapter 7.

........., *Three Essays on Religion*. "Nature," "The Utility of Religion," and "Theism". London : Longmans, Green and Company, Ltd, 1874.

Mourant, J, A., *Readings in the Philosophy of Religion*. New York : Crowell-Collier and Macmillan, Inc., 1954.

Munz, Peter, *Problems of Religious Knowledge*. London : SCM Press, 1959.

Pike, Nelson, *God and Evil· Readings on the Theological Problem of Evil.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1964. Paperback.

Ramsey, Ian T., *Religious Language.* London : SCM Press, 1957.

Santayana, George, *Reason in Religion.* New York : Charles Scribner's Sons, 1905.

Scriven, Michael, *Primary Philosophy,* New York : McGraw-Hill Book Company, Inc., 1966. Chapter 4

Smart, Ninian (ed.). *Historical Selections in the Philosophy of Religion.* New York : Harper and Row, Publishers, Inc , 1962.

........., *Philosophers and Religious Truth.* London : SCM Press, 1964.

Stace, W. T., *Religion and the Modern Mind.* Philadelphia : J B. Lippincott Co., 1952.

......, *Time and Eternity.* Princeton, N. J. : Princeton University Press, 1952,

Taylor, A, E. *Does God Exist?* New York : Macmillan Company, 1945.

Wisdom, John, "Gods," in *Logic and Language,* First Series, ed. Antony Flew. Oxford : B. H. Blackwell, Ltd., 1952.

8

Armstrong, D. M., *Perception and the Physical World.* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd , 1961.

Austin, John L., *Sense and Sensibilia.* London : Oxford University Press, 1962.

Ayer, Alfred J., *Foundations of Empirical Knowledge.* New York : The Macmillan Company, 1940. Chapters 1, 2 and 5.

........, "Phenomenalism," "Basic Propositions," and "The Language of Sense data," in *Philosophical Essays.* New York : The Macmillan company, 1955.

........, *The Problem of Knowledge.* New York : The Macmillan Company, 1956.

Barnes, Winston H. F., "The Myth of Sense-data." *Proceedings of the Aristotelian Society,* 45 (1944-45).

Berkeley, George, *Three Dialogues between Hylas* and Philonous, 1713. Many editions.

........, *A Treatise Concerning the Principles of Human Knowledge,* 1710. Many Editions.

Broad, C. D., *The mind and Its Place in Nature.* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1925. Section B.

Chisholm, Roderick, *Perceiving : A Philosophical Study.* Ithaca, N. Y. Cornell University Press, 1957.

........, "The Theory of Appearing," in Max Black (ed.), *Philosophical Analysis.* Englewood Cliffs, Prentice-Hall, Inc. 1963.

Ewing, Alfred C., *Idealism : A Critical Survey.* London : Methuen and Co., Ltd., 1934. Especially Chapters 6 and 7

........, (Ed.), *The Idealist Tradition.* New York : Free Press, 1957.

Firth, Roderick, "Radical Empiricism and Perceptual Relativity." in *Philosophical Review,* 59 (1950).

........, "Phenomenalism," *American Philosophical Association,* Eastern Division, Vol. I (1952).

Hirst, R. J., *The Problem of Perception.* London : George Allen and Unwin, Ltd., 1959.

Hume, David, *A Treatise of Human Nature,* 1739. Book I. Many editions.

Lean, Martin E., *Sense-Perception and Matter.* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1953.

Lewis, Clarence I.. *An Analysis of Knowledge and Valuation.* Lasalle. Ill. : Open Court Publishing Co., 1946. Especially chapters 7 and 8.

Locke, John, *Essay Concerning Human Understanding*, 1690. Book 2, Many editions.

Malcolm, Norman, *Dreaming*. London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1959.

.... *Knowledge and Certainty*. Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1963.

Marhenke, Paul, "Phenomenalism," in *Philosophical Analysis*, ed. Max Black, Ithaca, N. Y. : Cornell University Press, 1950.

Mill, John Stuart, *An Examination of Sir William Hamilton's Philosophy*. London : Longmans, Green and Company, Ltd., 1865. Chapters 11 and 12.

Montague, William P., *The Ways of Knowing*. London : George Allen and Unwin, 1925.

Moore, G. E., *Philosophical Papers*. London : George Allen and Unwin, Ltd., 1959. Chapters 2 and 7.

———, "The Refutation of Idealism," in *Philosophical Studies*. London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1922. Also paperback.

Paul, G.A., "Is There a Problem about Sense-data ?" in *Logic and Language*, First Series, ed. Anatony Flew. Oxford : B. H. Blackwell, Ltd., 1959.

Pearson, Karl, *The Grammar of Science*. London : J. M. Dent and Sons, Ltd., 1892.

Price, H. H., *Hume's Theory of the External World*, London : Oxford University Press, 1940.

......, *Perception*. London. Methuen and Co., Ltd., 1933.

Prichard, H. A., *Knouledge and Perception*. London : Oxford University Press, 1950.

Quinton, A. M., "The Problem of Perception," *Mind*, 64 (1955).

Reichenbach, Hans, *Experience and Prediction*. Chicago : University of Chicago Press, 1938.

Russell, Bertrand, *The Problems of Philosophy*. London : Oxford University Press, 1912. Chapters 1-5.

...., *Our Knowledge of the External World*. London : George Allen and Unwin, 1914.

Ryle, Gilbert, *Dilemmas*. London : Cambridge University Press, 1954, Chapter 7.

Santayana, George, *Scepticism and Animal Faith*. New York : Charles Scribner's Sons, 1923.

Sellars, Wilfrid, *Science, Perception and Reality*. London : Routledge and Kegan Paul, Ltd,, 1963. Chapter 3.

Stace, Walter T., *The Theory of Knowledge and Existence*. Oxford : Clarendon Press, 1932. Chapter 6.

......, "The Refutation of Realism," *Mind*, 43 (1934). Reprinted in P. Edwards and A. Pap., *A Modern Introduction to Philosophy*, and in H. Feigl and W. Sellars, *Readings in Philosphical Analysis.*

Urban, Wilbur M., *Beyond Realism and Idealism*. London : George Allen and Unwin, 1949.

Warnock, Geoffrey, *Berkeley*. Baltimore : Penguin Books, Inc., 1953.

Whiteley, C. H., *An Introduction to Metaphysics*. London : Methuen and Co., Ltd. 1950.

9

Anthologies of readings :

Abelson, Raxiel (ed.), *Ethics and Metaethics*. New York : St. Martin's Press, Inc , 1963.

Brandt, Richard B. (ed.), *Value and Obligation*. New York ; Horcourt, Brace and World, Inc., 1961.

Edwards, Paul and Arthur Pap (eds.), *A Modern Introduction to Philosophy*. (rev. ed.), New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1965. Chapter 4.

Katz, Joseph, Philip Nochlin and Robert Stover (eds.), *Writers on Ethics*. Princeton, N. J· : D. Van Nostrand Co., Inc., 1962.

Melden, A. I. (ed.), *Essays in Moral Philosophy*. Seattle, Wash. : University of Washington Press, 1958.

......, *Ethical Theories*, (2nd ed. with revisions). Englewood Cliffs, N. J. Prentice-Hall, Inc., 1967.

Munitz, Milton K. (ed.), *A Modern Introduction to Ethics*. New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1958.

Oldenquist, A. (ed.), *Readings in Moral Philosophy*. Boston : Houghton Mifflin Company, 1964., Paperback.

Selby-Bigge, L. A. (ed.), *British Moralists*. Oxford : Clarendon Press, 1897. Paperback, Bobbs-Merrill Company, Inc., 1964,

Sellars, Wilfrid and John Hospers (eds.), *Readings in Ethical Theory*. New York : Appleton-Century-Crofts, 1952.

Primary sources :

Aristotle, *Nicomachean Ethics*. Many editions.

Ayer, Alfred J., "On the Analysis of Moral Judgments," in *Philosophical Essays*, London : Macmillan and Co., Ltd., 1955.

Baier, Kurt, *The Moral Point of View*. Ithaca,, N. Y. : Cornell University Press, 1958.

Bentham, Jeremy, *The Principles of Morals and Legislation*. Many editions.

Binkley, Luther J., *Contemporary Ethical Theories*, New York : Citadel Press, 1961.

Blanshard, Brand, *Reason and Goodness*. London : George Allen and Unwin, Ltd., 1961.

Brandt, Richard B., *Ethical Theory : The Problems of Normative and Critical Ethics*. Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1959.

Dewey, John, *The Theory of Valuation*. Chicago : University of Chicago Press, 1939.

Edel, Abraham, *Ethical Judgment*. New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1955.

Edwards, Paul, *The Logic of Moral Discourse*. New York : Free Press of Glencoe, Inc., 1955.

Ewing, Alfred C., *Ethics*. New York: The Macmillan Company, 1953.

......, *The Definition of Good*. New York : The Macmillan Company, 1947.

......, *Second Thoughts in Moral Philosophy*. London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1959.

Frankena, William K., *Ethics*. Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1963, Paperback.

Hall, Everett W., *What Is Value*? New York : Humanities Press, 1952.

Hare, R. M., *The Language of Morals*. Oxford : Clarendon Press, 1950. Paperback.

......., *Freedom and Reason*. Oxford : Clarendon Press, 1963. Paperback.

Hartland-Swann, John, *An Analysis of Morals*. London : George Allen and Unwin, Ltd., 1960.

Hazlitt, Henry, *The Foundations of Morality*. Princeton, N. J. : D. Van Nostrand Company, Inc., 1964.

Hospers, John, *Human Conduct*. New York : Harcourt, Brace and World, Inc., 1961.

Hume, David, *A Treatise of Human Nature*. Book 3. Many editions.

......, *An Inquiry Concerning the Principles of Morals*. Many editions.

Kant, Immanuel, *Fundamental Principles of The Metaphysics of Morals*. Many editions.

Ladd, John, *The Structure of a Moral Code*. Cambridge, Mass. : Harvard University Press, 1957.

Mill, John Stuart, *Utilitarianism; On Libert.* Many editions.

Montefiore, Alan, *A Modern Introduction to Moral Philosophy*. New York : Frederick A., Praeger. Inc., 1959.

Moore, G. E., *Principia Ethica*. London : Cambridge University Press, 1903. Also in Paperback.

......, *Ethics*. London : Oxford University Press, 1912. Also in paperback.

Nowell-Smith, P. H., *Ethics*. London : Penguin Books, Inc., 1954. Paperback.

Perry, Ralph Barton, *General Theory of Value*. Cambridge, Mass. : Harvard University Press, 1926.

......, *Realms of Value*. Cambridge, Mass. : Harvard University Press, 1954.

Plato, *Republic; Philebus; Meno; Euthyphro; Crito*. Many editions.

Pratt, James B , *Reason in the Art of Living*. New York : The Macmillan Company, 1949.

Rand, Ayn, *The Virtue of Selfishness*. New York : New American Library, 1964. Paperback.

Ross, W. D., *The Right and the Good*, London : Oxford University Press, 1931.

...., *The Foundations of Ethics*. Oxford : Clarendon Press, 1939.

Russell, Bertrand, *Human Society in Ethics and Politics*. London : George Allen and Unwin, Ltd., 1955.

Sesonske, Alexander, *Value and Obligation*. New York : Oxford University Press, Inc., 1964. Paperback.

Singer, Marcus, *Generalization in Ethics*. New York : Random House. 1961.

Smart, J. J. C., *Outlines of a Utilitarian System of Ethics*. London : Cambridge University Press, 1961. Paperback.

Stace, Walter T., *The Concept of Morals.* New York : The Macmillan Company, 1937. Paperback.

Taylor, Paul, *Normative Discourse.* Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, Inc., 1961.

Toulmin, Stephen E., *The Place of Reason in Ethics.* London : Cambridge University Press, 1950.

Von Wright, G.H., *The Varieties of Goodness.* London : Routledge and Kegan Paul, Ltd., 1963.

Warnock, Mary, *Ethics Since 1900.* London : Oxford University Press, 1960.

Zink, Sidney, *The Concepts of Ethics.* New York : St. Martin's Press, Inc., 1962.

परिशिष्ट III

शब्दावली

(हिंदी-अंग्रेजी)

अंत:प्रज्ञा	intuition
अंत:प्रज्ञावाद	intuitionism
अंतर्निरीक्षण	introspection
अंतर्निहित मूल्य	inherent value
अंतर्विवेक	conscience
अंशभागिता	participation
अंशव्यापी प्रतिज्ञप्ति	particular proposition
अच्छा	good
अज्ञेयवाद	agnosticism
अतिव्याप्त	too broad
अधिकथन	meta-statement
अधिकार	right
अधिनीतिशास्त्र	meta-ethics
अधिष्ठान	substratum
अनवस्था	infinite regress
अनियत	indeterminate
अनियतत्ववाद	indeterminism
अनिर्धार्यता-सिद्धांत	principle of indeterminancy
अनिवार्य	necessary
अनुकूलन	adaptation
अनुचित	wrong
अनुप्रयोग	application
अनुभवसापेक्ष	a posteriori
अनुभूति	feeling
अनुमोदन	approval

अनुलाग	entailment
अनुषंगी विशेषताएँ	accompanying characteristics
अनेकव्यापी शब्द	general word
अन्वभिवृत्ति	pro-attitude
अन्योन्यक्रियावाद	interactionism
अपचयन	reduction
अपचयन-दोष	reductive fallacy
अपभ्रम	hallucination
अपवाही तंत्रिका	efferent nerve
अपाकर्षण	abstraction
अपाहरण	abstraction
अभावात्मक उपाधि	negative condition
अभिकथन	assertion
अभिगृहीत	assumption, postulate
अभिधा	literal meaning
अभिनति	bias
अभिप्राय	intention
अभिप्रेरक	motive
अभिवृत्ति	attitude
अभेद-सिद्धांत	identity theory
अर्थांतर	shifting the ground
अर्थापत्ति	implication
अर्हता	desert
अवधारणा	concept
अवसाद	depression
अविनाभाव	sine qua non
अव्याघात का नियम	law of non-contradiction
अव्याप्त	too narrow
असंभाव्य	improbable
असत्	wrong
अस्तिपरक प्रतिज्ञप्ति	existential proposition

अहंमात्रवाद	solipsism
आगमन	induction
आचरण	conduct
आचार-संहिता	moral code
आत्मा	self
आत्मोपलब्धि	self-realization
आदर्श	ideal
आधारिका	premise
आनंद	happiness
आनुभविक संभवता	empirical possibility
आपातिक	contingent
आपादन	implication
आप्तप्रमाण	authority
आबंध	obligation
आयोजन-युक्ति	argument from design
आलोचनात्मक दर्शन	critical philosophy
आलोचनात्मक निर्णय	critical judgment
आस्तिक	believer, theist
आस्था	faith
इंद्रिय-दत्त	sense-datum
इंद्रिय-दत्त-कथन	sense-datum-statement
इंद्रिय-दत्त-परिवार	family of sense-data
इंद्रियानुभव	sense-experience
इंद्रियानुभववाद	empiricism
इंद्रियानुभविक	empirical
इल्हाम	revelation
उचित	right
उत्तर-प्रतिमा	after-image
उत्परिवर्तन	mutation
उद्गार	interjection
उद्दीपन	stimulation

उद्देश्य	goal; purpose
उन्मज्जन	emergence
उपजाति	species
उपमा	analogy
उपयोगितावाद	utilitarianism
उपाधि	condition
उपोत्पादवाद	epiphenomenalism
उभयतःपाश	dilemma
ऊर्जा-संरक्षण	conservation of energy
एकरूपता	uniformity
एकव्यापी कथन	singular statement
एकेश्वरवाद	monotheism
एपिक्यूरसवाद	epicureanism
कणिका-सिद्धांत	corpuscular theory
कथन	statement
कर्तव्य	duty
कर्म-उपयोगितावाद	act-utilitarianism
कारणता	causality
कारणमूलक परिभाषा	causal definition
कारणमूलक युक्ति	causal argument
कारण-संबंध	causality
कोटि-दोष	category-mistake
कोशिका	cell
कोशीय (या कोशगत) परिभाषा	lexical definition
क्षमता	capacity
गुणधर्म	property
गुणार्थ	designation (="connotation" in Mill's Logic)
गौण गुण	secondary quality
घटना-अवस्था	occurrent state
चमत्कार	miracle

जाति	genus
जातिवाचक शब्द	general word
जीववाद	animism
ज्ञानमीमासा	epistemology
ज्ञापक वाक्य	indicative sentence
तत्र	*system*
तत्रिका	nerve
तकनीकी सभवता	technical possibility
तत्त्वमीमासा	metaphysics
तदनुभूति	empathy
तरग-सिद्धात	wave theory
तर्कबुद्धि	reason
तर्कबुद्धिवाद	rationalism
तर्कबुद्धिशीलता	rationality
तात्त्विक जगत्	*noumenal world*
तादात्म्य का सिद्धात	law of identity
तार्किक सभवता	logical possibility
त्रिमूल्यक तर्कशास्त्र	three-valued logic
दमन	repression
दिव्य अनुभव	religious experience
दुर्बल प्रत्ययवाद	weak idealism
दृश्यते इति वर्तते	esse est percipi
दृष्टातीकरण	exemplification
देवासुरवाद	ditheism
दैवयोग	chance
दैववाद	fatalism
द्रव्य	substance
द्वि-ईश्वरवाद	ditheism
द्वितीयक गुण	*secondary quality*
द्विदेववाद	ditheism
द्विपक्ष-सिद्धात	double aspect theory

द्विमूल्यक तर्कशास्त्र	two-valued logic
नामवाद	nominalism
नास्तिक	atheist
निगमन	deduction
नित्यानुषंगी विशेषताएँ	universally accompanying characteristics
निदर्शनात्मक परिभाषा	ostensive definition
नियतत्ववाद	determinism
नियम-उपयोगितावाद	rule-utilitarianism
नियतिवाद	fatalism
नियमितता	regularity
निरपेक्ष नियोग	categorical imperative
निरुपाधिक	unconditional
निर्णय	judgment
निर्देशपरक सिद्धांत	referential theory
निर्नैतिक	non-moral
निस्संज्ञानवाद	non-cognitivism
निहित परिभाषा	implicit definition
नीतिशास्त्र	ethics
नैतिक न-प्रकृतिवाद	ethical non-naturalism
नैतिक निःसंज्ञानवाद	ethical non-cognitivism
नैतिक नियमावली	moral code
नैतिक प्रकृतिवाद	ethical naturalism
नैतिक बहुतत्ववाद	ethical pluralism
नैतिक सापेक्षवाद	ethical relativism
नैतिक स्वार्थवाद	ethical egoism
परिकल्पनात्मक दर्शन	speculative philosophy
परिचय	acquaintance
परिप्रेक्ष्य	perspective
परिभाषक विशेषताएँ	defining characteristics
परिभाष्यवाद	definism

परीक्षणीयता	testability
पर्यावरण	environment
पश्यति इति वर्तते	esse est percipere
पाठ्यांक	reading
पात्रता	desert
पारमार्थिक जगत्	noumenal world
पुद्गल	matter
पुनरुक्ति	tautology
पुनरुज्जीवन	resurrection
पुलिंदा-सिद्धांत	bundle theory
पोटलिका-सिद्धांत	bundle theory
प्रकाशना	revelation
प्रकृत वास्तववाद	naive realism
प्रकृतिवादी दोष	naturalistic fallacy
प्रक्रम	process
प्रतिकारवादी	retributivist
प्रतिज्ञप्ति	proposition
प्रतितथ्य सोपाधिक	counterfactual hypothetical
प्रतिनिधानात्मक वास्तववाद	representative realism
प्रतिबद्धता	commitment
प्रतिमा	image
प्रतिरोध	resistance
प्रतिवर्त-क्रिया	reflex action
प्रतिवेदक परिभाषा	reportive definition
प्रतीक	symbol
प्रतीति	appearance
प्रत्यक्ष	perception
प्रत्यभिवृत्ति	anti-attitude
प्रत्यय	idea
प्रत्ययवाद	idealism
प्रत्यय-सत्ता-युक्ति	ontological argument

प्रबुद्ध स्वार्थ	enlightened self-interest
प्रभावी परिभाषा	persuasive definition
प्रमस्तिष्कीय वल्कुट	cerebral cortex
प्रयोजनमूलक युक्ति	teleological argument
प्रयोजनवत्ता	teleology
प्रसंभाव्यता	probability
प्रसन्नता	happiness
प्राक्कल्पना	hypothesis
प्रागनुभविक	a priori
प्रागस्तित्व	pre-existence
प्राणतत्ववाद	vitalism
प्राथमिक गुण	primary quality
प्राविधिक संभवता	technical possibility
प्रेक्षण	observation
बहुदेववाद	polytheism
बिंब	image
बिंबवाद	imagism
बुद्धिगम्यता	conceivability
बुद्धिनिरपेक्ष	objective
भाव	feeling
भावात्मक उपाधि	positive condition
भौतिकवाद	materialism
भ्रम	illusion
भ्रांति	delusion
मध्याभाव नियम	law of excluded middle
मन:पर्यय	telepathy
मनो-दैहिक समांतरवाद	psycho-physical parallelism
मनोद्रव्य-सिद्धांत	mental substance theory
मनोबल	morale
मरणोत्तर जीवन	after-life
महाविशेष	super-particular

महासामान्य	arch-universal
मानकीय नीतिशास्त्र	normative ethics
मानवत्वारोप	anthropomorphism
मूल गुण	primary quality
मूल प्ररूप	archetype
मूल्य	value
मूल्यमीमांसा	value theory
मूल्य-सोपान	hierarchy of values
मूल्यांकन	valuation
मैसोकीय वृत्ति	masochism
यांत्रिकवाद	mechanism
रहस्यवाद	mysticism
रूढ़ संकेत	conventional sign
लक्षणा	figurative meaning
लक्ष्य	end
वदतोव्याघात	contradiction in terms
वर्णनात्मक नियम	descriptive law
वस्तुतंत्र	objective
वस्तुस्थिति	state of affairs
वस्त्वर्थ	denotation
वास्तववाद	realism
वास्तविक परिभाषा	real definition
विदेह	disembodied
विधायी नियम	prescriptive law
विवृत-प्रश्न-प्रविधि	open question technique
विवृत वर्ग	open class
विशेष	particular
विश्लेषण	analysis
विश्व-कारण-युक्ति	cosmological argument
विश्वास	belief
व्यंजना	suggestion

व्यक्तिगत अनन्यता	personal identity
व्यवहारवाद	behaviourism
व्यष्टि	individual
व्यष्टीयन	individuation
व्याख्या	explanation
व्याघात	contradiction
शब्द-प्रयोग-विज्ञान	pragmatics
शब्दार्थ-विज्ञान	semantics
शील-गुणधर्म	dispositional property
शुद्धाचारवादी	puritan
शुभ	good
शुभ संकल्प	good will
श्रुति	revelation
संकल्प	volition
संकल्पना	conception
संकेत	sign
संकेतक	pointer
संक्षेप-कथन	summary statement
संगति	consistency
संज्ञानात्मक अर्थ	cognitive meaning
संपुष्टि-योग्यता	confirmability
संपुष्टीकरण	confirmation
संपृक्तार्थ	connotation
संप्रत्यय	concept
संप्रत्यय-इंद्रियानुभववाद	concept-empiricism
संप्रत्यय-तर्कबुद्धिवाद	concept-rationalism
संप्रत्ययवाद	conceptualism
संप्रत्ययीकरण	conceptualization
संबंधज विशेषताएँ	relational characteristics
संभवता	possibility
संयोग	chance

संयोजक	connective
संवाद	correspondence
संवृति	phenomenon
संवृति-जगत्	phenomenal world
संवृतिवाद	*phenomenalism*
संवेग	emotion
संवेग-सिद्धांत	*emotive theory*
संवेगात्मक अर्थ	emotive meaning
संवेदन	sensation
संवेद्यार्थ	sensibilia
संशयवाद	scepticism
संश्लेषण	synthesis
संसक्तता	coherence
सत्	right
सत्तामीमांसा	ontology
सत्य	truth (=a true proposition)
सत्यता	truth
सत्यापन	verification
सद्गुण	virtue
सबल प्रत्ययवाद	strong idealism
समुच्चयबोधक शब्द	conjunction
सहज विशेषताएँ	intrinsic characteristics
सर्वव्यापीकरणीयता	universalizability
सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति	universal proposition
सांतत्यक	continuum
सांस्कृतिक सापेक्षवाद	cultural relativism
सादृश्य	resemblance, analogy
साधन-मूल्य	instrumental value
सामान्य	universal
सामान्य बुद्धि	common sense
सामान्यीकरण	generalization

साम्य	resemblance, analogy
साम्यानुमान	analogy
सुख	pleasure
सुखवाद	hedonism
सीमास्पर्शी	border-line
स्वतःशुभ	intrinsic good
स्वतोव्याघात	self-contradiction
स्वनिर्मित परिभाषा	stipulative definition
स्वर्ण-नियम	golden rule
स्वव्याघात	self-contradiction
हेतु	reason
हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति	hypothetical proposition

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	नीचे से ८	कराता	करता
४	,, से १८	जिसके	जिनके
५	,, से १	कए	एक
,,	,, से २	तब होता है	तब होती हैं
,,	,, से ३	एक किसी	किसी
७	ऊपर से ११	तरह की	तरह भी
८	,, से ४	पर बने	पर बनी
१०	नीचे से १०	जिनका बोतल	जिसका बोतल
१५	,, १	उलझब	उलझन
,,	,, १८	उसके	उसके लिए
१८	,, १२	अनुच्छेद	परिच्छेद
१९	ऊपर से ३	ब का	ब
२०	,, १	संवेदात्मक	संवेगात्मक
२१	,, १३	अप्रभू	अपभ्रू
,,	,, १४	,,	,,
२५	,, ३	जय	जब
३१	नीचे से ७	यह	यह यह
३३	,, १४	इसमें	इससे
३५	ऊपर से ३	आग	आगे
४०	,, ११	द	क
,,	नीचे से ५	पारिभाषिक	परिभाषक
४१	,, ७	पारिभाषिक	तकनीकी
,,	,, १०	अ में	अ स
४२	,, ३	पारिभाषिक	परिभाषक

———

लगती है, क्योकि इसका ऐसा प्रयोग लगभग सभी करते है। जो व्यक्ति दूसरे को "फिरगी" कहता है वह स्वय अपनी भावना को भी उतना ही प्रकट करता है जितना उस अन्य व्यक्ति की राष्ट्रीयता को, परतु "अनुदार" या "उदार" के प्रसग मे यह बात नही है, क्योकि इन शब्दो का अर्थ वक्ता या श्रोता की उन व्यक्तियो के प्रति भावना से बिल्कुल स्वतत्र है जिनका इनसे बोध होता है।

"वह साम्यवादी है" और "वह पुलिस का भेदिया है" का अतर देखिए।

"वह पुलिस का भेदिया है" और "वह पुलिस को सूचना देता है" के अर्थो मे कोई अतर है, यह दिखाने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नही है कि पहली बात जिसको लक्ष्य करके कही जा रही है उस व्यक्ति के प्रति प्रतिकूल भावनाएँ पैदा करनेवाली है जबकि दूसरी नही। परतु यदि "वह पुलिस का भेदिया है,' कहने मे वक्ता उस व्यक्ति के प्रति प्रतिकूल भावनाए उत्पन्न होने के लिए दायित्व अपने ऊपर ले रहा है तथा "वह पुलिस को सूचना देता है" कहने मे ऐसा कोई दायित्व नही ले रहा है, तो अर्थ मे अवश्य अतर है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जाएगा कि अर्थ मे अतर तब होगा जब "वह पुलिस का भेदिया है" कहने के बाद मैं यह मानने के लिए तैयार होऊँ कि यह सुनकर किसी का "वह जो कर रहा है उसमे क्या दोष है ?" पूछना अनुचित नही है। और ऐसा लगता है कि यहाँ अतर अवश्य है—किसी वाक्य को कहने मे वक्ता जिन स्थितियो के लिए अपने ऊपर दायित्व लेने के लिए तैयार है उनके समुच्चय के अदर यदि हम उनमे, जिनका सबध वक्ता की अभिवृत्तियो और भावनाओ से है तथा जिनका अन्य बातो से है, भेद दिखा सकें, तो हम वाक्य के "सवेगात्मक अर्थ" और "सज्ञानात्मक अर्थ" मे अतर कर सकते है। इस प्रकार, "वह पुलिस का भेदिया है" के लिए निम्नलिखित स्थितियाँ बताई जा सकती है—

१ सदर्भ के अनुसार कोई पुरुष विशेष चुना गया है।

२. वह व्यक्ति पुलिस को सूचना देता है।

३. इस तरह की हरकत के प्रति वक्ता की प्रतिकूल भावना है।

हम कह सकते हैं कि १ और २ वाक्य के "सज्ञानात्मक अर्थ" को बताते हैं और ३ उसके "सवेगात्मक अर्थ" को। पर, हमारा "साम्यवादी" का केवल इस आधार पर "सवेगात्मक अर्थ" बताना उचित न होगा कि यह विशेषत प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ पैदा करता है। इसके लिए हमे यह भी देखना होगा कि क्या हम इस शब्द का सदैव इस तरीके से प्रयोग करने के अभ्यस्त है कि इसके

उच्चारण मे प्रतिकूल भावनाओ के शामिल रहने के लिए दायित्व हम अपने ऊपर लेने को तैयार हैं।[1] संक्षेप मे, "साम्यवादी" के अर्थ मे यह बात नही है कि स्थिति ३ मौजूद है ; परंतु "भेदिया" के अर्थ मे यह शामिल है। दूसरे रूप मे यह कहा जा सकता है कि किसीको भेदिया कहने मे वक्ता की प्रतिकूल भावना एक परिभाषक विशेषता है, जबकि किसीको साम्यवादी कहने मे ऐसा नही है। और एक बार परिभाषक बन जाने पर विशेषता शब्द के अर्थ का अंग हो जाती है। एक आदमी किसी साम्यवादी की प्रशसा के साथ चर्चा कर सकता है और इस शब्द का उसका प्रयोग सही होगा ; परंतु यदि किसी ऐसे आदमी की उसने प्रशसा की जो पुलिस को सूचना देता है तो "भेदिया" शब्द का प्रयोग करना उसके लिए उचित न होगा : उसे तो कोई दूसरा शब्द चुनना होगा, क्योंकि इस शब्द के प्रयोग में ही (इसके अर्थ के एक अंश के रूप मे) निर्दिष्ट व्यक्ति के प्रति प्रतिकूल भावना निहित है।

"संवेगात्मक अर्थ" को हम सचमुच अर्थ माने या न मानें अथवा भले ही हम उसे अब भी "प्रभाव" ही कहना पसद करे, यह ध्यान मे रखना अच्छा रहेगा कि दो शब्दो के "सज्ञानात्मक अर्थ" मे कुछ-न-कुछ अतर हुए बिना उनके "सवेगात्मक अर्थ" मे अतर हो, ऐसा बहुत ही कम होता है। 'साँड" और "बैल" के सवेगात्मक अर्थ अलग हैं ; पर इसका कारण केवल यह है कि इनके संज्ञानात्मक अर्थ भी अलग हैं : प्रत्येक बैल साँड नही होता—किसान का हल खीचनेवाला मरियल बैल बैल है, पर साँड नही। 'समझौता" और "तुष्टीकरण" के सवेगात्मक अर्थ भिन्न हैं (दूसरा प्रायः अप्रिय होता है जबकि पहला उतना नही); परतु यदि हम शब्दो के प्रयोग को बारीकी से जाँचें तो हम देखेंगे कि दोनो का संज्ञानात्मक अर्थ भी एक नहीं है : भारतीय गणतंत्र के संस्थापकों को हम समझौता करनेवाले कह सकते हैं (सविधान पर सर्वसम्मति प्राप्त करने के लिए उन्हे समझौता करना पड़ा); पर तुष्ट करनेवाले नही। तुष्ट करनेवाला किसी दूसरे की प्रसन्नता के लिए अपने सारे सिद्धातों को छोड सकता है ; पर समझौता करनेवाला जिन आधारभूत सिद्धातों में आस्था रखता है उन्हें कदापि नही छोड़ेगा, केवल उन मोटी बातों पर झुकेगा जिनका वह मौलिक से कम महत्त्व मानता है।

१. विलियम पी० ऑल्सटन, फिलासफी ऑफ लैंग्वेज, पृष्ठ ४७।

प्रभावी परिभाषा—एक और भी प्रकार की परिभाषा बनाई गई है, जो "सवेगात्मक अर्थ" पर आधारित है (याद रहे कि यह अर्थ स्वय "गौण अर्थ" का एक अश मात्र है)। जब कोई शब्द या शब्द-समुच्चय पहले मे ही एक अनुकूल सवेगात्मक अर्थ ग्रहण कर चुका होता है, तब लोग उसका प्रयोग प्राय उसके साधारण सज्ञानात्मक अर्थ से भिन्न अर्थ के साथ करना चाहते हैं ताकि जो अनुकूल सवेगात्मक अर्थ वह पहले ही प्राप्त कर चुका है उसका लाभ उठाया जा सके। मान लीजिए कि "सुसस्कृत" शब्द ने किसी समय "कलाओ का जानकार", यह सज्ञानात्मक अर्थ ग्रहण कर लिया था। अब मान लीजिए कि कलाओ का जानकार होना (सबधित समाज में) सम्मानसूचक समझा जाता है। तब, धीरे-धीरे "सुसस्कृत" शब्द अपने सज्ञानात्मक अर्थ के अतिरिक्त एक अनुकूल सवेगात्मक अर्थ भी ग्रहण कर लेता है। ऐसा हो चुकने के बाद "सुसस्कृत" शब्द की इस अनुकूल सवेगात्मक अर्थ का उपयोग करने के लिए नए सिरे से परिभाषा देने के सब तरह से प्रयत्न किए जाते है। इस प्रकार सायभोज के बाद वक्ता कह सकता है कि "सच्ची सस्कृति कलाओ की नही बल्कि विज्ञान और शिल्प की जानकारी होने में है।" वास्तव मे, शब्द का सच्चा या सही अर्थ नाम की कोई चीज नही होती होते है केवल साधारण और असाधारण अर्थ तथा सुनिश्चित और अनिश्चित अर्थ। परतु, श्रोता लोग इन अतरो का ध्यान नही रखते और वक्ता "सस्कृति" शब्द पहले जो अच्छा सवेगात्मक अर्थ ग्रहण कर चुका है उसका सफलता के साथ उपयोग करते हुए विज्ञान और शिल्प के प्रति उनकी भावना को, जैसा कि वह चाहता है, अनुकूल बना देता है। इस प्रकार उसने "सुसस्कृत" शब्द की एक प्रभावी परिभाषा दी है : उसने इस शब्द के साथ एक भिन्न सज्ञानात्मक अर्थ जोड दिया है, जबकि *सवेगात्मक अर्थ वही बना हुआ है। उसने सवेगात्मक अर्थ को ज्यो-का-त्यों* बनाए रखते हुए सज्ञानात्मक अर्थ को बदलकर एक प्रकार की हाथ की सफाई दिखाई है (शायद स्वय यह न जानते हुए) तथा शायद यह आशा की है कि श्रोताओ का इस परिवर्तन पर ध्यान नही जाएगा।

निश्चय ही यह बात प्रतिकूल सवेगात्मक अर्थ को लेकर भी हो सकती है : कोई यह चाह सकता है कि उसके श्रोता किसी एक चीज के प्रति प्रतिकूल भाव अपना लें और अनुकूल भाव भी, और वह प्रतिकूल भाव जगाने के लिए इस युक्ति का उपयोग कर सकता है। इस प्रकार "हरामी" शब्द कभी केवल अवैध

संतान का अर्थ रखता था ; परंतु चूंकि लोगों की ऐसों के प्रति जिनकी अवैध सतान हो तथा इसके कानूनी परिणामो के प्रति भावना प्रतिकूल होती है, इसलिए लोगो ने इस प्रतिकूल सवेगात्मक अर्थ का लाभ इस शब्द को नए और भिन्न सज्ञानात्मक अर्थ देने के लिए उठाया, जैसे, "वह असली हरामी है"—जिसका अर्थ यह नही है कि वह एक अवैध सतान है बल्कि यह है कि घृणा करने योग्य है, इत्यादि ।

अनेक शब्दों की—विशेषत. राजनीति, आचारनीति, धर्म और कला-जैसे विवादप्रधान विषयो में—निरंतर प्रभावी परिभाषाएँ दी जाती है । ऐसी परिभाषाओ से सतर्क रहना ही अच्छा है । यह निष्कर्ष निकालने की जरूरत नही है कि भावी परिभाषाएँ अनिवार्य रूप से और सदैव बुरी चीजें होती हैं । पाठकों को यह सलाह भी नही दी जा रही है कि वे कभी प्रभावी परिभाषाओं का उपयोग या समर्थन न करें । असल बात तो यह है : यदि आपके ऊपर प्रभावी परिभाषा का प्रयोग किया जा रहा है, तो आपमे इतनी समझ हो कि आप उसकी असलियत को पहचान लें । आप जान लें कि क्या हो रहा है । और सबसे बड़ी बात यह है कि आप प्रभावी परिभाषा के प्रभाव में न आएँ और उस तरह गलत निष्कर्ष उससे न निकालें जिस तरह (ऊपर दिए उदाहरण में) भोज के बाद भाषण में "संस्कृति" की प्रभावी परिभाषा को सुनकर उस आदमी ने निकाला था जिसने कहा था, "हाँ, हाँ, शायद यही सच्ची संस्कृति है ।"

"दर्शन" की परिभाषा—जितने बहुत-सारे शब्दो और शब्द-समुच्चयों की प्रभावी परिभाषा दी जाती है उनमें से हमारे लिए सबसे अधिक रोचक शब्द स्वयं "दर्शन" है । दार्शनिक छानवीन में लगे होने का दावा करनेवाले विभिन्न लोगो ने इस विषय के वे भाग पकड़े हैं जो उन्हे सबसे अधिक रोचक लगे हैं अथवा जो उन्हे सर्वाधिक महत्त्व के लगे हैं । उन्होने "दर्शन" की परिभाषा केवल उन्ही भागो को दृष्टि में रखकर दी है तथा इस प्रकार अन्य भागों को पकडकर चलनेवालो (जिनमें विश्वविद्यालयो तथा कालेजों के दर्शन के अनेक प्राध्यापक भी शामिल हैं) को अदार्शनिको की श्रेणी में धकेल दिया है । (इस परिभाषा से जो समूह छूट गया है उसमें से प्रत्येक अवश्य ही स्वयं एक प्रभावी परिभाषा बनाकर पहले समूह को बाहर धकेल देगा ।) छायावादी का यह कथन कि "मैथिलीशरण गुप्त कवि नही थे" और दार्शनिक विश्लेषण-वादी के बारे में यह कथन कि "वह आदमी दर्शन का कोई काम नही कर

रहा है" दोनों ही "कवि" और "दर्शन" शब्दों के अनुकूल संवेगात्मक अर्थ (या संवेगात्मक प्रभाव) का अपने विशेष वर्ग को पूरे-क्षेत्र का एकछत्र आधिपत्य दिलाने के लिए लाभ उठाते है। विश्लेषणवादी प्रवृत्ति का कोई लेखक दर्शन को "संप्रत्ययात्मक विश्लेषण" से अभिन्न मानेगा, तथा जो धारणाओं की स्पष्टता को लक्ष्य बनाए बिना परिकल्पना की उड़ानें भरना अधिक पसंद करता है वह कहेगा कि "दर्शन संपूर्ण अनुभव की व्यवस्थाबद्ध व्याख्या है"। पहला परिकल्पना के लिए, जिसे कि दूसरा इतना ऊँचा स्थान देता है, कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता, और दूसरा निस्संदेह यह बताने में असमर्थ रहेगा कि 'व्याख्या' और 'अनुभव' से इस संदर्भ में उसका क्या मतलब है, क्योंकि दोनों ही शब्द, विशेषतः एक-दूसरे के साथ मिलाकर रख दिए जाने की अवस्था में, स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते है। (हम जानते है कि एक गूढ़ कथन की या कविता के एक कठिन अंश की व्याख्या क्या होती है: वहाँ हम अर्थ को सरल शब्दों में बताने की चेष्टा करते है। पर, अनुभव की व्याख्या क्या होती है? ऐसी परिभाषाएँ प्रायः गड़बड़ी को घटाती कम है और बढ़ाती हैं अधिक।) इस प्रकार के पारस्परिक विरोधों के कारण बर्ट्रेण्ड रसेल को "दर्शन" की ये विनोदपूर्ण परिभाषाएँ देनी पड़ी हैं: "दर्शन वह है जिसका अध्ययन हमारे विश्वविद्यालयों और कालेजों के दर्शनविभागों में किया जाता है" तथा "दर्शन उन शब्दों का व्यवस्थित तरीके से दुरुपयोग है जिन्हें जान-बूझकर इसी काम के लिए बनाया गया है।"

फिर भी, हम दर्शन की कुछ मुख्य परिभाषक विशेषताएँ बताने की कोशिश कर लें: (१) दर्शन का काम हमारे संप्रत्ययों या विचारों को स्पष्ट करना है, और तदनुसार हमारे आधारभूत शब्दों के प्रयोग को अधिक साफ कर देना है। और चूँकि इसका जिन संप्रत्ययों से संबंध है वे बहुत ही सूक्ष्म होते हैं, इसलिए दार्शनिकों-द्वारा "आपका क्या मतलब है?" प्रकार के प्रश्न बार-बार और विशेष रूप से पूछे जाते हैं। दर्शन के इस पक्ष को दार्शनिकों का "संप्रत्ययात्मक-विश्लेषणवादी" वर्ग विशेष महत्त्व देता है। (२) दर्शन सर्वाधिक सामान्य प्रश्नों और समस्याओं का विवेचन करता है: "कुर्सी क्या है?" का नहीं बल्कि "भौतिक वस्तु क्या है?" का; आपके और मेरे मन की बातों का नहीं बल्कि "मन क्या है?" का; आपके या मेरे स्वतंत्र कर्मों के मनोविज्ञान का नहीं बल्कि "स्वतंत्रता क्या है?" का; आपके या मेरे उचित या

अनुचित कर्मों का नहीं "बल्कि कर्म का औचित्य क्या होता है ?" का । यह सामान्यता इतनी बड़ी है कि किसी भी विशेष विज्ञान की सीमाओं के अंदर नहीं समाती । असल में, कभी-कभी कहा भी गया है कि दर्शन "सभी विज्ञानों का समन्वय" है (हालांकि इसका प्रायः प्रतिवाद किया जाता है) । (३) दर्शन का काम न प्रमाणों से अपुष्ट आनुषंगिक उक्तियों से आगे बढ़ता है और न प्रयोग से (दर्शन की कोई प्रयोगशाला नहीं होती), बल्कि तर्क और युक्ति से आगे बढ़ता है । दर्शन का विषय कितने ही महत्त्व का क्यों न हो अथवा उसका क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, दैवी घोषणा की तरह के कथन ("जगत् मूलतः आध्यात्मिक है") शायद ही दर्शन कहलाने के योग्य होंगे । ऐसा कथन केवल तभी इस योग्य होगा जब उसका मंडन (या खंडन) आप्तवचन, अंतःप्रज्ञा या आस्था का आश्रय लेकर नहीं बल्कि तर्क के द्वारा होता है । उक्त चीजों का आश्रय लेना दर्शनोचित प्रणाली को त्याग देना है, भले ही कथन कितना ही सामान्य या महत्त्व का क्यों न हो । (४) दर्शन चरम प्रश्न पूछता है । वह 'आप कैसे जानते है ?" प्रकार के प्रश्न पूछकर, जो कथन सबसे अधिक स्वतःप्रमाण प्रतीत होते है (जैसे "अ अ है") उन तक के आधारों के बारे में छानबीन करके, प्रत्येक अन्य विषय की बुनियादों और पूर्वमान्यताओं की जाँच-पड़ताल करता है । वह सब विशेष विज्ञानो, कलाओं और धर्मशास्त्र के आधारों को लेकर प्रश्न पूछता और जाँच-पड़ताल करता है । दर्शन यह नहीं पूछता कि "लोगों के धार्मिक विश्वास क्या है ?", "उनकी धार्मिक संस्थाएं क्या है ?" (जैसा समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी पूछते है), बल्कि यह पूछता है कि "हम कैसे जानते है कि वे सत्य है ? क्या उनका आधार ठोस है ?"

निष्पक्ष रहने की चेष्टा करते-करते भी हो सकता है कि इन विशेषताओं की सूची बनाने में हमने स्वयं ही "दर्शन" की एक और प्रभावी परिभाषा दे डाली हो । जो भी हो, इस पुस्तक में हम "आलोचनात्मक" (विश्लेषणात्मक) और "परिकल्पनात्मक" दोनों ही प्रकार के दर्शन की काफी अधिक चर्चा करेंगे । हम मानवीय स्वतंत्रता, मन, ईश्वर, शुभ और अनेक अन्य समस्याओं के बारे में जो विभिन्न सिद्धांत है उन्हें प्रस्तुत करेंगे और उनका मूल्यांकन करेंगे ; परतु इन गूढ और बहुत ही सूक्ष्म बातों की छानबीन संप्रत्ययों का एक ठोस आधार तैयार किए बिना व्यर्थ होगी । तदनुसार प्रत्येक समस्या की चर्चा के साथ हम ज्ञानविषयक प्रश्नों के स्पष्टीकरण और समाधान के लिए

एक अनिवार्य साधन के रूप मे पहले प्राय. अर्थ-विषयक प्रश्नो की चर्चा करेंगे। प्रश्नो का विषय जो भी होगा, प्रक्रिया हम यही अपनाएँगे। मुख्य विषय ये होगे : (१) तत्त्वमीमासा, जो वास्तविकता के स्वरूप का विवेचन करती है, अथवा, सरल शब्दो मे, "क्या है ?" पूछती है। उदाहरण के बतौर, "क्या केवल पुद्गल और ऊर्जा का ही अस्तित्व है ?" (क्या भौतिकवाद सही है ?), एक तत्त्वमीमासीय प्रश्न है। (२) ज्ञानमीमासा जो भी अस्तित्व मे है उसके बारे मे हमारे ज्ञान से सबध रखती है। हम कैसे जानते है कि भौतिक जगत् का अस्तित्व है, अन्य लोगो को चेतना है, कि इलेक्ट्रोन, चुबकीय क्षेत्र, ईश्वर तथा अन्य जितनी भी चीजें इद्रियगम्य नही है वे अस्तित्व रखती है ? (३) मूल्यमीमासा, विशेषत. नीतिशास्त्रीय प्रश्न (शुभ जीवन क्या है ? हमे किस प्रकार के कर्म करने चाहिए ?) तथा सौंदर्यमीमासीय प्रश्न (सौंदर्य क्या है ? किसी कलाकृति का मूल्य किस बात पर निर्भर होता है ? सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति, अर्थ, प्रतीकवाद इत्यादि क्या है ?)। परतु प्रणाली सब मे वही है . उलझे हुए अर्थविषयक प्रश्नो का पर्याप्त विश्लेषण कर चुकने के बाद प्रत्येक विषय को लेकर दार्शनिक कार्य यह होगा कि इनमे से प्रत्येक क्षेत्र मे जो-जो विश्वास है उसके आधार को जाँचने की व्यवस्थित और तर्कपूर्ण चेष्टा की जाएगी।

निदर्शनात्मक परिभाषा

परिभाषा करने की जिन प्रणालियो की अब तक चर्चा की जा चुकी है उनमे शब्द का अर्थ अन्य शब्दो के द्वारा बताया जाता है , यानी वे शाब्दिक परिभाषाएँ थी। परतु, सब परिभाषाएँ शाब्दिक नही होती।

एक क्षण के लिए मान लीजिए कि हमारे पास केवल शाब्दिक परिभाषाएँ है। तब प्रत्येक शब्द की परिभाषा बताई जाएगी और ऐसा करते हुए अन्य शब्दो का प्रयोग किया जाएगा। ऐसा करना हमारे लिए केवल तभी उपयोगी होगा जब हम उन अन्य शब्दो का अर्थ पहले से जानते हो। हमे कैसे पता चलेगा कि उनके क्या अर्थ हैं ? जब उनके अर्थ को कोई और भी अन्य शब्दो के द्वारा समझाएगा और यह प्रक्रम आगे भी चलता रहेगा ? लेकिन, यह अनत काल तक तो चल नही सकता ? क्या हमे अत मे एक ऐसी जगह नही पहुँच जाना होगा जहाँ शब्दो को अन्य शब्दो के साथ नही बल्कि सीधे वस्तुओ से जोडा

जाए ? अन्यथा हम सदा अपने शब्दों के चक्र में ही फँसे रह जाएँगे। यदि हम जल्दी या देर में ऐसी जगह नही पहुँचते जहाँ हम शब्द को सीधे वस्तु से जोड़ते है—कभी इशारे से, कभी अधिक जटिल अशाब्दिक उपायों से—तो शब्द-जगत् वस्तु-जगत् से सदा के लिए पृथक् हो जाएगा। शब्द के अर्थ को इशारे इत्यादि अशाब्दिक उपायो से स्पष्ट करने के तरीके को निदर्शनात्मक परिभाषा कहते है।

निदर्शनात्मक परिभाषा मे उस शब्द को छोड़कर जिसकी परिभाषा देनी है, किसी अन्य शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही होती। कोई कह सकता है कि तब तो उसे परिभाषा कहना ही नही चाहिए। लेकिन यह तो इस बात को लेकर एक शाब्दिक मतभेद हुआ कि हम "परिभाषा" शब्द का कितने विस्तार के साथ प्रयोग करना चाहते है। परतु, हम उसे परिभाषा कहें या न कहें, किसीको किसी शब्द का अर्थ समझाने का एक तरीका वह है ही। जैसा कि नाम से ही प्रकट है, निदर्शनात्मक परिभाषा आपको शब्द के वस्त्वर्थ का एक निदर्शन या नमूना बताती है। किसीको एक पीपल का पेड़ दिखाना "पीपल का पेड़" की निदर्शनात्मक परिभाषा देना होगा। "पीपल का पेड़" (और साथ ही इशारा भी करना) के अलावा और किसी भी शब्द का प्रयोग करने की यहाँ जरूरत नही है।

शब्दो को दुनिया से जोड़ने के लिए हमे निदर्शनात्मक परिभाषा चाहिए। यह सबसे मौलिक प्रकार की परिभाषा होती है—इस बात मे कि उसके बिना कोई भी अन्य प्रकार की परिभाषा शुरू तक नही की जा सकती। निदर्शनात्मक परिभाषा के बिना हम शब्दो के अर्थ सीखना शुरू ही कैसे कर पाते ? जब हमने अपना पहला शब्द सीखा था, तब यदि केवल अन्य शब्द बोले गए होते तो हम उसका अर्थ न सीख पाए होते, क्योकि हमे उनके अर्थों का ही पता न होता। वास्तव में, संभवतः हमने साधारण जीवन में काम आनेवाले अधिकतर शब्द निदर्शन के द्वारा सीखे थे, हालाँकि अब वयस्क हो जाने पर शब्दो का एक विशाल भडार हमारे पास हो जाने के बाद हम अधिकतर नए शब्दों को उन शब्दों की सहायता से सीखते है।

हम किसी शब्द का अर्थ इशारे से कैसे सीख पाते हैं ? यदि माँ मेज की ओर इशारा करके कहती है "मेज", तो इससे हम कैसे जान सकते है कि "मेज" का क्या अर्थ है ? हम जान सकते है कि यह वस्तुविशेष "मेज" कहलाती है ;

पर वहाँ पर जो चीज है उसे कैसे जानेंगे ? क्या वह भी मेज है ? अब माँ एक और इशारा करेगी और कहेगी "कुर्सी"। फिर, यहाँ पर यह चीज क्या है ? यह दूसरी की अपेक्षा पहली के समान अधिक दिखाई देती है। हाँ, इसके लिए भी वह "मेज" कहती है। और वह कोनेवाली चीज ? वह भी कुछ-कुछ अन्यो की तरह लगती है। नही, इसके लिए वह कहती है "डेस्क"। जिन दो चीजो को उसने "मेज" कहा था वे उस चीज की अपेक्षा जिसे उसने "कुर्सी" कहा था, आपस मे अधिक समान थे।

या आपने सोचा होगा कि पहली मेज और दूसरी मेज परस्पर जितनी समान हैं उससे अधिक समान डेस्क और पहली मेज आपस मे है। इससे आप परेशानी मे पड गए थे। तब आपको बैठकर यह सोचना पडा कि डेस्क मे ऐसी क्या बात है जो शेष दो चीजो से भिन्न है। आखिर डेस्क भूरे रग की है, पहली मेज भूरे रग की है और दूसरी मेज सफेद है। इसलिए वह बात रग नही है। डेस्क वर्गाकार है, पहली मेज वर्गाकार है और दूसरी मेज गोलाकार है। इसलिए वह बात शक्ल भी नही है। हो सकता है कि डेस्क के ऊपर कुछ अजीब-सी दिखाई देनेवाली चीजें लगभग फर्श तक फैली हुई रही हो, जिन्हे आप खीचकर निकाल सकते थे, पर पहली और दूसरी मेज पर ऐसी कोई चीजें न रही हो। अथवा हो सकता है कि माँ कागज और कलम लेकर डेस्क पर लिखने का काम करती रही हो और यही वह भेद पैदा करनेवाली बात हो। इस प्रकार अपाकर्षण के क्रमिक प्रक्रम से (उन विशेषताओ को छाँटते हुए जो एक नामवाली सभी चीजो मे हो, पर वह नाम न रखनेवाली शेष चीजो मे से किसी मे न हो) आपको उस बात की काफी अच्छी जानकारी हो गई होगी जिससे माँ का इन शब्दो का प्रयोग करते समय अभिप्राय था।

हम यह नही चाहते कि आप इसे उस प्रक्रम का एक हू-ब-हू सही वर्णन समझें जिसमे से आप शब्दो को सीखते समय गुजरे थे, खास तौर से बहुत छोटी आयु मे यह प्रक्रम इतना अधिक सुव्यक्त शायद ही रहा होगा। फिर भी कुछ-कुछ इसी तरह का प्रक्रम चला होगा, अन्यथा वयस्क होने पर आप कभी इन शब्दो का प्रयोग अपने माता-पिता के समान न कर पाते, यहाँ तक कि उन शब्दो का भी नही जो ऐसी वस्तुओ के बोधक होते हैं जिन्हे आपने पहले कभी नही देखा। निश्चय ही, आपने उन्हे शब्दो की सहायता से नही सीखा ; ऐसे प्रौढ शायद ही होगे जिन्होने स्वय से कभी यह पूछा हो कि "मेज" की परिभाषा क्या है ?

जाए ? अन्यथा हम सदा अपने शब्दों के चक्र में ही फँसे रह जाएँगे । यदि हम जल्दी या देर मे ऐसी जगह नही पहुँचते जहाँ हम शब्द को सीधे वस्तु से जोड़ते है—कभी इशारे से, कभी अधिक जटिल अशाब्दिक उपायों से—तो शब्द-जगत् वस्तु-जगत् से सदा के लिए पृथक् हो जाएगा । शब्द के अर्थ को इशारे इत्यादि अशाब्दिक उपायों से स्पष्ट करने के तरीके को निदर्शनात्मक परिभाषा कहते है ।

निदर्शनात्मक परिभाषा में उस शब्द को छोड़कर जिसकी परिभाषा देनी है, किसी अन्य शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही होती । कोई कह सकता है कि तब तो उसे परिभाषा कहना ही नही चाहिए । लेकिन यह तो इस बात को लेकर एक शाब्दिक मतभेद हुआ कि हम "परिभाषा" शब्द का कितने विस्तार के साथ प्रयोग करना चाहते है । परतु, हम उसे परिभाषा कहें या न कहें, किसीको किसी शब्द का अर्थ समझाने का एक तरीका वह है ही । जैसा कि नाम से ही प्रकट है, निदर्शनात्मक परिभाषा आपको शब्द के वस्त्वर्थ का एक निदर्शन या नमूना बताती है । किसीको एक पीपल का पेड़ दिखाना "पीपल का पेड" की निदर्शनात्मक परिभाषा देना होगा । "पीपल का पेड़" (और साथ ही इशारा भी करना) के अलावा और किसी भी शब्द का प्रयोग करने की यहाँ जरूरत नही है ।

शब्दो को दुनिया से जोड़ने के लिए हमे निदर्शनात्मक परिभाषा चाहिए । यह सबसे मौलिक प्रकार की परिभाषा होती है—इस बात में कि उसके बिना कोई भी अन्य प्रकार की परिभाषा शुरू तक नही की जा सकती । निदर्शनात्मक परिभाषा के बिना हम शब्दो के अर्थ सीखना शुरू ही कैसे कर पाते ? जब हमने अपना पहला शब्द सीखा था, तब यदि केवल अन्य शब्द बोले गए होते तो हम उसका अर्थ न सीख पाए होते, क्योकि हमे उनके अर्थों का ही पता न होता । वास्तव मे, संभवत. हमने साधारण जीवन में काम आनेवाले अधिकतर शब्द निदर्शन के द्वारा सीखे थे, हालाँकि अब वयस्क हो जाने पर शब्दों का एक विशाल भडार हमारे पास हो जाने के बाद हम अधिकतर नए शब्दों को उन शब्दों की सहायता से सीखते है ।

हम किसी शब्द का अर्थ इशारे से कैसे सीख पाते हैं ? यदि माँ मेज की ओर इशारा करके कहती है "मेज", तो इससे हम कैसे जान सकते है कि "मेज" का क्या अर्थ है ? हम जान सकते है कि यह वस्तुविशेष "मेज" कहलाती है ;

पर वहाँ पर जो चीज है उसे कैसे जानेंगे ? क्या वह भी मेंज है ? अब माँ एक और इशारा करेगी और कहेगी "कुर्सी"। फिर, यहाँ पर यह चीज क्या है ? यह दूसरी की अपेक्षा पहली के समान अधिक दिखाई देती है। हाँ, इसके लिए भी वह "मेज" कहती है। और वह कोनेवाली चीज ? वह भी कुछ-कुछ अन्यों की तरह लगती है। नहीं, इसके लिए वह कहती है "डेस्क"। जिन दो चीजों को उसने "मेज" कहा था वे उस चीज की अपेक्षा जिसे उसने "कुर्सी" कहा था, आपस में अधिक समान थे।

या आपने सोचा होगा कि पहली मेज और दूसरी मेज परस्पर जितनी समान हैं उससे अधिक समान डेस्क और पहली मेज आपस में हैं। इससे आप परेशानी मे पड़ गए थे। तब आपको बैठकर यह सोचना पडा कि डेस्क मे ऐसी क्या बात है जो शेष दो चीजों से भिन्न है। आखिर डेस्क भूरे रंग की है, पहली मेज भूरे रंग की है और दूसरी मेज सफेद है। इसलिए वह बात रंग नही है। डेस्क वर्गाकार है, पहली मेज वर्गाकार है और दूसरी मेज गोलाकार है। इसलिए वह बात शक्ल भी नही है। हो सकता है कि डेस्क के ऊपर कुछ अजीब-सी दिखाई देनेवाली चीजें लगभग फर्श तक फैली हुई रही हों, जिन्हे आप खींचकर निकाल सकते थे, पर पहली और दूसरी मेज पर ऐसी कोई चीजें न रही हों। अथवा हो सकता है कि माँ कागज और कलम लेकर डेस्क पर लिखने का काम करती रही हो और यही वह भेद पैदा करनेवाली बात हो। इस प्रकार अपाकर्पण के क्रमिक प्रक्रम से (उन विशेषताओं को छाँटते हुए जो एक नामवाली सभी चीजों में हों, पर वह नाम न रखनेवाली शेष चीजों में से किसी में न हों) आपको उस बात की काफी अच्छी जानकारी हो गई होगी जिससे माँ का इन शब्दों का प्रयोग करते समय अभिप्राय था।

हम यह नहीं चाहते कि आप इसे उस प्रक्रम का एक हू-ब-हू सही वर्णन समझें जिसमें से आप शब्दो को सीखते समय गुजरे थे ; खास तौर से बहुत छोटी आयु में यह प्रक्रम इतना अधिक सुव्यक्त शायद ही रहा होगा। फिर भी कुछ-कुछ इसी तरह का प्रक्रम चला होगा, अन्यथा वयस्क होने पर आप कभी इन शब्दों का प्रयोग अपने माता-पिता के समान न कर पाते, यहाँ तक कि उन शब्दों का भी नही जो ऐसी वस्तुओं के बोधक होते हैं जिन्हें आपने पहले कभी नही देखा। निश्चय ही, आपने उन्हें शब्दो की सहायता से नहीं सीखा ; ऐसे प्रौढ शायद ही होंगे जिन्होंने स्वयं से कभी यह पूछा हो कि "मेज" की परिभाषा क्या है ?

निदर्शनात्मक परिभाषाएँ देने और उन्हे सीखने का काम किसी चीज की ओर इशारा करने और एक शब्द का उच्चारण कर देने मात्र से कही अधिक विशद होता है। कम-से-कम इतना तो होता ही है कि इशारे और उच्चारण क्रम से अनेक बार किए जाते है, ताकि आप उस बात का चिंतन कर सकें जो एक ही नामवाली चीजो मे समान है और उनमे नही है जिन्हे वह नाम नही दिया गया है। वास्तव मे, मेज की ओर केवल एक बार इशारा किए जाने से आप न जान पाते कि अभिप्राय किससे है—स्वय मेज से, उसके रग से, उसकी शक्ल से, उसकी खडी स्थिति से, उसके उपादान से, या किसी अन्य विशेषता से।

मान लीजिए कि हम गोल्फ खेल रहे है और कि हमने गेद को इस तरीके से मारा कि परिणाम अच्छा नही रहा। इसपर हमारे साथी ने हमसे कहा, "यह एक गलत स्लाइस रही।" जब भी हमारी गेंद सीधी नही जा पाती, वह बार-बार इस वाक्य को दुहराता है। यदि हम पर्याप्त रूप से समझदार है तो बहुत थोडे समय मे गेद के सीधे न जाने पर "यह एक गलत स्लाइस रही" कहना सीख जाएँगे। लेकिन एक अवसर पर हमारा साथी हमसे कहता है, "इस बार स्लाइस नही है, यह तो हुक है।" अब हम चकरा जाते हैं कि बात क्या हुई, और यह जिज्ञासा होती है कि पहले की चोटो से इस चोट का फर्क किस बात मे है। ज्योही हम फर्क को समझ लेते है, हमारे शब्द-भडार मे एक नया शब्द जुड जाता है। परिणाम यह होता है कि गोल्फ के नौ प्वाइट हो जाने के बाद हम इन दो शब्दो का सही प्रयोग करने मे समर्थ हो जाते हैं और शायद कई अन्य शब्दो का भी, जैसे "डिवट", "नम्बर पाँच आयर्न", "अप्रोच शॉट", और वह भी बगैर किसी के यह बताए कि इन शब्दो का क्या अर्थ है। वास्तव मे, ऐसा हो सकता है कि हम वर्षों तक गोल्फ खेलते रहे और "स्लाइस" की यह कोशगत परिभाषा न बता सकें : 'गेंद को इस तरह से मारना कि डडे का अग्रभाग गेंद के अग्रभाग के आरपार अदर की ओर झुक जाए और फलत गेंद भागती हुई (दाएँ हाथ से खलनेवाले खिलाडी की) दाई ओर मुड जाए।"[1]

---

[1] एस० आई० हयाकावा, लैंग्वेज इन ऐक्शन (न्यूयार्क हारकोर्ट ब्रेस-एंड को १९४१), पृष्ठ ४५।

और, इशारा करना भी सदैव काम नही देगा। आप निश्चय ही विचारों, संवेगो या सकल्प की ओर इशारा नही कर सकते। आप भय या दुश्चिता की ओर इशारा नही कर सकते—केवल इनकी अभिव्यक्तियों की ओर इशारा कर सकते है। आप इन शब्दो का अर्थ सीधे तरीके से बता ही नही सकते—आप, जब आपका लड़का भयभीत हो, उसके मन के अंदर प्रविष्ट होकर यह नहीं कह सकते कि "यह भय है।" पर, जब वह भय का प्रत्येक लक्षण प्रकट करता हो तब आप उसके व्यवहार को वारीकी से देखकर यह कह सकते है कि "जब आपका व्यवहार ऐसा हो तब आप भयभीत होते हैं।" ऐसा करते हुए हम यह मान लेते है कि जब एक आदमी भयभीत होता है तब वह बहुत-कुछ उसी तरह व्यवहार करता है जिस तरह दूसरा आदमी भयभीत होने पर करता है, कम-से-कम इतना काफी साम्य दोनो के व्यवहारो मे होता है कि दोनो की मन स्थितियो के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करना निरापद होता है। क्योकि, आप सदैव सही नही वता सकते, इसलिए कभी-कभी आप किसी मन.स्थिति को "भय" कह देते हैं और वाद मे सूक्ष्म जाँच से उसे "दुश्चिता" कहते हैं।

"परिवर्तन" और "पुन." जैसे अमूर्त-प्रत्ययो के बोधक शब्दो के अर्थ तक इशारो से वताए जा सकते है—निश्चय ही इन्हे हमने कभी शब्दों की सहायता से नही सीखा। (शब्दों के द्वारा इनकी परिभाषा वताने की कोशिश करके देखिए।) आपने जब अपने पडोसी की कार को हर रोज अपने मकान के सामने खडी देखा और फिर देखा कि वह बगल के दरवाजे पर खडी रहने लगी है, तब माँ को यह कहते सुना : अब वह एक भिन्न स्थान पर खडी रहती है। परंतु वह यह भी कह सकती थीं : "अच्छा! अब तो स्थान का परिवर्तन हो गया है।" और कहीं आप यह न समझ बैठें कि "परिवर्तन" का अर्थ केवल "कार का भिन्न स्थान पर खडी होना" होता है, इस डर से उसने अगले दिन इसी शब्द का प्रयोग एक विल्कुल भिन्न चीज—मौसम के वदलने या अडो की कीमतें एकाएक बढ जाने के लिए किया। अपाकर्षण के क्रमिक प्रक्रम से आप सीख गए कि "परिवर्तन" शब्द का कैसे प्रयोग करना है। अथवा, जब आपके मकान के सामने उस कार का टायर फटा और अगले दिन वही एक दूसरी कार का भी यही हाल हुआ, तब माँ ने कहा, "अरे, वही बात पुनः हो गई।" पर, आपने सीखा यह कि "पुन." शब्द

का कारों के टायर फटने से कोई संबंध नहीं है, और यह तब जब माँ ने आपके दूसरी बार मेज पर शोरबा गिरा देने पर इसी शब्द का प्रयोग किया। और इसी प्रकार पुनरावृत्ति तथा अपाकर्षण के क्रमिक प्रक्रम से आप यह जान पाए (हालांकि हू-ब-हू इन शब्दों में बिल्कुल नही) कि "पुनः" शब्द का किसी घटना या घटना के किसी प्रकार से कोई संबंध नहीं है, बल्कि घटनाओं की आवृत्ति से है। और हर मामले में आपने शब्द के अर्थ को निर्देशन से सीखा—शब्द के अर्थ को शब्दों की महायता से, उसके प्रयोग का कोई उदाहरण अपने सामने देखे बिना, समझने में समर्थ आप बहुत बाद मे जाकर हुए।

क्या कोई ऐसे शब्द हैं जिनकी परिभाषा केवल निर्देशन से की जा सकती हो? यह बात साफ है कि यदि भाषा को दुनिया में कोई ठिकाना पाना है तो कुछ शब्दो की निदर्शनात्मक परिभाषा देनी होगी। परंतु इससे अभी इस प्रश्न का निर्णय नही हुआ कि "बिल्ली" इत्यादि किसी विशेष शब्द का अर्थ इशारे से सीखना होता है या नही।

कभी-कभी यह पूछा जाता है कि "क्या अपरिभाष्य शब्द होते हैं?" यदि इस प्रश्न मे "परिभाषा करना" शब्द मोटे अर्थ मे लिया गया है जिसके अनुसार शब्द की परिभाषा करने का मतलब किसी भी तरीके से उसका अर्थ बताना है, तो उत्तर स्पष्टतः "नही" है। अगर दूसरे को यह बताने का कोई तरीका न हो कि एक शब्द से आपका क्या अभिप्राय है, तो उसका अर्थ बताया ही नही जा सकता, और वह शब्द कदापि एक सर्वमान्य प्रतीक नही बन सकेगा। वह आपके निजी शब्द-भडार का एक अश बन सकता है, जिसे आप स्वयं से बात करने मे इस्तेमाल कर सकेंगे, पर सार्वजनिक भाषा का अग कभी न बन सकेगा।

परंतु यदि इस प्रश्न को पूछनेवाले का अभिप्राय यह पूछना है कि क्या ऐसे शब्द होते है जिनकी परिभाषक विशेषताएँ (अन्य शब्दों की सहायता से) समझाई नही जा सकती—अर्थात् जिनका अर्थ अन्य शब्दो की सहायता से नही बल्कि केवल निदर्शन (इशारे) से बताया जा सकता है, तो प्रश्न विवादास्पद है। विवाद का रूप इस तरह का हो सकता है।

अ—कुछ शब्दों की, मुख्यतः उनकी जो मौलिक इंद्रियानुभवों के सूचक होते हैं, जैसे "लाल", "रंग" "तीखी", "तिक्त", "कड़वा", "भय", "क्रोध", 'प्रेम",

"विचार" इत्यादि, शब्दो की सहायता से कतई परिभाषा नही दी जा सकती। "भय" शब्द का अर्थ शब्दो के द्वारा कौन बता सकता है ? भय एक ऐसी चीज है जिससे प्रत्येक व्यक्ति निजी अनुभव से परिचित होता है, पर "भय" शब्द की शब्दो की सहायता से कौन परिभाषा बता सकेगा ? आप मनोविज्ञान-सबधी ये बातें बता सकते है कि किन परिस्थितियो मे लोगो के अदर यह सवेग पैदा होता है, या जब भय का अनुभव होता है तब तन्त्रिका-तन्त्र की क्या अवस्था होती है, अथवा किन चीजो से भय होता है, या भय की मनोविश्लेषणपरक व्याख्या क्या है ? लेकिन, यह सब "भय" शब्द की परिभाषा कतई नही है, बल्कि भय नामक चीज के बारे मे बताए गए तथ्य हैं और इन सारे वर्णनो मे "भय" शब्द के अर्थ से परिचय पहले से निहित है। यही बात बहुत-से अन्य शब्दो पर भी लागू होती है : जैसे, "लाल" शब्द की कोई क्या परिभाषा देगा ? शायद ऐसा लगे कि यहाँ समस्या कुछ आसान है, क्योकि इसकी परिभाषा हम प्रकाश की तरग की लबाई बताकर दे सकते है। पर यहाँ फिर एक गडबडी है। जिसकी हम परिभाषा चाहते है वह हमे दिखाई देनेवाले एक रग का नाम बतानेवाला शब्द है—और जो हमे दिखाई देता है वह तरग की लबाई नही है। प्रकाश की तरगें (५५०-७०० ऐंग्स्ट्रम मात्रको के अदर) जो रग हम देखते है उनके साथ सहसबधित मात्र है, स्वय वह रग नही है। हम यह कह सकते हैं कि जब मैं लाल रग देखता हूँ तब अमुक लबाई की प्रकाश-तरगें इस रग की वस्तु से निकलकर मेरी आँखो तक आती हैं, जब मैं नारगी रग देखता हूँ—इत्यादि। परतु इस लबाई की प्रकाश-तरगो की उपस्थिति केवल एक अनुषगी विशेषता है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि "लाल" शब्द का क्या अर्थ है, यह नही कि लाल रग किससे सहसबधित है। और यह बात ऐसी है जो शब्दो के द्वारा कतई नही बताई जा सकती ; केवल अपना ही साक्षात् अनुभव मुझे यह बता सकता है। यदि आप जन्म से अधे है तो मैं शब्दो की किसी भी सख्या से आपको "लाल" का अर्थ कदापि नही बता सकता, मैं केवल प्रकाश-तरग इत्यादि अनुषगी विशेषताओ के बारे मे बता सकता हूँ। यदि आपने लाल रग देखा है तो शब्द अनावश्यक है, और यदि आपने नही देखा तो वे व्यर्थ है। सक्षेप मे, यह उन चरम शब्दो मे से एक है जिनकी मदद से अन्य शब्दो की परिभाषा बताई जा सकती है, पर जिनकी स्वय अन्य शब्दो की सहायता से परिभाषा नही बताई जा सकती। यहाँ भाषा का जगत् से सीधा सपर्क होता है, और अधिक भाषा का प्रयोग करने से कोई लाभ नही होता,

क्योंकि "लाल" इत्यादि शब्द स्वय भाषा की बुनियाद है। भौतिकी के उन चरम कणो के समान जो भौतिक जगत् का निर्माण करनेवाले खड है, इन्हे भी और खडो मे नही तोडा जा सकता।

ब—पर क्या "लाल" इत्यादि शब्द शब्दो की सहायता से अपरिभाष्य हैं ? हम मान लेते है कि 'लाल" की परिभाषा तरग-दैर्घ्य के रूप मे नही दी जा सकती। पर क्या हम "लाल" की इन शब्दो मे परिभाषा नही दे सकते कि यह एकमात्र वह रग है जो तरगो की अमुक परास के अदर स्थित लबाइयो से नियत रूप से सबद्ध है, अथवा शायद इन शब्दो मे कि यह वह रग है जो स्पेक्ट्रम के एक निर्दिष्ट स्थान पर स्थित होता है ? यह लाल का तरग की एक लबाई से सीधा तदात्मीकरण नही है, बल्कि "लाल" की यह परिभाषा है कि यह वह एकमात्र रग है जो उस तरग-दैर्घ्य के साथ सबद्ध है। यह सतोषप्रद क्यो नही है ?

अ—परतु आप कृपया परिभाषक और अनुषगी विशेषताओ के अतर को ध्यान मे रखें। आपने जो परिभाषा बताई है वह वही गलती करती है जिसे हम दोनो अस्वीकार करते हैं, हालाँकि उतने भद्दे ढग से नही। हम लाल रग देखते है। बहुत ठीक। अब मान लीजिए कि कालातर मे हमे यही रंग तरग दैर्घ्यो की अनुपस्थिति मे भी दिखाई देता है, जैसे लाल बिंदुओ के आँखो के आगे दिखाई देने पर या स्वप्न मे। यदि इन असाधारण स्थितियो मे हमे लाल रग कभी न भी दिखाई दे, तब भी ऐसी कल्पना हमेशा की जा सकती है कि जिन स्थितियो मे हम नियमित रूप से विभिन्न रग देखते है वे बदल गई हैं। तब हम नही कह सकेंगे कि लाल उस तरग दैर्घ्य से सबद्ध है। आखिर यदि लाल किसी अन्य तरग-दैर्घ्य से सबद्ध हो जाए तो फिर भी वह लाल ही रहेगा। इसलिए वह तरग दैर्घ्य "लाल" की परिभाषा का अग नही बन सकता। जैसे इस्पात का निर्माण कार्यों में इस्तेमाल बद हो जाने के बाद भी वह इस्पात ही रहेगा, वैसे ही लाल एक विशेष तरग-दैर्घ्य से सहसबध न रखने के बाद भी लाल ही रहेगा, बशर्ते वह तब भी वैसा ही दिखाई दे जैसा अब दिखाई देता है। यही बात तब भी रहेगी जब स्पेक्ट्रम मे रग वर्तमान क्रम मे दिखाई देने बद हो जाएँ। तथ्य यह है लाल को हम कही देखें, किन्ही सहचारियो या सहसबधो के साथ देखें, किसी क्रम या विन्यास मे देखें, रहेगा वह सदैव लाल ही।

ब—क्या हम यह नही कह सकते कि "लाल" शब्द उस रग का नाम है जो सामान्य आँख को या सामान्य दशाओ मे सामान्य आँख को ५५०-७०० ऐंग्स्ट्रम मात्रको की लबाईवाली प्रकाश-तरगो के प्रभाव से दिखाई देता है ? तब ये अपवाद बाधक नही रहेगे ।

अ—पर, मान लीजिए कि आँख की बनावट बदल जाती है या प्रकाश के नियम ही बदल जाते हैं, जिससे इस लबाई की प्रकाश-तरगो के दृष्टिपटल से टकराने पर हर किसी को लाल दिखाई देना बद हो जाता है ? जैसे इन भौतिक स्थितियो के अभाव मे लोगो को कभी-कभी लाल दिखाई देना सभव है, ठीक वैसे ही यह भी सभव है कि लोग उनके अभाव मे सदा ही लाल देखने लगें ।

ब—किंतु ये सब बदले हुए नियम और बदली हुई स्थितियाँ तो काल्पनिक हैं—तथ्य यह है कि हम एक निश्चित तरग-दैर्घ्यवाले प्रकाश की उपस्थिति मे लाल नियमित रूप से देखते है ।

अ—ठीक है, पर इससे क्या हुआ ? यदि इन भौतिक स्थितियो की गैर-मौजूदगी मे हम लाल देखें, तो भी होगा वह लाल ही । जब तक ऐसा होता है, तब तक स्थितियाँ परिभापक विशेपताएँ नही बन सकती । यदि इस्पात का निर्माण-कार्य मे उपयोग बद हो जाता है, तो फिर भी वह इस्पात होगा । इस कथन के सच होने के लिए यह जरूरी नही है कि इस्पात का निर्माण-कार्यों मे उपयोग बद हो जाए । वेन की इस सूक्ति को याद रखिए : "जब हम यह जानना चाहते हैं कि कोई प्रस्तावित परिभापा सही है या गलत, तब इसकी व्यावहारिक कसौटी वास्तव मे यह होती है कि हम परिस्थितियो मे कोई सभव परिवर्तन करके, जिसे हम परिभाष्य पद के वस्त्वर्थ मे बनाए रखना चाहते हैं उसे बाहर करके या जिसे हम बाहर रखने के लिए कृतसकल्प हैं उसे उसमे शामिल करके, यह देखें कि परिभापा भग हो जाती है या नही ।" प्रस्तुत मामले मे जितनी भी स्थितियो का प्रस्ताव किया गया है वे सब परिस्थितियो मे परिवर्तन की आसानी से कल्पना करके भंग हो जाती हैं । इस बात से भी यह पता चलता है कि ये केवल अनुपगी विशेपताएँ हैं—लाल की मानो बाहरी सज्जा मात्र हैं, स्वतः लाल नही ।

ब—हो सकता है । पर, एक और विचारणीय बात है जो शायद आपके दिमाग मे नही आई । आप कहते हैं कि जो जन्म से अधा है वह कभी "लाल"

शब्द का अर्थ नही जान सकता, क्योकि यह एक रग है और वह रग नही देख सकता। परतु वह इस शब्द का उतना ही सही प्रयोग करने मे समर्थ हो सकता है जितना सही बाकी लोगो मे से कोई भी करता है। हो सकता है कि इस शब्द का वह जो प्रयोग करता है उसमे कभी कोई गलती हो ही नही। वह शायद प्रकाश के तरग-दैर्घ्य को बतानेवाली मशीन की सूई को अपनी उँगलियो से स्पर्श करके सदैव यह बता सकेगा कि चीज लाल है। यदि वह इस शब्द का अर्थ नही जानता तो "लाल" शब्द का सदैव इतना सही प्रयोग कैसे कर सकेगा ?

अ—यहां भी हम फिर अनुषगी विशेषताओ मे अटक गए है। "लाल-गोल" का उदाहरण याद है ? मान लीजिए कि कौन-सी चीजें लाल हैं, यह जिस आदमी को पता करना है वह अधा है। पर, उसे किसी विश्वसनीय आदमी ने बता दिया है कि प्रत्येक लाल चीज गोल और प्रत्येक गोल चीज लाल होती है। प्रत्येक दूसरी की अनुषगी है। अब वह चीज को छूकर और उनकी शक्ल को मालूम करके आसानी से यह कह सकेगा कि "यह लाल है" या "यह लाल नही है।" चीज के लाल होने के बारे मे उसका कथन उतना ही विश्वसनीय होगा जितना उसका जो देख सकता है। कोई बाहरी आदमी शायद यह जान भी नही पाएगा कि वह देख नही सकता बल्कि केवल चीज की गोलाई को इस बात का पक्का सकेत मान रहा है कि वह लाल भी है। हां, वह "लाल" शब्द का सही प्रयोग करेगा—तब तक जब तक कि लालिमा और गोलाई सौभाग्य से एकसाथ बनी रहती हैं। जिस क्षण यह पूर्ण सहसबध समाप्त हो जाएगा, वह रग को बिल्कुल नही बता पाएगा। क्या आप नही समझे ? वह आदमी नही जानता कि "लाल" का क्या अर्थ । वह नही जानता कि लाल होने के लिए चीज को कैसी दिखाई देना चाहिए। निश्चय ही गोल दिखाई देना नही—और फिर भी इसके अलावा कुछ और है ही नही जिसका वह अनुसरण करे।

अत. "लाल" शब्द रंग के उस गुण का सूचक है जिसका अधा व्यक्ति अनुभव करने मे ही असमर्थ है। अधा यह जान ही नही सकता कि वह क्या है जिससे आँखोवाले आदमी का इस शब्द से अभिप्राय होता है। वह केवल इतना जान सकता है कि "लाल" शब्द किसी क का बोधक है जो ख ओ से और ग-ओ से भिन्न होता है। वह भी भेद कर सकता है, बशर्ते लालिमा सदैव अन्य ऐसी विशेषताओ के साथ रहती हो जिनका वह

पता कर सकता हो ; पर चीज की लालिमा के आधार पर वह कदापि भेद नही कर सकता।

ब जो देखने मे समर्थ है उससे क्या आशा रखी जाए ? क्या वह "लाल" शब्द के प्रयोग के लिए कोई कसौटी बता सकता है ?

अ अवश्य ही वह एक कसौटी जानता है—अन्यथा वह नही जान पाएगा कि "लाल" शब्द का कब प्रयोग करना है और कब नही। परतु कसौटी केवल यह है कि यह रग-विशेष उसकी चेतना के सामने प्रस्तुत हो। वह जानता है कि इस रग का अन्य रगो से कैसे भेद करना है, पर इसे शब्दो के द्वारा व्यक्त करने का कोई तरीका नही है और इसलिए वह इस कसौटी को उन्हे नही बता सकता जो लाल को नही देखते। सक्षेप मे, "लाल" शब्द के प्रयोग के लिए उसके पास कसौटी तो है, पर उसे वह शब्दा मे नही बता सकता, जो कुछ भी शब्दो के द्वारा बताया जा सकता है वह अनुपगी विशेषता निकलती है। 'लाल" की पारिभाषिक विशेषताओ को इस तरह नही बताया जा सकता कि अन्य रगो से इसका भेद किया जा सके। इस प्रकार आप समझ गए होग कि "लाल" शब्दो के द्वारा अपरिभाष्य है।

यह न समझें कि विवाद खत्म हो गया है, पर यहाँ हम इसकी और अधिक चर्चा नही करेंगें।

३. अस्पष्टता

किसी शब्द की परिभाषा देना प्राय इतना कठिन क्यो होता है ? शब्द की अनेकार्थकता उसकी परिभाषा देने के काम मे कठिनाई उत्पन्न करनेवाली नही होती अनेकार्थक शब्द के प्रत्येक अर्थ के लिए केवल एक अलग परिभाषा दे देनी होती है। कही बडी कठिनाई भाषा की वह व्यापक विशेषता है जिसे अस्पष्टता कहते हैं। "अस्पष्ट" "सुस्पष्ट" का उल्टा है। तदनुसार जो शब्द और शब्द-समुच्चय अस्पष्ट होते हैं उनमे सुस्पष्टता का अभाव होता है। परतु शब्दो मे सुस्पष्टता का अभाव अनेक तरीको से होता है।

१—अस्पष्टता का सबसे सरल रूप तब दिखाई देता है जब शब्द की प्रयोज्यता और अप्रयोज्यता के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजक रेखा नहीं होती। कुछ परिस्थितियो मे शब्द का स्पष्टत प्रयोग किया जा सकता है, अन्य परि-स्थितियो मे उसका प्रयोग स्पष्टत निषिद्ध है, पर बीच मे कुछ ऐसा सदिग्ध

क्षेत्र होता है जिसके बारे में यह नही कहा जा सकता है कि शब्द लागू होता या नही। लाल क्रमशः नारंगी रंग में बदल जाता है और नारंगी रंग क्रमश: पीले मे बदल जाता है। एक काम जो सरल था, उत्तरोत्तर कम सरल होता जाता है और अंत मे सरल न रहकर कठिन हो जाता है। आप सदैव बहुत धीमे गाड़ी चला सकते हैं, पर यदि आप प्रति दिन चाल को एक मील प्रति घंटा बढ़ाते जाएँ, तो एक समय ऐसा आएगा जब आप गाड़ी तेज चला रहे होगे। लेकिन धीमे और तेज के बीच कोई साफ सीमारेखा नही है। यदि एक आदमी किसी आवासीय क्षेत्र में ६० मील प्रति घंटे की चाल से गाड़ी चला रहा है, तो स्पष्टतः वह तेज जा रहा है और १५ मील प्रति घंटे की चाल से वह धीमे जा रहा है। पर यदि वह ३० मील की चाल से जा रहा हो तो-? निश्चय ही (इस संदर्भ में) "तेज" की मनमाने ढंग से यह परिभाषा दी जा सकती है कि तेज वह है जो "उस क्षेत्र में विज्ञापित चाल-सीमा से अधिक" हो। यदि वह चाल-सीमा २५ मील है तो वह तेज चला रहा है। पर यदि उसी चाल से वह ३५ मील की चाल-सीमा वाले क्षेत्र मे गाड़ी चलाता है तो वह तेज नही चला रहा है। "तेज" शब्द का साधारण व्यवहार मे जिस तरह प्रयोग किया जाता है वह सुस्पष्ट नही बल्कि अस्पष्ट है। बढ़ती हुई चाल मे कोई एक बिंदु ऐसा नही है जिसपर पहुँचकर गाडी का धीमा चलना रुक जाए और तेज चलना शुरू हो जाए। अनिश्चितता का एक विशाल क्षेत्र ऐसा है जिसके अंदर कोई यह नही कह सकता कि वह गाडी तेज चला रहा है या नही। (यह ध्यान देने की बात है कि इस शब्द का प्रयोग संदर्भ पर भी निर्भर करता है। जो चाल साइकिल के लिए तेज है वह इंजन से चलनेवाली गाडी के लिए धीमी होती है; जो ऐसी गाड़ी के लिए तेज है वह हवाई जहाज के लिए धीमी है; और जो भीडभाड़ की जगह मे किसी कार के लिए तेज मानी जाएगी वही उसी कार के लिए खुली सड़क पर धीमी होगी। अतः "तेज" शब्द संदर्भ-सापेक्ष है—परंतु फिर भी इनमें से प्रत्येक संदर्भ मे अस्पष्ट है।)

अस्पष्टता भाषा की ऐसी विशेषता नही है जो सदैव अवांछनीय हो। वास्तव मे अस्पष्ट शब्द बिल्कुल अपरिहार्य होते है। यदि आप ठीक-ठीक जानते हैं कि एक व्यक्ति-विशेष किस चाल से गाडी चला रहा था, तो आपको "तेज" और "धीमे" शब्दों का प्रयोग करने की जरूरत नही है। आप केवल चाल बता दीजिए। परंतु यदि आप ठीक-ठीक नही जानते, तो आप कुछ

अस्पष्टता के साथ "६५ के आस-पास" कह सकते है, या और भी अधिक अस्पष्टता के साथ "कुछ तेज" कह सकते हैं। असल मे हमारे पास अस्पष्ट शब्दों का एक पूरा सिलसिला ही है, जैसे, "धीमा", "मध्यम", "कुछ तेज", "बहुत तेज"। जब जानकारी निश्चित नही होती तब हमे इनका इस्तेमाल करने की जरूरत होती है। लेकिन, प्राय: बिल्कुल भी जानकारी न होने की अपेक्षा अनिश्चित जानकारी का होना अच्छा होता है।

इस प्रकार असंख्य शब्द अस्पष्ट होते है। "ध्रुवीय (विपरीत) शब्द" साफ उदाहरण है : तेज, धीमा; सरल, कठिन; सख्त, मुलायम; उजाला, अंधेरा; गरम, ठंडा; बड़ा, छोटा; इत्यादि। इनमे से प्रत्येक क्रमशः दूसरे मे बदल जाता है। कही भी ऐसा बिंदु नही मिलेगा जहाँ रेखा खीचकर कहा जा सके कि "यहाँ पर चीज का छोटा होना रुक जाता है और वह बड़ी होने लगती है" अथवा "बीच" शब्द को लीजिए।

```
अ              स              ब
o ------------ o ------------ o
               o द
               o घ
               o न
```
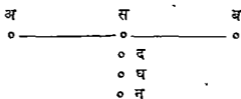
अ से ब की ओर एक सीधी रेखा मे जाते हुए आपको स को पार करना होगा ; स को हम निस्संकोच अ और ब के बीच में स्थित कहेगे। पर क्या द अ और ब के बीच मे स्थित होगा ? यहाँ शायद हम कुछ हिचकिचाहट महसूस करेंगे। हाँ, बिल्कुल बीच मे तो नही, पर उसके काफी निकट ; बीच मे स्थित कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, साधारणत: हम कहेंगे कि मथुरा आगरा और दिल्ली के बीच मे है, हालांकि वह उन दोनों को मिलानेवाली सीधी रेखा के ऊपर नही है। (ठीक इसी अर्थ मे कोई भी शहर आगरा और दिल्ली के बीच मे नही होगा, क्योकि उनको मिलानेवाली सीधी रेखा पृथ्वी के अंदर से होकर गुजरेगी। यदि आपने "बीच में स्थित" का अर्थ "उन दोनो को जोड़नेवाले वृहद् वृत्त के चाप पर स्थित" निश्चित किया हो, तो भी शायद कोई नगर ठीक इस चाप की रेखा पर नही होगा।)

मान लीजिए कि तब हमारा उत्तर 'हाँ' होता है। फिर घ के बारे मे क्या कहा जाएगा ? क्या यह अ और ब के बीच मे है ? यदि द बीच मे है तो यह कहना मुश्किल है कि घ नही है—वह द के इतने निकट है कि द बीच

में है और ध बीच में नही है, कहना कुछ मनमानी बात लगती है। फिर न के बारे मे क्या कहेंगे ? यहाँ भी यह सिद्धांत लागू होगा : ध अ और ब के बीच मे है और न ध के बिल्कुल आगे है, अतः न को भी——— । इसी प्रकार आगे चलते-चलते हम एक ऐसे बिंदु पर पहुँच जाते है जो दस हजार मील दूर होते हुए भी अ और ब के बीच में है।

निश्चय ही वह बिंदु—उसे क कह लीजिए—अ और ब के बीच में नही है। फिर भी ध तो हमारी मान्यता के अनुसार बीच में है ही। संगति कैसे रखी जाए ? ध और न के मध्य विभाजक रेखा खीच देना तो उचित नही लगता : तब ध तो बीच मे होगा और न बीच में नहीं होगा, जबकि है वे इतने पास-पास। पर यही बात न और प के बीच रेखा खीचने से होगी, प और फ के बीच रेखा खीचने से होगी तथा आगे भी। कोई भी स्थान ऐसा नही मिलेगा जहाँ विभाजक रेखा खीचना संतोषप्रद हो। यह "फिसलन-वाले ढाल से उतरने" की जैसी कठिनाई है : आप शिखर से नीचे जाना चाहते हैं (आप यह मानना चाहते है कि केवल स ही नही बल्कि अन्य बिंदु भी अ और ब के बीच मे स्थित है) ; परंतु जब आप एक बार ढाल पर उतरने लगते है तब ऐसा नही लगता कि तल से पहले आप कही रुक सकेंगे ; और आप यह भी नही चाहते कि तल पर ही जाकर रुकें। विभाजक रेखा आप इच्छानुसार कही भी खीचकर देख लें, आपका शब्द के प्रचलित प्रयोग से विरोध होकर रहेगा।

आप कह सकते है कि यह विशेष कठिनाई प्रकृति के दोष से पैदा होती है, हमारे दोष से नही। किसी शब्द के प्रयोग का क्षेत्र निर्धारित करने के लिए कही विभाजक रेखा हम सिर्फ इस वजह से नहीं खीच सकते कि प्रकृति ने हमारे आगे एक सांतत्यक रखा है जिससे संतोषजनक रूप से विभाजक रेखा खीचने का काम असभव बन जाता है। यदि फिर भी हम ऐसी रेखा खीचना चाहें तो यह मनमाने ढंग से ही हो सकेगा।

कभी-कभी इस या उस विशिष्ट उद्देश्य से हमें ऐसा करना पड़ता है, हालांकि ऐसा करते हुए हमें कष्ट का अनुभव होता है। हमें उत्तीर्ण-श्रेणी और अनुत्तीर्ण-श्रेणी के बीच विभाजक रेखा खीचनी पड़ती है, जैसे ३३ पर, हालांकि ३२ प्राप्तांक और ३४ प्राप्तांक के बीच अधिक अंतर नही है—निश्चय ही यह अंतर उस अंतर से कहीं कम है जो ३४ अंक पाकर उत्तीर्ण

होनेवाले और १०० अंक पाकर उत्तीर्ण होने वाले के बीच है। परंतु रेखा कहीं पर खीचने के लिए हम मजबूर हैं। साधारणतः हम "नगर" शब्द के प्रयोग के क्षेत्र और "कस्बा" शब्द के प्रयोग के क्षेत्र के बीच सूक्ष्म भेद नही करते, परंतु आँकड़ों से संबधित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनगणना-विभाग को कही न कही विभाजक रेखा खीचनी पडती है, और इसलिए यह रेखा २५०० पर खीची गई है। २४९९ की आबादी वाले कस्बे मे एक बच्चा पैदा होता है, और तब देखिए कि वह फौरन नगर बन जाता है। लेकिन, सामान्य प्रयोग मे ऐसी बारीक रेखा हम नही खीचते, क्योकि हमे इसका कोई औचित्य नही दिखाई देता। इस प्रकार, सामान्य प्रयोग में ये शब्द अस्पष्ट ही रहते है।

यहाँ तक हम जिस तरह की अस्पष्टता पर विचार करते रहे वह बिल्कुल सरल थी : एक रेखा होती है जिसके एक सिरे पर विचाराधीन शब्द निश्चित रूप से लागू होता है और दूसरे सिरे पर निश्चित रूप से लागू नही होता, पर जिसके बीच के भाग मे हम नही कह सकते कि शब्द लागू होता है या नही (एक नया और मनमाना प्रयोग चला देने से बात दूसरी होगी)। परतु तब क्या होगा जब रेखा एक न हो बल्कि अनेक हो, और वे भी सब एक-दूसरी को काटती हों ?

२—शब्द के प्रयोग की अनेक कसौटियाँ हो सकती हैं। इस कथन से हमारा मतलब अर्थों की विविधता नही है : शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं और इसके बावजूद प्रत्येक अर्थ मे शब्द के प्रयोग की एक निश्चित कसौटी हो सकती है। यह अस्पष्टता नही है। हमारा यह मतलब भी नही है कि किसी शब्द के लागू हो सकने के लिए अनेक शर्तें हों जिनका पूरा होना जरूरी होता हो, जैसे "त्रिभुज" शब्द के उदाहरण में। किसी आकृति के त्रिभुज होने के लिए अनेक शर्तों की पूर्ति आवश्यक है, लेकिन फिर भी यह शब्द अस्पष्ट नही है। यहाँ हमारा मतलब केवल यह है कि शब्द के प्रयोग को निर्धारित करनेवाली शर्तों का कोई निश्चित समुच्चय होता ही नही। शब्द की सुस्पष्टता का अभाव होता है, क्योकि शर्तों का कोई समुच्चय ऐसा नही होता (जैसाकि "त्रिभुज" के उदाहरण मे है) जिससे हम यह ठीक-ठीक निर्णय कर सकें कि शब्द का कब प्रयोग करना है। शर्तों का कोई समूह ऐसा नही होता जिसमे से प्रत्येक शब्द का वस्तुओं के लिए व्यवहार करने के लिए आवश्यक हो और सब मिलाकर पर्याप्त हों।

"... उदाहरण के लिए उन प्रक्रियाओं को देखिए जिन्हें हम "खेल" कहते हैं। मेरा मतलब बोर्ड पर खेले जानेवाले खेल, ताश के खेल, गेंद वाले खेल, ओलम्पिक खेल इत्यादि से है। इन सबमें समानता क्या है? ऐसा मत कहिए कि "कोई बात समान अवश्य होगी, अन्यथा वे 'खेल' न कहलाते" बल्कि देखिए और ढूँढिए कि कोई समान बात सबमें है या नहीं। यदि आप देखेंगे तो आप कोई चीज ऐसी नहीं पाएँगे जो सबमे समान हो बल्कि उसके बजाय सादृश्य, संबंध, और उनका भी एक पूरा सिलसिला पाएँगे। पुनःकह दिया जाए कि सोचिए मत, बल्कि देखिए! उदाहरणार्थ, बोर्ड पर खेले जानेवाले खेलों को देखिए और उनके विविध संबंधों को देखिए। अब ताश के खेलों को देखिए। इनमें आप पहले समूह के खेलों से बहुत मिलती-जुलती बातें पाएँगे, पर अनेक समान विशेषताएँ रह जाती है और नई प्रकट हो जाती हैं। जब हम आगे गेंद वाले खेलों को देखते हैं तब अनेक समानताएँ तो बनी रहती है पर बहुत-सी लुप्त हो जाती हैं। क्या वे सब मनोरंजक होते हैं? शतरंज की शून्य और काटो के खेल से तुलना कीजिए। अथवा क्या सदैव हारना और जीतना होता है या खिलाड़ियो मे प्रतियोगिता होती है? धैर्य की बात सोचिए। गेंद वाले खेलों मे हारना-जीतना होता है; परंतु जब एक बच्चा अपनी गेंद दीवार पर मारता है और फिर उसे पकड़ लेता है, तब यह विशेषता गायब हो जाती है। कुशलता और भाग्य का खेलों में कितना हाथ होता है, यह भी देखिए, और यह भी कि शतरंज में कुशलता टेनिस खेलने की कुशलता से कितनी भिन्न होती है। अब "रिंगारिंगारोज़ेज़" (बच्चों का नाचते-गाते गोलाई में घूमना)-जैसे खेलों के बारे मे सोचिए: यहाँ मनोरंजन का अंश है, परंतु और कितनी सारी विशेषताएँ लुप्त हो गई है? और इसी तरह हम खेलों के अनेक अन्य समूहों की जांच कर सकते हैं। हम देखेंगे कि किस तरह सादृश्य प्रकट होते और लुप्त हो जाते है।[१]

विशेषताओं का एक समूह $व_1$, $व_2$ $व_3$—$व_न$ है। ये खेलों में विशेष रूप से पाई जाती हैं। इन विशेषताओं में आगे बताई हुई शामिल हैं: $व_1$, कुछ नियम होते है जिनके अनुसार खेल चलता है; $व_2$, उसमे जीत संभव होती हैं; $व_3$, उसमें व्यक्ति मुख्य काम से हटकर मनोरंजन करता है; $व_4$, खिला-

---

१. लुडविग विट्गेन्स्टाइन, फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशन्स, परिच्छेद ६६।

डियो के कुछ कौशलो का अभ्यास करना होता है, इत्यादि। यदि सभी खेलो मे ये सभी विशेपताएँ होती और केवल खेलो मे ही ये विशेषताएँ होती तो "खेल" शब्द का एक ही अर्थ होता : उसके अर्थ को बनाने के लिए $व_1$ से लेकर $व_न$ तक सब विशेपताओ को गिना दिया जाता। एक खेल मे शायद केवल विशेषताएँ $व_1$, $व_2$ और $व_न$ हो, दूसरे मे शायद केवल $व_1$, $व_3$ $व_7$ और $व_9$ हों तीसरे मे केवल $व_2$, $व_4$ और $व_6$ हो, और इसी तरह अन्यो मे भी। किसी, चीज के खेल होने के लिए केवल यह चाहिए कि खेल की विशेपताओ के $व_1$ से लेकर $व_न$ तक के पुंज मे से कोई उसमे मौजूद हो, यह नही कि ये सब विशेपताएँ उसमे हो। निश्चय ही, खेल-विशेपताओ के प्रत्येक सयोग से काम नही चलेगा: उदाहरणार्थ, यह पर्याप्त नही है कि किसी चीज मे केवल विशेपता $व_2$ (जीत का सभव होना) हो और वह खेल हो जाए। युद्धो मे, द्वन्द्वयुद्धो मे तथा वाद-विवाद मे जीत सभव होती है, परतु इनमे से कोई भी खेल नही है। समय से पहले तथा कोरे सिद्धात के रूप मे यह निर्धारित करने का कोई उपाय नही है कि ठीक कितनी पर्याप्त है उदाहरणार्थ, यह कहना हास्यास्पद होगा कि किसी क्रिया की सम्यक् रूप से खेलो मे गिनती होने के लिए उसमे $व_न$ खेल-विशेपताओ मे से चार या अधिक के किसी सयोग का होना आवश्यक और पर्याप्त हैं। ऐसा हो सकता है कि केवल तीन ही खेल-विशेपताओवाली कोई क्रिया असदिग्ध रूप से खेल हो, और पांच विशेपताओं-वाली अन्य क्रियाएँ खेल न हो।[1]

जरा "कुत्ता" शब्द की परिभाषा बताने की कोशिश कीजिए। कुत्ते की कुछ मुख्य विशेपताएँ क्या है? कुत्तो की चार टाँगें होती हैं और बाल होते हैं, अन्य स्तनधारी जतुओ की तुलना मे उनकी नाक लबी (या लबी-सी) होती है, वे भौंक सकते है और कभी-कभी भौंकते है, प्रसन्न या उत्तेजित होने पर वे अपनी दुम हिलाते हैं, इत्यादि। स्पष्ट है कि इनमे से एक या अधिक विशेपताएँ गायब रह सकती हैं एक तीन पैरो वाला कुत्ता जब तक कुत्ते की अन्य विशेपताएँ रखता है (क्या अन्य सभी? नही, जरूरी नही है), तब तक कुत्ता ही रहेगा, न भौंक पाने पर भी एक कुत्ता कुत्ता रहेगा—

---

१ जॉर्ज पिचर, दि फिलॉसफी ऑफ विट्गेन्स्टाइन (ऐंगलवुड क्लिफ्स : प्रेन्टिस हॉल, १९६४) पृ० २२०।

"न भौंकनेवाले कुत्तो की पूरी-की-पूरी जातियाँ होती हैं", इत्यादि। एक परिभाषक विशेषता तो स्पष्ट है . स्तनधारी होना। निस्सदेह यदि जानवर स्तनधारी नही है तो वह तुरत कुत्ता कहलाने के अधिकार से वचित हो जाएगा। परतु इससे कोई अधिक सहायता नही मिलती, क्योकि असख्य स्नतधारी जतु ऐसे है जो कुत्ते नही है। जब हम अन्य कुत्ते की जैसी विशेषताओं को लेते है, तब शायद हमे एक-दो ऐसी मिल जाएँ जिन्हे हम परिभाषक मान सकते हो, परतु अधिकाशत हम "कुत्ता" शब्द के साथ जुडी हुई विशेषताओं का एक पुज पाते है, जिनमे से सबका रहना आवश्यक नही होता। असल मे, उनमे से प्रत्येक अनुपस्थित रह सकती है (और इसलिए वह परिभाषक नही है) और फिर भी जानवर कुत्ता बना रहेगा, बशर्ते अन्य विशेषताओ मे से सब, अधिकतर या कुछ (इसमे भी स्थिरता नही है) उपस्थित रहे।

अब हम देखते है कि भाषा की हमारी तस्वीर कितनी बदल गई है। शुरू मे हमने शब्द की यह तस्वीर प्रस्तुत की थी कि वह विशेषताओ की एक निश्चित सख्या (उन्हे अ, ब, स और द कह लीजिए) का सूचक होता है, जब तक किसी चीज मे ये चारो न हो तब तक वह क नही कहलाएगी। परतु जब हम अनेक शब्दो (अधिकतर शब्दो) के प्रसग मे यह देखते हैं कि वस्तु क है और विशेषताएँ उसमे केवल अ, ब और स, अथवा अ, ब और द, या अ, स और द, या ब, स और द ही हैं। इस प्रकार चारो विशेषताओ मे से कोई भी परिभाषक नही है। असल मे, यह हो सकता है कि वस्तु क हो और उसमे विशेषताएँ केवल अ और ब, या अ और स, या अ और द, या ब और द इत्यादि ही हो। दूसरे शब्दो मे

अ विशेषताओ के एक निश्चित समुच्चय मे से किसी भी एक का उपस्थित रहना तब तक जरूरी नही है जब तक शेष सब, या उनमे से अधिकतर भी, उपस्थित है, परतु सभी के अनुपस्थित रहने से काम नही चलेगा। इसे भाषा की कोरमवाली विशेषता कहा जा सकता है। ससद् के अधिवेशन को औपचारिक रूप से मान्यता तभी प्राप्त होगी जब सदस्यो का एक कोरम (अल्पतम निश्चित सख्या) उपस्थित हो, परतु किसी भी सदस्य विशेष की उपस्थिति आवश्यक नही है। जब तक अन्य सदस्यो की अल्पतम आवश्यक सख्या उपस्थित है तब तक कोई भी एक सदस्य ऐसा नही है जिसे छोडा न जा सके। यही कोरम वाली शर्त है।

ब. परंतु कोरम क्या हो, यह बात एक समूह से दूसरे समूह में बदल जाती है, और शब्द-शब्द में अलग होती है। "एक के अलावा सभी क वाली विशेषताएँ" मौजूद हो, ऐसा आवश्यक नही है ; "अधिकतर विशेषताएँ—५० प्रतिशत से अधिक कुछ भी" होना भी जरूरी नहीं है। क-वाली विशेषताएँ जितनी अधिक उपस्थित होंगी, उतने ही अधिक विश्वास के साथ हम शब्द को लागू कर सकेंगे ; परंतु यह हम नहीं कह सकते कि पूरे समुच्चय का कोई निर्धारित प्रतिशत उपस्थित हो। यह नही कहा जा सकता कि यदि खेल की चार या अधिक विशेषताएँ मौजूद हैं तो अमुक चेष्टा एक खेल है और यदि चार से कम है तो नही। यहाँ शब्द के लागू हो सकने के लिए विशेषताओं का जो प्रतिशत मौजूद होना चाहिए उसकी दृष्टि से शब्द अस्पष्ट है।

स. यहाँ तक हम यह मानकर चले है कि समुच्चय में क-वाली विशेषताओं की कम-से-कम एक निश्चित संख्या है, और कि कठिनाई केवल प्रतिशत को निर्धारित करने की है। परंतु बात ऐसी नही है : प्रायः समुच्चय में क-वाली विशेषताओं की कोई निश्चित संख्या नहीं होती—कम-से-कम हम विश्वास के साथ नही कह सकते कि वह है। बात न केवल यह है कि कोई शब्द लागू होता है या नही, इसका निर्णय क की विशेषताओं के कितने प्रतिशत से कोरम बनता है, यह पता लगाकर नही किया जा सकता, अपितु यह भी है कि हम विशेषताओं की किसी भी निश्चित संख्या को लेकर यह नही कह सकते कि वही क की विशेषताओं का समुच्चय है। "तंत्रिकातापी" शब्द पर विचार कीजिए : क्या विशेषताओं का कोई निश्चित समुच्चय यहाँ है ? शायद आदमी बहुत ही घबराने वाला और चिड़चिड़ा है ; शायद वह थोड़ी-सी भी उत्तेजना पाने पर गुस्से में बेकाबू हो जाता है ; शायद बहुत ही विचित्र परिस्थितियों में उसे सदैव अपराधी होने की अनुभूति होती है (जैसे शीशे को छूते समय) या उसमें ऐसी अनुभूति का अभाव होता है जबकि वह अन्यों को होती है ; शायद वह अस्थिर है और बिल्कुल साधारण अंतर्द्वन्द्व-रहित परिस्थितियों में भी उसपर निर्भर नही रहा जा सकता ; शायद वह कभी किसी बात को लेकर निर्णय नही कर सकता और सदैव डावाडोल रहता है ; इत्यादि। इनमें से कोई भी तंत्रिकातापी की परिभाषक विशेषता नही है। इनमें से एक या अधिक—बल्कि अधिकतर—के बिना भी व्यक्ति तंत्रिकातापी हो सकता है। पर, क्या चुनाव करने के लिए विशेषताओं का कोई निर्धारित समुच्चय है ? उनकी सूची कौन बना सकेगा ? और यदि कोई बना भी सके

तो क्या उसे पक्का विश्वास होगा कि सूची पूरी है और कि उसमें कोई और ऐसी विशेषता कभी नही जोड़ी जा सकती जिसे तंत्रिकातापी की विशेषता माना जाए ?

द. सभी विशेषताओं का महत्त्व बराबर नहीं होता। कुछ ऐसी हो सकती है जो अन्यों से अधिक महत्त्व की हों। इस प्रकार किसी चीज के क होने के लिए अकेली अ का उससे भी अधिक महत्त्व हो सकता है जितना व और स दोनों का मिलाकर है। किसी की वुद्धि को आंकने मे निरी स्मरण-शक्ति की अपेक्षा आविष्कारशीलता अधिक महत्त्व की गिनी जाती है।

य. कुछ विशेषताएँ अनुपस्थित या उपस्थित मात्र नही होतीं वल्कि विविध मात्राओं में उपस्थित होती है, और कितनी ही ऊँची मात्रा में ऐसी एक विशेपता उपस्थित होगी उतना ही अधिक वजन इस वात को मिलेगा कि विचाराधीन वस्तु को क कहा जाए। प्रत्येक के अंदर स्मरण-शक्ति की कुछ मात्रा होती है, परंतु उसकी जितनी अधिक मात्रा किसी में होगी उतनी ही अधिक वुद्धि (अन्य वातों के समान रहते हुए) उसके अंदर होगी। अधिकतर ऐसा होता है कि किसी विशेषता की जितनी अधिक मात्रा कितना अधिक वजन रखती है, यह गणित की शब्दावली मे नहीं बताया जा सकता; केवल यही अस्पष्ट रूप से बताया जा सकता है कि "अ की जितनी अधिक मात्रा मौजूद होगी उतने ही अधिक विश्वास के साथ हम कह सकते हैं कि यह क है"।

अब हमारी समझ मे वे विविध बातें आने लगी हैं जिनमें कोई शब्द अस्पष्ट हो सकता है। यह भाषा की ऐसी व्यापक विशेपता है कि सबसे अधिक तकनीकी, वैज्ञानिक शब्दावली तक में, यह पहुँच गई है। शायद आपने सोचा होगा कि "स्तनपायी" का अर्थ कोई भी ऐसा जानवर है जो अपने बच्चे को अपना दूध पिलाता है, परंतु यदि आप अमरीकी जीवविज्ञान-कोश को देखें तो इस शब्द के साथ आठ विशेपताएँ जुडी हुई पाएँगे, जिनमे से एक अनिश्चित कोरम की उपस्थिति आवश्यक है और प्रत्येक का वजन भिन्न है (कितना ? यह निश्चित नही है)। अथवा "सोना" शब्द को ही लीजिए। इस शब्द के साथ अनेक विशेपताएँ जुडी हुई है: सोना कुछ विशेप स्पेक्ट्रमी रेखाओ को उत्पन्न करता है, उसका एक परमाणु-क्रमाक (७९) होता है, एक परमाणु-भार होता है, एक विशेप रंग होता है, उसमे पिटने पर फैलने की

कुछ क्षमता होती है, उसका एक गलनांक होता है और उसका कुछ ही चीजों से रासायनिक संयोग होता है, अन्यो से नही । अनेक रसायनज्ञ कहेंगे कि इस शब्द की परिभाषा के लिए केवल परमाणु-क्रमांक ही पर्याप्त है—कि यह इसकी परिभाषक विशेषता है और केवल यही एक आवश्यक है। फिर भी, वही रसायनज्ञ उसी परमाणु-क्रमांक वाली ऐसी चीज के दिखाई देने पर उलझन मे पड़ जाएँगे जो पीली न होकर बैंगनी रंग की हो, पिटने पर फैले नही, भिन्न गलनाक वाली हो, तथा भिन्न स्पेक्ट्रमी रेखाओं की शृंखला पैदा करे। क्या उसे वे सोना कहेंगे ? कुछ तो निस्संदेह कहेगे ; अन्य नही कहेगे । कुछ तो निश्चय ही इन सब विशेषताओं को परिभाषक मानेंगे—"यदि इनमे से एक की भी कमी हो तो वह चीज सोना नही होगी"—परंतु यह स्थिति इस तथ्य को देखते हुए संदिग्ध है कि तत्त्व की एक सामान्य विशेषता के रूप में जो परमाणु-भार होता है उससे भिन्न परमाणु-भार उसके समस्थानिक मे होता है, लेकिन फिर भी रसायनज्ञ उसे, क की अन्य विशेषताएँ जब तक उसमे हैं तब तक क कहते हैं ("क का समस्थानिक")। वास्तव मे, यदि इस तरह की कोई बात हो ही जाए, तो यह कतई स्पष्ट नही है कि स्वयं रसायनज्ञ क्या कहेंगे। वे ऊपर की सारी विशेषताओं को एकसाथ देखने के इतने अभ्यस्त हो गए है कि यदि इनमें से एक या दो विशेषताएँ कमवाली कोई चीज निकल आए तो उसे वे क्या कहेंगे, इस बात पर उन्होने विचार ही नहीं किया है।

यदि तरह-तरह की नई और अप्रत्याशित घटनाएँ होने लगें तो हम क्या कहेंगे, यह हमने पहले से बिल्कुल कल्पना ही नही की है। क्या हम किसी चीज को तब भी क कहेंगे यदि अप्रत्याशित घटनाएँ प, फ, ब घट जाएँ ? शायद हमने ऐसी सभावना के लिए एक या दूसरे रूप मे कोई गुंजाइश न रखी हो। उदाहरण के लिए, यह विचार कीजिए कि हम "बिल्ली" शब्द का प्रयोग कब करते हैं और कब नही करते। इस शब्द में निश्चय ही वह चीज है जिसे हमने भाषा की कोरमवाली विशेषता कहा है : इस शब्द के साथ अनेक (संख्या बहुत निश्चित नही है) विशेषताएँ जुडी हुई हैं, जैसे चार पैरोंवाला होना, घने बाल होना, मूछें होना, शिकार का लुक-छिपकर पीछा करना और उसे मारकर खाना, घुरघुराना और म्याऊँ-म्याऊँ करना इत्यादि। इनमे से कोई भी एक विशेषता आवश्यक नही लगती : ऐसी बिल्ली हो सकती है जो कभी म्याऊँ-म्याऊँ न करे, जो कभी घुरघुराए नही, जो मांसाहारी न हो, इत्यादि। विशेषताओं का एक कोरम तो रहना ही चाहिए, क्योंकि ऐसा नही हो सकता

कि बिल्ली हो और इनमे से कोई भी विशेषता उसमे न हो, और इसमे भी कोई सदेह नही कि कुछ विशेषताओ को दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण गिना जाएगा। जितनी अधिक विशेषताएँ मौजूद होगी (विशेषतः अधिक महत्त्व वाली) उतना ही अधिक किसी चीज को हम बिल्ली कहना चाहेगे। पर अब मान लीजिए कि बहुत-से गवाहो के तथा रिकार्ड करनेवाली मशीनो के सामने वह जानवर अग्रेजी कविता की कुछ पंक्तियाँ बोलने लगे। तब हम क्या करेंगे? क्या हम अब भी उसे बिल्ली कहेगे या बिल्ली की तरह दिखाई देने वाला आदमी कहेगे? अथवा, यदि हमारे देखते-देखते वह एकाएक फूलकर अपने सामान्य आकार का सौगुना हो जाए, तो क्या कहा जाएगा?

······अथवा यदि उसने कोई विचित्र व्यवहार किया जो प्रायः बिल्लियाँ नही करती, जैसे यदि कुछ परिस्थितियो मे मृत्यु के बाद वह पुन. जीवित हो जाए जबकि सामान्य बिल्लियाँ पुनः जीवित नही हो सकती? क्या ऐसी दशा मे मैं यह कहूँगा कि एक नई जाति पैदा हो गई है? या यह कि यह असाधारण गुणोवाली एक बिल्ली ही है?

फिर, मान लीजिए, मैं कहता हूँ कि "वह मेरा मित्र आ रहा है।" तब क्या होगा यदि निकट पहुँचने पर मैं मिलाने के लिए हाथ बढाऊँ और वह एकाएक गायब हो जाए? "इसलिए वह मेरा मित्र नही था बल्कि कोई भ्रम था।" परंतु मान लीजिए कि कुछ क्षणो के बाद वह पुनः दिखाई देता है, मैं उससे हाथ मिलाता हूँ, इत्यादि। तब फिर? "अत. मेरा मित्र था और उसका गायब होना एक भ्रम था।" परतु कल्पना कीजिए कि थोडी देर बाद वह पुन. लुप्त हो जाता है, या गायब लगता है। अब मैं क्या कहूँगा? क्या हमारे पास उन सभी सभावनाओ के लिए पहले से नियम तैयार है जिनकी कल्पना की जा सकती है? ......

मान लीजिए, मुझे कोई ऐसा प्राणी मिलता है जो आदमी की तरह दिखाई देता है, आदमी की तरह बोलता है, आदमी की तरह व्यवहार करता है और केवल एक बालिश्त लबा है। क्या मैं उसे एक आदमी कहूँगा? अथवा उस व्यक्ति को क्या कहेंगे जो इतना वृद्ध हो कि राजा डेरियस उसे याद हो? क्या आप उसे अमर कहेगे? क्या कोई सर्वसमावेशी परिभाषा जैसी चीज है जो एक ही बार मे और अतिम रूप से हमारी जिज्ञासा को शात कर दे? "पर क्या कम-से कम विज्ञान मे सही-सही परिभाषाएँ नही है?" देखें।

ऐसा लगता है कि सोने का जो स्पेक्ट्रम है और उसमें जो विशिष्ट रेखाएँ होती हैं उनसे सोने के प्रत्यय की परिभाषा बिल्कुल निश्चित बनती है। अब यदि कोई ऐसा पदार्थ मिल जाता है जो सोने की तरह दिखाई दे, सोने के सारे रासायनिक परीक्षणो मे सही उतरे, पर एक नए ही प्रकार का विकिरण उत्सर्जित करे, तो आप क्या कहेंगे ? "परंतु ऐसी बातें होती नही हैं।" ठीक है ; पर हो तो सकती हैं ; और इतना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि किसी ऐसी अप्रत्याशित परिस्थिति के पैदा होने की सभावना को बिल्कुल हटाया नही जा सकता जिसमे हमे अपनी परिभाषा को बदलना पडे।[1]

सारांश यह है कि उन सब संभव परिस्थितियो की हम पहले से कल्पना नही कर सकते जिनके होने पर हम इस बात को लेकर सदेह मे पड जाएँ कि शब्द का सबधित वस्तु के लिए प्रयोग करना चाहिए या नही। हम भले ही यह समझते हो कि किसी शब्द का हमारा प्रयोग एकदम स्पष्ट है, ऐसी परिस्थितियो की फिर भी कल्पना की जा सकती है जिनमे हम बिल्कुल नही जान पाएँगे कि क्या कहना है। हम कुछ दिशाओ मे सदेह के होने को यह कहकर रोक सकते हैं कि "अगर वह ऐसा करती है तो वह बिल्ली नही होगी", परतु तब उन अनगिनत दिशाओ का क्या होगा जिनके बारे मे हमने कभी सोचा ही नही है ?

भरसक कोशिश करके देख लीजिए, पर कोई सप्रत्यय इस तरह सीमित है नही कि किसी सदेह के लिए गुंजाइश ही न छोडे। हम एक संप्रत्यय प्रस्तुत करते हैं और किन्ही दिशाओ मे उसे सीमित कर देते हैं। उदाहरणार्थ, हम सोने को कुछ अन्य धातुओ, जैसे मिश्र-धातुओ, से वैषम्य दिखाकर परिभाषित कर देते हैं। इतना हमारी मौजूदा जरूरतो के लिए काफी है और हम अधिक जांच-पडताल नही करते। हम इस तथ्य को भूल-से जाते हैं कि ऐसी अन्य दिशाएँ सदैव बनी रह जाती हैं जिनमे यह संप्रत्यय परिभाषित नही हुआ है ; और यदि हम भूल ही गए तो हम आसानी से उन परिस्थितियो की कल्पना कर सकते हैं जिनकी वजह से नई सीमाएँ बांधना

---

१. एन्टोनी फ्ल्यू द्वारा संपादित लॉजिक एंड लैंग्वेज, प्रथम शृंखला (ऑक्सफोर्ड : ब्लैकवेल) में फ्रेडरिक वेजमान का लेख "वेरिफायबिलिटी" पृष्ठ ११९-२०।

आवश्यक हो जाएगा। सक्षेप मे, सोना-जैसे एक सप्रत्यय की पूरी स्पष्टता के साथ अर्थात् इस प्रकार परिभाषा देना सभव नही है कि सदेह के प्रवेश के सब रास्ते बद हो जाएँ।[१]

क्या सभी शब्द इस प्रकार अस्पष्ट होते है ? नही, पर शायद अधिकतर होते है। गणित मे (जिसमे ज्यामिति भी शामिल है) अनेक शब्दो की परिभाषाएँ बिल्कुल निश्चित होती है, जैसे—"त्रिभुज", "घन" तथा "ज्या" की। हम ठीक-ठीक जानते है कि इन शब्दो का कब प्रयोग करना है और कब नही। अप्रत्याशित परिस्थितियो के कारण हमे बिल्कुल भी सदेहग्रस्त नही होना पडता। यदि बनाई हुई तीनो शर्ते पूरी होती हैं तो त्रिभुज है, और यदि नही होती तो त्रिभुज नही है, और बात यही समाप्त है। परन्तु, असल मे दैनिक व्यवहार मे प्रयुक्त होनेवाले सारे शब्दो मे, कम से कम उन सबमे जिनका हम दुनिया की वस्तुओ, प्रक्रमो और क्रियाओ के लिए प्रयोग करते है, इस स्पष्टता का अभाव होता है।

३—जिन शब्दो के द्वारा हम परिभाषा देते हैं उनकी अस्पष्टता—अस्पष्टता के बारे मे एक अतिम बात की ओर अभी ध्यान देना शेष है। हम एक शब्द की, जो पहले चर्चित एक या अधिक बातो मे अस्पष्ट है, जाँच करेगे और तब दिखाएगे कि कैसे वह एक और बात मे अस्पष्ट है। "निवासी" शब्द को लीजिए।

किन परिस्थितियो मे एक व्यक्ति को एक समुदाय का निवासी कहना है ? स्पष्ट है कि जो व्यक्ति एक समुदाय की सीमाओ के अदर रहता और काम करता है वह उसका निवासी है, और यह भी स्पष्ट है कि जिसने कभी उन सीमाओ के अदर कदम नही रखा वह उसका निवासी नही है। परतु, यदि उस समुदाय मे उसका एक घर है जिसमे वह केवल गर्मी मे रहता है और जिसे वह वर्ष के शेष दिनो, जबकि वह अन्यत्र रहता है, किराए पर उठा देता है, तब क्या कहा जाएगा ? यदि वह उस समुदाय के अदर के कॉलेज मे पढता है, पढाई के दिनो छात्रावास मे रहता है और छुट्टी के दिनो मे उस समुदाय मे बाहर रहता है, तो क्या होगा ? यदि वह एक दो वर्ष की निश्चित अवधि मे उस समुदाय के अदर रहता और काम करता है, परतु उसका घर-

१ वही पृष्ठ १२०।

एक अन्य समुदाय मे है, जहाँ उसका अधिकतर सामान रहता है और जहाँ इस अवधि की समाप्ति के बाद उसके लौटने की योजना है, तो क्या होगा ? क्या दो वर्ष की इस अवधि मे वह उस समुदाय का निवासी है ?[१]

परतु, अब मान लीजिए कि हमने नए और अधिक स्पष्ट अर्थ स्थिर करके ये सारी समस्याएँ तय कर ली हैं। यह करने के बाद भी एक और समस्या पैदा होती है :

यदि हम यह निर्णय कर भी लें कि 'निवासी,' शब्द के प्रयोग के लिए शर्तों का कौन-सा समुच्चय आवश्यक और पर्याप्त है, तो भी वे शब्द जिनके द्वारा ये शर्तें बताई गई हैं, स्वय ही थोडे-बहुत अस्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए, हमने "समुदाय मे काम करता है" कहा है। निस्सदेह इस वाक्याश की प्रयोज्यता या अप्रयोज्यता अनेक प्रसगो मे समस्याजनक नही होती, पर कही-कही समस्या पैदा होती ही है। उस विक्रेता के बारे मे आप क्या कहेंगे जिसकी कपनी का मुख्य कार्यालय तो समुदाय के अदर है, परतु जिसका काम ही ऐसा है कि अधिकतर समय मे उसे बाहर रहना पडता है ? अथवा, इसके विपरीत, उस आदमी को आप क्या कहेंगे जिसका मालिक बाहर रहता है, परतु जो काम का अधिकाश समय परामर्शदाता के रूप मे या लोगो को प्रभावित करने के लिए उस समुदाय के अदर व्यतीत करता है ? और उस लेखक के बारे मे आप क्या कहेंगे जो लिखने का अधिकाश काम उस समुदाय की सीमाओ के अदर करता है ? क्या वह "समुदाय मे काम करता है" ? "घर मे रहता है" भी अस्पष्ट है। यदि एक आदमी कई घरो का स्वामी है, उनमे से किसी को भी किराए पर नही उठाता, और अपना थोडा-थोडा समय प्रत्येक के अदर बिताता है, तो क्या वह सबमे रहता है या एक या अधिक मे रहता है ? इसी तरह की बात अन्य शब्दो को लेकर भी पैदा होती है।[२]

सारांश यह है : जब हम शब्दों की परिभाषा अन्य शब्दों का प्रयोग करके देते हैं—जैसा कि हम निदर्शनात्मक परिभाषा के अलावा सभी परिभाषाओ मे करते हैं—तब ये अन्य शब्द स्वय ही प्रायः अस्पष्ट होते हैं। हम "क" की

---

१. विलियम पी० ऑल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज, पृष्ठ ९०।

२. वही, पृष्ठ ९१। इसी प्रकार स्वय "समुदाय" शब्द भी अस्पष्ट है : देखिए पृष्ठ ९०।

परिभाषा अ, ब और स विशेषताओं के सूचक शब्दों के द्वारा दे सकते है, परंतु शायद यही स्पष्ट न हो कि अ, ब और स विशेषताओं का होना ठीक-ठीक क्या है। कुत्ता किसी प्रकार का एक स्तनधारी होता है ; पर स्तनधारी ठीक-ठीक क्या होता है ? स्तनधारी के चार पैर होते है ; पर पैर ठीक क्या होता है ? (यदि आकार अणु की तरह सूक्ष्म हो तो भी क्या वह पैर है ? यदि जानवर उससे चल न सके तो ? यदि शक्ल से तो वह पैर-जैसा हो पर निकला वह शरीर के ऊपर से या अगल-बगल से हो तो ? यदि लंबाई की अपेक्षा वह बीसगुना मोटा हो तो ? इत्यादि) ड्रैगन आग उगलने-वाला सांप है ; परंतु आग ठीक-ठीक क्या है ? (ऐसे संभव उदाहरणो को क्या कहेगे जिनमें आग की कुछ विशेषताएँ मौजूद हों पर अन्य न हों ?) आग उगलना किसको कहेंगे ? (यहाँ अनेक संदेह पैदा करनेवाली संभावनाएँ हैं।) और कोई जानवर सांप कब होता है ? हत्या करना जान लेना है—पर ठीक कब जान ली जाती है ? यदि आप एक आदमी को मरने के लिए ठंड मे छोड़ देते है, न उसे गोली मारते है न उसे विष देते है बलिक जहाँ आपने उसे पाया वही उसे ज्यो का त्यों पडे रहने देते है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि आपने उसकी हत्या की ? यदि आपने अपनी पत्नी को आत्म-हत्या के लिए मजबूर कर दिया है, तो क्या यह हत्या है ? यदि एक पैदल चलनेवाला इसलिए मर जाता है कि आप अपनी कार को समय पर नहीं रोक सके, और आप उसे समय पर इसलिए नही रोक सके कि ब्रेक अचानक खराब हो गए, तो क्या यह हत्या है ? इत्यादि। मूल शब्द में हम जो अस्पष्टता पाते हैं वही अस्पष्टता फिर उन शब्दों में हो सकती है जिन्हें हम उसकी परिभाषा में इस्तेमाल करते हैं। जब भी आप यह सोचते है कि "क" शब्द के प्रयोग के लिए आपको एक ऐसा नियम मिल गया है जो संदेहातीत है, तभी हो सकता है कि नियम में प्रयुक्त शब्द स्वय ही संदेहातीत न हों। छिद्रों को भरने के लिए जो गिट्टियां डाली गई हैं उनमें शायद स्वयं छिद्र हों जिन्हें भरने के लिए गिट्टियों की जरूरत हो।

किसी भी जीवित भाषा का निर्माण जिस तरीके से होता है उसमे ये सारी अस्पष्टताएँ रहती हैं। जब तक शब्दो की परिभाषा अन्य (पहले के) अस्पष्ट शब्दों के द्वारा दी जाती है और उन अन्य शब्दों की भी और अन्य अस्पष्ट शब्दों से, तब तक कोई चारा नही है। ये शब्द अत मे जाकर

निदर्शनात्मक परिभाषाओं पर आश्रित होते है, पर निदर्शनात्मक परिभाषाएँ भी अस्पष्ट होती हैं : वे शब्द जिन पर लागू होता है ऐसे उदाहरणों की ओर इशारा करती है, परंतु चाहे जितनी अधिक निदर्शनात्मक परिभाषा दी जाए वह नहीं बता पाएगी कि सीमा-रेखाएँ ठीक कहाँ है, विशेष रूप से तब जब अस्पष्टता एक ही साथ अनेक दिशाओं में होती है। गणित के शब्दों में सबसे कम अस्पष्टता होती है ; और शायद दूसरे नंबर पर वे शब्द आते है जो विभिन्न विज्ञानों में विशेष प्रयोजनों से बनाए गए है। परंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, यहाँ भी काफी अस्पष्टता दिखाई देती है। इन कठिनाइयों से बचने का एकमात्र उपाय यह होगा कि एक कृत्रिम भाषा का आविष्कार किया जाए और हिन्दी इत्यादि किसी "प्राकृतिक भाषा" का कतई प्रयोग न किया जाए। कृत्रिम भाषा में हम थोड़े-से अपरिभाषित शब्दों ("आदिम शब्दों") से शुरूआत करेंगे, और फिर अन्य शब्दों की परिभाषा पूरी तरह इन शब्दों के द्वारा देंगे। इसी तरह हम आगे बढ़ते रहेंगे और प्रत्येक चरण पर इस बात का निश्चय करते चलेंगे कि किसी ऐसे शब्द का इस्तेमाल न हो जिसकी पहले आदिम शब्दों के द्वारा स्पष्ट परिभाषा न दी जा चुकी हो। परंतु कृत्रिम भाषा का जैसा खेल कितना ही रोचक क्यों न हो, किसी जीवित भाषा के शब्दों के अर्थों के विश्लेषण में वह शायद ही सहायक होगी और जिन समस्याओं की हम दर्शन में तथा अधिकतर अन्य शास्त्रों में चर्चा करते हैं उनको पैदा करनेवाले असल में जीवित भाषा के शब्द ही होते है।

४. वाक्यार्थ

यहाँ तक हमने शब्दों और वाक्यांशों के अर्थ पर विचार किया है। परंतु साधारणतः हम पृथक् शब्दों या वाक्यांशों को नहीं वल्कि पूरे वाक्यों को वोलते है। प्रत्येक वाक्य शब्दों से बना होता है (परिभाषा के अनुसार, जिनके अर्थ होते हैं, अन्यथा वे शब्द ही नही हैं) ; परंतु शब्दों का प्रत्येक क्रम वाक्य नही है। शब्दों के अर्थ होने से यह बात जरूरी नही होती कि वाक्य का भी अर्थ हो। वाक्य के अर्थ का संबंध इस बात से होता है कि शब्दों के एक क्रम का क्या उपयोग किया जा रहा है। शब्दों से निर्मित अभिव्यक्तियों का एक मुख्य उपयोग अभिकथन करना होता है ; पर वाक्यों का उपयोग अन्य तरीकों से भी होता है। अब वाक्यार्थ की चर्चा में अनेक नई बातें हमारे सामने आएँगी।

"वाक्य" की बिल्कुल ठीक परिभाषा बताने का कठिन काम हम वैयाकरणों के लिए छोड़ देंगे, पर इतना जरूर कहेंगे कि वाक्य में कम-से-कम एक उद्देश्य और एक क्रिया अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार "सूरज निकला" एक वाक्य है, पर "क्योंकि पूर्णतः चलना" नहीं। निरर्थक अक्षर-समूहों के क्रम में शब्दार्थ और वाक्यार्थ दोनों का ही अभाव होता है, जैसे "सला कुम पारीस"। और, शब्दों के एक क्रम में शब्दार्थ हो सकता है पर वाक्यार्थ का अभाव हो सकता है, जैसे "दौड़ना अच्छा और"। इनसे हम कोई संबंध नही रखेंगे। हमारा मुख्य काम उन स्थितियों को ढूंढने का होगा जिनमें वाक्य सार्थक होते हैं, ताकि सार्थक वाक्यों का निरर्थक वाक्यों से भेद किया जा सके—परंतु पहली बात यह है कि वे वाक्य हों, और इसके लिए जरूरी यह है कि वे शब्दों से बने हो, न कि निरर्थक आवाजों से।

प्रतिज्ञप्तियाँ—प्रारंभ में हमें प्रतिज्ञप्तियों और वाक्यों में अंतर करना पड़ेगा। जैसे शब्द का वैसे ही वाक्य का भी अर्थ होता है : वाक्य कागज के ऊपर बने हुए निशानों का या ध्वनियों का एक सिलसिला मात्र नहीं होता बल्कि अर्थ रखनेवाला ऐसा सिलसिला होता है। परंतु जब हम प्रतिज्ञप्ति की बात करते है तब हम वाक्य की नहीं बल्कि उसकी बात करते है जो वाक्य का अर्थ होता है। दो या अधिक वाक्यों का एक ही प्रतिज्ञप्ति को प्रकट करने के लिए अर्थात् एक ही अर्थ को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। "बंबई दिल्ली से बड़ा है" तथा 'दिल्ली बंबई से छोटी है" दो भिन्न वाक्य है, और दोनों में बहुत अंतर है : उदाहरणार्थ पहले वाक्य में "बड़ा" शब्द है जबकि दूसरे मे नहीं है; पहला वाक्य "ब" अक्षर से शुरू होता है जबकि दूसरा नहीं; इत्यादि। फिर भी दोनों एक ही प्रतिज्ञप्ति को प्रकट करते है। दोनों एक ही जानकारी देते हैं ; दोनों एक ही वस्तुस्थिति का अस्तित्व बताते हैं। यदि आप मानते हैं कि पहला वाक्य सत्य है, तो आप इस बात से बँध जाते हैं कि दूसरा भी सत्य है। और यदि कोई कहे कि "मैं आपको दो सूचनाएँ दूंगा : बंबई दिल्ली से बड़ा है और दिल्ली बंबई से छोटी है" तो हम कहेंगे कि वह हमें दो सूचनाएँ नहीं बल्कि एक ही सूचना दे रहा है। इसका उल्टा भी होता है : एक ही वाक्य का प्रयोग भिन्न प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करने के लिए किया जा सकता है। ऐसा तब होता है जब वाक्य अनेकार्थक होता है। "उसे फल मिल गया" का यह अर्थ हो सकता है कि उसने आम-

जैसा कोई फल पा लिया और यह भी हो सकता है कि उसने अपने किसी दुष्कर्म का परिणाम भुगत लिया। दोनो ही अर्थ अलग है, पर वाक्य एक है।

सत्य या असत्य प्रतिज्ञप्ति होती है, जबकि वाक्य सार्थक या निरर्थक होता है। वाक्य केवल अर्थ का वाहक होता है, और केवल उस अर्थ को जानने के बाद ही हम यह जान सकते है कि उसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति सत्य है या असत्य। वास्तव मे प्रतिज्ञप्ति की परिभाषा प्राय दी ही यह जाती है कि वह "ऐसी चीज है जो सत्य या असत्य हो"।

"प्रतिज्ञप्ति" शब्द का दर्शन मे एक विशेष अर्थ है। इसका प्रतिज्ञा इत्यादि साधारण अर्थ से कोई सबध नही है। प्रतिज्ञप्तियो की चर्चा मे कई पृष्ठ रँगे जा सकते है जो कि अधिकाशत. बर्बाद जाएँगे : हम इस प्रकार के प्रश्न पूछ सकते है जैसे, "क्या प्रतिज्ञप्तियाँ कालिक सत्ताएँ हैं या कालातीत सत्ताएँ है?" "क्या प्रतिज्ञप्तियो का वाक्य मे व्यक्त होने से पहले अस्तित्व होता है?" "वाक्यो मे व्यक्त रूप के अलावा प्रतिज्ञप्तियाँ क्या होती हैं?" यहाँ इतने सारे प्रश्न उत्पन्न होते है कि दर्शन के बहुत-से विद्यार्थियो को "प्रतिज्ञप्ति" शब्द का प्रयोग बिल्कुल बद कर देना पडा है और केवल वाक्यो तथा वाक्यो के वर्गो की बात करनी पडी है। फिर भी, दोनो मे अतर करना उपयोगी है : वाक्य (जो कि वैयाकरणो का विषय है) अलग होता है और उसका अर्थ अलग। दार्शनिको का वाक्यो से केवल इसलिए सबध होता कि ये अर्थों के वाहक होते हैं। वाक्यो का विश्लेषण (और उनमे आनेवाले शब्दो का भी), उनका इतिहास, उनका प्रारभ तथा उनके सबध भाषा-विज्ञानियो, वाङ्मीमासको और व्युत्पत्ति-विशेषज्ञो के अध्ययन के विषय हैं। दर्शन मे वाक्यो से हमारा केवल इतना ही सबध है कि प्रतिज्ञप्तियो का कथन करने के लिए हमे वाक्यो का प्रयोग करना होता है। वाक्यो के स्थान पर अन्य भाषेतर चीजो से भी काम चलाया जाता है, जैसे तब जब मैं अपने मित्र को कहूँ कि पार्टी मे यह सूचित करने के लिए कि मैं अगले दस मिनट के अदर चला जाऊँगा, मैं अपनी कोट की जेब से रूमाल निकालूँगा। परंतु इस तरह का इशारा पहले से तय कर लेना पडता है और यह बताने के लिए कि इशारा किस प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किया जाएगा, मुझे भाषा का प्रयोग करना पड़ेगा।

हमे इस पुस्तक मे तकनीकी शब्द "प्रतिज्ञप्ति" का बार-बार प्रयोग

करना पड़ेगा। कभी-कभी हम "कथन" शब्द का प्रयोग करेंगे जो कि अधिक प्रचलित शब्द है। इसका मतलब वाक्य भी हो सकता है और उसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति भी। अनेक वार संदर्भ से पता चल जाता है कि इनमें से कौन अर्थ अभिप्रेत है। परंतु अनेक वार गड़वड़ी से वचने के लिए भेद करना महत्त्वपूर्ण होता है, और इसलिए तव हम "वाक्यों" और "प्रतिज्ञप्तियों" वाली स्पष्ट भाषा का प्रयोग करेंगे।

अभिकथन न करनेवाले वाक्य—हमने कहा है कि प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य या असत्य होती हैं; परंतु प्रत्येक वाक्य प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त नहीं करता। केवल वे ही वाक्य प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करते हैं जिनका प्रयोग हम किसी वात का अभिकथन करने के लिए करते हैं।[1] परंतु हम वहुत-सी अन्य वातें भी वाक्यों से करते है: हम आज्ञा देते है, सुझाव देते हैं, प्रश्न पूछते हैं, उद्‌गार प्रकट करते है। यदि आप कहें "दरवाजा वंद करो" और मैं कहूँ "हाँ, यह सच है," अथवा यदि आप कहें, "क्या बजा है?" और मैं जवाब दूं "नही", तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होगा कि मैं आपकी बात नहीं समझ रहा हूँ। तो फिर वाक्यों के मुख्य अनभिकथनात्मक कार्य ये हैं:—(१) प्रश्न—"क्या वजा है?" किसी वात का अभिकथन नही करता, और इसलिए यह न सत्य है और न असत्य। फिर भी, यह जानने के लिए कि उत्तर क्या देना है, हम काफी अच्छी तरह इसका अर्थ समझते हैं। (२) आज्ञा—"दरवाजा वंद करो" न सत्य है और न असत्य। यह किसी वात का अभिकथन नहीं करता। इसके वजाय यह आज्ञा देता है। (लेकिन "मैंने अभी दरवाजा

---

१ इस विषय का प्रत्येक लेखक इन अंतरों को एक ही तरीके से नहीं करता। उदाहरण के लिए, प्रो० सी० आई० ल्यूइस के अनुसार प्रतिज्ञप्ति एक वास्तविक या कथित वस्तुस्थिति होती है, जैसे रोटी-पकाती-हुई-सीता। इस प्रतिज्ञप्ति के साथ हम बहुत-सी बातें कर सकते है। हम इसका अभिकथन कर सकते है ("सीता रोटी पका रही है"), इसका निषेध कर सकते है ("सीता रोटी नहीं पका रही है"), इसे पूछ सकते हैं ("क्या सीता रोटी पका रही है?"), इसका सुझाव दे सकते हैं ("सीता, मेहरबानी से कुछ रोटियाँ पका दो"), इसकी आज्ञा दे सकते हैं ("सीता, रोटियाँ पका"), इत्यादि। जब तक आधारभूत प्रतिज्ञप्ति सार्थक है तब तक ये सब सार्थक हैं। "रोटी-पकाती-हुई-सीता" सार्थक है, "विस्तरे-पर-लेटा-हुआ-शनिवार" सार्थक नहीं है। देखिए सी० आई० ल्यूइस, ऐन अनैलिसिस ऑफ नॉलेज ऐंड वैल्यूएशन, पृ० ४८-५५।

बंद कर दिया है" एक अभिकथन है, और यह या तो सत्य है या असत्य।) "हम कमरे से बाहर चले जाएँ" नरम आज्ञा है। इस तरह के वाक्य भी किसी बात का अभिकथन नहीं करते, और न सत्य होते हैं, न असत्य। परंतु उनमें प्रतिज्ञप्तियाँ निहित हो सकती हैं। यदि से कहूँ "बात बंद करो", तो आप उत्तर दे सकते हैं, "पर मैं बात तो नही कर रहा हूँ"। (३) भावोद्गार—"अहा!" और "गजब का दिन है!" प्रायः वाक्य बिल्कुल नहीं माने जाते। कम से कम प्रतिज्ञप्तियाँ तो ये व्यक्त ही नही करते। परंतु कुछ उद्गारवाचक वाक्य भाव प्रकट करने के अलावा प्रतिज्ञप्तियों को भी अपने अंदर निहित रखते हैं। "क्या सुहावनी धूप है!" इसमें एक प्रतिज्ञप्ति निहित है: यह कि आज धूप का दिन है, और यह बात अवश्य ही सत्य है या असत्य। कोई यह उत्तर दे सकता है, "क्यों, यह सत्य नही है, आज तो धूप बिल्कुल नहीं है", जिससे यह प्रकट होता है कि उसने आपके वाक्य को किसी बात का अभिकथन करनेवाला समझा। हर हालत में कसौटी यह है: "यह सत्य है" या "यह असत्य है" कहकर उत्तर देना क्या ठीक है? एक ही वाक्य जो भावोद्गार प्रकट करता है, एक वक्ता के द्वारा अभिकथन के लिए बोला जा सकता है, और दूसरे वक्ता के द्वारा अभिकथन के लिए बिल्कुल भी नही बल्कि केवल भाव को प्रकट करने के लिए बोला जा सकता है। "क्या घोड़ा है!" भावोद्गार निकालने मात्र के लिए कहा जा सकता है, परंतु अधिक संभावना यह है कि इसका उद्देश्य न केवल यह है बल्कि यह अभिकथन करना भी है कि वक्ता के मत से घोड़ा उत्तम है।

हमारा मुख्य विषय वाक्यों के वे अर्थ होंगे जो अभिकथनात्मक हैं, जैसे "आलमारी मे एक चूहा घुसा है।" परंतु जिन स्थितियों में वाक्य सार्थक होते हैं उनकी छानबीन आसानी से अनभिकथनात्मक वाक्यों को अपने दायरे में ले सकती है। इस प्रकार, यदि "आलमारी में एक चूहा घुसा है" एक सार्थक अभिकथन है तो संबंधित प्रश्न "क्या आलमारी में एक चूहा घुसा है?" भी सार्थक होगा, और यदि "रविवार बिस्तरे पर पड़ा है" एक निरर्थक अभिकथन है तो संबंधित प्रश्न "क्या रविवार बिस्तरे पर पड़ा है?" भी निरर्थक है।

शब्दार्थ तथा वाक्यार्थ—शब्दों के अर्थों के बारे में जितनी बातों की हम पहले चर्चा कर चुके हैं उनमें से अनेक वाक्यार्थों पर भी लागू होती हैं। जैसे

शब्द अनेकार्थक या संदिग्धार्थक हो सकते हैं, ठीक वैसे ही वाक्य भी हो सकते है। एक वाक्य इसलिए अनेकार्थक हो सकता है कि उसमे एक शब्द अनेकार्थक है (क्योकि वह अकेला शब्द, जैसे "फल", वाक्य के दो अर्थ लगाने की सभावना पैदा कर देता है)। परतु वाक्य तब भी अनेकार्थक हो सकता है जब उसमे आए हुए शब्द अनेकार्थक न हो न केवल अलग-अलग शब्द बल्कि जिस क्रम मे वे वाक्य मे आते है वह भी वाक्य को एक से अधिक अर्थवाला बना सकता है। "वे सभी कुत्तो को डडे मारना चाहते थे" का अर्थ यह हो सकता है कि कुत्तो को डडे मारना चाहनेवाले वे सभी थे और यह भी कि सभी कुत्तो को वे डडे मारना चाहते थे। "सीता की कमला से बात होने के बाद वह चली गई" कहने से यह स्पष्ट नही होता कि सीता चली गई या कमला चली गई। जो अनेकार्थकता शब्दो के क्रम से आती है और क्रम बदल देने पर दूर हो सकती है वह वाक्यविन्यासात्मक अनेकार्थकता कहलाती है। यह शब्दार्थमूलक अनेकार्थकता (जिसकी पहले ही चर्चा की जा चुकी है) से भिन्न है, जिसमे एक अकेला शब्द या शब्द-समूह एक से अधिक अर्थ रखता है।

शब्दो की तरह वाक्य भी अस्पष्ट हो सकते है। यहाँ भी एक अकेला अस्पष्ट शब्द उस पूरे वाक्य को अस्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है जिसमे वह आता है ("गजा" सीमाओ के अनिश्चित होने से अस्पष्ट है और इसलिए "गोपाल गजा है' भी अस्पष्ट है)। परतु वाक्य स्वत भी अस्पष्ट हो सकते हैं। ऐसी अस्पष्टता शब्दो के अस्पष्ट होने पर आश्रित नही होती।

यदि कोई कहता है, "हमे इस सकट का सामना करने के लिए कदम उठाने चाहिए", या यदि एक विज्ञापन मे छपा हुआ हो, "गुप्त अच्छाई ही सही मूल्य का सूचक होती है", तो शायद लोगो के अदर यह प्रतिक्रिया होगी "यह तो बहुत ही अस्पष्ट बात है" या "क्या अस्पष्टता कुछ घटाई नही जा सकती?' बात यह नही है कि "कदम" शब्द अस्पष्ट हो, इस रूप मे कि कुछ प्रसगो मे यह स्पष्ट नही होता कि किसी चीज को कदम कहा जाए या नही, और यह भी नही है कि कुछ प्रसगो मे यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि कोई चीज अच्छाई है या नही अथवा गुप्त है या नही। (मैं इस बात से इन्कार नही कर रहा हूँ कि "कदम", "गुप्त" और "अच्छाई" शब्द किसी हद तक अस्पष्ट हैं। मैं यह कह रहा हूँ कि उपर्युक्त कथनो के पर्याप्त रूप से स्पष्ट न होने का मुख्य कारण वह अस्पष्टता नही है

जो इन शब्दो मे है।) दोष विशिष्टता के अभाव का है, क्योंकि जो विशिष्ट कदम उठाने है, उन्हे स्पष्ट रूप से बताए बिना केवल "कदम" शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जो कि बहुत ही सामान्य है, तथा विशिष्ट रूप से यह बताने के बजाय कि वह कौन-सी अच्छाई है, एक बहुत ही सामान्य शब्द "अच्छाई" का प्रयोग कर दिया गया है।[1]

वाक्य, शब्द और शब्द-समूह सभी का एक वह अर्थ होता है जिसे हमने "गौण अर्थ" कहा है। असल मे वाक्यो में अलग-अलग शब्दों और शब्द-समूहों की अपेक्षा कही अधिक शक्ति लक्षणा और व्यंजना की होती है। यदि आप कहे, "उनके बच्चे हुए और उन्होने शादी कर ली", तो यह वाक्य यह व्यजित करता है (पर यह नहीं कहता) कि शादी से पहले ही उनके बच्चे हो गए थे। परंतु चूंकि जिस रूप मे वाक्य रखा गया है उससे यह बात व्यंजित मात्र होती है, इसलिए यदि इसे अपमानजनक टिप्पणी मानकर मानहानि का मुकदमा चलाया जाए तो सफलता संदिग्ध है।

व्यंजना वाक्य के पूरे अर्थ का अंग है, परंतु उसकी उपस्थिति उतनी प्रमुख या बुनियादी नही लगती जितनी मुख्य अर्थ की, जिसपर कि वह आश्रित होती है। यही कारण है कि उसे "गौण अर्थ" कहा गया है। मुख्य अर्थ की अपेक्षा यह प्रायः कम बलवाला, अल्प प्रभाववाला तथा कम स्पष्ट और स्थिर होता है, परतु कम महत्त्वपूर्ण, व्यावहारिक दृष्टि से भी, उसे नहीं समझना चाहिए। जिस बात को वाक्य व्यजित करता है उसे वह वक्रोक्ति, व्यंग्य, इगित या अर्थापत्ति के रूप में प्रत्यक्षतः न कहकर परोक्षतः कहता है। *"कमला शीला से सुंदर है" और "शीला कमला से कुरूप है" का अंतर व्यंजना का अंतर है।* यदि दोनों में से कोई एक वाक्य बिल्कुल सही है, तो दूसरा भ्रामक है। परंतु "सुंदरता के पैमाने पर कमला का स्थान शीला से कुछ ऊपर होगा और दोनो का ही स्थान बहुत ऊँचा होगा" वैज्ञानिक भाषा के निकट पहुँचता है। यह गलत हो सकता है, पर भ्रामक नही हो सकता, और इसलिए कुछ भी व्यंजित नही करता।[2]

वाक्यार्थ की कसौटियाँ—वाक्य का कब अर्थ होता है? यदि वाक्य

---

१. विलियम पी० ऑल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज, पृ० ८५।
२. मॉनरो सी० बियर्डस्ली, एस्थेटिक्स, पृ० १२३-१२४।

निरर्थक है तो वह कोई भी सत्य या असत्य प्रतिज्ञप्ति व्यक्त नही कर सकता। यदि अर्थ ही नहीं है तो कोई ऐसी बात है ही नहीं जो सत्य या असत्य हो सके। असत्य और निरर्थक का अंतर महत्त्वपूर्ण है (असत्यता में सार्थकता पहले से ही शामिल है)। लोग प्रायः गलती से एक को दूसरा समझ बैठते हैं। यदि एक दार्शनिक किसी अन्य दार्शनिक के सिद्धांतों को मिथ्या बताता है, तो वह उसे एक बहुत बड़ा सम्मान इस बात का दे रहा है कि वे सिद्धांत सार्थक है और वह स्वयं उनके अर्थ को समझता है (अन्यथा वह कैसे कह सकता है कि वे मिथ्या है ?)। उन सिद्धांतो का कही अधिक जोरदार खंडन यह कहना होता कि वे निरर्थक हैं—यह आक्षेप दर्शन मे बहुधा किया जाता है—और यदि वे वास्तव मे निरर्थक है, तो सत्यता या असत्यता का प्रश्न पैदा तक नही होता। "अन्य आकाशगंगाओ में बुद्धिमान् जीवों का अस्तित्व है" मिथ्या हो सकता है, पर है यह निश्चित रूप से सार्थक, जबकि "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" सत्य या मिथ्या नही बल्कि निरर्थक है।

अब हम इस अध्याय की अंतिम समस्या में पहुँच गए है : किन स्थितियों मे किसी वाक्य को सार्थक या अर्थवान् कहा जा सकता है ? प्रतिदिन हम अनेक सार्थक वाक्य बोलते हैं, जिनके अर्थ को हम बखूबी जानते है, जैसे—

वह कुर्सी पर बैठा है।
मंगल ग्रह के दो चद्रमा है।
कुछ कुत्ते सफेद होते हैं।
समद्विबाहु त्रिभुज की दो भुजाएँ बराबर होती हैं।
साँप सुन नही सकते।
दिल्ली का क्षेत्रफल बंबई से अधिक है।
आपके कमरे के परदे गंदे हो गए है।

परंतु, कुछ ऐसे भी होते है जो कम-से-कम व्याकरण की दृष्टि से तो वाक्य है (वे शब्दो से बने होते है और किसी चीज के बारे मे कुछ कहते प्रतीत होते है—वे व्याकरण के नियमो का पालन करते है), परंतु जिन्हे सुनकर हम कहेंगे, "यह तो अर्थहीन है।'

हरे विचार गुस्से से सो रहे हैं।
सात नीला है

पुस्तकें बिल्लियों को पीती हैं।
आपकी घड़ी ब्रह्मांड के ऊपर है।
मशीनें क्रिया-विशेषण बोलती हैं।
—१ का वर्गमूल नीला है।

इनमें क्या बात है जिससे हम कहते है कि ये निरर्थक वाक्य हैं? यदि हम केवल इतना कहें कि "हरे विचार गुस्से से सो रहे हैं" असत्य है तो यह इस वाक्य को बहुत अधिक सम्मान देना होगा—यदि यह असत्य है तो कम-से-कम सार्थक तो अवश्य होगा, पर इस तरह के वाक्य का अर्थ क्या होगा? यदि आप कहें कि यह असत्य है, तो आपको यह उत्तर मिलेगा, "क्या आपका मतलब यह है कि वे शांति से सो रहे हैं? अथवा यह कि शायद लाल विचार गुस्से से सो रहे है?" जैसे हम यह नहीं जानते कि हरे विचारों का गुस्से से सोना क्या है, वैसे ही यह भी नही जानते कि लाल विचारों का गुस्से से सोना क्या है, अथवा इनका शान्ति से सोना क्या है, या असल में ये सोते ही कैसे है। इनमें से किसी भी वाक्य का क्या अर्थ होगा? हमें कहना होगा कि इनमें से किसी का भी कोई अर्थ नहीं निकलता।

परंतु क्यों? इस प्रश्न का उत्तर आसान नहीं है। केवल इसीके पूरे विवेचन में सैकड़ों पृष्ठ रँग जाएँगे। अनेक दार्शनिकों में इस बात को लेकर तीव्र मतभेद है कि वाक्य कब सार्थक होता है। न केवल "निरर्थक" के गुणार्थ (वे विशेषताएँ जिनके होने से वाक्य निरर्थक होता है) के संबंध में मतभेद है बल्कि इसके वस्त्वर्थ के संबंध में भी है (कुछ उदाहरणों को कुछ दार्शनिक निरर्थक बताएँगे और अन्य कहेंगे कि वे सार्थक तो हैं पर मिथ्या हैं)। उदाहरणार्थ, "ईश्वर है", "ईश्वर ने विश्व को रचा", "ईश्वर हमारे जीवन का संचालक है" और "ईश्वर त्रिगुणातीत है" के विषय में कुछ दार्शनिक कहेंगे कि ये अर्थहीन हैं, अन्य कहेंगे कि ये हैं तो अर्थवान् पर असत्य हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जो इन्हें सार्थक और सत्य बताएँगे—और वह भी अलग-अलग कारणों से। इस अध्याय के शेष भाग में हम केवल थोड़ी-सी प्रारंभिक बातें ही कहेंगे, और जहां-जहां यह विषय आएगा वहाँ-वहाँ संदर्भानुसार हम नए सिरे से इसपर विचार करेंगे।

१. कल्पनीयता—हम कैसे बताते हैं कि कोई वाक्य सार्थक है या नहीं? एक उत्तर यह संभव है कि जिस परिस्थिति का वर्णन करने के लिए उसका

प्रयोग किया जा रहा है उसकी कल्पना करने में हमें समर्थ होना चाहिए।" "मैं जानता हूँ कि बर्फ गुलाबी नही होती, परंतु मैं आसानी से गुलाबी बर्फ की कल्पना कर सकता हूँ। अतः गुलाबी बर्फ के बारे में बात करना सार्थक है, हालाँकि यह सत्य नहीं है कि ऐसी चीज होती है।" "एकशृंग होते नहीं है, पर हम आसानी से ऐसे घोड़े की कल्पना कर सकते हैं जिसके माथे पर बीचोबीच एक सींग हो। इसलिए ऐसे घोड़ों के बारे में बात करना अवश्य ही सार्थक है।" परंतु तब क्या होगा जब हम उसकी कल्पना करने में असमर्थ हो ? क्या तब वह निरर्थक होगा ? हम बखूबी समझते है कि "एक लाख भुजाओंवाला बहुभुज" क्या होता है, परंतु यह बात संदिग्ध है कि कोई आदमी एक लाख भुजाओंवाले बहुभुज की कल्पना कर सकेगा। यदि आप कहें कि आप उसकी कल्पना कर सकते है, तो यह बताइए कि एक लाख भुजाओंवाले बहुभुज और एक लाख एक भुजाओंवाले बहुभुज की आपकी कल्पनाओं में क्या अंतर है ? फिर, हम समझते है कि "संयुक्तराज्य का राष्ट्रीय ऋण लगभग ४००० खरब डालर है" का क्या अर्थ है (कम-से-कम अर्थशास्त्रियों का ऐसा दावा है), परंतु क्या हम इतनी विशाल राशि के ऋण की कल्पना कर सकते है ? दस-दस लाख के नोटों की एक बड़ी संख्या की कल्पना करने से काम नही चलेगा, क्योंकि उससे यह ज्ञात नही होगा कि ऋण क्या होता है। ऐसे बहुत-से वाक्य होते हैं जिनके अर्थ के अनुरूप हम कोई भी कल्पना नही कर सकते, क्योकि जो बात कही जा रही होती है वह दृष्टि, गंध, ध्वनि, इत्यादि संवेदनों से संबंधित नहीं होती बल्कि प्रत्याहारों (अमूर्त चीजों) से संबंधित होती है। यदि कोई कहे कि "ईमानदारी एक वाञ्छनीय गुण है", तो हम क्या कल्पना करेंगे ? और कल्पना हम जो भी करें (जैसे, किसी परिचित ईमानदार व्यक्ति की), क्या वही इस वाक्य का अर्थ है ? हममें से प्रत्येक अनेक चीजों की कल्पना कर सकता है, और कोई किसी भी चीज की नही कर सकता। क्या इससे अर्थ के ज्ञान में कोई अंतर पैदा होता है ? हम पहले ही (चित्रात्मक अर्थ के प्रसंग में) बता चुके हैं कि जो हम कल्पना करते हैं वह कथन का श्रोताओं पर पड़नेवाला प्रभाव है, न कि कथन का अर्थ। इसके अलावा, यदि इस कसौटी को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो भी यह अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ होगी, क्योंकि कुछ व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति अन्यों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है।

२. **वर्णनीयता**—"वाक्य सार्थक है, यदि कोई उस परिस्थिति (या उन

परिस्थितियो) का वर्णन कर सके जो उसका एक उदाहरण गिनी जा सकती हो। उदाहरणार्थ, यदि मैं कहूँ "लवाकृति मिथ्यावादी होते हैं," तो मैं मुख्य शब्दों के पर्यायो और परिभाषाओ के द्वारा आपको समझा सकता हूँ कि इस वाक्य से मेरा क्या अभिप्राय है। अन्य शब्दो मे वर्णन तब उपयोगी होता है जब आप मूल वाक्य के शब्दो के अर्थ नही जानते, पर मेरे स्पष्टीकरण या अनुवाद मे आए हुए शब्दो के अर्थ समझते है।

लेकिन यह सदैव सभव नही होता। मान लीजिए, मैं कहता हूँ, "मैं बौद्धिक उत्तेजना की अवस्था मे हूँ," और श्रोता समझता नही है, क्योकि वह कभी बौद्धिक उत्तेजना की अवस्था मे नही पहुँचा। अब, मैं जिस परिस्थिति के बारे मे बात कर रहा हूँ उसका वर्णन करने के लिए क्या कर सकता हूँ? कुछ ऐसे मुख्य शब्दो मे पहुँच जाने के बाद जिनकी उस दशा मे केवल निदर्शनात्मक परिभाषा ही दी जा सकती है जब श्रोता को कदापि उनके द्वारा निर्दिष्ट अनुभव न हुआ हो, कुछ भी मैं नही कर सकता। हाँ, यदि सयोगवश मैं उसके अंदर वैसा अनुभव उत्पन्न कर सकूँ, तो बात अलग है ("हरा" इत्यादि सरल रगबोधक शब्दो के प्रसग मे मैं साधारणतः ऐसा कर सकता हूँ)। कभी-कभी मैं परिस्थिति का किन्ही अन्य शब्दो मे वर्णन नही कर सकता, क्योकि ऐसे अन्य शब्द, मोटे पर्याय तक, नही होते जिनके द्वारा ऐसा किया जाए—और यदि हो भी तो श्रोता उन पर्यायो के अर्थ जानेंगे ही नही।

इससे भी बडी एक और कठिनाई है। इस कसौटी को सभी वाक्यो पर, यहाँ तक कि निरर्थक वाक्यो पर भी, लागू होने से कैसे रोका जाए? यदि आप मुझसे कहे, "जब आप 'पानी चढाई की ओर बहता है' कहते है तब जो परिस्थिति आपके मन मे होती है उसका वर्णन मुझसे कीजिए", तो शायद मेरा उत्तर केवल यह हो, "चढाई की ओर बहता हुआ पानी ही वह परिस्थिति होगी।" इस उदाहरण मे वाक्य काफी सार्थक है। केवल इसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति असत्य है, क्योकि पानी चढाई की दिशा मे नही बहता। परतु तब क्या होगा जब आप कहे, "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" और मैं कहूँ, "यह तो निरर्थक है! कृपया उस परिस्थिति का वर्णन कीजिए जिसकी बात आप इस वाक्य मे कर रहे हैं", और आपका उत्तर हो, "बिस्तर पर लेटे हुए शनिवार से अधिक अच्छी परिस्थिति मैं सोच ही नही सकता"।

प्रयोग किया जा रहा है उसकी कल्पना करने मे हमें समर्थ होना चाहिए।" "मैं जानता हूँ कि वर्फ गुलावी नही होती, परंतु मैं आसानी से गुलावी वर्फ की कल्पना कर सकता हूँ। अतः गुलावी वर्फ के बारे मे वात करना सार्थक है, हालांकि यह सत्य नही है कि ऐसी चीज होती है।" "एकशृंग होते नही हैं, पर हम आसानी से ऐसे घोड़े की कल्पना कर सकते हैं जिसके माथे पर वीचोवीच एक सीग हो। इसलिए ऐसे घोड़ों के वारे में वात करना अवश्य ही सार्थक है।" परंतु तव क्या होगा जव हम उसकी कल्पना करने मे असमर्थ हो ? क्या तव वह निरर्थक होगा ? हम वखूवी समझते है कि "एक लाख भुजाओंवाला वहुभुज' क्या होता है, परंतु यह वात संदिग्ध है कि कोई आदमी एक लाख भुजाओंवाले वहुभुज की कल्पना कर सकेगा। यदि आप कहें कि आप उसकी कल्पना कर सकते है, तो यह वताइए कि एक लाख भुजाओंवाले वहुभुज और एक लाख एक भुजाओंवाले वहुभुज की आपकी कल्पनाओं में क्या अंतर है ? फिर, हम समझते हैं कि "संयुक्तराज्य का राष्ट्रीय ऋण लगभग ४००० खरव डालर है" का क्या अर्थ है (कम-से-कम अर्थशास्त्रियो का ऐसा दावा है), परंतु क्या हम इतनी विशाल राशि के ऋण की कल्पना कर सकते है ? दस-दस लाख के नोटो की एक वडी संख्या की कल्पना करने से काम नही चलेगा, क्योंकि उससे यह ज्ञात नही होगा कि ऋण क्या होता है। ऐसे वहुत-से वाक्य होते है जिनके अर्थ के अनुरूप हम कोई भी कल्पना नही कर सकते, क्योंकि जो वात कही जा रही होती है वह दृष्टि, गंध, ध्वनि, इत्यादि सवेदनों से संबंधित नही होती वल्कि प्रत्याहारों (अमूर्त चीजो) से संबंधित होती है। यदि कोई कहे कि "ईमानदारी एक वाछनीय गुण है", तो हम क्या कल्पना करेंगे ? और कल्पना हम जो भी करें (जैसे, किसी परिचित ईमानदार व्यक्ति की), क्या वही इस वाक्य का अर्थ है ? हममें से प्रत्येक अनेक चीजो की कल्पना कर सकता है, और कोई किसी भी चीज की नही कर सकता। क्या इससे अर्थ के ज्ञान मे कोई अंतर पैदा होता है ? हम पहले ही (चित्रात्मक अर्थ के प्रसंग में) वता चुके हैं कि जो हम कल्पना करते हैं वह कथन का श्रोताओं पर पडनेवाला प्रभाव है, न कि कथन का अर्थ। इसके अलावा, यदि इस कसौटी को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो भी यह अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ होगी, क्योंकि कुछ व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति अन्यों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है।

२. वर्णनीयता—"वाक्य सार्थक है, यदि कोई उस परिस्थिति (या उन

परिस्थितियो) का वर्णन कर सके जो उसका एक उदाहरण गिनी जा सकती हो। उदाहरणार्थ, यदि मैं कहूँ "लबाकृति मिथ्यावादी होते हैं,' तो मैं मुख्य शब्दो के पर्यायो और परिभाषाओ के द्वारा आपको समझा सकता हूँ कि इस वाक्य से मेरा क्या अभिप्राय है। अन्य शब्दो मे वर्णन तब उपयोगी होता है जब आप मूल वाक्य के शब्दो के अर्थ नही जानते, पर मेरे स्पष्टीकरण या अनुवाद मे आए हुए शब्दो के अर्थ समझते है।

लेकिन यह सदैव सभव नही होता। मान लीजिए, मैं कहता हूँ, 'मैं बौद्धिक उत्तेजना की अवस्था मे हूँ," और श्रोता समझता नही है, क्योकि वह कभी बौद्धिक उत्तेजना की अवस्था मे नही पहुँचा। अब, मैं जिस परिस्थिति के बारे मे बात कर रहा हूँ उसका वर्णन करने के लिए क्या कर सकता हूँ ? कुछ ऐसे मुख्य शब्दो मे पहुँच जाने के बाद जिनकी उस दशा मे केवल निदर्शनात्मक परिभाषा ही दी जा सकती है जब श्रोता को कदापि उनके द्वारा निर्दिष्ट अनुभव न हुआ हो, कुछ भी मैं नही कर सकता। हाँ, यदि सयोगवश मैं उसके अदर वैसा अनुभव उत्पन्न कर सकूँ, तो बात अलग है ("हरा" इत्यादि सरल रगबोधक शब्दो के प्रसग मे मैं साधारणत ऐसा कर सकता हूँ)। कभी-कभी मैं परिस्थिति का किन्ही अन्य शब्दो मे वर्णन नही कर सकता, क्योकि ऐसे अन्य शब्द, मोटे पर्याय तक, नही होत जिनके द्वारा ऐसा किया जाए—और यदि हो भी तो श्रोता उन पर्यायो के अर्थ जानेंगे ही नही।

इससे भी बडी एक और कठिनाई है इस कसौटी को सभी वाक्यो पर, यहाँ तक कि निरर्थक वाक्यो पर भी, लागू होने से कैसे रोका जाए ? यदि आप मुझसे कहे, "जब आप 'पानी चढाई की ओर बहता है' कहते हैं तब जो परिस्थिति आपके मन मे होती है उसका वर्णन मुझस कीजिए", तो शायद मेरा उत्तर केवल यह हो, "चढाई की ओर बहता हुआ पानी ही वह परिस्थिति होगी।" इस उदाहरण मे वाक्य काफी सार्थक है। केवल इसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति असत्य है, क्योकि पानी चढाई की दिशा मे नही बहता। परतु तब क्या होगा जब आप कहे, "शनिवार बिस्तर पर लेटा है' और मैं कहूँ, "यह तो निरर्थक है! कृपया उस परिस्थिति का वर्णन कीजिए जिसकी बात आप इस वाक्य मे कर रहे हैं", और आपका उत्तर हो, "बिस्तर पर लेटे हुए शनिवार से अधिक अच्छी परिस्थिति मैं सोच ही नहीं सकता"।

किसी कथन के अर्थ को ठीक-ठीक बताने का इससे भिन्न तरीका संभव नही है कि उस वस्तुस्थिति का वर्णन कर दिया जाए जो कथन के सत्य होने की दशा मे होगी। केवल एक उदाहरण यह लीजिए— "सीजर ने रूबिकॉन नदी को पार किया"। हम निश्चय ही उस वस्तुस्थिति का वर्णन कर सकते है जो इस वाक्य के सत्य होने की दशा मे होगी। अनुमानतः, यहाँ वस्तुस्थिति के वर्णन के रूप मे जो चीज इष्ट है वह "सीजर ने रूबिकॉन नदी को पार किया", यह वाक्य नही है, हालांकि यह वाक्य प्रश्नाधीन वस्तुस्थिति का पर्याप्त वर्णन है। इष्ट असल मे कोई दूसरा वाक्य है जिसमें कोई दूसरा शब्द-समूह इस्तेमाल हो पर वर्णन उसी वस्तुस्थिति का हो। यदि सीजर ने रूबिकॉन नदी को पार किया था, तो जो एकमात्र वस्तुस्थिति थी उसके वर्णन के रूप मे "सीजर रूबिकॉन नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे पर पहुँच गया था" इस वाक्य को प्रस्तुत किया जा सकता है ·······। सार्थकता की यह कसौटी यह कहने के बरावर है कि वाक्य सार्थक तब होता है जब उसका समानार्थक कोई दूसरा वाक्य बताना संभव होता है।[1]

पर स्वयं दूसरे वाक्य को भी सार्थक होना होगा—और कसौटी क्या होगी? यदि आप कहे, "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" और मै कहूँ, "मैं आपकी बात नही समझा ; कृपया दूसरे शब्दो मे बताइए", तो आपका यह जवाब मिलने पर मैं क्या कहूँगा कि "शुक्रवार के बाद आनेवाला दिन बिस्तर पर लेटा है"?

३. सत्यता की स्थितियाँ—"यदि आप यह बता सकें कि किन स्थितियों मे कथन सत्य होगा, तो आप उसका अर्थ जानते है। निश्चय ही, यह जरूरी नही है कि वह सत्य हो ही ; वह असत्य हो सकता है। परतु, यदि आप मुझे बता सकते हो कि वे स्थितियाँ क्या हैं जिनमे कथन सत्य होगा, तो मैं मान लूंगा कि वह अर्थ रखता है।" परतु कोई यह उत्तर दे सकता है : "ठीक है, आप भी जानते हैं कि वे कौन-सी स्थितियाँ है जो 'पानी चढाई की ओर बहता है' को सत्य बनाएँगी। क्या नही जानते? यदि आप

---

१. पॉल माहेन्के का लियोनार्ड लिन्स्की द्वारा संपादित सीमैन्टिक्स ऐंड दि फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज में "दि क्राइटीरियन ऑफ सिग्निफिकेन्स" शीर्षक लेख, पृ० १५०।

पानी को चढाई की ओर बहता देखें तो आप कहेंगे कि कथन सत्य है, और यदि आप कभी ऐसा होते न भी देखें तो भी आप जानते है कि वे स्थितियाँ कौन-सी हैं जिनके होने पर यह कथन सत्य होगा (उसकी सत्यता की स्थितियाँ)। ठीक है ; आप पूछते है कि 'शनिवार बिस्तर पर लेटा है' से मेरा क्या मतलब है। मैं दूसरे शब्दो में इसका वर्णन नही कर सकता, पर मैं कह सकता हूँ कि शनिवार का विस्तर पर लेटे होना ही वह स्थिति होगी जिसमें कोई यह कह सकेगा कि 'शनिवार बिस्तर पर लेटा है', यह कथन सत्य है।"

उन स्थितियों को बताइए जिनमे आप इस कथन को सत्य कहेंगे (भले ही वह सत्य न हो)—यह किसी वाक्य की सार्थकता की कसौटी बनने के लिए काफी आशाजनक लगता है। परंतु, वही कठिनाई इसमें भी है जो पिछली मे थी : वाक्य जो भी हो, व्यक्ति उसी को दोहरा कर कह सकता है कि उस कथित स्थिति का होना ही वह बात है जो उस वाक्य को सत्य बनाएगी। (शनिवार का बिस्तर पर लेटे होना ही वह स्थिति होगी जिससे "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" सत्य होगा।) और तब हम क्या कर लेंगे ? यह कसौटी हर वाक्य को सार्थक बना देगी, और इसलिए सार्थक को निरर्थक से अलग पहचानने के उपाय के रूप में बेकार होगी।

४. "यह जानना कि वह कैसा होगा"—"जब आप कहते हैं कि 'शनिवार बिस्तर पर लेटा है' या '—१ का वर्गमूल कल मर गया', तब शायद मैं आपका मतलब न समझूं, पर फिर भी मैं यह मानने को तैयार हूँ कि ये वाक्य सार्थक है (भले ही मैं आपके द्वारा निर्दिष्ट परिस्थितियो की कल्पना न कर सकूँ), बशर्ते आप मुझे बता सकें कि इनका सत्य होना कैसा होगा। निश्चय ही, यह जरूरी नही है कि वे सत्य हो ही। आप स्वयं ही कहते है कि वे असत्य हैं। परंतु असत्य वे भले ही हो, मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि उसका सत्य होना कैसा होगा। 'बर्फ गुलाबी है' असत्य है, पर मैं जानता हूँ कि इसका सत्य होना कैसा होगा, और यदि मैं गुलाबी बर्फ देखूं तो मैं कहूँगा कि यह सत्य है। 'हाथी उड़ते हैं' असत्य है, फिर भी मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि इसका सत्य होना कैसा होगा—केवल इसलिए नही कि मैं इसकी कल्पना कर सकता हूँ (यहाँ मैं अवश्य ही ऐसा कर सकता हूँ), बल्कि इसलिए कि इस कथन के सत्य होने के लिए जिस घटना को होना है उसे

मैं जानता हूँ। परतु जब आप कहते हैं कि 'शनिवार बिस्तर पर लेटा है', तब मैं यह भी नही जानता कि यह कैसा होगा—कि दुनिया मे किस परिस्थिति को होना होगा जिससे यह कथन सत्य हो जाए। आप मुझे बताइए कि यह कैसा होगा और मैं मान लूँगा कि यह सार्थक है।"

अब, "मुझे बताओ कि वह कैसा होगा" और "उसका वर्णन करो" खतरनाक रूप से नजदीक लगते है। यदि आपके पास बताने के लिए अन्य शब्द बिल्कुल हो ही नही, तो ? और यदि हमारी भाषा मे मोटे रूप मे भी समान अर्थवाले अन्य शब्द हो ही नही, तो ? तब आप मुझे कैसे बता सकेंगे कि वह कैसा होगा ?

इसके अलावा, यदि वह किसी भी अन्य चीज के जैसा न हुआ, तो ? यदि वह हर अन्य चीज से इतना भिन्न हो कि मैं जो भी आपको बताऊँ उससे आपके मन मे उसकी कोई धारणा न बने, तो ? यह सच है कि दुनिया मे हर चीज किसी न किसी बात मे हर अन्य चीज के समान होती है : एक मक्खी, एक मेज, दौडना, धैर्य, तथा ऊपर होना—ये सब इस बात मे समान हैं कि ये दुनिया की चीजें है। परतु यह अधिक सहायक नहीं है। यदि आप मुझे बताते है कि एक परिस्थिति किसके समान है तो पहले से मुझे ज्ञात किसी चीज से उसकी काफी अधिक समानता होनी चाहिए, ताकि आपका जो मतलब है उसकी मैं अपने मन मे कुछ धारणा बना सकूँ। "नीबू का स्वाद ? हाँ, वह एक बहुत ही खट्टे सतरे की तरह होता है।" परंतु अब "शनिवार का बिस्तर पर लेटे होना" क्या है ? हाँ, यह कुछ-कुछ शुक्रवार का बिस्तर पर लेटे होना जैसा है, हालाँकि इसमे कुछ भिन्नता भी है, क्योकि यह एक अलग दिन है।

सार्थकता की कसौटी के पद के ये प्रत्याशी हमारे लिए बहुत सहायक नही हो पाए हैं। अब हम कुछ ऐसी कसौटियो की चर्चा कर लें जो भले ही निरर्थकता के सभी उदाहरणो को न सभाल सकें पर कुछ को अलग करने मे बहुत ही उपयोगी हैं।

५. **एक निश्चित सदर्भ से बाहर निरर्थक होना**—शब्द प्राय. उस संदर्भ के अदर सीखे जाते हैं जिसमें उनका प्रयोग उचित होता है, और केवल उसी सदर्भ के अदर वे सार्थक होते हैं। फलत. यदि किसी शब्द का प्रयोग उस सदर्भ के बाहर किया जाता है तो यह (तथा साथ ही वह वाक्य भी जिसमे

वह शब्द आता है) निरर्थक हो जाता है। उदाहरणार्थ, "ऊपर" शब्द का—अभिधा में (लक्षणा में नहीं, जैसे "मैं ऐसे क्षुद्र विचारों से ऊपर हूँ" में) साधारण अर्थ है "अधिक ऊँचा" या "अधिक ऊँचाई पर स्थित"। बल्ब मेज के ऊपर है ; अर्थात् वह मेज से अधिक ऊँचा या अधिक ऊँचाई पर स्थित है। और "अधिक ऊँचा" का—अभिधा में ही (लक्षणा में नहीं, जैसे "आज का भाषण कल से अधिक ऊँचे स्तर का था" में) अर्थ है किसी गुरुत्वाकर्षण वाले पिंड के केन्द्र (अधिक सही गुरुत्वकेंद्र होगा) से अधिक दूर, तथा हम पृथ्वी-निवासियों के प्रसंग में पृथ्वी के केंद्र से अधिक दूर। उपग्रह गुब्बारे से अधिक ऊँचा है, क्योंकि वह पृथ्वी के केंद्र से अधिक दूर है और गुब्बारा कम दूर है। इस संदर्भ में "ऊपर" और "अधिक ऊँचा" स्पष्ट अर्थ रखते हैं, क्योंकि इनका संबंध चीजों के पारस्परिक देशिक संबंधों से है। निश्चय ही यदि हम मंगल ग्रह के निवासी होते, तो "ऊपर" और "नीचे", "अधिक ऊँचा" और "अधिक नीचा" में निर्देश मंगल के केंद्र का होता न कि पृथ्वी के केंद्र का। हम चंद्रमा को पृथ्वी के ऊपर कह सकते हैं, क्योंकि चंद्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है। और चूँकि वह २,४०,००० मील की औसत दूरी पर परिक्रमा करता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि जिन चीजों के बारे में हम बात करते है उनमें से अधिकतर की अपेक्षा चंद्रमा पृथ्वी के ऊपर काफी ऊँचाई पर स्थित है। परंतु इस कथन का क्या अर्थ होगा कि मंगल पृथ्वी से ऊपर है ? (जब हम रात में मंगल को आकाश में देखते हैं तब हम अवश्य कभी-कभी कहते है कि मंगल तथा तारे भी पृथ्वी से ऊपर हैं, परंतु यह सही बिल्कुल नही है : मंगल संपूर्ण पृथ्वी से, जिसमें हमारे ठीक दूसरी ओर की स्थिति भी शामिल है, ऊपर नही है। ऐसी दशा में हमें कहना यह चाहिए कि मंगल पृथ्वी की सतह के उस अंश के ऊपर लगता है जिस पर हम खड़े हैं।)

परंतु मान लीजिए कि हम बाह्य अंतरिक्ष के बीच, मंगल और पृथ्वी के मध्य में हैं। तो क्या हम पृथ्वी के ऊपर हैं या मंगल के ऊपर ? यहाँ भी कोई यह कह सकता है, "हम दोनों के ही ऊपर हैं, पृथ्वी के केंद्र से हम एक करोड़ अस्सी लाख मील हैं और इतनी ही दूर मंगल के केंद्र से।" हम यह कह सकते हैं कि "हम बहुत ही ऊँचाई पर हैं।" परंतु, किसकी अपेक्षा ? अब हम उस संदर्भ से बाहर जा रहे है जिसमें इन शब्दों को पहले-पहल परिभाषित किया गया था (अर्थ प्रदान किया गया था)। मंगल के निकट

पहुँचते हुए अंतरिक्ष-यात्री के लिए "मैं पृथ्वी के तीन करोड़ से अधिक मील ऊपर हूँ" कहने के बजाय "मैं मंगल से दो लाख मील ऊपर हूँ" कहना अधिक अच्छा होगा। अब तो पृथ्वी के बजाय मंगल ही उसके निर्देश का केंद्र हो हो गया है।

और अब यदि हम यह कल्पना करें कि हम एक अंतरिक्ष-यान में हैं और सौर-परिवार से अनेक प्रकाश-वर्ष दूर पहुँच गए हैं तथा किसी भी अन्य तारे या सौर-परिवार के निकट नहीं है, तो "ऊपर" और "नीचे" का अर्थ बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है। इन शब्दों का पृथ्वी के जैसे किसी पिंड के संदर्भ में ही अर्थ होता है, जो प्राय: काफी विशाल होता है और काफी गुरुत्वाकर्षण रखता है। ऐसे पिंड के संदर्भ से बाहर इनका कोई भी अर्थ नहीं होता। हमारी आकाशगंगा के पांच लाख प्रकाश-वर्ष की दूरी पर यह कहना निरर्थक होगा कि हम पृथ्वी के ऊपर या नीचे है।

अब मान लीजिए कि कोई कहता है, "यह चीज ब्रह्मांड के ऊपर है" ("ऊपर" शब्द के अभिधार्थ में)। यह निरर्थक होगा : "ऊपर" एक देशिक शब्द है, और केवल तभी सार्थक है जब हम दिक् में स्थित पिंडों के संबंध को लेकर बात करते होते हैं, और यदि ब्रह्मांड में संपूर्ण दिक् समाविष्ट है तो कोई भी चीज़ उसके ऊपर कैसे हो सकती है ? ये उदाहरण और भी स्पष्ट हैं : "यह वस्तु काल से ऊपर है" : ऊपर होना जैसा एक देशिक संबंध किसी ऐसी चीज से कैसे हो सकता है जो बिल्कुल देशिक नहीं है ? "यह वस्तु दो की संख्या से ऊपर है" : पर संख्याएँ तो अमूर्त (प्रत्याहृत) सत्ताएँ हैं जिनका दिक् मे बिल्कुल भी अस्तित्व नहीं होता ("आप दो की संख्या को बृहस्पति मे पाएँगे" कहने का क्या अर्थ होगा ?)—हाँ, वह बोर्ड पर लिखे दो के अंक से अवश्य ऊपर हो सकती है। यह अंक दिक् और काल में अस्तित्व रखता है। अनेक स्थानों पर मैं अनेक अंक लिख सकता हूँ तथा फिर उन सबको मिटा सकता हूँ। अंकों को मैं इस प्रकार नष्ट कर सकता हूँ, पर गणितीय पदार्थ २ को नहीं। यही बात "दृढ़ता से ऊपर", "त्रिभुजत्व से ऊपर" इत्यादि में है। इन उदाहरणों में "ऊपर" शब्द का प्रयोग उस एकमात्र संदर्भ से बाहर हुआ है जिसमें यह अर्थ रखता है। वह देशिक संदर्भ है और कोई पिंड निर्देश-बिंदु के रूप में लिया जाता है। संक्षेप में, "ऊपर" शब्द का उपर्युक्त उदाहरणों में निरर्थक प्रयोग हुआ है, इस बात में कि जिस-

जिस वाक्य मे वह आया है वह निरर्थक है । यह मत कहिए कि "शायद कोई बहुत ही गहरा अर्थ उसका हो, जिसे हम न समझ सकते हो ।" यदि हम ऐसा कह तो हम इस आधारभूत बात को भूल जाते हैं कि अर्थ शब्दो को दिए जाते हैं, न कि वे शब्दो मे सहज रूप से होते हैं । "ऊपर" देशिक सबधो के सदर्भ मे अर्थ रखता है—उसे एक अर्थ दिया गया है । इस सदर्भ से बाहर उसका कोई अर्थ (अभिधा मे) नही है । इस शब्द का प्रयोग करनेवाला एक ऐसा वाक्य, जिसमे प्रकट या अप्रकट रूप से यह सदर्भ विद्यमान नही है, निरर्थक है ।

अथवा, मान लीजिए कि हम किसी वस्तु व के बारे में कहते हैं कि वह बडी है । अब "बडी" एक सापेक्ष शब्द है इसका अर्थ है किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा बडी । एक बडी बिल्ली वह बिल्ली है जो अधिकतर बिल्लियो से बडी हो , और एक छोटा हाथी (जो कि एक बडी बिल्ली से बडा ही होगा) वह हाथी है जो अधिकतर हाथियो से छोटा हो । प्राय ऐसा निर्देश छिपा होता है : "एक बडी व" से हमारा मतलब ऐसी व है जो अपनी किस्म की अधिकतर वस्तुओ से बडी हो । परन्तु अब मान लीजिए कि हम इस तरह के किसी निर्देश के बिना ही किसी चीज को बडी कहते हैं । मैं कहता हूँ, "वह बडी है" । आप पूछते हैं, "किससे बडी ?" मैं उत्तर देता हूँ, 'किसी से भी नहीं , बस बडी है ।" "आपका मतलब है, अधिकतर चीजो से बडी ? अपनी किस्म की अधिकतर चीजो से बडी ?" "नही, बस बडी ।" इससे मेरा क्या मतलब सभव है ? यदि दुनिया में केवल दो चीजें होतीं, तो हम कह सकते कि उनमें से एक बडी (दूसरी की अपेक्षा बडी) है, परतु यदि केवल एक ही चीज होती, तो यह कहने का क्या मतलब होता कि वह बडी है या छोटा है ? यदि कोई अन्य चीज तुलना करने के लिए है ही नहीं, तो वह बडी कैसे हो सकती है ? "बडी" एक तुलनात्मक शब्द है । इसका पूरा अर्थ इस सदर्भ मे जडा हुआ है, और यह तब निरर्थक हो जाता है जब एक ऐसे वाक्य मे प्रयुक्त होता है जिसमे तुलना का वह आधार हो ही नही । "बडी" एक देशिक शब्द भी है और इसलिए अदेशिक सदर्भो मे प्रयुक्त होने पर निरर्थक हो जाता है, जैसे "यह अल्पता मे बडी है", "अकालप्रौढत्व मे बडी है" इत्यादि मे । हाँ, तब बात अलग है जब हम इस शब्द का किसी लाक्षणिक अर्थ मे प्रयोग करते हैं, जैसे "आजकल ईमानदारी बडी बात है" मे ।

पहुँचते हुए अंतरिक्ष-यात्री के लिए "मैं पृथ्वी के तीन करोड़ से अधिक मील ऊपर हूँ" कहने के बजाय "मैं मंगल से दो लाख मील ऊपर हूँ" कहना अधिक अच्छा होगा। अब तो पृथ्वी के बजाय मंगल ही उसके निर्देश का केंद्र हो हो गया है।

और अब यदि हम यह कल्पना करें कि हम एक अंतरिक्ष-यान में हैं और सौर-परिवार से अनेक प्रकाश-वर्ष दूर पहुँच गए हैं तथा किसी भी अन्य तारे या सौर-परिवार के निकट नहीं हैं, तो "ऊपर" और "नीचे" का अर्थ बिल्कुल ही समाप्त हो जाता है। इन शब्दों का पृथ्वी के जैसे किसी पिंड के संदर्भ में ही अर्थ होता है, जो प्रायः काफी विशाल होता है और काफी गुरुत्वाकर्षण रखता है। ऐसे पिंड के संदर्भ से बाहर इनका कोई भी अर्थ नहीं होता। हमारी आकाशगंगा के पांच लाख प्रकाश-वर्ष की दूरी पर यह कहना निरर्थक होगा कि हम पृथ्वी के ऊपर या नीचे है।

अब मान लीजिए कि कोई कहता है, "यह चीज ब्रह्मांड के ऊपर है" ("ऊपर" शब्द के अभिधार्थ में)। यह निरर्थक होगा : "ऊपर" एक देशिक शब्द है, और केवल तभी सार्थक है जब हम दिक् में स्थित पिंडों के संबंध को लेकर बात करते होते हैं, और यदि ब्रह्मांड में संपूर्ण दिक् समाविष्ट है तो कोई भी चीज़ उसके ऊपर कैसे हो सकती है ? ये उदाहरण और भी स्पष्ट है : "यह वस्तु काल से ऊपर है" : ऊपर होना जैसा एक देशिक संबंध किसी ऐसी चीज से कैसे हो सकता है जो बिल्कुल देशिक नहीं है ? "यह वस्तु दो की संख्या से ऊपर है" : पर संख्याएँ तो अमूर्त (प्रत्याहृत) सत्ताएँ हैं जिनका दिक् में बिल्कुल भी अस्तित्व नही होता ("आप दो की संख्या को बृहस्पति मे पाएँगे" कहने का क्या अर्थ होगा ?)—हाँ, वह बोर्ड पर लिखे दो के अंक से अवश्य ऊपर हो सकती है। यह अंक दिक् और काल में अस्तित्व रखता है। अनेक स्थानों पर मैं अनेक अंक लिख सकता हूँ तथा फिर उन सबको मिटा सकता हूँ। अंकों को मैं इस प्रकार नष्ट कर सकता हूँ, पर गणितीय पदार्थ २ को नही। यही बात "दृढ़ता से ऊपर", "त्रिभुजत्व से ऊपर" इत्यादि में है। इन उदाहरणों में "ऊपर" शब्द का प्रयोग उस एकमात्र संदर्भ से बाहर हुआ है जिसमें यह अर्थ रखता है। वह देशिक संदर्भ है और कोई पिंड निर्देश-बिंदु के रूप में लिया जाता है। संक्षेप में, "ऊपर" शब्द का उपर्युक्त उदाहरणों में निरर्थक प्रयोग हुआ है, इस बात में कि जिस-

जिस वाक्य मे वह आया है वह निरर्थक है । यह मत कहिए कि "शायद कोई बहुत ही गहरा अर्थ उसका हो, जिसे हम न समझ सकते हो ।" यदि हम ऐसा कहे तो हम इस आधारभूत बात को भूल जाते है कि अर्थ शब्दो को दिए जाते हैं, न कि वे शब्दो मे सहज रूप से होते है । "ऊपर" देशिक सबधो के सदर्भ मे अर्थ रखता है—उसे एक अर्थ दिया गया है । इस सदर्भ से बाहर उसका कोई अर्थ (अभिधा मे) नही है । इस शब्द का प्रयोग करनेवाला एक ऐसा वाक्य, जिसमे प्रकट या अप्रकट रूप से यह सदर्भ विद्यमान नही है, निरर्थक है ।

अथवा, मान लीजिए कि हम किसी वस्तु व के बारे मे कहते है कि वह बडी है । अब "बडी" एक सापेक्ष शब्द है इसका अर्थ है किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा बडी । एक बडी बिल्ली वह बिल्ली है जो अधिकतर बिल्लियो से बडी हो ; और एक छोटा हाथी (जो कि एक बडी बिल्ली से बडा ही होगा) वह हाथी है जो अधिकतर हाथियो से छोटा हो । प्राय ऐसा निर्देश छिपा होता है : "एक बडी व" से हमारा मतलब ऐसी व है जो अपनी किस्म की अधिकतर वस्तुओ से बडी हो । परन्तु अब मान लीजिए कि हम इस तरह के किसी निर्देश के बिना ही किसी चीज को बडी कहते हैं । मैं कहता हूँ, "वह बडी है" । आप पूछते है, "किससे बडी ?" मैं उत्तर देता हूँ, 'किसी से भी नही ; बस बडी है ।" "आपका मतलब है, अधिकतर चीजो से बडी ? अपनी किस्म की अधिकतर चीजो से बडी ?" "नही, बस बडी ।" इससे मेरा क्या मतलब सभव है ? यदि दुनिया में केवल दो चीजे होती, तो हम कह सकते कि उनमें से एक बडी (दूसरी की अपेक्षा बडी) है, परतु यदि केवल एक ही चीज होती, तो यह कहने का क्या मतलब होता कि यह बडी है या छोटा है ? यदि कोई अन्य चीज तुलना करने के लिए है ही नही, तो वह बडी कैसे हो सकती है ? "बडी" एक तुलनात्मक शब्द है । इसका पूरा अर्थ इस सदर्भ मे जडा हुआ है, और यह तब निरर्थक हो जाता है जब एक ऐसे वाक्य मे प्रयुक्त होता है जिसमे तुलना का वह आधार हो ही नही । "बडी" एक देशिक शब्द भी है और इसलिए अदेशिक सदर्भो मे प्रयुक्त होने पर निरर्थक हो जाता है, जैसे "यह अल्पता से बडी है", "अकालप्रौढत्व से बडी है" इत्यादि मे । हाँ, तब बात अलग है जब हम इस शब्द का किसी लाक्षणिक अर्थ मे प्रयोग करते हैं, जैसे "आजकल ईमानदारी बडी बात है" मे ।

मान लीजिए; कोई कहता है, "वह खंभे के बीच (यहाँ अंदर या मध्य मे इष्ट नही है) खड़ा था"। हम पूछते हैं, "क्या आपका मतलब खंभो के बीच तो नही है ?" वह कहता है, "नही, खंभे के बीच।" "खंभे और किसके बीच ?" "खभे और किसी अन्य चीज के बीच नही—केवल खंभे के बीच !" अब हम पहले की तरह ही उसपर धावा बोल सकते हैं : "बीच" शब्द (अभिधा मे) केवल देशिक सबंध बताने मे ही अर्थ रखता है—कोई चीज अ और ब के बीच तब होती है जब वह अ से ब तक के रास्ते पर होती है (हालांकि जैसे हम आगे तीसरे अध्याय मे देखेंगे, यह कुछ अस्पष्ट है)। पर, होना किसी चीज को सदैव अ तथा किसी अन्य चीज के बीच चाहिए। प्रयोग इसी प्रकार के संदर्भ मे यह अर्थ रखता है, इस संदर्भ के बाहर उसका केवल निरर्थक है।

अंत मे, "गति" पर विचार कीजिए। हम कहते है कि गति स्थिति का परिवर्तन है। परतु स्थिति का परिवर्तन सदैव किसी चीज की तुलना मे होता है। गाडी गतिशील है—अर्थात् वह पृथ्वी की सतह पर स्थित उस बिंदु की तुलना मे अपनी स्थिति बदल रही है जहाँ से वह चली है (अथवा पृथ्वी-तल के किसी भी बिंदु की तुलना मे)। परन्तु, इस कमरे मे रखी हुई मेज गतिशील नही है : अर्थात् जिस फर्श के ऊपर वह पडी है उसकी तुलना मे वह अपनी स्थिति नही बदल रही है; और न फर्श उस मकान की तुलना मे अपनी स्थिति बदल रहा है जिसका वह हिस्सा है, बशर्ते भूचाल न हो रहा हो ; और न मकान ही जिस भूमि पर खडा है उसकी तुलना मे ऐसा कर रहा है। इस संदर्भ मे यह कहना कि मेज गतिशील नही है न केवल अर्थयुक्त है अपितु सत्य भी है ; और हमारी दैनिक बोलचाल मे प्रायः यही संदर्भ छिपा रहता है। परंतु, साथ ही यह भी होता है कि मेज, फर्श, मकान और भूमि के जिस हिस्से पर वह खडा है वह सब सूर्य की तुलना मे गतिशील है क्योकि पृथ्वी, जितनी भी चीजे उसपर है उनके सहित, लगभग १८ मील प्रति सेकंड की चाल से सूर्य की परिक्रमा कर रही है। "परंतु, यह कैसे हो सकता है कि वह एक ही समय मे गतिशील भी हो और स्थिर भी ?" उसके नीचे जो भूमि है उसकी तुलना मे वह स्थिर है ; पर सूर्य की तुलना मे गतिशील है। गति किसी चीज की तुलना मे स्थिति का परिवर्तन है, और यह जानने के लिए कि कोई चीज गतिशील है, आपका अव्यक्त निर्देशबिंदु को जानना जरूरी है।

स्वयं सूर्य भी अन्य चीजो की तुलना मे गतिशील है और पूरा सौर-परिवार उसके साथ है—वह हमारी आकाशगगा के केंद्र के चारो ओर (जो कि सूर्य से कई हजार प्रकाश-वर्षों की दूरी पर है) २०० मील प्रति सेकड से अधिक की चाल से घूम रहा है, और यही बात स्वय हमारी आकाशगंगा के बारे मे भी कही जा सकती है—वह भी अन्य आकाशगगाओ या अब तक अज्ञात किसी और चीज की तुलना मे गतिशील है। निर्देश-विंदु के बता दिए जाने पर गति की बात सार्थक हो जाती है, हालांकि उस बात मे कई कथन अवश्य ही असत्य हो सकते हैं। ऐसे निर्देश के विना गति के बारे मे कोई भी वाक्य कहना निरर्थक है, भले ही उसमे कोई कर्ता हो कोई क्रिया हो और उसका रूप व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष हो।

परतु शब्द का एक निश्चित सदर्भ से बाहर क्यो अर्थ नही होता? "ऊपर" का देशिक सदर्भ के बाहर कोई अर्थ नही है, "बीच' का दो भिन्न स्थानो के निर्देश के बिना कोई अर्थ नही है। ऐसा क्यो? क्या इसलिए कि हमने उससे बाहर उसे अर्थ ही नही दिया है? यदि ऐसी बात हो, तो हम एक स्वनिर्मित परिभाषा के द्वारा नए उदाहरणो को शब्द के अर्थ के अतर्गत लेकर इस त्रुटि को दूर कर सकते है। परतु, जिन उदाहरणो पर हमने विचार किया है उनमे कठिनाई की जड यह नही है। निश्चय ही किसी पुराने शब्द को हम सदैव किसी नए और बिल्कुल भिन्न अर्थ मे स्थिर कर सकते हैं। हम "बीच शब्द का प्रयोग "के सहारे" के अर्थ मे कर सकते हैं। और तब "वह खभे के बीच खडा है" सार्थक हो जाएगा, क्योकि इसका अर्थ वही हो जाएगा जा "वह खभे के सहारे खडा है" का है। यह सब है तो सच, पर नगण्य है। जो हम कर नही सकते वह यह है कि "ऊपर" और "बीच" का अर्थ भी वही बना रहे जो हमेशा से रहा है अथवा उससे कुछ मिलता जुलता, उसके प्रयोग का विस्तार मात्र करनेवाला, बना रहे और फिर भी हमारा यह कहना सार्थक हो कि "वह ब्रह्माड के ऊपर खडा था" या "वह खभे के बीच खडा था।"

इसी प्रकार, "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" भी निरर्थक है। हम इसे यह कहकर सार्थक बना सकते हैं कि "शनिवार" एक आदमी का नाम है, परतु जब तक यह सप्ताह के एक दिन का नाम है तब तक "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" निरर्थक ही लगता रहेगा। लेकिन ऐसा क्यो? क्योकि हम वह

कर रहे है जिसे कोटि-सकरण (कोटियों को परस्पर उलझाना) कहा जा सकता ह : हम एक कालावधि पर, एक दिन पर, एक ऐसी विशेषता का आरोप कर रहे हैं जो काल पर लागू नही होती बल्कि केवल दिक् पर होती है। इससे हम सीधे सार्थकता की एक और कसौटी मे पहुँच जाते हैं।

६. कोटि-दोष—कहा जाता है कि प्रत्येक चीज जिसके बारे में हम बात कर सकते है, कुछ मोटे वर्गो या कोटियों में आती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि पुस्तकें पढने के काम आती हैं, उनमे पृष्ठ होते हैं और छपे हुए अक्षर होते हैं, उनका कोई आकार होता है और वजन होता है ; पर यह नही कहते कि वे सख्या हैं (क्योकि संख्याएँ अकालिक सत्ताएँ हैं जबकि पुस्तकें काल में अस्तित्व रखती हैं), या यह कि वे स्वयं ही पुस्तकें पढती हैं (क्योंकि पुस्तकें निर्जीव पदार्थ है और पढ़ना एक ऐसी बात है जो केवल चेतनायुक्त प्राणियों पर ही लागू होती है), या यह कि वे सप्ताह के दिन हैं। यह कहा जाता है कि एक निश्चित कोटि की किसी चीज पर एक विशेषता का आरोप करना केवल तभी सार्थक होगा जब वह विशेषता उसी कोटि की हो। यहाँ हम कुछ उदाहरण देकर देखेंगे कि कोटि-दोष कैसे होते है।

अ. यदि कोई यह दावा करे कि उसने एक गंध को चखा है या एक स्वाद को सूँघा है, तो वह कोटि-संकरण का दोषी होगा। आप जिस चीज को भी सूँघें, होगी वह सदैव गंध ही, न कि स्वाद। गंधबोधक शब्द गंधो पर लागू होते हैं और स्वादबोधक शब्द स्वादो पर। यह सच है कि हम चीजो को सूँघते हैं—जैसे गुलाब को और अमोनिया को—परंतु घ्राणेंद्रिय से जिसका बोध हमे होता है वह उसकी गंध है, न कि उसका स्वाद या रूप या स्पर्श। तदनुसार हमारी प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय एक विशिष्ट कोटि को बनाती है, और प्रत्येक कोटि का प्रत्येक अन्य कोटि के लिए यह नियम है कि "प्रवेश निषिद्ध है।" कोई शायद यह सोचे कि इस नियम के अपवाद भी होंगे : जैसे, लोग कहते है कि जब वे दोलनदर्शी (ओसिलोस्कोप) मे से देखते है तब वे ध्वनियो को देखते है तथा जब कुछ ध्वनियाँ सुनाई देती है और साथ-साथ उस मशीन मे भरी जाती हैं तब वे विविध प्रकार की तरंगे देखते है। परंतु यह निश्चित है कि यहाँ या कही भी हम ध्वनियों को नही देखते : हम किसी भी ध्वनि के बारे में यह पूछ सकते हैं कि वह कैसी सुनाई देती है ; परतु यह नही हो सकता कि हम यही उन तरंगो के बारे मे भी पूछें जिन्हें

हम देखते हैं और हमारा पूछना सार्थक हो। होता यह है कि जब हम कोई ध्वनि सुनते है तब हम साथ-साथ मशीन पर दृश्य वक्रों का एक समुच्चय भी देखते है। परंतु इससे हमारा यह कहना बिल्कुल उचित नही हो जाता कि हम स्वयं ध्वनि को ही देखते हैं। ध्वनि तो सुनने की चीज है, और ध्वनि के साथ जो दृश्य चलता है वही हमें दिखाई देता है।

ब. "संख्या ७ नीली है"। ऐसा कहना भी एक कोटि-दोष है। संख्याएँ भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं और उनकी भौतिक वस्तुओं की विशेषताएँ नहीं होती। संख्याएँ कालनिरपेक्ष चीजें हैं। उनका कोई इतिवृत्त, कोई पहले और पीछे नहीं होता। यह कहना निरर्थक होगा कि संख्या ७ कल पैदा हुई या आज उसे दिल का दौरा पड़ा। कालिक विशेषण—वे जो काल मे अस्तित्व रखने-वाली चीजों पर लागू होते हैं—कालनिरपेक्ष चीजों पर आरोपित नहीं किए जा सकते। ये दो *बहुत ही सामान्य और बहुत ही महत्त्वपूर्ण कोटियाँ* हैं जिन्हे कि एक-दूसरी से नही मिलाना चाहिए। इनको मिलाने से अनेक निरर्थकताएँ पैदा होती है। इस प्रकार "चौगुनापन दीर्घसूत्रता को पीता है" न सत्य होगा और न असत्य, बल्कि निरर्थक होगा। चौगुनापन एक विशेपता या, जैसा कि दार्शनिक प्राय: कहते है, एक गुणधर्म है, और किसी चीज का गुणधर्म पीना-जैसा कोई काम नही कर सकता। इसी तरह, दीर्घसूत्रता भी, जो कि व्यक्तियों का एक गुणधर्म है, न कोई काम कर सकती है और न उसके साथ ही कोई काम (जैसे पीना) किया जा सकता है। यह एक और कोटि-दोष होगा।

स. "द्विघात-समीकरण घुड़दौड़ में जाते हैं।" यह सत्य है *या* असत्य या निरर्थक? यहाँ भी एक कोटि-दोष है: समीकरण ऐसी चीजें नहीं हैं जो काल के अंदर कोई काम कर सके, जैसे घुड़दौड़ मे जाना। द्विघात-समीकरण गणितीय पदार्थ है जिनका कोई इतिवृत्त नहीं होता। आप शायद सोचें: "मैं कागज के ऊपर एक द्विघात-समीकरण को लिख सकता हूँ, उस कागज को अपनी जेब में डाल सकता हूँ और घुड़दौड़ में जा सकता हूँ, इस प्रकार वह समीकरण भी मेरे साथ जाएगा।" परंतु आप जेब में समीकरण को नही बल्कि एक कागज के टुकडे को रखते हैं जिसके ऊपर कुछ निशान बने हैं, ऐसे निशान जो समीकरण के बोधक हैं। अन्य लोग भी कागज के अन्य टुकड़ों पर अन्य निशान बना सकते हैं जो उसी समीकरण के बोधक होंगे। कागज के

टुकड़े को जलाकर आप उस समीकरण को नहीं नष्ट करेंगे, बल्कि उसकी केवल एक प्रस्तुति को नष्ट करेंगे। यदि ऐसी सभी प्रस्तुतियाँ नष्ट हो जाएँ, तो इससे गणित का एक भाग नष्ट नहीं हो जाएगा, (भले ही इसमे कुछ विद्यार्थियों को अत्यधिक निराशा हो)। आप कुछ निशान (अंक, बराबर का चिह्न इत्यादि) ही मिटाएँगे, उसे नहीं जिसके लिए वे निशान है।

परंतु शायद "द्विघात-समीकरण घुड़दौड़ मे जाते है" असत्य ही हो। उस दशा में "द्विघात-समीकरण घुड़दौड़ में नहीं जाते" सत्य होगा। क्या वह सत्य नहीं है ? वे जाते नहीं न ? क्या हमने अभी यह सिद्ध नही कर दिया ? परंतु यहाँ असत्य का निरर्थक से भेद करने मे हमें बहुत ही सावधानी रखनी चाहिए। "मैं कल लन्दन गया" असत्य है; पर है अवश्य ही सार्थक। लेकिन क्या "द्विघात-समीकरण घुड़दौड में जाते हैं" सार्थक है ? किसी द्विघात-समीकरण का (एक कागज के टुकड़े पर बने निशानों का नही) घुड़दौड़ में जाना कैसा होगा ? "वह कैसा होगा"-वाली कसौटी पर हम पहले ही "क्या आप इसकी कल्पना कर सकते हैं ?" और "आप किन परिस्थितियो में इसे सत्य कहेंगे ?"-वाली कसौटियों के साथ विचार कर चुके हैं। इन सभी कसौटियो में किसी-न-किसी बात में कमी पाई गई थी, पर हमें यह याद रखना चाहिए कि "द्विघात-समीकरण घुड़दौड़ में जाते है" किसी भी कसौटी पर ठीक नही बैठता, जबकि "मैं कल लन्दन गया" सभी कसौटियों पर ठीक बैठता है। दोनों में अवश्य ही कोई अंतर है। द्विघात-समीकरण इस तरह की चीजें बिल्कुल हैं ही नही जो घुडदौड मे जाएँ या न जाएँ। यदि "द्विघात-समीकरण घुडदौड़ में जाते है" निरर्थक है, तो इसका निषेधक "द्विघात-समीकरण घुड़दौड़ में नहीं जाते" भी निरर्थक है। क्या नही ? यदि कथन के विध्यात्मक रूप में कोई कोटि-दोष है तो उसके निषेधात्मक रूप मे भी वह दोष उतना ही है।

परंतु अब एक कठिनाई पैदा होती है : कोटि-दोष ठीक-ठीक क्या होता है ? हम कैसे जानते हैं कि हम यह दोष कर रहे हैं ? मान लीजिए कि मै कहता हूँ, "उसकी एड़ी मे मोच आ गई है।" यह चाहे सत्य हो या असत्य, पर चलेगा। फिर "उसके मस्तिष्क में मोच आ गई।" पहले तो आप यह वाक्य सुनकर कुछ समझेंगे ही नही, पर तब शायद आप मुस्कराएँगे और मेरे कथन को एक अन्य बात को कहने का एक विचित्र तरीका समझेंगे—जैसे इस बात को कहने का कि उसने बहुत ज्यादा दिमागी काम करके अपने को थका

दिया है और अब वह सोच नहीं सकता, अथवा इसी तरह की कुछ और बात। पर अब मान लीजिए कि मैं यह कहता हूँ, "उसके यकृत् मे मोच आ गई है"। इसका क्या अर्थ होगा ? मैं किस वस्तुस्थिति को बता रहा हूँ ? क्या यकृत् ऐसी चीज है जिसमे मोच आ सके ? "मोच" का इस सदर्भ मे क्या अर्थ होगा ? शायद यह कह देना काफी होगा कि यहाँ एक कोटि-दोष है। पर अब हम दायरा घटाकर और भी छोटी कोटियो मे पहुँच रहे हैं। "उसने कुछ लेमन पिया", "उसने एक रोटी खाई"। मान लीजिए हम कुछ अदल बदल करके इन्हें ऐसा कर देते है "उसने एक रोटी पी", "उसने कुछ लेमन खाया"। इनका क्या अर्थ होगा ? क्या ये निरर्थक हैं ? प्रत्येक किस बात का कथन करता है ? क्या यह कोटि-दोष है ? क्या लेमन और रोटी अलग-अलग कोटियो से सबधित हैं ? यदि ऐसा है, तो वे उन बडी कोटियो से बहुत भिन्न हैं जिनसे हमने शुरूआत की थी। ऐसी कौन सी दो चीजे होगी जो दो भिन्न कोटियो से सबधित न हो ? क्या "वह स्त्री सोफे पर लेटी थी" सार्थक है, पर "वह स्त्री मोमबत्ती पर लेटी थी" कोटि दोष के कारण निरर्थक है ? ऐसा नही लगता कि हमारे पास यह निर्णय करने की कोई स्पष्ट कसौटी है कि कोटि दोष कब होता है।

"कोटि दोष तब होता है—जब कथन का विधान करना और उसका निषेध करना दोनो ही अर्थहीन होता है।" शायद, पर यह ध्यान देने की बात है कि (अ) यहाँ हम "अर्थहीन" शब्द का प्रयोग "कोटि दोष" की परिभाषा मे कर रहे है, जबकि कोशिश हमने इस बात की शुरू की थी कि "अर्थहीन" की परिभाषा "कोटि दोष" के द्वारा दें। इसके अलावा यह भी ध्यान देने योग्य है कि (ब) यदि कोटि-दोष का परिणाम अर्थहीनता होता है तो ऐसा प्रतीत नही होता कि अर्थहीनता का कारण केवल कोटि दोष ही होता है। "वनमा लीगो ताखा" अर्थहीन है, पर इसलिए नही कि इसमे कोई कोटि-दोष है।

७ स्वतोव्याघातकता—मान लीजिए कि हम कहते है, "उसने एक वर्गाकार वृत्त खीचा", "वह नगी थी पर एक लाल पोशाक पहने थी", "कमरा खाली था पर किताबो से भरा था"। यदि हम अभिधा मे बोल रहे हैं और शब्दो का किसी नए और भिन्न अर्थ मे प्रयोग नही कर रहे हैं, तो हम अपनी ही बात को काटने के दोषी हैं, क्योकि हम किसी चीज के बारे मे यह कह रहे

हैं कि उसमें एक विशेपता अ है और उसी सांस में यह भी कि उसमें अ से संगति न रखनेवाली न-अ विशेपता भी है। वर्ग होना वृत्त न होना है; नंगा होना कपड़े (लाल या भिन्न रग के) पहने न होना है ; इत्यादि। कोई भी चीज एक ही समय इन दोनो विशेपताओं से युक्त नही हो सकती। बात सिर्फ इतनी ही नही है कि हम इन विसंगत गुणधर्मों से युक्त किसी चीज की कल्पना नही कर सकते। यह काफी सच है कि आप एक वर्गाकार वृत्त की कल्पना नही कर सकते। (यदि आप सोचते हैं कि कल्पना की जा सकती है, तो शायद आप एक वर्ग की कल्पना करते है, फिर एक वृत्त की, फिर दुवारा एक वर्ग की और इसी तरह आगे भी बारी-बारी से एक के बाद दूमरे चित्र की। पर, आप एक ऐसे वृत्त की कल्पना नही कर सकते जो साथ ही एक वर्ग भी हो—एक आकृति हो जो गोल हो पर गोल न हो, चार भुजाओंवाली हो पर चार भुजाओंवाली न हो। यदि आप सोचते हैं कि आप कल्पना कर सकते हैं, तो ऐसी एक आकृति खीचकर दिखाइए।) परंतु, जैसा कि हम पहले देख चुके है, ऐसी आकृति की कल्पना करने मे आपका असफल होना स्वत: यह सिद्ध नही करता कि वह अर्थहीन है। यदि वह अर्थहीन है तो एक भिन्न कारण से, जो यह है कि इस तथाकथित वस्तुस्थिति को बतानेवाला वाक्य स्वतोव्याघाती है।

क्या सभी स्वातोव्याघाती कथन निरर्थक होते है ? शायद कोई कहे कि नही होते : एक कहेगा, "मै जानता हूँ कि 'वह एक वर्गाकार वृत्त है' का क्या अर्थ है, और मैं इसका अर्थ जानने के कारण ही यह जानता हूँ कि यह स्वतोव्याघाती है। मै आपकी यह बात मानता हूँ कि वर्गाकार वृत्त होते ही नही है—कि ऐसा कथन असत्य है ; बल्कि वह अनिवार्यत: असत्य है, क्योकि वर्गाकार वृत्तो का होना ही असंभव है ; परंतु निरर्थक वह नहीं है।"

लेकिन, हम इसका यह उत्तर दे सकते है : "आप जानते है कि 'वर्ग' शब्द का क्या अर्थ है और यह भी कि 'वृत्त' शब्द का क्या अर्थ है। पर, मेरा निवेदन यह है कि आप 'वर्गाकार वृत्त' का, जिस किसी वाक्य मे यह अद्य आता है उसका, अर्थ नही जानते। इसका क्या अर्थ सभव है ? यह सच है कि अलग से इन शब्दो का अर्थ है, पर इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि सयुक्त रूप से भी इनका कोई अर्थ है। हम जानते हैं कि "गिरना" का क्या अर्थ है (इसका अर्थ कम-से-कम नीचे की ओर जाना तो है ही, हालांकि नीचे की ओर जाने के तरीके को बतानेवाली

एक और परिभाषक विशेषता का उल्लेख भी अवश्य होना चाहिए, क्योकि आप कूद सकते है या गोता लगा सकते है जो कि नीचे की ओर जाने के तरीके है पर गिरना नही कहलाते)। आप यह भी जानते हैं कि "ऊपर की ओर" का क्या अर्थ है। पर, क्या आप जानते हैं कि "ऊपर की ओर गिरना" का क्या अर्थ है ? "ऊपर की ओर गिरना" वदतोव्याघात है। कोई गिर सकता है और कोई ऊपर की ओर जा सकता है ; परंतु कोई ऊपर की ओर नही गिर सकता। "यह निश्चय ही स्वतोव्याघाती है, परंतु इसका अर्थ भी अवश्य है, अन्यथा मैं यह तक न कह सका होता कि यह स्वतोव्याघाती है।" पर क्या अर्थ इसका है ? क्या दोनो शब्दो के समुच्चय का कोई अर्थ है ? "मै ऊपर की ओर गिरा" किस संभव वस्तुस्थिति का निर्देश करता है ? किसीका भी नही, क्योकि कोई ऐसी वस्तुस्थिति संभव नही है। फिर भी, कोई कह सकता है, "पर यह बात वाक्य को सार्थक होने से नही रोकती। जैसे 'एकशृंग' शब्द किसी भी प्राणी का निर्देश किए बिना सार्थक है, ठीक वैसे ही एक वाक्य किसी भी संभव वस्तुस्थिति का निर्देश किये बिना सार्थक हो सकता है। 'ऊपर की ओर गिरना' किसी बात का निर्देश नही करता, क्योकि इसका कोई दृष्टात नही है। हम यह भी कह सकते हैं कि इसका कोई दृष्टात संभव ही नहीं है—और इसके बावजूद इसकी परिभाषक विशेषताएँ है। क्या नही है ? परिभाषक विशेषताएँ ये है कि (अ) कोई नीचे की ओर जाता है, (ब) एक विशेष तरीके से जाता है (कूदते हुए या गोता लगाते हुए नही), तथा (स) वह ऊपर की ओर जाता है।" परंतु ये परिभाषक विशेषताएँ परस्पर असंगत है। "ठीक है, पर मुख्य बात यही तो है : वाक्य स्वतोव्याघाती है, पर है फिर भी सार्थक।"

यह सब मानते है कि स्वतोव्याघाती कथन विचित्र होते हैं। वे निरर्थकता के ऐसे उदाहरणो की तरह नही होते जैसे "जाना बहुत खाना अहा" या "घडी ब्रह्माड के ऊपर रखी है।" "यह एक वर्गाकार वृत्त है" और "मैं ऊपर की ओर गिरा" निरर्थक हैं : इनके अलग-अलग शब्द तो सार्थक हैं पर पूरा वाक्य सार्थक नही है। परंतु यह सिद्ध कैसे किया जाए ? उसके निरर्थक होने का आग्रह क्यो किया जाए ? क्या इतना कहना काफी नही है कि वह स्वतोव्याघाती है—क्या इतना आक्षेप पर्याप्त नही है ?

आगे के पृष्ठो मे स्वतोव्याघातकता की बहुत अधिक चर्चा होगी ; पर

अधिकांश थोड़े से अन्य महत्वपूर्ण अंतरों को स्पष्ट कर देने के बाद होगी। लेकिन, अनेक बातों को पहले ही साफ-साफ बताया जा सकता है। यद्यपि स्वतोव्याघाती कथन निरर्थक होते है, तथापि केवल वे ही निरर्थक हों, ऐसा नही है, क्योंकि "चौगुनापन दीर्घसूत्रता को पीता है" जैसे अनेक अन्य वाक्य भी बिलकुल निरर्थक लगते है और जिन कारणों से होते हैं उनका स्वतोव्याघातकता से कोई संबंध नही होता। हम कह सकते हैं कि ऐसे वाक्य इतने भी स्पष्ट नही होते कि हम उनके स्वतोव्याघाती होने या न होने का निश्चय कर सकें—हम इस बारे मे कोई धारणा ही नही बना सकते कि उनका क्या अर्थ संभव है। इसके अलावा, अधिकतर निरर्थक वाक्य ऐसे होते हैं कि आप उनका विधान करें या निषेध, दोनो तरह से वे समान रूप से निरर्थक होते है: यदि "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" निरर्थक है तो 'शनिवार बिस्तर पर नही लेटा है" भी उतना ही निरर्थक है। यदि आप नही जानते कि पहले में किस बात का विधान किया गया है तो आप यह भी नही जानते कि दूसरे मे किस बात का निषेध किया गया है। परंतु यदि आप कहे कि "वर्ग चार भुजाओंवाले होते हैं" तो यह स्पष्टतः सत्य है, जबकि इसका निषेध—"वर्ग चार भुजाओंवाले नही होते"—स्वतोव्याघाती है।[1] यह एक विचित्र प्रकार का वाक्य है जो विधानात्मक रूप मे तो सार्थक है, पर निषेधात्मक रूप मे निरर्थक है। ऐसा लगेगा कि स्वतोव्याघातकता अन्य निरर्थक वाक्यों से भिन्न होती है। जब हमारा सामना ऐसे वाक्यों से होगा तब हम उन्हे केवल "स्वतोव्याघाती" कहेंगे, न कि उन्हे 'निरर्थक' कहते रहेंगे, क्योंकि ऐसा कहते रहने से उनका उन वाक्यों से उलझाए जाने का खतरा हो जाएगा जो निरर्थक हैं या अन्य कारणों से निरर्थक हैं।

८ **ऐसे रूपक जिनका अनुवाद नहीं हो सकता**—सार्थक और निरर्थक के भेद के संबंध मे एक और टेढ़ी समस्या तब पैदा होती है जब हम शब्दों के रूपकात्मक प्रयोग पर विचार करते हैं। "रूपक" की सही-सही परिभाषा बताने मे कई पृष्ठ रंग जाएँगे, और इस विषय पर लिखनेवाले बहुत-से लेखक

---

१ तीसरे अध्याय की भाषा में इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से इस तरह कहेंगे : "वर्ग चार भुजाओंवाले होते हैं" विश्लेषी है और इसका निषेध, "वर्ग चार भुजाओंवाले नहीं होते", स्वतोव्याघाती है। परंतु "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" न विश्लेषी है और न स्वतोव्याघाती।

ने इस बात की परस्पर-मूलत भिन्न व्याख्याएँ दी-है कि रूपक क्या होता है।[1] हम एक उदाहरण उस बात का देकर शुरू करेंगे जिसे प्रत्येक रूपक बताएगा (क्योकि यहाँ भी लोग शब्द के गुणार्थ के बजाय उसके वस्त्वर्थ के बारे मे अधिक सहमत है), और देखेंगे कि अर्थ के बारे मे क्या समस्याएँ पैदा होती हैं। महाकवि निराला ने लिखा है·

> विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहागभरी—
> स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु तरुणी
> जूही की कली
> दृग बद किए, शिथिल, पत्राक मे।

कोई अभिधावादी कहेगा कि यह तो अर्थहीन है। "एक कली सोएगी कैसे ? तरुणी कैसे है ? स्वप्न-मग्न कैसे होगी ? उसके दृग क्या होंगे ?" यदि कविता सुनकर यही प्रतिक्रिया हमारे अदर हो, तो वह अधिकाशत निरर्थक सिद्ध होगी। परतु ऐसी पक्तियो का अर्थ अवश्य होता है। अथवा कम-से-कम साहित्य का प्रत्येक अध्यापक ऐसा आग्रह अवश्य करेगा। और उनका सीधे अर्थवाले वाक्यो मे भावानुवाद किया जा सकता है, जैसे, ऊपर की पक्तियो का इस वाक्य मे· "निर्जन वन मे लता पर जूही की अनखिली कली ढीली-ढाली लटक रही थी।" ठीक है, यदि यही उसका अर्थ है तो क्यो न केवल इतना ही कहा जाए ? इसलिए कि यह तो एक सीधी-सी बात को कहने का एक सीधा-सादा और नीरस-सा तरीका लगेगा। निराला की पक्तियाँ इस शुष्क बात को एक निराले तरीके से प्रस्तुत करके पाठक के मन मे सुदर भावनाएँ और कल्पनाएँ जगा देती हैं तथा एक निराले रस का सचार कर देती हैं। कवि ने एक सुंदर तरुणी स्त्री का रूपक बाँधकर जैसे कि मानो कली मे जान और चेतना डाल दी है। "सुहागभरी", "स्वप्न" इत्यादि शब्दो के जो "गौण अर्थ" (लक्षणा) हैं वे पाठक के मन मे जो रसात्मक प्रभाव उत्पन्न

---

१. उदाहरणार्थ : पॉल हेन्ले, मेटाफ़र (मिशिगन विश्वविद्यालय प्रेस ने १९५८ में प्रकाशित लैंगुएज, थॉट ऐंड कल्चर में), मैक्स ब्लैक, मेटाफर (प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि अरिस्टोटेलियन सोसाइटी, १९५४-५५); मॉनरो सी० बियर्डस्ली, एस्थेटिक्स, पृ० ९३-१०६; आइसाबेल हन्गरलैंड, पोयटिक डिस्कोर्स (कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, १९५८), अध्याय ४।

कर देते है वह सीधे अभिधार्थ वाले वाक्य कदापि न कर पाते ।

यह ध्यान देने की बात है कि रूपक सादृश्य पर आधारित होता है। कली और युवती मे जो सादृश्य का सबध है उसकी ओर शायद हमारा ध्यान कभी गया ही न होता । जो कवि रूपक का व्यापक रूप से अपनी कविता मे प्रयोग करता है वह ऊपर से असदृश दिखाई देनेवाली वस्तुओ के मध्य सादृश्य ढूंढने मे हमारी सहायता करता है और ऐसा करके वह अपने चारो ओर की दुनिया के हमारे अनुभव को तीव्र करता है। रूपक भाषा का "भावात्मक अलकरण" मात्र न होकर कही वडी चीज है। वह थोडे-से ही शब्दो मे दो भिन्न दिखाई देनेवाली चीजो मे आश्चर्यजनक सादृश्य का बोध करा सकता है।

हमे यह भी जान लेना चाहिए कि रूपक शब्द के सर्वमान्य प्रयोग से आगे निकल जाता है। "हँसती हुई रात" कोई सर्वमान्य प्रयोग नही है, और कोई "हँसना" तथा "रात" का अर्थ कोश मे देखकर भी इसके अर्थ को नही समझ पाएगा। किसी रूपक को हम तब समझते है जब हम रूपक वाले प्रयोग के अर्थ का अभिधावाले प्रयोग के अर्थ से सादृश्य देख लेते है। पर रूपक इस प्रयोग का विस्तार होता है। और विस्तार का बिंदु निर्धारित करना प्राय बहुत ही कठिन होता है। इस प्रकार भाषा का रूपकपरक प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग (जिसकी परिच्छेद १ के अत मे पर चर्चा की जा चुकी है) मे शामिल है, पर उससे कुछ कम व्याप्तिवाला होता है। "मेज की टाँग", "मन के कोने मे", "दिल के टुकडे टुकडे हो जाना" इत्यादि सब लाक्षणिक प्रयोग है, पर भाषा मे ये खूब जम गए है और किसी भी वडे कोश मे पाए जा सकते हैं। इनमे से कुछ को "मृत रूपक" कहा जा सकता है किसी समय वे सर्वमान्य प्रयोग नही थे, पर बाद मे हो गये।

"मेज की टाँग", "सुराही की गर्दन", "पुस्तक का पन्ना (पर्ण)" इत्यादि पर विचार कीजिए। भाषा की वर्तमान अवस्था मे "टाँग" का मेज के एक भाग के अर्थ मे प्रयोग उसी तरह सर्वमान्य है जिस तरह "आदमी की टाँग" मे। परतु हम इस बात की अच्छी तरह कल्पना कर सकते हैं कि पहले कभी जब इस शब्द का केवल आदमी या जानवर के अग-विशेष के लिए ही नियमित रूप से प्रयोग होता था, लोग मेज के उन भागो के लिए जिनपर वह खडा या टिका रहता है और जो कार्य के साथ शक्ल मे भी कुछ-कुछ आदमी के

इन अगो से मिलते-जुलते है, इस शब्द का रूपकपरक प्रयोग करते होगे। तब यह प्रयोग चल पडा होगा और चूंकि नई पीढियां सीधे ही मेज के उन भागो के लिए इस शब्द का प्रयोग करना सीख सकती थी तथा उन्हे इसके लिए पुराने प्रयोग का सहारा लेने की आवश्यकता नही पडी, इसलिए जिस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग मेज के भाग-विशेष के लिए होता है वह इसका एक सर्वमान्य अर्थ हो गया। यह इस बात का एक उदाहरण है कि रूपक की शब्दो का ऐसा प्रयोग शुरू करने मे कितनी अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जो कालातर मे नए अर्थों मे विकसित हो जाता है।[१]

"वह लोमडी है", इस वाक्य पर विचार कीजिए। शाब्दिक अर्थ मे लिए जाने पर यह (आदमी के सदर्भ मे) स्वतोव्याघाती होगा, क्योकि यह आदमी (दो पैरवाला) को लोमडी (चार पैरवाला) कहना है, जो कि वदतोव्याघात है। परतु, यह *कथन स्वतोव्याघाती है नही, क्योकि कहा यह जा रहा है कि* उस आदमी मे लोमडियो की (कुछ) विशेषताएँ हैं—कम-से-कम वे जो परपरा से लोमडियो की मानी जाती है—जैसे धूर्तता, चतुरता, अविश्वासपात्रता। (यह ध्यान देने की बात है कि यह भाषा का सवेगात्मक प्रयोग नही है . विशेषताओ का उसके ऊपर आरोप किया जा रहा है, और वे उसके अदर हैं, यह कहना या तो सत्य है या असत्य। यहाँ वाक्य एक स्पष्ट अर्थ रखता है, हालाँकि यह मानना होगा कि उतना स्पष्ट वह नही है, क्योकि यह नही बताया गया है कि लोमडियो की कौन-सी विशेषताएँ अभिप्रेत हैं। परतु, इस वाक्य मे इतनी खूबी अवश्य है कि केवल एक शब्द "लोमडी" के द्वारा आदमी के बारे मे इतना अधिक बता दिया गया है जितने को बताने के लिए कई वाक्य बोलने पडते।) परतु "मेज की टाँग" की तरह "लोमडी" शब्द का यह प्रयोग भी सर्वमान्य हो गया है, और कोशो मे इस शब्द का यह अर्थ प्राणिविज्ञानीय अभिधार्थ के साथ-साथ दिया रहता है। फिर भी, यह एक लाक्षणिक प्रयोग ही है, क्योकि प्राणिविज्ञानीय अभिधार्थ ("मैंने जगल मे एक लोमडी देखी") की तुलना मे

---

१. साधारण बोलचाल में "लाक्षणिक" और "रूपकपरक" में अतर इतना सुस्पष्ट नहीं होता। यहाँ दी हुई परिभाषाओं को वहाँ तक लेखक के द्वारा स्वनिर्मित ही मानना चाहिए। सर्वमान्य और असर्वमान्य में भी विभाजक रेखा बहुत स्पष्ट नहीं है।

"वह (आदमी) लोमडी है' लाक्षणिक है। परतु लाक्षणिक होने के बावजूद यह एक सर्वमान्य प्रयोग है और इसलिए रूपक मे इसकी गिनती नहीं है।

रूपको के बारे मे और भी अधिक कहा जा सकता है; लेकिन यहाँ मुख्य सार्थक और निरर्थक का प्रश्न है। क्या रूपक मे अर्थ का जो विस्तार पाया जाता है वह इतना मामूली हो सकता है कि उसका भान ही न हो, या असल मे वह नही के बराबर हो? और, यदि ऐसा होता है तो क्या कथन निरर्थक नहीं हो जाता? "रवड-छद" (नई कविता के प्रसग मे प्रयुक्त) का उदाहरण लीजिए। है यह काफी सार्थक : रवड-छद वे छद हैं जो रवड़ की तरह कवि की इच्छानुसार लवे किए जा सकते हैं। पर अव "रवड-घन-मूल", "रवड-राग", "रवड-हर्प", "रवड-आशा" के बारे मे क्या कहेगे?[१] क्या इनका और जिन वाक्यो मे ये आते हैं उनका कोई अर्थ है? हम इनका क्या मतलब निकाल सकते है? निश्चय ही, शब्दो के किसी भी समुच्चय को रूपक कहकर सार्थक नही मान लिया जा सकता। रेखा कहाँ खीचनी है? कहाँ सार्थकता समाप्त होती है और कहाँ निरर्थकता शुरू होती है? यह सच है कि ऊपर के किसी भी शब्द-समुच्चय का कोई सर्वमान्य प्रयोग नही है; "रवड-छद" और "हँसती हुई रात" का भी नही, जो कि इसके बावजूद भी सार्थक हैं। तब फिर अतर कहाँ है?

शायद तब हम इस सवाल का जवाब दे पाएँगे जब हम रूपक के ऊपर एक शर्त लगा दें: कथित-रूपक को अनुवाद-योग्य होना चाहिए। हम देख चुके है कि "रवड-छद" का क्या अनुवाद है और इसी प्रकार कविता के अधिकतर रूपकात्मक अशो का अनुवाद किया जा सकता है। अनुवाद मे उतनी अधिक व्यजना (गौण अर्थ) नही होगी जितनी मूल मे, और इसलिए पाठक पर पडनेवाला उसका प्रभाव (और यदि "गौण" अर्थ" को अर्थ मे शामिल किया जाए तो उसका अर्थ भी) कुछ घट जाएगा, पर अनुवाद फिर भी किया ही जा सकेगा। जो पाठक किसी एक रूपक को नही समझता उसके लिए अनुवाद कम-से-कम सही स्थल पर ध्यान केंद्रित करने मे, कवि की विचार-धारा जिस दिशा मे वह रही है उसे पकडने मे और इस प्रकार रूपक के अर्थ को समझने मे सहायक होगा। जब कोई अनुवाद बिल्कुल किया ही नही

---

१ देखिए मॉनरो सी० बियर्डस्ली, एस्थेटिक्स, पृष्ठ १४३-४४।

जा सकता, तब वाक्य को रूपक नही (क्योकि रूपक सार्थक होते हैं) बल्कि शब्दो का एक निरर्थक समुच्चय समझना चाहिए।

अनुवाद-योग्य होना चाहिए—पर किस वाक्य मे अनुवाद के योग्य ? मान लीजिए कि कोई कविता की एक अर्थहीन लगनेवाली पंक्ति का अनुवाद "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" करता है—तब ? क्या हम यह कहेगे कि वह सार्थक है, क्योकि उसका अनुवाद किया जा सकता है ? क्या यह विचारणीय नही है कि किसमे उसका अनुवाद होता है ? अवश्य ही उसका अनुवाद किसी ऐसे वाक्य मे होना चाहिए जिसे हम पहले ही सार्थक जानते हैं। फिर तो अर्थ की एक कसौटी पहले ही अपना ली गई है।

६. साधारण-बोली में अनुवाद होने की योग्यता—यह कहा गया है कि अर्थहीन वाक्यो की पहचान जिस बात से होती है वह यह है कि वे हमारी भाषा की साधारण बोली के अनुसार नही होते और उस बोली मे उनका अनुवाद करने के सारे प्रयत्न असफल से लगते हैं। हम प्रतिदिन "मैं कुछ खरीदने बाजार जा रहा हूँ', "कुत्ते प्राय बिल्लियो से अधिक स्नेही होते है', "जो आपको पसद है वह शायद मुझे पसद न हो", "गजे अमरीकी गिद्ध का धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है" इत्यादि अनगिनत ऐसे वाक्यो को बोलते है जो अस्पष्ट भले ही हो पर होते बिल्कुल सार्थक हैं तथा जिनके अर्थ को हम उन्हे समझा सकते हैं जो उन्हे समझने मे असमर्थ रहते हैं। तो फिर ऐसा क्यो न कहा जाए कि

यदि वाक्य सार्थक है तो शर्त यह है कि उसका अनुवाद साधारण बोली मे हो सके। साधारण बोली की विशेषता यहा बताई जा सकती है (यहां मानना होगा कि बात कुछ अस्पष्ट सी है) कि उसका प्रयोग हम एक-दूसरे से बातचीत करने मे करते है। यह वह बोली होती है जिसमे अधिकाश वार्तालाप किए जाते हैं तथा जिसमें लगभग सभी किताबें लिखी जाती हैं। इस बोली मे अनुवाद किए जा सकने की योग्यता सार्थकता की एक आवश्यक शर्त है, क्योकि इस बोली के अनुसार जो वाक्य नही होता उसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जब कहा जाता है तब हमारे पास यही एकमात्र उपाय होता है। वाक्य का उसी बोली के एक अन्य वाक्य मे अनुवाद करके उसके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करने से काम नही चलेगा, क्योकि यदि उसका

कोई अर्थ है तो वह ऐसा करने से पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट नही होगा। समस्या यदि हल हो सकती है तो केवल वाक्य का साधारण बोली मे अनुवाद करके ही हो सकती है।[१]

रूपकपरक वाक्य इस शर्त को पूरा करेंगे, क्योंकि उनका साधारण बोली मे अनुवाद किया जा सकता है (हालांकि इसमे उनके गौण अर्थ की कुछ हानि हो सकती है)। परंतु अनेक वाक्य ऐसे होते है जिनका इस तरह अनुवाद नही हो सकता। यहां हम दो उदाहरणो की परीक्षा करेंगे।

इससे कोई इन्कार नही करेगा कि हेगेल का प्रसिद्ध कथन "सत् बीइंग और कुछ नही नथिंग बिल्कुल एक है" स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है, जैसा कि स्वय हेगेल ने भी माना था। परंतु स्वय उसने जो व्याख्या दी है वह साधारण बोली के अनुसार नही है, क्योकि हेगेल ने "सत्" और "कुछ नही" का नामो के रूप मे प्रयोग किया है कि जबकि साधारण बोली इन शब्दो के नामो के रूप मे प्रयोग का समर्थन नही करती। अकेली इस बात के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि हेगेल का यह कथन निरर्थक है, उचित न होगा। परतु यदि वह निरर्थक नही है तो जब तक उसका साधारण बोली मे अनुवाद न कर दिया जाए तब तक यह निर्धारित नही किया जा सकता कि वह क्या कहता है।[२]

अब एक और उदाहरण जर्मन दार्शनिक हाइडेगर से लिया जाता है।

कुछ-नही के बारे मे हम चिंतित क्यो है? विज्ञान कुछ-नही को नही मानता और उसे अवास्तविक बताता है। विज्ञान कुछ-नही से कोई सबध नही रखना चाहता। कुछ-नही क्या है? क्या कुछ नही का केवल इसलिए अस्तित्व है कि नही अर्थात् निषेध का अस्तित्व है? अथवा नही और निषेध का इसलिए अस्तित्व है कि कुछ-नही का अस्तित्व है? हम यह मानते है: कुछ-नही, नही और निषेध की अपेक्षा अधिक पहले का है। हम कुछ-नही को जानते है। कुछ-नही संपूर्ण सत् का सीधा-मा

---

१. पॉल मार्हेन्के "दी काइटीरिअन आफ सिग्निफिकेन्स" (लियोनार्ड लिन्स्की द्वारा संपादित सीमेन्टिक्स ऐंड दि फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज, पृष्ठ १४२ पर)।

२. वही, पृ० १४३-४४।

निषेध है। दुश्चिता कुछ-नहीं को प्रकट करती है। कुछ-नही स्वयं नहींकता[1] है।

इस उद्धरण में से शायद ही कोई वाक्य साधारण बोली में अनुवाद करने के योग्य हो। यह सिद्ध करने के लिए प्रत्येक वाक्य का अलग से विश्लेषण करना होगा, परंतु नीचे लिखी बातों से शायद काम चल जाएगा : साधारण बोली में "कुछ-नही" का नाम के रूप में प्रयोग नही किया जाता। "ईमानदारी से बड़ा कुछ नही है" इत्यादि प्रयोग चलते है, पर "कुछ नही" यहाँ किसीका नाम नहीं है। हम यही बात "कुछ नही" का प्रयोग किए बिना भी आसानी से कह सकते हैं, जैसे, "ईमानदारी सबसे बड़ी चीज है।" इस प्रकार "कुछ नही" के अर्थ का हमें कोई सुराग नही मिलता। अतः शायद इसका कोई अर्थ है ही नहीं। हाँ, तब बात अलग है जब इसका कोई अनुवाद किया जा सके, जो कि किया नहीं जा सकता। (यहाँ भी हमे जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए : पूरे संदर्भ की परीक्षा कर लेने के बाद—अर्थात उस पूरी पुस्तक को पढ़कर जिसका यह एक अंश है—शायद हम इस विचित्र प्रयोग के अर्थ का पता लगा सकें। कभी हमे पता लग जाता है, कभी नही लगता। यह सर्वविदित है कि टीकाकार प्रायः मूल वाक्य जिस बोली मे है उसी बोली मे उनका और अधिक वाक्यों में अनुवाद कर देते है, जिससे हमें कोई सहायता नही मिलती।) फिर, अंतिम वाक्य भी बड़ा अटपटा है और साधारण बोली के बिल्कुल विरुद्ध है। ऐसी कोई कुंजी नही मिलती जिससे इसका किसी समझ में आनेवाली बात के रूप में अनुवाद किया जा सके। फलतः, जब तक कोई समुचित अनुवाद नही मिलता तब तक इसे निरर्थक मानना होगा।

परंतु यदि इस बात पर हम सहमत हो भी जाएँ कि जिन वाक्यों की आलोचना की गई है वे वास्तव में निरर्थक है, तो भी जो कसौटी सुझाई गई है, यानी यह कि विचाराधीन वाक्य को साधारण बोली में अनुवाद के योग्य होना चाहिए, उसे लेकर हमारे मन में नई शंकाएँ उठने लगती हैं। साधारण बोली ठीक क्या होती है ? संदिग्ध प्रसंगों में यह हम कैसे बताएँ कि एक दिए हुए वाक्य को साधारण बोली के अनुरूप समझना है या नहीं ? "कुत्ते पानी

---

१. वही, पृ० १५८ पर उद्धृत (टिप्पणी—"नहींकता" मूल "nots" के लिए है—अनु०)।

पीते है" अवश्य ही साधारण बोली के अनुरूप है; पर "चौगुनापन दीर्घसूत्रता को पीता है" के बारे मे क्या कहेगे ? निश्चय ही हमारा मन इस दूसरे वाक्य को निरर्थक कहने का होता है, पर कम-से-कम दो बातों में यह पहले के समान है : इसमे सभी शब्द हैं (निरर्थक अक्षर इसमे बिल्कुल नही है) और वाक्य के व्याकरण की दृष्टि से सही होने की जो शर्तें हैं उन्हें यह पूरी करता है। वास्तव में इसका आसानी से अंग्रेजी, फ्रेंच इत्यादि दूसरी भाषाओं में अनुवाद किया जा सकता है। फिर भी यह निरर्थक लगता है। यह साधारण बोली के अनुरूप है या नही ?[1] यदि नही है तो क्यों ?

निश्चय ही, ऊपर के दो उदाहरणों की जो आलोचना की गई है उस तरह की आलोचना इसकी नही की जा सकती। परंतु यदि यह साधारण बोली के अनुरूप है और इसके बावजूद निरर्थक है तो इस बात को वाक्यों की सार्थकता की कसौटी मानने का क्या लाभ हुआ कि उन्हें साधारण बोली मे अनुवाद किए जाने के योग्य होना चाहिए ?

बात को हमें इसी उलझी हुई हालत मे छोड़ देना होगा। अब हम कुछ और अंतरों की चर्चा करेंगे और यह आशा करेंगे कि आगे आनेवाले प्रश्नों के विवेचन से इस विवादग्रस्त विषय पर अवश्य कुछ प्रकाश पड़ेगा।

---

१. माहेंन्के कहता है (पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १४२) कि अनुरूप हैं; पर यह भी कहता है कि साधारण बोली में अनुवाद किए जा सकने की योग्यता सार्थकता की एक आवश्यक शर्त है, पर्याप्त शर्त नहीं। उसने कहा है कि पर्याप्त शर्त (या शर्तों का समूह) जो संतोषजनक हो, कभी बताई ही नहीं गई है।

अध्याय २

ज्ञान

५. सप्रत्यय

इस अध्याय मे हमारा मुख्य प्रयोजन मानवीय ज्ञान की—उसके स्रोतो की, उसकी प्रकृति की, तथा उसके जितने भी विभिन्न प्रकार हो उनकी—जाँच करना है। यह दर्शन की उस शाखा का मुख्य काम है जिसे "ज्ञानमीमासा" कहते है। परतु इस काम को करने से पहले हमे तैयारी के बतौर एक और चीज की सक्षिप्त जाँच कर लेनी होगी, और यह चीज है सप्रत्ययो की प्रकृति।

ज्ञान प्रतिज्ञप्तियो मे प्रकट होता है "मैं जानता हूँ कि मैं इस समय किताब पढ रहा हूँ", "मैं जानता हूँ कि २ धन २ बराबर ४ होता है", इत्यादि। परतु इसके पहले कि हम किसी प्रतिज्ञप्ति को समझ सके, भले ही वह असत्य हो, सप्रत्ययो का मन मे होना जरूरी है। "बर्फ पिघलती है" के अर्थ को समझने के लिए पहले बर्फ और पिघलना के सप्रत्ययो का हमारे मन मे होना आवश्यक है। इसी बात को प्रकारातर से यह कहकर प्रकट किया जा सकता है कि "बर्फ पिघलती है" का अर्थ समझने के लिए हमे "बर्फ" और "पिघलना", इन शब्दो का अर्थ समझना होगा। परतु, शब्दो का अर्थ समझने के लिए हमारे मन मे सप्रत्यय होने चाहिए।

हम सप्रत्ययो को कैसे प्राप्त करते हैं ? कभी यह समझा जाता था कि हमारे कम-से-कम कुछ सप्रत्यय सहज होते हैं। मान लीजिए कि लाल का सप्रत्यय सहज होता . तब किसी लाल चीज को देखे बिना ही हमारे मन मे यह सप्रत्यय होता। एक जन्माध व्यक्ति के अदर भी यह सप्रत्यय उसी तरह वर्तमान होता जिस तरह उस आदमी के अदर जो देख सकता है। परतु, जन्माध व्यक्ति के अदर लाल या किसी भी रग का सप्रत्यय नही होता, और यह बात इतनी स्पष्ट लगती है कि किसीने भी इस सप्रत्यय को या किसी भी अन्य इद्रियगम्य गुणधर्म के सप्रत्यय को सहज नही माना है। परतु कुछ सप्रत्ययो को सहज माना गया है, जैसे कारण के तथा ईश्वर के सप्रत्यय को।

यदि कारण का संप्रत्यय सहज होता, तो हम कभी भी कारणो को काम करते देखे बिना जान लेते कि इस शब्द का क्या अर्थ है, और यह संप्रत्यय पूरा हमारे मन मे होता। यह भी हमें अविश्वसनीय लगता है, परंतु कारण के सप्रत्यय की विस्तार से जांच हम पांचवें अध्याय मे करेंगे। शायद ईश्वर का उदाहरण अधिक विश्वसनीय लगता है, क्योंकि ईश्वर, यदि वह है तो, दिखाई नही देता और प्रत्यक्षगम्य नही है और इसके बावजूद उसका सप्रत्यय हमारे मन मे है (हालांकि इसका भी निषेध किया गया है)। पूछा जा सकता है कि जब ईश्वर दिखाई नही देता और फिर भी उसका संप्रत्यय हमारे मन में है तब वह आया कहां से ? क्या यह सहज नही हो सकता ? हम इस प्रश्न का उत्तर देने का उस समय प्रयत्न करेंगे जब हम इस वैकल्पिक सिद्धांत पर विचार करेंगे कि संप्रत्यय अनुभव से प्राप्त होते हैं। फिलहाल यह ध्यान देने की बात है कि सहज संप्रत्ययों का सिद्धांत अब नही माना जाता। आधुनिक मनोविज्ञान के उदय से वह बिल्कुल समाप्त हो गया है। इस बात का कोई भी प्रमाण अब तक नहीं मिला कि लोगों का कोई भी संप्रत्यय सहज है। शायद ऐसे कुछ संप्रत्यय जिनके अपने अंदर होने का लोग दावा करते हैं उनके अंदर हैं ही नही, परंतु यदि कोई संप्रत्यय उनके मन में है तो वह अनुभव से ही प्राप्त होता है—अर्थात् यदि उन्हें कुछ अनुभव हुए ही न होते तो वह संप्रत्यय भी उनके अंदर न हुआ होता।

तो फिर अब स्पष्टतः यह कहना होगा कि सभी संप्रत्यय अनुभव के द्वारा प्राप्त होते है। (इस मत को कभी-कभी "संप्रत्यय-विषयक इंद्रियानुभववाद" कहते हैं और इस मत को कि कुछ संप्रत्यय सहज होते है, "संप्रत्यय-विषयक तर्कबुद्धिवाद" कहते है। परंतु ये नाम भ्रामक हो सकते है; क्योंकि ये "तर्कबुद्धिवाद" और "इंद्रियानुभववाद" के इनसे कही अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थो को ग्रहण करने मे बाधक है। उनकी चर्चा तीसरे अध्याय मे की जाएगी और उनका सबंध संप्रत्ययो से न होकर प्रतिज्ञप्तियो से है।) ब्रिटेन के तीन दार्शनिकों, जॉन लॉक (१६३२-१७०४), और जॉर्ज बर्कली (१६८५-१७५३) तथा डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) ने इस मत का समर्थन किया था और उन्हीसे इसे प्रसिद्धि मिली।

इन दार्शनिकों की शब्दावली थोड़ी भिन्न थी और जिस समस्या को हल करने का इनका प्रयत्न था वह यह थी : हमारे जो प्रत्यय हैं वे हमें कहां से

मिले ? उन्होंने बताया कि जो भी प्रत्यय या विचार हमारे अंदर हैं और कभी भी होंगे वे अनुभव से आते हैं : (१) कुछ दृष्टि, श्रवण और स्पर्श की "वाह्य" इंद्रियों से प्राप्त होते हैं और भौतिक जगत् से संबंधित सभी प्रत्यय इनसे मिलते हैं ; तथा (२) कुछ "आंतरिक" इंद्रियों से, जैसे सुख और दुःख के अनुभवों से, प्रेम और घृणा, अभिमान और पश्चाताप की अनुभूतियों से, सोचने और संकल्प के अनुभवों से प्राप्त होते हैं—अपने आंतरिक जीवन के बारे में सभी प्रत्यय हम इनसे प्राप्त करते हैं। यही दो प्रकार के अनुभव है जिनसे हमारे सभी प्रत्यय आते हैं। (लॉक के मतानुसार पहले "संवेदनमूलक प्रत्यय" हैं और दूसरे "अनुचिंतनमूलक प्रत्यय"।)

मूल अंग्रेजी शब्द "आइडिया" है जिसका प्रयोग सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजीभाषाजगत् में इतना व्यापक था कि सारे अनुभव, प्रकार उनका चाहे जो भी हो, इसमें समाविष्ट थे। परंतु ह्यूम ने अनुभवों में एक स्पष्ट भेद "इंप्रेशन" और "आइडिया" शब्दों के द्वारा किया। इनमें से कोई भी शब्द बीसवीं शताब्दी में प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त नहीं था। ह्यूम ने इन शब्दों का जिन अर्थों में प्रयोग किया उन्हें इस प्रकार समझाया जा सकता है : यदि मैं एक हरे पेड़ को देखूं तो मेरे अंदर एक हरा इंप्रेशन (छाप, संस्कार, ऐंद्रिय संस्कार) होता है और जब मैं आँख बंद कर लेता हूँ और किसी हरी चीज की कल्पना करता हूँ तब मेरे अंदर हरे रंग का एक आइडिया (प्रत्यय) आता है—आइडिया इंप्रेशन की एक हल्की-सी प्रतिलिपि है। इंप्रेशन तब होता है जब आँखें खुली होती हैं, पर आइडिया तब होता है जब आप किसी चीज की कल्पना करते हैं। ह्यूम का मुख्य सिद्धांत यह था कि *ऐंद्रिय संस्कारों के बिना प्रत्यय हो ही नहीं सकते।* यदि आपने कभी कोई हरी चीज नहीं देखी—अर्थात् यदि आपने कभी कोई हरा ऐन्द्रिय संस्कार ग्रहण नही किया—तो आपके मन में कभी भी हरे का प्रत्यय आना असंभव है। इस प्रत्यय को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि पहले आपको वह ऐंद्रिय संस्कार मिले। जो आदमी जन्म से अंधा है उसके अंदर हरे या किसी भी रंग का प्रत्यय कभी नहीं आ सकता, क्योंकि उसे रंगों का कोई ऐंद्रिय संस्कार कदापि नही मिल सकता। इसी प्रकार, जो आदमी जन्म से बहरा है उसे स्वरो का कोई प्रत्यय नही हो सकता, और जो जन्म से सूंघने की शक्ति से हीन है उसे गंधों का कोई प्रत्यय नही हो सकता। प्रत्येक प्रत्यय क्ष' के अनुरूप एक ऐंद्रिय संस्कार क्ष होता है ; और ऐंद्रिय संस्कार क्ष के हुए बिना

हमारे अंदर तदनुरूप प्रत्यय क्ष' नहीं आ सकता। यही बातें "आंतरिक" इंद्रियों से प्राप्त प्रत्ययों पर भी लागू होती हैं। जिस आदमी को कभी पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ उसमें पीड़ा का प्रत्यय कहाँ से आएगा? जिसे कभी भय का अनुभव नहीं हुआ उसके अंदर भय का प्रत्यय हो ही नहीं सकता और जिस बच्चे ने अभी काम का अनुभव नहीं किया है उसमें काम का प्रत्यय हो ही नहीं सकता : वह देखेगा कि इसका जो अनुभव करते हैं वे कैसे व्यवहार करते हैं, परंतु उन्हें वैसा व्यवहार करने के लिए जो भाव प्रेरित करता है वह किस तरह का है, इसका कोई प्रत्यय अभी उसके अंदर नहीं आया।

यहाँ तक ह्यूम के सिद्धांत की रूपरेखा बताई गई है। परंतु इस रूप में यह पर्याप्त नहीं है, जैसा कि लॉक और ह्यूम को भली भाँति पता था : क्या हमारे मन में ऐसी अनेक चीजों के प्रत्यय नहीं हो सकते जिनका हमें कभी अनुभव नहीं हुआ? हमने कभी सोने का पहाड़ नहीं देखा, पर फिर भी हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। और हम एक ऐसे जंतु की कल्पना कर सकते हैं जो आधा मनुष्य हो और आधा घोड़ा। यह सच है कि हमने नराश्वों की, ऐसे काल्पनिक जंतुओं की जो आधे मनुष्य और आधे घोड़े होते हैं, तस्वीरें देखी हैं, परंतु कभी तस्वीरें न देखी होने पर भी हम इनकी कल्पना कर सकते हैं, और जिन लोगों ने पहले-पहल ऐसी तस्वीरें बनाई थीं वे उन्हें बनाने से पहले अवश्य ही उनकी कल्पना कर सके थे। और, हम काले गुलाब की कल्पना कर सकते है (उसका प्रत्यय बना सकते है), हालाँकि अब तक हमने केवल लाल, पीले, गुलाबी रंग के और सफेद गुलाब ही देखे हैं। इन सबका इंद्रियों से अनुभव करने से पहले ही, यहाँ तक कि कभी भी इनका अनुभव न हो तब भी, हममें इनके प्रत्यय हो सकते हैं।

इस प्रकार की बातें सोचते-सोचते लॉक को सरल और मिश्रित प्रत्ययों में अंतर करना पड़ा। हम सुनहरे पहाड़ और काले गुलाब को देखे बिना ही इनकी कल्पना इसलिए कर सकते हैं कि आखिर हम सुनहरे और काले रंग को अन्य चीजों में तो देख ही चुके हैं। सुनहरे पहाड़ और काले गुलाब के प्रत्यय मिश्रित हैं : अन्य अनुभवों से जो प्रत्यय हम पहले ही प्राप्त कर चुके हैं उन्हें ही ज्यों-के-त्यों लेकर हम अपनी कल्पना में नए संयोगों में मिलाकर रख देते हैं। मनुष्य का मन अनुभव से पहले से प्राप्त सरल प्रत्ययों से तरह-तरह के मिश्रित प्रत्ययों का निर्माण कर सकता है; परंतु मनुष्य का मन एक भी

सरल प्रत्यय का निर्माण नहीं कर सकता। यदि हमने कभी लाल नहीं देखा है तो लाल की हम कल्पना नही कर सकते, और यदि हमें कभी पीड़ा की अनुभूति नही हुई है तो हम पीड़ा की कल्पना नहीं कर सकते। लाल और पीड़ा सरल प्रत्यय है। यह सच है कि हम पर्वत या गुलाब को देखे बिना ही शायद उसकी कल्पना कर सकते हों, पर ऐसा केवल इसलिए कि पर्वत और गुलाब के प्रत्यय स्वयं ही मिश्रित प्रत्यय है। यदि हमने एक टीला देखा है और कुछ चीजों को अन्य चीजों से ऊँची देखकर हमें ऊँचाई का प्रत्यय भी प्राप्त है, तो हम टीले से अधिक ऊँची और अधिक ढालवाली किसी चीज का प्रत्यय बना सकते हैं, और यही चीज पर्वत है, भले ही हमने कभी उसे न देखा हो। इसी प्रकार, हम ईश्वर का प्रत्यय बना सकते हैं, क्योंकि मनुष्यों का जो अनुभव हमें हुआ है उससे प्राप्त कुछ प्रत्ययों, जैसे शक्ति, वुद्धि, दयालुता इत्यादि के प्रत्ययों, को हम एकसाथ मिला सकते है और जिस मात्रा में हमने इन्हें कभी भी देखे हुए किसी व्यक्ति में पाया है उससे अधिक मात्रा में इनके होने की हम कल्पना कर सकते हैं। यहाँ कुछ समस्याएँ है जिनपर विस्तार से विचार सातवें अध्याय में किया जाएगा। यहाँ इतना जान लेना काफी होगा कि ईश्वर का प्रत्यय, जो भी वह-हो, एक मिश्रित प्रत्यय है। (जैसे, सुनहरे पहाड़ या एकशृंग के प्रसंग में है वैसे ही यहाँ भी, ईश्वर के प्रत्यय के होने से निश्चय ही यह सिद्ध नही होता कि उसके अनुरूप किसी चीज का अस्तित्व है।)

सरल प्रत्ययों का मिश्रित प्रत्ययों से संबंध कुछ उस संबंध की तरह है जो परमाणुओं का अणुओं से है। परमाणुओं के बिना अणु नहीं हो सकते; और परमाणुओं को विभिन्न तरह से संयुक्त करके विभिन्न अणुओं का निर्माण किया जा सकता है। सरल प्रत्ययों के बिना आप मिश्रित प्रत्यय नही बना सकते। परंतु यदि आपके पास काफी संख्या में सरल प्रत्यय हो जाते हैं तो आप कल्पना में उन्हे विभिन्न तरीकों से मिलाकर असंख्य वस्तुओं के प्रत्यय बना सकते हैं जिनका कभी भूमि या सागर में अस्तित्व ही नही था।

प्रथम दृष्टि में मनुष्य की विचार-शक्ति से अधिक असीम कोई भी चीज नहीं दिखाई देती। वह न केवल मनुष्य के वश और अधिकार से बाहर है अपितु प्रकृति और वास्तविकता की सीमाओ तक के अंदर बँधी नहीं रहती। अप्राकृतिक आकृतियाँ बनाने में, और असंगत शक्लों को एकसाथ

मिलाने मे कल्पना को उससे अधिक प्रयास नही करना पड़ता जितना प्राकृतिक और जानी-पहचानी चीजो का निर्माण करने मे करना पडता है। और, शरीर तो एक ही ग्रह के अदर सीमित रहता तथा उसमे कष्ट और कठिनाई से चल-फिर पाता है, जबकि विचार क्षणभर मे हमे ब्रह्माड के सर्वाधिक दूरस्थ भागो मे पहुँचा देता है।...... ..

परंतु, यद्यपि हमारी विचार-शक्ति असीम स्वतंत्रता का उपभोग करती लगती है, तथापि सूक्ष्म परीक्षा से हमे ज्ञात होगा कि वह वास्तव मे बहुत ही तग सीमाओ के अदर बँधी हुई है तथा मन की यह सारी सर्जन-शक्ति ज्ञानेंद्रियो तथा अनुभव से प्राप्त सामग्री के अंशों के संयोजन, स्थान-परिवर्तन, आवर्धन या ह्रासन की शक्ति के बराबर ही है, उससे अधिक नही। जब हम एक सुनहरे पहाड की कल्पना करते हैं तब सोना और पहाड, केवल इन दो संगत प्रत्ययो को मिला देते है और ये दो ऐसी चीजें हैं जिनसे हम पहले से ही परिचित है। .. .. सक्षेप मे, विचार की सारी सामग्री हमे अपने बाह्य या आतरिक अनुभवो से प्राप्त होती है ; केवल इनका मिश्रण और सयोजन ही मन और सकल्प का काम है।[१]

यह बात कभी बिल्कुल स्पष्ट नही की गई है कि हमारे कौन-से प्रत्यय सरल हैं और कौन मिश्रित हैं। उनकी कोई पूरी सूची कभी नही बनाई गई ; केवल छिटपुट उदाहरण ही दिए गए हैं। सामान्य रूप मे, इंद्रियो से ज्ञात गुण सरल प्रत्ययो के घिसे-पिटे उदाहरण रहे, जैसे—लाल, मीठा, तीखा, पीडा, सुख, भय, क्रोध, सोचना, कुतूहल, सदेह, विश्वास। प्रत्येक अलग प्रसग मे यह निश्चित करना कि कौन-से प्रत्यय सरल हैं, शायद अधिक महत्व न रखता हो ; परतु फिर भी उनको लेकर एक समस्या पैदा होती है। कसौटी यह बताई गई है कि सरल प्रत्यय वे है जिन्हे तोडकर या जिनका विश्लेषण करके अन्य प्रत्यय नही प्राप्त किए जा सकते। परतु, इससे यह निर्धारित करने मे सदैव सहायता नही मिलती कि किन प्रत्ययो का आगे विश्लेषण हो सकता है और किनका नही।

लाल इत्यादि रगो के प्रत्ययो को लेकर, जिन्हें कि प्राय. सरल प्रत्ययो

---

१ डेविड ह्यूम, ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अडरस्टैंडिंग, अनुच्छेद २, पैरा ४ और ५।

का आदर्श माना गया है, एक समस्या भी पैदा होती है : यह तो निस्संदेह सत्य है कि यदि आपने लाल की कोई भी छटा (शेड) कभी नहीं देखी तो आप किसीकी भी कल्पना नही कर सकते। परंतु तब क्या होगा जब आपने लाल की दो या तीन छटाएँ देखी हों ? तब क्या आप केवल उन्हीं छटाओं की कल्पना कर सकेंगे और दूसरों की नही ? अथवा क्या लाल के थोड़े-से नमूनों का अनुभव (=का संस्कार ग्रहण) कर चुकने के बाद लाल की किसी छटा की आप कल्पना कर सकते है (उसका प्रत्यय प्राप्त कर सकते हैं) ? ह्यूम ने एक ऐसे मामले की चर्चा की है : मान लीजिए कि आप नीले की एक को छोड़कर शेष जितनी भी छटाएँ है उन्हें देख चुके हैं, और आपसे पूछा जाता है कि उस अज्ञात छटा की स्थिति सबसे हल्की और सबसे गहरी छटा के बीच की अन्य छटाओं की तुलना में कहाँ है। क्या आपके लिए उस छटा की, उसे पहले कभी देखे बगैर, कल्पना करना वस्तुतः असंभव है ? अनेक व्यक्ति कहेंगे कि आप उसकी कल्पना कर सकते हैं ; अथवा यह कि (यह वही बात नही है) देखने से पहले आप उसकी कल्पना चाहे कर सकते हों या न कर सकते हों, देखने के बाद आप अवश्य ही उसे अज्ञात छटा के रूप में पहचान सकते है। परंतु यदि उसका संस्कार ग्रहण करने के पहले ही आप उसका प्रत्यय प्राप्त कर सकते है, तो यह सिद्धांत कहाँ गया कि "प्रत्येक (सरल) प्रत्यय के अनुरूप एक (ऐंद्रिय) संस्कार अवश्य होता है ?" तो क्या उसका प्रत्यय एक सरल प्रत्यय नही है ? अथवा यदि वह एक सरल प्रत्यय है, तो क्या नीले की एक लाख या अधिक विशिष्ट छटाओं में से प्रत्येक के अनुरूप एक-एक सरल प्रत्यय होना चाहिए ? यदि इन लाखों छटाओं में से प्रत्येक का प्रत्यय एक सरल प्रत्यय है, तो अज्ञात छटा की कल्पना उसे पहले देख लिए बिना करना असंभव है। इसके विपरीत, यदि सरल प्रत्यय केवल सामान्य नीला है (उसकी कोई विशिष्ट छटा नही), तो संभावना यह है कि आप अज्ञात छटा की कल्पना कर सकेंगे। पर, तब आपको यह कहना पड़ेगा कि उस अज्ञात छटा का प्रत्यय एक मिश्रित प्रत्यय है जो (१) सामान्य नीले के प्रत्यय और (२) किसी अन्य छटा से गहरी या हल्की होने के प्रत्यय के मेल से निर्मित है।

यहाँ समस्याएँ बढ़ जाती है : यदि आपने केवल प्राथमिक लाल रंग देखा है तो क्या आप सिंदूरी, किरमिची, या बैंगनी की कल्पना कर सकते हैं ? इनके प्रत्यय सरल हैं या मिश्रित ? यदि आप पीले की अनेक छटाएँ देख चुके

हैं, पर नारंगी रंग की कोई छटा आपने नहीं देखी है, तो क्या उसे देखें बिना ही आप उसकी कल्पना कर सकते हैं ? (क्या कुछ लोग कल्पना कर सकेंगे और कुछ नही ? तब क्या एक प्रत्यय कुछ लोगों के लिए सरल और अन्यों के लिए मिश्रित हो सकता है ?) और यदि आप पहले प्रश्न का हाँ में उत्तर देते हैं, तो इसका उत्तर दीजिए : यदि आपने नीला और पीला देखा है पर हरा नहीं, तो क्या आप हरे की कल्पना कर सकते हैं ? (सबसे अधिक महत्त्व यहाँ इस बात का है कि आप भौतिक तथ्य और मनोवैज्ञानिक बात को एक-दूसरे से न उलझाएँ। हम कहते हैं कि नारंगी रंग लाल और पीले का मिश्रण है और हरा पीले और नीले का मिश्रण। परंतु, जिस प्रकार नारंगी रंग लाल और पीले का मिश्रण लगता है उस प्रकार हरा पीले और नीले का मिश्रण-जैसा नही लगता। जब आप अलग-अलग रंगों को मिश्रित करते है या विभिन्न प्रकाशों को मिलाते हैं, तब जो रंग मिलता है उसका इस प्रश्न से कोई संबंध नहीं है कि आप बिना पहले देखे किन रंगों की कल्पना दूसरों के आधार पर कर सकते है।)

इन अटकलबाजियों का जो भी परिणाम हो, यह बिल्कुल स्पष्ट लगता है कि कुछ संस्कारो के बिना हमें कुछ प्रत्यय हो नहीं सकते। जन्म से अंधे व्यक्ति को रंगों का प्रत्यय नही हो सकता। और यदि हमने किसी भी प्रकार की शक्लो का अनुभव नही किया है तो हमें शक्ल का प्रत्यय नही हो सकता—त्रिभुजाकार, आयताकार, वृत्ताकार या किसी भी अन्य प्रकार की शक्ल का नही—हालाँकि ऐसा हो सकता है कि यदि हमें किसी शक्ल, जैसे एक त्रिभुज या एक पंचभुज, के अनुभव हुए हों (उनके संस्कार हमारी इंद्रियों पर पड़े हों) तो हम अन्य शक्लो, जैसे एक आयत या एक षट्भुज, का प्रत्यय उन्हें देखे बिना ही बना सकते है। स्पष्ट है कि कुछ प्रत्ययों के होने से पहले कुछ संस्कारों को प्राप्त कर लेना हमारे लिए आवश्यक है, हालाँकि इस बात को लेकर विवाद उचित लगेगा कि वे संस्कार ठीक कौन-से हैं।[१]

---

२ आकृति के प्रत्यय रंग के प्रत्ययों से इस बात में भिन्न है कि आकृति का बोध स्पर्श और दृष्टि दोनों से हो सकता हैं जबकि रंगों का बोध केवल दृष्टि से ही हो सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जन्मांध व्यक्ति को आकृति का प्रत्यय हो सकता है—स्पर्श की इंद्रिय से संस्कार प्राप्त करके—परंतु रंग का प्रत्यय नहीं हो सकता।

पर, इस बारे में हमें एक सावधानी रखनी होगी। दृष्टिमूलक आकृति के प्रत्यय

सामान्य रूप से लॉक के सरल प्रत्यय वे हैं जिनके नामो की केवल निदर्शन से परिभाषा दी जा सकती है। इसका कारण कि "लाल", "मीठा", "पीडा" तथा अनेक ऐंद्रिय गुणो के बोधक शब्दो की केवल निदर्शन से—ये शब्द जिस प्रकार की चीजो के बोधक हैं उन्हें सीखनेवाले के सामने करके—परिभाषा दी जा सकती है, यह है कि इनका अर्थ दूसरो को बताने का कोई और तरीका है ही नही। ये प्रत्यय सरल हैं—अर्थात् अन्य प्रत्ययो मे इनका विश्लेषण नही किया जा सकता। इसलिए लोगो को इन शब्दो के अर्थ से परिचित कराने का इसके अलावा अन्य कोई उपाय नही है कि उन्हे सबधित ऐंद्रिय अनुभव करा दिए जाएँ। इसके विपरीत, किसीको इस प्रकार की हिदायतें दे देना सभव है कि यदि उसने कभी एक घोडा, एक कुर्सी या एक मेजपोश न भी देखा हो तो भी वह उसे पहचान लेगा, बशर्ते उसे पहले से इद्रियानुभव से कुछ अन्य प्रत्यय (आकृति, लबाई, चौडाई, ठोसपन इत्यादि के) प्राप्त हो चुके हो। कहने का मतलब यह है कि घोडा, कुर्सी और मेजपोश मिश्रित प्रत्यय हैं।[1] परतु शक्ल, रग या ठोसपन के बारे मे अथवा लाल इत्यादि कुछ प्रकार के रगो या गोल इत्यादि कुछ प्रकार की शक्लो के बारे मे कोई हिदायतें ऐसी नही हो सकती जिनके आधार पर हम इद्रियो से इन चीजो का अनुभव करने से पहले ही इनका प्रत्यय बना सके। तो यही है शब्दो के द्वारा अपरिभाष्य शब्दो और सरल प्रत्ययो के मध्य सबध।

सप्रत्यय बनाम बिंब—लेकिन, यहाँ एक सबसे अधिक महत्त्व की बात की ओर ध्यान खीच देना उचित होगा, और वह है 'आइडिया" शब्द की द्व्यर्थकना जिसके प्रति वे दार्शनिक जिनकी हम अभी चर्चा कर रहे थे

स्पर्शमूलक आकृति के प्रत्ययों से भिन्न होते है। ("आकृति" शब्द का प्रयोग हम दोनों ही के लिए करते हैं और यह भूल जाते हैं कि यहाँ प्रत्यय दो बहुत ही भिन्न प्रकार के शामिल हैं।) जन्म से अधे व्यक्ति को स्पर्शेंद्रिय के माध्यम से स्पर्शमूलक आकृति के प्रत्यय हो सकते हैं, लेकिन जैसे उसे रंग के प्रत्यय नहीं हो सकते वैसे ही उसे दृष्टिमूलक आकृति के भी प्रत्यय नहीं हो सकते।

१. हमने शायद इन सारे शब्दों के अर्थ निदर्शन से ही सीखे हैं, यानी जिन चीजों के लिए इनका प्रयोग होता है उनके उदाहरण सामने देखकर उन्हें सीखा है—पर यह जरूरी नहीं था। एक घोडा कैसा दिखाई देता है, इस बारे में सावधानी से दी हुई कुछ हिदायतों से हम घोड़े को देखने से पहले ही उसकी कल्पना कर सकते हैं और देखने पर उसे पहचान भी सकते हैं।

असावधान लगते हैं। "आइडिया" शब्द का प्रयोग संप्रत्यय की बात करने में भी हो सकता है और बिंब या प्रतिमा की भी। ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश समय ये दार्शनिक बिंबों की बात करते रहे, परंतु कभी-कभी उनकी चर्चा ने ऐसा मोड़ लिया कि वह संप्रत्ययों के संदर्भ में अधिक उपयुक्त हुई होती। लाल को देखे बिना हम अपने मन में लाल बिंब नहीं बना सकते; परंतु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि हम लाल का संप्रत्यय भी नहीं बना सकते। इस बात को समझाने के लिए हम पराबैंगनी (ultra-violet) का उदाहरण लेते है। किसी भी आदमी के मन में पराबैंगनी बिंब नहीं हो सकते, क्योंकि आदमी की आँख स्पेक्ट्रम के उस अंश के प्रति संवेदनशील नहीं है,। मधुमक्खियाँ और कुछ अन्य जीव उसे देख सकते हैं, पर हम नहीं। चूँकि हम पराबैंगनी सस्कार नही ग्रहण कर सकते, इसलिए हमारे मन में पराबैंगनी बिंब आ ही नही सकते। परंतु ऐसा लगता है कि पराबैंगनी का संप्रत्यय हमारे मन में अवश्य है। भौतिकीविद् पराबैंगनी प्रकाश की बातें करते है तथा उसे पहचान सकते और स्पेक्ट्रम के अन्य भागों से उसे संबंधित कर सकते हैं। असल में वे जिस आसानी से लाल के बारे में बात करते हैं उसी आसानी से पराबैंगनी के बारे में भी बात कर सकते हैं। एक और इसी प्रकार का उदाहरण लीजिए: जिस तरह आदमियों के अंदर दृष्टि, श्रवण और स्पर्श की इंद्रियाँ हैं, जो उन्हें भौतिक वस्तुओं के संवेद्य गुणों से परिचित कराती हैं, उस तरह कोई इंद्रिय उनमें ऐसी नहीं होती जो उन्हें रेडियोएक्टिविटी की उपस्थिति से परिचित कराए। ("संवेद्य" का अर्थ है "वह, जिसका संवेदन यानी इंद्रियों से बोध हो सके।") रेडियोऐक्टिविटी को हम न देख सकते हैं, न सुन सकते हैं और न छू सकते है। उसकी उपस्थिति का आभास पाने के लिए हमें उपकरणों पर, जैसे गाइगर-गणित्र पर, निर्भर रहना पड़ता है। यदि कोई जीव ऐसा हो जिसकी कोई इंद्रिय उसे रेडियो ऐक्टिविटी की उपस्थिति का प्रत्यक्ष बोध करा सके, तो हमें थोड़ी भी कल्पना इस बात की नही होगी कि वह कैसी है। (याद रहे कि बिंबों का दृष्टिमूलक होना आवश्यक नही है। वे श्रवणमूलक, स्पर्शमूलक, घ्राणमूलक इत्यादि हो सकते हैं। जब आप अमोनिया की गंध की कल्पना करते हैं तब आपके बिंब घ्राणमूलक होते हैं और जब आप कड़ाही में तले हुए आलुओं के स्वाद की कल्पना करते हैं तब आपके बिंब स्वादमूलक होते है।) फिर भी ऐसा लगता है कि हमारे मन में संप्रत्यय है—कम-से-कम भौतिक-

विज्ञानियों के मन में अवश्य हैं। और भौतिकविज्ञानी इस संप्रत्यय से उतनी ही आसानी से काम लेते हैं जितनी आसानी से उनसे जिनके उनके मन में ऐंद्रिय संस्कार होते हैं (और फलतः बिंब होते है) तथा यह उनके लिए जाना-पहिचाना भी उतना ही होता है। "यदि इंप्रेशन नही है तो आइडिया भी नहीं है", ह्यूम की यह अभ्युक्ति बिंबों पर लागू होती है, संप्रत्ययों पर लागू होती यह नहीं लगती।

बात को और आगे ले जाया जा सकता है: जन्म से अंधा एक आदमी भौतिकविज्ञानी बन सकता है और रंगभौतिकी में विशेषज्ञता प्राप्त कर सकता है। उसका यह चुनाव कुछ विचित्र अवश्य होगा पर असंभव नही होगा। ऐसे आदमी ने रंग कभी देखे ही न होंगे और इसलिए रंगों के बिंब उसके मन में नहीं होंगे। परंतु वह रंगों के बारे में आपसे या मुझसे शायद अधिक जानकारी रखेगा। वह उन भौतिक स्थितियों के बारे में जिनमें रंग दिखाई देते हैं तथा प्रकाश-तरंगों के बारे में और रंगीन चीजों के अन्य भौतिक गुणधर्मों के बारे में अधिकतर लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक बातें बता सकेगा। वास्तव में वह हमें बता सकेगा कि कोई भी वस्तु किस रंग की है—जैसे हम देखकर बताते हैं वैसे नहीं बल्कि वस्तुओं से निकलनेवाले प्रकाश की तरंगों की लंबाइयों को रिकार्ड करनेवाले उपकरणों के सूचकांकों को ब्रेल-लिपि में पढ़कर। वह रंग और रंगीन वस्तुओं के बारे में हमें अत्यधिक जानकारी दे सकेगा। यदि उसे रंग का संप्रत्यय नही है तो यह सब वह कैसे कर सकेगा? यदि उसे रंग का संप्रत्यय नहीं है तो वह यह कैसे जान सकेगा कि वह किसके बारे में बात कर रहा है? वह अवश्य ही रंगों को सही-सही पहचान सकेगा, पर केवल तब तक जब तक देखे हुए रंगों तथा प्रकाश के तरंग-दैर्ध्यों के बीच सहसंबंध बना रहता है। यदि यह संबंध न रहे तो वह रंगों को पहचानने में भूलें करने लगेगा, क्योंकि वह रंगों को देख तो सकता नहीं, बल्कि केवल प्रकाश-तरंगों को रिकार्ड करनेवाले उपकरणों से प्राप्त परोक्ष साक्ष्य के आधार पर ही उन्हें पहचानता है। इसके बावजूद क्या हमें यह नहीं मानना पड़ेगा कि उसे रंग का संप्रत्यय है, हालांकि रंग-बिंबों का अनुभव उसे नही होता? जब तक उसे यह संप्रत्यय न हो तब तक वह इस शब्द का प्रयोग ही कैसे कर सकेगा और ऐसी नई जानकारी भी हमें कैसे दे सकेगा जो इस शब्द के अर्थ के ज्ञान के बाद ही संभव है?

संप्रत्यय क्या है ?—इस प्रकार हम इस सर्वाधिक महत्त्व के प्रश्न पर पहुँच जाते हैं : संप्रत्यय क्या है ? अब यह बात काफी स्पष्ट हो गई है कि बिंबों से भिन्न कोई चीज है जिसे हमने संप्रत्यय कहा है। पर, संप्रत्यय है क्या ? संप्रत्यय के होने पर हम कैसे बता पाते हैं कि हमें संप्रत्यय है ?

इन प्रश्नों का हम एक संभव उत्तर देने की कोशिश करते हैं : (१) हमें क का संप्रत्यय है, यदि हम "क" शब्द की परिभाषा जानते हों। पर, इस उत्तर में अव्याप्ति है : हम अनगिनत शब्दों—"बिल्ली", "दौड़ना", "ऊपर"—के अर्थ जानते हैं और उनकी परिभाषा बता पाए बिना ही प्रतिदिन उनका प्रयोग करते हैं। पृष्ठ ९७-११३ में इसका कारण बताया गया था। किसी चीज का संप्रत्यय होने में जो भी बात होती हो, परिभाषा बता पाना उसकी शर्त नहीं है—परिभाषा बताने का काम एक ऐसी चीज है जिसमें प्रायः कोश बनानेवालों तक को बहुत कठिनाई होती है। कुछ शब्दों, जैसे "लाल", की तो अन्य शब्दों के द्वारा परिभाषा ही नहीं दी जा सकती, और इसलिए प्रस्तुत मत के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जाएगा कि हमें लाल का कदापि कोई संप्रत्यय नहीं हो सकता।[1]

इसलिए हम फिर प्रयत्न करते हैं : (२) हमें क का संप्रत्यय तब होता है जब हम "क" शब्द का सही-सही प्रयोग कर सकते हैं। हमें लालिमा और संतरापन के संप्रत्यय है, यदि हम "लाल" और "संतरा" शब्दों का प्रत्येक प्रसंग में सही प्रयोग कर सकते हों। यह कसौटी हमारे लिए परिभाषा को बताना जरूरी नहीं बनाता बल्कि केवल इस बात को जरूरी बनाती है कि हम संबंधित शब्द का सदैव सही प्रयोग करें। "संप्रत्यय" शब्द का व्यवहार में हम जैसा इस्तेमाल करते हैं उससे भी इसकी काफी अधिक संगति है। उदाहरणार्थ, हम कहते ही हैं कि "बिल्ली क्या होती है, इसका कोई संप्रत्यय उसे होना चाहिए, क्योंकि वह 'बिल्ली' शब्द का सही प्रयोग करता है—वह कुत्ते या किसी अन्य जंतु को कभी 'बिल्ली' नहीं कहता।"

---

१. असल में कहना लालिमा का संप्रत्यय चाहिए। लालिमा एक गुणधर्म है—वह जो सब लाल चीजों में समान होता है—और यह गुणधर्म लाल नहीं बल्कि लालिमा है। इसके विपरीत, हमारे लाल बिंब होते हैं ; लाल बिंब लालिमा के गुणधर्म का एक विशेष उदाहरण है।

फिर भी, एक बात है जिससे यह कसौटी बहुत ही संकीर्ण बन जाती है : इसमें यह मान लिया गया है कि हमें कोई संप्रत्यय हो, इसके पहले हमारा उसका बोध करानेवाले शब्द से परिचित होना आवश्यक है। निस्संदेह ऐसा प्रायः होता है, पर सदैव नहीं। यह हो सकता है कि एक आदमी के मन में कुछ हो जिसके लिए अभी तक कोई शब्द बना ही न हो, और इसलिए उसे उसके लिए एक नया शब्द बनाना पड़े, अथवा वह एक पुराने शब्द को ही नया अर्थ देकर, जो उसका पहले कभी नहीं था, इस्तेमाल करे। दोनों ही दशाओं में यह कहना सच-सा लगता है कि शब्द के (अथवा उसके नए प्रयोग के) अस्तित्व से पहले ही उसके मन में संप्रत्यय था। जब भौतिकविज्ञानियों ने अपने विशिष्ट प्रयोजन के लिए साधारण शब्द "ऊर्जा" के प्रयोग में ही पहले-पहल कुछ संशोधन कर दिया, तब उनके मन में एक बहुत ही सूक्ष्म संप्रत्यय रहा होगा, और संभवतः यह संप्रत्यय उसके मन में उसके बोधक शब्द से पहले से विद्यमान था। निस्संदेह अनेक संप्रत्यय ऐसे हैं जो भाषा से परिचित होने के पहले एक आदमी के मन में विद्यमान नहीं हो सकते। परंतु यह नहीं हो सकता कि सभी संप्रत्यय ऐसे हों। अन्यथा भाषा शुरू ही कैसे हुई होती ? ऐसा लगता है कि शब्द का सही प्रयोग करना संप्रत्यय के पहले से मौजूद होने का परिणाम है, उसका पूर्ववर्ती हेतु नहीं। अर्थात् यदि आपके मन में एक संप्रत्यय विद्यमान है और उसके लिए आप एक शब्द भी जानते हैं, तो आप उस शब्द का सही प्रयोग कर सकेंगे, परंतु संप्रत्यय का होना और उस शब्द का प्रयोग कर सकना एक ही बात नहीं है।

तो फिर एक बार और हम कोशिश करके देखते हैं *ताकि संप्रत्यय का विद्यमान होना शब्द से परिचित होने की बात से अलग रहे।* (३) हमें क (क-त्व का) का संप्रत्यय तब होता है जब हम क-ओं को ख-ओं और ग-ओं से तथा वास्तव में ऐसी प्रत्येक चीज से जो क नहीं है, अलग पहचान सकते हों। क के लिए हमारे पास शब्द हो या न हो, हम ऐसा कर ही सकते हैं, हालाँकि ऐसा करना उस दशा में अवश्य ही अत्यधिक सुविधापूर्ण होगा जब हमारे पास उसके लिए शब्द भी हो, और सामान्यतः होता ही है। इस प्रकार यदि एक बच्चा बिल्लियों को कुत्तों से और सुअरों से तथा सभी अन्य चीजों से अलग पहचान सकता है, तो उसे बिल्ली क्या है, इसका संप्रत्यय है, भले ही वह उसकी परिभाषा नहीं बता सकता और भले ही उसने कभी "बिल्ली" शब्द

नहीं सुना और निदर्शनात्मक परिभाषा के द्वारा इस शब्द को उस चीज से नहीं जोड़ा।

अब हमने संप्रत्यय क्या है, इस बात को इस तरह निश्चित करके बता दिया है कि शब्दों की बिल्कुल भी जानकारी हुए बिना संप्रत्यय का होना संभव हो गया है। जो कुत्ता बिल्लियों को पक्षियों से अलग पहचान सकता है उसे इन संप्रत्ययों के होने की बात कही जा सकती है, हालांकि वह शब्द नहीं जानता। फिर भी, इस परिभाषा के ऊपर भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि क-ओं को ख-ओं से अलग पहचान सकना क का संप्रत्यय पहले से मन में विद्यमान होने का परिणाम है, न कि उससे अभिन्न। कोई यह कह सकता है कि यदि आपको क का संप्रत्यय है तो उसके फलस्वरूप आप क-ओं को अन्य चीजों से अलग पहचान सकते हैं; पर पहले यह जरूरी है कि आपको वह संप्रत्यय हो। लेकिन तब संप्रत्यय का होना क्या होगा? इसके अलावा, हम ऐसी मशीनेंबना सकते हैं जो सफलतापूर्वक कुछ चीजों को अन्य चीजों से अलग कर सकती हैं। क्या हम यह कहना चाहते हैं कि इन मशीनों को संप्रत्यय है?

ऐसी आपत्तियों के उत्तर में हम कह सकते हैं कि (४) क के संप्रत्यय का होना किसी कसौटी का मन में होना है। वह मनमें किसी बात के होने के बराबर है जो शब्दों के ऊपर बिल्कुल भी निर्भर नहीं है और क-ओं को ख-ओं से तथा ग-ओं से अलग पहचानने की बात से भी बिल्कुल अलग है। परंतु यह कहना आसान नहीं है कि मन में स्थित ऐसी कसौटी किस तरह की होगी, अथवा अंतर्निरीक्षण मात्र से कोई कैसे जानेगा कि उसके पास ऐसी कसौटी है या नहीं। निश्चय ही, यह जानने का तरीका कि एक आदमी के पास क की कोई कसौटी है, यह है कि क्या उसकी मदद से वह क-ओं को ख-ओं से और ग-ओं से अलग पहचान सकता है। क-ओं को पहचानने की कसौटी अपने आप ही (ऐसा प्रतीत होगा) क-ओं का जो क नहीं है उनसे भेद करने की कसौटी भी होगी। और इस प्रकार अंत में हम अपनी तीसरी कसौटी में वापस पहुँच जाते हैं।

निश्चय ही, मुझे क का संप्रत्यय हो सकता है, भले ही दुनिया में क-ओं का बिल्कुल अस्तित्व न हो। मुझे किसी चीज का संप्रत्यय हो सकता है जो साँप की तरह हो, हाथी से बड़ी हो और हवा में उड़ती हो। यदि ऐसे किसी

जंतु का अस्तित्व होता तो मैं आसानी से उसे पहचान लेता, और यह तथ्य कि उसका अस्तित्व है नहीं, मुझे ऐसे जंतु के संप्रत्यय को मन में रखने से नहीं रोकता। तो फिर, मुझे ऐसा संप्रत्यय है, हालाँकि ऐसे किसी जंतु का अस्तित्व है नहीं और विशेषताओं के इस अटपटे समूह के लिए कोई शब्द नहीं है। (हमें विशेष रूप से यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि मुझे संप्रत्यय हो सकता है, भले ही मैं कोई विशेषताएँ न बता सकूँ, क्योंकि शब्दों के द्वारा अपरिभाष्य शब्दों के प्रसंग में कोई भी विशेषताएँ नही बताई जा सकतीं। मैं शब्दों में यह प्रकट नहीं कर सकता कि लाल का नारंगी रंग से क्या अंतर है, हालाँकि व्यवहार में मैं इनमें अंतर करना जानता हूँ, और इसलिए इन दो रंगों का संप्रत्यय मुझे है।)

तो, यह स्पष्ट हो चुका है कि किसी बिंब या प्रतिमा के बिना ही मेरे मन में एक संप्रत्यय हो सकता है। यदि वैज्ञानिकों को पराबैंगनी को आँखों से देखे बिना ही उसका संप्रत्यय हो सकता है, तो अवश्य ही एक अंधे आदमी को लाल को न देख सकने के बावजूद लाल का संप्रत्यय हो सकता है। यह इसलिए सत्य है कि वैज्ञानिक और अंधा आदमी दोनों के मन में क (पराबैंगनी, लाल) को क से भिन्न वस्तुओं से अलग पहचानने के लिए कोई कसौटी है। परंतु अब हम कह सकते हैं कि अंधे आदमी का, इसके बावजूद कि उसके पास क को क से भिन्न चीजों से अलग पहचानने के लिए एक कसौटी है, संप्रत्यय हू-ब-हू वह नहीं है जो देखने की शक्ति रखनेवालों का होता है, क्योंकि उसकी लाल को उससे भिन्न रंग से अलग पहचानने की कसौटी वही नही है जो दृष्टि रखनेवालों की होती है। अंधे आदमी को तरंग-दैर्घ्य को कसौटी के रूप में अपनाना होगा, जबकि हम लाल जिस तरह आसानी से देखने से ही अलग पहचाना जाता है (जिसे कि शब्दों में नही बताया जा सकता) उसे कसौटी बनाते हैं (जैसा कि अनंत काल से लोग करते चले आ रहे हैं)। दोनों ही के संप्रत्यय हैं और इन संप्रत्ययों में ऊँची मात्रा में सहसंबंध है। परंतु ये संप्रत्यय एक नही हैं, क्योंकि लाल को इतर रंग से अलग पहचानने का उपाय दोनों में एक नही है। (हम निस्संदेह लाल का लालेतर से भेद करने के लिए दोनों का प्रयोग कर सकते हैं जबकि अंधा केवल एक का ही कर सकता है।) इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति पराबैंगनी को देख पाता तो जो संप्रत्यय हमारा है उसके साथ-साथ उसका पराबैंगनी का एक अतिरिक्त संप्रत्यय भी होता,

क्योंकि उसे उस रंग को पहचानने के लिए (हमारी तरह) उपकरणों पर आश्रित न रहना पड़ता, वल्कि वह सीधे निरीक्षण से भी ऐसा कर सका होता।

क्या सब संप्रत्यय अनुभव पर आधारित होते हैं? अब हम अंत में अपने मुख्य प्रश्न पर आते है : इस मत के बारे मे हमे क्या कहना है कि सभी संप्रत्यय अनुभव पर आधारित होते हैं? इस मत के अनुसार, यदि क का संप्रत्यय सरल है तो क का पहले अनुभव होने पर ही उसका अस्तित्व संभव है, और यदि वह मिश्रित है तो जिन सरल अंशो से वह बना है उनके साक्षात् अनुभव के बिना वह असंभव है। यह मत न केवल सच्चा-जैसा लगता है बल्कि अपरिहार्य भी है, क्योंकि फिर विकल्प ही क्या है? हम सप्रत्ययो को लेकर तो पैदा हुए नही, और न हमें पूर्वजन्म के अनुभवो का ही अब स्मरण है (जैसा कि प्लेटो का मत था)। तो, फिर अनुभव के अलावा कैसे हम उन्हे प्राप्त करते ?

कठिनाई अलग-अलग उदाहरणों को लेकर यह दिखाने की है कि प्रत्येक में संप्रत्यय ठीक किस तरह अनुभव से प्राप्त हुआ। लालिमा इत्यादि संवेदनाश्रित सप्रत्ययो के प्रसंग मे तो बात कुछ आसान है : जब हम छोटे बच्चे थे तब हमे इशारे से अनेक लाल चीजें दिखाई गई थी और क्रमिक अपाहार की क्रिया से (जैसी पृ० ८८-९० पर बताई गई थी) इशारे से दिखाई हुई सब चीजो की समान विशेषता, लालिमा, को हम पहचान गए थे। परतु, हमने अनुभव से स्वतंत्रता, ईमानदारी, अल्पतम उपयोगिता, चार, तार्किक आपादन इत्यादि के सप्रत्ययो को कैसे प्राप्त किया होगा ? हमारे मन मे अवश्य ही ये संप्रत्यय है और यह भी हम तत्काल जान ले कि इनके अनुरूप बिंबो के बिना ही ये है। जब हम स्वतंत्रता की बात सोचते है तब शायद हम (न्यूयार्क मे स्थापित) स्वतंत्रता की मूर्ति की कल्पना करे, और जब हम गुलामी की बात सोचते है तब शायद हम कोड़े से मारे जाते अफ्रीकी गुलामों की कल्पना करे; पर इनमे से कोई भी बिंब "स्वतंत्रता" और "गुलामी" शब्दो का अर्थ नही है—स्वतंत्रता और गुलामी की बात सोचते समय कुछ लोगो की कल्पना बहुत ही भिन्न होगी, और कोई ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हे किसी भी प्रकार की कल्पना न हो। लाल या मीठे का तो एक बिंब होता है, पर स्वतंत्रता या गुलामी का वैसा कोई बिंब नही है। ये सूक्ष्म संप्रत्यय हैं जिनके अनुरूप कोई प्रतिमाएँ या बिंब

नहीं हैं। यदि कोई बिंब हैं तो वे स्वतंत्रता के नहीं बल्कि विशेष चीजों या परिस्थितियों के हैं जो स्वतंत्रता के उदाहरण हो भी सकते हैं और नहीं भी। हम सब स्वतंत्रता के संप्रत्यय को समान रूप से समझते है, भले ही हम उसकी बात सोचते समय अलग-अलग बिंबों का अनुभव करें (या किसीका भी नहीं)। जब हम स्वतंत्रता के बारे में सोचते है तब हम जो कुछ सोचते है वह उससे बहुत भिन्न होता है जिसकी हम उसके बारे में सोचते समय कल्पना करते हैं। यदि हम कोई कल्पना करते हैं, तो जो भी वह है केवल अनुषंगी चीज है।

इसका मतलब यह नही है कि यदि हमें कभी कोई ऐंद्रिय अनुभव न हुआ हो तो भी हमे स्वतंत्रता का संप्रत्यय होगा। उसका हमे संप्रत्यय होना किसी-न-किसी-प्रकार से अनुभव के ऊपर आश्रित है। परंतु यह बताना बिल्कुल आसान भी नहीं है कि कैसे। शायद हम तब स्वतंत्रता का संप्रत्यय न बना सके होते जब हमें सदैव किसी तानाशाही शासन में रहना पड़ा होता और कभी हमने ऐसे लोगों को देखा-सुना न होता जो अपने विचार दंड के भय के बिना प्रकट कर सकते है—हालाँकि यह भी संदिग्ध है, क्योंकि यदि हमें अपने व्यवहार के ऊपर प्रतिबंधों के होने का बोध रहा होता तो हमें ऐसी वस्तुस्थितियों का संप्रत्यय भी हो सकता था जिनमें ये प्रतिबंध नही लगे होते। वास्तव में, यह जानना बहुत ही कठिन है कि किन अनुभवों पर स्वतंत्रता का हमारा संप्रत्यय आश्रित है। जो भी हो, इस संप्रत्यय का ऐंद्रिय अनुभव से संबंध बहुत ही परोक्ष है। ऐसा कोई विशेष ऐंद्रिय अनुभव नही है, बल्कि ऐंद्रिय अनुभव का कोई एक विशेष प्रकार तक ऐसा नही है, जिसका हमें इस संप्रत्यय के बनने से पहल हो चुका होना आवश्यक हो। इस संप्रत्यय और अनुभव के बीच जो भी संबंध हो, है वह इतना अधिक दूर का कि किसीने भी उसका ठीक-ठीक स्वरूप स्पष्ट शब्दों में नही बताया है।

एक और प्रकार के संप्रत्ययों पर विचार कर लें। ये हैं अंकगणित के संप्रत्यय। चूँकि हम दो चीजों और तीन चीजों को अलग पहचान सकते हैं, इसलिए यह पूछा जा सकता है कि हमें दो और तीन के संप्रत्यय कहाँ से प्राप्त हुए? ह्यूम कहता है कि "अनुभव से"। पर, पूरी बात तो मालूम हो कि कैसे? हम कह सकते हैं कि अंकगणित चीजों के परिमाणात्मक पक्ष का अध्ययन करता है। जब हम दो और तीन के योग पर विचार करते

हैं तब हमें यह चिंता नहीं होती कि तीन सेब हैं या नावें हैं या घास के गट्ठर हैं। तीन (या त्रित्व) का संप्रत्यय अनेक उदाहरणों से अपाहार के द्वारा बनता है। तीन सेब, तीन नाव और घास के तीन गट्ठरों में समानता है उनकी संख्या; गणित के लिए मतलब की बात केवल उनका तीन होना है, न कि यह कि वे तीन क्या हैं। अंकगणित के संप्रत्यय सब परिमाणात्मक होते हैं—यही उनके अंकगणितीयत्व की परिभाषा है। और, वे अनुभव से, दुनिया की वस्तुओं का हमें जो अनुभव होता है उससे, निकाले गए होते हैं। वस्तुओं के परिमाणों के किसी भी अनुभव के बिना अंकगणित के संप्रत्यय हमें प्राप्त ही न हो सके होते। यहाँ तक तो सब ठीक है। समस्या तब आती है जब हम समझते हैं कि ३ का हमें जितना संप्रत्यय है उतना ही १२,०८३,४६८ का भी संप्रत्यय है। पर शायद हमने कभी चीजों की ठीक इतनी संख्या नहीं देखी, और यदि देखी भी हो तो बिना यह जाने कि वे कितनी हैं। तो फिर यह पूछा जा सकता है कि इस संख्या और हमारे ऐंद्रिय अनुभवों में क्या संबंध है ?

अथवा इस तरह के शब्दों के अर्थों पर विचार कीजिए जैसे "समता", "अनंतता", "आपादन" और "निगमन"। हमें इन सब के संप्रत्यय हैं, क्योंकि जिन प्रसंगों में ये शब्द लागू होते हैं उन्हें हम उन प्रसंगों से अलग पहचान सकते हैं जिनमें ये लागू नहीं होते। फिर भी, अनुभव में हमारे सम्मुख आनेवाली किसी भी चीज के अनुरूप ये नहीं लगते। यदि वे अनुभव से किसी बहुत ही परोक्ष तरीके से प्राप्त होते हैं, तो हमें पता नहीं कि कैसे या ठीक कौन-कौन चरण उस प्रक्रिया में हैं।

शायद सांख्यिक समता के और १२,०३८,४६८ के अपने संप्रत्ययों को प्राप्त करने के लिए जिस अनुभव में से होकर हमें गुजरना पड़ा वह केवल हमारा गणित सीखने का अनुभव था, या इन शब्दों के प्रयोग को सीखने का अनुभव था; परंतु यदि यह बात है तो यह "अनुभव" शब्द का उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत अर्थ है जिसमें हम यहाँ तक इसका प्रयोग करते आए हैं, अर्थात ऐंद्रिय अनुभववाला (या ऐंद्रिय संस्कारवाला) अर्थ।

और भी अधिक उलझनवाली बात यह है कि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका हम नियमित रूप से सही प्रयोग कर सकते हैं, पर जो अनुभव से, अपाहार तक के द्वारा, संबद्ध प्रतीत ही नहीं होते। "और" तथा "आसपास" जैसे

शब्दो को लीजिए जिनका वाक्य मे कोई कार्य होता है, पर जो दुनिया की किसी भी विशेष चीज[1] के अनुरूप नही है :

न केवल सज्ञाओ, क्रियाओ और विशेषणो के अर्थों का ही ज्ञान हर किसी के लिए आवश्यक है, बल्कि वाक्य के व्याकरण-सम्मत रूप के अर्थ को समझना भी आवश्यक है तथा अनेक वाक्यो के लिए उन विविध प्रकार के शब्दो को समझ लेना जरूरी है जो सज्ञाओ, क्रियाओ और विशेषणों को वाक्यो के रूप मे इस तरह जोडने का काम करते है कि पूरा वाक्य किसी अर्थ को प्रकट करनेवाला बन जाता है। "राम ने श्याम को मारा", "श्याम ने राम को मारा", "क्या राम ने श्याम को मारा ?", "राम, श्याम को मारो" और "राम, मैं प्रार्थना करता हूँ कि श्याम को न मारिए", इन वाक्यो के अर्थ-भेद को पहचानने मे हमे समर्थ होना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि कोई बातचीत तभी कर सकता है जब पहले वह इस तरह के तत्त्वो के बोध और प्रयोग मे समर्थ हो जैसे, शब्द-क्रम, सहायक क्रियाएँ ("रहा", "हैं" इत्यादि) तथा सयोजक शब्द ("और", "कि" इत्यादि)। ये तत्त्व न तो अनुभव के विशेष अशो के साहचर्य से अर्थ प्राप्त कर सकते हैं और न ऐसे तत्त्वो के द्वारा इनकी परिभाषा ही दी जा सकती है जो उस तरह अर्थ प्राप्त करते है। शब्द क्रम के नमूनो, विरामो या "हैं" और "कि" जैसे शब्दो के अनुरूप वस्तुएँ हमे ऐंद्रिय प्रत्यक्ष मे कहाँ मिल सकेगी ? और, जहाँ तक इन तत्त्वो की "नीला" और "मेज" इत्यादि शब्दो के द्वारा परिभाषा देने का सबध है, बात इतनी दूर की लगती है कि किसीने ऐसी कोशिश तक नही की है।

इस प्रकार के सप्रत्ययो की प्राप्ति के लिए एक अलग ही प्रकार के अनुभव आवश्यक लगते हैं, जैसे, भाषा को सीखना, वाक्यो तथा वाक्य-समुच्चयो को समझना, तथा ऐसे प्रतीको से भाषाविषयक नियमो के अनुसार व्यवहार।

इस प्रकार की कठिनाइयों को देखते हुए ह्यूम का यह कथन कि "यदि ऐंद्रिय सस्कार न हो तो प्रत्यय भी नही हो सकते" यहाँ तक कोरे विश्वास से थोड़ा सा ही अधिक लगता है।

अर्थ की यह कसौटी कि शब्द का मूल किसी सस्कार मे खोजा जा सकता

१. विलियम ऑल्सटन, फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज, पृ० ६८।

हो—जो भी हो, इस चर्चा ने हमारे आगे अर्थ की एक और कसौटी लाकर खड़ी कर दी है (हालांकि इसका संबंध वाक्यों के अर्थों से कम है और शब्दों तथा शब्द-समुच्चयों के अर्थों से अधिक)। इस कसौटी के अनुसार हमारे द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द या शब्द-समुच्चय का मूल पीछे किसी रूप में किसी इंद्रियानुभव में मिलना चाहिए, भले ही वहाँ तक का रास्ता छोटा हो (जैसे, "लाल" के प्रसंग में) या लंबा हो (जैसे "स्वतंत्रता" के प्रसंग में)। अथवा इसी बात को प्रकारांतर से इस तरह कहेंगे : प्रत्येक शब्द को सार्थक होने के लिए या तो स्वयं ही इस योग्य होना चाहिए कि उसकी निदर्शनात्मक परिभाषा दी जा सके या ऐसा होना चाहिए कि उसकी परिभाषा अन्य शब्दों के द्वारा और इन अन्य शब्दों की भी शायद और अन्य शब्दों के द्वारा भले ही दी जाए पर अंत में निदर्शनात्मक परिभाषा ही आधार हो। यदि ऐसा न किया जा सके तो शब्द या शब्द-समुच्चय अर्थहीन है। ह्यूम ने कहा है कि यदि कोई दावा करे कि उसे कोई संप्रत्यय है तो जरूरत उससे केवल यह पूछने की है कि "किस सस्कार से वह प्राप्त हुआ है। यदि कोई संस्कार बता पाना असभव हो तो इससे हमारा संदेह ही पुष्ट होगा......... । तब उसे आग में झोंक दीजिए, क्योकि उसमें छल और भ्रम के अलावा कुछ नही है।"[1]

क्या यह कसौटी संतोषजनक है ? यह इस बात पर निर्भर है कि क्या ह्यूम का कथन "यदि संस्कार नही है तो प्रत्यय भी नही है" स्वीकार किया जा सकता है। इसका निर्णय करने के लिए हमें कुछ प्रतीक्षा करनी होगी। यदि हम किसी संप्रत्यय का मूल पीछे किसी ऐंद्रिय सस्कार में नही खोज सकते, तो इसका कारण यह हो सकता है कि पर्याप्त प्रयत्न नही किया गया है। ऐसा हो सकता है कि संबध बहुत ही सूक्ष्म हो और उसे ढूंढ पाना कठिन हो। परंतु इसके विपरीत, यह भी हो सकता है कि कोई संबंध हो ही नही, और यदि यह बात है तो यह ह्यूम की कसौटी के लिए घातक होगा। आगे के अध्यायो मे हमें कुछ ऐसे संप्रत्यय—अथवा कम-से-कम तथाकथित संप्रत्यय—मिलेंगे जिनका मूल किसी भी प्रकार के ऐंद्रिय अनुभव में पाना असंभव लगता है। इसके बावजूद, यदि हमें उन्हें सच्चे संप्रत्यय मानने में संतोष है और वे

---

१. डेविड ह्यूम, ऐन एमे कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग, अनुच्छेद २ तथा ११ के अंतिम वाक्य।

हमे अर्थहीन नही लगते, तो तब और केवल तभी हम स्वय को आश्वस्त कर पाएँगे कि ह्यूम की कसौटी अपर्याप्त है।

६. सत्यता

अब हम अपने मुख्य विषय, ज्ञान, की दिशा मे काफी आगे बढ चुके है, परंतु हमे सभी सत्यता पर विचार करने के लिए थोडा-सा और रुकना होगा। किसी प्रतिज्ञप्ति के ज्ञान की एक विशेषता यह है कि उसे सत्य होना चाहिए। क्या "प्रतिज्ञप्ति प को जानना" और "प्रतिज्ञप्ति प को सत्य जानना" एक ही बात नही है? यदि वह सत्य नही है तो यह नही कहा जा सकता कि हम उसे जानते हैं। अतः, ज्ञान मे सत्यता समाविष्ट है। और इस प्रकार आगे यह सवाल आ जाता है कि सत्यता क्या है? अथवा अधिक सही यह पूछना होगा कि किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना क्या होता है? (एक प्रतिज्ञप्ति सत्य हो सकती है और साथ ही यह हो सकता है कि हमे उसके सत्य होने का ज्ञान न हो; परतु यह नही हो सकता कि हमे उसके सत्य होने का ज्ञान हो पर वह सत्य न हो।)

समस्या शायद अवास्तविक लगेगी। हम रहस्य का-सा दिखावा करते हुए पूछ सकते हैं कि "सत्यता क्या है?" पर, दैनिक व्यवहार मे हमे इस सप्रत्यय मे कभी कोई कठिनाई नही लगती। यदि कोई कहता है कि बर्फ सफेद है, तो हम कहेगे कि यह सत्य है। यदि वह कहता है कि बर्फ हरी है तो हम कहेगे कि यह असत्य है। यह बात कि हमने सत्यता की परिभाषा के बारे मे कभी विचार नही किया, हमारे लिए कभी बाधक नही बनती। लगता है कि हम पहले से ही जानते है कि सत्यता क्या है, क्योकि असख्य प्रसगो मे हम सत्य प्रतिज्ञप्ति को असत्य प्रतिज्ञप्ति से अलग पहचान सकते हैं।

फिर भी, दर्शन के विद्यार्थी होने के नाते हमारे लिए इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। दर्शन का काफी अश अस्पष्ट को सुस्पष्ट करने मे लग जाता है। हमने जिंदगी-भर "बिल्ली" और "कुत्ता" शब्दो का प्रयोग किया है, हालांकि हम इनमे से किसी भी शब्द की परिभाषा न बता सकें। इसी प्रकार हम जीवन-भर "सत्यता" शब्द का प्रयोग करते रहे, पर शायद हम इसकी परिभाषा न बता सकें। लेकिन, "सत्यता" "बिल्ली" और "कुत्ता" से इस बात मे भिन्न है कि यह दर्शन मे अत्यधिक महत्त्व रखनेवाला एक सामान्य शब्द है।

"सत्य" (बोलचाल मे, "सच्चा") शब्द का अनेक अर्थों मे प्रयोग होता है। "यह सच्चा (=सत्य) मोती है" का अर्थ यह है कि "यह मोती असली है, नकली नही"। इसका प्रयोग कथन पर जोर देने के लिए भी हो सकता है। "वह एक सच्चा मित्र है" का अर्थ केवल यह है कि वह वास्तव मे एक मित्र है। परतु, यहाँ हमे "सत्य" का केवल वह अर्थ इष्ट है जिसमे सत्यता (या सचाई) प्रतिज्ञप्तियो की एक विशेषता है।

तो फिर सत्य प्रतिज्ञप्ति क्या होती है? सत्य प्रतिज्ञप्ति का असत्य प्रतिज्ञप्ति से क्या भेद है? (यहाँ यह याद रखना चाहिए कि निरर्थक प्रतिज्ञप्ति नाम की कोई चीज नही होती। यदि कोई वाक्य निरर्थक है तो वह किसी सत्य या असत्य प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त नही करता (देखिए पृ० १२०)। हम दिन मे हजार बार यह अतर करते होगे, पर इस अतर को शब्दो मे कैसे प्रकट किया जाए?

पहले हम वस्तुस्थिति के सप्रत्यय को प्रस्तुत करते हैं। दुनिया मे असख्य वस्तुस्थितियाँ होती है। उदाहरणार्थ, यदि शिमला मे वर्फ पडी थी, तो यह एक वस्तुस्थिति है, यदि आपकी बिल्ली काली है तो यह एक और वस्तुस्थिति है, यदि आपके पाँच भाई और छह बहिने है तो यह एक तीसरी वस्तुस्थिति है। यदि कोई शब्दो के द्वारा इनके होने की सूचना न भी दे तो भी ये वस्तुस्थितियाँ दुनिया मे हैं। इनका अस्तित्व तो भाषानिरपेक्ष है, पर भाषा मे इनका वर्णन किया जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होगा कि अब हम बडी आसानी से "सत्यता" की परिभाषा दे सकते हैं। सत्य प्रतिज्ञप्ति उस वस्तुस्थिति को बताती है जिसका अस्तित्व है, अथवा, यदि प्रतिज्ञप्ति अतीत के विषय मे है, तो वह उसे बताती है जिसका अस्तित्व था, और यदि वह भविष्यविषयक है, तो उसे बताती है जिसका अस्तित्व होगा। यदि "इस कमरे मे पाँच कुर्सियाँ है" एक वास्तव मे अस्तित्व रखनेवाली वस्तुस्थिति को बताती है—अर्थात् यदि वस्तुस्थिति पाँच कुर्सियो का वस्तुत इस कमरे मे होना है—तो यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है, अन्यथा नही। इसके विपरीत, असत्य प्रतिज्ञप्ति ऐसी वस्तुस्थिति को बताती है जिसका अस्तित्व ही नही है (अथवा, भूतकाल के प्रसग मे, नही था, या, भविष्य मे, नही होगा)। "मैं आठ फुट लबा हूँ" एक असत्य प्रतिज्ञप्ति है, क्योकि यदि मैं इसका कथन करूँ तो यह एक ऐसी वस्तुस्थिति का अस्तित्व

बताना होगा जिसका वस्तुतः अस्तित्व है ही नहीं। सत्य प्रतिज्ञप्ति एक ऐसी वस्तुस्थिति को बताती है जो वास्तविक होती है—अर्थात् जो वस्तुतः अस्तित्व रखती है—और मिथ्या प्रतिज्ञप्ति ऐसी वस्तुस्थिति को बताती है जिसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है (या नहीं था, या नही होगा)। वह एक ऐसी वस्तुस्थिति को बताती है जो संभव होती है, वास्तविक नही।[1] जब एक वाक्य का प्रयोग एक वस्तुस्थिति को बताने के लिए किया जाता है और वह वस्तुस्थिति वास्तविक होती है, तब उस वाक्य के द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति सत्य होती है—और इसमें यह भी जोड़ दें कि उसी वस्तुस्थिति को बताने के लिए जिस किसी अन्य वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह भी एक सत्य प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करेगा।

ऐसा हो सकता है कि सत्यता के विभिन्न प्रकार हों और हम विभिन्न प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता को अनेक भिन्न तरीकों से जान सकते हों। इस संबंध में अधिक हम जल्दी ही बतानेवाले है। परंतु, उनके सत्य होने की जानकारी चाहे जिस तरीके से हो, सत्य वे तब होंगी जब वे वास्तविक वस्तुस्थितियों को बताएँ। इस बात को छोड़कर सत्यता के बारे में कहने को बाकी ही क्या रह जाता है? क्या हमने उसकी संतोषप्रद परिभाषा नही बता दी है? और क्या अब हम आराम की साँस ले सकते तथा तुरंत किसी अन्य विषय में नही जा सकते? शायद।

सत्यता संवाद के रूप में—पर, थोडा रुककर हम "सत्यता के स्वरूप" के कुछ परंपरागत वर्णनों पर विचार कर लें। इनमें से सबसे अधिक लोकप्रिय वह है जो सत्यता को संवाद कहता है। "प्रतिज्ञप्ति सत्य है यदि वह किसी तथ्य से संवाद रखती है।" उदाहरणार्थ, यदि यह एक तथ्य है कि आपके पास एक पालतू तेंदुआ है, और यदि आप कहते हैं कि आपके पास एक पालतू तेंदुआ है, तो आपका कथन सत्य है, क्योंकि वह उस तथ्य से संवाद रखता है। सत्यता तथ्य से संवाद है।

---

१. संभव के पहले "तर्कतः" और जोड़ना चाहिए (देखिए आगे अध्याय ३ के अंतर्गत "संभवता")। "चन्द्रलेखा मध्य रात्रि में कद्दू बन गई" मिथ्या है, परंतु यह वस्तुस्थिति तर्कतः संभव है (मोटे अर्थ में, बुद्धिगम्य है)। लेकिन "नीगुनापन दीर्घमूत्रता को पीता है," यह वाक्य न वास्तविक वस्तुस्थिति को बताता है और एक संभव वस्तुस्थिति को ही : यह एक अर्थहीन वाक्य है।

पर, तथ्य क्या है ? (१) 'तथ्य" शब्द का प्रयोग कभी-कभी उसी अर्थ में किया जाता है जिसमें "सत्य प्रतिज्ञप्ति" का : इस प्रकार हम कहते हैं, "यह एक तथ्य है कि मैं पिछले हफ्ते चला गया था"—अर्थात् "मैं पिछले हफ्ते चला गया था," यह वाक्य एक सत्य प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करता है। पर, "तथ्य" की यह परिभाषा यहाँ व्यर्थ होगी : एक प्रतिज्ञप्ति तब सत्य होती है जब वह एक सत्य प्रतिज्ञप्ति से सवाद रखती है। यह बात हमें एक भी कदम आगे नही ले जाती। (२) परंतु "तथ्य" शब्द का प्रयोग "वास्तविक वस्तुस्थिति" के अर्थ में भी किया जाता है। यह प्रयोग प्रतिज्ञप्ति के बजाय वस्तुस्थिति का निर्देश करता है। लेकिन यदि "तथ्य" का इस तरह प्रयोग किया जाए, तो हम वापस उस परिभाषा मे पहुँच जाते हैं जो हमने ऊपर दी थी। प्रतिज्ञप्ति तब सत्य होती है जब वह एक ऐसी वस्तु-स्थिति को बताती है जो वास्तविक हो—अर्थात् जब वह एक तथ्य को बताती है। यह एक आपत्तिजनक न लगनेवाली बात हो सकती है, पर जो पहले कहा जा चुका है उसकी यह आवृत्ति मात्र है।

कोई यह उत्तर दे सकता है : "पर एक अंतर अवश्य है। इस पिछली परिभाषा मे सवाद का उल्लेख है : सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो एक तथ्य से सवाद रखती है—अर्थात् जो एक वास्तविक वस्तुस्थिति से सवाद रखती है। पहली परिभाषा मे 'सवाद' शब्द नही आया था।" बात तो यह सही है, पर "सवाद" शब्द ही ऐसा है जो अनावश्यक रूप से बहुत कठिनाई पैदा कर सकता है। बताइए कि सत्य प्रतिज्ञप्ति एक तथ्य से कैसे संवाद रखती है ? यहां "संवाद" शब्द को उसके सामान्य सदर्भ से उखाडा जा रहा है। क्या एक सत्य प्रतिज्ञप्ति एक तथ्य से उसी तरह सवाद रखती है जिस तरह रंगो के चार्ट मे दिया हुआ एक नमूना मेरे कमरे की दीवार पर पोते हुए रग से सवाद रखता है ? नहीं, एक प्रतिज्ञप्ति और एक वस्तुस्थिति के बीच (एक वाक्य और एक वस्तुस्थिति के बीच भी) निश्चय ही कोई सादृश्य नहीं होता। क्या यहा सवाद वैसा ही है जैसा पुस्तकालय के कार्डों पर लिखे पुस्तकों के नामो का स्वय पुस्तकों से होता है—अर्थात् क्या यहाँ एकैक-संवाद है ? प्रत्येक कार्ड के लिए एक पुस्तक और प्रत्येक पुस्तक के लिए एक कार्ड होता है ? हां, इस अर्थ मे संवाद हो सकता है। यदि हम यह कहना चाहते हैं कि एक प्रतिज्ञप्ति और एक तथ्य मे इस प्रकार का सवाद है तो कोई

हानि नही है। परंतु, इससे लाभ क्या हुआ? यह कहना भी कम-से-कम उतना ही स्पष्ट है कि सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो एक वास्तविक वस्तुस्थिति को बताती है—जो कि हमारी मूल परिभाषा थी। और, बात को इस रूप में कहना उतना भ्रामक नही है जितना "संवाद" शब्द का प्रयोग हो सकता है।

"संवाद" शब्द से ऐसा लगता है कि जब हमारा निर्णय सत्य होता है तब हमारे मन मे वास्तविक की एक तस्वीर-जैसी होती है और हमारा निर्णय सत्य इस कारण से होता है कि यह तस्वीर उस वास्तविकता के सदृश होती है जिसे वह प्रस्तुत करती है। परंतु, हमारे निर्णय उन भौतिक वस्तुओं के सदृश होने नही हैं जिनका वे निर्देश करते है। निर्णय करने मे जिन बिंबो का हम उपयोग करते है वे शायद कुछ बातो मे सचमुच ही भौतिक वस्तुओ की नकल हो या उनके समान हो, परंतु हम शब्दों के अलावा किसी भी तरह के बिंबो का उपयोग किए बिना भी निर्णय कर सकते हैं, और शब्द बिलकुल भी उन चीजो के सदृश नही होते जिनके वे बोधक होते है। "संवाद' का मतलब नकल या सादृश्य भी समझना एक भूल है।[1]

सत्यता ससक्तता के रूप में—कभी-कभी सत्यता के बारे मे संवाद-सिद्धात को अस्वीकार करके उसकी जगह यह माना जाता है कि सत्यता संसक्तता है। इस मत के अनुसार सत्यता प्रतिज्ञप्तियो का तथ्यो से संवाद रखना नही है, बल्कि प्रतिज्ञप्तियो का परस्पर संसक्तता रखना है। ससक्तता प्रतिज्ञप्तियो के बीच का एक संबंध है, एक प्रतिज्ञप्ति और प्रतिज्ञप्ति से भिन्न किसी चीज (वस्तुस्थिति) का नही।

परतु, संसक्तता प्रतिज्ञप्तियो का किस प्रकार का संबंध है? क्या एक समूह की प्रतिज्ञप्तियाँ परस्पर संसक्त तब होती हैं जब उनकी एक-दूसरी से संगति होती है? नही, क्योकि यह संबंध तो बहुत ही निर्बल होता है: "२ और २ बराबर ४", "सीजर ने रूबिकॉन को पार किया" और 'घोड़ा तेज दौड़नेवाला जानवर है", ये सब एक-दूसरी से संगति रखती हैं: अर्थात् इनमे से कोई भी किसी अन्य को नही काटती (उसकी व्याघाती नही है)। परंतु, प्रतिज्ञप्तियो का कोई समूह तब तक संसक्त नही होता जब तक प्रत्येक

---

१. ए० सी० यूइंग. दि फंडामेंटल क्वेश्चंस ऑफ फिलॉसफी, पृ० ५४-५५।

दूसरों की समर्थक न हो—जब तक सब प्रतिज्ञप्तियाँ एक-दूसरी को पुष्ट करनेवाली न हों। यदि पाँच गवाह ऐसे है जो एक-दूसरे को नही जानते और प्रत्येक (दूसरों से प्रभावित हुए बिना) यह गवाही देता है कि उसने पिछले गुरुवार की संध्या को श्री क को रामनगर में घूमते देखा था, तो उनकी सूचनाएँ इस अर्थ में परस्पर संसक्त है। यदि गवाहों की सत्यवादिता के बारे में कुछ ज्ञात नही है, तो प्रत्येक गवाह की गवाही को स्वत: आसानी से अस्वीकार किया जा सकता है। परंतु, यदि वे सब एक-दूसरे से कोई षड्यंत्र रचे बिना एक ही बात कहते हैं, तो प्रत्येक की गवाही दूसरों की गवाही को पुष्ट करेगी, उसे बल देगी। पर इस संबंध में थोड़ी-सी बातें जान लेनी चाहिए :

१— संबंधित प्रतिज्ञप्ति को (इस बात को कि पिछले गुरुवार की संध्या को श्री क रामनगर मे घूम रहे थे) सत्य न एक गवाह की गवाही बनाती है और न सब गवाहों की गवाही मिलकर बनाती है। क्या प्रतिज्ञप्ति सत्य इस बात से नही है कि वह एक वस्तुस्थिति को बताती है, यानी इसको कि श्री क उस गुरुवार की संध्या को रामनगर में घूम रहे थे? गवाहों की गवाही केवल इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करती है, वह उसे सत्य नहीं बनाती। वह कथन की सत्यता को बताती है; उसे सत्य करती नही। असल में सब गवाहों की संयुक्त गवाही के बावजूद श्री क के बारे में जो बात कही गई है वह असत्य हो सकती है : हो सकता है कि सबने किसी और आदमी को गलती से श्री क समझ लिया हो।

२—यदि श्री क के बारे मे किए गए कथन को सत्य बनानेवाली उन गवाहों की गवाही हो भी, तो उनके बयानों को सत्य बनानेवाली क्या चीज है? वह भी यह बात है कि उन्होने श्री क को देखा था। पर, यह तो संवाद हुआ। उन्हें सत्य बनानेवाली उनके कथनो की अन्य कथनों से ससक्तता नही है। यदि प्रतिज्ञप्ति प इसलिए सत्य है कि वह प्रतिज्ञप्ति फ, प्रतिज्ञप्ति ब और प्रतिज्ञप्ति भ से ससक्तता रखती है (जैसा कि हम देख चुके हैं, यह सही नही लगता), तो फ, ब और भ को कौन-सी बात सत्य बनाती है? क्या इनकी कुछ और प्रतिज्ञप्तियो से संसक्तता ? और, उन और प्रतिज्ञप्तियों को सत्य क्या चीज बनाती है? इस श्रृंखला में कहीं-न-कही हमें ससक्तता को त्यागना होगा और संवाद मे आना होगा—यानी उस संबंध का आश्रय लेना होगा जो

विचाराधीन प्रतिज्ञप्ति तथा उस वस्तुस्थिति के बीच है जो उस प्रतिज्ञप्ति के या प्रतिज्ञप्तियों के किसी भी समूह के बाहर की दुनिया में अस्तित्व रखती है।

३—प्रतिज्ञप्तियों का एक समूह ऐसा हो सकता है जो संसक्त होने पर भी सत्य न हो। ज्यामिति के अनेक तंत्र है, जिनमें से प्रत्येक संसक्ततापूर्ण प्रतिज्ञप्तियों की एक समष्टि है। पर ये सब समष्टियां दुनिया के संबंध में सत्य नहीं हो सकतीं। एक समूह की प्रतिज्ञप्तियों का परस्पर जो भी संबंध हो, सत्यता का प्रश्न तब तक नहीं उठता जब तक हम यह विचार नहीं करते कि क्या ये सब प्रतिज्ञप्तियाँ या उनमें से प्रत्येक दुनिया की किसी वास्तविक वस्तुस्थिति को बताती है—अथवा (यदि यह कहना आप अधिक पसंद करें) दुनिया की किसी वस्तुस्थिति से संवाद रखती है।

सत्यता वह है जो "काम करती है"। सत्यता की एक और परिभाषा बताई गई है : यह कि सत्यता वह है जो काम करती है, और सत्य प्रतिज्ञप्ति वह है जो काम करती है। पर यहां "काम करती है" के अर्थ पर बहुत सतर्कता के साथ ध्यान देने की जरूरत है। इसका भी उपयुक्त संदर्भ से बहुत दूर ले जाकर प्रयोग किया जा रहा है। यह कहने का क्या अर्थ है कि एक प्रतिज्ञप्ति (अथवा, जैसा कि इस संदर्भ में कहना अधिक आम बात है, एक विश्वास) काम करती है ? जब हम कहते है कि यह कार काम करती है तब मतलब क्या होता है, यह हम सब जानते हैं : पहले वह चालू ही नहीं होगी ; फिर आप उसमे कोई चीज ठीक करते हैं और वह काम करने लगती है अर्थात् वह फिर चल पड़ती है। यहां भी, क्या आपका यह विश्वास कि इंजन को चालू करनेवाला बटन अलग हो गया था, इस तथ्य से सत्य हुआ कि जब आपने एक विशेष चीज को ठीक किया तब कार काम करने लगी ? बिल्कुल नहीं : शायद आपने एक बात अ की जिसने आपके अनजाने में एक और बात ब को उत्पन्न किया, और ब के ही कारण कार दुवारा काम करने लगी, हालांकि आपने सोचा कि ऐसा अ के कारण हुआ। आपका अ में विश्वास इस तथ्य से सत्य नहीं हुआ कि कार बाद में काम करने लगी। इस प्रकार यहां भी यह कहना गलत है कि "सच्चा विश्वास वह है जो काम करता है।"

असली बात यह है कि "काम करना" केवल एक सीमित संदर्भ में ही अर्थ रखता है : यह है चीजों का उस प्रकार से काम करना जिसे हम कुछ विशेष

लक्ष्यों या प्रयोजनों को दृष्टि मे रखते हुए सामान्य या संतोषप्रद मानते हैं। इन प्रयोजनो का कथन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि दिए हुए संदर्भ में "काम करना" का क्या अर्थ है ? परंतु, इसका क्या अर्थ है कि एक विश्वास काम करता है ? मान लीजिए, मैं यह विश्वास करता हूँ कि मंगल ग्रह में जीव है। यह विश्वास किस अर्थ में काम करता है ? या किस तरह यह काम नही करता ? यदि मैं मंगल ग्रह में पहुँच जाऊँ और वहाँ जीवो को देखूँ, तो मेरा विश्वास सत्य निकलेगा। पर, वह सत्य इसलिए हुआ कि संबंधित प्रतिज्ञप्ति एक वास्तविक वस्तुस्थिति को बताती है। यदि "काम करना" का केवल इतना ही अर्थ है तो यह तो वही परिभाषा हुई जिसे हम पहले दे चुके हैं; पर यदि इससे अलग ही कोई मतलब है तो वह क्या है और किसी विश्वास की सत्यता उसके "काम करने" में कैसे निहित होती है ? यदि सत्य विश्वास किसी अर्थ में काम करते भी हैं, तो क्या ऐसा इसलिए नही कि पहले वे सत्य है ? अवश्य ही यह संभव है कि "सत्यता वह है जो काम करती है", इस वाक्य मे "काम करती है" का कोई मोटा अर्थ बताया जा सके ताकि प्रस्तुत सिद्धांत कुछ अधिक विश्वसनीय लगे। परंतु, ऐसा करने के बाद भी एक बिल्कुल ही भिन्न संदर्भ में मुख्य अर्थ रखनेवाले शब्द "काम करना" का प्रयोग इस बिल्कुल ही अलग संदर्भ में, जिसमे कि अन्य शब्द कही अधिक उपयुक्त होगे, करना फलप्रद नही लगता।

सत्यता और विश्वास—नीचे की दो प्रतिज्ञप्तियाँ स्पष्टतः भिन्न अर्थ रखती है :

१—प सत्य है।

२—मैं विश्वास करता (या सोचता) हूँ कि प सत्य है।

एक आदमी एक प्रतिज्ञप्ति के सत्य न होने पर भी यह विश्वास कर सकता है कि वह सत्य है, और एक प्रतिज्ञप्ति तब भी सत्य हो सकती है जब वह या कोई भी आदमी उसके सत्य होने में विश्वास न करे। "पृथ्वी चिपटी है" को कभी सब लोग सत्य मानते थे, हालांकि है यह असत्य। प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता या असत्यता के ऊपर हमारे विश्वासो का कोई असर नही होता। सत्य होने के लिए हमारे विश्वासों को दुनिया के तथ्यो के अनुसार होना चाहिए; दुनिया के तथ्यों को हमारे विश्वासो के अनुसार नही होना पड़ता।

ये बातें स्पष्ट लगेंगी, पर लोग कभी-कभी ऐसी चीजें कह देते हैं जिनसे प्रकट होता है कि ये बातें उन्हें स्पष्ट नही लगतो हैं या वे इन्हे भूल गए हैं :

१. "प्रतिज्ञप्ति तब तक असत्य होती है जब तक वह सत्य सिद्ध नही होती" तथा "प्रतिज्ञप्ति तब तक सत्य है जब तक वह असत्य सिद्ध नही होती," ये कथन ऐसी भूलें प्रकट करते है जो स्पष्ट हैं। ऐसा हो सकता है कि कुछ लोग एक प्रतिज्ञप्ति पर तब तक विश्वास न करें जब तक वह सत्य सिद्ध न हो, अथवा कभी-कभी शायद उसके बाद भी न करें, और वे एक प्रतिज्ञप्ति पर तब तक अविश्वास न करें जब तक वह असत्य सिद्ध न हो। परंतु उसपर किसीका कितना विश्वास है, इस बात का उसकी सत्यता से कोई संबंध नहीं है। जो आदमी यह कहता है कि "यह तब तक असत्य है जब तक यह सत्य सिद्ध न हो जाए" उसका अभिप्राय यह हो सकता है (जिसे प्रकट करने का उसका तरीका बहुत ही भ्रामक है) कि "जब तक यह सत्य सिद्ध न हो जाए तब तक मैं यह विश्वास करूँगा कि यह असत्य है"।

हम यह मान लेते है कि अभिप्राय यही है। पर, ऐसे विश्वास के बारे में हम क्या कहेंगे ? जब तक वह सत्य सिद्ध न हो जाए तब तक यह विश्वास करना कि वह असत्य है उतना ही अयुक्तिक लगेगा जितना वह जब तक असत्य सिद्ध न हो जाए तब तक यह विश्वास करना कि वह सत्य है। यदि बात असत्य सिद्ध हो गई है तो उसपर अविश्वास करना चाहिए ; यदि वह सत्य सिद्ध हो गई है तो उसपर विश्वास करना चाहिए ; यदि वह सत्य या असत्य कुछ सिद्ध नहीं हुई है तो उसपर विश्वास या अविश्वास कुछ नही करना चाहिए। विश्वास प्रमाण के अनुपात में होना चाहिए : यदि बात के सत्य होने की बहुत संभावना है पर ;वह सत्य सिद्ध नहीं हुई है तो उचित यह रवैया होगा : 'मुझे विश्वास है कि संभवतः यह सत्य है", (हमें इस बात का कब निश्चय होगा कि यह सत्य है ? इस प्रश्न पर हम इस अध्याय के शेष भाग में विचार करेंगे)।

२. वाद-विवाद में जब किसी प्रतिज्ञप्ति पर आक्षेप किया जाता है तब कभी-कभी ऐसा सुनने को मिलता है : "अच्छा, कम-से-कम जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह सत्य है।" पर, इसका क्या अर्थ है ? जब आप ऐसा कहते है, तब क्या आप कह रहे हैं कि वह सत्य है या यह कि आपको विश्वास है कि वह सत्य है ? शायद बादवाली बात है। पर, जब आप कहते हैं कि आपको विश्वास है कि वह सत्य है, तब यह याद रखिए कि आपका यह विश्वास उसके सत्य न होने के साथ भी बिल्कुल चल सकता है, अर्थात् आपका विश्वास मिथ्या

हो सकता है। "जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह सत्य है" कहना बहुत भ्रामक है : इससे लगता है कि जैसे आप इससे अधिक कुछ कह रहे हैं कि आप (उचित या अनुचित रूप से) उसके सत्य होने में विश्वास करते हैं—कि न केवल आप उसके सत्य होने में विश्वास करते है अपितु वह है भी सत्य। परंतु, यदि आप कह रहे हैं कि वह सत्य है, तो "जहाँ तक मैं समझता हूँ" कहने का क्या मतलब है ? कही यह प्रतिज्ञप्ति के असत्य होने की दशा में कठिनाई से छुटकारा पाने के लिए तो नही कहा गया है ? पर, यह तो नहीं हो सकता कि आप अपना हिस्सा खा भी लें और उसे बचा भी लें। आप यह नहीं कर सकते कि उसे सत्य कहें, और जब वह असत्य सिद्ध हो जाए तब अपने को बचाने के लिए यह बहाना करें कि आपने केवल यह कहा था कि जहाँ तक आप समझते है वह सत्य है।

३. इस तरह की बातों में सबसे अधिक भ्रामक यह है : "मेरे लिए यह सत्य है, आपके लिए शायद न हो।" "मेरे लिए यह सत्य है" कहने का क्या अर्थ है ? शायद यही अर्थ है कि "मेरे अनुसार यह सत्य है" अर्थात् "मैं विश्वास करता हूँ कि यह सत्य है।" परंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, यह प्रतिज्ञप्ति के वस्तुतः असत्य होने के साथ बिल्कुल चल सकता है, यानी उसके अविरुद्ध है। यदि आपका मतलब केवल इतना है कि आप उसके सत्य होने में विश्वास करते हैं तो क्यो नही आप केवल इतना ही कहते हैं ? "मेरे लिए यह सत्य है" कहकर आप भ्रम क्यों पैदा करते है ? शायद इसका उत्तर यह है कि आपके उस तरह कहने से ऐसा लगता है जैसे की मानो वह सत्य है और आपके विश्वास करने से यह बात पक्की हो जाती है।

विवाद की समाप्ति प्रायः एक के "अच्छा, तो मेरे लिए यह सत्य है" कहते हुए और दूसरे के "और मेरे लिए यह सत्य नही है" कहते हुए होती है। पर, इन वाक्यों के क्या अर्थ है ? यदि केवल यह अर्थ है कि पहला व्यक्ति बात के सत्य होने में विश्वास करता है और दूसरा विश्वास नहीं करता, तो ये वाक्य उसी चीज को दुहराते हैं जो दोनों ही विवादियों को पहले से ज्ञात है। और यदि कुछ और अर्थ है तो वह क्या है ? विवाद की इस तरह से समाप्ति इस प्रश्न को बिल्कुल अनुत्तरित छोड़ देती है : "यह सत्य है या नही ?" "आपके लिए ईश्वर है, मेरे लिए ईश्वर नहीं है" कहने का क्या अर्थ है ? या तो ईश्वर है या ईश्वर नहीं है, और विवादियों में से एक गलती कर

रहा है। एक ही प्रतिज्ञप्ति सत्य और असत्य एकसाथ नही हो सकती। या तो इस कमरे मे बिल्ली है या नही है ; या तो ईश्वर है या नही है। "आपके लिए है, मेरे लिए नही है" कहना यह कहने के एक भ्रामक और शायद कपटपूर्ण तरीके के अलावा क्या है कि "आपके मत से है, मेरे मत से नही है"— अर्थात् "आपका विश्वास है कि है, मेरा विश्वास है कि नही है" ? पर इस प्रकार तो यह प्रश्न अनिर्णीत रह जाता है कि कौन-सा विश्वास सही है।

सत्यता व्यक्ति-सापेक्ष नही होती, हालांकि व्यक्तियो के बारे मे कुछ सच्ची बाते हो सकती है। मान लीजिए कि राम के दांत मे दर्द है और श्याम के नही। क्या इससे यह प्रकट होता है कि "मेरे दांत मे दर्द है" राम के लिए सत्य है पर श्याम के लिए सत्य नही है ? बिल्कुल नही : इसका मतलब केवल यह है कि "राम के दांत मे दर्द है," यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है और "श्याम के दांत मे दर्द है," यह प्रतिज्ञप्ति असत्य है। हमे यह याद रखना चाहिए कि "मैं" शब्द का निर्देश वक्ता के बदलने पर बदल जाया करता है। जब राम "मैं" का प्रयोग करता है तब उसका अर्थ राम है और जब श्याम "मैं" कहता है तब उसका मतलब श्याम है। यह समझ में आ जाने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि "मेरे दांत मे दर्द है" तब एक भिन्न प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करता है जब कहनेवाला राम न होकर श्याम होता है। और, चूंकि यह दो भिन्न प्रतिज्ञप्तियो को व्यक्त करता है, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नही है कि उनमे से एक प्रतिज्ञप्ति सत्य है और दूसरी असत्य।

तो, इस तरह विश्वास के कथन सत्य के कथन से भिन्न होते है। यदि गोपाल कहता है कि "प सत्य है" और मनोहर कहता है कि "प सत्य नही है," तो वे परस्पर व्याघाती बातें कह रहे हैं, और एक अवश्य ही गलती कर रहा है (ऐसा नही हो सकता कि प "आपके लिए सत्य हो और मेरे लिए नही")। परन्तु यदि गोपाल कहता है कि "मैं प के सत्य होने मे विश्वास करता हूँ" और मनोहर कहता है कि "मैं प के सत्य होने मे विश्वास नही करता" तो उनके कथन परस्पर व्याघाती नही हैं, और दोनो ही सत्य हो सकते हैं। यह सत्य हो सकता है कि गोपाल प मे विश्वास करता है और यह भी सत्य हो सकता है कि मनोहर विश्वास नही करता। इसलिए प सत्य है या नही, यह एक अलग प्रश्न है तथा कोई प के सत्य होने मे विश्वास करता है या नही, यह एक बिल्कुल ही भिन्न प्रश्न है।

जितना भ्रामक यह कहना है कि एक प्रतिज्ञप्ति एक व्यक्ति के लिए सत्य पर दूसरे व्यक्ति के लिए असत्य है प्राय. उतना ही भ्रामक यह कहना भी है कि एक प्रतिज्ञप्ति एक समय सत्य और एक अन्य समय असत्य हो सकती है। पर, क्या हम यह नही कह सकते कि "दिल्ली की आबादी बीस लाख से ऊपर है" आज सत्य है, पर पचास वर्ष पहले असत्य था ? यदि ठीक-ठीक कहा जाए, तो नही। "दिल्ली की आबादी बीस लाख से ऊपर है," यह वाक्य १९२२ मे कहे जाने पर एक भिन्न प्रतिज्ञप्ति को प्रकट करता है और १९७२ मे एक भिन्न प्रतिज्ञप्ति को। स्पष्टता बनाए रखने के लिए दोनो प्रतिज्ञप्तियो को भिन्न वाक्यो मे प्रकट करना चाहिए : "दिल्ली की आबादी १९२२ मे बीस लाख से ऊपर थी" (असत्य) और "दिल्ली की आबादी १९७२ मे बीस लाख से ऊपर है "(सत्य)। जैसे "मैं" शब्द का राम के द्वारा बोले जाने पर अलग अर्थ होता है और श्याम के द्वारा बोले जाने पर अलग अर्थ, ठीक वैसे ही "यह" और "अब" इत्यादि शब्द भी जिस जगह और जिस समय बोले जाते है उन्ही का निर्देश करते है, और फलतः एक ही वाक्य १९२२ मे तथा १९७२ मे बोले जाने पर भिन्न वस्तुस्थितियो का निर्देश करता है या भिन्न प्रतिज्ञप्तियो को व्यक्त करता है। अर्थ को पूरी तरह व्यक्त न करने से दोष आता है · यदि सर्वनामो के स्थान पर सज्ञा शब्द रख दिए जाएँ तो फिर कोई भ्रम नही रहेगा।

दिल्ली के बारे मे जो उदाहरण दिया गया है वह दो भिन्न समयो और एक ही स्थान का निर्देश करता है। इसका उल्टा भी होता है। यदि, जिस समय मैं कमरे मे बैठा हूँ जहाँ कि मेज के ऊपर पेंसिल बनाने का चाकू रखा है, मैं कहूँ कि "मेरा पेंसिल बनाने का चाकू यहाँ है" तो मेरा कहना सत्य है, पर तब सत्य नही होगा यदि मैं नदी मे तैरते हुए ऐसा कहूँ। यहाँ दोष "यहाँ" शब्द का है : "यहाँ" सामान्यत. उस स्थान का या उसके आस-पास के स्थान का निर्देश करता है जहाँ मैं हूँ और इसलिए यदि मैं अपना स्थान बदल दूँ तो उसका निर्देश बदल जाएगा। इस कठिनाई को पहले की तरह उस शब्द को हटाकर दूर किया जा सकता है जो वक्ता के स्थान-परिवर्तन के साथ अपना निर्देश (अर्थ नही) बदल देता है . "मेरा पेंसिल बनाने का चाकू (निश्चित समय बताते हुए) मेज पर है" सत्य है; "मेरा पेंसिल बनाने का चाकू नदी मे है" असत्य है।

वाक्य के अर्थ के पूरी तरह स्पष्ट हो जाने पर यह प्रकट हो जाएगा कि प्रतिज्ञप्ति का अर्थ काल-सापेक्ष या स्थान-सापेक्ष नही होता, हालांकि वह किसी काल और किसी स्थान के विषय में हो सकती है (वैसे ही जैसे-यह हम पहले देख चुके हैं—वह वक्तृसापेक्ष नही होती, हालांकि किसी वक्ता के विषय मे हो सकती है)। यदि यह सत्य था कि सीजर की ४४ ई० पू० मे हत्या की गई थी, तो यह सत्य था, अब भी सत्य है और हमेशा सत्य रहेगा कि सीजर की ४४ ई० पू० में हत्या की गई थी—यह केवल ४४ ई० पू० में ही सत्य नही था ; यह अब या किसी अन्य समय भी ठीक उतना ही सत्य है। जो प्रतिज्ञप्ति सत्य है, समय बीतने पर उसका सत्य होना रुक नहीं जाता ; परंतु कथन को पूरा करने के लिए वह समय बता देना आवश्यक है जब संबंधित वस्तुस्थिति का अस्तित्व था। जब ऐसा कर दिया जाता है तब सत्यता समय और स्थान के परिवर्तनों से स्वतंत्र हो जाती है। जो सत्य है वह सदैव सत्य रहेगा : यदि १७वी शताब्दी में जादूगरनियों को जला दिया जाता था, तो यह बात सदैव सत्य रहेगी कि १७वी शताब्दी मे जादूगरनियों को जला दिया जाता था। पर, इसे इस कथन के साथ नही उलझाना चाहिए कि जो वस्तु-स्थिति एक समय अस्तित्व रखती थी उसका सब अन्य समयों मे भी अस्तित्व रहना चाहिए या किसी अन्य समय में भी अस्तित्व रहना चाहिए। सीजर की हत्या केवल एक स्थान और एक समय में की गई थी ; और जादूगरनियों को यद्यपि अनेक स्थानों और अनेक समयों में जलाया गया था, तथापि यह नही कहा जाएगा कि उन्हें सब स्थानों और सब समयों में जलाया जाता है। वस्तुस्थितियाँ आती हैं और जाती हैं, पर सत्य शाश्वत होते हैं।

७. ज्ञान के स्रोत

अब हम ज्ञान के कुछ पक्षों पर विचार करने के लिए तैयार हैं। एक प्रति-ज्ञप्ति सत्य हो सकती है, भले ही कोई यह न जाने कि वह सत्य है। तो फिर, किन साधनों से हम ज्ञान प्राप्त करते हैं ? वे कौन-से उपाय हैं जिनके द्वारा हम प्रतिज्ञप्तियों को सत्य जानते हैं ? यहाँ हम ज्ञान के कुछ तथाकथित साधनों पर विचार करेंगे।

१. इंद्रियानुभव—उन सबमें इंद्रियानुभव सबमे स्पष्ट साधन है। यदि आपसे पूछा जाए कि आप कैसे जानते हैं कि आपके सामने एक किताब है, तो

आप शायद उत्तर देंगे कि "क्योंकि मैं उसे देख और छू सकता हूँ"—इससे अधिक स्पष्ट और क्या हो सकता है ? निश्चय ही आप देखकर, सुनकर, छूकर, सूंघकर, चखकर दुनिया के बारे में बहुत-सी बातें जान सकते हैं—यह कि भौतिक चीजे अस्तित्व रखती हैं और उनकी अमुक विशेषताएँ हैं। मुख्यतः देखने और छूने से हम जानते हैं कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है : हम कुर्सी को देखते है और तब उसके ऊपर बैठते है; परंतु, विभिन्न अवसरो पर हमारी सभी ज्ञानेंद्रियाँ हमें इस बात की सूचना देती हैं कि किसी वस्तु की क्या-क्या विशेषताएँ है : हम देख सकते है कि वह लाल है, हम उसकी तेज गध को सूंघते हैं, उसके कडवे स्वाद को चखते है, उसकी सख्ती का स्पर्श करते हैं, टकराने से जो आवाज उससे निकलती है उसे सुनते हैं।

निश्चय ही यह सब इतना सरल नहीं है। कभी-कभी हमें तब भी इंद्रियानुभव होते हैं जब अनुभव करने के लिए होता कुछ भी नही : शायद हमें अपभ्रम हो रहा हो, जैसा मृगमरीचिका मे होता है, जब हम प्यासे होते हैं और पानी तथा पेड़ों से शून्य रेगिस्तान मे चलते हुए सोचते हैं कि हम पानी और पेड़ देख रहे है। अथवा कभी-कभी जो हम देखते है वह वस्तुतः होता तो है, पर हम सोचते है कि उसमें एक विशेषता है जो वास्तव में होती नही है। यदि कोई वर्णांध है तो हरे रंग को वह धूसर देखता है। ऐसा हो सकता है कि हम एक प्रकार की चीज देखें जो वस्तुतः वहाँ है, पर उसे गलती से दूसरी चीज समझ बैठे, जैसे अँधेरे मे या कोहरे में हम कुत्ते को भेड़िया या गधे को घोड़ा समझ बैठते हैं।

ये सब प्रत्यक्ष की भूलें हैं और इनकी विस्तार से चर्चा हम आठवें अध्याय में करेंगे। आम तौर पर यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष की भूलें हमारी ज्ञानेंद्रियों की अविश्वसनीयता को प्रकट करती है, पर अधिक सही यह कहना होगा कि हमारी निर्णय-शक्ति दोषग्रस्त होती है। ज्ञानेंद्रिय वस्तुतः धोखा नही देती : हम (ऐंद्रिय प्रत्यक्षों के आधार पर) ऐसे निर्णय कर बैठते है जिन्हे हम बाद में गलत पाते है। यदि हम निर्णय स्थगित रखते—यदि हम गधे को घोड़ा न समझ होते—तो भूल हुई ही न होती। भूल सदैव निर्णय की होती है, संवेदन की नही। ज्ञानेंद्रियाँ केवल यह कर सकती है कि हमारे आगे कुछ अनुभवों को प्रस्तुत करती हैं, जिनका हम तत्पश्चात् वर्गीकरण करते है, जिसमें कभी-कभी भूल हो जाती है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि जब इद्रियानुभवो के अधूरे होने से हम प्रत्यक्ष की कोई भूल कर बैठते हैं तब सदैव आगे होनेवाले इद्रियानुभव ही हमे उस भूल की जानकारी करवाते हैं। यदि आपको पूरा यकीन नही है कि सेव असली है तो उसे दांतो से काटकर या चाकू से काटकर देखिए कि कही वह मोम का तो नही है। यदि आपको पूरा विश्वास नही हो रहा है कि वहाँ दूर सडक पर कोई आदमी आ रहा है तो कुछ प्रतीक्षा कीजिए और उसके निकट आ जाने पर निर्णय कीजिए अथवा दूरबीन से देखिए। यदि आपको विश्वास नही हो रहा है कि अगले कमरे मे घडी की टिक-टिक हो रही है तो वहाँ जाकर टिक-टिक की आवाज को पैदा करनेवाली चीज को ढूँढिए और निर्णय कीजिए। इद्रियानुभवो पर आधारित गलत निर्णयो का इसके अलावा कोई इलाज नही है कि और अधिक इद्रियानुभवो के आधार पर अन्य निर्णय किए जाएँ। इस प्रकार इद्रियानुभव मे गलतियो का होना यह प्रकट नही करता कि हमे इद्रियानुभव से श्रेष्ठ किसी चीज का आश्रय लेना है, बल्कि केवल यह प्रकट करता है कि हमे और अधिक इद्रियानुभव की जरूरत है और यह भी कि यदि हम उसके होने तक रुके होते तो हमसे वह गलत निर्णय हुआ ही न होता।

ज्ञान का अग बन सकने से पहले इद्रियानुभव को निर्णय की आवश्यकता होती है। जो इद्रियानुभव आपको इस समय हो रहे हैं वे ज्ञान नही हैं। पहले आपको निर्णय करना होगा कि यह कुर्सी है, यह किताब है इत्यादि। और सत्य या असत्य जिसे निर्णीत किया जाता है वह प्रतिज्ञप्ति होती है। इद्रियानुभव स्वय न सत्य होता है और न असत्य। वह तो होता मात्र है या केवल अस्तित्व रखता है। वह होता है और प्रत्यक्षमूलक निर्णय का आधार बनता है, पर उस निर्णय के लिए वह अकेला पर्याप्त नहीं है। प्रत्यक्ष में निर्णय की भूमिका की उपेक्षा बडी आसानी से कर दी जाती है, क्योकि अधिकतर प्रसगो में हम केवल "कुर्सी", "पेड" इत्यादि सप्रत्ययो को इस्तेमाल करते हैं जो इतने अधिक सुपरिचित होते हैं कि लगता है जैसे हम कोई निर्णय नही कर रहे हैं बल्कि केवल इद्रियानुभव की सूचना दे रहे हैं जिसमे कोई सप्रत्यय शामिल नहीं। परतु, यह बात गलत है और थोडे अधिक जटिल उदाहरणो से आसानी स सिद्ध की जा सकती है : कोई कहेगा, "मैं राजधानी एक्सप्रेस का आना सुन रहा हूँ।" पर, एक अन्य आदमी, जिसे वही या उससे बहुत मिलती-जुलती आवाज उसे शायद राजधानी एक्सप्रेस की आवाज के रूप मे बिल्कुल

आप शायद उत्तर देंगे कि "क्योंकि मैं उसे देख और छू सकता हूँ"—इससे अधिक स्पष्ट और क्या हो सकता है? निश्चय ही आप देखकर, सुनकर, छूकर, सूंघकर, चखकर दुनिया के बारे में बहुत-सी बातें जान सकते हैं—यह कि भौतिक चीजे अस्तित्व रखती है और उनकी अमुक विशेषताएँ हैं। मुख्यतः देखने और छूने से हम जानते हैं कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है : हम कुर्सी को देखते हे और तब उसके ऊपर बैठते हैं; परंतु, विभिन्न अवसरों पर हमारी सभी ज्ञानेंद्रियाँ हमें इस बात की सूचना देती हैं कि किसी वस्तु की क्या-क्या विशेषताएँ है: हम देख सकते है कि वह लाल है, हम उसकी तेज गंध को सूंघते हैं, उसके कडवे स्वाद को चखते है, उसकी सख्ती का स्पर्श करते हैं, टकराने से जो आवाज उससे निकलती है उसे सुनते हैं।

निश्चय ही यह सब इतना सरल नहीं है। कभी-कभी हमें तब भी इंद्रियानुभव होते हैं जब अनुभव करने के लिए होता कुछ भी नही : शायद हमें अपभ्रम हो रहा हो, जैसा मृगमरीचिका में होता है, जब हम प्यासे होते हैं और पानी तथा पेड़ों से शून्य रेगिस्तान मे चलते हुए सोचते हैं कि हम पानी और पेड़ देख रहे है। अथवा कभी-कभी जो हम देखते है वह वस्तुतः होता तो है, पर हम सोचते हैं कि उसमें एक विशेषता है जो वास्तव में होती नही है। यदि कोई वर्णांध है तो हरे रंग को वह धूसर देखता है। ऐसा हो सकता है कि हम एक प्रकार की चीज देखें जो वस्तुतः वहाँ है, पर उसे गलती से दूसरी चीज समझ बैठे, जैसे अँधेरे में या कोहरे मे हम कुत्ते को भेड़िया या गधे को घोड़ा समझ बैठते है।

ये सब प्रत्यक्ष की भूलें है और इनकी विस्तार से चर्चा हम आठवें अध्याय में करेंगे। आम तौर पर यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष की भूलें हमारी ज्ञानेंद्रियों की अविश्वसनीयता को प्रकट करती है, पर अधिक सही यह कहना होगा कि हमारी निर्णय-शक्ति दोषग्रस्त होती है। ज्ञानेंद्रिय वस्तुतः धोखा नहीं देती : हम (ऐंद्रिय प्रत्यक्षों के आधार पर) ऐसे निर्णय कर बैठते है जिन्हें हम बाद में गलत पाते है। यदि हम निर्णय स्थगित रखते—यदि हम गधे को घोड़ा न समझ होते—तो भूल हुई ही न होती। भूल सदैव निर्णय की होती है, संवेदन की नही। ज्ञानेंद्रियां केवल यह कर सकती है कि हमारे आगे कुछ अनुभवों को प्रस्तुत करती हैं, जिनका हम तत्पश्चात् वर्गीकरण करते है, जिसमें कभी-कभी भूल हो जाती है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि जब इंद्रियानुभवो के अधूरे होने से हम प्रत्यक्ष की कोई भूल कर बैठते है तब सदैव आगे होनेवाले इंद्रियानुभव ही हमे उस भूल की जानकारी करवाते हैं। यदि आपको पूरा यकीन नही है कि सेव असली है तो उसे दाँतो से काटकर या चाकू से काटकर देखिए कि कही वह मोम का तो नही है। यदि आपको पूरा विश्वास नही हो रहा है कि वहाँ दूर सड़क पर कोई आदमी आ रहा है तो कुछ प्रतीक्षा कीजिए और उसके निकट आ जाने पर निर्णय कीजिए अथवा दूरबीन से देखिए। यदि आपको विश्वास नही हो रहा है कि अगले कमरे मे घडी की टिक-टिक हो रही है तो वहाँ जाकर टिक-टिक की आवाज को पैदा करनेवाली चीज को ढूँढिए और निर्णय कीजिए। इंद्रियानुभवो पर आधारित गलत निर्णयों का इसके अलावा कोई इलाज नही है कि और अधिक इंद्रियानुभवो के आधार पर अन्य निर्णय किए जाएँ। इस प्रकार इंद्रियानुभव मे गलतियो का होना यह प्रकट नही करता कि हमे इंद्रियानुभव से श्रेष्ठ किसी चीज का आश्रय लेना है, बल्कि केवल यह प्रकट करता है कि हमे और अधिक इंद्रियानुभव की जरूरत है और यह भी कि यदि हम उसके होने तक रुके होते तो हमसे वह गलत निर्णय हुआ ही न होता।

ज्ञान का अंग बन सकने से पहले इंद्रियानुभव को निर्णय की आवश्यकता होती है। जो इंद्रियानुभव आपको इस समय हो रहे हैं वे ज्ञान नही हैं। पहले आपको निर्णय करना होगा कि यह कुर्सी है, यह किताब है इत्यादि। और सत्य या असत्य जिसे निर्णीत किया जाता है वह प्रतिज्ञप्ति होती है। इंद्रियानुभव स्वय न सत्य होता है और न असत्य। वह तो होता मात्र है या केवल अस्तित्व रखता है। वह होता है और प्रत्यक्षमूलक निर्णय का आधार बनता है, पर उस निर्णय के लिए वह अकेला पर्याप्त नही है। प्रत्यक्ष मे निर्णय की भूमिका की उपेक्षा बडी आसानी से कर दी जाती है, क्योकि अधिकतर प्रसगो में हम केवल "कुर्सी", "पेड" इत्यादि संप्रत्ययो को इस्तेमाल करते हैं जो इतने अधिक सुपरिचित होते हैं कि लगता है जैसे हम कोई निर्णय नही कर रहे हैं बल्कि केवल इंद्रियानुभव की सूचना दे रहे हैं जिसमे कोई सप्रत्यय शामिल नही। परंतु, यह बात गलत है और थोडे अधिक जटिल उदाहरणो से आसानी से सिद्ध की जा सकती है : कोई कहेगा, "मैं राजधानी एक्सप्रेस का आना सुन रहा हूँ।" पर, एक अन्य आदमी, जिसे वही या उससे बहुत मिलती-जुलती आवाज उसे शायद राजधानी एक्सप्रेस की आवाज के रूप मे बिल्कुल

न पहचाने वह अपने श्रवण-अनुभव का अर्थ राजधानी एक्सप्रेस समझने मे असमर्थ है। इस प्रकार, प्रत्यक्षमूलक निर्णय करने के लिए हमे न केवल प्रत्यक्ष होना चाहिए अपितु शब्दो का अर्थ जानने तथा उन्हें प्रत्यक्षो पर लागू करने मे भी समर्थ होना चाहिए।

यहाँ तक हमने केवल तथाकथित "बाह्य ज्ञानेंद्रियो" की ही बात की है। ये वे इद्रियाँ है जिनमे हमे बाहरी दुनिया की जानकारी मिलती है। परतु, "आतरिक ज्ञानेद्रियाँ" भी होती है जिनमे हमे स्वय अपनी आतरिक अवस्थाओ (अनुभूतियो, अभिवृत्तियो, भावदशाओ, पीडाओ और सुखो) का तथा सोचना, विश्वास करना, जिज्ञासा करना इत्यादि अपनी मानसिक क्रियाओं का बोध होता है। इन बातो का ज्ञान करानेवाले कोई अग हैं, ऐसी बात बिल्कुल भी नही है। फिर भी कुछ अनुभवो के आधार पर कुछ प्रतिज्ञप्तियो के कथन का अधिकार मिल जाता है। परन्तु, केवल उन्ही प्रतिज्ञप्तियो के कथन का अधिकार मिलता है जो स्वय हमारी ही आतरिक अवस्थाओ के बारे मे होती है उदाहरणार्थ, मुझे सिरदर्द है, मुझे नीद आ रही है, आज सुबह से मेरी तबियत ठीक नही है, मैं अगले ग्रीष्मावकाश की बात सोच रहा हूँ इत्यादि। इन सब उदाहरणो मे सबधित प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का एकमात्र प्रमाण जो हमारे पास है या जिसकी हमे जरूरत है यह तथ्य है कि हमे उसके अनुरूप अनुभव हो रहा है। यदि मुझे सिरदर्द है तो "मुझे सिरदर्द है", इस प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने के लिए केवल इतने की ही जरूरत है। 'मेरे दाँत मे दर्द है", इस प्रतिज्ञप्ति का विषय मेरे इस समय के अनुभव के अलावा कुछ नही है, और इसलिए उस अनुभव का होना इस प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने के लिए पर्याप्त है।

इस प्रकार के ज्ञान के बारे मे बहुत सावधानी रखना आवश्यक है अनुचित दावे करने के लिए इसका बडी आसानी से उपयोग किया जा सकता है। विशेष रूप से दो बाते मन मे रखनी चाहिए

१ इन अनुभवो के आधार पर हम जिस प्रकार की प्रतिज्ञप्तियो का कथन कर सकते हैं वे केवल वे प्रतिज्ञप्तियाँ हैं जो स्वय इन अनुभवो के बारे म ही होती हैं। यदि आपको सिरदर्द है तो आपके पास यह कहने का आधार है कि "मुझे सिरदर्द है"। और, यदि कोई पूछे कि आप कैसे जानते हैं कि आपको सिरदर्द है तो आप कह सकते हैं कि "क्योकि वह मुझे महसूस हो रहा है, बस"। पर, 'मुझे ऐसा महसूस होता है", इस आसान वाक्य को अन्य चीजो

के संबंध में न इस्तेमाल कीजिए : "अगला जाड़ा बहुत सख्त पड़ेगा।" "आप कैसे जानते हैं ?" "मुझे ऐसा महसूस होता है।" यह नही माना जाएगा। आप जिस तरह अपने इस समय के सिरदर्द को या उनींदेपन को या सुख या दु ख को महसूस करते हैं उस तरह अगले जाडे की सख्ती को नहीं कर सकते। पीडा इत्यादि को आप महसूस ही करते हैं ; पर जाड़े के प्रसंग में आप यह महसूस करने का दावा करते है कि बात ऐसी है या ऐसी होगी। और यह महसूस करना कि बात ऐसी है (जो कि ऐसा-ऐसा सिरदर्द, महसूस करने से भिन्न है) कभी इस बात का प्रमाण नही हो सकता कि जिस प्रतिज्ञप्ति को आप "महसूस" करते है वह सत्य है। असल मे, "महसूस करना" शब्द का यहाँ अर्थ बदल गया है। जब आप सिरदर्द महसूस करते हैं तब एक अनुभूति की अवस्था से, जो कि आपको हो रही है, आपका सीधा परिचय हो रहा है। परंतु, जब आपको यह "महसूस होता है" कि अगला जाडा सख्त पडेगा, तब जो भी आतरिक अनुभूति आपकी हो वह संबंधित प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का प्रमाण नही है, क्योंकि यहाँ जिस बात की जानकारी का दावा आप करते हैं वह इतनी मात्र नही है कि आपको एक अनुभूति हो रही है वल्कि यह है कि बाह्य जगत् मे एक वस्तुस्थिति होगी। अगला जाडा सख्त पड़ेगा, यह जानने का तरीका यह है कि आप अगले जाड़े के आने की प्रतीक्षा करें और तब देखे कि वह सख्त होता है या नही। आपकी वर्तमान मनोदशा अगले जाड़े की एक विशेषता का विश्वसनीय सूचक शायद हो या न हो, पर यदि हो भी, तो आपकी वर्तमान अनुभूति एक चीज है और अगले जाड़े की विशेपता एक अन्य चीज है, और आपकी वर्तमान अनुभूति का कथन अगले जाड़े की विशेपता के कथन से विल्कुल अलग रखा जाना चाहिए : स्पष्ट है कि दोनो एक ही बात का कथन नहीं हैं।

"महसूस करना" असल में एक भिन्नार्थक शब्द है : (१) "मुझे सिरदर्द है", अर्थात् "मैं उसे महसूस कर रहा हूँ"—यहाँ केवल यह कहना कही अधिक स्पष्ट हुआ होता कि मुझे सिरदर्द है, न कि उसके महसूस होने की बात करना। (२) "मैं इस चाकू की धार को महसूस कर रहा हूँ", यहाँ "महसूस करना" स्पर्श के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और स्पर्श बाह्य इंद्रियों मे से एक है। एक और भी भिन्नार्थकता है, जैसे कि मानो गड़बडी पैदा करने के लिए इतना काफी न हो। (३) "मैं महसूस करता हूँ कि..........." (खाली जगह मे कोई प्रतिज्ञप्ति है)।

(कभी-कभी "मैं महसूस करता हूँ कि यह सत्य है" का अर्थ केवल यह होना है कि "मैं विश्वास करता हूँ कि यह सत्य है" (यह भी शायद बहुत दृढता के साथ नही)। और यह "महसूस करना" कि प सत्य है, मुझे यह कहने का अधिकार देने के लिए पर्याप्त नही है कि मैं जानता हूँ कि प सत्य है। विश्वास करना और जानना एक ही बात नही है। विश्वास चाहे कच्चा हो या पक्का, अनेक ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ हो सकती हैं जिनमें हम विश्वास करते हैं, पर जो असत्य है। आप चाहे कितना ही अधिक यह महसूस करें (विश्वास करें) कि अगले साल राष्ट्रपति की हत्या हो जाएगी, आपका महसूस करना इस बात की गारंटी नही है कि ऐसा हो ही जाएगा। विश्वास ज्ञान की गारंटी नहीं है, जैसा कि अगले परिच्छेद मे अधिक विस्तार से बताया जाएगा। इस प्रकार, विश्वास करने के अर्थ मे "महसूस करना" भी ज्ञान की गारंटी नही है। अर्थ की स्पष्टता के लिए अधिक अच्छा यह होगा कि "महसूस करना" का इस अर्थ मे प्रयोग बिल्कुल न किया जाय। यह कहने के बजाय कि "मैं महसूस करता हूँ कि लोग मुझे सता रहे हैं" यह कहिए कि "मैं विश्वास करता हूँ कि लोग मुझे सता रहे हैं", और तब अच्छे-से-अच्छे साक्ष्य के आधार पर यह निर्णय कीजिए कि यह विश्वास सत्य है या नही।

२. सभी स्थितियाँ जिनमे हम "मैं ऐसा महसूस करता हूँ" कहते हैं, साक्षात् अनुभव की नही होती। हम अभी-अभी "मैं महसूस करता हूँ कि ..." (इन शब्दो के अनतर कोई प्रतिज्ञप्ति) कहने के खतरे बता चुके हैं। अब हम "मैं क को महसूस करता हूँ" कहने तथा यह निष्कर्ष निकालने का कि कथन "मैं अवस्था क मे हूँ" सत्य है, एक खतरा बता देना जरूरी समझते है। बात को स्पष्ट करने के लिए हमे एक महत्त्वपूर्ण अतर बताना होगा जो घटना-अवस्था और शील-अवस्था के बीच है।

पीडा की टीस, खुजली, खेद, नोद इत्यादि महसूस करना, सब व्यक्ति की चेतना की घटना-अवस्थाएँ है। जब चीनी की एक डली काफी के प्याले मे घुल जाती है तब चीनी की घुली हुई अवस्था घटना-अवस्था है, क्योंकि वह उस क्षण घट रही है और निस्सदेह जब तक काफी का प्याला है तब तक घटती रहेगी। परतु, यदि "चीनी की डली चीनी के बर्तन मे पडी है" तो वह घुली नहीं है, बल्कि घुलनशील है। उसे घुलनशील कहना यह कहना है कि यदि उसे काफी (या किसी भी अन्य द्रव) मे डाल दिया जाए तो वह घुल जाएगी। इसकी घुलन-

शीलता की अवस्था शील-अवस्था है : घुलना उसका शील है—अर्थात् उपयुक्त परिस्थितियों में वह घुल जाएगी—पर चूँकि अभी वह घुली नही है इसलिए घुलने की अवस्था अभी घटना-अवस्था नही बनी है। पर कटोरे में जो चीनी पड़ी है उसकी घटना-अवस्था है। जो भी घट रहा है वह घटना है : बिजली की एक कौंध, मेज पर बैठे होना, भोजन करना इत्यादि। परंतु, चीजों के जितने गुणधर्म हम बताते है उनमे से अधिकतर शील-गुणधर्म होते हैं : हम बताते हैं कि यदि अमुक चीज के साथ अमुक बात की जाए, जोकि की नहीं जा रही है, तो वह क्या करेगी या उसका व्यवहार कैसा होगा। इस प्रकार, "दूध पोषक होता है"—अर्थात् यदि आप उसे पिएँ तो वह आपको पुष्ट करेगा; "सोना आघातवर्धनीय होता है"—अर्थात् यदि आप उसे पीटे तो उसका आकार बदल जाएगा; "पैट्रोल ज्वलनशील है"—अर्थात् यदि एक माचिस जलाई जाए तो वह जल उठेगा।

अब, यदि आपके दाँत में दर्द है, या आपको नीद-सी आ रही है, या आप सोच रहे है कि अब क्या करना है, या आप चीन के बारे मे विचार कर रहे हैं, तो ये सब आपकी चेतना की अवस्थाएँ है और सब घटना-अवस्थाएँ हैं। (यदि ये सब बातें कल हुईं तो कल ये घटना-अवस्थाएँ थी।) सुख, खेद, खुजली, सोचना, कुतूहल जब भी होते है, घटना-अवस्थाएँ है। और जब चेतना की कोई अवस्था घटना-अवस्था होती है, तब उसका घटना आपको एक उपयुक्त वाक्य बोलने का अधिकार दे देता है, जैसे "मेरे दाँत में दर्द है", "मैं सोच रहा हूँ कि अब क्या करना है'। यदि आपको दर्द महसूस हो रहा है, तो दर्द के होने के लिए इतना ही काफी है : दर्द का होना दर्द का महसूस होना ही है; इससे अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है। "मुझे बहुत दर्द हो रहा है, पर मैं उसे महसूस नही कर सकता" कहना वदतोव्याघात होगा। (यह कहना कि "मेरे दाँत मे सख्त दर्द होना, पर बात यह है कि मेरा दाँत निश्चेतन कर दिया गया है" निश्चय ही एक अलग बात है और सत्य हो सकती है। स्वव्याघाती है यह कहना कि दर्द है पर उसका अनुभव नही हो रहा है, क्योंकि दर्द का अस्तित्व ही इस बात मे है कि उसकी अनुभूति हो।) सामान्य रूप से, अनुभूतियाँ घटना-अवस्थाएँ होती हैं और उनका घटना आपको यह कहने का आधार दे देता है कि आपको वे हो रही हैं।

परंतु, कुछ और शब्द भी हैं जिनका प्रयोग हम लोगों की "आंतरिक

अवस्थाओ" को बताने के लिए करते हैं। ये हैं शील-शब्द भावदशाओं और सवेगो के लिए जो शब्द होते है वे शील-शब्द हैं। "मेरा मिजाज इस समय चिडचिडा हो रहा है" का अर्थ यह है कि यदि इस समय कोई मेरा विरोध करेगा या किसी और तरह से मुझे चिढाएगा तो मैं कुछ अधिक जल्दी उत्तेजित हो जाऊँगा। "मैं चूजे का मास नापसद करता हूँ" का मतलब यह नहीं है कि मैं सदैव उससे घृणा महसूस करने की घटना-अवस्था मे रहता हूँ, बल्कि यह है कि यदि कोई मेरे सामने उस चीज को खाने के लिए रख दे तो मुझे घृणा महसूस होगी। जब आप कहते है कि "मैं उससे प्रेम करता हूँ," तब आप यह मात्र नही कह रहे है कि आप इस क्षण चेतना की एक (शब्दों के द्वारा अपरिभाष्य) अवस्था मे है। प्रेम मे कई प्रवृत्तियाँ होती हैं। यदि आप किसी नारी से प्रेम करते हैं तो आप उसके लिए कुछ करना चाहेगे, उसके प्रसन्न होने पर आपको प्रसन्नता होगी इत्यादि। यदि आप प्रेम का दावा करते है, पर प्रेम जिससे करते है उसके लिए कुछ करने मे आपको आनद नही आता, तो किसीका आपके लिए यह कहना बिल्कुल ठीक होगा कि "आप वास्तव मे · कुमारी से प्रेम नही करते।" आप कह सकते है कि आप अवश्य उससे प्रेम करते हैं और शायद आप झूठ भी न बोल रह हो (अर्थात् जानबूझकर झूठ न बोल रहे हो), परतु, फिर भी जो आप कहते है वह सत्य नही होगा। आपको सब तरह की अनुभूतियाँ (घटना-अवस्थाएँ) हो सकती हैं, परतु, यदि आपकी उसके प्रति कुछ विशेष रूपो मे व्यवहार करने की प्रवृत्ति नही होती, तो आप प्रेम नही करते। प्रेम मे न केवल कुछ घटना अवस्थाएँ (अनुभूतियाँ) होती हैं अपितु अनेक शील अवस्थाएँ (दूसरे के प्रति अ, ब, स, द इत्यादि कुछ तरीको से व्यवहार करने की प्रवृत्ति) भी होती है, जो कि कही अधिक महत्त्व की हैं। और यदि आप उपयुक्त अवसरो पर भी उन तरीको से व्यवहार नही करते तो, आपको चाहे जो अनुभूतियाँ हो, कोई आपके प्रेम मे सदेह प्रकट कर ही सकता है। अत, यह कहना पर्याप्त नही है कि "मैं जानता हूँ कि मुझे उससे प्रेम है क्याकि मुझे ऐसा महसूस हो रहा है।" यदि कोई किशोरी ऐसा कहती है तो उसकी माँ कह सकती है, "जो तुम महसूस कर रही हो वह प्रेम नही बल्कि आसक्ति है। यदि सचमुच तुम्हे प्रेम होता तो तुम्हारा व्यवहार भिन्न होता।" माँ लडकी के व्यवहार पर नजर रख सकती है और शायद लडकी की अपेक्षा अधिक सतर्क होकर, और, चूकि व्यवहार की प्रवृत्तियाँ 'प्रेम' के अर्थ के अग है, इसलिए माँ इस बात की लडकी की अपेक्षा अधिक अच्छी निर्णायक है कि

लड़की वास्तव में प्रेम करती है या नही। यह बात नही है कि माँ उस चीज को महसूस करती है जिसे लड़की महसूस कर रही है (हम परिच्छेद २० मे यह विवेचन करेंगे कि क्या यह संभव है), परंतु वह उसके व्यवहार को देखकर अनुमान कर सकती है। आदमी को चाहे जितनी हूकें या टीसें महसूस हो, प्रेम उसे तब तक नही है जब तक उसे प्रेमिका के प्रति कुछ विशेष तरीको से व्यवहार करने की प्रवृत्ति नही होती : इस प्रकार, यदि कोई देखता है कि कहते तो आप यह है कि आपको प्रेम है, पर आप प्रकटतः उन तरीकों से व्यवहार नही कर रहे हैं तो उसका यह कहना उचित होगा, "आपको कुछ भी अनुभव क्यो न हो रहा हो अथवा आपके मन मे कुछ भी क्यों न चल रहा हो, प्रेम आपको नही है, क्योकि प्रेम मे व्यवहार की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं और मै देख चुका हूँ कि वे आपके अदर बिल्कुल नही हैं।"

एक दूसरा उदाहरण : किसी आदमी को यह कहना कि वह अहंमन्य है, यह बताना है कि उसमे अपने हित को दूसरों के हित के ऊपर रखने की, इस प्रकार काम करने की कि जैसे एकमात्र वही दुनिया मे हो तथा अन्य बातो की प्रवृत्ति है। परंतु अहंमन्य आदमी अहंमन्यता महसूस नही करता ; यदि करता तो उसकी भविष्य मे अपना व्यवहार बदल देने की प्रवृत्ति होती। किसी को अहंमन्य कहना उसके अंदर कुछ प्रवृत्तियो का आरोप करना है, पर किसी घटना-अवस्था का नही। स्वय वह आदमी इस बात का निष्पक्ष निर्णय करनेवाला कि वह अहंमन्य है या नही, शायद अंतिम व्यक्ति होगा। आप अहमन्य हैं या प्रेम करते है या कर्तव्यनिष्ठ हैं या किसीसे ईर्ष्या करते हैं इत्यादि का पता अतर्निरीक्षण मात्र से नही चल सकता बल्कि काफी समय तक आपके व्यवहार की निष्पक्ष जाँच करने से ही चल सकता है ; और, आपकी अपेक्षा कोई दूसरा व्यक्ति ऐसी जांच करने के लिए कही अधिक योग्य होगा।

तो फिर यह निर्णय करने मे कि केवल अपनी किसी घटना-अवस्था के आधार पर हम यह कहने का अधिकार पा जाते हैं या नही कि हम कुछ जानते है, ये कुछ मुख्य बातें हैं जिन्हे ध्यान मे रखना होगा। इस बारे मे बहुत अधिक भ्रम है : लोग कुछ महसस करने के या अपने किसी "आतरिक अनुभव" के आधार पर सदैव कुछ दावे करते रहते हैं, जबकि जिस प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने का वे दावा करते है वह उस अनुभव के दायरे से

एकदम बाहर होती है और उसकी सत्यता के निश्चय के लिए उस अनुभव से नहीं अधिक अनुभव की आवश्यकता होगी।

यहाँ तक हमने चुपचाप यह मान लिया है कि किसी अनुभव के होने पर और उसे बताने के लिए आवश्यक शब्दों और वाक्यों के अर्थ की जानकारी होने पर हम उसकी सूचना दे सकते हैं। पर कभी-कभी इसमें भी संदेह प्रकट किया गया है। यदि मैं कहूँ कि "अगला जाड़ा सख्त पड़ेगा" तो यह गलत हो सकता है—मुझे यह जानने के लिए प्रतीक्षा करनी होगी और, भले ही अगला जाड़ा सख्त ही क्यों न निकले, मेरी वर्तमान अनुभूति इस बात का निश्चय नहीं करा सकेगी। परंतु "मुझे नींद आ रही है" मेरी इस समय अनुभूत अवस्था की ही सूचना है, अधिक कुछ नहीं। इसका गलत होना कैसे संभव है? अनुभव मुझे हुआ ही है और जो वाक्य मैंने कहा है उसका अर्थ मैं जानता ही हूँ। इसकी सत्यता जानने के लिए और क्या चाहिए? यह वाक्य इस बात की भविष्यवाणी नहीं है कि मुझे बाद में क्या अनुभव होगा, और न वह यह बताता है कि इस समय या भविष्य में व्यवहार करने की कौन-सी प्रवृत्तियाँ मुझमें हैं।

जब तक हम महत्त्व की कुछ बातों में अंतर न बता दें, जो कि अध्याय ८ में किया जाएगा, तब तक इस प्रश्न की अधिक चर्चा नहीं की जा सकती। फिलहाल, इन दो तरह के कथनों के बीच सावधानी के साथ अंतर समझ लेना हमारे लिए बहुत ही जरूरी है : एक वे कथन जो इसके अलावा कोई दावा नहीं करते कि मुझे एक विशेष अनुभव हो रहा है और दूसरे वे जो करते हैं। बहुधा पहले प्रकार के प्रतीत होनेवाले कथन असल में दूसरे प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ वस्तुतः भिन्नार्थक हो सकते हैं और उनका दोनों प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है। "मेरे दाँत में दर्द है" मात्र उसके बारे में एक कथन प्रतीत होता है जो मैं इस इस समय महसूस कर रहा हूँ। परंतु, यदि इसमें मेरे दाँत की हालत के बारे में कोई दावा (कि वह खोखला हो गया है इत्यादि) शामिल है, तो यह मैं इस क्षण जो कुछ महसूस कर रहा हूँ, केवल उसके बारे में एक कथन नहीं है बल्कि मेरे मुँह की हालत के बारे में एक कथन है जिसकी सचाई का पता शायद मुझसे अच्छा मेरे दंत-चिकित्सक को होगा। अनेक कथन ऊपर से शुद्ध अनुभव हो सकते हैं जबकि वास्तव में उनमें और भी दावे छिपे होते हैं जो उस क्षण अनुभवमात्र के कथन दिखाई देते हैं। यदि हम उनके धोखे में आ गए, तो हम उनके वक्ताओं के दावों को इस आधार पर सत्य मान लेने का

खतरा मोल लेंगे कि वे अनुभवों की सूचनाएँ मात्र हैं, हालांकि वास्तव में उनमें उनसे कही अधिक शामिल रहता है।

२. तर्क : परंतु इंद्रियानुभव ज्ञान का एकमात्र साधन नही है। यदि कोई आपसे पूछता है कि "आप कैसे जानते हैं कि ७४+८९ बराबर १६३ होता है ?", तो आप यह उत्तर नही देते कि "मैने यह देखा है" बल्कि यह उत्तर देते है कि "मैंने हिसाब लगाकर ऐसा पाया है।" आप गणना का सहारा लेते हैं, देखने, सुनने, या छूने का नहीं। आपको जोड़ की जानकारी तर्क से हुई है। तर्क ज्ञान का एक स्रोत है।

लोग जब कुछ कथनों को आधार मानकर एक या अधिक कथन करते हैं तब इसे तर्क कहते हैं। इसमें एक या अधिक कथन लिए जाते हैं जिन्हें "आधारिकाएँ" कहते हैं और इनका उपयोग एक कथन का अनुमान करने के लिए किया जाता है जिसे "निष्कर्ष" कहते हैं। इस प्रकार "मेरे पास एक पच्चीस का और एक दस का सिक्का है," इस कथन को मैं यह अनुमान करने का आधार बनाता हूँ कि "मेरे पास पचास से कम पैसे हैं।"

अ—निगमनात्मक तर्क : तर्क का सबसे अधिक सुपरिचित रूप वह है जिसे निगमनात्मक तर्क कहते हैं और जिसे तर्क का आदर्श माना जाता है। निगमनात्मक तर्क में निष्कर्ष अनिवार्य रूप से आधारिकाओं से निकलता है, अर्थात् दूसरे शब्दों मे, यदि आधारिकाएँ सत्य है तो निष्कर्ष अनिवार्यतः सत्य होता है। उदाहरणार्थ,

१. यदि वर्षा हो रही है तो सड़कें गीली होंगी।
वर्षा हो रही है।
इसलिए, सड़कें गीली होंगी।

यह एक वैध निगमनात्मक युक्ति है : यदि आप उक्त दो आधारिकाओं को मानते हैं तो आपको निष्कर्ष को भी मानना होगा—हम कह सकते है कि निष्कर्ष आधारिकाओं से निकलता है।

२. सब कुत्ते स्तनपायी हैं।
सब स्तनपायी पशु हैं।
इसलिए, सब कुत्ते पशु हैं।

भी इसीलिए एक वैध निगमनात्मक युक्ति है। लेकिन, नीचे दी हुई युक्ति वैध नही है :

३. सब कुत्ते स्तनपायी हैं।
सब बिल्लियाँ स्तनपायी हैं।
इसलिए, सब कुत्ते बिल्लियाँ हैं।

हम यहाँ कुछ ठहरकर निगमनात्मक युक्तियों के विविध प्रकारों की जाँच नहीं कर सकते और यह नहीं देख सकते कि क्यों कुछ युक्तियाँ वैध होती हैं और कुछ अवैध। ऊपर के उदाहरण निस्संदेह इतने आसान हैं कि आपको यकीन हो जाएगा कि पहले दो वैध हैं और तीसरा अवैध। इस बात का विवेचन कि क्यों कुछ वैध होते हैं और कुछ नहीं, दर्शन की एक विशेष शाखा, तर्कशास्त्र, का काम है। तर्कशास्त्र वैध तर्क का अध्ययन करता है, तथा वह यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि क्यों कुछ युक्तियाँ वैध और कुछ अवैध होती हैं।

यहाँ वैधता का सत्यता से अंतर बता देना जरूरी है। वैध युक्ति में आधारिकाओं का सत्य होना आवश्यक नहीं है : केवल इतना होना चाहिए कि निष्कर्ष तर्कतः आधारिकाओं से प्राप्त हो—अर्थात् यदि आधारिकाएँ सत्य हों तो निष्कर्ष भी अवश्य सत्य हो। ऊपर की युक्ति २ में आधारिकाएँ सत्य हैं। लेकिन नीचे की युक्ति में वे असत्य हैं :

४. सब गाएँ हरी होती हैं।
मैं एक गाय हूँ।
इसलिए, मैं हरी हूँ।

लेकिन, युक्ति फिर भी वैध है। यद्यपि आधारिकाएँ सत्य नहीं हैं, तथापि निष्कर्ष तर्कतः उनसे निकलता है। यदि आधारिकाएँ सत्य होतीं तो निष्कर्ष भी अवश्य सत्य हुआ होता। वैधता के लिए इतना ही जरूरी है। इसके विपरीत, नीचे के सारे कथन सत्य हैं :

५. सीजर ने रुबिकान को पार किया।
२+२ बराबर ४ होते हैं।
इसलिए, मैं इस समय एक पुस्तक पढ रहा हूँ।

पर, युक्ति वैध नहीं है : निष्कर्ष आधारिकाओं से नहीं निकलता, हालाँकि वह और वे हैं सत्य।

यह जरूरी है कि वैधता को सत्यता से अलग रखा जाए। प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य होती हैं या असत्य; तर्क या युक्ति वैध होती है या अवैध। वैध युक्ति में जो प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं वे असत्य हो सकती हैं, और अवैध युक्ति की प्रति-

ज्ञप्तियाँ सत्य हो सकती है। निगमनात्मक तर्कशास्त्र वैधता का अध्ययन करता है, सत्यता का नही।

तो फिर, यह जानने के लिए कि कोई निष्कर्ष सत्य है (अ) यह जानना जरूरी है कि आधारिकाएँ सत्य है और (ब) युक्ति वैध है—अर्थात् यह कि निष्कर्ष आधारिकाओ से तर्कतः निकलता है। युक्ति ५ मे आधारिकाएँ सत्य है, हालाँकि युक्ति वैध नही है, और युक्ति ४ मे आधारिकाएँ असत्य हैं हालाँकि युक्ति वैध है। तर्कशास्त्र पढकर आप जान लेगे कि कौन-सी युक्तियाँ वैध होती हैं। परतु यह जानने के लिए कि किसी युक्ति का निष्कर्ष न केवल वैध रूप से प्राप्त किया गया है बल्कि सत्य भी है, आपको यह जानना होगा कि आधारिकाएँ सत्य है—यह एक ऐसी बात है जिसे तर्कशास्त्र स्वय नही बता पाएगा बल्कि इद्रियानुभव (शायद अन्य चीजो के साथ) बताएगा। अन्य संभावनाओ की अभी हमे जाँच करनी है।

इन दो जरूरी बातो को शायद हम अन्य सदर्भो मे पहले से ही भली भाँति जान गए हैं। यदि आप जानना चाहते हैं कि महीने के अत मे दुकानदार से मिला हुआ बिल सही है या नही तो अलग-अलग राशियो को जोडकर देखना जरूरी है कि दुकानदार का योग सही है या नही। परतु अकेला यह काफी नही है, क्योकि हो सकता है कि बिल मे ऐसी चीजें भी शामिल हो जिन्हे आपने खरीदा ही नही है : यह जाँच भी जरूरी है कि बिल मे शामिल प्रत्येक चीज वही है जो आपने खरीदी है और उसके दाम भी ठीक लगाए गए हैं। जब तक ये दोनो बातें ठीक न पाई जाएँ तब तक आप को यह निश्चय नही होगा कि बिल सही है।

परतु अब शायद हमे लगेगा कि निगमनात्मक तर्क से हम कदापि कोई नई चीज नही सीख सकते, क्योकि युक्ति के निष्कर्ष मे शामिल प्रत्येक बात पहले से ही आधारिकाओ मे शामिल रहती है। इस युक्ति को देखिए :

६. सब मनुष्यो के सिर होते हैं।
   राम एक मनुष्य है।
   इसलिए, राम का सिर है।

कोई कह सकता है कि इस युक्ति का निष्कर्ष पहले से इसकी आधारिकाओ मे शामिल है, और इसलिए वह हमे कोई भी नई बात नही बताता। असल मे साध्य-आधारिका—सब मनुष्यो के सिर होते हैं—के ज्ञान के लिए हमे पहले

ही यह जान लेना होगा कि राम का सिर है ! तो फिर निगमनात्मक तर्क का तथा निगमनात्मक अनुमान के नियमों का क्या उपयोग है ?

जब यह कहा जाता है कि निष्कर्ष आधारिकाओं में पहले से ही शामिल रहता है, तब "शामिल" शब्द अनेकार्थक होता है। जैसे गोली थैले के अंदर शामिल (रखी) रहती है, वैसे निष्कर्ष आधारिकाओं के अंदर अक्षरशः शामिल नहीं होता। और न वह इस अर्थ में शामिल रहता है कि वह आधारिकाओं में विद्यमान है, क्योंकि "राम का सिर है", यह कथन आधारिकाओं में विद्यमान नहीं है। फिर भी, निष्कर्ष आधारिकाओं में इस रूप में शामिल है कि वह उनसे निगमनीय है। परंतु यह कहना उस बात को दोहराना मात्र है जो शुरू में कही जा चुकी है। तो फिर प्रश्न अब भी हमारे सामने यह है (और हम अब उसे "शामिल" शब्द का प्रयोग न करते हुए दोहराएंगे) : जब निष्कर्ष आधारिकाओं से निगमनीय होता है तब क्या हम निष्कर्ष से कोई ऐसी बात सीखते हैं जो हम पहले ही आधारिकाओं को बताते समय नहीं जानते होते ?

इस प्रश्न का यह सीधा-सा उत्तर दिया जा सकता है : कभी हम सीखते हैं और कभी नहीं सीखते। बात सारी युक्ति की जटिलता और व्यक्ति की बुद्धि पर निर्भर करती है। "निगमनात्मक तर्क से हम कोई ऐसी बात सीखते हैं या नहीं जिसे हम पहले से न जानते रहे हों ?" यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। और इसका उत्तर प्रत्येक व्यक्ति के प्रसंग में भिन्न होगा। ऊपर के न्यायवाक्य के प्रसंग में निष्कर्ष शायद हमें कोई नई बात नहीं बताता ; निष्कर्ष में पहुँचने से पहले ही हम जान लेते हैं कि वह क्या है। परंतु, कभी-कभी सरल युक्तियों में भी हम अपेक्षित निष्कर्ष को तुरंत नहीं निकालते, जैसे यहां :

जहाज में सवार प्रत्येक व्यक्ति गायब है।
सुभद्रा जहाज में सवार थी।

और तब एकाएक हमारे मन में यह बात आती है कि यदि ये दोनों कथन सत्य हैं तो सुभद्रा गायब है। यहां हम कह सकते हैं कि हमने कुछ सीखा है। सुभद्रा के बारे में हमें इस बात के अलावा कुछ नहीं बताया गया कि वह जहाज में सवार थी ; यह भी हमने जाना कि जहाज में सवार प्रत्येक व्यक्ति गायब है ; और इस प्रकार किसीने हमें यह नहीं बताया कि सुभद्रा गायब है, फिर भी हम वैध निगमन से जान गए कि सुभद्रा गायब है। क्या उसके बारे में यह तथ्य जानकर हमने नया ज्ञान प्राप्त नहीं किया ?

ज्यो-ज्यो युक्ति अधिक जटिल होती जाती है, त्यो-त्यो यह बात भी अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है। निम्नलिखित युक्ति का निष्कर्ष शायद अधिकतर लोगो के लिए नई बात होगा :

७ यदि गार्ड उस समय सावधान नही था, तो
जब कार आई तब उसने उसे नही देखा।
यदि गवाह का बयान सही है, तो गार्ड उस समय
सावधान नही था।
या तो कार देखी गई थी या कन्हाई कुछ छिपा रहा है।
कन्हाई कुछ नही छिपा रहा है।
इसलिए, गवाह का बयान सही नही है।

पूर्ण तर्क-शक्ति रखनेवाले किसी व्यक्ति के लिए, जो कि प्रत्येक कथन या कथनो के प्रत्येक समुच्चय के निहितार्थ को तत्काल पकड लेता है, निस्सदेह कोई भी निष्कर्ष नई जानकारी के रूप मे नही लगेगा। परतु चूंकि कोई भी आदमी इस शक्ति से सपन्न नही है, इसलिए वैध निगमनात्मक युक्तियो के अनेक निष्कर्ष इस बात के बावजूद नई जानकारी लेकर आते है कि निष्कर्ष आधारिकाओ मे शामिल (यानी उनसे निगमनीय) होता है।

ब आगमनात्मक तर्क पर, सब तर्क निगमनात्मक नही होता। वह आगमनात्मक भी होता है हम आधारिकाओ की सत्यता को जान सकते है, पर हम फिर भी यह नही जानते कि निष्कर्ष सत्य है—आधारिकाएँ निष्कर्ष के लिए साक्ष्य जुटाती हैं पर पूरा साक्ष्य नही। अथवा, दूसरे शब्दो मे, यदि आधारिकाएँ सत्य हो भी, तो भी निष्कर्ष निश्चयात्मक नही होता बल्कि किसी अश मे प्रसभाव्य मात्र होता है। उदाहरण के तौर,

८ कौवा न० १ काला है।
कौवा न० २ काला है।
कौवा न० ३ काला है (और इसी प्रकार आगे भी १०,००० तक)।
इसलिए, सब कौवे काले हैं।

यहाँ यदि हमारी सब १०,००० आधारिकाएँ सत्य भी हो, तो भी इससे निष्कर्ष सिद्ध नही होता। इतनी बहुसख्यक आधारिकाओ से भी यह नही निकलता। पर, प्रसभाव्य वह अवश्य बन जाता है—किस अंश तक, यह बात विवादास्पद है। परतु एक के बजाय दस हजार कौवो की जांच करने और उन सबको

काले पाने के बाद आपका यह कहना कि सब कौवे काले होते हैं, अपेक्षाकृत अधिक उचित तो कम से कम है ही। जब भी हम कुछ नमूने लेते हैं—चाहे वे प्रकृति मे कौवो के हो या एक ठेले के गेहूँ के (यह देखने के लिए कि वे सड़े हुए तो नही हैं) हो—और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उस समूह की सब चीजें अथवा पूरी चीज उन नमूनों के सदृश् है जिनकी हमने जांच की है, तब हम सभी आगमनात्मक तर्क करते हैं। इस प्रकार का आगमन "केवल गणनाश्रित आगमन" कहलाता है।

मान लीजिए कि हमारा निष्कर्ष "सब कौवे काले होते हैं" न होकर "अब हम जो कौवा देखेंगे वह काला होगा" होता। यह सीधा-सादा निष्कर्ष तक हमारी युक्ति की आधारिकाओ से सिद्ध नही हो पाएगा। पर दोनों निष्कर्षों मे एक मजेदार अंतर है : यदि अगला कौवा काला न निकले तो इस बात की प्रसंभाव्यता कि सब कौवे काले होते हैं, घटकर शून्य हो जाएगी (चूंकि हमे एक कौवा ऐसा मिला होगा जो काला नही है, इसलिए वह असत्य सिद्ध होगा); परंतु उसके बाद अगला कौवा काला होगा, इस बात की प्रसभाव्यता तब भी बहुत ऊँची होगी। दुर्भाग्य यह है कि प्रसभाव्यता का सम्प्रत्यय बहुत ही जटिल है और उसमे अनेक बातें ऐसी है कि उन्हे समझने के लिए या उन्हे बताने तक के लिए गणित मे अत्यधिक कुशलता आवश्यक है, जिसके कारण उनकी चर्चा के बिना ही यहाँ हमे काम चलाना होगा।

परंतु, सब आगमन इस प्रकार का नही होता। आगमनात्मक तर्क सदैव "एक, दो, तीन···" से "सब" के बारे मे निष्कर्ष नही निकालता। कभी-कभी निष्कर्ष एक विशेष प्रकार की सब वस्तुओ के बारे मे नही होता बल्कि एक ही चीज के बारे मे होता है।

उदाहरणार्थ,

९ भीकू का खून नीकू के कपडो पर पाया गया।
नीकू को भीकू की मौत से कुछ मिनट पहले
भीकू के घर मे घुसते देखा गया।
भीकू के दिल मे चाकू का घाव पाया गया।
बाद मे नीकू के चाकू पर भीकू का खून पाया गया।
नीकू को एक घटे बाद पुलिस से बचने की

कोशिश करते देखा गया। इत्यादि।

इसलिए, नीकू ने भीकू की हत्या की।

आधारिकाओ मे प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर इस निष्कर्ष मे कुछ प्रसभाव्यता है। पर *अवश्य ही ऐसा हो सकता है कि यह सत्य न हो :* साक्ष्य अभी तक पारिस्थितिक है, और हो सकता है कि सारे सुराग जाली हो। यदि नीकू ने अपराध कबूल भी कर लिया हो तो भी हम निश्चय के साथ यह नही कह सकते कि वह अपराधी है, क्योकि हो सकता है कि उसने झूठे ही अपराध कबूल किया हो। जूरियो को प्राय: प्रसभाव्यता के आधार पर निर्णय करना होता है; वे केवल यह चाहते हैं कि प्रसभाव्यता यथासभव अधिक हो (फौजदारी के मामलो मे "तर्कोचित सदेह से परे" हो)। परंतु यहाँ *प्रसभाव्यता अभी निश्चयात्मकता नही हुई है,* और ऐसे मामलो मे निश्चयात्मकता प्राप्त करना बहुत ही कठिन होता है। मामले को कोई दूसरे रूप मे प्रस्तुत करके यह कह सकता है कि निश्चयात्मकता है; परंतु जो प्रतिज्ञप्ति निश्चयात्मक है वह यह नही है कि नीकू ने भीकू की हत्या की बल्कि यह है कि साक्ष्य प, फ, ब के आधार पर यह प्रसंभाव्य है कि नीकू के द्वारा भीकू की हत्या की गई है। असदिग्ध प्रसंभाव्यता साक्ष्य के बिल्कुल अभाव की अपेक्षा अच्छी है, और दैनिक जीवन मे असख्य परिस्थितियाँ ऐसी आती है जिनमे केवल वही उपलब्ध होती है।

आधारिकाओ के रूप मे जो प्रतिज्ञप्तियाँ यहाँ हैं उनमे वह क्या बात है जो निष्कर्ष को प्रसंभाव्य बनाती है? यदि एक आधारिका "नीकू काला सूट पहिने था" होती तो इसे तब तक एक या दूसरे रूप मे एक साक्ष्य न गिना जाता जब तक हत्या के ठीक बाद भीकू के घर से निकलकर जानेवाला व्यक्ति काला सूट पहिने न देखा गया होता। आगमनात्मक तर्क मे हम प्रकृति के कुछ नियमो पर निर्भर रहा करते हैं। प्रकृति के नियमों के बारे मे चर्चा अध्याय ४ मे की जाएगी। इस समय इतना कह देना काफी है कि प्रकृति के नियम उन एकरूपताओ के कथन हैं जो हमारे अनुभव के दौरान बार-बार दोहराई जाती हैं। हवा से भारी पिंड गिरते हैं; घर्षण से ताप उत्पन्न होता है; समुद्र-तल पर पानी २१२° (फा०) पर खौलता है; इत्यादि। ये और अनगिनत अन्य एकरूपताएँ हमारे अनुभव मे काफी जानी-पहचानी हैं, और इनके आधार पर हम आगमनात्मक तर्क करते हैं। जिन लोगो को छुरा भोका जाता है उनके शरीर

से खून निकलता है, वही खून उनके कपडो या शरीर पर लग सकता है जो ऐसे व्यक्ति के सपर्क मे आते है, इत्यादि। ऊपर दी हुई आगमनात्मक युक्ति मे ऐसी ही एकरूपताओ (इनमे से अधिकतर प्रकृति के नियमो के परिणाम है) का आश्रय लिया गया है। जब हमे ऐसी एकरूपताएँ नही मिलती, तब हम युक्ति की आधारिकाओ मे दी हुई बातो को निष्कर्ष का प्रमाण नही मानते।

मान लीजिए, कोई बीस वर्ष का लडका यह तर्क करता है कि पिछले बीस वर्षो से वह जब भी सुबह नीद से उठा तब वह सध्या के समय जीवित था, और इसलिए यह बहुत प्रसभाव्य है कि वह आज सध्या समय जीवित रहेगा। अब मान लीजिए कि वही नब्बे वर्ष की आयु मे यह तर्क करता है कि अब उस निष्कर्ष के पक्ष मे जिसे उसने बीस वर्ष की आयु मे निकाला था कही अधिक आगमनात्मक प्रमाण है, क्योकि अब वह २० × ३६५ दिना मात्र के बजाय ९० × ३६५ दिनो तक जीवित रह चुका है। पर, हम इस आगमनात्मक तर्क से सहमत नही होंगे। हम कहेगे कि २० की आयु मे दिन के अत मे उसके जीवित रहने की जितनी प्रसभाव्यता थी उससे कही कम ९० की आयु मे है। ऐसा क्यो है ? यह उन अन्य बातो की वजह से है जो हमने जीवित प्राणियो के बारे मे सीखी हैं (१) हम जानते है कि जितने लोग ९० की आयु के बाद जीवित रहते है उनकी अपेक्षा कही अधिक लोग २० की आयु के बाद जीवित रहते हैं। बीस की आयु मे लडके के अधिकतर सहपाठी जीवित होते है, पर ९० की आयु मे नही। (२) जीवो के बारे में हम कुछ जैविक नियम भी जानते हैं वे केवल एक सीमित कालावधि तक ही जीवित रहते है, हृदय क्षीण हो जाता है और ऊतक रुग्ण हो जाते है—इत्यादि, तथा (मनुष्य के प्रसग मे) ९० की आयु औसत आयु से पहले ही काफी अधिक है।

तर्कबुद्धि यहाँ तक हमने तर्क के विभिन्न प्रकारो पर विचार किया है। तर्कमूलक ज्ञान का स्रोत असल मे तर्कबुद्धि है। तर्क एक ऐसी बात है जिसे आप करते हैं, पर तर्कबुद्धि एक योग्यता है—तर्कबुद्धि सोचने की योग्यता है और तर्कबुद्धि की जो शक्ति आपके अदर है वह आपकी सोचने की योग्यता की मात्रा है। यही अर्थ है जिसमे मनुष्य तर्कबुद्धिशील प्राणी कहलाता है। यदि हम सोच न सकते तो ज्ञान बिलकुल भी प्राप्त न कर सकते। इस शक्ति का होना किसी भी तरह के ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपरिहार्य है, यहाँ तक कि इद्रियानुभव मे होनेवाले ज्ञान के लिए भी अनिवार्य है। मेरे सामने जो चीज

है वह एक पुस्तक है, इस प्रतिज्ञप्ति का कथन करने या इसे समझने के लिए शब्दों को समझने और संप्रत्यय-निर्माण की शक्ति चाहिए। यह ठीक है कि यदि आपको इंद्रियानुभव न हो तो आप ऐसा कह नही सकेंगे ; पर ऐसा आप तब भी नही कह सकेंगे यदि तर्कबुद्धि की शक्ति आपमें न हो।

"परंतु, किसी चीज को पुस्तक के रूप में पहचानने के लिए आपका इस प्रतिज्ञप्ति का कथन करना आवश्यक नहीं है कि यह एक पुस्तक है।" ठीक है, पर आपमे कम से कम अपने अनुभव मे किसी चीज को उसमे रहनेवाली कुछ विशेषताओ के आधार पर पुस्तक के रूप में पहचानने की योग्यता तो होनी चाहिए। और, इस बात के लिए पहले ही अपाकर्पण की काफी बड़ी शक्ति चाहिए : यह आवश्यक है कि आप अपने अनुभव मे बार-बार आनेवाली विभिन्न विशेषताओ (रंग, विस्तार, आयताकृति, पृष्ठ इत्यादि) को पहचान सकें और तब उस चीज को एक पुस्तक के रूप मे पहचान सकें जो आपकी इंद्रियों के सामने उन विशेषताओं के एक विशेष संयोग को प्रस्तुत करती है। अनुभव के पूरे गड्डमड्ड मे से इस एक चीज को अलग करने के लिए और उसके एक पुस्तक के रूप में वर्गीकरण के लिए आपमें अनुभव की विशेषताओं को पहचानने की तथा उन विशेषताओं को शेष सब विशेषताओं से पृथक् करने की योग्यता होनी चाहिए और इसके लिए ज्ञानेंद्रियों के प्रयोग से कही अधिक भिन्न एक बात की जरूरत होती है : इसके लिए बुद्धि की—तर्कबुद्धि की—जरूरत होती है। आपके इस निर्णय के लिए कि यह एक पुस्तक है, इंद्रियानुभव कच्ची सामग्री प्रदान करता है, पर तर्कबुद्धि के बिना आप इस निर्णय को बिल्कुल भी सूत्रबद्ध नही कर पाएँगे, शब्दहीन रूप में भी नही। "निम्न श्रेणी के पशुओं" मे से कुछ अलग-अलग मात्राओं में इस शक्ति को रखते हैं : एक कुत्ता एक बिल्ली को पहचान सकता है और अपने आस-पास की अन्य चीजों से उसका भेद जानता है ; परंतु, इस पशु मे अपाहरण की शक्ति जितनी मात्रा मे है वह मनुष्य की इस शक्ति की तुलना में कही कम है। इस प्रकार तर्कबुद्धि सारे ज्ञान के लिए सबसे पहले आवश्यक होती है।

परंतु, कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें "तर्कबुद्धि के सत्य" कहते हैं और जिन्हें हम पहले से जानते प्रतीत होते हैं। हम उन्हें इंद्रियानुभव से नहीं जानते और न उन्हे तर्क से जानते हैं। उदाहरणार्थ,

एक पुस्तक एक पुस्तक है।

एक चीज एक ही समय दो स्थानों में नहीं हो सकती ।
एक चीज एक ही समय पूरी-की-पूरी काली और
पूरी-की-पूरी सफेद
नहीं हो सकती।
एक चीज पुस्तक और पुस्तक-नहीं, दोनों
नहीं हो सकती ।
कोई एक स्वाद को नहीं सूंघ सकता और
एक गंध को नही चख सकता ।

इस प्रकार के अनेक कथन होते हैं जिन्हें हम तर्क से नहीं जानते, और (ऐसा लगेगा कि) इंद्रियानुभव से भी नहीं जानते । आप इंद्रियानुभव से यह जान सकते हैं की एक किताब हरी है या नीली है, परंतु इंद्रियानुभव यह कैसे बताएगा कि एक पुस्तक एक पुस्तक है ? आप यह तो देख सकते हैं कि पुस्तक इस या उस स्थिति में है ; परंतु आप यह कैसे "देख" सकते हैं कि वह एक ही समय इस और उस दोनों स्थानों में नही हो सकती ? इस प्रकार के कथन हमें दर्शन के अध्ययन में बार-बार मिलते रहेंगे, पर अध्याय ३ में अधिकांशतः इस प्रकार के कथनो पर और इस बात पर विचार किया जाएगा कि उन्हें हम कैसे जानते हैं । तब तक के लिए हम उनपर विचार स्थगित रखेंगे ।

क्या ज्ञान के कोई और स्रोत हैं ? नीचे कुछ और स्रोत बताए जाते हैं, पर इनकी स्थिति विवादास्पद है :

३. आप्तप्रमाण : "मैं जानता हूँ कि यह सत्य है, क्योंकि श्री क ऐसा कहते हैं और श्री क इस विषय में प्रमाण (अधिकारी विद्वान्) हैं" । जब हमसे कोई पूछता है कि हम एक वाक्य को सत्य कैसे जानते हैं, तब हम प्रायः ऐसे ही कथनों से आप्तप्रमाण का आश्रय लेते हैं, और बहुधा हम उस वाक्य की जांच की चिंता किए बिना ही उसे सत्य मान लेते हैं ।

जितने भी वाक्य हम सुनते या पढ़ते है उनकी संख्या लगभग अनंत है, और उनमें से अनेक ऐसे होते हैं जिनकी सत्यता का निश्चय करने के लिए वर्षों तक छानबीन की आवश्यकता होगी । पर जीवन छोटा है और सामने आनेवाले प्रत्येक वाक्य की सत्यता की जांच कर पाना हमारे लिए असंभव है । फलतः या तो हम वाक्यों को बहुत विशाल संख्या मे आप्तप्रमाण के आधार पर सत्य मान लेते हैं या उनके बारे में अपने निर्णय को स्थगित रखते है । यदि हम स्वयं रसायन की एक प्रारंभिक पुस्तक के प्रत्येक वाक्य की सचाई का पता

लगाने की कोशिश करें—कार्बनिक अणुओं की रासायनिक रचना, ग्रेनाइट का किन रसायनो मे विलय होगा, क्या कोई ऐसी चीज है जिससे तथाकथित अक्रिय गैसें सयुक्त हो सकेंगी, और इसी तरह की असख्य बातो की सचाई का—तो इसमे हमारी पूरी आयु से भी अधिक वर्ष लग जाएँगे। इस सब बातो की स्वयं छानबीन करना शायद हम अधिक पसद करेंगे, पर हम ऐसा कर नही सकते। इसलिए, एक व्यावहारिक उपाय के बतौर हम प्राय. लेखक की बात को मान लेते हैं और शायद इस विश्वास के साथ मान लेते हैं कि यदि उसने पुस्तक मे कोई असत्य बात लिखी हो तो उसके अनेक सहयोगी और पाठक उमे भूल मे सुधार करने के लिए लिख देंगे। फिर भी, कई सावधानियां रखनी चाहिए .

१ जिस व्यक्ति की बात को हम प्रमाण मानते हैं उसे वास्तव मे एक आप्तपुरुष होना चाहिए, यानी ज्ञान के अपने क्षेत्र मे वह एक विशेषज्ञ हो। हम हर किसी की बात को नही मान सकते। यदि कोई एक क्षेत्र मे आप्त है तो इससे वह किसी दूसरे क्षेत्र मे भी आप्त नही बन जाता। एक आदमी भौतिकी का विशेषज्ञ हो सकता है, पर इससे हमारा अतर्राष्ट्रीय सबधो के बारे मे उसके कथनो को प्रमाण मान लेना उचित नही हो जाता।

२ कुछ बातो के बारे मे "स्वय डाक्टरो मे ही मतभेद है"। जब आप्त-पुरुष ही स्वय परस्पर भिन्न मत रखते हो, तब हम फिलहाल निर्णय को केवल स्थगित ही रख सकते हैं। मनश्चिकित्सक प्राय रोगी के निदान के बारे मे अलग-अलग मत रखते हैं, परतु रसायनज्ञ सीसे के गलनाक के बारे मे मतभेद नही रखते।

३ जब भी एक आदमी दूसरे के कथन को प्रमाण मान लेता है, तब ऐसा होना चाहिए कि यदि वह समय दे सके और कष्ट कर सके तो स्वय ही छानबीन करके यह पता लगा सकता हो कि वह कथन सत्य है या नही। हम स्वय सीसे के गलनाक की जाँच कर सकते हैं, हालांकि प्राय हम यह कष्ट नही करते। हम आइसटाइन के आपेक्षिकता-सिद्धात की सत्यता तक की जाँच कर सकते हैं, हालांकि इसके लिए वर्षों तक विशेष प्रशिक्षण लेना होगा और तकनीकी प्रयोग करने होगे। परतु यदि कोई कहे कि "केवल अल्ला है, ईश्वर नही है" और यह आशा करे कि हम इसलिए उसके शब्दो पर विश्वास कर लेंगे कि वह इस्लाम का एक पडित है तो हमे मानना होगा कि यह कथन एक बिलकुल ही भिन्न कोटि का है। वह इस्लाम के इतिहास और रीति-रिवाजो का एक

एक चीज एक ही समय दो स्थानों में नहीं हो सकती ।
एक चीज एक ही समय पूरी-की-पूरी काली और
पूरी-की-पूरी सफेद
नहीं हो सकती।
एक चीज पुस्तक और पुस्तक-नहीं, दोनों
नहीं हो सकती ।
कोई एक स्वाद को नहीं सूंघ सकता और
एक गंध को नहीं चख सकता ।

इस प्रकार के अनेक कथन होते हैं जिन्हें हम तर्क से नहीं जानते, और (ऐसा लगेगा कि) इंद्रियानुभव से भी नहीं जानते । आप इंद्रियानुभव से यह जान सकते हैं की एक किताब हरी है या नीली है, परंतु इंद्रियानुभव यह कैसे बताएगा कि एक पुस्तक एक पुस्तक है ? आप यह तो देख सकते हैं कि पुस्तक इस या उस स्थिति में है ; परंतु आप यह कैसे "देख" सकते हैं कि वह एक ही समय इस और उस दोनों स्थानों में नहीं हो सकती ? इस प्रकार के कथन हमें दर्शन के अध्ययन में बार-बार मिलते रहेंगे, पर अध्याय ३ में अधिकांशतः इस प्रकार के कथनों पर और इस बात पर विचार किया जाएगा कि उन्हें हम कैसे जानते हैं । तब तक के लिए हम उनपर विचार स्थगित रखेंगे ।

क्या ज्ञान के कोई और स्रोत हैं ? नीचे कुछ और स्रोत बताए जाते हैं, पर इनकी स्थिति विवादास्पद है :

३. आप्तप्रमाण : "मैं जानता हूँ कि यह सत्य है, क्योंकि श्री क ऐसा कहते हैं और श्री क इस विषय में प्रमाण (अधिकारी विद्वान्) हैं" । जब हमसे कोई पूछता है कि हम एक वाक्य को सत्य कैसे जानते हैं, तब हम प्रायः ऐसे ही कथनों से आप्तप्रमाण का आश्रय लेते हैं, और बहुधा हम उस वाक्य की जांच की चिंता किए बिना ही उसे सत्य मान लेते हैं ।

जितने भी वाक्य हम सुनते या पढ़ते हैं उनकी संख्या लगभग अनंत है, और उनमें से अनेक ऐसे होते हैं जिनकी सत्यता का निश्चय करने के लिए वर्षों तक छानबीन की आवश्यकता होगी । पर जीवन छोटा है और सामने आनेवाले प्रत्येक वाक्य की सत्यता की जांच कर पाना हमारे लिए असंभव है । फलतः या तो हम वाक्यों को बहुत विशाल संख्या में आप्तप्रमाण के आधार पर सच मान लेते हैं या उनके बारे में अपने निर्णय को स्थगित रखते हैं । यदि हम स्वयं रसायन की एक प्रारंभिक पुस्तक के प्रत्येक वाक्य की सचाई का पता

लगाने की कोशिश करें—कार्बनिक अणुओ की रासायनिक रचना, ग्रेनाइट का किन रसायनो मे विलय होगा, क्या कोई ऐसी चीज है जिससे तथाकथित अक्रिय गैसें सयुक्त हो सकेंगी, और इसी तरह की असख्य बातो की सचाई का—तो इसमे हमारी पूरी आयु से भी अधिक वर्ष लग जाएँगे। इस सब बातो की स्वयं छानबीन करना शायद हम अधिक पसद करेंगे, पर हम ऐसा कर नही सकते। इसलिए, एक व्यावहारिक उपाय के बतौर हम प्राय. लेखक की बात को मान लेते हैं और शायद इस विश्वास के साथ मान लेते है कि यदि उसने पुस्तक मे कोई असत्य बात लिखी हो तो उसके अनेक सहयोगी और पाठक उसे भूल मे सुधार करने के लिए लिख देगे। फिर भी, कई सावधानियाँ रखनी चाहिए :

१ जिस व्यक्ति की बात को हम प्रमाण मानते हैं उसे वास्तव मे एक आप्तपुरुष होना चाहिए, यानी ज्ञान के अपने क्षेत्र मे वह एक विशेषज्ञ हो। हम हर किसी की बात को नही मान सकते। यदि कोई एक क्षेत्र मे आप्त है तो इससे वह किसी दूसरे क्षेत्र मे भी आप्त नही बन जाता। एक आदमी भौतिकी का विशेषज्ञ हो सकता है, पर इससे हमारा अतर्राष्ट्रीय संबधो के बारे मे उसके कथनो को प्रमाण मान लेना उचित नही हो जाता।

२ कुछ बातो के बारे मे "स्वय डाक्टरो मे ही मतभेद है"। जब आप्त-पुरुष ही स्वय परस्पर भिन्न मत रखते हो, तब हम फिलहाल निर्णय को केवल स्थगित ही रख सकते हैं। मनश्चिकित्सक प्राय रोगी के निदान के बारे मे अलग-अलग मत रखते हैं, परतु रसायनज्ञ सीसे के गलनाक के बारे मे मतभेद नही रखते।

३ जब भी एक आदमी दूसरे के कथन को प्रमाण मान लेता है, तब ऐसा होना चाहिए कि यदि वह समय दे सके और कष्ट कर सके तो स्वय ही छानबीन करके यह पता लगा सकता हो कि वह कथन सत्य है या नही। हम स्वयं सीसे के गलनाक की जाँच कर सकते हैं, हालाँकि प्राय हम यह कष्ट नही करते। हम आइसटाइन के आपेक्षिकता-सिद्धात की सत्यता तक की जाँच कर सकते हैं, हालाँकि इसके लिए वर्षों तक विशेष प्रशिक्षण लेना होगा और तकनीकी प्रयोग करने होंगे। परतु यदि कोई कहे कि "केवल अल्ला है, ईश्वर नहीं है" और यह आशा करे कि हम इसलिए उसके शब्दो पर विश्वास कर लें कि यह इस्लाम का एक पडित है तो हमे मानना होगा कि यह कथन एक बिल्कुल ही भिन्न कोटि का है। यह इस्लाम के इतिहास और रीति रिवाजो का एक

विशेषज्ञ हो सकता है, और हम उसकी सूचनाओं तथा इतिहास-संबंधी विद्वत्ता की जाँच कर सकते हैं; परंतु यह कथन कि कोई ईश्वार नही है, सिर्फ अल्ला है, कुछ ऐसा है कि इसकी कोई जाँच नही कर सकता। जब हम यही नहीं जानते कि वह ऐसे दावे की कैसे जाँच कर पाएगा, तब स्वयं भी हमारे लिए उसकी जाँच करना कैसे संभव है ? और यदि उसे आप्त मानकर हम उसकी बात मान लें, तो उसी आधार पर यहूदी धर्म के विशेषज्ञ की इस बात को मानने से हम कैसे रुक सकेंगे कि "कोई ईश्वर नही है, सिर्फ जेहोवा है", हालाँकि ये दोनो कथन परस्पर व्याघाती हैं और दोनों सत्य नही हो सकते (यह मानते हुए कि "अल्ला" और "जेहोवा" एक ही वास्तविक या तथाकथित सत्ता के दो नाम नही हैं) ?

लेकिन, आप्तप्रमाण के बारे मे एक आधारभूत बात यह है कि आप्तपुरुष चाहे कितना ही विश्वसनीय क्यो न हो, और जाँच करने पर उसके कथन चाहे कितनी ही बार सत्य क्यो न निकले हो, वह ज्ञान का प्राथमिक स्रोत नही हो सकता। यदि आप एक वाक्य पर इसलिए विश्वास करते हैं कि वह एक आप्तपुरुष क, का कथन है, तो क को उसका ज्ञान अवश्य ही आप्तप्रमाण से नही हुआ होगा। उसे उसका ज्ञान जिसके सत्य होने का वह दावा करता है, आप्तप्रमाण से भिन्न किसी उपाय से ही होना चाहिए। निश्चय ही, ऐसा हो सकता है कि आप क के कहने से उसपर विश्वास करते हो और क (जो स्वयं आप्तपुरुष नही है) ख के कहने से, जो कि स्वयं आप्तपुरुष है। परंतु, उस अवस्था मे ख को उसका ज्ञान किसीके आप्तत्व के आधार पर नही बल्कि इस आधार पर होना चाहिए कि उसने संबंधित तथ्यो की छानबीन की है और वाक्य को शायद इंद्रियानुभव से (जिसके लिए वर्षों तक जाँच-कार्य की एक शृंखला शायद चलती रही होगी, जैसाकि कीटों के व्यवहार पर अनुसंधान करनेवाला एक प्राणिविज्ञानी करता है), या शायद तर्क से, बल्कि अधिक प्रसंभाव्य यह है कि दोनों ही के सम्मिलित रूप से सत्य जाना है। और यदि हम क या ख के कहने से उसकी बात को मानते है तो ऐसा हम, जो कि आप्तपुरुष नही हैं, केवल इसलिए करते हैं कि हमारे पास क या ख की बात को सत्य मानने का कोई हेतु है। उसपर विश्वास करने का हमारे पास हेतु है यदि उसकी कही हुई कुछ बातों की हमने जाँच की और उन्हे सत्य पाया है, यदि इस समय जो बात उसने कही है उसकी जाँच की जा सकती है, यदि

अपने पिछले अनुभव से हम जानते हैं कि क एक विश्वसनीय व्यक्ति है जो झूठे दावे नही करता, और यदि उसकी कही हुई बात किसी ऐसी अन्य बात का विरोध नही करती जिसे हम पहले से ही सत्य जानते हैं। लेकिन इन शर्तों के पूरी होने के बावजूद इस बात की कोई गारटी नही है कि इस समय क जो बात कहता है वह सत्य है ही। यदि हम उसे स्वीकार करते हैं तो ऐसा हम अपने दायित्व पर करते हैं।

४ अत प्रज्ञा · "मैं अत प्रज्ञा से जानता हूँ", "मेरे अदर एक कौंध सी हुई और एकाएक सब मेरी समझ मे आ गया", "मुझे ऐसी अत प्रज्ञा हो रही है कि आपकी तबियत ठीक नही है", "अत प्रज्ञा से मुझे ज्ञात हो रहा है कि वापस सभ्य समाज मे पहुँचने की दिशा यह है', इत्यादि। ये सब कहने के जाने पहचाने तरीके है। अत प्रज्ञा से किसी बात को जानने के दावे प्राय बहुत किए जाते है।

अत प्रज्ञा क्या है ? हम यहाँ इस शब्द की सही सही परिभाषा देने की कोशिश नही करेंगे। हम यह भी मान सकते है कि शब्दो से इसकी परिभाषा नही बताई जा सकती। जो भी हो, "अत प्रज्ञा" शब्द अपने सर्वाधिक सीमित अर्थ मे एक विशेष प्रकार के अनुभव का नाम मात्र है, जिसको (अनेक अन्य अनुभवो की तरह) बताना आसान नही है। हमारे मन मे एकाएक कोई विश्वास "आतरिक प्रकाश' की तरह प्रकट हो जाता है और तत्काल हमे निश्चय हो जाता है कि जो बात चमक की तरह मन मे आई है वह सत्य है। वे अनुभव जिन्हे आम तौर पर अत प्रज्ञा कहा जाता है एकाएक होते हैं जैसे कि मानो चकाचौंध कर देनेवाली कौंध हुई हो। यदि विश्वास को होने म महीनो या वर्षों लगे हा तो उसके अत प्रज्ञा कहलाने की सभावना कम होगी। अत प्रज्ञा एक ऐसा अनुभव है जिसपर शायद ही सदेह किया जाएगा। निस्सदेह हम सभी को ऐसे अनुभव हो चुके हैं जिन्ह हम अत प्रज्ञा कहेंगे।

परन्तु जिस प्रश्न से हमारा सबध है वह केवल यह है कि अत प्रज्ञा को तब स्वीकार किया जाना चाहिए या नही जब उससे किसी ज्ञान की प्राप्ति का दावा किया जाता है। यदि एक सगीतकार को अपनी अगली धुन बनाने के लिए "एकाएक अत प्रज्ञा" होती है, तो जब तक वह उस अत प्रज्ञा के द्वारा किसी चीज का ज्ञान होने का दावा नही कर रहा है तब तक उसके बारे मे सदेह प्रकट करने की कोई जरूरत ही नही है। एक कौंध की तरह केवल कुछ

प्रेरणा उसे मिली है। परतु, यदि कोई यह दावा करता है कि अत प्रज्ञा से वह एक प्रतिज्ञप्ति को सत्य जानता है, तो उसके बारे मे थोडे-से प्रश्न उससे पूछ लेना ठीक रहेगा। प्रश्न उसे ऐसे अनुभव के होने के बारे मे नही होगा बल्कि उसके बारे मे होगा जिसे इस अनुभव से जानने का वह दावा करता है। (ज्ञान-विषयक चर्चा मे वह अत प्रज्ञा तभी शामिल होगी जब वह एक प्रतिज्ञप्ति के रूप मे हो।)

पहले यह बात दिया जाए कि जितना हम अत प्रज्ञा से जानने का दावा करते है उसमे से अधिकाश वास्तव मे वह नही होता। एक व्यक्ति कमरे में आता है और उसे उस वस्तु को ढूंढने को कहा जाता है जो एक दल के व्यक्तियो ने छिपा दी है (जैसे अगुश्ताना छिपाने के खेल मे)। वह व्यक्ति तुरत ध्यान से देखता है कि कमरे के किस भाग से दल के लोग नजरें बचा रहे है, और सही-सहा बता देता है कि वस्तु वही है। यह पूछे जाने पर कि उसने कैसे जाना, वह कह सकता है कि अत प्रज्ञा से, जो कि बजाय इसके कि वह निष्कर्ष पर पहुँचने के सीधे-सादे ढग को बता दे, लोगो को अधिक प्रभावित करेगा। बहुत-से लोग दूसरो के व्यवहार मे बहुत सूक्ष्म सकेतो को भी बहुत जल्दी पकड लेते है और समूह के मतलब को भाँप लेते है या सही-सही पता लगा लेते है कि श्रोता थक गए हैं या दिलचस्पी नही ले रहे हैं। वे इस निष्कर्ष पर जल्दी और सूक्ष्म प्रेक्षण (इद्रियानुभव) के आधार पर पहुँचते है, न कि, जैसा वे दावा करते है, अत प्रज्ञा से। अत, यह सावधानी रखी जाए कि हम अन्य साधनो से प्राप्त ज्ञान को लेकर ही भ्रम से यह दावा न कर बैठे कि हमे अत प्रज्ञा से वह ज्ञान हुआ है।

१ यह बात प्रसिद्ध है कि अलग-अलग लोगो की अत प्रज्ञाओ मे परस्पर विरोध होता है। यदि मैं एक प्रतिज्ञप्ति को अत प्रज्ञा से जानने का दावा करता हूँ, तो आप ठीक उसकी विरोधी प्रतिज्ञप्ति को अत प्रज्ञा से जानने का दावा कर सकते हैं। तब फिर हम क्या करेंगे ? ऐसा लगेगा कि "यहाँ तर्क समाप्त होना है और लडाई शुरू हो जाती है"। यह सच है कि ऐसी लडाई का कभी-कभी फैसला भी हो जाता है। यदि आपको यह अत प्रज्ञा होती है कि कल वर्षा होगी और मुझे यह होती है कि नही होगी, तो हम कल तक प्रतीक्षा करके यह पता लगा सकते हैं कि किसका दावा सही है। परतु, कल जब हमे पता चलेगा तब पता इद्रियानुभव (वर्षा को देखने इत्यादि) से चलेगा, न कि

अंतःप्रज्ञा से। दो परस्पर विरोधी अंतःप्रज्ञाओं में से सत्यासत्य का निर्णय स्वयं अंतःप्रज्ञा नहीं कर सकती।

मान लीजिए कि आपने दो परस्पर विरोधी अंतःप्रज्ञाओं में से कौन सत्य है, इस बात का अंतःप्रज्ञा से जानने का दावा किया है। दो अंतःप्रज्ञाओं के झगड़े का निर्णय करनेवाली यह आपकी अधि-अंतःप्रज्ञा है। तब आप कैसे जानेंगे कि आपकी अधि-अंतःप्रज्ञा सत्य है ? उस आदमी को आप क्या बताएँगे जो यह दावा करता है कि उसे आपके विपरीत अधि-अंतःप्रज्ञा हुई है ? स्वयं अंतःप्रज्ञा के दायरे के अंदर रहते हुए इसका कोई जवाब नहीं मिलेगा : झगड़े के निपटारे के लिए आपको इस दायरे से बाहर निकलना होगा। संक्षेप में : सब अंतःप्रज्ञाएँ सत्य नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे कभी-कभी परस्पर-विरुद्ध होती हैं ; और स्वयं अंतःप्रज्ञा में ऐसी कोई कसौटी नहीं मिल सकती जो सच्चे और झूठे दावों के बीच भेद कर सके।

२. परंतु, *यदि अंतःप्रज्ञाओं में कभी विरोध न हो, तो भी अंतःप्रज्ञा के द्वारा कुछ जानने का दावा उचित नहीं होगा।* हर एक यह मानेगा कि प्रतिज्ञप्ति प सत्य है और उसे अंतःप्रज्ञा से जानने का दावा करेगा, पर इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि प सत्य है।

यदि आप कहें कि "मैं अंतःप्रज्ञा से जानता हूँ", तो इससे इस बात का वास्तव में स्पष्टीकरण नहीं होता कि आप कैसे जानते हैं। हो सकता है कि आप किसी सही निष्कर्ष पर पहुँच जाएँ और यह न जानें कि आपको वह कैसे प्राप्त हुआ। परंतु यह कहना कि "मैं अंतःप्रज्ञा से जानता हूँ" आपकी क्या मदद करेगा ? यदि आपको ज्ञान हुआ ही हो, तो क्या यह कह देने से सचमुच ही इस बात का स्पष्टीकरण हो जाएगा कि आप उसे कैसे जान पाए ? "अंतःप्रज्ञा" शब्द का उपयोग जब ज्ञान के किसी दावे को उचित सिद्ध करने के लिए किया जाता है, तब असल में हम उतने ही अंधेरे में होते हैं जितने में पहले थे। हम तब भी नहीं जानते कि कैसे वह व्यक्ति जो किसी बात का ज्ञान होने की बात कहता है, उस बात को जान पाया (यदि वाकई उसे वह ज्ञान हुआ हो तो)। "अंतःप्रज्ञा" की बात से हम केवल इतना ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि "वह नहीं जानता कि उसने कैसे जाना (बशर्ते उसने जाना हो)"। एक व्याख्या के रूप में अंतःप्रज्ञा की बात बिलकुल थोथी है। निस्संदेह मैं जानता हूँ कि मुझे अंतःप्रज्ञा हुई है (मुझे यह अनुभव हुआ है जिसे मैं "अंतःप्रज्ञा का

प्रेरणा उसे मिली है। परतु, यदि कोई यह दावा करता है कि अत प्रज्ञा से वह एक प्रतिज्ञप्ति को सत्य जानता है, तो उसके बारे मे थोडे-से प्रश्न उससे पूछ लेना ठीक रहेगा। प्रश्न उसे ऐसे अनुभव के होने के बारे मे नही होगा बल्कि उसके बारे मे होगा जिसे इस अनुभव से जानने का वह दावा करता है। (ज्ञान-विषयक चर्चा मे वह अत प्रज्ञा तभी शामिल होगी जब वह एक प्रतिज्ञप्ति के रूप मे हो।)

पहले यह बात दिया जाए कि जितना हम अत प्रज्ञा से जानने का दावा करते हैं उसमे से अधिकाश वास्तव मे वह नही होता। एक व्यक्ति कमरे मे आता है और उसे उस वस्तु को ढूंढने को कहा जाता है जो एक दल के व्यक्तियो ने छिपा दी है (जैसे अगुश्ताना छिपाने के खेल में)। वह व्यक्ति तुरत ध्यान से देखता है कि कमरे के किस भाग से दल के लोग नजरें बचा रहे है, और सही-सहा बता देता है कि वस्तु वही है। यह पूछे जाने पर कि उसने कैसे जाना, वह कह सकता है कि अत प्रज्ञा से, जो कि बजाय इसके कि वह निष्कर्ष पर पहुँचने के सीधे-सादे ढग को बता दे, लोगो को अधिक प्रभावित करेगा। बहुत-से लोग दूसरो के व्यवहार मे बहुत सूक्ष्म सकेतो को भी बहुत जल्दी पकड लेते है और समूह के मतलब को भाँप लेते है या सही सही पता लगा लेते है कि श्रोता थक गए हैं या दिलचस्पी नही ले रहे हैं। वे इस निष्कर्ष पर जल्दी और सूक्ष्म प्रेक्षण (इद्रियानुभव) के आधार पर पहुँचते है, न कि, जैसा वे दावा करते है, अत प्रज्ञा से। अत, यह सावधानी रखी जाए कि हम अन्य साधनो से प्राप्त ज्ञान को लेकर ही भ्रम से यह दावा न कर बैठे कि हमे अत प्रज्ञा से वह ज्ञान हुआ है।

१ यह बात प्रसिद्ध है कि अलग-अलग लोगो की अत प्रज्ञाओ मे परस्पर विरोध होता है। यदि मैं एक प्रतिज्ञप्ति को अत प्रज्ञा से जानने का दावा करता हूँ, तो आप ठीक उसकी विरोधी प्रतिज्ञप्ति को अत प्रज्ञा से जानने का दावा कर सकते हैं। तब फिर हम क्या करेंगे? ऐसा लगेगा कि "यहाँ तर्क समाप्त होना है और लडाई शुरू हो जाती है"। यह सच है कि ऐसी लडाई का कभी-कभी फैसला भी हो जाता है। यदि आपको यह अत प्रज्ञा होती है कि कल वर्षा होगी और मुझे यह होती है कि नही होगी, तो हम कल तक प्रतीक्षा करके यह पता लगा सकते हैं कि किसका दावा सही है। परतु, कल जब हमे पता चलेगा तब पता इद्रियानुभव (वर्षा को देखने इत्यादि) से चलेगा, न कि

अंतःप्रज्ञा से। दो परस्पर विरोधी अंतःप्रज्ञाओं में से सत्यासत्य का निर्णय स्वयं अंतःप्रज्ञा नही कर सकती।

मान लीजिए कि आपने दो परस्पर विरोधी अंतःप्रज्ञाओं में से कौन सत्य है, इस बात का अंतःप्रज्ञा से जानने का दावा किया है। दो अंतःप्रज्ञाओं के झगड़े का निर्णय करनेवाली यह आपकी अधि-अंतःप्रज्ञा है। तब आप कैसे जानेंगे कि आपकी अधि-अंतःप्रज्ञा सत्य है ? उस आदमी को आप क्या बताएँगे जो यह दावा करता है कि उसे आपके विपरीत अधि-अंतःप्रज्ञा हुई है ? स्वयं अंतःप्रज्ञा के दायरे के अंदर रहते हुए इसका कोई जवाब नहीं मिलेगा : झगड़े के निपटारे के लिए आपको इस दायरे से बाहर निकलना होगा। संक्षेप में: सब अंतःप्रज्ञाएँ सत्य नहीं हो सकती, क्योकि वे कभी-कभी परस्पर-विरुद्ध होती है ; और स्वयं अंतःप्रज्ञा में ऐसी कोई कसौटी नही मिल सकती जो सच्चे और झूठे दावों के बीच भेद कर सके।

२. परंतु, यदि अंतःप्रज्ञाओं में कभी विरोध न हो, तो भी अंतःप्रज्ञा के द्वारा कुछ जानने का दावा उचित नहीं होगा। हर एक यह मानेगा कि प्रतिज्ञप्ति प सत्य है और उसे अंतःप्रज्ञा से जानने का दावा करेगा, पर इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि प सत्य है।

यदि आप कहें कि "मैं अंतःप्रज्ञा से जानता हूँ", तो इससे इस बात का वास्तव में स्पष्टीकरण नही होता कि आप कैसे जानते हैं। हो सकता है कि आप किसी सही निष्कर्ष पर पहुँच जाएँ और यह न जानें कि आपको वह कैसे प्राप्त हुआ। परंतु यह कहना कि "मैं अंतःप्रज्ञा से जानता हूँ" आपकी क्या मदद करेगा ? यदि आपको ज्ञान हुआ ही हो, तो क्या यह कह देने से सचमुच ही इस बात का स्पष्टीकरण हो जाएगा कि आप उसे कैसे जान पाए ? "अंतःप्रज्ञा" शब्द का उपयोग जब ज्ञान के किसी दावे को उचित सिद्ध करने के लिए किया जाता है, तब असल में हम उतने ही अंधेरे मे होते हैं जितने में पहले थे। हम तब भी नहीं जानते कि कैसे वह व्यक्ति जो किसी बात का ज्ञान होने की बात कहता है, उस बात को जान पाया (यदि वाकई उसे वह ज्ञान हुआ हो तो)। *"अंतःप्रज्ञा" की बात से हम केवल इतना ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि* "वह नही जानता कि उसने कैसे जाना (बशर्ते उसने जाना हो)"। *एक व्याख्या के रूप मे अंतःप्रज्ञा की बात बिल्कुल थोथी है।* निस्संदेह मैं जानता हूँ कि मुझे अंतःप्रज्ञा हुई है (मुझे वह अनुभव हुआ है जिसे मैं "अंतःप्रज्ञा का

होता" कहता हूँ), परंतु इससे मैं यह नहीं जानता कि इस अनुभव के आधार पर जिस बात का दावा मैं करता हूँ वह सत्य है ।

"परंतु, यदि एक आदमी साल भर तक प्रतिदिन एक भविष्यवाणी करता है और अंत:प्रज्ञा से उसकी सत्यता को जानने का दावा करता है, और उसकी भविष्यवाणी हर बार सत्य निकलती है, तो क्या होगा ?" मान लीजिए कि एक लड़का है जिसे बहुत जोर से डोलने पर यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि अगले दिन की घुडदौड़ में कौन घोड़ा जीतेगा, और जिसके जीतने की वह भविष्यवाणी करता है वह सदैव सचमुच जीतता है । ऐसी दशा में निस्संदेह हमारा उस लड़के की भविष्यवाणियों की सत्यता पर शर्त लगाना उचित होगा । परंतु, तब भी यह हम नहीं जान सकेंगे कि वह लड़का सही भविष्यवाणियाँ कैसे कर पाता है । जैसा कि हम देख चुके है, "अंत:प्रज्ञा के द्वारा" कहना हमें उनके "सत्य होने की प्रक्रिया" के बारे में कुछ नही बताएगा । "अंत:प्रज्ञा" शब्द हमारे अज्ञान को छिपाने मात्र के लिए प्रयुक्त एक शब्द है । उसके प्रयोग से केवल यह प्रकट होता है कि वह नही जानता कि कैसे वह वैसी भविष्यवाणी कर पाया । यदि हमें उसकी सफल भविष्यवाणियों का कारण बताने को कहा जाए, तो हम कुछ भी नही बता पाएँगे । वास्तव में ऐसा होता नही है । लोगों की अंत:प्रज्ञाओं का असत्य होना सर्वविदित है, और जब वे सत्य निकलती हैं केवल तभी लोग गर्व के साथ यह दावा करते है कि उन्हें "अंत:प्रज्ञा से ज्ञान हुआ था" (जब अंत.प्रज्ञाएँ मिथ्या निकलती है तब वे इस बात का प्रचार नही करते) ।

परंतु, यदि वाकई अंत:प्रज्ञाएँ सदैव सत्य निकली हों, तो हम क्या कहेंगे ? क्या हमें तब भी यही कहना चाहिए कि वह नही जानता था कि दौड़ में कौन घोडा जीतेगा, या यह कि जानता तो वह अवश्य था पर कैसे, यह हमें नहीं मालूम ?

यह एक कठिन प्रश्न है और इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि हम "ज्ञान" की क्या परिभाषा देते हैं, और यह हम इसी अध्याय के अगले परिच्छेद में करेंगे । परंतु यहाँ हम यह बता दें कि उसे ज्ञान है, ऐसा चाहे कहा जा सकता हो या नहीं (यह मानते हुए कि सफलताओं का यह विस्मयकारी क्रम वास्तव में चलता है), अंत:प्रज्ञा से वह नही जानता, क्योंकि "अंत:प्रज्ञा

के द्वारा" कहना हमे यह बिलकुल भी नही बताता कि उसने कैसे जाना (यदि वह जानता ही हो तो)।

यहां तक हमने केवल उन अत प्रज्ञाओ का ही उल्लेख किया है जिनका बाद मे इद्रियानुभव से सत्यापन किया जा सकता है। उन अत प्रज्ञाओ के बारे मे क्या कहा जाएगा जिनकी इस तरह जांच सभव नही है ? "तत्व एक है", "ईश्वर स्वर्ग मे रहता है", "मैंने उस रात शाश्वत के दर्शन किए थे", 'उसके अदर एक चुडेल का वास है"—इन तथा इनकी तरह के अनेक अन्य कथनो के सत्य होने का केवल अत प्रज्ञा के आधार पर दावा किया गया है। ऐसे दावो के बारे मे हम क्या कहगे ? हम पहले ही देख चुके हैं कि अत प्रज्ञा स्वत परस्पर विरोधी दावो के बीच निर्णय करने के लिए पर्याप्त नही हो सकती, जिसके कारण हमे अत प्रज्ञा के बाहर कोई ऐसी चीज ढंढनी पडेगी जो हम बता सके कि उन दावो को करनेवाली अत प्रज्ञाएँ गलत थी या नही। पहले दिए हुए उदाहरणो मे इद्रियानुभव का आश्रय लिया जा सकता था। पर, जब वह पर्याप्त नही होता तब हम किसका आश्रय लेंगे ? ऐसा लगेगा कि हम कदापि नही जान सकेंगे कि ऐसे दावे सत्य हैं या नही। परतु, यह निष्कर्ष भी अपरिपक्व रहेगा शायद उनमे से कुछ निरर्थक हो, शायद कुछ है तो सार्थक पर उनकी जाँच नही की जा सकती और शायद कुछ ऐसे हैं जो शुरू मे जांच करने के योग्य न लगें पर उनके अर्थ के अधिक स्पष्ट कर दिए जाने के बाद उनकी जाँच की जा सकेगी। यह बात स्पष्ट है कि कोई निरर्थक कथन "अत प्रज्ञा" का आवरण ओढकर सार्थक नही बन सकता और कि अत प्रज्ञा का अवलब लेने से हमे यह बिल्कुल नही पता चल सकता कि वह सार्थक है या नही और यदि सार्थक है तो उसका अर्थ क्या है। अभी हम ज्ञान के एक और तथाकथित स्रोत की जांच करते हैं।

५ इल्हाम, प्रकाशना या श्रुति कभी कभी इल्हाम, प्रकाशना या श्रुति से किसी चीज का ज्ञान होने के दावे किए जाते हैं। परतु ऐसे दावे मे कितना सार है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि इल्हाम कैसे हुआ।

"इसका मुझे स्वप्न मे (या दिव्य दर्शन से) प्रकाश हुआ।" इस रूप मे हमारे सामने वही समस्याएँ आती हैं जो अत प्रज्ञा मे आई थी। तब क्या होगा जब एक आदमी को दिव्य दर्शन से एक बात मालूम हो और दूसरे आदमी को दिव्य दर्शन से ही उसकी विपरीत बात मालूम हो ? किसी आदमी को स्वप्न

या दिव्य दर्शन होना निश्चय ही यह सिद्ध नही करता कि उससे मिला हुआ सदेश सत्य या विश्वसनीय है। यदि जो वह कहता है वह सत्य है तो उसकी सत्यता केवल अन्य साधनो से ही जानी जा सकती है।

"ईश्वर ने मुझे इल्हाम दिया कि ...।" पर यह कैसे पता चला कि इल्हाम देनेवाला ईश्वर है ? और उसे इल्हाम किस रूप मे हुआ—दिव्य दर्शन के रूप मे या वाणी के रूप मे या बिजली की कडक के रूप मे ? और इसका क्या प्रमाण है कि ये अनुभव, जिस रूप मे भी वे हों, ईश्वर की अभिव्यक्तियां हैं ? फिर, यदि दो आदमी परस्पर विरोधी बातो के इल्हाम का दावा करते हैं तो क्या होगा ? प्रत्येक निस्सदेह दूसरे के दावे को झूठा कहेगा, पर इससे कोई समाधान नही होता : हम ऐसी कसौटी चाहते है जिससे सच्चे और झूठे दावो की पहिचान हो सके। इसके आलावा, यदि यह मान भी लिया जाए कि एक आदमी को कोई अनुभव हुआ है जिसे वह "ईश्वरीय प्रकाश" कहता है, तो अन्य लोग किस आधार पर उसपर विश्वास करें ? जो आपको इल्हाम लगता है वह मुझे किंवदती मात्र लगता है।

"पवित्र ग्रथ से मुझे इल्हाम हुआ कि ।" यहाँ भी कथित इल्हाम ईश्वर से ही हुआ, पर ऐसा दिव्य दर्शन के रूप मे या वाणी के रूप मे नही बल्कि पुस्तक से हुआ। पर प्रश्न फिर वही उठते है . यह कैसे मालूम कि यह पुस्तक पवित्र है ? (पवित्र होने मे यह तो कम से कम निहित है ही कि उसके वाक्य सत्य है।) किसी पुस्तक के लेखक का यह कथन कि उसमे सत्य कहा गया है या उसके वचन कभी मिथ्या नही हो सकते, उसके दावे को पुष्ट नही करता। मैं भी यह दावा कर सकता हूँ कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह सत्य है, पर इससे वह सत्य नही हो जाता। इसके अलावा, पवित्र ग्रथ (प्रकाशना, श्रुति) होने के दावेदार बाइबिल, कुरान तथा अनेक कृतियाँ हैं। हम कैसे जाने कि यदि इन विभिन्न दावेदारो मे से कोई सच्चा है तो वह कौन है ? यदि दावे ऐसे किए जाते हैं कि इद्रियानुभव या तर्कबुद्धि उनकी पुष्टि कर सकती है, तो उनकी सत्यता मे विश्वास हम उसके कारण करते हैं, न कि इस कारण कि सबधित ग्रथ स्वय उन्हे सत्य कहता है। परतु यदि, जैसा कि बहुधा होता है, दावे ऐसे किए जाते हैं कि उनका हम कदापि सत्यापन न कर सकें, तो हम कभी भी उनमे से किसी एक को सच्ची प्रकाशना या श्रुति के रूप मे कैसे चुन सकेंगे ?

६. आस्था . ज्ञान का स्रोत होने का दावा करनेवाली एक और चीज है आस्था, जो कि कुछ-कुछ पिछले स्रोत की तरह है। "मैं ऐसा आस्था से जानता हूँ"; "मेरी इसमे आस्था है, इसलिए यह अवश्य सत्य है"; "मैं आस्था के कारण इसमे विश्वास करता हूँ, और यह आस्था मुझे ज्ञान प्रदान करती है।"

अत प्रज्ञा और श्रुति के दावो मे जो कठिनाई पाई गई थी वही यहाँ भी है। लोग विभिन्न बातो मे आस्था रखते हैं, और आस्था के द्वारा जिन बातो को जानने का वे दावा करते है वे प्राय. परस्पर विरोधी होती है। एक आदमी आस्था से यह जानने का दावा करता है कि ईसा ईश्वर का पुत्र था और दूसरा आस्था से ही यह जानने का दावा करता है कि ईसा एक मनुष्य मात्र था और कि सच्चा मसीहा अभी आएगा। यदि आस्था इस दावे का एकमात्र आधार है तो वही चीज जो पहले दावे को प्रमाणित करती है (यानी इस आस्था का होना कि यह सत्य है) दूसरे को भी प्रमाणित करती है। और इसके बावजूद, दोनो सत्य नही हो सकते, क्योकि वे परस्पर व्याघाती हैं। निश्चय ही, इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि दोनो मे से कोई भी सत्य नही है, बल्कि केवल यह निकलता है कि आस्था से उनमे से किसी का भी ज्ञान नही हो सकता, क्योकि यदि किसी एक का होता है तो दूसरे का भी होता है जो कि उसका व्याघाती है।

दैनिक जीवन मे हम प्राय: अवश्य ही इस तरह की बात कहते हैं जैसे "मेरी उसमे आस्था है", जिसका अर्थ लगभग वही होता है जो "मेरा उसमे विश्वास है" का है। किसीका किसीमे इत तरह विश्वास होना और इस अर्थ मे उसमे "आस्था रखना" बिल्कुल उचित हो सकता है। परतु, सवाल यह है कि वह उचित किस वजह से है ? यदि किसीको बिल्कुल शून्य मे आस्था है, यानी किसी आदमी के बारे मे कुछ भी जाने बगैर उसमे आस्था है, तो इसका बिल्कुल कोई औचित्य नही है। टेलीफोन-डाइरेक्टरी को उठाकर किसी भी निरे अजनवी का नाम चुनकर यह कहने मे कोई भी बुद्धिमानी नही है कि "मेरी उसमे आस्था है।" परतु किसी आदमी मे आस्था प्राय. उसके पिछले इतिहास के आधार पर उचित हो सकती है। इस बात का कि वह ईमानदार और विश्वसनीय है, हमारे पास अच्छा प्रमाण हो सकता है। परतु, यह प्रमाण "आस्था रखने" से नही आता बल्कि उसके व्यवहार को विशेषत कठिन

परिस्थितियो मे देखने से, तथा ऐसी विभिन्न परिस्थितयो मे वह क्या करता है, इस पर बारीकी से ध्यान देने से आता है। काफी लंबे समय के अनुभव से यह जाना जाता है कि वह कैसे व्यवहार करता है, और तब यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि आगे आनेवाली परिस्थिति मे भी उसपर भरोसा रखा जा सकेगा, जो कि एक आगमनिक अनुमान का परिणाम है। इस प्रकार विश्वसनीयता के दावे का आधार आस्था नही बल्कि इद्रियानुभव और तर्क होते हैं।

असल मे, जब लोग ज्ञान के एक तरीके के रूप मे केवल आस्था का सहारा लेते है तब कारण यह होता है कि जो वे कहते हैं उसकी सत्यता का कोई प्रमाण होता नही और इसके बावजूद वे भरसक यह चाहते हैं कि लोग उनकी बात का यकीन कर लें। परतु वे प्राय. यह भूल जाते है कि अपने दावे को सिद्ध करने के लिए जिस चीज का वे आश्रय लेते हैं उसे, यानी आस्था को, यदि मान लिया जाए तो उनके विरोधियो के विपरीत दावे भी उससे सिद्ध हो जाएँगे। आस्था दुधारी चाकू का काम करती है। इसलिए प्राय: अतिम उपाय के रूप मे इसका आश्रय लिया भी जाता है। "आस्था" की यह परिभाषा दी गई है कि "वह किसी चीज मे, जिसका कोई प्रमाण नही है, दृढ विश्वास करना है।" "दो और दो बराबर चार" या "पृथ्वी गोल है" मे आस्था होने की बात कोई नही कहता। आस्था की बात हम केवल तभी करते हैं जब प्रमाण के स्थान पर हम भावना को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।[१] परतु यदि आस्था एक भावना है—प्रमाण के अभाव मे किसी चीज मे विश्वास करने की अभिवृत्ति—तो आस्था ज्ञान का स्रोत नही हो सकती। किसी विश्वास के प्रति आपकी क्या भावना या अभिवृत्ति है, और वह विश्वास सत्य है या नही, ये दो बिल्कुल ही भिन्न बाते हैं। इन्हे एक-दूसरी से उलझाना मूर्खता है।

८. ज्ञान क्या है ?

ज्ञान का स्रोत होने का दावा करनेवाली कुछ चीजो की जाँच कर लेने के बाद अब हम इस प्रश्न को लेते हैं कि ज्ञान क्या है, अथवा, दूसरे शब्दो मे, किसी चीज को जानना क्या होता है ?

---

१. बर्ट्रेंड रसेल, ह्यूमन सोसाइटी इन एथिक्स ऐंड पॉलिटिक्स, पृ० २१५।

"जानना" शब्द जरा पेचीदा है। इसका सदैव एक ही तरह से प्रयोग नही होता। इसके कुछ मुख्य प्रयोग यहाँ दिए जाते हैं :

१ कभी कभी जब हम जानने की बात कहते हैं तब हमारा मतलब किसी तरह के परिचय से होता है। उदाहरणार्थ, "क्या आप मोहन को जानते हैं ?" का अर्थ लगभग वही है जो "क्या आप मोहन से परिचित है ?" (क्या आप उससे मिल चुके हैं ? इत्यादि) का है। आप उसे जान सकते हैं, यानी उससे परिचित हो सकते है, और हो सकता है कि उसके बारे मे आप अधिक न जानते हो। और आप शायद किसीके बारे मे बहुत कुछ जानते है, पर हो सकता है कि उसे आप न जानते हो, क्योकि आप उससे कभी मिले नही। अथवा, हम पूछ सकते हैं "क्या आप उस विचित्र देहाती सड़क को जानते हैं जो शहर के सात मील पश्चिम मे है ?" यहाँ हम हू-ब-हू ऊपर वाले अर्थ मे जानने की बात तो शायद ही कह पाएँगे, पर फिर भी मतलब परिचित होने से ही है क्या आप वहाँ गए है आपने स्वय उसे देखा है ? आप उसे जाने बगैर, उससे परिचित हुए बगर, यह जान सकते हैं कि उसका अस्तित्व है। यदि आपने योसीमिटी प्रपात देखा है तो आप उसे जानते है (उससे परिचित हैं), हालाँकि हो सकता है कि आप उसे इस रूप मे न जानते हो और फिर भी विश्वकोश पढकर आप उसके बारे मे अनेक तथ्य जानते हो।

२ कभी-कभी (किसी काम को) करना जानने की बात कही जाती है : क्या आप घुड़सवारी जानते है, क्या आप जानते हैं कि ढालने का लोहा कैसे इस्तेमाल किया जाता है ? करना, जानना एक योग्यता है—हम घुड़सवारी जानते है यदि हमारे अदर घोड़े पर सवार होने की योग्यता है, और इस बात की परीक्षा कि हमारे अदर यह योग्यता है, यह है कि उपयुक्त परिस्थिति मे हम सबधित क्रिया को कर सकते हैं या नही। यदि आप मुझे घोड़े की पीठ पर बिठा दें, तो जल्दी ही आपको मेरे इस दावे की सचाई का पता चल जाएगा कि मैं घुड़सवारी जानता हूँ।

३ परतु "जानना' शब्द का सबसे अधिक प्रयोग प्रतिज्ञप्ति-सबधी अर्थ मे किया जाता है, और इसी से हमारा मुख्य सबध है 'मैं जानता हूँ कि " । यहाँ 'कि" के बाद एक प्रतिज्ञप्ति होती है मैं जानता हूँ कि मै इस समय एक किताब पढ रहा हूँ", 'मै जानता हूँ कि मैं एक भारतीय

नागरिक हूँ" इत्यादि। "जानना" के इस अर्थ और पिछले अर्थों के बीच कुछ संबंध है। हम मोहन के बारे मे कुछ बातें जाने बिना (यानी यह जाने बिना कि उसके बारे मे कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य हैं) उससे परिचित नही हो सकते, और यह बात समझ मे आना मुश्किल है कि कोई तैरने के बारे मे कुछ सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ जाने बिना, यानी यह जाने बिना कि पानी मे होने पर हाथ-पैरो की क्या हरकतें करनी चाहिए, तैरना कैसे जान सकता है। (परतु कुत्ता तैरना जानता है हालांकि अनुमानतः वह तैरने के बारे मे कोई प्रतिज्ञप्ति नही जानता। फिर भी, हो सकता है कि एक आदमी एक देहाती इलाके से अत्यधिक परिचय रखता हो, लेकिन उसके बारे मे उतने तथ्य भी न जानता हो जितना वह व्यक्ति जो वहाँ तो कभी न गया हो पर अन्य स्रोतों से वहाँ के बारे मे सूचनाएँ प्राप्त करता रहा हो। एक आदमी, जो अच्छी तरह से तैरना जानता है, शायद तैरने के ऊपर पुस्तिका लिखने मे समर्थ न हो सके। यह जरूरी नही है कि एक अच्छा घुडसवार घोडो के बारे मे उतने तथ्य जाने जितने वह पशु-मनोविज्ञानी जो घोडो के बारे मे पुस्तकें लिखता है, पर घुडसवारी नही जानता।

इस तीसरे और सबमे महत्त्वपूर्ण अर्थ मे जानने की क्या शर्ते है? "प" अक्षर को किसी भी प्रतिज्ञप्ति का प्रतीक मानते हुए, यह पूछा जा सकता है कि किन शर्तो के पूरी होने पर कोई सचाई के साथ यह कह सकता है कि वह प को जानता है? आखिर, बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जो किसी बात को जानने का दावा करते हैं, पर जानते नहीं हैं। तो कोई कैसे जानने के सही दावो को झूठे दावो से अलग करे?

(अ) प अनिवार्यत सत्य हो। जैसे ही आपको यह विश्वास करने के लिए कोई हेतु मिल जाता है कि एक प्रतिज्ञप्ति सत्य नही है, वैसे ही किसी आदमी का उसे जानने का दावा झूठा हो जाता है : यदि प सत्य नही है तो आप प को नही जान सकते। यदि मै कहूँ कि "मै प को जानता हूँ, पर प सत्य नही है", तो मेरा कथन स्वतोव्याघाती है, क्योकि प को जानने मे एक अंग के रूप मे यह बात भी शामिल है कि प सत्य हो। इसी प्रकार यदि मै कहूँ कि "वह प को जानता है, पर प सत्य नही है", तो यह भी स्वतोव्याघाती है। ऐसा हो सकता है कि मैंने समझा हो कि मैं प को जानता हूँ; परतु यदि प असत्य है तो मैं वस्तुतः उसे जानता नही। मैंने केवल सोचा ही

है कि मैं उसे जानता हूँ। इसके बावजूद यदि मैं प को जानने का दावा करूँ और यह भी मानूँ कि प असत्य है, तो श्रोता यही निष्कर्ष निकालेंगे कि मुझे 'जानना" शब्द का सही प्रयोग अभी तक नही आया। यह बात हमारी पिछली चर्चा मे पहले से निहित है, क्योकि जब आप प को जानते हैं तब वह क्या चीज है जो आप प के बारे मे जानते हैं ? अवश्य ही यह कि प सत्य है। यह कथन ही बात खोल देता है : प को जानना यह जानना है कि प सत्य है।

इस दृष्टि से "जानना" अन्य क्रियाओ से, जैसे "विश्वास करना" "जिज्ञासा या शक करना", "आशा करना" इत्यादि से भिन्न है। शायद मुझे शक हो कि प सत्य है और हो प असत्य। मैं यह विश्वास कर सकता हूँ कि प सत्य है, हालाँकि प शायद असत्य हो। मे चाह सकता हूँ कि प सत्य हो, जबकि हो वह वस्तुतः असत्य, इत्यादि। विश्वास करना, चाहना, जिज्ञासा करना, आशा करना इत्यादि सब मानसिक अवस्थाएँ (घटना-अवस्थाएँ और शील-अवस्थाएँ) है। यदि आप मुझे बताएँ कि आप किसी चीज मे विश्वास करते है, तो मैं जानता हूँ कि आप किसी मानसिक अवस्था मे—विश्वास की अवस्था मे—हैं परतु मुझे इस बारे मे कोई निष्कर्ष निकालने का अधिकार नही मिल जाता कि जो आप विश्वास करते हैं वह सत्य है। पर जब तक प सत्य न हो तब तक मुझे यह कहने का अधिकार नही है कि आप प को जानते हैं। जिज्ञासा करना, विश्वास करना, और सदेह करना के विपरीत जानना एक मानसिक अवस्था मात्र नही : इसके लिए यह जरूरी है कि जिस प्रतिज्ञप्ति को जानने का आपका दावा है वह सत्य हो। इस प्रकार, जब आप किसी उपन्यास मे यह पढते हैं कि "उसे दृढ विश्वास था कि उसे असाध्य बीमारी है", तब आप यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि उसे असाध्य बीमारी थी, पर जब आप पढते हैं कि "वह जानती थी कि उसे असाध्य बीमारी है" तब आपको यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार है तथा उस दशा मे लेखक पर असंगति का आरोप लगाने का अधिकार है यदि बाद मे यह पता चले कि उसकी बीमारी असाध्य बिल्कुल ही नही थी।

परतु सत्य होने की शर्त आवश्यक होने पर भी पर्याप्त नही है। उदाहरणार्थ, नाभिकीय भौतिकी मे असख्य सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी हैं जिनके

सत्य होने का ज्ञान आपको और हमें, यदि हम उस क्षेत्र के विशेषज्ञ नहीं है तो, नही है। परंतु, उनके सत्य होने मे यह बात निहित नही है कि हम उन्हे सत्य जानते है। और यदि हमने सागर के तल में जाकर स्वयं देखा होता तो अनेक ऐसी सत्य बातें हैं जिनका हमने वहाँ की वनस्पतियों और वहाँ के जीवो के बारे मे कथन किया होता। परतु, इस समय यद्यपि हम उनके बारे मे बहुत-से कथन ऐसे कर सकते है जो सत्य हों, तथापि हम नहीं जान सकते कि वे सत्य है। तो फिर और क्या चाहिए ?

(ब) न केवल प सत्य हो अपितु हमें विश्वास भी हो कि प सत्य है। इसे "विषयिनिष्ठ शर्त" कहा जा सकता है : प के प्रति हमारी एक अभिवृत्ति होनी चाहिए—प के बारे में कुतहल या अटकल मात्र की नही बल्कि इस निश्चयात्मक विश्वास की कि प सत्य है। "मैं जानता हूँ कि प सत्य है; परतु मैं ऐसा विश्वास नही करता" कहना न केवल बहुत विचित्र लगेगा बल्कि इससे सुननेवालों का यह निष्कर्ष निकालना भी उचित होगा कि हमें "जानना" शब्द का सही प्रयोग करना अभी तक नही आता। बहुत-से ऐसे कथन हो सकते है जिनमें आप विश्वास करते हैं पर जिन्हें आप सत्य नही जानते, परन्तु ऐसे कोई कथन नही हो सकते जिन्हे आप सत्य जानते हों पर जिनपर आप विश्वास नही करते, क्योंकि विश्वास करना जानने का एक अंग (परिभाषक विशेषता) है।

"मैं प को जानता हूँ" मे "मैं प मे विश्वास करता हूँ" निहित है, तथा वह प को जानता है" मे "वह प मे विश्वास करता है" निहित है, क्योंकि विश्वास करना जानने की एक परिभाषक विशेषता है। परन्तु, प मे विश्वास प के सत्य होने की एक परिभाषक विशेषता नही है : प सत्य हो सकता है हालाकि न वह, न मैं और न कोई अन्य व्यक्ति उसमे विश्वास करता हो। (पृथ्वी तब भी गोल थी जब कोई उसके गोल होने मे विश्वास नही करता था।) "उसका प मे विश्वास था (अर्थात् उसके सत्य होने मे विश्वास था), पर प सत्य नही है" कहने मे कोई भी व्याघात नही है। वास्तव मे, हम इन तरह की बातें हर समय कहते ही रहते है : "उसका विश्वास है कि लोग उसे सता रहे है, पर निश्चय ही यह सत्य नही है।" यहाँ काफी सावधानी की जरूरत है, क्योंकि "उसका ऐसा विश्वास है पर यह सत्य नही है" अथवा "यह सत्य है पर उसका इसमे विश्वास नही है" कहने मे तो कोई

व्याघात नही है, परतु "यह सत्य है पर मैं इसमे विश्वास नही करता" कहने मे व्याघात भले ही न हो लेकिन कम-से-कम बेतुकापन बहुत है। अवश्य ही कोई मजाक मे या जान-बूझकर झूठ बोलने मे ऐसा कह सकता है। परतु यदि मैं ईमानदारी से ऐसा कहूँ तो ? तब यह बेतुका ही नही बल्कि स्वतोव्याघाती होगा, क्योंकि उस दशा मे मेरे कथन का यह मतलब होगा : कि मैं ऐसा कहता हूँ और विश्वास करता हूँ, फिर भी मैं विश्वास नही करता—और यह बादवाला अश "विश्वास करता हूँ और फिर भी मैं विश्वास नही करता" मेरे कथन को स्वतोव्याघाती बना देगा।

१. यह सत्य है, पर मैं विश्वास नही करता।
२. मैं कहता हूँ कि *यह सत्य है, पर मैं विश्वास नही करता।*
३. मैं ईमानदारी से कहता हूँ कि यह सत्य है, पर मैं विश्वास नही करता।
४ मैं यह कहता और विश्वास करता हूँ, पर मैं विश्वास नही करता।

१ के बारे मे कोई कठिनाई नही है : निस्सन्देह असत्य सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी है जिनमे मैं विश्वास नही करता, भले ही कारण केवल यह हो कि मैंने उनके बारे मे कभी सुना नही। २ के बारे मे भी कोई कठिनाई नही है . हो सकता है कि मैं झूठ बोल रहा हूँ या मजाक कर रहा हूँ। कठिनाई ३ से शुरू होती है, क्योंकि उसे ईमानदारी के साथ कहने का मतलब यह है कि जो मैं कहता हूँ उसपर विश्वास भी अवश्य करता हूँ। यह बात ४ मे और भी स्पष्ट हो जाती है, जिसमे कि "ईमानदारी से" का अर्थ खोलकर बता दिया गया है और यही हमे व्याघात मिलता है : उसमें विश्वास करता हूँ पर उसमें विश्वास नही करता।

फिर भी, इस दूसरी शर्त को लेकर हमारे मन मे कुछ संदेह हो सकते हैं। विश्वास की विभिन्न मात्राएं होती है जो कि घटते-घटते सदेह मे बदल जाती है और अत मे अविश्वास मे पहुँच जाती है। हम कह सकते है, "मैं इसमे *विश्वास करता हूँ पर बहुत पक्का नही।*" शर्त की पूर्ति के लिए उसमे कितना पक्का विश्वास होना आवश्यक है ? क्या विश्वास करना वस्तुत बिल्कुल जरूरी है ? चूंकि प्रतिज्ञप्ति सत्य है, इसलिए क्या हम उसे सचमुच विश्वास किए बिना नही जान सकते ? "मैं जानता हूँ कि मैंने अभी-अभी एक लाख का इनाम जीता है, पर फिर भी मुझे विश्वास नही

होता।" परतु यह बादवाली बात प्रायः प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कही जाती है: हमे विश्वास अवश्य होता है (अन्यथा हमे उतना आश्चर्य न हुआ होता), लेकिन फिर भी हमारे लिए उसपर विश्वास करना बहुत कठिन होता है; अथवा हमे उसपर विश्वास तो होता है (हम जानते हैं कि वह सत्य है), पर अभी हम उसे पचा नही पाए, उसके प्रति हमारी वह भावना नही बन पाई जो सामान्यतः तब होती है जब हम किसी चीज पर विश्वास करते है (हमारी भावनाओ का अभी हमारे विश्वास से मेल नही बैठा है)। 'मैं जानता हूं कि पृथ्वी चपटी नही है, पर फिर भी मैं इसपर विश्वास नही कर पा रहा हू" —लेकिन अब "विश्वास" का अर्थ बदलकर "मेरी अपने अन्य विश्वासो के प्रति जो भावना है वह इसके प्रति पैदा नही हो पा रही है" हो गया है। अथवा: परीक्षा मे सभी प्रश्नो के उत्तर मैं जानता हूँ, पर हो सकता है कि मुझे यह विश्वास न हो रहा हो कि मै उन्हे जानता हूँ—अर्थात् हो सकता है कि इस बात मे मुझे अधिक भरोसा न हो कि मै उन्हे जानता हूँ। परतु यह मामला कुछ पेचीदा है: जब मुझे इस बात मे अधिक भरोसा नही होता कि मै उन्हे जानता हूँ तब बात यह नही है कि मै उनमे (उत्तरो मे) विश्वास नही करता, बल्कि यह है कि मै यह नही जानता कि मै उन्हे दे सकता हूँ। उत्तरो को जानने मे यह बात शामिल है कि मै उत्तर देने मे समर्थ हूँ, और इस विश्वास मे कि मै उन्हे जानता हूँ, यह विश्वास शामिल है कि मै उन्हे दे सकता हूँ। परतु उन्हे जानने मे यह विश्वास शामिल नही है कि मैं उन्हे दे सकता हूँ। इन दो बातो को हमे उलझाना नही चाहिए: उत्तरो को जानना या उत्तरो मे विश्वास करना अलग बात है और यह जानना या यह विश्वास करना अलग बात कि मैं उत्तरो को दे सकता हूँ।

विश्वास मे मात्रा-भेद होने के बावजूद आलकारिक अर्थ को छोडकर किसी भी अर्थ मे यह कहना बिल्कुल ही बेतुका होगा कि "मैं प को जानता हूँ, पर मैं प मे विश्वास नही करता"। यदि कोई यह कहता घूमता फिरे कि "मैं जानता हूँ कि कुत्तो के चार पैर होने हैं पर इसपर मैं विश्वास नही करता" तथा "मैं जानता हूँ कि २+२=४ होना है पर मैं इसपर विश्वास नही करता", तो उसपर यह आरोप लगाया जा सकता है कि उसने अभी हमारी भाषा के "जानना" शब्द का अर्थ नही सीखा। यह आरोप

वैसा ही है जैसा तब लगाया जाएगा जब वह किसी ऐसी प्रतिज्ञप्ति को जानने का दावा करे जिसे वह असत्य मानता है। तो फिर इन सशोधनो के साथ हमारी दूसरी शर्त कायम रहेगी।

अब हम जानने की दो शर्तों की चर्चा कर चुके है, जिनमे से एक "विषयनिष्ठ" है (प को सत्य होना चाहिए) और एक 'विषयिनिष्ठ" है (प मे विश्वास होना चाहिए)। क्या ये पर्याप्त है ? यदि आप एक चीज मे विश्वास करते है और यदि जिस चीज मे आप विश्वास करते है वह सत्य है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि आप उसे जानते हैं ? यदि हाँ, तो ज्ञान की यह सीधी-सी परिभाषा होगी कि वह सच्चा विश्वास है, और बात यही समाप्त हो जाएगी।

परतु, दुर्भाग्य यह है कि परिस्थिति इतनी सीधी नही है। सच्चा विश्वास अभी ज्ञान नही है। एक प्रतिज्ञप्ति सत्य हो सकती है, और आप उसकी सत्यता मे विश्वास भी कर सकते हैं, और फिर भी हो सकता है कि आप उसे सत्य न जानें। मान लीजिए, आप विश्वास करते हैं कि मगल-ग्रह मे चेतन प्राणी है, और मान लीजिए कि कालातर मे पृथ्वी के अतरिक्ष-यात्रियो के वहाँ उतर जाने के बाद आपका विश्वास सत्य निकलता है। जिस समय आपने मगल मे चेतन प्राणियो के होने की बात कही थी उस समय वह सत्य थी और उस समय आपका उसमे विश्वास भी था, पर क्या उस समय आप उसको सत्य जानते थे ? निश्चय ही नही, हम ऐसा कहना चाहेगे, आप उस समय ऐसा जानने की स्थिति मे थे ही नही। वह तो एक सही अटकल थी। यदि आपके पास उसके सत्य होने का कुछ प्रमाण हुआ भी होता, तो भी उस समय आप नही जानते थे कि बात सत्य है। इसलिए एक सही अटकल को ज्ञान से अलग रखने के लिए कोई और शर्त चाहिए।

हर हालत मे हमे इस बात का शक होना ही था कि "ज्ञान सत्य विश्वास है" पर्याप्त नही है। किसी ऐसी बात को सोचिए जिसके बारे मे कोई अभी कुछ नही जानता, जैसे यह कि किसी दूरस्थ तारे की परिक्रमा कुछ ग्रह कर रहे हैं। यह सोचिए कि ऐसे वास्तव मे एक हजार ग्रह है। अथवा यह विचार कीजिए कि एक सिक्के को सौ बार उछालने पर वह चित होगा या पट। आप यह अटकल लगा सकते हैं कि सभी बार वह चित गिरेगा और हम मान लेते है कि आपकी ५० प्रतिशत अटकलें सही है। अब, यदि आप

उस तरह के आदमी है जो अपनी प्रत्येक बात पर झट विश्वास कर लेता है, तो आप वस्तुत. यह विश्वास करेगे कि आपकी सब अटकले सही है। परंतु चाहे आपका विश्वास कितना ही पक्का क्यो न हो, आप निश्चय ही यह नही जानते कि जिन ५० प्रतिशत बार आपकी अटकल सही है उनमे सिक्का चित होगा या पट। किसी का ज्ञान महज इसलिए अधिक नही होता कि उसका अपने ही विश्वासो के ऊपर दूसरो की अपेक्षा अधिक भरोसा है। ज्ञान विश्वास के पक्के होने पर नहीं बल्कि इस बात पर निर्भर होता है कि विश्वास करने के लिए आपके पास क्या आधार हैं, क्या हेतु है। अब हम तीसरी शर्त बताते है।

(स) आपके पास प के लिए प्रमाण (प मे विश्वास करने का हेतु) होना चाहिए। जब आपने यह अटकल लगाई थी कि सिक्के को उछालने से कितनी बार वह चित होगा, तब आपके पास यह विश्वास करने के लिए कोई हेतु नही था कि आपकी अटकल सही होगी, और इसलिए आप जानते नही थे। परतु, जब हर बार आपने सिक्के को उछालकर गौर से गिरते देखा और पाया कि वह चित है या पट, तब आपने जाना। इस बार वह चित है, इस बार पट है इत्यादि का आपके पास अपनी इन्द्रियो का साक्ष्य है तथा साथ ही आस-पास के अन्य दर्शको का भी, और यदि आप फोटो खिचवाना चाहे तो उसका भी। इसी प्रकार, यदि आप आज सूर्यास्त के समय आकाश के लाल रहने के आधार पर कल मौसम के सुहावने रहने की भविष्यवाणी करते है तो अभी आप जानते नही है कि यह भविष्यवाणी सत्य निकलेगी। उसमे विश्वास करने का आपके पास (शायद) कुछ हेतु है, पर पक्का विश्वास आप नही कर सकते। लेकिन जब आप कल बाहर निकलेंगे और स्वय देखेगे कि मौसम कैसा है, तब आप पक्का जान लेगे। जब कल होगा तब आपके सामने पूरा प्रमाण आ जाएगा, जो आज रात आपके पास नही है। कल पूरा प्रमाण मिल जाएगा , आज रात आप सीखी हुई बातो के आधार पर *अटकल ही लगा रहे है, ज्ञान आपको नही है।*

तो, यह हमारी तीसरी शर्त है—प्रमाण या साक्ष्य। पर अब कठिनाई शुरू होती है। प्रमाण कितना हो ? "कुछ प्रमाण" कहने से काम नही चलेगा। इस बात का कुछ प्रमाण हो सकता है कि कल धूप रहेगी, पर अभी आप इस बात को जानते नही। "जितना भी प्रमाण मिल सकता है यह

सारा" कहे तो कैसा होगा ? इससे भी काम नही चलेगा। इस समय जितना प्रमाण उपलब्ध हो सकता है वह सारा शायद पर्याप्त न हो। दूसरे ग्रहो मे चेतन प्राणी है या नही, यह जानने के लिए इस समय जितना प्रमाण उपलब्ध है वह बिल्कुल ही कम है। सप्रति उपलब्ध सारे प्रमाण की जाँच कर लेने के बाद भी हम नही जानते।

"इतना पर्याप्त प्रमाण कि विश्वास करने के लिए हमे अच्छा हेतु मिल जाए" कहे तो ? परतु पर्याप्त कितना प्रमाण है ? हो सकता है कि मैं किसी को कई वर्षो से जानता होऊँ और मैंने उसे पूरे समय बिल्कुल ईमानदार पाया हो। व्यवहारत: किसी भी कसौटी के अनुसार यह इस बात का अच्छा प्रमाण माना जाएगा कि अगली बार भी वह ईमानदार रहेगा, पर फिर भी शायद वह न रहे। मान लीजिए कि अगली बार वह किसीका बटुआ मार देता है। मेरे पास यह विश्वास करने का अच्छा हेतु था कि वह ईमानदार रहेगा पर इसके बावजूद मैं जानता नही था कि वह ईमानदार रहेगा, क्योकि यह सत्य नही था। हम सभी ऐसे उदाहरणो से परिचित है जिनमे किसीके पास किसी प्रतिज्ञप्ति पर विश्वास करने का अच्छा हेतु था पर इसके बावजूद वह प्रतिज्ञप्ति मिथ्या निकली।

तो फिर पर्याप्त क्या है ? अब हमे यह कहने का लोभ हो रहा है कि "पूरा प्रमाण—जितना भी प्रमाण सभव है, वह सारा"। परतु यदि हम ऐसा कहते है तो यह भी हम फौरन ही समझ ले कि ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ बहुत ही कम हैं जिनकी सत्यता को जानने का हम दावा कर सके। दैनिक जीवन मे थोडा-सा भी सकोच प्रकट किए बिना जिन प्रतिज्ञप्तियो को जानने का हम दावा करते हैं, उनमे से अधिकतर ऐसी है जिन्हे इस कसौटी के अनुसार हम जानते नही। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं, "मैं जानता हूँ कि यदि मैं इस पेंसिल को छोड दूँ तो यह गिर जायेगी", और इसमे हमे थोडा भी सकोच नही होता। परतु शायद हमारे पास उत्तम प्रमाण के होते हुए भी (पेंसिल और अन्य चीजें छोड दिए जाने पर हमेशा गिरी हैं) पूरा प्रमाण नही है, क्योकि हमने इस बार उसके छोड दिए जाने का परिणाम अभी नही देखा है। इससे भी अधिक साफ एक और उदाहरण लीजिए हम कहते हैं, "मैं जानता हूँ कि इस समय मेरे आगे एक पुस्तक है", पर इस कथन की सचाई के निर्धारण के लिए जितने भी प्रेक्षण सभव हैं वे एक-एक करके हमने नही

किए है हमने उस चीज को (जिसे हम पुस्तक समझ रहे है) सब कोणों से नही जाँचा है (और चूँकि कोणो की सख्या अनत है इसलिए कौन जाँच सकेगा ?), और यदि हमने उसकी ओर लगातार आधे घटे तक भी देखा हो तो भी हमने सौ घटो तक, या एक लाख घटो तक उसकी ओर नही देखा। और फिर भी, ऐसा लगेगा कि (हालाँकि, जैसा कि हम देखेगे, कुछ लोगो ने इसका प्रतिवाद किया है) यदि एक प्रेक्षण से प्रमाण मिलता है तो एक हजार प्रेक्षणो से और भी प्रमाण मिलेगा—और प्रमाण का सचय कब पूरा हो सकेगा ? अथवा, हम कहते है, "म जानता हूँ कि गोपाल का मकान कोने पर है—मैं जिंदगीभर उस मुहल्ले मे रहा हूँ, मैंने वह मकान हजारो-लाखो बार देखा है, इसलिए मुझे जानना ही चाहिए", हालाँकि निश्चय ही हमारे पास "सारा प्रमाण जो सभव है" नही है। पर हम कैसे जान सकते है क्योंकि प्रमाण का सचय कभी समाप्त होता नही दिखाई देता ? चाहे जितना ही अधिक प्रमाण हमारे पास हो, इस बात की सदैव सभावना रहेगी कि उससे अधिक हमे मिल सकता है —दैनिक जीवन मे हम यह विश्वास नही करते कि हमे और चाहिए। एक सीमा के बाद हम उसे आवश्यक नही मानते, पर यदि हम चाहते हो तो सदैव और अधिक प्राप्त कर सकते है।

पर हम अपनी परिभाषा पर जमे रह सकते हैं और कह सकते है कि दैनिक जीवन मे जिन प्रतिज्ञप्तियो को जानने का दावा हम करते है उनमे से अधिकतर को हम वास्तव मे जानते नही हैं। शायद मैं नही जानता कि यह मेरे आगे एक किताब है, कि इस समय मैं घर के बाहर नही बल्कि अदर हूँ, कि इस समय मैं हिंदी मे लिखे वाक्य पढ रहा हूँ, अथवा यह कि दुनिया मे और भी लोग है। लकिन यह तो कुछ विस्मयकारी दावा है और इसका औचित्य सिद्ध करने की जरूरत है। हम सब पक्का विश्वास करते है कि हम इन चीजो को जानते हैं : हम प्रतिदिन इनके आधार पर काम करते हैं, और यदि हमे दर्शन की कक्षा के बाहर पूछा जाए कि हम इन्हें जानते हैं या नही, तो हम बिना सकोच "हाँ" कहेगे। निश्चय ही, "जानना" की ऐसी परिभाषा को हम स्वीकार नही कर सकते जो ज्ञान का अस्तित्व ही लगभग मिटा दे। पर ऐसी परिभाषा के अलावा विकल्प ही क्या है ?

"शायद सारा प्रमाण', "पूरा प्रमाण" इत्यादि कहने की नौबत नही आएगी। हमे अधिक से अधिक यह कहने की जरूरत है कि "प्रमाण पर्याप्त

हो ।" पर प्रमाण पर्याप्त कब होता है ? क्या "जितना भी प्रमाण कभी मिल सकता है वह सारा" से कम कोई प्रमाण पर्याप्त है ? अच्छा, तो क्या यह कहा जाय कि "'पर्याप्त' का मतलब है उतना जिससे हम जान सके ?" परतु, हमारी परिभाषा मे यह छोटी-सी वृद्धि उसमे चक्रकता ले आती है। हम "जानना" की परिभाषा बताने का प्रयत्न कर रहे है और ऐसा करने मे हम "उतना जिससे हम जान सकें" का प्रयोग नही कर सकते, क्योकि इसका जो अतिम शब्द है—"जान सकें"—उसी की तो हम परिभाषा बताने की कोशिश कर रहे हैं। और यदि इसे हम निकाल देते हैं तो हमारी समस्या पूर्ववत् बनी रहती है : कितना प्रमाण पर्याप्त है ? यदि सपूर्ण प्रमाण से कम उपलब्ध हो तो क्या वह पर्याप्त है ? यदि सपूर्ण प्रमाण उपलब्ध न हो, बल्कि उसका केवल ९९.९९ प्रतिशत हो, तो क्या शेष .०१ प्रतिशत उसके विरुद्ध नही हो सकता, जिससे हमे यह निष्कर्ष निकालना पड़े कि सबधित प्रतिज्ञप्ति शायद सत्य बिल्कुल है ही नही और इसलिए उसे हम नही जानते ? ऐसा, निश्चय ही, अनेक बार हो चुका है कि जिस बात को हम सोचते रहे कि हम जानते है, बल्कि शायद जिसपर हम अपनी जान तक की बाजी लगा देते, वह अंत मे मिथ्या या केवल सदिग्ध निकली। पर उस दशा मे हम उसे सचमुच जानते नही थे . प्रमाण अच्छा था, बहुत ही जोरदार था, पर काफी अच्छा, सचमुच पर्याप्त नही था, क्योकि बात (प्रतिज्ञप्ति) की सत्यता का निश्चय कराने के लिए वह पर्याप्त नही था। क्या हम प के पक्ष मे जितना भी प्रमाण कभी हो सकता है उस सपूर्ण से कुछ कम के आधार पर प को जान सकते हैं ?

"जानना" के सबल और निर्बल अर्थ—दैनिक जीवन मे हम कहते हैं कि हम जानते है—विश्वास या अटकल नही करते बल्कि जानते हैं—कि हवा से भारी चीजे गिर जाती हैं, बर्फ सफेद होती है, हम लिख-पढ सकते हैं, इत्यादि। यदि कोई इससे इन्कार करता है और एक के द्वारा बताया हुआ कोई तथ्य दूसरे को आश्वस्त करने के लिए पर्याप्त नही है, तो हमें यह आशका हो सकती है कि समस्या शाब्दिक है : यहां यह कि वे "जानना" को दो भिन्न अर्थों मे लेते हुए बहस कर रहे हैं, क्योकि तीसरी शर्त—प्रमाण वाली शर्त—को वे अलग-अलग रूप मे ले रहे हैं।

मान लीजिए कि मैं कहता हूं, "मेरे दफ्तर में पुस्तकों की एक आलमारी

है" और कोई इसका प्रतिवाद करता है। मैं उत्तर देता हूँ, "मै जानता हूँ कि मेरे दफ्तर मे पुस्तको की एक आलमारी है। मैंने स्वयं उसे वहाँ रखा था और लगातार कई वर्षों से मे उसे वहाँ देख रहा हूँ। वास्तव मे, अभी दो मिनट पहले मैंने उसे वहाँ देखा था जब मैंने उसमे से एक पुस्तक निकाली थी और दफ्तर से कक्षा मे चला आया था।" अब मान लीजिए कि हम दोनो दफ्तर मे जाते है, इधर-उधर देखते है और ठीक पहले की तरह आलमारी को पाते हैं। मैं कहता हूँ, "देखो, मै जानता था कि वह यहाँ है।" वह जवाब देता है, "नही-नही, आपको उसके अभी भी वहाँ होने का विश्वास एक अच्छे हेतु से था, क्योंकि आपने उसे वहाँ पहले बार-बार देखा था तथा किसीको उसे वहाँ से हटाते देखा-सुना नही। पर जब आपने वह बात कही तब आप नही जानते थे कि वह वहाँ है, क्योंकि उस समय आप कक्षा मे थे, न कि अपने दफ्तर मे।"

इसका मैं यह उत्तर दे सकता हूँ; "पर जिस समय मैंने बात कही उस समय मैं अवश्य ही उसका वहाँ होना जानता था। मैं जानता इसलिए था कि (१) मुझे उसमे विश्वास था, (२) यह विश्वास अच्छे हेतुओ पर आधारित था, और (३) विश्वास सत्य था। और जब भी ये तीन शर्ते पूरी होती हो, मैं बात को ज्ञान ही कहूँगा। इसी रूप मे हम अपने जीवन मे प्रति दिन "जानना" शब्द का प्रयोग करते है। मैं उन सत्य प्रतिज्ञप्तियो को जानता हूँ जिनमे मैं अच्छे हेतु के आधार पर विश्वास करता हूँ। और जब मैंने कहा कि पुस्तको की आलमारी अब भी मेरे दफ्तर मे है तब मैंने वैसी ही एक प्रतिज्ञप्ति या कथन किया।"

परतु, अब मेरा विरोधी यह उत्तर दे सकता है: "लेकिन आप फिर भी उसे नही जानते थे। मैं मानता हूँ कि आपके पास उसका कथन करने के लिए अच्छा हेतु था, क्योंकि आपने किसीको उसे हटाते देखा या सुना नही। आपके पास अच्छा हेतु था पर पर्याप्त हेतु नही था। जो प्रमाण आपने दिया वह आपके कथन के मिथ्या होने के साथ भी चल सकता था और यदि वह मिथ्या था तो निश्चय ही आप नही जानते थे कि वह सत्य था। मान लीजिए कि आपने जानने का दावा किया और मैंने आपके दावे का विरोध किया, और हम दोनो आपके दफ्तर मे गए, और आप (और मै भी) वहाँ

पुस्तको 'की आलमारी को न पाकर विस्मय मे पड गए। तो क्या आपने यह जानने का फिर भी दावा किया कि वह अब भी वहाँ है ?"

"अवश्य ही नही। बात का मिथ्या होना सदैव किसीके उसे जानने के दावे का खडन कर देता है। यदि पुस्तको की आलमारी वहाँ न होती, तो मेरा यह कहना उचित न होता कि मैं उसका वहाँ होना जानता हूँ मेरा दावा झूठा होता।"

"ठीक है—वह झूठा होता। परतु, अब कृपया इस बात पर ध्यान दीजिए कि दोनो मामलो मे केवल यह अतर है कि पहले मे पुस्तको की आलमारी वहाँ थी और दूसरे मे वहाँ नही थी। दोनो ही मे प्रमाण हू-ब हू वही था। दूसरे मामले मे (जब आलमारी गायब पाई गई) यह कहने का कि पुस्तको की आलमारी अब भी वहाँ है, आपके पास ठीक वही हेतु था जो आपके पास पहले मामले मे था (जब आलमारी वहाँ पाई गई)। और चूंकि दूसरे मामले मे आप इस बात को नही जानते थे, जैसा कि आप स्वय ही मानते है इसलिए पहले मामले मे भी आप उसे नही जान सकते थे। आपका अच्छे हेतु के आधार पर उसम विश्वास था, पर आप उसे जानते नही थे।"

यहाँ मेरे विरोधी की शायद एक महत्त्वपूर्ण बात माननी पडेगी। मुझे उसन यकीन दिला दिया है कि चूंकि दूसरे मामले मे, जैसा कि मैंने स्वय ही माना है, मैं जानता नही था, इसलिए पहले मामले मे भी मैं जान नही सकता था। परतु बदले मे मेरी भी एक महत्त्वपूर्ण बात माननी होगी : "दोनो ही मामलो म मेरा विश्वास एक ही था, प्रमाण दोनो मे एक ही था (मैंन दो मिनट पहले पुस्तको की आलमारी को देखा था, और किसीको उसे हटाते देखा या सुना नही था)। एकमात्र अतर यह था कि पहले मामल मे पुस्तको की आलमारी वहाँ थी और दूसरे मामले मे वहाँ नही थी (प पहले मामले मे सत्य था और दूसरे मामल मे असत्य)। परतु इससे यह सिद्ध नही होता कि पहले मामले म मैं जानता नही था। इससे जो सिद्ध होता है वह यह है कि यद्यपि मैं गलती कर सकता था तथापि मैंने गलती नही की। यदि पुस्तको की आलमारी वहाँ न हुई होती तो मैं यह जानने का दावा न कर सका होता कि वह वहाँ है, परतु चूंकि आलमारी वास्तव म तब भी वहाँ थी, इसलिए मैं अवश्य जानता था, हालाँकि (मेरे पास जो प्रमाण था उसके आधार पर) मैं गलती कर सकता था।"

"हाँ, बात सत्य निकली—आप भाग्यशाली रहे। परंतु जैसा कि हम दोनो मानते हैं, सफल अटकल ज्ञान नही है।"

"लेकिन वह एक सफल अटकल मात्र नही थी। मेरे पास यह विश्वास करने के लिए बहुत ही बढिया हेतु था कि पुस्तको की आलमारी तब भी वहाँ थी। इस प्रकार प्रमाणवाली शर्त पूरी थी।"

"नही, वह पूरी नही थी। दोनो ही बार यह विश्वास करने के लिए कि आलमारी तब भी वहाँ थी, आपके पास बढिया प्रमाण या बहुत ही बढिया प्रमाण था, पर पर्याप्त प्रमाण नही था। लेकिन, दूसरे मामले मे वह वहाँ नही थी, इसलिए आप जानते नही थे; अत. पहले मामले मे भी, जिसमे आपके पास प्रमाण ठीक वही था, आप जानते नही थे। आपको अच्छे हेतु के आधार पर विश्वास मात्र था, परंतु वह पर्याप्त नही था. आपका हेतु पर्याप्त नही था, और इसलिए आपको ज्ञान नही था।"

अब दोनो विवादियो की जानने की कसौटी मे जो अंतर है वह उभरने लगा है। मेरे अनुसार, मुझे प का पहले मामले मे अवश्य ही ज्ञान था क्योकि मेरा विश्वास बहुत बढिया प्रमाण पर आधारित था और सत्य भी था। मेरे विरोधी के अनुसार, पहले मामले मे मुझे प का ज्ञान नही था क्योकि मेरे पास प्रमाण पूरे से कम था—बात को कहते समय मैं कमरे के अंदर पुस्तको की आलमारी को देख या छू नही रहा था। तो फिर, ऐसा लगता है कि मैं "जानना" की उसकी अपेक्षा कम कडी परिभाषा को लेकर चल रहा हूँ। मैं "जानना" का प्रयोग निर्बल अर्थ मे कर रहा हूँ। इसमे मै किसी प्रतिज्ञप्ति को तब जानता हूँ जब मैं उसमे विश्वास करता हूँ, उसमे विश्वास करने के लिए मेरे पास अच्छा हेतु होता है और वह सत्य होती है। पर वह (विरोधी) "जानना" का प्रयोग अधिक कडाई के साथ कर रहा है। वह इसका प्रयोग सबल अर्थ मे कर रहा है, जिसमे किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने के लिए प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना, मेरा उसमे विश्वास होना तथा उसके पक्ष मे प्रमाण का पूर्णत: निश्चायक होना आवश्यक है।

अब हम इन दो मामलो का वैषम्य दिखाते हैं :

मान लीजिए कि साधारण शरीर-परीक्षा करने के बाद डाक्टर उत्तेजित होकर मुझे बताता है कि एक्स-रे फोटो से प्रकट होता है कि मेरे दिल नही है। तो मैं उससे कहूँगा कि वह एक नई मशीन लाए। मैं यह कहना चाहूँगा कि

मेरे अदर अवश्य ही एक दिल है और यह उन थोडी-सी बातो मे से एक है जिन्हे मैं पूर्णत. निश्चयात्मक मान सकता हूँ। मैं उसे धडकते महसूस कर सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि वह वहा है। इसके अलावा, यदि मेरे अदर हृदय नही है तो मेरे शरीर मे रक्त कैसे घूमता है ? मान लीजिए कि बाद मे मेरी छाती मे चोट लगती है और मेरा आपरेशन किया जाता है। तब आश्चर्यचकित होकर डाक्टर घोषणा करते है कि उन्होने मेरी छाती के अदर देखा और हृदय नही पाया और कि उन्होने अन्य सभावित स्थानो को भी चीरकर देखा पर उन्हे हृदय कही नही मिला। उन्हे पक्का विश्वास है कि मेरे अदर हृदय नही है। वे इस बात को समझने मे असमर्थ हैं कि रक्त-सचरण कैसे हो पाता है और मेरी छाती के अदर धडकने की आवाज क्यो होती है। परतु वे एकमत है और अवश्य ही ईमानदारी के साथ कहते है, तथा उनके पास मेरे आतरिक भागो के साफ फोटो हैं। अब मेरी भावना क्या होगी ? क्या मैं इस बात पर डटा रहूँ कि वे सब गलती पर है ? मैं समझता हूँ कि नही। मैं विश्वास करता हूँ कि अत मे मुझे उनके साक्ष्य को और फोटो के प्रमाण को मान लेना होगा। जिस बात को मै इस समय पूर्णत निश्चयात्मक समझता हूँ उसे मुझे मिथ्या मान लेना चाहिए। (जब मैं कहता हूँ कि मेरे हृदय है, तब "जानना" का प्रयोग दुर्बल अर्थ मे है।)

मान लीजिए कि अभी, जब मैं इस पृष्ठ पर लिख रहा हूँ, कोई पास के कमरे से चिल्लाकर मुझसे पूछता है, " मुझे स्याही की दवात नहीं मिल रही है, क्या मकान मे कही दवात है ? " और मैं उत्तर देता हूँ, 'यहां स्याही की दवात है।" यदि वह सदेह प्रकट करता हुआ पूछता है, 'क्या आपको पक्का यकीन है ? मैं पहले ही वहाँ देख चुका हूं, " तो मैं कहता हूँ, "हां, मैं जानता हूँ कि स्याही की दवात यहां है ; आओ और ले लो।"

अब क्या यह बात मिथ्या निकल सकती है कि स्याही की दवात यहा मेरे सामने प्रत्यक्ष डेस्क के ऊपर रखी है ? अनेक दार्शनिको ने ऐसा सोचा है। वे कहेगे कि बहुत-सी बातें इस तरह की होती हैं कि उनके होने से मेरा भ्रम मे होना सिद्ध होता है। मैं मानता हूँ कि बहुत-सी असाधारण बातें हो सकती है, इस अर्थ मे कि उनका होना मानने मे कोई तार्किक विसगति नहीं है। ऐसा हो सकता है कि जब मैं उस दवात की ओर हाथ बढाता हूँ तब मेरा हाथ उसमे से होकर निकल-सा जाता है और मुझे किसी

भी चीज का स्पर्श अनुभव नही होता। यह हो सकता है कि अगले क्षण दवात एकाएक दृष्टि से लुप्त हो जाय, अथवा मैं स्वय को बगीचे मे पेड के नीचे पाऊँ और कही भी दवात न हो; अथवा एक या अधिक व्यक्ति इस कमरे मे आएँ तथा ईमानदारी के साथ यह घोषणा करने लगे कि उन्हे इस डेस्क पर कोई दवात नही दिखाई दे रही है; या डेस्क के ऊपरी भाग का इस समय एक फोटो लिया जाए और उसमे स्याही की दवात के अलावा सब चीजे साफ दिखाई दे। यह मान लेने पर कि ये चीजे हो सकती हैं, क्या मैं यह मानने के लिए बाध्य हूँ कि यदि ये हुई है तो यह सिद्ध हो गया है कि यहाँ अब स्याही की दवात नही है? बिल्कुल नही। मैं कह सकता हूँ कि जब मुझे हाथ स्याही की दवात मे से होकर गुजरता प्रतीत हुआ तब मुझे अपभ्रम हो गया था; कि यदि स्याही की दवात एकाएक लुप्त हो गई तो किसी चमत्कारिक ढग से उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया; कि अन्य लोग मुझे पागल बनाने के लिए षड्यत्र कर रहे थे, अथवा स्वयं ही आश्चर्य-जनक ढंग से साथ-साथ अपभ्रमो का शिकार हो गए थे; कि कमरे मे कोई विचित्र दोष आ गया था या निगेटिव को उभारने मे चालबाजी की गई थी ......। मैं यह मानने को बाध्य नही हूँ कि ये असाधारण घटनाएँ स्याही की दवात के यहाँ न होने के प्रमाण है। न केवल बाध्य नही हूँ, बल्कि वस्तुतः मानता ही नही हूँ। अगले क्षण या अगले वर्ष कोई भी ऐसी बात नही हो सकती जिसे मै इस बात का प्रमाण कहूँ कि इस समय यहाँ स्याही की दवात नही है। भविष्य मे होनेवाला कोई अनुभव या अन्वेषण यह सिद्ध नही कर सकता कि मै गलती कर रहा हूँ। अत. यदि मुझे यह कहना है कि "मै जानता हूँ कि यहाँ स्याही की दवात है", तो "जानना" का प्रयोग मैं सबल अर्थ मे कर रहा हूँगा।[1]

दैनिक जीवन मे "जानना" शब्द का प्रयोग हम निर्बल अर्थ मे करते है, जैसे तब जब मै कहता हूँ कि मैं जानता हूँ कि मेरे अंदर एक दिल है, कि यदि मैं खड़िया के इस टुकडे को छोड दूँ तो यह गिर जाएगा, कि कल सूरज निकलेगा, इत्यादि। इन सब बातो पर विश्वास करने का मेरे पास

---

१. नॉर्मन मैल्कम, "नॉलेज ऐंड बिलीफ", पृ० ६६-६८ (नॉलेज ऐंड सर्टेन्टी नामक पुस्तक में)।

उत्तम हेतु (प्रमाण) है, इतना दृढ प्रमाण है कि वह निश्चायक-जैसा ही (कहा जा सकता) है। और फिर भी ऐसी घटनाओ के होने की कल्पना की जा सकती है जो इन विश्वासो को सदेहग्रस्त कर देंगी या इन्हे मिथ्या तक सिद्ध कर देंगी।

परतु, दार्शनिक का अधिक सबध, 'जानना' के सबल अर्थ मे हुआ करता है। वह यह पूछना चाहता है कि क्या कोई प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी है जिन्हे हम लेश मात्र सदेह किए बिना जान सकते है, जो कभी मिथ्या सिद्ध नही होगी या अल्पतम मात्रा मे भी सदिग्ध नही होगी ? वह यह तक देगा "आप जानते हैं कि आपके अदर एक दिल है और कि सूर्य पृथ्वी से नौ करोड मील से अधिक दूर है, ऐसा आप कह सकते है और मैं मानता हूँ कि यह सम्यक् प्रयोग है, परतु ऐसा आप तब तक नही जानते जब तक आपके पास पूर्णत निश्चायक प्रमाण न हो, और आपको मानना होगा कि जो प्रमाण आपके पास है वह बहुत दृढ होते हुए भी निश्चायक नही है। इसलिए मैं कहूँगा ("जानना" का सबल अर्थ मे प्रयोग करते हुए) कि आप इन प्रतिज्ञप्तियो को नही जानते। तो फिर, मैं यह पूछना चाहता हूँ कि कौन-सी प्रतिज्ञप्तियाँ सबल अर्थ मे, यानी उस अर्थ मे जानी जा सकती है जो प्रतिज्ञप्ति को सदा के लिए सदेह से मुक्त कर देता है ?"

और, इस बारे मे अनेक दार्शनिक बहुत ही सदेहशील रहे है। ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ उन्होने बहुत ही कम मानी हैं जिनकी सत्यता को हम सबल अर्थ मे जान सकते है। बहुत-से तो ऊपर के स्याही की दवात वाले उदाहरण तक को स्वीकार नही करेंगे। वे कहेंगे कि स्याही की दवात का जो प्रमाण वहाँ है वह निश्चायक नही है, और कि यदि हम स्वय को एकाएक बाग मे पाते और वहाँ कोई स्याही की दवात न होती तो इससे हमारा पहली बार के इस कथन के सही होने मे सदेह करना उचित हो गया होता कि वहाँ एक स्याही की दवात है। अनेक यह भी कहेंगे कि यदि एकाएक रहस्यमय ढग से स्थान-परिवर्तन न भी हो तो भी हम (सबल अर्थ मे) नही जान सकते कि वहाँ एक स्याही की दवात है। वे कहेंगे कि एक स्याही की दवात की उपस्थिति के लिए भी परीक्षणो की अनत सख्या है, कि ये सारे कभी किए नहीं जा सकते, कि हम हमेशा देखते नही रह सकते, कि जो भी हम प्रेक्षण किया जाता है वह प्रतिज्ञप्ति को कभी भी निश्चयात्मक नही बनाता बल्कि उसे

प्रमाण मे केवल वृद्धि ही करता है। ऐसा व्यक्ति सशयवादी होता है। (वह कहता है) हम विश्व के बारे मे अनेक बातें जानने का दावा करते है, परतु वास्तव मे उनमे से कोई भी निश्चयात्मक रूप से नही जानी जा सकती। हम सशयवादी के मत के बारे मे क्या कहेगे ?

पहले यह बता दिया जाए कि "निश्चयात्मकरूप से जानना" मे "निश्चयात्मक रूप से" व्यर्थ है—हम निश्चयात्मक रूप से भिन्न किसी भी तरह से कैसे जान सकते है ? यदि बात निश्चयात्मक से कम है तो वह ज्ञान कैसे हो सकती है ? पर 'निश्चयात्मक" शब्द का हम भिन्न अर्थो मे प्रयोग करते है (१) कभी-कभी "निश्चयात्मक" से हमारा मतलब केवल यह होता है कि हमे निश्चयात्मकता की अनुभूति होती है—"मुझे यह बात निश्चयात्मक लगती है कि मैने कमरे के दरवाजे पर ताला लगा दिया था"—पर ऐसी अनुभूति इस बात की गारटी नही है कि यह कथन सत्य है। अनेक ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ होती है जिनका कोई भी प्रमाण नही होता, परतु जिनके सबध मे लोगो को निश्चयात्मकता की प्रबल अनुभूति रहती है, विशेषत तब जब उनमे विश्वास करने की उनकी इच्छा होती है या उनमे विश्वास करने से उनके मन को शाति मिलती है। तो इस प्रकार "निश्चयात्मकता अनुभव करना" केवल एक मानसिक अवस्था का सूचक है जिसका होना कदापि यह गारटी नही देता कि जिस बात के बारे मे निश्चयात्मकता का अनुभव हो रहा है वह सत्य है। (२) परतु कभी कभी "निश्चयात्मक" शब्द के प्रयोग से हमारा मतलब यह होता है कि बात निश्चयात्मक है—दूसरे शब्दो मे, यह कि हम जानते है कि सबधित प्रतिज्ञप्ति सत्य है। 'निश्चयात्मक" के इसी अर्थ मे दार्शनिको की दिलचस्पी होती है (पहले अर्थ मे रोगियो से व्यवहार करनेवाले मनश्चिकित्सको की अधिक दिलचस्पी होती है)। अब हम अपने प्रश्न को दूसरे रूप मे पूछ सकते है 'क्या कुछ भी निश्चयात्मक है ?" अथवा 'क्या कोई प्रतिज्ञप्ति निश्चयात्मक होती है ?"

कोई कह सकता है 'मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि आप क्यो कुछ कथनो का, बल्कि अधिकतर कथनो का, प्रतिवाद कर सकते हैं। पर, यदि आप इस मजेदार खेल म सभी कथनो को शामिल कर दें तो यह महज आपकी गलती होगी, और मैं समझता हूँ कि मैं इसे सिद्ध कर सकता हूँ। आप शायद कुहरे या मद प्रकाश मे किसी को देखें और यह न जानें (आपका

निश्चय न हो) कि उसका दाहिना हाथ है या नही। परतु, क्या आप नही जानते कि आपका दाहिना हाथ है ? वह रहा आपका दाहिना हाथ ! अब मान लीजिए कि मैं अपना हाथ ऊपर उठाता हूँ और कहता हूँ, "यह रहा हाथ।" अब आप मुझसे कहते हैं, "मुझे संदेह है कि यह हाथ है"। परंतु आप क्या प्रमाण चाहते है ? आपको संदेह क्या है ? शायद आपको अपनी आँखों पर विश्वास नहीं है ? तो ठीक है, आओ और हाथ को छुओ। अब भी विश्वास नही हुआ ? तो इसे लगातार देखते और छूते रहो, इसका फोटो ले लो। यदि आप चाहें तो और लोगों को बुला सकते हैं। यदि यह सब करने के बाद भी आप कहे कि यह निश्चयात्मक नही है तो आप और क्या चाहते है ? किन परिस्थितियों में आप मानेंगे कि यह निश्चयात्मक है, कि आप इसे जानते हैं ? जब कोई शर्त पूरी न हुई हो, कोई परीक्षण रह गया हो, तब मैं आपके संदेह को समझ सकता हूँ। शायद शुरू में आपको संदेह यह था कि यदि आप मेरे हाथ को छूने की कोशिश करेंगे तो आपको वहाँ कोई चीज छूने के लिए न मिलेगी। पर फिर आपने छूकर देख लिया और वह संदेह आपका मिट गया। अतिरिक्त संदेहों को आपने अन्य लोगों को बुलाकर तथा अन्य तरीकों से मिटा दिया। आपने सब तरह के उपयुक्त परीक्षण कर लिए और वे सब अनुकूल पाए गए। तो अब प्रक्रिया की समाप्ति पर रह क्या गया जिसमे आपको संदेह है ? अहो, मैं जानता हूँ कि आप क्या कहेंगे : "मुझे अब भी उसके हाथ होने में सदेह है।" पर क्या यह "मुझे संदेह है" कहना अब एक खोखली बात नही है ? अब उस तथा कथित संदेह का कोई विषय नही हो सकता, क्योंकि संदेह करने के लिए कुछ बचा ही नही है। आप स्वयं भी कोई और परीक्षण ऐसा नही बता सकते जिसको करके आपका संदेह मिट सकता हो। अब 'संदेह' एक खोखला शब्द हो गया है। अब आपको इसमें संदेह नही है कि यदि आप अपना हाथ मेरे हाथ को छूने के लिए उठाएँ तो आप उसे छू लेंगे अथवा यदि गोपाल और दूसरो को बुलाया जाए तो वे भी यह गवाही देंगे कि यह एक हाथ है—ये सब बातें पहले ही हो चुकी है। तो फिर वह क्या विशेष बात है जिसमें आपको संदेह है ? वह कौन-सा परीक्षण सभव है जिसके निषेधात्मक परिणाम का आपको डर है ? मेरा मत है कि कोई भी नही है। आप एक ऐसी परिस्थिति को जिसमें संदेह उचित है (परीक्षणों को करने से पहले), एक बाद की परिस्थिति से जिसमे यह उचित नही है, क्योंकि यह सारा दूर

हो चुका है, व्यर्थ ही उलझा रहे है। मान लीजिए, आपको मेज पर पड़े इस पदार्थ के पनीर होने मे सदेह है। आप मानते है कि यदि वह पनीर है तो उसकी कुछ परिभाषक विशेषताएँ अ, ब, स और द है। मैं आपको दिखाता हूँ कि उसमे अ है, तब यह कि उसमे ब है, तव स और तव द है। और फिर भी आपको उसके पनीर होने मे सदेह रहता है। मैं और क्या कहूं ? आप मानते है कि यदि उसमे अ, ब, स और द हैं तो वह पनीर है, और आप मानते है कि उसमे अ, ब, स और द है ; अतः आप तर्कत. इस निष्कर्ष से नही बच सकते कि वह पनीर है।"

सदेहवादी कहता है : "आपने मुझे गलत समझा। मैं मानता हूँ कि यदि इसमे अ, ब, स, द है तो यह पनीर है, बशर्ते पनीर की परिभाषा मे यही विशेषताएँ शामिल हो। अर्थात् मैं केवल परिभाषा तक ही आपसे सहमत हूँ। परतु, मैं इस वात मे सहमत नही हूँ कि मैं सामने जिस चीज को देख रहा हूँ वह उस परिभाषा के अनुरूप है। जिस प्रकार मुझे इसके पनीर होने मे सदेह है, ठीक उसी प्रकार इस बात मे भी सदेह है कि इसमे वस्तुत अ विशेषता है, ब विशेषता है इत्यादि। शायद यह प्रतीत हो कि इसमे वह है, पर यह सोचने मे हम गलती कर सकते है कि इसमे वह वस्तुतः है। जैसे मैं नही जानता कि यह पनीर है वैसे ही मैं नही जानता कि इसमे अ है।"

"परतु, जब कोई चीज सदेह करने के लिए बाकी ही नही बची तब आपका तथाकथित सदेह निरर्थक हो जाता है — परीक्षण तो सारे ही किए जा चुके है और उनके परिणाम सारे अनुकूल है। मान लीजिए कि एक डाक्टर एक रोगी की जांच करता है और कहता है, 'शायद (यह प्रसभाव्य है कि) आपके उडुकपुच्छ मे सूजन है'। यहां सदेह के लिए फिर भी गुजाइश है क्योकि लक्षण भ्रामक हो सकते है। डाक्टर रोगी का आपरेशन करता है, उडुकपुच्छ मे सूजन पाता है और उसे काटकर निकाल देता है, और तब रोगी ठीक हो जाता है। अब, डाक्टर के इस कथन का क्या अर्थ होगा कि 'यह प्रसभाव्य है कि (शायद) रोगी के उडुकपुच्छ मे सूजन है ?' यदि देखने और काटकर निकाल देने पर भी वात प्रसभाव्य ही है तो वह निश्चयात्मक कब है ? अथवा, आप कार चलाए जा रहे हैं और जल्दी-जल्दी नियमित रूप से होनेवाली धप-धप की आवाज सुनते हैं। आप कहते हैं, 'शायद

पहिए की हवा निकल गई है'। यहां तक आपकी बात ठीक है—थप-थप की आवाज किसी और वजह से भी हो सकती है। तब आप बाहर निकलते हैं और देखते हैं, और पहिए की हवा निकली पाते हैं। आप उसमें एक कील घुसी हुई पाते हैं, पहिए को बदलते हैं और फिर कार बिना थप-थप किए चल पड़ती है। क्या अब आप यह कहेंगे कि 'शायद पहिए की हवा निकल गई थी?' पर यदि उन सब परिस्थितियों के होते हुए भी आप 'शायद' ही कहें तो निश्चयात्मकता कब आएगी? क्या आप मुझे वे परिस्थितियाँ बता सकते हैं जिनमें आप कहें कि बात निश्चयात्मक है? यदि नहीं तो 'निश्चयात्मक होना' का आपके प्रयोग में कोई अर्थ नहीं है। आप इसका एक ऐसे विशेष तरीके से इस्तेमाल कर रहे हैं कि यह किसीपर लागू ही नहीं हो रहा है, और इसकी कोई वजह नहीं है कि कोई और आपके प्रयोग का अनुसरण करे। दैनिक जीवन में 'प्रसंभाव्य' और 'निश्चयात्मक' शब्दों के प्रयोग के बीच हम एक बहुत ही आसान और उपयोगी अंतर रखते हैं। आपरेशन से पहले हम ऊंडुकपुच्छशोथ को प्रसंभाव्य कहते हैं, परंतु जब डाक्टर आपरेशन की मेज पर रोगी के उंडुकपुच्छ को सामने खुला पड़ा देखता है तब वह निश्चयात्मक होता है—ठीक इसी प्रकार की परिस्थिति में हम 'प्रसंभाव्य' के विपरीत 'निश्चयात्मक' शब्द का प्रयोग करते हैं। अब आपको किसी वजह से 'शायद' या 'प्रसंभाव्य' शब्द इतना प्रिय है कि प्रत्येक चीज के लिए आप इसका प्रयोग करना चाहते हैं—आप आपरेशन से पहले की और बाद की, दोनों ही परिस्थितियों के लिए इसका प्रयोग कर रहे हैं, और 'निश्चयात्मक' शब्द को आप कोई भी प्रयोग किए बिना छोड़ देते हैं। परंतु, यह तो आपका शाब्दिक हेरफेर मात्र हुआ। आपने बदला कुछ भी नहीं; आपने कुछ-कुछ ऐसा किया है जैसे कि मानो अलग-अलग द्रव्यों से भरी दो बोतलों को लिया है और, जैसा कि और लोग करते हैं, उनपर अलग अलग लेबल ('प्रसंभाव्य' और 'निश्चयात्मक') चिपकाने के बजाय दोनों पर एक ही लेबल ('प्रसंभाव्य') चिपका दिया है! इसमें कौन-सा लाभ संभव है? यह तो शाब्दिक वैपरीत्य मात्र हुआ। और चूंकि आपने 'प्रसंभाव्य' शब्द को पहले से ही दोनों ही परिस्थितियों पर लागू करने के लिए रख छोड़ा है, इसलिए हमें अब आपरेशन से पहले की परिस्थिति तथा आपरेशन के समय की परिस्थिति के मध्य जो बिलकुल साफ अंतर है—वही अंतर जिसे आपके द्वारा दोनों ही परिस्थितियों के लिए 'प्रसंभाव्य'

शब्द का प्रयोग किए जाने से पहले 'प्रसभाव्य' और 'निश्चयात्मक' शब्दो के प्रयोग से प्रकट किया जाता था – उसे प्रकट करने के लिए हमे शब्दो का एक और जोडा बनाना पडेगा। आपके इस शाब्दिक हेरफेर से लाभ क्या हुआ ?"

सदेहवादी यह उत्तर देता है "यह शाब्दिक हेरफेर नहीं है। हमारे बीच झगडा शब्दो के बारे मे नहीं बल्कि तथ्यो के बारे मे है। मैं तब तक किसी प्रतिज्ञप्ति को निश्चयात्मक नही कहता या उसे सत्य जानने का दावा नही करता जब तक उसका पूरा प्रमाण मौजूद न हो। यह पनीर है या उस रोगी को उण्डुकपुच्छशोथ था या पहिए की हवा निकल गई थी, इस बात को निश्चयात्मक कहने से मेरे इन्कार करने का कारण यह है कि इन प्रतिज्ञप्तियो का पूरा प्रमाण मुझे नही मिला है जितना है उससे भी अधिक प्रमाण मिल सकता है और वह प्रतिकूल निकल सकता है। आपके उदाहरण सत्य-जैसे लगते है, क्योंकि उन्हे बताते समय आपने बिना प्रमाण के मान लिया है कि कुछ अन्य बातें निश्चयात्मक थी कि कार वास्तव मे थी, कि आप स्वप्न नहीं देख रहे थे, कि डाक्टर वास्तव मे रोगी के उण्डुकपुच्छ को देख रहा था, कि वास्तव मे एक आपरेशन की मेज थी, इत्यादि। अब मेरी मान्यता यह है कि ये सारी बातें उसी तरह अनिश्चयात्मक हो सकती है जिस तरह रोगी को उण्डुकपुच्छशोथ होने और पहिए की हवा निकलने की मूल बातें। आपको उन्हे बीच मे लाकर यह मान लेने का कोई अधिकार नही है कि मानो ये निश्चयात्मक हो। मैं इनका एक-एक करके प्रतिवाद करना चाहूँगा, और कारण वही होगे। वे निश्चयात्मक इसलिए नही हैं कि उनका प्रमाण कभी पूरा नही मिलता और भी प्रमाण मिलने के लिए हमेशा गुंजाइश बनी रहेगी और नए प्रमाण का निषेधात्मक परिणाम हो सकता है। इसीलिए मुझे अपके हाथवाले उदाहरण का भी प्रतिवाद करना पडा है। यदि मैं यह मानता हूँ कि मैं वास्तव मे हाथ को देख और छू रहा हूँ, तो मैं एकाएक उसके अस्तित्व मे सदेह नही कर सकता, क्योंकि 'मैं वस्तुत उसे देख रहा हूँ' कहने का आशय 'उसका अस्तित्व है' कहने मे ही जुडा हुआ है। परन्तु मैं कैसे जानता हूँ कि मैं वास्तव मे एक हाथ को देख और छू रहा हूँ, अथवा, दूसरे शब्दो मे, मैं एक वास्तविक हाथ को देख और छू रहा हूँ ? यदि मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं ऐसा कर रहा हूँ तो अवश्य ही यह मेरी

हार है। परंतु यह प्रारंभिक स्वीकृति, जिसे आप अपने उदाहरण मे मानकर चले है, वह बात है जिसे मै नही करूँगा।"

ऐसा लगेगा कि यहाँ प्रतिद्वंद्वियो मे गत्यवरोध हो गया है। इस काल्पनिक सवाद मे जो आधारभूत प्रश्न उठाए गए है वे अत्यधिक जटिल है : मै कैसे जानता हूँ कि मेरे ऐंद्रिय प्रत्यक्ष विश्वसनीय है ? मैं कैसे जान सकता हूँ कि मुझे भ्रम हो रहा है या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ? क्या जगत के बारे मे प्रत्येक कथन को असख्य परीक्षणो से जाँचा जाना है, जो कि निश्चय ही कभी पूरा न हो सकेगा ? और यदि जाँचा जाना है, तो क्या परिणाम यह होगा कि हम कदापि किसी ऐसे कथन को सत्य नही जान सकेंगे ? विवाद को यहाँ तक पहुँचाकर इस समय हमे इन गभीर प्रश्नो की चर्चा को स्थगित कर देना होगा। फिर अध्याय ८ मे यह चर्चा की जाएगी। स्थगित करने का कारण शायद इस समय उतना स्पष्ट न हो, पर है वह यह कि इन प्रश्नो का विवेचन बहुत ही सूक्ष्म हो जाता है और जब तक कई अन्य समस्याओ का पहले विवेचन न कर लिया जाए तब तक इनको उठाना फलप्रद न होगा। अध्याय ८ मे इनका तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से सबधित अन्य समस्याओ का विवेचन किया जायगा। इस समय हमारा काम केवल "ज्ञान" की परिभाषा देना है, और प्रत्यक्ष ज्ञान का उदाहरण बात को समझाने मात्र के उद्देश्य से दिया गया है। अध्याय ८ से पहले हम इस बात मे सदेह नही करेंगे कि भौतिक जगत् का अस्तित्व है, कि हम अपनी इंद्रियो के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते है, और कि कम-से-कम कभी-कभी तो उसके बारे मे हमारे निर्णय सत्य होते हैं। चूँकि इन बातो मे हम जीवन पर्यंत विश्वास तो करते ही रहे, इसलिए कुछ और समय तक विवेचन किए बिना उनमे विश्वास कर लेने मे कोई हानि नही है।

फिलहाल यह बता देना ठीक होगा कि प्रतिज्ञप्तियो के दो और वर्ग ऐसे है जो सदेहवादी के प्रहार से बचे है :

१. मैं अपने ही अस्तित्व और अपनी ही चेतना की अवस्थाओ के बारे मे प्रतिज्ञप्तियो का कथन कर सकता हूँ, और ये, जैसा कि हम इसी अध्याय मे पहले देख चुके हैं, स्वत प्रमाण हैं : मुझे दर्द या नीद महसूस होना स्वयं ही मुझे यह कहने का अधिकार देने के लिए पर्याप्त है कि "मुझे दर्द है" या 'मुझे नीद आ रही है।" ऐसे प्रसगो मे प्रमाण की बात करना ही कुछ विचित्र है। जैसे

यह कहने के लिए कि सूरज नौ करोड मील से अधिक दूर है, मुझे प्रमाण की आवश्यकता है, वैसे यह कहने के लिए नही कि मुझे नीद आ रही है। मुझे दर्द महसूस होना इस कथन की सत्यता के लिए पर्याप्त है कि "मुझे दर्द महसूस हो रहा है।" इन प्रतिज्ञप्तियो को जानना उस जानने की परिभाषा के अतर्गत नही है जिसे प्रमाण की आवश्यकता होती है। क्या हम यह कहे कि मेरे पास "मुझे दर्द है" का कोई प्रमाण नही है ? नही, यह तथ्य कि मुझे दर्द है, इस कथन की सत्यता का एकमात्र प्रमाण है और पर्याप्त है। तो क्या यह कहे कि मुझे प्रमाण की कोई आवश्यकता नही है ? ठीक है, मुझे प्रमाण की उस तरह जरूरत नही है जिस तरह सूरज की दूरी के लिए, क्योकि सवधित अनुभव स्वय ही वह सारा प्रमाण है जिसकी मुझे जरूरत है। शायद यह कहना अधिक ठीक है कि प्रमाण की अवश्य ही मुझे जरूरत है, पर वह अनुभव ही स्वय वह पूरा प्रमाण है जिसकी मुझे जरूरत है। बात को जिस रूप मे भी कहे तथ्य एक ही है : मैं उक्त कथन को अनुभव होने मात्र के आधार पर सत्य जान सकता हूँ। (और इस बात पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नही है कि यह केवल इद्रियानुभवो के होने को बतानेवाली प्रतिज्ञप्तियो पर ही लागू होता है। दैनिक जीवन मे जितने भी कथन हम करते है वे लगभग सभी—इस परिच्छेद मे जिनका उदाहरणो के रूप मे प्रयोग किया गया है उनको शामिल करके—इससे बाहर है।)

२ ऐसे कथन भी होते हैं जो हमारे या दुनिया के बारे मे कोई भी दावा नही करते, जैसे "बिल्लियाँ बिल्लियाँ है" तथा "लाल गुलाब लाल है"। ऐसे कथनो को 'विश्लेषी' कहते है और हम अगले अध्याय को इन्ही की चर्चा के साथ शुरू करेगे। इन कथनो का विश्लेपण "तर्कबुद्धि के सत्य" कहे जानेवाले कथनो के एक पूरे वर्ग पर विचार करने से पहले अनिवार्य है—ऐसे कथनो के लिए हमे या तो किसी प्रमाण की जरूरत नही होती या यदि होती भी हो तो वह उस अर्थ मे प्रमाण नही है जिस अर्थ की हमने इस अध्याय मे चर्चा की है। ये सत्य "अनिवार्यता के क्षेत्र" के अतर्गत है।

अध्याय ३

अनिवार्य सत्य

६. विश्लेषी सत्य और तार्किक संभवता

विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियाँ—यदि कोई कहे कि "काली बिल्लियाँ भयानक होती हैं" या "काली बिल्लियाँ दुर्भाग्य का कारण होती है" तो इस कथन की सत्यता को चुनौती दी जा सकती है ; परंतु शायद कोई भी इस बात का प्रतिवाद नही करेगा कि यह सत्य हो या असत्य हो, पर है सचमुच कुछ बतानेवाला कथन। परतु यदि कोई कहता है कि "काली बिल्लियाँ काली होती है", तो हमे यह कहने की इच्छा होगी कि वह कुछ भी नही कह रहा है या वह कोई सत्य बात तो कह रहा है पर वह बात इतनी तुच्छ है कि कहने के योग्य ही नही है।

"काली बिल्लियाँ काली होती है" विश्लेषी कथन का एक उदाहरण है। यह प्रयोग शायद अच्छा नही है, क्योकि "विश्लेषी" शब्द के अन्य अर्थ भी हैं। जो भी हो अब यह दार्शनिको की सामान्य शब्दावली मे जम गया है और दर्शन-साहित्य मे बराबर मिलता है। इस शब्द का प्रयोग इस बात मे चला है कि इस प्रकार के कथन की सत्यता या असत्यता को जानने के लिए कथन का विश्लेषण ही काफी होता है। उदाहरण के लिए, आप "सब काली बिल्लियाँ काली होती हैं" का विश्लेषण करके इसे "सब अ ब अ है", इस सामान्य रूप मे रख सकते हैं—और आप देखेंगे कि "काली" शब्द, जिसे वाक्य का "तार्किक विधेय" कहेंगे, उस बात को दोहराता मात्र है जो पहले ही वाक्य के उद्देश्य मे शामिल है। *आपको यह तक ज्ञान होना आवश्यक नही है* कि "काली" शब्द का क्या अर्थ है : इतना जान लेना ही काफी होगा कि उसका जो भी अर्थ उद्देश्य मे है वही अर्थ विधेय मे भी है। "काला काला है" भी विश्लेषी है, हालांकि इसका आकार थोडा भिन्न है : यह "अ ब अ है" न होकर "अ अ है" है।

विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियो का दार्शनिको के लिए काफी अधिक महत्त्व है, क्योकि जब एक बार आप जान लेते हैं कि एक दी हुई प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी है

तब आप आगे कोई भा जांच-पड़ताल किए विना जान लेते हैं कि वह सत्य है—यह जानने के लिए आपको विशेपत: जगत का प्रेक्षण नही करना पड़ता, जो कि जिन प्रतिज्ञप्तियों पर हम विश्वास करते हैं उनमे से अधिकतर की सत्यता को जानने से पहले जरूरी होता है। पर एक प्रतिज्ञप्ति विश्लेपी है या नही, यह बात इतनी सुस्पष्ट लगेगी कि इस सबंध में कोई समस्या ही कभी पैदा नही होगी : यह बात निश्चय ही "काला काला है" के बारे में सही है, जो इतनी सुस्पष्ट है कि इसे व्यक्त करनेवाले वाक्य को बोलने तक की बात हमारे मन में नही आएगी। परंतु कुछ प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेपी होना, उनकी विश्लेषिता, बिल्कुल स्पष्ट नही होती।

"सब भाई भाई है" प्रकटत: विश्लेपी है : आवृत्ति ठीक हमारे सामने है और शब्दों में प्रकट है। परंतु "सब भाई पुरुष है" जिस रूप मे हमारे सामने है उस रूप मे विश्लेषी बिल्कुल नही है : इसे विश्लेपी बनाने के लिए हमें "भाई" की परिभाषा बतानी पड़ेगी और उस परिभाषा को इस शब्द के स्थान पर रखना पड़ेगा। आखिर "भाई" एक ध्वनि ही तो है जिसका किसी भी अर्थ में प्रयोग किया जा सकता था। सामान्यत: इसका जो अर्थ होता है उसे व्यक्त करने के लिए जब यह प्रयुक्त होता है—पुरुष समपितृक, यानी उसी माता या पिता की पुरुप-संतान के अर्थ में—केवल तभी हम परिभाषित शब्द के स्थान पर परिभाषा को रखने के बाद इससे एक विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार "एक गज तीन फुट होता है" विश्लेपी तब होती है जब हम 'गज' के स्थान पर उसकी परिभाषा "तीन फुट" को रखकर "तीन फुट तीन फुट है" प्राप्त करते हैं। इस उदाहरण मे हमारे सामने एक पूरी परिभाषा है, जिसका रूप "अ अ है" बनता है। पहले उदाहरण में हमारे सामने एक परिभाषक विशेपता का कथन है, जिसका रूप "अ ब अ है" बनता है। पर दोनो ही उदाहरणों मे प्रतिज्ञप्ति विश्लेपी है।

यदि ये उदाहरण भी हमें सुस्पष्ट लगते है, तो केवल इसलिए कि संबंधित शब्दो की परिभाषाएँ हमारे लिए बहुत ही सरल और स्पष्ट है। "कुमार अविवाहित होते हैं" इसी प्रकार सरल और स्पष्ट है, क्योकि अविवाहित होना कुमार होने की एक परिभाषक विशेषता है। "सब भौतिक द्रव्य स्थान घेरते है" निस्संदेह बहुत समय तक हमे परेशान नही करेगा, क्योकि हम तुरंत ही सोच लेते है कि हम किसी चीज को भौतिक द्रव्य तब तक नही कहेंगे जब तक

वह स्थान न घेरे—अर्थात् स्थान घेरना भौतिक द्रव्य की एक परिभाषक-विशेषता है। परंतु अन्य उदाहरण इतने सरल नहीं हैं : "उत्तम खिलाड़ी वे हैं जो अधिकतर खेलों में जीतते हैं" कुछ परेशान करनेवाला है। हम इसे विश्लेषी कहते हैं या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि जिन्हें हम "उत्तम खिलाड़ी" कहते हैं उनके अंदर क्या विशेषताएँ होनी चाहिए। यदि "उत्तम खिलाड़ी" की हम यह परिभाषा करते हैं कि उत्तम खिलाड़ी वह है जिसकी विजय का रिकार्ड सबसे ऊँचा हो, तो यह प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी है ; पर यदि यह परिभाषा नहीं करते—जैसे, यदि एक खिलाड़ी को उतनी बार विजय की प्राप्ति तो नहीं होती जितनी बार दूसरे को, पर वह उससे श्रेष्ठ अपने ऊँचे कौशल या बढ़िया शैली के कारण गिना जाता है—तो वह विश्लेषी नहीं है। उसका विश्लेषी होना या न होना उसमें शामिल पदों की परिभाषाओं पर निर्भर करता है। और यदि परिभाषाएँ स्पष्ट नहीं हैं (जैसा कि बहुधा होता है, क्योंकि सामान्य प्रयोग में अधिकतर शब्दों की प्रायः स्पष्ट परिभाषा नहीं होती), तो यह भी स्पष्ट नहीं होता कि प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी है या नहीं।

हमें सदैव वाक्य के रूप को देखकर भी नहीं चलना चाहिए। "काले आदमी काले आदमी हैं" विश्लेषी प्रतीत होता है, पर है नहीं। "काले आदमी" जिन लोगों को कहा जाता है (यूरोपियों के द्वारा) उनकी यह परिभाषक विशेषता नहीं है कि वे अवश्य ही काले हों : एक कश्मीरी भी "काला आदमी" है, हालाँकि वह वर्ण में एक यूरोपीय से भी गोरा हो सकता है। अधिकतर "काले लोग" अधिकतर यूरोपीयों की तुलना में काले होते हैं, इसीलिए यह नाम चल पड़ा है ; परंतु इससे हमें यह सोचने की गलती नहीं करनी चाहिए कि जिस विशेषता के आधार पर किसी समूह का नाम पड़ता है वह सदैव एक परिभाषक विशेषता होती है। फिर, "व्यापार व्यापार है" सीधे-सादे "अ अ है" की तरह दीख पड़ता है ; परंतु प्रयोग में इसका अर्थ कुछ "व्यापार में सब चलता है" जैसा है, और इस वाक्य में व्यक्त प्रतिज्ञप्ति बिल्कुल भी विश्लेषी नहीं है। इसके विपरीत, "यदि तुम इस अध्याय को काफी देर तक पढ़ोगे तो यह तुम्हारी समझ में आ जाएगा" बिल्कुल भी विश्लेषी नहीं लगता, परन्तु जरा देखिए : कितनी देर काफी देर है ? मान लीजिए कि तुम इस अध्याय को पचास बार पढ़ते हो और फिर भी तुम्हारी समझ में नहीं आया। तब कोई कहता है, 'इससे केवल यह प्रकट होता है कि

-तुमने यह काफी देर तक नही पढा ।" अब हमे यह शक होने लगता है कि वह "काफी देर तक" का "जब तक यह आपकी समझ मे नही आ जाता" के अर्थ मे प्रयोग कर रहा है। और यदि यह इसका अर्थ है तो यह विश्लेपी है : "यदि तुम इसे तब तक पढते रहोगे जब तक यह तुम्हारी समझ मे नही आ जाता, तो इसे समझ जाओगे।" (यदि आपके पचास बार पढ लेने के बाद वह कहे, 'मै शायद गलती पर था--तुमने काफी देर इसे पढा है और फिर भी यह तुम्हारी समझ मे नही आया" तो वह इस वाक्य का प्रयोग किसी विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए नही करता होगा ।)

प्रतिज्ञप्ति ठीक कब विश्लेपी होती है ? "विश्लेपी" की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई है, जिनमे मे हम केवल दो मुख्य परिभाषाओ का उल्लेख करेंगे। (प्रत्येक के कुछ रूपभेद है ।) इन दो परिभाषाओ मे "विश्लेपी" शब्द का गुणार्थ अलग है, हालाकि वस्त्वर्थ बहुत-कुछ वही है—अर्थात् एक प्रतिज्ञप्ति यदि एक परिभाषा के अनुसार विश्लेपी है तो दूसरी के अनुसार भी, कुछ अपवादो को छोडकर जिन्हे हम समय आने पर बताएँगे, विश्लेपी है ।

१. विश्लेपी कथन वह है जिसका निषेध स्वतोव्याघाती होता है। यदि कोई कहे कि "काला काला नही है," तो यह स्वतोव्याघाती बात होगी, वह कहता होगा कि "अ अ नही है ।" यदि आप एक सत्य विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति का निषेध करते है तो सदैव एक स्वतोव्याघाती प्रतिज्ञप्ति प्राप्त होगी । (असत्य विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति एक स्वतोव्याघाती प्रतिज्ञप्ति होगी । परतु, आम तौर पर ऐसी प्रतिज्ञप्ति को केवल "स्वतोव्याघाती" कहा जाता है। असत्यता को अविश्लेपी प्रतिज्ञप्तियो की विशेषता बताने के लिए रखा जाता है और सत्य विश्लेपी प्रतिज्ञप्तियो को केवल "विश्लेपी" कहा जाता है ।) इसी प्रकार, "एक गज तीन फुट नही होता" मे उद्देश्य-पद के स्थान पर उसकी परिभाषा को रख देने से "तीन फुट तीन फुट नही होता" बन जाता है, जो कि स्वतोव्याघाती है। परतु यदि आप "बर्फ सफेद होती है" का निषेध करें, तो—यह मानते हुए कि सफेद होना बर्फ की परिभापक विशेषता नही है—"बर्फ सफेद नही होती" वाक्य प्राप्त होता है, जो असत्य तो है पर स्वतोव्याघाती नही है ।

सश्लेपी प्रतिज्ञप्ति वह है जो विश्लेपी न हो। इस प्रकार :

विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियाँ ("बर्फ बर्फ है")	सत्य संश्लेषी प्रतिज्ञप्तियाँ ("बर्फ सफेद है")
निषेधात्मक : स्वतोव्याघाती प्रतिज्ञप्तियाँ ("बर्फ बर्फ नही है")	निषेधात्मक : असत्य संश्लेषी प्रतिज्ञप्तियाँ ("बर्फ सफेद नही है")

२. विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति वह है जिसकी सत्यता का निर्धारण केवल उसको व्यक्त करनेवाले वाक्य में आनेवाले शब्दो के अर्थ के विश्लेषण से हो सकता है। यह जानने के लिए कि प्रतिज्ञप्ति सत्य है या नहीं, आपको भाषा के अलावा दुनिया में किसी चीज की जाँच-पड़ताल करने की जरूरत नही है। यदि आप "पिता" (पुरुष-जनक) के अर्थ का विश्लेषण करे, तो आप जान लेते हैं कि "पिता पुरुष होता है" सत्य है; आपको यह जानकारी स्वय वाक्य के विश्लेषण से हो जाती है, दुनिया के तथ्यों के प्रेक्षण से नही ! इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को निर्धारित करने के लिए आपको सिर्फ इस वाक्य के शब्दो का ही अर्थ जानना है।

पहली परिभाषा स्वयं प्रतिज्ञप्तियो की एक विशेषता को बताती है, और दूसरी परिभाषा यह बताती है कि हमे उनके सत्य होने की जानकारी कैसे होती है। परतु अधिकतर प्रयोजनो के लिए दोनो परिभाषाओं मे कोई अतर नही है।

विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियो को पहचानने मे कई सावधानियाँ आवश्यक है :

१. जब वाक्य भिन्नार्थक होता है तब एक अर्थ के अनुसार उसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी हो सकती है परंतु दूसरे अर्थ के अनुसार व्यक्त प्रतिज्ञप्ति नही। "सभी मधुशालाओं में शराब पिलाई जाती है" तब विश्लेषी है जब "मधुशाला" का मतलब वह स्थान होता है जहाँ शराब बिकती है, परतु यदि "मधुशाला" का मतलब वह स्थान है जहाँ शहद मिलता है तो प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी बिल्कुल नही है। असल मे दोनो प्रतिज्ञप्तिया भिन्न हैं।

२. कभी-कभी अलग-अलग व्यक्ति शब्दो का अलग-अलग ढग से प्रयोग करते है; और जब ऐसा होता है तब एक व्यक्ति के द्वारा बोला गया वाक्य एक विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त कर सकता है, परंतु जब दूसरा व्यक्ति उसको बोलता है तब नही। यदि आप नीचे किसी टेक के होने को (जैसे टाँगों का होना) "मेज" की परिभाषा का अंग मानते हैं, तो "मेज नीचे किसी चीज पर टिकी हुई है" आपके प्रयोग के अनुसार विश्लेषी है। परंतु, यदि एक दूसरा

तुमने यह काफी देर तक नही पढा ।" अव हमें यह शक होने लगता है कि वह "काफी देर तक" का "जब तक यह आपकी समझ मे नही आ जाता" के अर्थ मे प्रयोग कर रहा है। और यदि यह इसका अर्थ है तो यह विश्लेपी है : "यदि तुम इसे तब तक पढ़ते रहोगे जब तक यह तुम्हारी समझ में नही आ जाता, तो इसे समझ जाओगे ।" (यदि आपके पचास वार पढ लेने के बाद वह कहे, "मैं शायद गलती पर था—तुमने काफी देर इसे पढ़ा है और फिर भी यह तुम्हारी समझ में नही आया" तो वह इस वाक्य का प्रयोग किसी विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए नही करता होगा ।)

प्रतिज्ञप्ति ठीक कब विश्लेपी होती है ? "विश्लेपी" की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं, जिनमें से हम केवल दो मुख्य परिभापाओ का उल्लेख करेंगे। (प्रत्येक के कुछ रूपभेद है ।) इन दो परिभापाओ में "विश्लेषी" शब्द का गुणार्थ अलग है, हालांकि वस्त्वर्थ बहुत-कुछ वही है—अर्थात् एक प्रतिज्ञप्ति यदि एक परिभापा के अनुसार विश्लेपी है तो दूसरी के अनुसार भी, कुछ अपवादों को छोड़कर जिन्हे हम समय आने पर बताएँगे, विश्लेपी है ।

१. विश्लेपी कथन वह है जिसका निषेध स्वतोव्याघाती होता है। यदि कोई कहे कि "काला काला नही है," तो यह स्वतोव्याघाती बात होगी; वह कहता होगा कि "अ अ नहीं है ।" यदि आप एक सत्य विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति का निपेध करते हैं तो *सदैव एक स्वतोव्याघाती प्रतिज्ञप्ति प्राप्त होगी । (असत्य* विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति एक स्वतोव्याघाती प्रतिज्ञप्ति होगी । परतु, आम तौर पर *ऐसी प्रतिज्ञप्ति को केवल "स्वतोव्याघाती" कहा जाता है । असत्यता को* अविश्लेपी प्रतिज्ञप्तियो की विशेपता वताने के लिए रखा जाता है और सत्य विश्लेपी प्रतिज्ञप्तियों को केवल "विश्लेपी" कहा जाता है।) इसी प्रकार, "एक गज तीन फुट नही होता" मे उद्देश्य-पद के स्थान पर उसकी परिभाषा को रख देने से "तीन फुट तीन फुट नही होता" बन जाता है, जो कि स्वतोव्याघाती है। परंतु यदि आप "बर्फ सफेद होती है" का निपेध करें, तो—यह मानते हुए कि सफेद होना बर्फ की परिभापक विशेपता नही है—"बर्फ सफेद नही होती" वाक्य प्राप्त होता है, जो असत्य तो है पर स्वतोव्याघाती नही है ।

संश्लेपी प्रतिज्ञप्ति वह है जो विश्लेपी न हो । इस प्रकार :

विश्लेपी प्रतिज्ञप्तियाँ ("बर्फ बर्फ है")	सत्य सश्लेपी प्रतिज्ञप्तियाँ ("बर्फ सफेद है")
निपेधात्मक स्वतोव्याघाती प्रतिज्ञप्तियाँ ('बर्फ बर्फ नही है")	निपेधात्मक : असत्य सश्लेपी प्रतिज्ञप्तियाँ ("बर्फ सफेद नही है")

२ विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति वह है जिसकी सत्यता का निर्धारण केवल उसको व्यक्त करनेवाले वाक्य मे आनेवाले शब्दो के अर्थ के विश्लेपण से हो सकता है। यह जानने के लिए कि प्रतिज्ञप्ति सत्य है या नहीं, आपको भापा के अलावा दुनिया मे किसी चीज की जाँच पडताल करने की जरूरत नही है । यदि आप "पिता" (पुरुप जनक) के अर्थ का विश्लेपण करे, तो आप जान लेते है कि "पिता पुरुप होता है" सत्य है, आपको यह जानकारी स्वय वाक्य के विश्लेपण से हो जाती है, दुनिया के तथ्यो के प्रेक्षण से नही । इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को निर्धारित करने के लिए आपको सिर्फ इस वाक्य के शब्दो का ही अर्थ जानना है ।

पहली परिभापा स्वय प्रतिज्ञप्तियो की एक विशेपता को बताती है, और दूसरी परिभापा यह बताती है कि हमे उनके सत्य होने की जानकारी कैसे होती है । परतु अधिकतर प्रयोजनो के लिए दोनो परिभापाओ मे कोई अतर नही है।

विश्लेपी प्रतिज्ञप्तियो को पहचानने मे कई सावधानियाँ आवश्यक हैं :

१. जब वाक्य भिन्नार्थक होता है तब एक अर्थ के अनुसार उसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति विश्लेपी हो सकती है परतु दूसरे अर्थ के अनुसार व्यक्त प्रतिज्ञप्ति नहीं। "सभी मधुशालाओ मे शराब पिलाई जाती है" तब विश्लेपी है जब 'मधुशाला" का मतलब वह स्थान होता है जहाँ शराब बिकती है, परतु यदि "मधुशाला" का मतलब वह स्थान है जहाँ शहद मिलता है तो प्रतिज्ञप्ति विश्लेपी बिल्कुल नही है । असल मे दोनो प्रतिज्ञप्तिया भिन्न हैं।

२. कभी कभी अलग-अलग व्यक्ति शब्दो का अलग-अलग ढग से प्रयोग करते हैं, और जब ऐसा होता है तब एक व्यक्ति के द्वारा बोला गया वाक्य एक विश्लेपी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त कर सकता है, परतु जब दूसरा व्यक्ति उसको बोलता है तब नही । यदि आप नीचे किसी टेक के होने को (जैसे टाँगो का होना) 'मेज" की परिभापा का अग मानते है, तो "मेज नीचे किसी चीज पर टिकी हुई है" आपके प्रयोग के अनुसार विश्लेपी है। परतु, यदि एक दूसरा

व्यक्ति 'मेज" शब्द का प्रयोग भिन्न रूप से करता है—जैसे, यदि छत से एक तार से लटकते हुए मेज के ऊपरी तख्ते को वह मेज मान लेता है—तो यह प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी नही है। जब आपको इस बारे मे संदेह हो कि कोई एक वाक्य का जिस रूप में प्रयोग कर रहा है वह एक विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करता है या नही, तब आप उससे उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों की परिभाषा पूछें।

३. ऐसा हो सकता है कि कोई प्रतिज्ञप्ति एक समय विश्लेषी हो और दूसरे समय न हो। बिल्कुल सही यह कहना होगा कि एक बार जिस वाक्य का प्रयोग एक विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, दूसरी बार शायद वह विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त न करे। जो प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी है वह सदैव विश्लेषी ही रहेगी, परंतु हो सकता है कि उस वाक्य का बाद में एक भिन्न प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया गया हो। "ह्वेल स्तनपायी है" इस वाक्य का प्रयोग पहले एक विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए नही किया जाता था—वास्तव मे इसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति को असत्य समझा गया होता। परंतु अब चूंकि ह्वेलों के स्तनपायी होने की विशेषता को "ह्वेल" की परिभाषा मे शामिल कर लिया गया है (पृ० ४०-४१) इसलिए आजकल के प्रयोग के अनुसार "ह्वेल स्तनपायी है" विश्लेषी है।

सबसे पहले इमानुएल कान्ट (१७२४-१८०४) ने विश्लेषी और संश्लेषी का भेद किया, परंतु "विश्लेषी" की उसकी परिभाषा यहाँ दी हुई परिभाषा से कुछ संकीर्ण थी। कान्ट के अनुसार विश्लेषी कथन वह है जिसमे विधेय उद्देश्य की ही पूरी या अधूरी आवृत्ति होती है : "अ अ है" (पक्षी पक्षी हैं) मे विधेय पूरे उद्देश्य की आवृत्ति है. और "अ ब अ है" (पक्षी—अर्थात् पंखो वाले कशेरुकी—पंख वाले होते हैं) में विधेय उद्देश्य के एक भाग की आवृत्ति है। यहाँ तक हमने विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियों के जितने उदाहरण दिए हैं उनका इन दोनों मे से ही कोई रूप है। परंतु बाद के दार्शनिकों ने जल्द ही यह बात ताड ली कि यदि कान्ट की परिभाषा मान ली जाए तो अनेक ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषी नहीं रहेंगी जो 'विश्लेषी" की हमारी परिभाषा के अनुसार हैं, क्योंकि वे परंपरागत उद्देश्य-विधेय वाले आकार में नही बैठती। इस प्रकार, "अ और अ-नही, दोनो नही" (मुर्गी और मुर्गी नही, दोनों नही) विश्लेषी है, क्योंकि

यदि आप इसका निषेध करें तो "अ और अ-नही, दोनों ही" प्राप्त होती है जो कि स्वतोव्याघाती है। फिर, "यदि अ तो अ" विश्लेषी है, क्योंकि यदि कोई इसका निषेध करे तो "ऐसी बात नही है कि यदि अ तो अ" (यह सत्य नही है कि यदि यह एक घोड़ा है तो यह एक घोड़ा है) प्राप्त होगी और यह भी स्वतोव्याघाती है। ऐसी प्रतिज्ञप्तियां दूसरी परिभाषा के अनुसार भी है : कोई भी दुनिया के बारे मे कुछ भी जाने बिना यह जान सकता है कि यह कुर्सी और कुर्सी-नही दोनो नही हो सकती और कि यदि यह कुर्सी है तो यह कुर्सी है। "सब बिल्लियां बिल्लियां है" को विश्लेषी कहना और "यदि यह एक बिल्ली है तो यह एक बिल्ली है" को विश्लेषी न कहना तब वास्तव में एक बहुत ही विचित्र बात होगी जब कारण सिर्फ यह हो कि पहला कथन उद्देश्य-विधेय वाले आकार का है जबकि दूसरा नही। यदि "विश्लेषी" की वह परिभाषा मानी जाए जो हमने पहले दी है तो कान्ट की परिभाषा, जो उद्देश्य-विधेय वाले आकार के वाक्यो मे व्यक्त प्रतिज्ञप्तियो मे ही विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियो को सीमित रखती है, अवश्य ही अति संकीर्ण मानी जायगी।

पुनरुक्तियां—परंतु सब वाक्य उस आकार के नही होते। नीचे के सब वाक्य उद्देश्य-विधेय वाले आकार मे हैं :

सूची १ : सब सिंह < भयानक होते हैं।
कुछ मनुष्य < कायर होते हैं।
लोग < विचित्र हैं।
बिल्लियां < बच्चे देती हैं।
बिल्लियां < बिल्लियां हैं।
कोई बिल्ली < कुत्ता नही है।
अधिकतर बिल्लियां < बहरी होती हैं।

लेकिन, अन्य बातो मे इनमे बहुत अंतर है। कुछ विश्लेषी हैं, कुछ नही। कुछ सत्य हैं, कुछ मिथ्या है। कुछ पूरे वर्ग के सदस्यो के बारे मे कथन हैं, कुछ नही। पर एक बात सबमे समान है: जब उन्हे उद्देश्य और विधेय मे विभाजित कर दिया जाता है (चिह्न < के द्वारा), तब जो घटक प्राप्त होते हैं वे पद हैं, वाक्य नही। अब इनकी नीचे के वाक्यों से विषमता देखिए :

सूची २ : यदि आप एक व्यक्ति हैं, तो आप एक व्यक्ति हैं।
यदि आप एक घोडे हैं, तो आप एक घोड़े हैं।

यदि वह अधिक प्रतीक्षा करेगा, तो भूख से मरेगा।
या तो यह जंतु नर है या यह जतु मादा है।
या तो पानी गर्म है या वह गर्म नही है।
या तो पानी गर्म है या वह ठडा है।
पानी गर्म और गर्म-नही, दोनो नही है।
यह मेज और मेज-नही, दोनो नही है।
यह मेज और कुर्सी दोनो नही है।
यह मेज और फर्नीचर दोनो नही है।
या तो आप इस कमरे मे है या आप इस कमरे में नही है।
या तो आप इस कमरे मे है या आप उस कमरे मे हैं।
यदि यह जतु कुत्ता है, तो यह मासभक्षी है।
यदि कोई कुत्ता बिल्ली नही है, और यह कुत्ता है, तो यह बिल्ली नही है।
यदि सब बिल्लियाँ स्तनपायी है और सब स्तनपायी पशु हैं, तो सब बिल्लियाँ पशु हैं।
यह एक बिल्ली है और यह एक स्तनपायी है।
यह एक बिल्ली है और यह एक बिल्ली नही है।

सूची २ के वाक्य भी एक-दूसरे से बहुत अतर रखते है : कुछ सत्य है और कुछ नहीं; कुछ ऐसे है जिनका निषेध स्वतोव्याघाती है और अन्य ऐसे नही है; कुछ हेतुफलात्मक है (यदि ·····तो), कुछ वैकल्पिक है (या तो ······ या······), कुछ वियोजक है (·······और······दोनो नही), और कुछ संयोजक (········· और······ ···) है। परतु प्रत्येक वाक्य को तोड़ा जा सकता है और इस तरह जो टुकड़े प्राप्त होते हैं वे स्वय भी वाक्य है। "पानी या तो गर्म है या ठडा है" इन दो पूरे वाक्यो से बना है : "पानी गर्म है" तथा "वह ठडा है"। "यदि यह बिल्ली है तो यह एक स्तनपायी है" इन दो पूरे वाक्यो से बना है : "यह बिल्ली है" और "यह एक स्तनपायी है"। प्रत्येक में खंडो का संबंध भिन्न है : "या तो ······· या·········" में दोनों प्रतिज्ञप्तियों मे से एक को सत्य होना चाहिए; दोनो असत्य नही हो सकती। "········ और······" मे दोनो प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य होती है। "यदि ······· तो ·······मे यदि पहली प्रतिज्ञप्ति सत्य है तो दूसरी भी सत्य है (ऐसा नहीं हो सकता कि पहली सत्य हो और दूसरी मिथ्या)। "वह जाएगा और वह जाएगी"

का अर्थ "वह जाएगा या वह जाएगी" से बहुत भिन्न है और "यदि वह जाएगा तो वह जाएगी" से भी भिन्न है। पर इनमे से प्रत्येक मिश्र वाक्य है : वह एक या अधिक खंडों में तोडा जा सकता है जिनमे से प्रत्येक स्वय एक वाक्य है और एक प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करता है।

अब हम प अक्षर का प्रयोग किसी भी प्रतिज्ञप्ति का बोध कराने के लिए करते हैं, फिर फ का प्रयोग हम किसी अन्य प्रतिज्ञप्ति के लिए करते है, और ब का एक और प्रतिज्ञप्ति के लिए, तथा इसी तरह अन्य अक्षरो का भी। सूची १ मे प पूरे वाक्य "सब सिंह भयानक होते हैं" का बोधक हो सकता है, क्योंकि इसको ऐसे खंडो मे नही तोडा जा सकता जो स्वय वाक्य हो ; और फ दूसरे पूरे वाक्य "कुछ मनुष्य कायर होते हैं" का बोधक बन सकता है, इत्यादि। परतु सूची २ मे मिश्र वाक्य है। इसलिए पहले वाक्य "यदि आप एक व्यक्ति है तो आप एक व्यक्ति हैं" को प्रतीकों के द्वारा "यदि प तो प" के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। दूसरे वाक्य को भी ठीक इसी प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया जा सकता है। परंतु यदि हम इसे पहले से संबंधित करके देखते है तो इसके लिए हमे दूसरे अक्षर का प्रयोग करके इसे यह प्रतीकात्मक रूप देना होगा : 'यदि फ तो फ"। परंतु तीसरे का रूप "यदि प तो फ" होगा, क्योंकि उसके खडो के रूप मे जो वाक्य हैं वे भिन्न है।

सूची २ के सभी वाक्य प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करते है। परंतु यदि हम उन प्रतिज्ञप्तियों के स्थान पर प, फ, ब इत्यादि रखते है और अशभूत वाक्यों के केवल संबंध के लिए ही शब्दों को यथावत् बनाए रखते है, तो हमें प्रतिज्ञप्तियाँ नही बल्कि वे प्राप्त होते है जिन्हें प्रतिज्ञप्ति-आकार कहते हैं :

सूची ३ : यदि प तो प (अर्थात् प प को आपादित करता है)।
यदि प तो फ।
यदि प तो प-नही।
यदि प, और प फ को आपादित करता है तो फ।
या तो प या प-नही।
या तो प या फ।
प और प-नही दोनो नही।
प और फ दोनो नही।
प और प।

प और फ।

प और प-नही।

इन मिश्र प्रतिज्ञप्तियों को हम सत्य या असत्य नही कह सकते, क्योंकि हमें यह नहीं बताया गया है कि प्रत्येक में प और फ अक्षर किन प्रतिज्ञप्तियों के प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ, क्या "प फ को आपादित करता है" सत्य है या नही? यह इस बात पर निर्भर करता है कि प और फ अक्षर किन प्रतिज्ञप्तियों के बोधक है। यदि प का मतलब है '*यह एक वर्ग है*" और फ का "*यह एक आयत है*" तो प अवश्य ही फ को आपादित करता है (अर्थात् "यदि प तो फ" सत्य है)। परतु यदि फ "एथेंस यूनान में है" है तो प फ को आपादित नही करता। हम एक प्रतिज्ञप्ति-आकार को प्रतिज्ञप्ति मे केवल तभी बदल सकते हैं जब हम प्रत्येक अक्षर के स्थान पर सचमुच के वाक्य रख दें। जैसे बीजगणित में हम "*क्या य १० से बड़ा है?*" का उत्तर तब तक नही दे सकते जब तक हम यह न जान लें कि य किस राशि का बोधक है, ठीक वैसे ही यहाँ भी है।

पुनरुक्ति वह प्रतिज्ञप्ति-आकार है जिसमे प्रतीकों के स्थान पर वाक्यों को रख देने से जितने भी कथन प्राप्त होते हैं वे सब सत्य होते है। दूसरे शब्दों मे, प, फ इत्यादि कोई भी प्रतिज्ञप्तियाँ क्यों न हों, कथन जो भी प्राप्त हो वे सत्य होंगे। "*या तो प या प नही*" एक पुनरुक्ति है, क्योकि प के *स्थान पर हम जो भी प्रतिज्ञप्ति रखें, उससे प्राप्त होनेवाली मिश्र प्रतिज्ञप्ति* सदैव सत्य होगी। "*या तो यह सत्य है कि बर्फ सफेद होती है या यह सत्य नही है कि बर्फ सफेद होती है*", "*या तो यह सत्य है कि घास बैंगनी रंग की होती* है या यह सत्य नहीं है कि घास बैंगनी रंग की होती है" इत्यादि। चाहे आप कोई भी प्रतिज्ञप्तियाँ सोचें, वे सब तब तक सत्य होंगी जब तक उनका आकार "*या तो प या प-नही*" रहता है। "*या तो प या प-नही*" एक पुनरुक्ति है, क्योकि *यह प्रतिज्ञप्ति-आकार इस बात पर आश्रित नही है कि* हम आकार को भरने के लिए कौन-सी विशेष प्रतिज्ञप्तियाँ इस्तेमाल करते हैं। इसी प्रकार, "प और प-नही दोनों नही" भी एक पुनरुक्ति है: "'पानी एक द्रव है' और 'पानी एक द्रव नही है' दोनों सत्य नही हैं", "'बर्फ सफेद है' और 'बर्फ सफेद नही है' दोनों सत्य नही हैं" इत्यादि। इनके विपरीत, "या तो प या फ" पुनरुक्ति नही है: यदि प "आप इस कमरे में

है" का और फ "आप उस कमरे मे हैं" का बोधक है, तो इस प्रकार प्राप्त होनेवाली प्रतिज्ञप्ति "या तो आप इस कमरे मे हैं या आप उस कमरे में हैं" का सत्य होना कतई जरूरी नही है। शायद आप एक तीसरे ही कमरे मे हो या सड़क पर चल रहे हो या हवाई जहाज मे हों। कभी-कभी "प या फ" सत्य होता है ("वह जीवित है या वह मर गया है") और कभी-कभी सत्य नही भी होता ("या तो आप इस कमरे मे है या आप उस कमरे मे है"), पर वह सत्य या असत्य जो भी हो, यह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रतिज्ञप्ति-आकार प और फ के स्थान पर हम कौन-सी विशेष प्रतिज्ञप्तियाँ रखते हैं। इस प्रकार "या तो प या फ" पुनरुक्ति नही है, क्योकि पुनरुक्ति तो सदा सत्य होती है, प और फ के स्थान पर हम कोई भी प्रतिज्ञप्तियाँ क्यो न रखें ; परंतु "या तो प या प-नही" पुनरुक्ति है, क्योकि चाहे जो प्रतिज्ञप्तियाँ रखी जाएँ, मिश्र प्रतिज्ञप्ति सदैव सत्य होगी।

कुछ मिश्र वाक्य बहुत ही जटिल हो सकते हैं, क्योकि उनमे शामिल सरल वाक्यों की सख्या बहुत बडी हो सकती है। ऐसे उदाहरणो मे तर्कशास्त्र की जानकारी आवश्यक होगी। उससे यह जानने के तरीके ज्ञात होते है कि कौन से मिश्र वाक्य पुनरुक्तियो को व्यक्त करते हैं और क्यो। परतु कुछ पुनरुक्तियाँ, जैसे वे जिन्हें हमने यहाँ तक उदाहरणो के रूप मे प्रस्तुत किया है, बिल्कुल जटिल नही होती, और यह निश्चित करने के लिए कि एक निर्दिष्ट प्रतिज्ञप्ति पुनरुक्ति है या नही, केवल बहुत ही थोडा सोच-विचार जरूरी होता है।[1] यह बात कि एक निर्दिष्ट प्रतिज्ञप्ति-आकार पुनरुक्ति है या नही, तर्कशास्त्र मे जिस तरीके से निश्चित की जा सकती है उसे "सत्यता-सारणी" प्रणाली कहते हैं।

तर्कशास्त्र मे कान्टीय अर्थ मे जो प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषी हैं उनके और पुनरुक्तियो के बीच का अंतर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है : मिश्र वाक्यो का जिन युक्तियो में प्रयोग होता है उनकी वैधता की जाँच उनकी अपेक्षा बहुत ही भिन्न तरीके से की जाती है जिनमे पारंपरिक उद्देश्य-विधेय वाले आकार के वाक्य

---

१ "पुनरुक्ति" प्रायः प्रतिज्ञप्ति-आकारों (यदि प तो प, या तो प या प-नही) को भी कहते हैं और स्वयं प्रतिज्ञप्तियों को भी (यदि यह बर्फ है तो यह बर्फ है, या तो यह बर्फ है या बर्फ नहीं है)। हम यहाँ इसी प्रयोग का अनुसरण करेंगे।

का प्रयोग होता है। परंतु तर्कशास्त्र से बाहर यह अंतर बहुत ही कम महत्त्व रखता है। इस प्रकार, दर्शन के ग्रंथकारों के प्रयोग का अनुसरण करते हुए हम उन सब प्रतिज्ञप्तियों को विश्लेषी कहेंगे जिनका निषेध स्वतोव्याघाती होता है (पहली परिभाषा) तथा जिनकी सत्यता का निर्धारण संबंधित वाक्य में शामिल शब्दों के विश्लेषण से किया जा सकता है (दूसरी परिभाषा), चाहे वे उद्देश्य-विधेय वाले आकार की हों या पुनरुक्तियाँ हों। यदि किसी संदर्भ में इन दो प्रकार की विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियों में अतर करना जरूरी हो तो हम उनके अंतर को सदैव याद कर सकते है।

विश्लेषी-संश्लेषी के भेद के विरुद्ध आपत्तियाँ—विश्लेषी और संश्लेषी का अंतर है तो काफी स्पष्ट, लेकिन फिर भी कभी-कभी इसकी आलोचना की गई है। यहाँ दो मुख्य आलोचनाओं का उल्लेख कर देना चाहिए।

१. "विश्लेषी और संश्लेषी का अंतर कोई वास्तविक अंतर नही है, क्योंकि सूक्ष्म परीक्षा से पता चलता है कि सभी प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषी होती है।"

ऐसा अनोखा मत प्रकट करने का क्या कारण संभव हो सकता है? तर्क इस प्रकार दिया जाता है : क के बारे में हम जो कुछ भी जानते हैं वह क के संप्रत्यय में सन्निविष्ट है; जितना ही अधिक हम क के बारे में जानते है उतना ही अधिक समृद्ध उसका संप्रत्यय बनता है; और क का पूर्ण संप्रत्यय हमारे मन में केवल तभी होगा जब क के बारे मे जो कुछ भी जानने को है वह सब हम जान ले। दार्शनिक लाइपनित्स (१६४६-१७१६) ने यह उदाहरण दिया था : आदम का हमारा सप्रत्यय सीमित है, क्योंकि उसके बारे मे हम बहुत थोडी बातें जानते है—यह कि वह पहला मनुष्य था, कि उसने वह सेव खाया था जो हव्वा ने उसे दिया था, इत्यादि। आदम के बारे में हम जितना अधिक जानेंगे, हमारा उसका संप्रत्यय उतना ही अधिक समृद्ध होगा। "आदम पहला मनुष्य था" लाइपनित्स के अनुसार विश्लेषी है। परन्तु, आदम के बारे में संभवतः अनेक ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ है जिनसे हम परिचित नही हैं। जब एक बार हम उन्हें जान ही लेते हैं तब वे भी विश्लेषी ही होती हैं, क्योंकि वे आदम के हमारे पूरे संप्रत्यय के अंश हैं—यह संप्रत्यय तब तक पूरा नही होता जब तक हम आदम के बारे मे वह सब नही जान लेते जो जानने को है। अथवा एक और अधिक जाना-पहचाना उदाहरण लीजिए

(क्योंकि यह आपत्ति की जा सकती है कि संप्रत्यय तो मनुष्य का होगा, एक व्यक्ति-विशेष, आदम का कैसे होगा) : हम हाइड्रोजन के बारे मे बहुत ही अधिक बातें जानते है—यह कि वह सबसे हल्का तत्त्व है, ज्वलनशील है, उसके आक्सीजन के साथ मिलने से पानी बन जाता है, इत्यादि। इनमे से प्रत्येक तथ्य हाइड्रोजन के हमार सप्रत्यय का अंश है, और हाइड्रोजन के बारे मे हमारा सप्रत्यय तब तक पूरा नही होगा जब तक हम उन सब तथ्यो को न जान लें जो जानने को हैं। हाइड्रोजन के बारे मे जो भी तथ्य जानने को है वे सब मिलकर हाइड्रोजन के पूर्ण सप्रत्यय को बनाते हैं और इस सप्रत्यय के विश्लेषण के लिए हमे इन अ, ब, स,……न तथ्यो मे से प्रत्येक का कथन करना होगा। परतु चूंकि इनमे से प्रत्येक हाइड्रोजन के सप्रत्यय का अश है, इसलिए प्रत्येक—हाइड्रोजन के बारे मे कही जा सकनेवाली प्रत्येक सत्य प्रतिज्ञप्ति—अनिवार्यत: विश्लेषी है।

हम "क का सप्रत्यय," इन शब्दो का इस तरह प्रयोग कर सकते हैं कि क के बारे मे प्रत्येक तथ्य क के संप्रत्यय का एक भाग बन जाए। परंतु दैनिक जीवन या विज्ञान मे शब्दो के इस समुच्चय का कभी इस तरह प्रयोग नही किया जाता। हम क के सप्रत्यय का उन क-विषयक तथ्यो से स्पष्टत अतर बनाए रखते है जो क के सप्रत्यय के भाग नही होते। दूसरे शब्दो मे, हम क की उन विशेषताओ का जिनका क कहलाने के लिए उसमे होना आवश्यक है (परिभाषक विशेषताएँ) उनसे भेद करते हैं जिनके अभाव मे भी चीज क होगी (अनुषगी विशेषताएँ)। निश्चय ही क (या क-त्व) का संप्रत्यय बनाने के लिए हमे क के बारे मे प्रत्येक तथ्य को नही जानना पडता। क्या हमारे यह जानने से पहले कि सोना ऐक्वा रेजिया मे घुल जाता है, सोने के हमारे सप्रत्यय मे कोई कमी रहती है? अथवा यदि किसीको यह कहना अधिक पसद हो कि क के बारे मे प्रत्येक तथ्य क के सप्रत्यय का भाग है और कि क के बारे मे हम जितना ही अधिक जानेंगे उतना ही अधिक "समृद्ध" हमारा क का सप्रत्यय बनेगा (इस प्रकार "क का सप्रत्यय" का प्रयोग इसके साधारण प्रयोग से बहुत भिन्न होगा), तो भी हमे उन विशेषताओं मे जिनके द्वारा हम किसी चीज को क जानते है, यानी क को पहचानते हैं, और उन विशेषताओं में जिनके क मे होने का पता हमे बाद मे चलता है, परंतु क की पहचान करने मे जिनकी सहायता नही ली जाती, अतर करना ही पडेगा और हम सब व्यवहार मे ऐसा करते भी हैं।

इस प्रकार क के बारे मे जितने भी तथ्य है वे सब क के सप्रत्यय मे शामिल नही होते । भाई का सप्रत्यय केवल इतना ही है कि वह उन्ही माता-पिता की सतान होता है और पुरुष होता है । "भाई" से हमारा यही मतलब होता है और इसी से हम भाइयो को गैर-भाइयो से अलग पहचानते है । यह एक विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति है कि आपका भाई आपके माता-पिता की पुरुष-सतान है, क्योकि इसमे केवल यह बताया गया है कि भाई होना क्या होता है । परतु यह बात कि आपका भाई लबा है और घुँघराले बालोवाला है, 'भाई" के अर्थ का भाग नही है, बल्कि उसके बारे मे एक तथ्य है । यदि आपका भाई लबा और घुँघराले बालोवाला न होता, तो भी वह आपका भाई होता । "मेरा भाई पुरुष है' विश्लेषी है और "मेरा भाई लबा है" सश्लेषी है । यह निश्चय ही सत्य है कि यदि अपने भाई के बारे मे आप सब कुछ जानते हो तो आप यह भी जानते होगे कि वह लबा है और घुँघराले बालोवाला है (यह कथन स्वय विश्लेषी है क्योकि "सब कुछ" मे उसकी सब विशेषताएँ आ जाती हैं) । परतु इससे उसकी लबाई और उसके बालो के घुँघरालेपन के कथन के सश्लेषी होने का निषेध नही होता : यदि आपका भाई लबा है तो यह कहना कि वह लबा नही है, असत्य है, न कि स्वतोव्याघाती । परतु आपका भाई यदि भाई है तो उसे पुरुष होना चाहिए—इस प्रकार "वह मेरा भाई है पर पुरुष नही है" स्वतोव्याघाती है, जबकि "वह मेरा भाई है पर लबा नही है" स्वतोव्याघाती नही है ।

२. 'विश्लेषी और सश्लेषी मे कोई स्पष्ट अतर नही है, इसलिए यह भेद व्यर्थ है ।"

परतु, जैसा कि हम दिखाने की चेष्टा कर चुके है, विश्लेषी कथनो के स्पष्ट उदाहरण मिलते है, जैसे "सब कुमार अविवाहित होते हैं", और सश्लेषी कथनो के भी स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं, जैसे "इस मेज के ऊपर दो किताबें है" (यह कौन कहेगा कि यह 'मेज" की एक परिभाषक विशेषता है ?) । फिर भी, यह मानना होगा कि ऐसे उदाहरण भी हैं जो स्पष्ट बिल्कुल नही हैं । इसका कारण प्राय यह होता है कि जिस वाक्य को हम बोल रहे होते है उसके किसी एक महत्त्वपूर्ण शब्द का हम कोई निश्चित अर्थ नही बता पाते, और जब तक उसका अर्थ स्थिर नही कर दिया जाता तब तक हम यह कहने की स्थिति मे नही होते कि वाक्य का प्रयोग एक विश्लेषी

प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए किया जा रहा है या नही—ठीक वैसे ही जैसे धुध मे किसी चीज को देखने पर हम नही बता पाते कि उसकी आकृति और रंग ठीक-ठीक क्या हैं। "सर्वोत्तम खिलाडी वह है जो अधिकतर खेलो मे विजयी होता है", यह उदाहरण हम पहले ही दे चुके है। एक और उदाहरण यह होगा "बुद्धिमान व्यक्ति से ऐसी गलती न हुई होती।" थोडी-सी सूझ-बूझ से ऐसे उदाहरण मनचाही सख्या मे बताए जा सकते हैं। इस तरह की प्रतिज्ञप्तियां प्रतिज्ञप्तियो की तरह कम होती हैं और प्रतिज्ञप्ति-आकार की तरह अधिक, उनके अर्थ का एक महत्त्वपूर्ण अश अभी निर्धारित किया जाना है, और जब तक ऐसा नही होता तब तक हम नही कह सकते कि उन्हे विश्लेषी के वर्ग मे रखना है या सश्लेषी के वर्ग मे।

३ कभी-कभी यह होता है कि एक प्रतिज्ञप्ति अनेक प्रतिज्ञप्तियो के एक बडे समूह या तत्र का अग होती है, और यह बात कि उसे विश्लेषी समझना है या नही, उस पूरे तत्र मे उसका जो स्थान है उसपर निर्भर करती है। ऐसा प्राय प्रकृति के नियमो के प्रसग मे (इनपर विस्तार के साथ विचार अध्याय ४ मे किया जाएगा) होता है, विशेष रूप से भौतिकी इत्यादि सुविकसित विज्ञानो मे, जिनमे कि नियमो के पूरे तत्र होते है। इस विज्ञान की काफी लम्बी चर्चा मे उलझे बिना उदाहरणो को देना आसान नही है। परतु शायद उदाहरण के रूप मे यह काफी होगा न्यूटन के तीन गति-नियम महत्त्वपूर्ण खोजें थी, लेकिन इसके बावजूद यदि इनमे से प्रत्येक नियम को अलग-अलग लिया जाए तो उसे विश्लेषी (परिभाषा) समझा जा सकता है। परतु यदि वे विश्लेषी है तो उन्हे जगत् के बारे मे खोज कैसे माना जा सकता है ? न्यूटन के प्रत्येक नियम को भौतिकी मे प्रयुक्त अनेक शब्दो का सबध जोडनेवाली परिभाषा समझा जा सकता है। न्यूटन का दूसरा गति-नियम "बल" की परिभाषा माना जा सकता है और तीसरा नियम "द्रव्यमान" की। पर यदि वे इस रूप मे समझे जाएँ तो उनके तत्र के अन्य नियम सश्लेषी हैं, न कि विश्लेषी। इन नियमो को समझने के अनेक विधि तरीके हैं और प्रत्येक तरीका इनको कुछ भिन्न परिभाषा प्रदान करता है। परतु किसी भी दशा मे ऐसी परिभाषा उस पूरे अर्थ को नहीं बताती जो इन नियमो का गति की व्याख्या के लिए परस्पर मिलकर एक तत्र का रूप धारण करने से होता है। जब इन नियमो के द्वारा शासित समग्र तत्र की दृष्

प्रकार व्याख्या की जाती है कि उसके कुछ कथन परिभाषाएँ (और इसलिए विश्लेषी) निकलते हैं, तब भी *अन्य कथन अपरिभाषीय या संश्लेषी* बने रहते है और उनका स्वरूप इंद्रियानुभविक नियमों का होता है। यह बात कि कथनों के एक तंत्र के संदर्भ में एक कथन परिभाषीय (और इसलिए विश्लेषी) है या अपरिभाषीय (और इसलिए संश्लेषी) है, उस संदर्भ पर तथा उस तरीके पर निर्भर करती है जिससे वस्तु-जगत् पर लागू करने की दृष्टि से उस पूरे तंत्र को समझा जाता है।

सभवता

अभी हम प्रतिज्ञप्तियों के प्रकारों की बात करते रहे। अब हम वस्तु-स्थितियों की बात करेंगे। पर, दोनो का संबंध घनिष्ठ है। किसी वस्तुस्थिति को तर्कतः संभव तब कहते है जब यह कथन कि वस्तुस्थिति ऐसी है, स्वव्याघाती नही होता, और तर्कतः असंभव तब कहते है जब ऐसा कथन स्वव्याघाती होता है।

वर्गाकार वृत्त का होना तर्कतः असंभव है। यदि "वर्ग" और "वृत्त" का प्रयोग हम इन शब्दो के प्रचलित अर्थों में ही कर रहे है, तो इनकी परिभाषाएँ परस्पर व्याघाती है। परिभाषा के अनुसार वृत्त कोई ऐसी आकृति है जो (अन्य विशेषताएँ रखती है पर) चार भुजाओंवाली नहीं होती। अतः, यह कहना कि एक वृत्त वर्गाकार है, यह कहने के बराबर होगा कि जो आकृति *चार भुजाओवाली नही है* वह *चार भुजाओवाली है,* और यह निश्चय ही एक स्वव्याघाती कथन है। वर्गाकार वृत्त का होना तर्कतः असंभव है। यदि आकृति वर्ग है तो वह वृत्त नही हो सकती, और यदि वह वृत्त है तो वर्ग नही हो सकती। "नही हो सकती" का यहाँ मतलब है "तर्कतः नही हो सकती," जिसका *अर्थ* यह है कि उसका वैसा होना तर्कतः असभव है।

इसके विपरीत, आपका अपनी ही शारीरिक शक्ति से हवा मे दस हजार फुट की छलाँग लगा देना तर्कतः संभव है। यदि आप कहें कि आपने इतनी ऊँची छलाँग लगाई है, तो आपका कथन संश्लेषी तथा असत्य होगा, पर स्वव्याघाती वह नही होगा। ऐसा कहने मे कि मैंने हवा मे दस हजार फुट ऊँची छलाँग लगाई है, कोई स्वव्याघात नही है। इस कथन मे बताई गई वस्तुस्थिति तर्कतः संभव है।

यह बात विचित्र लगेगी, पर इसका कारण यह है कि हम प्रायः तार्किक संभवता को भ्रमवश एक अन्य प्रकार की संभवता, आनुभविक संभवता, समझ बैठते हैं। एक वस्तुस्थिति अनुभवतः संभव तब होती है जब वह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध नहीं होती। इस प्रकार, आपके लिए हवा में दस हजार फुट ऊँची छलाँग लगाना या दसवीं मंजिल की खिड़की से बाहर कूदने पर भी नीचे न गिरना अनुभवतः असंभव है न कि तर्कतः असंभव।

जहाँ तक हम जानते हैं, प्रकृति के नियम बदलते नहीं। इसलिए जो एक समय में अनुभवतः संभव है वह किसी अन्य समय में भी अनुभवतः संभव है। जिसे सौ वर्ष पहले अनुभवतः असंभव माना जाता था वह शायद अनुभवतः संभव निकल जाए। लेकिन उस अवस्था में बात केवल यह होगी कि हम प्रकृति के नियमों के बारे में गलत जानकारी रखते थे। एक समय था जब कोई नहीं सोचता था कि रेडियोऐक्टिवता और परमाणु-विखंडन-जैसी बातें अनुभवतः संभव हैं, पर वे विश्वास गलत साबित हुए। प्रकृति की कार्य-प्रणालियाँ ऐसी हैं कि इस समय तक भी हम उनसे पूरी तरह परिचित नहीं हो पाए, जिसका मतलब केवल यह है कि हमारी जानकारी से कहीं अधिक बातें अनुभवतः संभव हैं।

जो युग-युग में बदलती है वह तकनीकी या प्राविधिक संभवता है। प्राविधिक संभवता में न केवल प्रकृति के नियम शामिल होते हैं बल्कि उन नियमों का उपयोग करके ऐसी स्थितियाँ पैदा करने की जिन्हें हम पहले पैदा करने में असमर्थ थे, हमारी क्षमता भी शामिल है। सौ वर्ष पहले जेट विमानों का निर्माण प्रविधितः संभव नहीं था, पर अब है। अभी मंगल तक ले जानेवाले अंतरिक्षयान का निर्माण प्रविधितः संभव नहीं है, पर कुछ ही वर्षों बाद हो सकता है। स्वयं प्रकृति के नियम नहीं बदले हैं, बदला है उनके बारे में हमारा ज्ञान, जिसके फलस्वरूप अनेक बातें जो कुछ वर्ष पूर्व प्रविधितः संभव नहीं थीं या जिनकी कल्पना तक नहीं की जाती थी, अब प्रविधितः संभव हो गई हैं।

संभवता के उपर्युक्त प्रकारों में क्या संबंध है? यदि कोई वस्तुस्थिति तर्कतः असंभव है तो वह अन्य दृष्टियों से भी असंभव है। उदाहरण के लिए, ऊपर की दिशा में गिरना तर्कतः असंभव है, क्योंकि "गिरना" का अर्थ नीचे की दिशा में जाना होना है। इस तरह ऊपर की

दिशा मे गिरना नीचे कि दिशा मे जाना होगा, जो स्वव्याघाती है। अतः ऊपर की दिशा मे गिरना तर्कत असभव है और साथ ही अनुभवत तथा प्रविधित भी असभव है।

परतु इसका उल्टा सही नही है जो प्रविधित असभव है (किसी एक समय) उसका अनुभवत असभव होना कतई जरूरी नही है, जैसे पाँच अरब प्रकाश वर्षो की दूरी पर स्थित आकाश-गगा का फोटो लेना। और जो अनुभवत असभव है उसका तर्कत. असभव होना जरूरी नही है, जैसे प्रकाश का उद्गम से दूरी बढने के साथ अधिक तीव्र होते जाना। दिल्ली से तीन मिनट मे मद्रास पहुँचना अभी प्रविधित सभव नही है, पर कौन कह सकता है कि इसमे कोई अनुभवत असभव बात है ? (जहाँ तक हम जानते है) ऐसे पिंड का अस्तित्व अनुभवत असभव है जो गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से मुक्त हो, लेकिन तर्कत असभव यह नही है, क्योकि उसके अस्तित्व की बात मे कोई व्याघात नही है। इस प्रकार

तर्कत सभव— —तर्कतः असभव

अनुभवत सभव— —अनुभवत असभव

प्रविधित सभव— —प्रविधित असभव

हमें यह बताना कि अनुभवत सभव क्या है, विज्ञान का काम है। प्रविधित सभव क्या है, यह बताना अनुप्रयुक्त या व्यावहारिक विज्ञान का काम है। यहाँ हमारा सबध मुख्यत उससे है जो तर्कत सभव है। दूसरो की चर्चा केवल उनका उससे भेद दिखाने के लिए की गई है जो तर्कत सभव है। आगे के पृष्ठो मे जो प्रश्न अनेक बार हमारे सामने आएगा वह है "यह या वह वस्तुस्थिति तर्कत सभव है या नही ?" इसका उत्तर देते समय हमें सावधानी इस बात की रखनी चाहिए कि हम तार्किक सभवता को गलती से अन्य प्रकार की सभवता समझकर जल्दी मे "नही' न कह बैठे। उदाहरणार्थ, यह तर्कत सभव है कि चीज अपने रगो के अनुसार कम या अधिक रफ्तार से गिरे, आप बिना रुके एक के बाद एक साठ लाख बैठकें निकाल ले, आप दस मिनट मे एक हजार गैलन पानी पी जाएँ और आपका पेट भी न फूले, एक आदमी दस लाख वर्षों तक जीवित रहे, बिल्लियाँ पिल्लो को जन्म दें, तथा कुतिया बिलौटो को जन्म दे। जहाँ तक हम जानते हैं इनम से कोई भी

बात इस समय अनुभवत. सभव नही है। इन्हे तर्कत: संभव कहने से हमारा मतलब यह नही है कि हम इनके होने की आशा करते हैं या हम इनके होने को लेशमात्र भी अनुभवत: सभव समझते है। हमारा मतलब केवल यह है कि यदि हम, ये बातें हुई हैं या होगी, कहे तो हमारा कथन स्वव्याघाती नही होगा, हालांकि असत्य वह होगा ही।

इसी बात को दूसरे रूप मे इस प्रकार प्रकट करेंगे : जो तर्कत: असंभव है वह किसी भी दुनिया मे (कम-से-कम मानवीय बुद्धि की कल्पना के किसी भी लोक मे) अस्तित्व नही रख सकता , जो केवल अनुभवत: असभव है वह किसी लोक मे अस्तित्व रख सकता है, पर हमारे लोक मे अस्तित्व नही रखता। उदाहरणार्थ, जीवों का आक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन और हाइड्रोजन के बिना अस्तित्व रखना अनुभवत. असभव लगता है। परतु, जीवन का किसी रूप मे इनमे से एक या अधिक के बिना अस्तित्व रखना तर्कत: सभव है। यह तर्कत: सभव है कि न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम इस जगत् पर लागू न हो : वास्तव मे होता तो यह है कि "भौतिक द्रव्य का प्रत्येक कण प्रत्येक अन्य कण को आपसी दूरी के वर्ग से प्रतिलोम अनुपात रखनेवाले बल से आकर्षित करता है," पर तर्कत: यह सभव है कि उस बल का दूरी के घन से प्रतिलोम अनुपात हो। ऐसा नियम हमारी दुनिया मे काम नही करता, पर जिस स्थिति को यह बताता है वह तर्कत: उतनी ही सभव है जितनी हमारी दुनिया की वर्तमान स्थिति है। ऐसी दुनिया का अस्तित्व तर्कत. सभव है जिसमे आकर्षण का बल दूरी के घन से प्रतिलोम अनुपात रखता हो ; उसका अस्तित्व वास्तविक नही है। इसके विपरीत, एक वर्गाकार वृत्त, एक पुरुष-चाची या ऊपर की दिशा मे गिरना किसी भी दुनिया मे सभव नही है ; इनमे बताई गई वस्तुस्थिति तर्कत. असभव है। आगे के पृष्ठो मे हमे उन दुनियाओं की जो वास्तविक तो नही हैं पर (तर्कत:) सभव हैं, वस्तुस्थितियो का उल्लेख करने के प्रचुर अवसर प्राप्त होंगे।

बुद्धिगम्यता—क्या किसी वस्तुस्थिति का तर्कत. सभव होना वही बात है जो उसका बुद्धिगम्य होना ? उसका वैसा लगना बहुत आसान है : तब "आपका दसवी मजिल की खिड़की से कूदना और नीचे न गिरना तर्कत. सभव है", ऐसा कहना यह कहने के तुल्य होगा . "आपका दसवी मजिल की खिड़की से कूदना और नीचे न गिरना बुद्धिगम्य है।" (यह अलग बात है कि ऐसी घटना होने

की आशा हम निश्चय ही नहीं करते।) हम "बुद्धिगम्यता" की अवश्य ही ऐसी परिभाषा दे सकते हैं जिसका वही अर्थ हो जो "तर्कतः संभव" का। यह "बुद्धिगम्य" शब्द का दर्शन में वस्तुतः एक सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है।

लेकिन "बुद्धिगम्य" अनेकार्थक है। इसका अर्थ "कल्पनागम्य" भी हो सकता है, और इस अर्थ में यह "तर्कतः संभव" का समानार्थक नहीं है। एक हजार भुजाओंवाला बहुभुज अवश्य ही तर्कतः संभव है। मैं ऐसे बहुभुज की कल्पना नहीं कर सकता (मन में उसकी प्रतिमा नहीं बना सकता)। जिसे मैं १००० भुजाओंवाले बहुभुज को अपनी मानसिक प्रतिमा कहना चाहूँगा वह ९९९ भुजाओंवाले बहुभुज की मानसिक प्रतिमा से भिन्न नहीं प्रतीत होगी। पर साथ ही मैं इस बात से भी बिल्कुल इन्कार नहीं करना चाहूँगा कि कहीं कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है जो एक हजार भुजाओं वाले बहुभुज की मन में प्रतिमा बना सके। लोगों की कल्पना-शक्तियों में अंतर होते हैं। क्या कल्पनागम्य है, यह बात इसपर निर्भर करती है कि कल्पना करनेवाला कौन है। आप ऐसी बातों की कल्पना करने में समर्थ हो सकते है जिनकी मैं कल्पना नहीं कर सकता। पर, जो तर्कतः संभव है उसमें इस तरह की भिन्नता नहीं होती। एक हजार भुजाओंवाला बहुभुज, एक जल-व्याघ्र और एक ततैये की संकर-संतान, और अब तक देखे गए रंगों से बिल्कुल भिन्न एक रंग, सब तर्कतः संभव हैं, चाहे मैं इनकी कल्पना कर सकूँ या नहीं। हमें इन्हें तर्कतः संभव कहने से पहले रुककर यह पूछने की जरूरत नहीं है कि हम इनकी कल्पना कर सकते है या नहीं। कोई बात ऐसी हो सकती है जो तर्कतः संभव हो, पर कल्पनागम्य न हो (आपके लिए, मेरे लिए, या सभी के लिए), क्योंकि कल्पना की हमारी शक्तियाँ सीमित होती हैं।

इसके विपरीत, यदि कोई वस्तुस्थिति वास्तव मे तर्कतः असंभव है तो वह किसी के लिए कल्पनागम्य भी नहीं है : कोई भी एक ऐसी मीनार की जो १०० फुट ऊंची भी हो और १५० फुट ऊँची भी, या एक ऐसे वृत्त की जो वर्गाकार भी हो, कल्पना नहीं कर सकता। यदि कोई यह कहे कि वह एक वर्गाकार वृत्त की मन मे प्रतिमा बना सकता है, तो वह शायद पहले एक वृत्त की और फिर अगले क्षण एक वर्ग की कल्पना कर रहा है। पर, किसी ऐसी चीज की, जो एकसाथ वृत्त और वर्ग दोनों हो, कल्पना वह नहीं कर सकता।

(यदि फिर भी वह कहे कि वह ऐसी कल्पना कर सकता है तो उसे तख्ती पर ऐसी आकृति बनाने के लिए कहिए ।)

एक ऐसा अर्थ भी है जिसमे वर्गाकार वृत्त को बुद्धिगम्य कहा जा सकता है—इस अर्थ में कि "वर्गाकार वृत्त" पद के शब्द परस्पर व्याघाती होते हुए भी एक निश्चित संज्ञानार्थ रखते है । यदि उनका ऐसा अर्थ न होता तो आप न जान पाते कि पूरे पद से जिस वस्तु का बोध होता है वह तर्कतः असंभव है । इस क्लिष्ट अर्थ मे एक वर्गाकार वृत्त बुद्धिगम्य है, पर एक प्रवृष्ठ प्रताश्व बुद्धिगम्य नही है, क्योंकि "प्रवृष्ठ प्रताश्व" संज्ञानार्थ से शून्य पद है जिससे किसी भी तर्कतः संभव या असंभव चीज का बोध नही होता ।

"बुद्धिगम्य" का प्रयोग अन्य अर्थों मे भी होता है । अतः किसी चीज का बुद्धिगम्य होना या न होना "बुद्धिगम्य" के उस अर्थ पर निर्भर करेगा जिसमें उस समय इसका प्रयोग किया जा रहा हो । परंतु, जब तक अर्थ स्पष्ट रूप में नही बताया जाता तब तक कोई "तर्कतः संभव = बुद्धिगम्य", इस सरल समीकरण से संतोष न करे ।

उदाहरण—अब हम तर्कतः सभव और असंभव बातों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे । शुरू मे तर्कतः असंभव को अनुभवत. असंभव से मिला देने की एक प्रवृत्ति काम करती है जिसे दूर करना दुष्कर होता है। पर, इसे दूर करना ही पड़ेगा और समय तथा अनेक उदाहरण इसे दूर कर सकते हैं ।

१. क्या एक ठोस लोहे की छड का पानी पर तैरना तर्कतः सभव है ? हां, अवश्य । इसमे बिल्कुल कोई व्याघात नहो है । यह भौतिकविज्ञान का एक नियम है कि अधिक आपेक्षिक घनत्व (अर्थात् समान आयतन के पानी से अधिक तौल) वाली चीजें पानी के ऊपर नही तैरती (कुछ अपवादो को छोड़कर, जैसे "पृष्ठ-तनाव" की स्थिति) । इसमे कोई तार्किक अनिवार्यता नही है—अर्थात् घटना या इसके विपरीत होना तर्कतः संभव है । आप इसकी कल्पना भी कर सकते हैं (यह याद रखिए : यदि आप वस्तुतः इसकी कल्पना कर सकते हैं तो यह तर्कतः संभव है ; पर यदि आप कल्पना नही कर सकते तो इसका मतलब केवल यह हो सकता है कि आपकी कल्पना-शक्ति सीमित है) : आप लोहे का एक टुकड़ा लीजिए (एक रसायनज्ञ प्रमाणित कर चुका है कि यह वास्तव मे लोहा है), उसको आप तौलिए, तब आप उसे पानी से भरे एक बर्तन मे डाल दीजिए, और देखिए, वह तैरने लगता है । आपने यह भी पक्की

तरह से जाँच लिया है कि वह ठोस लोहे की छड़ है, न कि एक जलपोत की तरह अंदर से खोखली, जिसमें हवा भरी हुई हो। आपने उसे तौला है और नापा है जिससे आपको पक्की तरह से पता चल गया है कि उसका वजन पानी के समान आयतन की अपेक्षा सचमुच अधिक है। यह वस्तुस्थिति तर्कतः संभव है। ऐसा वास्तव में होता नही है, पर तर्कतः असंभव बात इसमें कोई नहीं है।

२. *क्या किसी ऐसी बात का स्मरण तर्कतः संभव है जो कभी घटी नही?* अनेक अन्य प्रसंगों की तरह यहाँ भी उत्तर एक दृष्टि से "हाँ" है और एक दृष्टि से "नही", तथा इस बात पर निर्भर करता है कि "स्मरण" शब्द का आप किस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। इसका "निर्बल" अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है। इस अर्थ में आप तब स्मरण करते हैं जब आपको किसी घटना के संबंध में स्मरण की अनुभूति हो, चाहे वह सचमुच घटी हो या नही। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि लोग प्रायः अनेक घटनाओं का स्मरण करते हैं जिनके बारे में बाद में पता चलता है कि वे कभी घटी ही नही।

यहाँ कोई यह आपत्ति कर सकता है : "तब तो आपने वास्तव में उसका *स्मरण नही किया, बल्कि केवल सोचा है कि आपने ऐसा किया है।*" यह व्यक्ति "स्मरण" का "प्रबल" अर्थ में प्रयोग कर रहा है, जिसके अनुसार स्मरण में न केवल *"स्मरण की अनुभूति" होती है बल्कि जिस घटना के संबंध* में ऐसी अनुभूति होती है वह सचमुच घटी भी होती है। यदि वह सचमुच नहीं घटी तो *"आप वस्तुतः उसका स्मरण नही करते बल्कि ऐसा केवल सोचते है।"* इस अर्थ में "(वस्तुतः) स्मरण करना" की यह एक परिभाषक विशेषता है कि *संबंधित घटना सचमुच घटी हो*। इसलिए इस दृष्टि से *किसी ऐसी बात का स्मरण जो कभी घटी न हो, तर्कतः असंभव है।*

३. क्या एक बिल्ली का पिल्लों को जन्म देना तर्कतः संभव है ? निस्संदेह जीवविज्ञान की दृष्टि से असंभव है (और इसलिए अनुभवतः भी असंभव है), पर तर्कतः सभव है। यह एक प्राकृतिक तथ्य है कि जीव अपने समान जीव को जन्म देता है, पर इसमें कोई तार्किक अनिवार्यता नही है।

"पर क्या, परिभाषा के अनुसार, बिल्ली जिसको जन्म देती है वह बिल्ली नही है" ? आप इसपर थोड़ा विचार करने के बाद देखेंगे कि यह असत्य है। मान लीजिए कि जिसे बिल्ली ने जन्म दिया है वह भौंकता है, अपनी दुम को हिलाता है, कुत्ते की रूपरेखा वाला है, कुत्ते का विशिष्ट व्यवहार करता

है और उसे हर आदमी निस्संकोच कुत्ता कहता है। क्या फिर भी आप उसे बिल्ली कहेंगे ? कोई भी नही कहेगा कि वह बच्चा बिल्ली है। इसके बजाय सब इस असाधारण घटना को देखकर कि बिल्ली ने बिल्ली को नही बल्कि एक कुत्ते को जन्म दिया है, आश्चर्यचकित रह जाएँगे।

"परंतु यदि बच्चा एक पिल्ला है तो उसकी माँ बिल्ली नही रही होगी।" क्या तब भी नही जब वह देखने मे वैसी लगती हो, म्याऊँ-म्याऊँ करती हो, घुरघुराती हो तथा उन सभी अन्य विशेषताओं से युक्त हो जिनके आधार पर हम उसे बिल्ली कहते है ? क्या उस विचित्र बच्चे के होने से पहले आप उसे बिल्ली कहने मे हिचकिचाते ? क्या उस जीव को बिल्ली कहने के लिए आपको पहले यह देखने के लिए ठहरना पड़ेगा कि उसकी संतान कैसी दिखाई देती है (यदि उसने किसी संतान को जन्म दिया तो) ? यहाँ भी, बिल्लियाँ कुत्तों और अन्य प्राणियों से (जैसा कि हमने अध्याय १ मे देखा था, कुछ अस्पष्ट-से रूप में) अपनी सामान्य आकृति से अलग पहचानी जाती हैं, और यह तर्कतः संभव है कि बिल्ली की शक्लवाला कोई प्राणी कुत्ते की शक्लवाले किसी प्राणी को जन्म दे। यह बात कि प्रकृति इस रूप में काम नही करती, कि जीव सदृश जीवों को ही जन्म देते हैं, प्रकृति का एक तथ्य है, एक तार्किक अनिवार्यता नही।

४ क्या बीच की दूरी तय किए बिना दिल्ली से बंबई पहुँचना तर्कतः संभव है ? यदि शब्दों का किसी असाधारण अर्थ मे प्रयोग नही किया जा रहा है तो बीच का फासला तय किए बिना दिल्ली से बंबई (या कही भी) पहुँचना तर्कतः असंभव है, क्योंकि एक जगह से दूसरी जगह जाने का मतलब फासला तय करना होता है। यह कहना कि आप एक जगह से दूसरी जगह गए और साथ ही इस बात से भी इन्कार करना कि आपने कोई फासला तय किया, स्वव्याघाती होगा।

लेकिन "बीच का" शब्द कठिनाई पैदा कर सकता है। बात इसपर निर्भर करती है कि इसका क्या अर्थ लिया जा रहा है। बिल्कुल सही अर्थ मे, आप अ और ब के बीच की दूरी तब तक तय नही करेंगे जब तक आप अ से ब तक के सबसे छोटे रास्ते पर न चलें। इस दृष्टि से आप अवश्य ही दिल्ली से बंबई उनके बीच की दूरी तय किए बिना जा सकते हैं। वास्तव मे शायद किसीने कभी इस अर्थ मे यह दूरी तय नही की, क्योंकि यहाँ से वहाँ तक का

सबसे छोटा रास्ता पृथ्वी के अदर से जाएगा। दूसरी ओर, आप "बीच का" शब्द का इस्तेमाल इतने ढीले ढाले अर्थ मे कर सकते है कि अ से ब तक पहुँचने का कोई भी मार्ग अ और ब के बीच का मार्ग कहलाएगा। इस अर्थ मे, यदि आप दिल्ली से बबई, कलकत्ता या मद्रास या मगल ग्रह के रास्ते से पहुँचे, तो ये स्थान दिल्ली और बबई के बीच के कहलाएगे। इस दृष्टि से निश्चय ही दिल्ली से बबई के बीच की दूरी को तय किए बिना पहुँचना तर्कत असभव होगा, क्योकि आप पहले स्थान मे दूसरे स्थान को जाने के लिए जो भी रास्ता पकडे वह इसी बात से उनके बीच का कहलाएगा।

"बीच" शब्द का जिस अर्थ मे सामान्यत प्रयोग होता है वह इन दो कोटियो के बीच कही पर है। सामान्य प्रयोग के अनुसार, जो भी रास्ता अल्पतम दूरी के निकट किन्ही अस्पष्ट-सी सीमाओ के अदर पडता है, खास तौर से कोई भी रास्ता जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए हवाई मार्ग या रेल-मार्ग के रूप मे स्वीकृत है, उसे दोनो स्थानो के बीच का कहा जाता है। लेकिन, जैसा कि हम पहले ही (प्रथम अध्याय मे) देख चुके हैं, अतर अस्पष्ट सा ही है, और किसीको आसानी से अस्पष्टता के 'फिसलनवाले ढलान" पर नीचे धकेला जा सकता है हरिद्वार देहरादून और मुरादाबाद के बीच मे है ? ठीक है। तो फिर रुडकी ? वह भी है ? मेरठ के बारे मे आप क्या कहेगे ? दिल्ली ? यह अस्पष्टता का एक जाना पहचाना नमूना है शायद अधिकतर लोग मानेगे कि हरिद्वार देहरादून और मुरादाबाद के बीच मे है और कोई यह नही कहना चाहेगा कि दिल्ली उनके बीच मे है, पर यह वे नहीं जानेगे कि विभाजक-रेखा कहाँ खिचनी है और न शायद वे किसी विशिष्ट स्थल पर ऐसी रेखा खीचना ही चाहेंगे। अत, "बीच" के किसी सामान्य प्रयोग के अनुसार बीच की दूरी को तय किए बिना एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचना तर्कत सभव है।

५ क्या काल मे पीछे, जैसे ३००० ई० पू० मे, जाना और उस समय के मिस्री लोगो की पिरेमिड बनाने मे सहायता करना तर्कत. सभव है ?

यहाँ हमे बहुत ही सावधानी रखने की जरूरत है। दिक मे आगे और पीछे जाने की बात हम शाब्दिक अर्थ मे आसानी से कह सकते हैं, और दिक् के बारे मे हम जिस भाषा का प्रयोग करते है, उसी भाषा का काल के बारे मे भी प्रयोग करने तथा यह मान लेने का हमे प्रलोभन होता है कि

जिन सदर्भों मे दिक् की भाषा सार्थक है उन सभी संदर्भो मे काल की भाषा भी सार्थक होती है। परतु, जैसा कि हम देखेगे, ऐसा मान लेना खतरनाक है। यह बात भी स्पष्ट कर दी जाए कि "पीछे ३००० ई० पू० मे जाने" की बात हम शाब्दिक अर्थ मे कह रहे है। आलकारिक अर्थ मे ऐसा कहने मे कोई समस्या नही है, क्योकि हम दिक् मे सुदूरस्थ स्थानो मे तथा काल मे विभिन्न युगो मे अपने होने की अवश्य ही कल्पना कर सकते है और करते है। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि जिस समय पिरेमिड बनाए जा रहे थे उस समय हम वहाँ थे। "परतु यदि हम ऐसी कल्पना कर सकते है तो ऐसा अवश्य ही तर्कत. सभव है। यदि हम ऐसी कल्पना न कर सकें तो इमसे यह सिद्ध नही होता कि यह तर्कत. सभव नही है (हमारी कल्पना-शक्ति सीमित हो सकती है), परतु यदि हम उसकी कल्पना कर ही सकते हैं तो वह तर्कतः सभव है, और उसकी कल्पना हम उतनी ही स्पष्टता के साथ कर सकते हैं जितनी स्पष्टता के साथ किसी भी चीज की। वास्तव मे, एच० जी० वेल्स ने 'दि टाइम मशीन (काल-यन्त्र) मे ऐसी कल्पना की ही है और उसका प्रत्येक पाठक उसके साथ साथ वैसी कल्पना करता है।" परतु हम कल्पना क्या कर रहे है, यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जानी चाहिए। हम अपने एक और ही युग मे पैदा होने की[1] तथा पिरेमिडो का निर्माण करनेवाले मिस्रियो के साथ होने की कल्पना कर सकते हैं। परतु, क्या हम यह कल्पना कर सकते हैं कि हम इस समय बीसवी शताब्दी ईस्वी मे (अपनी कल्पनामात्र मे नही) ३००० ई० पू० मे हैं? हम बीसवी शताब्दी ई० मे और तीसवी शताब्दी ई० पू० मे एक ही समय कैसे हो सकते है? एक व्याघात तो इसमे पहले ही है। हम एक ही साथ बीसवी शताब्दी ई० मे हों और न भी हो (जैसे, तीसवीं शताब्दी ई० पू० मे हो), ऐसा नही हो सकता। ऐसा तर्कतः सभव है कि आप बहुत ही दीर्घ काल तक जीवित रहे, पिरेमिडो के निर्माण के समय जीवित रहे हो और अब बीसवी शताब्दी ई० मे भी उनकी कहानी सुनाने के लिए जीवित हो। परतु यह तर्कतः सभव नही है कि कोई एक शताब्दी मे हो और उसी समय एक और शताब्दी मे भी हो।

---

१. यहाँ भी यह सवाल पैदा होता है: यदि आप ३००० ई० पू० में पैदा हुए होते तो क्या वह आप स्वयं ही होते? अध्याय ६ में हम वैयक्तिक तादात्म्य की जो चर्चा करेंगे उससे इस सवाल पर कुछ रोशनी पड़ेगी।

कोई यह आपत्ति कर सकता है : "परंतु जिस परिस्थिति की हम कल्पना कर रहे हैं वह यह नही है। कल्पना हम यह कर रहे है कि आज के दिन हम बीसवीं शताब्दी में हों और तब हम काल में पीछे की ओर चलते-चलते अगले दिन ३००० ई० पू० में पहुँच जाएँ—और उस दिन हम बीसवी शताब्दी ई० में न रहें।" लेकिन सावधान ! मान लीजिए कि जिस दिन की बात आप सोच रहे हैं वह १ जनवरी, १९६९ का दिन है और २ जनवरी, १९६९ के दिन आप काल-यंत्र का प्रयोग करते है तथा पीछे ३००० ई० पू० के किसी दिन में पहुँच जाते है। क्या यहां भी व्याघात नहीं है ? जनवरी १, १९६९ के ठीक बाद का दिन जनवरी २, १९६९ है। मंगल के ठीक बाद का दिन बुध है (यह विश्लेषी है—"बुध" की परिभाषा ही यह है कि वह मगल के ठीक बाद आनेवाला दिन है) और जनवरी १ के ठीक बाद का दिन जनवरी २ है (यह भी विश्लेषी है)। अतः, जनवरी १ के ठीक बाद उसी वर्ष के जनवरी २ के अलावा किसी अन्य दिन मे पहुँचना तर्कतः असंभव है। हो सकता है कि आप जनवरी १ के बाद जीवित न रहें ; पर आप जीवित रहें या न रहे, ठीक बादवाला दिन (परिभाषा के अनुसार) जनवरी २ होगा। परंतु जनवरी २, १९६९ में और (उसी समय) जनवरी २, ३००० ई० पू० में भी जीवित रहना वदतोव्याघात है, और इसलिए तर्कतः असंभव है।

"यह सत्य है, परंतु बात अभी तक आपकी समझ में नही आई। चीज यह है कि हम काल मे पीछे की ओर जाते हैं, ठीक अगले दिन मे नही बल्कि लगभग ५००० वर्ष पहले के एक दिन मे। (इससे कोई फर्क नहीं पडता कि ऐसा हम काल-यंत्र के द्वारा करते हैं या जादू की छड़ी से, एक स्फटिक-गोलक को स्पर्श करके करते है या किसी अज्ञात उपाय से।) इस प्रकार हम ठीक अगले दिन मे नही जाते (यदि जाते तो वह दिन २ जनवरी का होता), बल्कि किसी पिछले दिन मे जाते है।"

यह युक्ति एक अधिक कठिन चुनौती प्रस्तुत करती है, पर इसमें भी एक घपला है। यह रही एक बात जिसकी हम सब आसानी से कल्पना कर सकते है : जनवरी १, १९६९ को आप जागते है और देखते है कि आपके चारो ओर आधुनिक सडकें, मकान और मोटरें नही बल्कि उन्नीसवी शताब्दी का पर्यावरण है। यह बहुत ही विचित्र बात होगी और शायद आप पर्यावरण के इस आकस्मिक परिवर्तन को न समझ पाएँ, परंतु आप इस बात के घटित

होने की आसानी से कल्पना कर सकते हैं। फिर आप जब जनवरी २, १९६९ को जागते है तब आप अपने चारो ओर अठारहवी शताब्दी का पर्यावरण पाते हैं। जनवरी ३ की सुबह फिर पर्यावरण बदल जाता है—अब वह सत्रहवी शताब्दी का है, और आगे भी इसी तरह क्रम चलता है। प्रत्येक आनेवाले दिन आप स्वय को एक भिन्न पर्यावरण मे पाते हैं, जो कि एक शताब्दी पहले के समय के ऐतिहासिक वर्णन के अनुरूप है। यह होगी तो बहुत ही विचित्र और समझ मे न आनेवाली बात, पर है तर्कत सभव—इसमे कोई व्याघात नही है, क्योंकि दिन फिर भी जनवरी १, जनवरी २, जनवरी ३ इत्यादि ही होगे। आप कलेंडर मे उनपर निशान लगा सकेंगे और जनवरी ३ की अपनी डायरी मे यह लिख सकेंगे "आज मैं सत्रहवी शताब्दी के पर्यावरण मे रहा, मुझे कुतूहल हो रहा है कि कल क्या होगा।" काल फिर भी आगे की ओर चलेगा। केवल पर्यावरण ही समझ मे न आ सकनेवाले तरीके से बदलता जाएगा, पर फिर भी आप प्रतिदिन एक एक दिन बडे होते जाएगे।

मुख्य बात यह है क्या "काल आगे की ओर चलता है" विश्लेषी नही है? "आगे की ओर चलने के अलावा वह कर ही क्या सकता है?" यह पूछने को मन करता है। लोग दिक् मे पीछे की ओर चल सकते हैं, परतु "काल मे पीछे की ओर चलने" का शाब्दिक अर्थ क्या होगा? और यदि आप जीवित रहे, तो आप इसके अलावा कर ही क्या सकते है कि प्रतिदिन एक दिन बडे होते चले जाएँ? क्या "प्रतिदिन एक दिन छोटा होना" वदतोव्याघात नही है? हाँ, तब बात अलग है जब वह आलकारिक अर्थ मे कही जा रही हो, जैसे "प्यारे, तुम रोज जवान होते जा रहे हो," जिसमे यह फिर भी मान लिया गया है कि सबधित व्यक्ति प्रतिदिन जवान दिखाई देने के बावजूद बूढा होता जा रहा है। अभी हमने जो वर्णन किया है उसमे आप फिर भी जनवरी २ से जनवरी ३ मे (और इसी तरह आगे) पहुँच रहे हैं तथा प्रतिदिन एक दिन बडे हो रहे हैं (विश्लेषी)। इस प्रकार व्याघात या कोई दोष नही हुआ है। हमने यह नही कहा है कि आप कभी छोटे होते हैं या अक्षरश काल मे पीछे जाते हैं। परिभाषा के अनुसार हम उत्तरोत्तर बाद की घटनाओ को एक एक करके बाद की तिथि देते हैं, चाहे जो भी विशेषताएँ इन बाद की घटनाओ मे हो।

"मैं अब भी आश्वस्त नही हुआ। मैं जिस परिस्थिति की बात कर रहा

हूँ वह जनवरी १, १९६९ से जनवरी २ में जाने की नही बल्कि ३००० ई० पू० में जाने की है। और अब भी मेरी समझ में नही आया कि यह तर्कतः असंभव कैसे है, हालांकि इसका अनुभवतः असंभव होना समझ में आता है ?"

एक बार और कोशिश करते है। कई शताब्दियो (ई० पू०) पहले पिरेमिडों का निर्माण हुआ था, और जब यह सब हुआ तब आप नही थे—आप पैदा भी नही हुए थे। आपके जन्म से बहुत पहले की बात है, और यह सब आपकी सहायता के बिना, आपके देखे बिना ही, हुआ। यह एक ऐसा तथ्य है जो बदला नही जा सकता : आप अतीत को नही बदल सकते। यह महत्त्व की बात है : अतीत वह है जो हो चुका है, और जो हो चुका है उसे आप जो नही हुआ है वह नही कर सकते, क्योंकि यह तर्कतः असंभव है। यदि आप कहते हैं कि आपका (शाब्दिक अर्थ में) पीछे ३००० ई० पू० में जाना और पिरेमिडों के निर्माण में सहायता करना तर्कतः संभव है, तो आपसे यह सवाल पूछा जाता है : आपने पिरेमिड बनाने मे उनकी मदद की या नही ? जब पहली बार वे बनाए गए तब आपने मदद नही की : आप वहाँ थे नही, आप पैदा भी नही हुए थे, आपके प्रकट होने से पहले ही सब समाप्त हो चुका था। तो, आप अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं कि दूसरी बार जब ऐसा हुआ तब आप वहाँ थे और पहली बार और दूसरी बार मे कम-से-कम एक अंतर था : पहली बार आप वहाँ नही थे, और दूसरी बार आप वहाँ थे। परंतु अब हम दो कालो की बात कर रहे हैं ; पहला काल ३००० ई० पू० है और दूसरा १९६९ ई० है।

यह तर्कतः संभव है कि इतिहास एकाएक स्वयं को दोहराने लगे : कि जनवरी १, १९६९ के दिन हमारी सब आधुनिक इमारतें और मशीनें गायब हो जाएँ और हम स्वय को ३००० ई० पू० की दुनिया मे रेत और पिरेमिडों के बीच देखने लगें। यह आवृत्ति तर्कतः संभव है (हालांकि इस समय तक की हमारी अच्छी-से-अच्छी जानकारी के अनुसार अनुभवतः नही), पर इस आवृति मे एक अंतर रहेगा : पहली बार (३००० ई० पू०) आप वहाँ नही थे, और दूसरी बार (१९६९ ई०) आप वहाँ थे। यह शाब्दिक अर्थ में काल में पीछे ३००० ई० पू० में नही होगा : यह इतिहास के स्वयं को (थोड़े-से अंतर के साथ) दोहराने का एक उदाहरण होगा, जिसमे १९६९ की दुनिया एकाएक गायब हो जाती है और उसकी जगह पर एकाएक ३००० ई० पू०

की दुनिया प्रकट हो जाती है। पर काल की गति तब भी आगे की ओर होगी (यदि इस रूप में आप कहना चाहें), और इस आकस्मिक परिवर्तन के ठीक बादवाला दिन ३००० ई० पू० का दिन नहीं होगा (वह दिन तो कभी का बीत चुका है और अतीत की प्रत्येक चीज की तरह वापस नहीं आ सकता), वल्कि जनवरी २, १९६९ का होगा।

एक बार यह यक़ीन हो जाने के बाद कि अतीत को बदलना (अथवा जो घट चुका है उसे अघटित करना) तर्कत: असंभव है, आपकी समझ में अवश्य ही "काल मे पीछे की ओर" ३००० ई० पू० में जाने की तार्किक असंभवता आ जाएगी। इसे तर्कत. सभव मानने की गलती हम इस वजह से कर बैठते हैं कि हम "दि टाइम मशीन"-जैसी फिल्मे देखते है, जिसमें सन् १९०० का एक व्यक्ति एक मशीन के लीवर को खीचता है और एकाएक कई शताब्दी पूर्व की दुनिया में पहुँच जाता है। देखनेवाले को यह खयाल नहीं रहता कि वह कई शताब्दी पहले की दुनिया में लीवर को दबाने के बाद पहुँचा है। इन कहानियों को गढनेवाले अन्य तार्किक कठिनाइयो मे भी फँस जाते है : उदाहरणार्थ, हमारा सन् १९०० का नायक लीवर को दूसरी तरफ खीचता है और कई शताब्दी आगे की अपरिचित दुनिया मे पहुँच जाता है। वहाँ वह एक लड़की से मिलता है, उससे विवाह करता है और उसे अपने साथ लेकर कालयंत्र से सन् १९०० में वापस पहुँच जाता है। लड़की ४०००० ई० से पहले पैदा नहीं हुई, और फिर भी उसने उसके बच्चे को सन् १९०० मे स्वय पैदा होने से बहुत पहले जन्म दे दिया। कोई यह सोच सकता है : यदि सन् ४०००० मे उसने उससे विवाह करने तथा उसे वापस लाने का बिल्कुल निश्चय न किया होता तो क्या होता ? तब उसका बच्चा (जो १९०० मे पैदा हुआ, हालाँकि माँ सन् ४०००० मे पहले पैदा नहीं हुई) भी पैदा न हुआ होता ; और फिर भी वह १९०० के बाद पहले ही पैदा हो गया था। वास्तव मे, यह बच्चा ब्रिटेन का प्रधानमंत्री हो चुका होता और दुनिया के घटना-क्रम को इस तरह प्रभावित कर सका होता कि ४०००० मे पृथ्वी के ऊपर किसी आदमी का अस्तित्व न रहता। यदि १९९० मे परमाणु बम का विस्फोट हुआ होता और पृथ्वी के ऊपर उससे जीवन का अस्तित्व ही मिट गया होता, तो क्या होता ? तब इस आकर्षक प्राक्कल्पना का क्या हुआ होता कि वह "सन् ४०००० मे पहुँच गया" और लड़की को "वापस सन् १९००" मे ले आया जो कि एक

ऐसी घटना है जिसे १९९० की घटनाएँ असभव कर चुकी होती ? पूरी परिस्थिति व्याघातो से भरी पडी है। जब हम कहते हैं कि हम इसकी कल्पना कर सकते है, तब हम इन शब्दो का उच्चारण मात्र कर रहे होते हैं, पर उनके अनुरूप वस्तुत कुछ भी, तर्कत सभव तक नही होता।

१० प्रागनुभविक

हमने विश्लेषी और सश्लेषी, इन दो प्रकार की प्रतिज्ञप्तियो मे भेद किया है। अब हम प्रतिज्ञप्तियो के एक अन्य महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण की ओर ध्यान देना चाहिए, जो कि शायद पहली दृष्टि मे वही विश्लेषी सश्लेषीवाला भेद प्रतीत होगा, पर है नही। विश्लेषी और सश्लेषी के भेद को इन शुरू के कुछ पृष्ठो तक हम भूल जाने की कोशिश करते हैं और प्रतिज्ञप्तियो के एक भिन्न वर्गीकरण से, जो कि उससे भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है, बात को शुरू करते है। कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी होती है कि जब हम उनपर विचार करते है तब वे अनिवार्यत सत्य लगती हैं—उनका असत्य होना सभव ही नही होता—और कुछ अनिवार्यत असत्य लगती है—उनका सत्य होना सभव ही नही होता। उदाहरणार्थ, "कोई एक ही समय मे दो भिन्न स्थानो मे नही हो सकता," "जिसकी शक्ल होती है उसका परिमाण भी होता है" तथा "यदि एक घटना दूसरी घटना की पूर्ववर्ती है और दूसरी तीसरी की पूर्ववर्ती, तो पहली तीसरी की पूर्ववर्ती है," को लीजिए। इन्हे अनिवार्य रूप से सत्य कहने का मन होता है। हम इनकी जाँच करने का कष्ट तक करने की आवश्यकता नही समझते, क्योकि ये अनिवार्यत सत्य हैं (सभी सभव जगतो मे ये सत्य होगे)। इन्हें हम अनिवार्य सत्य कहते हैं और इनके निषेध अनिवार्यत असत्य हैं। इनके विपरीत अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ हैं जो सत्य हैं "केवल सत्य है"—उनके सबध मे कोई अनिवार्यता नही होती "इस कमरे मे छ आदमी हैं," "कुछ कुत्ते सफेद होते हैं" "आदमी उतने तेज नही दौड सकते जितने खरगोश"। ये केवल आपातिक रूप मे सत्य हैं—इनकी सत्यता, दुनिया जिस रूप मे बनी हुई है उस पर आश्रित है। इनका निषेध आपातिक रूप से असत्य होगा। इन सबको हम आपातिक प्रतिज्ञप्तियाँ कहते हैं।

यह क्या बात है जिससे अनिवार्य सत्य अनिवार्य होते हैं ? बात यह है कि इन्हें प्रागनुभविक रूप से जाना जा सकता है। असल मे "अनिवार्य सत्य" कहना और "प्रागनुभविक रूप से ज्ञात हो सकनेवाला सत्य" कहना बिल्कुल एक ही

है। वे सत्य प्रागनुभविक रूप से ज्ञात हो सकनेवाले इसलिए हैं कि वे आज, कल या आज से लाखो वर्ष बाद भी सभी प्रसगो में अनिवार्यतः लागू होते हैं। यदि कोई दिल्ली मे है तो हमे यह जाँच करके पता लगाने की जरूरत नही है कि वह कलकत्ता मे नही है। यदि हम जानते हैं कि कोई चीज लाल है तो आगे हमे जाँच करके यह पता लगाने की जरूरत नही है कि वह रंगीन है। यदि कोई ऐसा कथन है जिसकी हमे यह देखने के लिए परीक्षा करनी पड़े कि भावी प्रसगो मे वह सत्य निकलता है या नही, तो वह आपातिक कथन है, जिसका ज्ञान केवल अनुभव-सापेक्ष होता है। (कोई भी कथन, जिसकी सत्यता प्रागनुभविक रूप से नही जानी जा सकती, केवल अनुभव-सापेक्ष रूप से ही सत्य जाना जा सकता है।) कथन को प्रागनुभविक—और इसलिए अनिवार्य—बनानेवाली बात यह होती है कि हम उसे जानते कैसे हैं, न कि, जैसा विश्लेषी कथनो मे होता है, कथन की बनावट। प्रागनुभविक कथन—अर्थात् वह जिसकी सत्यता प्रागनुभविक रूप से जानी जा सकती है—ऐसा होता है कि और अधिक अनुभव से उसके सत्यापन की जरूरत नही होती : हम जान लेते हैं कि वह सर्वदा और सर्वत्र सत्य है और इसके लिए जिन विविध उदाहरणो पर वह लागू होता है उनकी हमे जाँच नही करनी पडती।

इस तरह के कथनों के बारे मे क्या कहेंगे जैसे, 'पानी २१२° फा० पर (समुद्रतलीय दबाव पर) खौलता है," "पानी नीचे की ओर बहता है," "नीली आँखोंवाले सभी सफेद बिल्ले बहरे होते हैं," "सभी ऐसी ठोस चीजें जिनके आयतन की प्रत्येक इकाई का भार किसी द्रव के आयतन की प्रत्येक इकाई के भार की तुलना मे अधिक होता है, उस द्रव में डूब जाती है," इत्यादि। ये प्रकृति की एकरूपताओ को व्यक्त करते है जिनकी अधिक बारीकी से जाँच हम अध्याय ४ मे प्रकृति के नियमों की चर्चा करते समय करेंगे। इस समय हमारे सामने सवाल यह है : क्या ये कथन अनिवार्यतः सत्य हैं? पहले शायद हम यह कहना चाहेंगे कि वे अनिवार्यतः सत्य हैं : हम इन एकरूपताओं से इतने अधिक परिचित है कि हम इन्हे स्वतः सत्य मानने लगे हैं। पर जरा सोचिए : ये सब प्रकृति मे पाई जानेवाली एकरूपताओं के कथन हैं। क्या इस बात की कोई गारंटी है कि जो एकरूपता कल थी और आज है वह कल भी या उसके बाद भी हमेशा बनी रहेगी? क्या कल फिर हमे यह देखने की जरूरत नही होगी कि प्रकृति का व्यवहार वही रहता है या नहीं जो आज है? जिन्हे हम प्रकृति की

एकरूपताएँ समझते थे वे बाद की जाँच-पड़ताल से अनेक बार वैसी नही निकली : ऐसा पाया गया कि एकरूपता के अपवाद हैं या वह केवल कुछ शर्तों के साथ सत्य है। अनुभव से जाँचने पर यह पाया गया कि जैसा पहले कहा गया था उस रूप मे वह सत्य नही है। क्या ऐसा ही कुछ उन कथनो के साथ नही हो सकता जिनके बारे म इस समय हम यह विश्वास करते है कि वे असली एकरूपताओ के कथन है? परंतु यदि यह पता करने के लिए कि संबधित एकरूपता आगे भी बनी रहेगी, हमे प्रकृति का और अधिक प्रेक्षण करना पडे, तो संबधित कथन आपातिक है, अनिवार्य नही।

प्रागनुभविक के बारे मे अनेक सामान्य भ्रातियाँ है जिनसे हमे शुरू से ही सावधान रहना चाहिए।

१. यदि एक आदमी अपने मकान की बुनियाद को खोदता है तो क्या वह प्रागनुभविक रूप से नही जान जाएगा कि मकान गिर पडेगा? नही, उस अर्थ मे नही, जिसमे दार्शनिक प्रागनुभविक ज्ञान की बात करते है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि यह सापेक्षत प्रागनुभविक ज्ञान है, अथवा कुछ ऐसी बातो से सापेक्षता रखनेवाला ज्ञान है जो स्वयं प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय नही है। गुरुत्वाकर्षण और वास्तुशिल्प-सबधी कुछ सामान्य सिद्धातों की अपेक्षा रखते हुए—अर्थात् यह मानते हुए कि वे सर्वत्र लागू होते है—एक आदमी जान लेगा कि यदि वह अपने मकान की बुनियाद को खोदता है तो मकान गिर जाएगा। इस सिद्धात को ध्यान मे रखते हुए कि सारे पत्थर नीचे गिरते है, वह प्रागनुभविक रूप से जान लेगा कि जो पत्थर अभी उसके हाथ मे है वह छोडे जाने पर नीचे गिर जाएगा। परतु जिन सिद्धातो को वह इस ज्ञान का आधार बनाता है वे स्वय प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय नही है. केवल अपने चारो ओर की दुनिया का अवलोकन करके ही हम यह जान पाते है कि जब हम पत्थरो को छोडते है तब वे ऊपर न जाकर नीचे गिरते है, और कि मकान उस चीज के वल पर खडा रहता है जो उसके नीचे रहती है न कि जो उसके ऊपर रहती है। इस अध्याय मे हम चर्चा सापेक्षत. प्रागनुभविक ज्ञान की नही वल्कि निरपेक्षतः प्रागनुभविक ज्ञान की करेंगे—अर्थात् उसकी जिसे हम प्रागनुभविक रूप से जान सकते है, पर अन्य ऐसे ज्ञान के आधार पर नही जो अनुभवाश्रित हो, वल्कि किसी भी प्रकार

के अनुभवाश्रित ज्ञान के आधार पर नही, अर्थात् दुनिया के किसी भी अनुभव से पहले जान सकते है।

२. पिछले वाक्य का अतिम अंश हमे एक दूसरे अंतर मे पहुँचा देता है। यह स्पष्ट है कि कालक्रम की दृष्टि से कोई भी किसी भी प्रकार के अनुभव से पहले कुछ भी नही जानता। आपका अनुभव आपके जन्म से भी पहले शुरू हो गया था, और यह कहना कठिन है कि उस समय आपको कोई ज्ञान हुआ था। निश्चय ही, ज्ञान सदैव अनुभव के बाद ही होता है, इस अर्थ मे कि यदि आपको कोई अनुभव ही नही हुआ तो कोई चीज ऐसी नही होगी जिसका आपको ज्ञान हो सके। तो फिर कोई गभीरता के साथ यह कैसे कह सकता है कि किसी चीज का निरपेक्षत: प्रागनुभविक ज्ञान हो सकता है?

परतु, उसे प्रागनुभविक कहने मे हमारा अभिप्राय यह नही है कि व्यक्ति को उसका ज्ञान समय की दृष्टि मे अपने सभी अनुभवो से पूर्व हुआ। उसे प्रागनुभविक कहने मे हम उसकी उत्पत्ति के समय की ओर इशारा बिलकुल नही कर रहे है। हमारा इशारा उस तरीके की ओर नही है जिसने हमे विचाराधीन ज्ञान प्राप्त होता है बल्कि उस तरीके की ओर है जिससे उसका सत्यापन करना होगा। उदाहरणार्थ, आप प्रागनुभविक रूप से जान सकते है कि गर्जन गर्जन है, पर यह नही कि बिजली की चमक के बाद गर्जन होता है। यह तक भी नही कहा जा सकता कि "गर्जन गर्जन है", यह कोई भी अनुभव होने से पहले, यह जानने से पहले ही कि गर्जन क्या होता है और इसके लिए किस शब्द का प्रयोग होता है, आप जान चुके थे। यह ज्ञान प्रागनुभविक इस अर्थ मे नही था। असली बात यह है कि "गर्जन गर्जन है" सदैव सत्य होता है, यह मालूम करने के लिए आपको अनुभव के फैसले की प्रतीक्षा नही करनी पडती। आपको गर्जन के प्रत्येक उदाहरण की यह देखने के लिए छानबीन नही करनी पडती कि वह सचमुच गर्जन है या नही। इसके विपरीत, आपका, बिजली की चमक के बाद गर्जन होता है, ऐसा इस सबंध के दृष्टातो का अनुभव किए बिना कहना निरापद नही हो सकता। दोनो मे अतर उस अनुभव की मात्रा मे नही है जो कथन करने से पहले जरूरी होता है, बल्कि उस प्रणाली मे है जो कथन के सत्यापन के लिए, उसकी सत्यता के निर्धारण के लिए जरूरी है। जब एक कथन प्रागनुभविक

एकरूपताएँ समझते थे वे बाद की जाँच-पडताल से अनेक बार वैसी नही निकली : ऐसा पाया गया कि एकरूपता के अपवाद है या वह केवल कुछ शर्तों के साथ सत्य है। अनुभव से जाँचने पर यह पाया गया कि जैसा पहले कहा गया था उस रूप मे वह सत्य नही है। क्या ऐसा ही कुछ उन कथनो के साथ नही हो सकता जिनके बारे म इस समय हम यह विश्वास करते हैं कि वे असली एकरूपताओ के कथन है? परंतु यदि यह पता करने के लिए कि संबधित एकरूपता आगे भी बनी रहेगी, हमे प्रकृति का और अधिक प्रेक्षण करना पडे, तो सबधित कथन आपातिक है, अनिवार्य नही।

प्रागनुभविक के बारे मे अनेक सामान्य भ्रांतियाँ हैं जिनसे हमे शुरू से ही सावधान रहना चाहिए।

१. यदि एक आदमी अपने मकान की बुनियाद को खोदता है तो क्या वह प्रागनुभविक रूप से नही जान जाएगा कि मकान गिर पडेगा? नही, उस अर्थ मे नही, जिसमे दार्शनिक प्रागनुभविक ज्ञान की बात करते है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि यह सापेक्षत. प्रागनुभविक ज्ञान है, अथवा कुछ ऐसी बातो से सापेक्षता रखनेवाला ज्ञान है जो स्वयं प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय नही है। गुरुत्वाकर्षण और वास्तुशिल्प-सबंधी कुछ सामान्य सिद्धातो की अपेक्षा रखते हुए—अर्थात् यह मानते हुए कि वे सर्वत्र लागू होते है—एक आदमी जान लेगा कि यदि वह अपने मकान की बुनियाद को खोदता है तो मकान गिर जाएगा। इस सिद्धात को ध्यान मे रखते हुए कि सारे पत्थर नीचे गिरते है, वह प्रागनुभविक रूप से जान लेगा कि जो पत्थर अभी उसके हाथ मे है वह छोडे जाने पर नीचे गिर जाएगा। परतु जिन सिद्धातो को वह इस ज्ञान का आधार बनाता है वे स्वय प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय नही है: केवल अपने चारो ओर की दुनिया का अवलोकन करके ही हम यह जान पाते है कि जब हम पत्थरो को छोडते है तब वे ऊपर न जाकर नीचे गिरते है, और कि मकान उस चीज के बल पर खडा रहता है जो उसके नीचे रहती है न कि जो उसके ऊपर रहती है। इस अध्याय मे हम चर्चा सापेक्षत. प्रागनुभविक ज्ञान की नही बल्कि निरपेक्षतः प्रागनुभविक ज्ञान की करेंगे—अर्थात् उसकी जिसे हम प्रागनुभविक रूप से जान सकते है, पर अन्य ऐसे ज्ञान के आधार पर नही जो अनुभवाश्रित हो, बल्कि किसी भी प्रकार

के अनुभवाश्रित ज्ञान के आधार पर नहीं, अर्थात् दुनिया के किसी भी अनुभव से पहले जान सकते हैं।

२. पिछले वाक्य का अंतिम अंश हमें एक दूसरे अंतर में पहुँचा देता है। यह स्पष्ट है कि कालक्रम की दृष्टि से कोई भी किसी भी प्रकार के अनुभव से पहले कुछ भी नहीं जानता। आपका अनुभव आपके जन्म से भी पहले शुरू हो गया था, और यह कहना कठिन है कि उस समय आपको कोई ज्ञान हुआ था। निश्चय ही, ज्ञान सदैव अनुभव के बाद ही होता है, इस अर्थ में कि यदि आपको कोई अनुभव ही नहीं हुआ तो कोई चीज ऐसी नहीं होगी जिसका आपको ज्ञान हो सके। तो फिर कोई गंभीरता के साथ यह कैसे कह सकता है कि किसी चीज का निरपेक्षतः प्रागनुभविक ज्ञान हो सकता है?

परन्तु, उसे प्रागनुभविक कहने में हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि व्यक्ति को उसका ज्ञान समय की दृष्टि से अपने सभी अनुभवों से पूर्व हुआ। उसे प्रागनुभविक कहने में हम उसकी उत्पत्ति के समय की ओर इशारा बिल्कुल नहीं कर रहे हैं। हमारा इशारा उस तरीके की ओर नहीं है जिससे हमें विचाराधीन ज्ञान प्राप्त होता है बल्कि उस तरीके की ओर है जिससे उसका सत्यापन करना होगा। उदाहरणार्थ, आप प्रागनुभविक रूप से जान सकते हैं कि गर्जन गर्जन है, पर यह नहीं कि बिजली की चमक के बाद गर्जन होता है। यह तक भी नहीं कहा जा सकता कि 'गर्जन गर्जन है", यह कोई भी अनुभव होने से पहले, यह जानने से पहले ही कि गर्जन क्या होता है और इसके लिए किस शब्द का प्रयोग होता है, आप जान चुके थे। यह ज्ञान प्रागनुभविक इस अर्थ में नहीं था। असली बात यह है कि "गर्जन गर्जन है" सदैव सत्य होता है, यह मालूम करने के लिए आपको अनुभव के फैसले की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। आपको गर्जन के प्रत्येक उदाहरण की यह देखने के लिए छानबीन नहीं करनी पड़ती कि वह सचमुच गर्जन है या नहीं। इसके विपरीत, आपका, बिजली की चमक के बाद गर्जन होता है, ऐसा इस संबंध के दृष्टांतों का अनुभव किए बिना कहना निरापद नहीं हो सकता। दोनों में अंतर उस अनुभव की मात्रा में नहीं है जो कथन करने से पहले जरूरी होता है, बल्कि उस प्रणाली में है जो कथन के सत्यापन के लिए, उसकी सत्यता के निर्धारण के लिए जरूरी है। जब एक कथन प्रागनुभविक

रूप मे सत्य जाना जाता है, तब यह जानने के लिए कि सबधित कथन सदैव सच होना है, सबधित वस्तुओ के वर्गो के और अधिक दृष्टातो को देखने की आवश्यकता नही रहती ।

क्या संश्लेषी अनिवार्य कथन होते है ? इस स्थल पर कोई यह कह सकता है "निश्चय ही अनिवार्य कथन होते है जिनकी सत्यता प्रागनुभविक रूप से जानी जाती है—बहुत होते हैं । परतु वे सब विश्लेषी कथन या पुनरुक्तियाँ हैं , उनमे से किसीका भी निषेध स्वव्याघाती होगा । दूसरे शब्दो मे, उनमे से कोई भी सश्लेषी नही होता । अ अ है, बिल्लियाँ बिल्लियाँ हैं, आप एक ही समय यहाँ उपस्थित और अनुपस्थित नही हो सकते, बिल्लियाँ स्तनपायी हैं (क्योंकि स्तनपायी होना बिल्ली होने की एक परिभाषक विशेषता है), इत्यादि । मैं इस बात से इन्कार नही करता कि ये सारे कथन अनिवार्य हैं, और ऐसा महसूस करना सचमुच बेवकूफी होगा कि आपको इनका सत्यापन दुनिया का प्रेक्षण करके करना होगा । दुनिया का प्रेक्षण करके इनकी जाँच करने की आवश्यकता क्यो नही है और ये अनिवार्य क्यो हैं, इस बात का कारण मात्र यह है कि इनके अदर तथ्यात्मकता का अभाव है , ये सब विश्लेषी कथन या पुनरुक्तियाँ हैं । अभी दिए गए उदाहरणो मे यह बात बहुत ही स्पष्ट है, पर 'आकृतिवाली प्रत्येक वस्तु परिमाणवाली भी होती है'-जैसे कथनो मे भी यह लागू होती है । यह कथन अनिवार्यत सत्य है और यह देखने के लिए कि वे सब परिमाणवाली हैं या नही, हम विभिन्न आकृतियो की चीजो को जाँचते हुए नही घूमना पडता । परतु, इसका कारण यह है कि सबधित कथन वास्तव मे विश्लेषी है जरा आकृति और परिमाण के सप्रत्ययो का विश्लेषण करके देखिए । कोई चीज चाहे एक वर्ग की तरह दो विमाओवाली हो या एक घन की तरह तीन विमाओवाली, उसकी आकृति केवल उसके दैशिक विस्तार की सीमा का समग्र विन्यास है, और उसका परिमाण केवल इस दैशिक विस्तार की मात्रा है । ऐसा नही हो सकता कि आप किसी चीज की कुछ मात्रा लें (कम-से-कम यदि उसका परिमाण सीमित हो) और वह कही पर समाप्त न हो , और जहाँ पर भी वह समाप्त होती है वही उसकी सीमा है । दोनो सप्रत्यय तार्किक रूप मे एक दूसरे मे जुडे हुए हैं । गणितीय बिंदु की अवश्य ही कोई आकृति नही होती, पर फिर उसका कोई परिमाण भी तो नही होता—हालांकि कागज

के ऊपर बिंदु को व्यक्त करने के लिए हम जो छोटा-सा निशान बनाते हैं उसमें आकृति और परिमाण दोनों ही होते हैं। अतः, मैं मानता हूँ कि संबंधित कथन अनिवार्यतः सत्य है, पर कारण केवल यह है कि वह विश्लेषी है।"

यहाँ तक अवश्य ही यह सही लगता है कि सभी अनिवार्य कथन (प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय) विश्लेषी होते हैं। कम-से-कम इतना तो है ही कि विश्लेषी कथन प्रागनुभविक कथनों के सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण है। पर क्या वे ही अकेले उदाहरण हैं। क्या ऐसे कोई प्रागनुभविक कथन है जो संश्लेषी भी हों, जो अनिवार्यत: सत्य होने पर भी विश्लेषी न हों ?

आधुनिक दर्शन के इतिहास में यह सबसे अधिक विवादास्पद समस्याओं में से एक है। क्षणभर ठहरकर इसका पूरा मतलब समझ लिया जाए। इस अध्याय के शुरू में हमने विश्लेषी और संश्लेषी कथनो मे भेद किया था, और बाद मे हमने प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय (अनुभव-निरपेक्ष) सत्यों तथा अनुभव होने के बाद ही जाने जा सकनेवाले (अनुभव-सापेक्ष) सत्यों में भेद किया था। इन दो भेदों में क्या सबंध है ?

प्रागनुभविक (अनिवार्य)	अनुभवसापेक्ष (आपातिक)
विश्लेषी	संश्लेषी

कम से कम यह बात तो पक्की है कि अधिकतर संश्लेषी कथन, जिन्हें हम सुनते और बोलते है, आपातिक होते हैं। "डेस्क भूरी है," "सड़क पर छह गाड़ियाँ हैं," "मुझे नींद आ रही है," "१९६४ संयुक्तराज्य मे राष्ट्रपति के चुनाव का वर्ष था," "पानी २१२° फा० पर खौलता है" इत्यादि सब संश्लेषी कथन हैं और कोई प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय नही है। दैनिक बोलचाल में प्रयुक्त वाक्यों की विशाल संख्या ऐसी होती है। इनके विपरीत, ऐसे वाक्य भी हैं जिन्हें बोलने का अवसर शायद ही कभी आता हो, पर जो होते सत्य, और अनिवार्य रूप से सत्य, हैं, जैसे, "यदि आप यहाँ हैं तो आप यहाँ हैं," "वर्ग आयत है," "चतुष्पदो के चार पैर होते हैं," "घास या तो हरी है या हरी नही है" इत्यादि। पर ये सब विश्लेषी होते हैं। परेशान करनेवाला सवाल यह है: क्या इन जोड़ों को हम तोड़ सकते हैं ? क्या कुछ वाक्य ऐसे हैं जो विश्लेषी न हों, जो जगत् के बारे में वास्तविक सूचना दें, जो इसके बावजूद प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय हों, जिससे हम उन्हें

नही लगती जैसे यह कि इद्रियानुभव हमे घास को हरी जानने मे समर्थ बनाता है।

इससे कही अधिक जटिल एक और समाधान इमानुएल कान्ट ने बताया था। उसने सश्लेषी प्रागनुभविक सत्यो के सभव होने की व्याख्या मानवीय मन की प्रकृति के आधार पर की थी। मानवीय मन की विशिष्ट रचना के कारण ही कुछ सत्य सश्लेषी और प्रागनुभविक दोनो हैं। एक सरल उपमा लीजिए। मान लीजिए कि आप सदैव लाल रग का चश्मा पहनते है। तब यह कोई आकस्मिक बात नही होगी कि आपको हर चीज सदैव लाल—हलकी या गहरी, किसी मात्रा मे—दिखाई देती है। आप यह सोचेंगे कि दुनिया मे प्रत्येक वस्तु लाल है, परतु वास्तव मे यह कथन केवल लाल चश्मे मे से दिखाई देनेवाली दुनिया के बारे मे ही होगा। लेकिन जब तक आप वह चश्मा पहने रहेगे तब तक जो भी चीज आप देखेंगे वह लाल ही प्रतीत होगी। हम वास्तविक जीवन मे निश्चय ही इस चश्मे को उतार सकते हैं और दुनिया को लाल रग के बगैर देख सकते है। इसके अलावा, यदि प्रत्येक वस्तु सदैव लाल दिखाई देती हो तो शायद हमारे पास लाल की विभिन्न आभाओ को छोडकर किसी भी रग के लिए शब्द न होगे। परतु मन आँखो के समान होता है और चश्मे से भिन्न—हम उसे उतार नही सकते और नए मन से नही (देख) सोच सकते। अथवा मान लीजिए कि आप समुद्र मे जाल से मछलियाँ पकड रहे है और जाल के सब छेद एक-एक इच के हैं। जब भी आप यह देखने के लिए कि कैसी मछलियाँ आपने पकडी है, जाल को निकालते है तब एक इच से कम मछलियाँ जाल मे से निकलकर वापस समुद्र मे चली जाती हैं। यदि आपको जाल की विशेषता के बारे मे कुछ मालूम नही है या यदि आपके ध्यान मे यह बात न आए कि जाल की प्रकृति का पकडी जानेवाली मछलियो से कुछ सबध है तो आप कुछ समय के बाद शायद समुद्र की मछलियो के बारे मे इस बात को तथ्य के रूप मे बताएगे "समुद्र मे कोई मछली एक इच से कम नही है।" परतु हम जो जाल के बारे मे जानते है, यह समझते होगे कि आपका कथन मछलियो के बारे मे नही बल्कि जाल के बारे मे एक तथ्य प्रकट कर रहा है।

कान्ट के अनुसार हमारे सश्लेषी प्रागनुभविक ज्ञान का मूल इसी तरह की एक स्थिति है। एक "तात्त्विक या पारमार्थिक जगत्" है जिसमे ऐसी-ऐसी

विशेषताएं है कि उनकी हम कल्पना तक नही कर सकते। वे हमारे मन की रचना के कारण हमसे छिपी हुई हैं, ठीक वैसे ही जैसे एक इच से कम मछलियाँ कभी इन जालों में नही फंसती। हमारा मन इस तरह से बना हुआ है कि केवल कुछ ही प्रकार की चीजें वह ग्रहण कर पाता है। उनसे भिन्न कोई चीज मानो जाल में से निकल जाती है। इस बात का हमें बिल्कुल कोई ज्ञान नही है कि पारमार्थिक जगत् का मन से स्वतत्र क्या स्वरूप है : हम केवल उतना ही जान सकते हैं जो जाल में फँस जाता है; जो उसमें से निकल जाता है, उसे नही। जो हम जाल मे पकड़ पाते है उसके अलावा जगत् कैसा है, यह हम कभी नही जान सकते : हम उसकी कल्पना तक नही कर सकते और कुछ भी उसके बारे मे कहने मे हम असमर्थ हैं। परंतु जो कुछ जाल (हमारे मन की रचना) मे फँसकर हमारे सामने आता है उसका हमारा ज्ञान संश्लेषी और प्रागनुभविक होता है। जब तक मछुवा अपने जाल पर निर्भर रहता है और जाल उसे जो देता है केवल उसीको जानता है, तब तक यह एक प्रागनुभविक सत्य है कि वह एक इंच से कम कोई मछली नही पकड़ पाएगा। इसी प्रकार मन की बनावट ऐसी है कि जो भी सामग्री वह हमारे सामने प्रस्तुत करता है वह सदैव कुछ "संवेदन के आकारो" (दिक् और काल) और "प्रतिपत्ति के आकारो" (जैसे द्रव्य और कारणता) मे से दिखाई देती है। क्योंकि जो भी अदेशिक और अकालिक है वह जाल मे से निकल जाएगा, इसलिए दिक् और काल के बारे मे कुछ आधारभूत सत्य प्रागनुभविक रूप से जाने जा सकते है—जैसे यह कि काल की गति केवल एक दिशा मे होती है; कि यदि अ ब के पहले आता है और ब स के पहले, तो अ स के पहले आता है; कि यदि अ ब के उत्तर मे है और ब स के उत्तर मे, तो अ स के उत्तर मे है; कि यदि अ ब से बडा है और ब स मे बड़ा, तो अ स से बड़ा है; इत्यादि। ये केवल मन के द्वारा ज्ञात जगत्—अर्थात् संवृति-जगत्—के बारे मे ही सत्य है, पारमार्थिक जगत् के यानी जगत् जैसा स्वत: है उसके बारे मे नही। परंतु जहाँ तक संवृति-जगत् का संबंध है, दिक् और काल के बारे मे ये कथन संश्लेषी और प्रागनुभविक है। इसी प्रकार, हम प्रागनुभविक रूप से नही जान सकते कि कौन किसका कारण है, परंतु यह हम जान सकते हैं कि जो भी घटित होता है उसका कोई कारण होता है, क्योंकि घटनाएँ हमारे मन के आगे कारणता के जाल से होकर ही आती है।

स्थानाभाव के कारण हम कान्ट के इस सिद्धात की यहाँ समीक्षा नही कर सकते। ऐसा लगता है कि यह समस्याएँ जितनी सुलझाता है उससे कही अधिक पैदा करता है। उदाहरणार्थ :

१. यह प्रतीत होता है कि वास्तविक (पारमार्थिक) जगत् के स्वरूप के बारे मे हम नितात सशयग्रस्त अवस्था मे छोड दिए गए हैं; यदि काल वास्तविक नही है बल्कि केवल एक "सवेदन का आकार" है, तो शायद हमे यह कहना पडेगा कि "वास्तव मे" आगे-पीछे कुछ नही है और वास्तविक जगत् मे घटनाओ और प्रक्रमो का अस्तित्व नहीं है, क्योकि ये काल मे होते है। यही बात दिक् को लेकर भी होगी वास्तविक जगत् मे कोई भी चीज किसी अन्य चीज के बाई ओर नही हो सकती, क्योकि वहाँ देशिक विशेषण नही लागू होते। चूँकि हम पूर्णत देशिक और कालिक सबधो के माध्यम से बोलते, सोचते और अनुभव करते है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक जगत् के बारे मे बोलने के लिए हमारे पास कुछ भी नही है। सश्लेषी प्रागनुभविक ज्ञान कैसे सभव है, यह दिखाने के लिए क्या हमारा यहाँ तक आगे बढ जाना जरूरी है ? *क्या इलज (पूर्ण सशय) बीमारी से भी बुरा नही है ?*

२. हम कैसे जान सकते है कि कोई वास्तविक जगत् है और वह अज्ञेय है ?

३. यदि सवृति जगत् मानवीय मन की सरचना का परिणाम है, तो हम कैसे जानते है कि मन की सरचना बदलेगी नही ? क्या इस बात को हम प्रागनुभविक रूप से जान सकते है ? यदि नही, तो सवृति-जगत् तक के बारे मे हमारा ज्ञान सश्लेषी प्रागनुभविक नही होता।

यहाँ से आगे हम तर्कबुद्धिवादियो के दावे की कान्टेतर सदर्भ मे चर्चा करेंगे. हम तर्कबुद्धिवादियो के मत पर यह मानकर विचार करेंगे कि वह मानवीय मन से कोई सबध न रखते हुए जिस रूप मे जगत् का अस्तित्व है उसके हमारे ज्ञान के बारे मे है। स्वय तर्कबुद्धिवादियो ने (कान्ट को छोडकर) अपने मत को ऐसा ही माना है उन्होने जिन कुछ सश्लेषी प्रागनुभविक सत्यो मे विश्वास प्रकट किया है उन्हे वास्तविक जगत् के बारे मे सत्य माना है—उस दुनिया के बारे मे जो मानवीय मन से स्वतत्र रूप मे अस्तित्व रखती है और शायद तब भी जिसका अस्तित्व रहेगा जब मानवीय मन का अस्तित्व नही होगा।

प्रागनुभविक अभिगृहीत—निश्चय ही, हमारा सबध यहा प्रागनुभविक ज्ञान से है, अर्थात् उन प्रतिज्ञप्तियो से जिनकी सत्यता अनुभव का आश्रय लिए

बिना जानी जा सकती है। प्रागनुभविक ज्ञा से बिल्कुल भिन्न प्रागनुभविक अभिगृहीत होते हैं। ये ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ हैं जिन्हे कोई व्यक्ति बहुत ही दृढता के साथ सत्य मानकर चलता है। भले ही उनका खंडन होनेवाला हो या उनमे सदेह करने का कारण पास हो, वह यह स्वीकार नही करेगा कि उनका खडन किया जा सकता है या उनमें सदेह तक किया जा सकता है। एक रोगी अपने चिकित्सक से कहता है : "डाक्टर, मैं मर गया हूँ।" डाक्टर ने उसे यह विश्वास दिलाने की पूरी कोशिश की कि ऐसी बात नही है, पर सब व्यर्थ। अंत मे उसने कहा, "मरे हुए आदमी से खून नही निकलता ; है न ?" "नही।" "अब मैं तुम्हे पिन चुभाता हूँ।" डाक्टर ने पिन चुभाई और रोगी के शरीर से खून निकलने लगा। रोगी बोला, "डाक्टर, मैंने गलत कहा—मरे हुए आदमी से खून निकलता है।" रोगी को अपने मरे हुए होने का इतना दृढ विश्वास था कि विपरीत प्रमाण को वह मानने को ही तैयार नही हुआ, इस तथ्य तक को नही कि उसके शरीर से खून निकला। इस रोगी का यह मानना कि वह मर चुका है, एक प्रागनुभविक अभिगृहीत था।

अधिकतर लोगो के अनेक प्रागनुभविक अभिगृहीत होते हैं। वे प्रायः दार्शनिक की अपेक्षा व्यक्ति के मनश्चिकित्सक के लिए अधिक उपयोगी होते है : दार्शनिक विश्वास के तार्किक आधारो को जानना चाहता है, न कि यह कि एक व्यक्ति क्या विश्वास करता है और क्यो। जिन प्रतिज्ञप्तियो को विभिन्न लोग प्रागनुभविक रूप से सत्य मान लेते हैं उनकी सूची उतनी ही लंबी होगी जितनी आधारहीन पूर्वग्रहो की।

निश्चय ही, एक प्रागनुभविक अभिगृहीत सत्य हो सकता है ; परंतु वह ज्ञान नही है, क्योकि उसे माननेवाला व्यक्ति पर्याप्त प्रमाण के आधार पर उसे नही मानता। जिन्होने गैलिलियो की दूरबीन से बृहस्पति के चद्रमाओं को देखने से इन्कार कर दिया था वे प्रागनुभविक रूप से यह मानते थे कि ऐसी चीज का अस्तित्व है ही नही और इसलिए वे विरोधी प्रमाण को स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। उनका अभिगृहीत असत्य था, और इसी तरह पुराने जमाने के उन अधिकतर लोगो का भी जो यह मानते थे कि पृथ्वी चपटी है। परतु, यदि आज कोई आदमी यह मानता है कि पृथ्वी गोल है, जब कि उसके पास इसका कोई प्रमाण नही है, और विपरीत प्रमाण के निकल आने पर भी वह उसे मानने से इन्कार कर देता है, तो "पृथ्वी

गोल है" उसका एक प्रागनुभविक अभिगृहीत है, हालांकि यहां अभिगृहीत सत्य होगा।

अंकगणित

यदि हम ऐसे सत्यों को खोजना चाहते है जो अनिवार्य हो पर विश्लेषी न हो, तो स्पष्टत उनके मिलने की आशा गणित के क्षेत्र मे की जा सकती है। क्या गणित के सत्य शाश्वत और अपरिवर्तनीय नही है? और क्या वे अनिवार्य रूप से सत्य नही होते? और क्या वास्तविक जगत के बारे मे वे हमे सच्ची सूचना नही देते? अकगणित के एक ऐसे सरल कथन को लीजिए, जैसे २+२=४। क्या हमे इस बात का पक्का यकीन नही है कि यह सत्य है, सदैव सत्य होगा और सदैव अनिवार्यत सत्य होगा। मगल ग्रह मे या विश्व के दूरतम तारे मे यह कैसे मिथ्या हो सकता है? शायद हम न जानते हो कि इन दूरस्थ स्थानो मे परिस्थितियाँ कैसी हैं, परतु क्या कम-से-कम यह विश्वास हमे नही हो सकता कि यदि वहाँ दो चीजें है और फिर दो चीजें और है तो वहाँ चार चीजे है? और क्या जितना पक्का यकीन हमे इसके आज सत्य होने मे है उतना ही एक लाख वर्ष पहले या एक लाख वर्ष बाद सत्य होने मे नही है? निश्चय ही, ऐसी प्रतिज्ञप्ति 'सब कौवे काले है'-जैसी नही होती, जिसे कि आप तब तक सत्य जान ही नही सकते जब तक आपने जितने कौवे दुनिया मे है उन सबको जाँच न लिया हो। क्या यह एक अनिवार्य सत्य नही है जिसे प्रागनुभविक रूप से जाना जा सकता हो और साथ ही जो "काली बिल्लियाँ काली हैं' जैसी न होकर दुनिया के बारे मे सचमुच कोई सूचना भी देती हो?

कभी-कभी यह माना गया है कि "२+२=४"-जैसे कथन अविश्लेषी (सश्लेषी) तो है पर अनिवार्य (आपातिक) भी है—सक्षेप मे, वे असल मे 'सब कौवे काले होते है' या "सामान्य परिस्थितियो मे पानी २१२° फा० पर खौलता है' से भिन्न नही हैं। इन दो व्यापक कथनो के कोई अपवाद नही पाए गए और इसी प्रकार अकगणितीय कथनो के भी कोई अपवाद नही पाए गए। हम कोई ऐसा उदाहरण नही मिला जिसमे दो चीजो या दो अन्य चीजो के साथ जोड चार चीजो के बराबर न हुआ हो। गणित के नियम भौतिकी, रसायन और जीवविज्ञान के नियमो की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं, क्योकि वे सभी चीजो पर लागू होते है—न केवल भौतिक वस्तुओ पर, अपितु

विचारों, बिंबों, अनुभूतियों तथा प्रत्येक ऐसी चीज पर जिसे सोचना संभव है : प्रत्येक चीज के बारे में यह बात पूर्णतः सत्य है कि वे दो और वही दो और मिलकर चार हो जाती है। गणित के नियमों में एक और विशेषता यह है कि वे भौतिकविज्ञान के नियमों से भी अधिक अच्छी तरह सिद्ध है। जब भौतिक विज्ञान के नियमो की कुछ जानकारी हुई थी उससे भी हजारो साल पहले लोगों को पता हो चुका था कि "दो और दो चार होते है" इत्यादि कथन सदैव सत्य होते है। असंख्य उदाहरणों मे उन्होने इसे सत्य पाया था और एक भी निषेधात्मक उदाहरण उन्हें नही मिला था। इसके बावजूद, इस मत के अनुसार, भौतिक विज्ञानों के तथा अंकगणित के नियम एक ही मौलिक प्रकार के है : वे दोनों ही संश्लेषी और आपातिक है। दोनों के सत्य होने का ज्ञान केवल दुनिया का प्रेक्षण करके ही हो सकता है और दोनों दुनिया के प्रेक्षण से मिथ्या भी सिद्ध हो सकते है। जैसे यह तर्कतः संभव है कि हमे भौतिक विज्ञान के सु-प्रमाणित नियमों के अपवाद मिल जाएँ (यह तर्कत संभव है कि गर्म किए जाने पर पानी खौलने के बजाय बर्फ बन जाय), ठीक उसी तरह यह भी तर्कतः संभव है कि अंकगणित के नियमो के अपवाद मिल जाएं (जैसे, २+२=५ निकले)। निश्चय ही, मानव जाति के पूरे इतिहास मे असंख्य उदाहरणो को देखने के बावजूद कोई भी अपवाद नही पाया गया, और यही कारण है कि हम इन नियमों के सदैव सत्य होने मे इतना दृढ़ विश्वास करते है। परंतु यदि हम पानी और कौवो के बारे में जो प्रतिज्ञप्तियां है, उनकी अपेक्षा "२+२=४ होते है" में अधिक पक्का यकीन करते है, तो इसका कारण केवल यह है कि हजारों वर्षो से हमें प्रतिदिन *अंकगणितीय प्रतिज्ञप्तियो के पक्ष में अनेक बार प्रमाण मिलता रहा है, जबकि* कौवों के बारे में हमारा अनुभव कुछ सीमित है और वह हमें लगातार नही होता।

अब प्रायः कोई भी अंकगणितीय कथनो की इस व्याख्या को नही मानता। अंकगणितीय कथनों के बारे में लोगो में जो भी मतभेद हों, इस बात मे वे एकमत है कि ये अनिवार्य (अनिवार्यतः सत्य) और प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय है और इस बात में भौतिक विज्ञानों के कथनो से भिन्न है। हो सकता है कि मंगल में, या पृथ्वी में भी कही, सफेद कौवे हो; विश्व में ऐसे विशाल क्षेत्र हो सकते है जिनमें वे भौतिक नियम जिनमें हम इस समय विश्वास करते है लागू

न हों ; परन्तु २+२=४ सदैव और सर्वत्र होगा। शायद कही ऐसे जंतुओं का अस्तित्व हो जो हमसे इतने भिन्न हो कि हम उनकी कल्पना तक न कर सकें। उनके कार्यों और व्यवहार पर लागू होनेवाले जीवशास्त्रीय नियम उनसे कही भिन्न हो सकते है जो जीवविज्ञान की हमारी पाठ्यपुस्तकों में है। परंतु इतना निश्चित है कि यदि दो ऐसे जतु है और उनके साथ दो और आकर मिल जाते है तो वे कुल चार हो जाते है। क्या इससे अधिक निश्चित कुछ हो सकता है? और क्या यह हम प्रागनुभविक रूप से नही जानते? भविष्य मे ऐसा होता है या नही, यह निश्चय करने के लिए क्या हमे वास्तव मे और अधिक प्रेक्षण की आवश्यकता होगी? क्या इस बात की कोई आशंका है कि जब अगली बार दो चीजें हो और फिर और दो चीजें हों तब वे शायद चार न हो? जैसा कि हम आगे के पृष्ठो मे देखेंगे, ऐसा कोई खतरा नही है, क्योंकि इस अकगणितीय प्रतिज्ञप्ति का किसी भी प्रकार खंडन नही हो सकता।

परतु, ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्य हो या नही, हम पूछते यह है कि वे विश्लेषी है या सश्लेषी? पहली दृष्टि मे वे सश्लेषी प्रतीत होती है: "२+२=४ होते है" वैसी बिल्कुल नही लगती जैसी "काली बिल्लियाँ काली होती है" या "शेर शेर हैं" है, अथवा वैसी भी नही जैसी "बर्फ या तो सफेद है या सफेद नही है" है। अकगणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ हमे वस्तुओं के बारे मे उस तरह की जानकारी देती प्रतीत होती है जैसी ये प्रतिज्ञप्तियाँ नही देती। उदाहरणार्थ, हम अकगणित मे गणना कर सकते हैं: हम विशाल सख्याओं का जोडना, घटाना, गुणन और भाग करते है और जो परिणाम आता है वह हमे नई जानकारी देता है; हम एक ऐसी चीज जान लेते हैं जिसे हम पहले नही जानते थे। और हम किसी जोड की सख्याओ के बारे मे उनका जोड जाने बिना अवश्य ही सोच सकते है: यदि हम जोड जानते होते तो उसे निकालने की हमे आवश्यकता ही न होती।

इस सबके बावजूद साधारणत: आजकल यह माना जाता है कि अकगणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषी हैं। हम पूछ सकते हैं कि "४" का "२+२" के अलावा क्या मतलब है? और "२" का "१+१" के अलावा क्या मतलब है? जब हम "२+२=४" कहते हैं तब हम केवल यह कह रहे होते हैं कि "१+१+१+१" बराबर है "१+१+१+१", जो कि उतना ही

विश्लेषी है जितना "काला काला है"। ये प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्यतः सत्य हैं और सदैव सत्य होंगी, ऐसा हमारा पक्का विश्वास है, और ऐसा दृढ़ रूप से विश्वास करने का हमे अधिकार है, और इसका कारण केवल यह है कि ये विश्लेषी हैं।

परंतु यह देखते हुए कि इन प्रतिज्ञप्तियों से हमे निश्चय ही नई जानकारी मिलती है, यह बात कैसे सत्य हो सकती है? यहाँ हम इस मत के विरुद्ध कि अंकगणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषी हैं, कई आपत्तियों पर विचार करके देखते हैं।

१. "मैं ४ के बारे में सोचे बिना २ और २ के बारे मे सोच सकता हूँ।' शायद मैं सोच सकता हूँ, या कम-से-कम बचपन में यह सीखने से पहले मैं सोच सकता था कि २ और २ मिलकर ४ होते है। इसी तरह, जैसा कि कांट ने कहा था, मैं १२ के बारे में सोचे बिना ७ और ५ के बारे में सोच सकता हूँ। परंतु ७ और ५ मिलकर १२ होते हैं, यह कथन मनोविज्ञान का एक नियम नही: यह ऐसा नही कहता कि जब मैं इसके बारे मे सोचता हूँ तब मैं उसके बारे मे भी सोचता हूँ। यह तो केवल इतना कहता है कि यह वह है, चाहे मै दोनों के बारे मे एक साथ सोचूँ या नही। मे यह सोचे बिना कि "वह मेरा पुरुष-सहोदर है" यह सोच सकता हूँ कि "वह मेरा भाई है," पर दोनों का मतलब हर हालत मे एक है, और मैं चाहे जानूँ या न जानूँ, "वह मेरा भाई है; पर मेरा पुरुष-सहोदर नही है" कहना स्वतोव्याघाती है। हम बात एक संख्या के अन्य सख्याओं के एक समूह के तुल्य होने की कर रहे है, इसकी नहीं कि हमारी मानसिक क्रियाएँ कैसी होती है।

२. "पर यदि यह मैं मान भी लूँ कि '२+२=४' विश्लेषी है, तो भी इस तरह की जटिल गणनाओं के बारे मे क्या कहेंगे जैसे ४०६९४+२७५९३=६८२८७"? निश्चय ही, दोनों मे सिद्धात एक ही है, और यदि पहला विश्लेषी है तो दूसरा भी विश्लेषी है। पर जब यह जानने के लिए कि दूसरा सही भी है या नहीं, हमे गणना करने की जरूरत होती है और इसके अलावा हम जोड़ में गलतियाँ भी कर सकते है, तब वह विश्लेषी कैसे हो सकता है?"

दोनो मे सिद्धांत एक ही है (यह उत्तर दिया जाएगा): दोनो ही विश्लेषी है। दूसरे को 1+1+1+1 इत्यादि के रूप में लिखने में बहुत

समय लगेगा, परंतु यदि हम ऐसा कर ही डालें तो हम देखेंगे कि बात यहां भी वही "२+२=४" वाली है, केवल इस अंतर के साथ कि यहां १ कहीं अधिक सख्या मे है। और यदि जोड मे हमसे कोई गलती हो जाए, तो हमारा यह कथन कि उन दो संख्याओ का जोड उस एक संख्या के बराबर है, स्वतोव्याघाती होगा : हम कहते होगे कि "१+१+१.." "१+१+१..." के बराबर नही है।

निश्चय ही, दूसरे उदाहरण मे योग उतना सुस्पष्ट नही है जितना २+२ के उदाहरण मे। परतु इससे भी कोई अतर नही आता। विश्लेपी होने के लिए यह जरूरी नही है कि वह सुस्पष्ट हो। जो बात एक के लिए सुस्पष्ट होती है वह दूसरे के लिए सुस्पष्ट नही होती, और जो एक व्यक्ति के लिए एक समय सुस्पष्ट होती है वह शायद किसी अन्य समय सुस्पष्ट न हो। जो बात आपके और मेरे लिए सुस्पष्ट न हो, शायद वह गणित की प्रतिभा रखनेवाले किसी व्यक्ति के लिए सुस्पष्ट हो। सुस्पष्टता एक मानसिक विशेषता है जो विश्लेपी होने के सप्रत्यय मे बिल्कुल शामिल नही है। अकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेपी इसलिए हैं कि उनका निषेध स्वतोव्याघाती होता है, चाहे स्वतोव्याघातकता का तत्काल पता चल जाए या न चले। गणित की बहुत ही बडी क्षमता रखनेवाले व्यक्ति के लिए बहुत ही विशाल सख्याओ के योग भी उतने ही सुस्पष्ट होगे जितना "२+२=४' हमारे लिए है।

३. "परतु दोनो का अर्थ एक नही है: ४०६९४ और २७५९३, '६८२८७' के अर्थ के अश (भाग) नही हैं। जब आप मुझसे इस सख्या का अर्थ पूछते है तब मैं इन दो *सख्याओ को या किन्हीं भी ऐसी सख्याओ को* नही बताता जिनका जोड इतना निकले। अत, यदि एक सख्या दूसरी सख्या का पूरा *अर्थ या अर्थ का एक भाग* नही है *तो कथन विश्लेपी* कैसे हो सकता है ?"

परतु, अर्थ का अश होना, इस रूप मे कि जब हम उसे बोलें तब उससे हमारा अभिप्राय हो, जरूरी नही है। अ ब हो सकता है, हालांकि जब हम 'अ' को बोलते है तब 'ब' से हमारा मतलब न हो। ४०६९४ और २७५९३ से हमारा जो मतलब है वह शायद ६८२८७ न हो, हालांकि इन दो *सख्याओ का* फिर भी *योग* वही है। वह फिर भी एक *अनिवार्य* सत्य है और उसका निषेध फिर भी स्वतोव्याघाती होगा।

४ 'पर क्या २ + २ = ४' अनुभव से प्राप्त एक सामान्यीकरण नही है ? क्या इसकी सत्यता को हम अनुभव से नही सीखते ? और क्या यह दृष्टातो पर आधारित नही है ? पहले मैं २ और २ मकानो के बारे मे सीखता हूँ, फिर २ और २ सेवो के बारे मे, और इसी तरह अन्य चीजो के बारे मे। अनुभव से इसका सीखा जाना इसको विश्लेषी मानने से कैसे सगति रखता है ?"

अवश्य ही मैं सीखता हू कि २ और २ बराबर ४ होते हैं, और शायद सभीने बचपन मे इसे मकान और सेव इत्यादि के दृष्टातो की मदद से सीखा था। परतु हमने सीखा क्या था ? क्या सेवो और मकानो के बारे मे कोई बात सीखी थी ? नही, केवल यह कि जब २ और २ को एक साथ जोडा जाता है तब ४ आता है, मकानो और सेवो की सारी बात उपलक्ष्य मात्र थी। हमने सीखा यह था कि प्रतीक "४" का अर्थ प्रतीक "२ और २" के तुल्य है—कि इन दो पदो को एक दूसरे के स्थान पर रखा जा सकता है।

हम अवश्य ही शब्दो के अर्थो को अनुभव से सीखते हैं—क्या दूसरा कोई उपाय है ? परतु इसका इस बात से कोई सबध नही है कि जिन प्रतिज्ञप्तियो मे वे आते हैं वे विश्लेषी हैं या नही। उनके विश्लेषी होने का आधार यह होता है कि उनका निषेध स्वतोव्याघाती होता है। यह कहना कि २ और २ का योग ४ नही होता यह कहने के तुल्य होगा कि १ और १ और १ और १ का योग १ और १ और १ और १ नही होता, जो कि स्वतोव्याघाती है।

जब हमने गुल्लक मे दो पैसे डाले और बाद मे दो और पैसे डाले तब हमने यह बोलना सीखा कि हम चार पैसे डाल चुके हैं, केवल इसलिए कि "चार पैसे डालना" का वही अर्थ है जो 'दो पैसे डालना और फिर दो पैसे डालना' का है। हमने अपने अनुभव से यह कहना सीखा— भाषा को सीखने के अनुभव से—परतु जो हमने कहा वह एक अनिवार्य सत्य है और विश्लेषी है। लेकिन हमने यह भविष्यवाणी करना भी सीखा कि यदि हम बाद मे गुल्लक को तोडें तो हम उनमे चार पैसे पाएँगे। इस रूप मे हमने जो सीखा वह कोई अकगणितीय सत्य नही था बल्कि दुनिया के बारे मे एक सत्य था जिसे हम पैसो का सुरक्षित रहना कह सकते हैं, और "२ + २ = ४ होता है' के विपरीत यह प्रतिज्ञप्ति स्वतोव्याघात के बिना असत्य निकल सकती थी। यदि वह असत्य निकली होती, तो फिर भी हम इस बात पर एकमत होते कि

"२ और २ बराबर ४ होता है" एक विश्लेषी सत्य है जो "२," "४", "जोड़" और "बराबर होता है" की हमारी परिभाषाओं का परिणाम है।

इससे हम सीधे अगली आपत्ति में पहुंचते है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

५. "अंकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ, विश्लेषी होना तो दूर की बात रही, सत्य तक नही होतीं—कम से कम हमेशा नही। दो और दो सदैव चार नही होता। उदाहरणार्थ यदि आप दो लिटर पानी दो लिटर अलकोहल में जोड़ दें तो (यदि संबंधित अंकगणितीय प्रतिज्ञप्ति सत्य है तो) आपके पास चार लिटर द्रव होना चाहिए—पर इतना होता नही ; दोनों द्रवों के अणुओं के एक-दूसरे के अंदर प्रविष्ट हो जाने से मात्रा थोड़ी कम हो जाती है। यदि आप दो सिंहो और दो मेमनो को एकसाथ रख दें और कुछ देर के लिए उनकी ओर पीठ कर दें, तो आप चार जतु नही पाएंगे बल्कि केवल दो पाएंगे—दो सिंह। जब दो अमीबा अपना विभाजन करते है तब वे चार हो जाते है—जो पहले दो था वह अब चार है। यदि अकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ सदैव सत्य तक नही होती—जब वास्तविक जगत् उन्हें प्राय: मिथ्या कर देता है—तो, विश्लेषी होने की तो बात दूर रही, वे अनिवार्य ही कैसे हो सकती हैं ?"

पर, यह आपत्ति बात को बिल्कुल ही गलत समझ लेने का परिणाम है। जब हम कहते हे कि २+२=४ होता है, तब हम एक क्षण के लिए भी इस बात से इन्कार नही करते कि जो दो था वह चार हो सकता है (अमीबा) या कि एक समय हमारे पास चार चीजें हो सकती है और कुछ समय बाद शायद वे दो ही रह जाएँ (सिंह और मेमने)। प्रतिज्ञप्ति तो केवल इतना ही कहती है कि यदि आपके पास दो और दो है तो उस क्षण मे आपके पास चार हैं। अकगणित आपको प्राकृतिक क्रियाओ के बारे मे कुछ नही बताता—इस बारे मे कि कैसे दो चीजे चार बन सकती है या चार चीजे कैसे घटकर दो रह सकती है। अंकगणित आपको यह तक नही बताता कि दुनिया मे कोई चार चीजे है या कि कोई दुनिया भी है जिसमे इस तरह के अंतर किए जा सकते है। वह तो केवल यह कहता है कि यदि दो चीजे है और फिर दो और चीजें है तो कुल चार होनी चाहिए : कि "दो + दो है" कहना और "चार है" कहना एक ही बात है। जब दो सिंह होते है और दो मेमने होते है तब चार चीजें होती है ; जब केवल दो सिंह होते है तब केवल दो चीजे होती है अर्थात् एक+एक चीजें। यदि दो चीजों से एक लाख चीजें बन जाती हैं

तो इससे "दो + दो = चार होता है" का या अकगणित की किसी भी अन्य प्रतिज्ञप्ति का उल्लघन नही होता। दो खरगोश जल्दी ही एक लाख खरगोश हो जाते है, और यदि दो चीजें विस्फोट से एक लाख चीजें हो जाती है या शून्य हो जाती है, तो इससे अकगणित के किसी नियम का खडन नही होगा। कौन क्या हो जाता है, कैसे एक चीज दूसरी मे बदल जाती है—ये भौतिक विज्ञानो की छानबीन के विषय हैं, दुनिया मे जो कुछ घटता है उससे ये सबधित हैं और इनके बारे मे जो प्रतिज्ञप्तियाँ है वे सब सश्लेषी और आपातिक है। परतु अकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ प्रकृति मे चलनेवाले परिवर्तन के बारे मे कुछ भी नही बताती। जिस तरह की दुनिया मे हम रहते है उसके बारे मे वे कुछ भी नही कहती और न उनमे उस दशा मे थोडा सा भी परिवर्तन हुआ होता यदि दुनिया इस समय जैसी है उससे बिल्कुल भिन्न हुई होती, क्योकि अकगणित के नियम यह नही बताते कि दुनिया किस तरह की है। अकगणित यह तक आपको यही बताता कि सख्या ४ दुनिया मे किस चीज पर लागू भी होती है बल्कि केवल यह बताता है कि यदि वह लागू होती है तो "२ + २" भी लागू होता है, क्योकि इन दो प्रतीको का एक ही अर्थ है।

अब पानी और अल्कोहल के उदाहरण पर विचार कोजिए। यह रसायन की एक प्रतिज्ञप्ति है, अकगणित की नही यह बताती है कि जब आप किसी चीज के साथ कुछ करते हैं तब क्या होता है। असल मे उदाहरण बहुत ही भ्रामक रूप मे रखा गया है पानी को अल्कोहल म "जोडने" की बात कही गई है। पर जोडना एक अकगणितीय क्रिया है: इसे सख्याओ के साथ किया जाता है भौतिक वस्तुओं के साथ नही। यदि यथार्थ रूप से कहा जाए तो हम पानी को अल्कोहल के साथ नही जोडते, हम अल्कोहल से भरे बर्तन मे कुछ पानी डालते है (अथवा यदि आप इसे जोडना ही कहना चाहते हैं तो यह उससे बहुत ही भिन्न अर्थ मे होगा जिसका अकगणित म प्रयोग होता है।) जब आप किसी द्रव को किसी अन्य द्रव मे डालते है तब जो होता है उसका पता लगाने के लिए आपको दुनिया का प्रेक्षण करना होगा। यदि आप पेट्रोल मे पानी डालें तो आपको कोई भी मिश्रण प्राप्त नही होगा। यदि आप शुद्ध सोडियम मे पानी मिलाएँ तो एक विस्फोट होगा और उसके बाद न पानी रहेगा और न सोडियम। जब आप किसी चीज के साथ कुछ करते हैं तब जो कुछ होता है उसकी छानबीन करने का काम भौतिक विज्ञानो का है, पर इस

प्रकार जो कुछ मालूम होगा उससे अकगणित के किसी नियम का खडन नही होता, क्योकि अकगणित से उसका कोई भी सबध नही है।

'परतु, अकगणितीय नियम प्रतीको के सयोग मात्र के बारे मे नही होते : ये वास्तविक जगत के बारे मे किए जानेवाले बहुत ही सामान्य कथन हैं। *अन्यथा अकगणित के नियम दुनिया पर लागू ही कैसे हो पाते ?* पर लागू वे अवश्य होते है। न केवल यह सत्य है कि २ और २ बराबर ४ होता है, बल्कि यह भी सत्य है कि २ पेड और २ पेड बराबर ४ पेड होता है। अकगणित के नियमो का परिमाणो से सबध होता है पर परिमाण किसी भी चीज का हो सकता है—पेडो का तथा हर चीज का। अत्यधिक सामान्य होने के कारण ही ऐसा लगता है जैसे कि वे किसी भी चीज के बारे म नही है—पर हैं वे चीजो के बारे मे ही, सभी चीजो के बारे मे।"

मान लीजिए कि आप पेडो को गिन रहे है दो पेड आपकी बाई ओर ह दो आपकी दाहिनी ओर पर जब भी आप उन्हे एकसाथ गिनने की कोशिश करते ह वे ४ के बजाय कुल ५ निकलते हैं। यदि ऐसा ही बार बार होता रहे तो आप क्या कहेगे ? क्या इससे अकगणित के किसी नियम का खडन हो जाएगा ? क्या अकगणित की पाठयपुस्तको मे यह सशोधन करना पडेगा कि "कभी-कभी २ और २ बराबर ५ होता है' ? बिल्कुल नही, "२ और २ बराबर ४ होता है' सदैव सत्य बना रहेगा, गिनने की क्रिया मे चाहे जो भी हो यदि आपको पेडो को गिनने के बाद ५ ही मिलता रहे, तो आप कहेगे कि आप लगातार गलती किए जा रहे है। इसने भी अधिक शायद आप यह *कहेगे कि गिनते समय हर बार एक पेड एकाएक पैदा हो रहा है। परतु एक* बात जिसे आप नही कहेगे यह है कि कभी कभी २ और २ बराबर ५ होता है। यदि जब भी आप सब पेडो को गिनने की कोशिश करते है, आपकी गिनती मे हर बार एक अतिरिक्त पेड आता रहे तो आप कहेगे कि २पेड+२पेड+१ पेड जो गिनती के समय एकाएक उत्पन्न हो गया लगता है बराबर ५ पड है। इस प्रकार यह अकगणितीय नियम बिल्कुल खडित नही होगा।

मैं मानता हूँ कि खडित नही होगा। मैं फिर भी आग्रह के साथ कहता हूँ कि वह एक अनिवाय सत्य है। '२+२ बराबर ४ होता है। मात्र यह नही—यह '२ पेड+२ पेड=४ पेड' '२ सव+२ सेव=४ सेव' इत्यादि का सामान्यीकरण मात्र है। अकगणितीय नियम यह कहता है कि कोई भी दो

चीजें और कोई भी दो और चीजे बराबर है चार चीजे, और यह वास्तविकता के बारे मे एक नियम है, प्रतीको के प्रयोग के बारे मे नही। यह नियम कि २ और २ बराबर ४ होता है, सेवो पर तथा प्रत्येक अन्य चीजो पर लागू होता है, यह वास्तविक जगत् पर लागू होता है।"

"मैं समझता हूँ कि आप दो अलग चीजो को एक-दूसरी से उलझा रहे है। यह आसानी से समझ मे आ जाता है कि '२+२=४' शुद्ध अकगणित की एक प्रतिज्ञप्ति के रूप मे आपको '४' का '२+२' के तुल्य प्रयोग करने मात्र का अधिकार देती है। यह आसानी से समझ मे आ जाता है कि *'यदि आप २ लिटर मे २ लिटर जोडें (यानी उसमे उडेलकर मिला दें) तो लगभग ४ लिटर होगा' अकगणित की प्रतिज्ञप्ति* बिल्कुल नही है। परतु यदि आप '२ सेव और २ सेव बराबर होता है ४ सेव' कहे, तो यह स्पष्ट नही है कि यह कथन किस क्षेत्र मे आएगा। यह शुद्ध गणित के कथन की तरह भी लगता है और भौतिक वस्तुओ (सेवो) के बारे मे भी। परतु यह कोई आश्चर्य की बात नही है क्योकि यह कथन अनेकार्थक है, और यही मैं अब स्पष्ट करता हूँ '२ सेव और २ सेव बराबर है ४ सेव' एक अस्पष्ट कथन है। वक्ता का क्या अभिप्राय है, यह पता लगाने के लिए यह पूछना पडेगा 'क्या सेवो का महत्त्व है ?' मान लीजिए, बात २ घ० सें० सोडियम के २ घ० सें० पानी मे डाले जाने की होती। क्या इससे कोई फर्क पडता ? (१) यदि यह शुद्ध (अननुप्रयुक्त) अकगणित का एक कथन है तो इसका कोई महत्त्व नही है कि चीजे सेव है, हाथी है, रेत के कण है, या बृहस्पतिवार के बारे मे विचार हैं—कथन का विषय सख्याएँ हैं, और बाकी केवल समझाने के लिए है। ऐसे सब कथन प्रागनुभविक और विश्लेषी होते हैं। (२) परतु यदि सेवो का महत्त्व है, तो कथन अकगणित के बारे मे बिल्कुल नही है, और हो सकता है कि वह सत्य भी न हो। हम इस बारे मे आसानी से भ्रम मे पड जाते हैं, क्योकि पानी और सोडियम के विपरीत सेव सामान्यत चुपचाप अगल-बगल पडे रहते है और परस्पर कोई क्रिया नही करते। अत, यदि मतलब ऐसा है—कि सेव एक साथ रखे जाने पर पूर्ववत् सेव ही बने रहते हैं—तो यह सत्य है, पर है यह भौतिक जगत् के बारे मे एक सश्लेषी सत्य, गणित का एक सत्य नही। तर्कत यह सभव है कि इकट्ठे रखे जाने पर चार सेव चिपककर एक बडा सेव बन जाएँ या वे एक हजार

छोटे-छोटे सेव पैदा कर दें, या एक-दूसरे की उपस्थिति मे विस्फोट करके उड जाएँ। सेवो के इकट्ठे रखे जाने पर क्या होता है, यह प्रकृति का प्रेक्षण करने की बात है, प्रागनुभविक रूप से घोषणा करने की नही। कोई भी ऐसा कथन जो सेवो के बारे मे हो और जिसमे इस बात का महत्त्व हो कि वह सेवो के बारे मे है न कि किसी अन्य चीज के बारे मे, एक सश्लेषी कथन है ; पर वह आपातिक भी है। सब इस बात पर निर्भर करता है कि अभिप्राय इनमे से क्या है। परतु यदि आप '२ सेव और २ सेव बराबर ४ सेव होता है', इतना मात्र कहते है और इन अतरो को भूल जाते है तो आप यह सोच सकते हैं कि आपने पहले कथन की अनिवार्यता और दूसरे की सश्लेपिता प्राप्त कर ली है और इस प्रकार तुरंत ही एक सश्लेपी प्रागनुभविक कथन आपके हाथ लग गया है : परतु ऐसा हुआ नही। आपके पास वाक्य एक है पर वह दो भिन्न प्रतिज्ञप्तियो को व्यक्त करता है—एक अनिवार्य तथा विश्लेपी है और दूसरी सश्लेपी तथा आपातिक है।"

एक और भी बात है जिसे यदि शुरू कर दिया जाए तो चर्चा बहुत लबी और तकनीकी हो जाएगी तथा परिणाम मे कोई बडा अतर नही आएगा। शुद्ध (जो अनुप्रयुक्त न हो) गणित के प्रसग मे कोई यह कह सकता है :

६. "अकगणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ स्वत विश्लेषी नही होती : वे केवल एक अकगणितीय तत्र के सदर्भ मे ही विश्लेपी होती है। यदि आप पिआनो के अभिगृहीतो को स्वीकार कर ले तो आप उनसे तार्किक निष्कर्ष निकाल कर पूरे अकगणित को पैदा कर सकते है। पर पहले आपको उन अभिगृहितो को मानना होगा।"

पिआनो के अभिगृहीत ये हैं :

१. ० एक सख्या है।
२. किसी भी सख्या का अनुवर्ती एक सख्या है।
३. किन्ही दो सख्याओ का एक ही अनुवर्ती नही होना।
४ ० किसी भी सख्या का अनुवर्ती नही है।
५ यदि ग एक गुणधर्म है, ऐसा कि (अ) ० मे गुणधर्म ग है, तथा (ब) अगर किसी सख्या स मे ग है तो स के अनुवर्ती मे ग है, तो प्रत्येक सख्या मे ग है।

"सख्या," '०" और "अनुवर्ती"—इन तीन अपरिभाषित पदो का प्रयोग

करते हुए वह इन अभिगृहीतो [से सख्याओ की एक अनत श्रेणी—पैदा करने मे समर्थ हो गया था। इन अभिगृहीतो से पूर्ण सख्याओ का पूरा तत्र प्राप्त हो जाता है। क्या ये अभिगृहीत स्वय विश्लेपी हैं ? यदि इन्हे परिभापाओ के और परिभापक विशेपताओ के कथन के रूप मे लिया जाए तो ये विश्लेपी हैं ; और चूंकि विश्लेपी प्रतिज्ञप्तियो से निगमित प्रतिज्ञप्तियाँ भी विश्लेपी होती है, इसलिए अकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ पूर्ववत् विश्लेपी है।

परतु यथार्थता बनाए रखने के लिए हमे यह याद रखना चाहिए कि इन अभिगृहीतो को प्रतिज्ञप्तियो के रूप मे नही बल्कि प्रतिज्ञप्ति-आकारो के रूप मे, हमारी पुनरुक्तियो के प, फ, और ब (देखिए परि० ९, "पुनरुक्तियाँ") की तरह, समझा जा सकता है (और यही अभिप्राय था भी)। पिआनो ने "सख्या", "०" और "अनुवर्ती" को अपरिभाषित छोड दिया। तो हम इन अभिगृहीतो को अकगणित से बिल्कुल भिन्न अर्थ दे सकते हैं उदाहरणार्थ, हम "अनुवर्ती" को सतति के अर्थ मे ल सकते है और 'सख्या" को चूजो के अर्थ मे, और तब अभिगृहीत २ के अनुसार हम यह निष्कर्प निकाल सकते हैं कि चूजे की सतति चूजा होती है—जो कि दुनिया के बारे मे एक सश्लेषी कथन है, और यद्यपि यह सत्य है, फिर भी अनिवार्य रूप से सत्य नही बल्कि आपातिक रूप से सत्य है। ये अभिगृहीत अकगणितीय केवल तब होते हैं जब "सख्या", "०" और 'अनुवर्ती' को पारपरिक अकगणितीय प्रयोग के अनुसार समझा जाता है (जैसा कि रसेल और व्हाइटहेड कृत प्रिंसिपिया मैथेमेटिका मे तथा फ्रेगे-कृत फाउन्डेशन्स ऑफ अरिथमेटिक मे किया गया है)। यहाँ हमारा सबध केवल इस बात से है कि ऐसा करने पर ये अभिगृहीत विश्लेपी हो जाते हैं, और फलत इन अभिगृहीतो से निगमित हो सकनेवाली सब अकगणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ भी विश्लेपी हो जाती है।

ज्यामिति

पर, अब ज्यामिति के बारे मे क्या कहा जाएगा ? जब हम ज्यामिति का अध्ययन करते हैं तब हमे अनेक प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी मिलती हैं जो अनिवार्यत सत्य और साथ ही सश्लेपी भी लगती हैं 'त्रिभुज के कोणो का योग १८०° के बराबर होता है ," "एक बिंदु मे से दो समातर रेखाएँ नही खीची जा सकती ," "सरल रेखा दो बिंदुओ के बीच की न्यूनतम दूरी है ,"

छोटे-छोटे सेव पैदा कर दें, या एक-दूसरे की उपस्थिति में विस्फोट करके उड़ जाएँ। सेवों के इकट्ठे रखे जाने पर क्या होता है, यह प्रकृति का प्रेक्षण करने की वात है, प्रागनुभविक रूप से घोषणा करने की नहीं। कोई भी ऐसा कथन जो सेवों के वारे में हो और जिसमें इस वात का महत्त्व हो कि वह सेवों के बारे में है न कि किसी अन्य चीज के वारे में, एक संश्लेपी कथन है ; पर वह आपातिक भी है। सब इस बात पर निर्भर करता है कि अभिप्राय इनमे से क्या है। परंतु यदि आप '२ सेव और २ सेव बराबर ४ सेव होता है', इतना मात्र कहते है और इन अतरों को भूल जाते हैं तो आप यह सोच सकते है कि आपने पहले कथन की अनिवार्यता और दूसरे की संश्लेपिता प्राप्त कर ली है और इस प्रकार तुरंत ही एक संश्लेपी प्रागनुभविक कथन आपके हाथ लग गया है : परतु ऐसा हुआ नहीं। आपके पास वाक्य एक है पर वह दो भिन्न प्रतिज्ञप्तियो को व्यक्त करता है—एक अनिवार्य तथा विश्लेषी है और दूसरी संश्लेपी तथा आपातिक है।"

एक और भी बात है जिसे यदि शुरू कर दिया जाए तो चर्चा बहुत लंबी और तकनीकी हो जाएगी तथा परिणाम मे कोई बड़ा अंतर नही आएगा। शुद्ध (जो अनुप्रयुक्त न हो) गणित के प्रसंग मे कोई यह कह सकता है :

६. "अंकगणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ स्वतः विश्लेषी नही होती : वे केवल एक अंकगणितीय तंत्र के संदर्भ मे ही विश्लेषी होती है। यदि आप पिआनो के अभिगृहीतो को स्वीकार कर ले तो आप उनसे तार्किक निष्कर्ष निकाल कर पूरे अंकगणित को पैदा कर सकते है। पर पहले आपको उन अभिगृहितों को मानना होगा।"

पिआनो के अभिगृहीत ये है :

१. ० एक सख्या है।
२. किसी भी संख्या का अनुवर्ती एक संख्या है।
३. किन्ही दो सख्याओं का एक ही अनुवर्ती नही होना।
४. ० किसी भी संख्या का अनुवर्ती नही है।
५. यदि ग एक गुणधर्म है, ऐसा कि (अ) ० मे गुणधर्म ग है, तथा (ब) अगर किसी संख्या स मे ग है तो स के अनुवर्ती में ग है, तो प्रत्येक सख्या मे ग है।

"संख्या," "०" और "अनुवर्ती"—इन तीन अपरिभाषित पदो का प्रयोग

करते हुए वह इन अभिगृहीतो से सख्याओ की एक अनत श्रेणी—पैदा करने मे समर्थ हो गया था। इन अभिगृहीतो से पूर्ण सख्याओ का पूरा तत्र प्राप्त हो जाता है। क्या ये अभिगृहीत स्वय विश्लेषी हैं ? यदि इन्हे परिभाषाओ के और परिभाषक विशेषताओ के कथन के रूप मे लिया जाए तो ये विश्लेषी हैं ; और चूंकि विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियो से निगमित प्रतिज्ञप्तियाँ भी विश्लेषी होती हैं, इसलिए अकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ पूर्ववत् विश्लेषी है।

परतु यथार्थता बनाए रखने के लिए हमे यह याद रखना चाहिए कि इन अभिगृहीतो को प्रतिज्ञप्तियो के रूप मे नही बल्कि प्रतिज्ञप्ति-आकारो के रूप मे, हमारी पुनरुक्तियो के प, फ, और ब (देखिए परि० ९, "पुनरुक्तियाँ") की तरह, समझा जा सकता है (और यही अभिप्राय था भी)। पिआनो ने "सख्या", "०" और "अनुवर्ती" को अपरिभाषित छोड दिया। तो हम इन अभिगृहीतो को अकगणित से बिल्कुल भिन्न अर्थ दे सकते हैं : उदाहरणार्थ, हम "अनुवर्ती" को सतति के अर्थ मे ल सकते है और "सख्या" को चूजो के अर्थ मे, और तब अभिगृहीत २ के अनुसार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि चूजे की सतति चूजा होती है—जो कि दुनिया के बारे मे एक सश्लेषी कथन है, और यद्यपि यह सत्य है, फिर भी अनिवार्य रूप से सत्य नही बल्कि आपातिक रूप से सत्य है। ये अभिगृहीत अकगणितीय केवल तब होते हैं जब "सख्या", "०" और "अनुवर्ती" को पारपरिक अकगणितीय प्रयोग के अनुसार समझा जाता है (जैसा कि रसेल और व्हाइटहेड कृत प्रिंसिपिया मैथेमेटिका मे तथा फ्रेगे कृत फाउन्डेशन्स ऑफ अरिथमेटिक मे किया गया है)। यहाँ हमारा सबध केवल इस बात से है कि ऐसा करने पर ये अभिगृहीत विश्लेषी हो जाते हैं, और फलत इन अभिगृहीतो से निगमित हो सकनेवाली सब अकगणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ भी विश्लेषी हो जाती हैं।

ज्यामिति

पर, अब ज्यामिति के बारे मे क्या कहा जाएगा ? जब हम ज्यामिति का अध्ययन करते हैं तब हमे अनेक प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी मिलती हैं जो अनिवार्यत सत्य और साथ ही सश्लेषी भी लगती हैं 'त्रिभुज के कोणो का योग १८०° के बराबर होता है ," "एक बिंदु मे से दो समातर रेखाएँ नही खीची जा सकती ;" "सरल रेखा दो बिंदुओ के बीच की न्यूनतम दूरी है ,"

"घन के बारह किनारे होते है ;" "यदि किसी क्षेत्र का परिमाप दिया हुआ हो तो उसके अतर्गत सबसे अधिक क्षेत्रफल वृत्त का होगा ;" इत्यादि ।

इन सब प्रतिज्ञप्तियो का समान दरजा नही है, और हम इनमे से केवल बहुत थोडो की ही चर्चा कर पाएगे, और वह भी केवल बहुत सक्षेप मे । उदाहरणार्थ, त्रिभुज के कोणो के योग से सबधित कथन पर विचार कीजिए । कोई पूछ सकता है : "क्या आप नही जानते कि यह कथन सत्य है ? यह शायद सुस्पष्ट न प्रतीत हो, पर कोई भी माध्यमिक विद्यालय का ज्यामिति का छात्र जो इसकी उपपत्ति को सीख चुका है आपको सिद्ध करके बता देगा । और एक बार उपपत्ति के आपके सामने आने पर आप फिर इस बात से इन्कार न कर पाएगे कि यह सभी उदाहरणो मे सत्य है--दूसरे शब्दो मे, आप इसे प्रागनुभविक रूप से जान सकते है, और आपको उस तरह प्रत्येक त्रिभुज को अलग से माप करके देखने की जरूरत नही पडेगी जिस तरह आपको प्रत्येक आनेवाले कौवे को यह देखने के लिए जाँचना पडता है कि वह काला है या नही । लेकिन यह कथन सश्लषी भी हे । 'त्रिभुज' की परिभाषा मे १८०° वाली कोई बात शामिल नही है । इस प्रकार यह एक कथन है जो अनिवार्य (प्रागनुभविक) और सश्लेषी दोनो है । तर्कबुद्धिवादी का कहना सही है कम से-कम एक सश्लेषी अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति तो है ।"

इस दावे के बारे मे हम क्या कहेगे ? पहले हमे कुछ बातो मे अतर करना पडेगा ।

कोणो के योग से सबधित कथन ज्यामिति का एक प्रमेय है । आपको निस्सदेह स्कूल की ज्यामिति से याद होगा कि प्रारभ कुछ अभिगृहीतो यानी सिद्ध न किए गए कथनो से तथा इस विषय मे जिन कुछ महत्त्वपूर्ण पदो का प्रयोग किया जाना है उनकी परिभाषाओ से होता है और इनसे आप यह दिखाकर विभिन्न प्रमेयो को सिद्ध करना शुरू करते है कि इनका कुछ अभिगृहीतो तथा परिभाषाओ से निगमन किया जा सकता है । प्रथम प्रमेय के सिद्ध हो जाने पर आप दूसरे प्रमेय को उसकी तथा पिछले अभिगृहीतो और परिभाषाओ की सहायता से सिद्ध कर सकते है । हम सबका सर्वदा उपयोग नही करते : उदाहरणार्थ, हम प्रमेय ५० को अभिगृहीत १ और ३ तथा प्रमेय ३, १३ और ४२ से प्राप्त करते है ।

शायद जब आपने ज्यामिति सीखी थी तब आप नही जानते थे, पर एक

और चीज की भी जरूरत होती है और वह है अनुमान के नियम। अभिगृहीतो और प्रारभिक प्रमेयो से बाद के प्रमेयो मे पहुँचने के लिए, इस बात का पक्का निश्चय करने के लिए कि आपके निगमन वैध है, आपको कोई साधन चाहिए। ये साधन तार्किक अनुमान के नियम हैं, जिनक सरल उदाहरण ये है ." यदि प सत्य है और प फ को आपादित करता है, तो फ सत्य है" ; "यदि प फ को आपादित करता है और फ व को आपादित करता है, तो प व को आपादित करता है," "यदि प फ को आपादित करता है और ब भ को आपादित करता है, और फ या भ असत्य है, तो प या ब असत्य है' इत्यादि। इन नियमो का प्रयोग तथा विश्लेषण तर्कशास्त्र की पुस्तको मे किया जाता है, और इनके बारे मे अधिक हम इसी अध्याय मे बाद मे कहेगे। अनुमान के नियमो के बिना हम अभिगृहीतो से प्रथम प्रमेय तक मे नही पहुँच सकते।

प्रमेय, जिनमे त्रिभुज के कोणो के योग से सबधित प्रमेय भी शामिल है, किसी ज्यामितीय तत्र मे अपने से पहले की प्रतिज्ञप्तियो से तर्कत निगमित होते हैं। ये निगमन व्यवहार मे प्राय काफी जटिल हो जाते है, परतु सिद्धात मे वे उन सरल निगमनो से भिन्न नही होते जिन्ह हम रोजाना करने के आदी हो गए है। उदाहरणार्थ, यदि यह ज्ञात है कि "जहाज के सब कर्मचारी डूब गए' और "दलीप जहाज का एक कर्मचारी था," तो हमे यह कहने का अधिकार है कि "दलीप डूब गया" (यदि प तो फ, और प, अत फ)। दोनो ही प्रमगो मे, यदि आधारिकाएँ सत्य हैं तो निष्कर्ष अवश्य ही सत्य होगा। इस प्रकार यदि जिन आधारिकाओ से कोणो से सबधित प्रमेय निगमित होता है वे सत्य है तो (निगमन को वैध मानते हुए) प्रमेय सत्य है।

पर क्या आधारिकाएँ सत्य है ? जैसे अकगणित मे वैसे ही यहाँ भी हमे शुद्ध और अनुप्रयुक्त ज्यामिति मे अतर करना होगा, जो कि काफी महत्त्व रखता है। यूक्लिड (३०० ई० पू०) की ज्यामिति जो आपने स्कूल मे पढी थी, ऐसा अतर नही करती · उसमे चुपचाप यह मान लिया गया है कि आधारिकाएँ सत्य हैं और यदि ऐसा है तो निगमन वैध है, अर्थात यूक्लिड के प्रमेय अवश्य ही सत्य हैं। पर यह कैसे ज्ञात होता है कि अभिगृहीत सत्य हैं ? शुद्ध ज्यामितिज्ञ ऐसी चिता नही करता। उसे चिता केवल यह रहती है कि उसके जटिल निगमन निश्चयात्मक रूप से सही हो यानी तर्क वैध हो , उसे इस बात की परवाह नही होती कि चक्की मे किस तरह का अनाज डाला

जाता है, बल्कि केवल यह होती है कि वह ठीक तरह पीसा गया हो। वह उस मुंशी की तरह होता है जो सारे बिलो के योगो की जांच-पडताल करता है, पर प्रविष्टियो के सही होने की जाँच नही करता। तर्कशास्त्री की तरह ज्यामितिज्ञ भी वैध तर्क से सबध रखता है, प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता से नही। उसके लिए इस बात का कोई महत्त्व नही है कि अभिगृहीतो को दिग्विषयक कथनो के अर्थ मे लिया जाता है, जो कि वे प्रतीत भी होते हैं। बिंदु, रेखा और तल की बात करने के बजाय वह उतनी ही जल्दी क, ख और ग की भी बात करने लगेगा और इन प्रतीको के अर्थो को समझनेवाले की इच्छा पर छोड देगा, बशर्ते इन पदो के पारस्परिक सबधो का रूप वही बना रहे। सक्षेप मे, वह अर्थनिरपेक्ष ज्यामिति मे दिलचस्पी रखता है, अर्थसापेक्ष यानी अनुप्रयुक्त ज्यामिति में नही।

अनेक शताब्दियो तक केवल यूक्लिड का ज्यामितीय तत्र ही चलता रहा। परतु उन्नीसवी शताब्दी मे अन्य ज्यामितीय तत्रो का भी विकास हुआ जिनमे लोबाचेफ्स्की और रीमान की ज्यामितियाँ उल्लेखनीय है। यूक्लिड की ज्यामिति मे एक अभिगृहीत यह है कि यदि एक रेखा हो और उसके बाहर एक बिंदु हो तो उस बिंदु मे से केवल एक ही रेखा ऐसी खीची जा सकती है (उसी तल मे) जो उस रेखा को न काटे; ऐसी रेखा उस रेखा के समातर होगी। इस अभिगृहीत को "समातरो का अभिगृहीत" कहते है। एक बार समझ मे आ जाने के बाद यह स्पष्टत सत्य प्रतीत होता है। परतु इस अभिगृहीत को अन्य अभिगृहीतो से सिद्ध करने का कोई भी प्रयत्न सफल नही हो पाया है। (वास्तव मे, ज्यामितिज्ञो ने सिद्ध कर दिया है कि यह उनमे व्युत्पाद्य नही है।) लोबाचेफ्स्की द्वारा रची हुई ज्यामिति मे यह माना गया है कि एक दिए हुए बिंदु मे मे एक से अधिक सरल रेखाएँ खीची जा सकती है जो उस दी हुई रेखा को नही काटेगी। और रीमान की ज्यामिति मे यह मान लिया गया है कि ऐसी रेखाएँ खीची ही नही जा सकती। इन तीन ज्यामितीय तत्रो मे से प्रत्येक पूर्णत. सगत है। निगमनात्मक तत्रो के रूप मे तीनो बराबर है। अतर इनमे यह है कि प्रत्येक शुरू मे अभिगृहीतो के एक कुछ अलग समुच्चय को लेकर चलता है, और इस कारण प्रत्येक कुछ भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचता है। यदि आप आधारिकाओ के एक भिन्न समुच्चय को लेकर चलें तो स्वभावतः भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचेंगे, हालांकि तर्क आपका बिल्कुल वैध होगा।

"पर वे सब सत्य नही हो सकते ।" यह आपत्ति हमे शुद्ध या अर्थनिरपेक्ष ज्यामिति के बाहर अनुप्रयुक्त या अर्थसापेक्ष ज्यामिति के क्षेत्र मे ले जाती है । निस्सदेह, आप ऐसी प्रतिज्ञप्तियो से एक पूरा निगमनात्मक तन्त्र खडा कर सकते है जैसे 'सब लोग दस फुट से अधिक लबे हैं" तथा 'कोई जो दस फुट से अधिक लबा है हरा नही है," और वैध तर्क से बिल्कुल ही असत्य निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। पर क्या हमारी इस बात मे दिलचस्पी नही है कि प्रारंभिक आधारिकाएँ सत्य हो ? निश्चय ही, जो व्यक्ति ज्यामिति को दुनिया मे लागू करना चाहता है वह सत्यता मे दिलचस्पी रखता है—जैसे सर्वेक्षक, चाहे वे २०वी शताब्दी के अमेरिका के निवासी हो, चाहे ईसवी से बीस शताब्दी पूर्व के मिस्र के निवासी । वे अवश्य ही अपने काम को सत्य प्रतिज्ञप्तियो से शुरू करने की कोशिश कर रहे थे और उनसे निगमन के द्वारा अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ प्राप्त करना चाहते थे ।

उदाहरणार्थ, क्या यह सत्य नही है कि त्रिभुज के कोण १८०° के बराबर होते है ? यूक्लिडी ज्यामिति मे अन्य प्रतिज्ञप्तियो से इसे निगमन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । इस तथ्य से इसे बिल्कुल अलग रखते हुए देखिए और तब बताइए । क्या यह सत्य नही है कि त्रिभुज के कोणो को नापने से सदैव १८०° निकलता है ? इस प्रकार, किसी निगमनात्मक तन्त्र मे इस प्रतिज्ञप्ति का जो भी स्थान हो, उसकी उपेक्षा करते हुए क्या यह नही कहा जा सकता कि यह प्रतिज्ञप्ति दुनिया के बारे मे सत्य है ?

"मैं यह मानता हूँ कि यह दुनिया के बारे मे एक अनिवार्य सश्लेषी कथन है । जो भी चीज एक त्रिभुज है उसमे अनिवार्यत यह गुणधर्म होता है ।"

"एक निगमनात्मक तन्त्र के भाग के रूप मे (यदि [आधारिकाए] तो .. [प्रमेय]) यह प्रागनुभविक है, पर केवल इसलिए कि यह विश्लेषी है । दुनिया की एक विशेषता के रूप मे यह सश्लेषी है, पर प्रागनुभविक नही ।"

"क्या आपका मतलब यह है कि हम यह प्रागनुभविक रूप से नही जानते कि एक त्रिभुज के कोण १८०° के बराबर निकलेंगे ? क्या हमे हर त्रिभुज के कोणो को नापकर देखना होगा ?"

"मैं मानता हूँ कि हमारा इसे जानना इस बात से कुछ भिन्न लगता है कि सब कौवे काले होते हैं, जिसके सदैव भविष्य मे खडित होने की आशका बनी रहती है । फिर भी, क्या आपको पक्का विश्वास है कि हम इसे जानते

है ? तब आप क्या कहेंगे जब आप एक त्रिभुजाकार खेत को नापें और सर्वत्र उसके कोणों का योग १८१° पाएँ ?"

"मैं कहूँगा कि या तो प्रेक्षण में कोई त्रुटि हो रही है या खेत वास्तव में त्रिभुजाकार नहीं है।"

"यदि आपको और अन्यों को सदैव वही परिणाम मिले तो आप अंततः प्रेक्षण में त्रुटि होने की संभावना को हटा देंगे। तब आप कहेंगे कि खेत वास्तव में त्रिभुजाकार नहीं है। आप इस बात को भी तर्कतः संभव नहीं मानेंगे कि किसी त्रिभुजाकार खेत के कोणों का योग १८०° से भिन्न हो सकता है। तब आखिर बात विश्लेषी ही निकली। है न ? आप उसे त्रिभुजाकार तब तक नहीं कहेंगे जब तक उसके कोण १८०° न हों।"

"हाँ, वह तब तक त्रिभुजाकार कैसे हो सकता है जब तक उसके कोणों का योग १८०° न हो ?"

" 'त्रिभुज' की यूक्लिडी परिभाषा के अनुसार, वह तब तक नहीं हो सकता। कोणों का जोड़ १८०° होना यूक्लिडी ज्यामिति में 'त्रिभुज' की व्यक्त परिभाषा का अंग नहीं है, पर उसकी परिभाषा से तथा उस ज्यामिति की अन्य प्रतिज्ञप्तियों से निगमनीय अवश्य है। इस प्रकार हमारा यह कहना उचित है कि 'यदि १८०° नहीं है तो त्रिभुज नहीं है,' यह यूक्लिडी ज्यामिति के अंदर विश्लेषी है। परन्तु बाहर जो वास्तविक खेत है, उसका क्या होगा ? मान लीजिए, आपको वही विचित्र परिणाम मिलता रहे और उसे आप प्रेक्षण की त्रुटि के साथ न जोड़ पाएँ। तब आपको यह कहना पड़ेगा कि बात शुरू में टेढ़ी लगती है पर है यह सच कि यूक्लिडी ज्यामिति हमारे वास्तविक दिक् पर लागू नहीं होती—कि वास्तविक दिक् यूक्लिडी नहीं है। यह निगमनात्मक तंत्र वास्तविक भौतिक दिक् से भिन्न चीज है। यह बात केवल सतर्कता के साथ किए गए प्रेक्षण से ही जानी जायगी कि भौतिक दिक् सीधे सादे यूक्लिडी दिक् का अनुसरण करता है या नहीं।"

"परंतु यदि आधारिकाएँ सत्य हों और निगमन वैध हो, तो निष्कर्ष अवश्य सत्य होता है। अब यदि निष्कर्ष असत्य है और निगमन फिर भी वैध है, तो—"।

"तो एक या अधिक यूक्लिडी आधारिकाएँ, भौतिक जगत् की विशेषताओं के सूचक समझे जाने पर, असत्य हैं।'

तब हम इन आधारिकाओ के तंत्र को देखते है।

क्या वे आधारिकाएँ सत्य हैं ? सामान्य उत्तर इसका नही दिया जा सकता, क्योंकि सबका एक स्वरूप नही है। कुछ तो परिभाषाएँ हैं, जैसे, "वृत्त एक समतल बंद आकृति है जिसके सब परिधिगत बिंदु केंद्र से समान दूरी पर स्थित होते है "दुनिया की विशेषता बतानेवाली एक सत्य प्रतिज्ञप्ति नही बल्कि "वृत्त" की परिभाषा है: यह इस बात को बताती है कि किन स्थितियो मे एक दी हुई आकृति को वृत्त कहा जाएगा। परतु अन्य ऐसी लगती हैं जैसे वे दुनिया के बारे मे कुछ कहती हो। उदाहरणार्थ, "सरल रेखा दो बिंदुओ के बीच की अल्पतम दूरी है" पर विचार कीजिए।

अत:प्रज्ञा से यह बात सुस्पष्ट लगती है कि सरल रेखा को दो बिंदुओ के बीच की अल्पतम दूरी होना ही चाहिए। यह बात हम अवश्य ही प्रागनुभविक रूप से जानते है और हमे प्रत्येक सरल रेखा को मापकर देखने की जरूरत नही पडती कि जिन दो बिंदुओ को वह जोडती है उनके बीच की वह वास्तव मे अल्पतम दूरी है या नही। कोई यह कहेगा, "स्पष्टत यह सत्य है पर उतना ही स्पष्ट यह भी है कि यह विश्लेषी है। 'सरल रेखा' से हमारा 'दो बिंदुओ के बीच की अल्पतम दूरी' के अलावा अभिप्राय ही क्या हो सकता है ? यह तो सरल रेखा की परिभाषा है।"

परतु समस्या का हल इतना आसान नही हो सकता। जैसा कि कान्ट ने कहा था, सरलता एक गुणात्मक सप्रत्यय है और अल्पता एक परिमाणात्मक सप्रत्यय है, और ये दोनो अभिन्न नही हैं। सरल रेखा एक बात है और अल्पतम दूरी एक अलग ही बात है। असल मे, किसीको एक का सप्रत्यय दूसरी के बिना ही हो सकता है। यह बात सीखी जाती है कि सरल रेखा दो बिंदुओ की अल्पतम दूरी है। यह तथ्य अल्पतम दूरी होना क्या होता है, इस बात के सप्रत्यय मे पहले से शामिल नही है। "सरल" की परिभाषा मे इस बात का निर्देश बिल्कुल शामिल नही है कि जिन दो बिंदुओ को वह जोडती है उनके बीच की वह अल्पतम दूरी है।

तो फिर "सरल" की क्या परिभाषा है ? सारी समस्या मे असली कठिनाई यही है। "रंगीन" की तरह यहाँ भी ऐसा लगता है कि अर्थ तो हम जानते हैं पर परिभाषा बताने मे असमर्थ है। "सरल रेखा वह रेखा है जिसका कोई भी भाग वक्र न हो" कहने से काम नही चलेगा, क्योंकि यह

पूछने पर कि वक्र रेखा क्या है, हमे बताया जाएगा कि "वक्र रेखा वह है जो पूरी की पूरी सरल न हो"। सरलता का किसी भौतिक वस्तु से भी अभेद करने से बात नही बनेगी, जैसे "सरल रेखा प्रकाश की किरण का पथ है" मे। क्या सचमुच यही अर्थ "सरल" का है ? क्या प्रकाश की किरणो के बारे मे कुछ जानने से पहले हम यह नही समझते कि सरल रेखा क्या होती है ? यदि प्रकाश की किरणें सरल रेखाओ मे चलती हैं, तो क्या यह परिभाषा होने के बजाय एक सश्लेषी प्रतिज्ञप्ति नही है ? क्या यह तर्कत सभव नही है कि प्रकाश की किरणे वक्र या टेढी-मेढी रेखाओ मे चले, जिसके फलस्वरूप हम कोनो के दूसरी ओर की चीजे भी देख सकें ? यदि दुनिया इस तरह की होती तो उक्त कथन असत्य होता। परिभाषा तो वह नही हो सकेगी। ऐसा लगता है कि सरलता ऐसा गुण है जिसे हम पहचान सकते है पर जिसकी परिभाषा नही बता सकते। और, ऐसी स्थिति मे उसके बारे मे हम जो भी कथन करेंगे वह सश्लेषी होगा, विश्लेषी नही।

तो फिर हमारे सामने क्या विकल्प है ? हम यह कह सकते है कि उक्त कथन एक सश्लेषी प्रागनुभविक सत्य है, और फिर इस बात का औचित्य सिद्ध करने मे जो कठिनाइयाँ है वे हमे झेलनी होगी। अथवा हम यह मान सकते हैं कि वह एक आपातिक सत्य है : कि सब सरल रेखाएँ दो बिंदुओ के बीच की अल्पतम दूरी होती है, परतु इस बात मे कोई तार्किक अनिवार्यता नही है—तर्कत : यह भी सभव है कि बात इससे भिन्न हो। या हम मान सकते हैं कि यह एक अनिवार्य सत्य है ही नही, बल्कि सत्य तक नही है (और यह बात कुछ आश्चर्यजनक लगेगी)। यह यूक्लिड की ज्यामिति मे एक अभिगृहीत है, पर इस बात मे सदेह प्रकट किया गया है कि दिक् यूक्लिड के अनुरूप है—तात्पर्य यह है कि यूक्लिडी ज्यामिति वास्तविक दिक् का हमे केवल एक मोटा-सा हुलिया ही बताती है, जो पृथ्वीगत दूरियो के लिए तो पर्याप्त है पर तारो के मध्य के विशाल अतरालो मे लाखो-करोडो प्रकाश-वर्षो को मापने के लिए पर्याप्त नही होगा। एक गोले के पृष्ठ पर अल्पतम दूरी एक बृहद् वृत्त का चाप होती है; और शायद दिक् की "वक्रता" के कारण अतरिक्ष मे एक स्थान की अल्पतम दूरी एक सरल रेखा बिल्कुल नही है। भौतिकी की दृष्टि से मामला इतना अधिक जटिल होगा कि यहाँ हम उसमे नही उलझ सकते, परतु कहानी का साराश काफी स्पष्ट है :

अनुप्रयुक्त ज्यामिति का संबंध वास्तविक दिक् की संरचना और उसके गुणधर्मो से है, और यह प्रागनुभविक रूप से नही जाना जा सकता कि वे क्या होगे। इसके लिए तो इंद्रियानुभविक छानबीन (प्रेक्षण और मापन) करनी होगी। एक निगमनात्मक तंत्र के प्रारंभ-बिंदु के रूप में यूक्लिड का अभिगृहीत निर्दोष है ; परंतु विश्व के एक सच्चे वर्णन के रूप मे वह उन सारी उपाधियों से तथा उस सारी अनिश्चितता से युक्त है जो विश्व के वर्णन का दावा करनेवाली किसी भी प्रतिज्ञप्ति में सुलभ होती है : विश्व वास्तव मे जैसा है उसके बारे मे नई खोजों (को बतानेवाली अनुभवाश्रित प्रतिज्ञप्तियों) से उसके निरस्त होने की सदैव आशंका रहेगी।

ऐसा प्रतीत होगा कि यहाँ तक तो ज्यामिति संश्लेषी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के स्रोत के रूप मे प्रकट नही होती। एक निगमनात्मक तंत्र (जिसमें एक ज्यामितीय तंत्र भी शामिल है) के अंदर एक दी हुई प्रतिज्ञप्ति प, फ, ब······· इत्यादि जिन आधारिकाओं से निगमित होती है उनकी तुलना में विश्लेषी होती है : अर्थात् "यदि प, फ, ब········ तो क" विश्लेषी है और यदि तर्क वैध है तो इसका निषेध स्वतोव्याघाती होगा। परंतु वास्तविक जगत् के बारे मे कुछ बतानेवाली प्रतिज्ञप्तियो के रूप में (अनुप्रयुक्त ज्यामिति) वे सश्लेषी तो हैं, लेकिन, कम-से-कम, यहाँ तक, प्रागनुभविक रूप से ज्ञेय प्रतीत नही होती। अनुप्रयुक्त यूक्लिडी ज्यामिति के जो कथन प्रागनुभविक लगते थे वे अनुभवाश्रित निकलते हैं और उनमे से अनेक तो सत्य भी नहीं निकलते।

शुद्ध और अनुप्रयुक्त ज्यामिति मे अतर करने के फलस्वरूप सश्लेषी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियो की वह खोज समाप्त हो गई है जो ज्यामिति में की जाती थी : जिस अर्थ में ऐसी प्रतिज्ञप्ति प्रागनुभविक होती है उसमे वह सश्लेषी नही होती और जिस अर्थ मे वह संश्लेषी होती है उस अर्थ मे वह प्रागनुभविक नही होती।

फिर भी, यहाँ बात खत्म नही हो जाती। तर्कबुद्धिवादी फिर भी अपने दावे पर टिका रह सकता है, क्योकि दिक् के बारे मे कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी हो सकती हैं जो अनिवार्यतः सत्य हो। यदि यह बात है, और वे संश्लेषी भी हैं, तो हमे फिर भी कुछ संश्लेषी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ मिल सकती हैं। अब हम इसीपर आते हैं।

अन्य प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ

ऐसा लगता है कि गणित से सश्लेषी प्रागनुभविक को प्राप्त करने की हर कोशिश असफल रही है ऐसी कोशिश शुद्ध और अनुप्रयुक्त गणित के अतर को भुला देने का परिणाम थी। कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि सश्लेषी प्रागनुभविक की तमाम खोज निष्फल होकर रहेगी, क्योंकि ऐसी चीज है ही नही यह बात नही है कि परिभाषात कोई चीज ऐसी नही हो सकती (क्योकि "विश्लेषी" और "प्रागनुभविक" का एक मतलब नही है, जैसा कि हम देख ही चुके हैं), बल्कि तथ्यत ऐसी चीज नहीं हैं, और ऐसी चीज मे विश्वास स्वतोव्याघाती तो नही है पर उसकी सत्यता बहुत ही सदिग्ध है। यह कहा जाता है कि ऐसा कथन हो ही कैसे सकता है जो अनिवार्यत सत्य हो—सर्वत्र और सदैव लागू हो और फिर भी उन सर्वसम्मत सश्लेषी कथनो की तरह जिन्हे हम रोजाना सैकडो की सख्या मे बोलते हैं ("आज शाम को वर्षा होगी", "इस कमरे मे छह आदमी है" इत्यादि) अनुभव-सापेक्ष न हो ? यदि कोई कथन सश्लेषी है—अर्थात यदि उसका निषेध स्वतोव्याघाती नही है—तो अनुभव का आश्रय लिए बिना उसकी सत्यता को जानना हमारे लिए कैसे सभव हो सकता है ? और उस अवस्था मे वह प्रागनुभविक नही होगा। हम कह सकते है कि "चिंतन से जान सकते हैं।" पर, दो आदमी चिंतन से विरोधी निष्कर्षो पर पहुँच सकते है।

मेरी समझ मे यह बात साफ नही आ रही है कि जब न प सगतिपूर्ण हो (स्वतोव्याघाती न हो) तब प की सत्यता को केवल चिंतन से सिद्ध करना कैसा होगा। परतु शायद यह कमी केवल मेरे ही अदर हो। मैं नही समझ सकता कि कैसे दो समान रूप से सगतिपूर्ण वैकल्पिक प्रतिज्ञप्तियो (प और न प) मे से कौन सी तथ्यो की सूचक है, इस बात का निश्चय चिंतन अकेला ही कर सकेगा। परतु, यह कहने से यह बात सिद्ध नही होती कि सश्लेषी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ हो ही नही सकती।[1]

तो फिर खोज कहाँ की जाए ? गणित के बाहर भी बार-बार अनुभव मे आनेवाली कुछ बाते ऐसी है जो कुछ तर्कबुद्धिवादियो के मतानुसार सश्लेषी

---

१. एन० आर० हैन्सन, "दि वेरी आइडिया ऑफ एक सिथेटिक अप्रायोराई", माइन्ट, १९६२, पृ० ५२३।

प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियो मे विश्वास पैदा करती है जब हम उन सबधो का कथन करते है जो इन बातो के मध्य है, तब हम देखते है कि वे कथन प्रागनुभविक रूप से सत्य है पर फिर भी विश्लेषी नही है। कुछ उदहरण लीजिए

१ "सब लाल चीजे रगीन है"। पहली दृष्टि मे यह उतना ही विश्लेषी लगेगा जितना "सब वर्ग आयत होते है" है। वर्ग की यह परिभाषा है कि वह समान लबाई की रेखाओवाला आयत होता है, यह कहना कि सब वर्ग आयत होते है केवल यह कहना है कि एक विशेष प्रकार के आयत आयत होते है—जो कि स्पष्टत विश्लेषी है। लाल के सबध मे भी ऐसा ही क्यो नही कहा जा सकता? 'लाल" की परिभाषा यह है कि वह एक अमुक प्रकार का रग है । पर कठिनाई यह है 'लाल" की कोई परिभाषा नही बताई जा सकती। यदि बताई जा सकती है तो केवल निदर्शन से। और, यदि हम "लाल" की शब्दो मे परिभाषा नही दे सकते, तो यह हम कैसे दिखा सकते है कि लाल के बारे मे किए गए एक कथन का निशेध स्वतोव्याघाती है?

एक उपाय सुझाया जा सकता है "रगीन का अर्थ केवल लाल या नीला या पीला इत्यादि ही होता है। इस प्रकार यदि आप कहते है कि लाल चीजें रगीन है तो आप केवल यह कह रहे है कि लाल उस वर्ग से सबध रखता है जिसमे लाल शामिल है—और यह विश्लेषी है।" परन्तु इससे काम नही चलेगा, क्योकि "रगीन" का यह अर्थ नही है। यह तो अवश्य ही सही है कि लाल, नीला इत्यादि सब रग है, परन्तु "रग" शब्द रगो के किसी विशिष्ट वर्ग का नाम नही है: रगीन होना एक प्रकार का (अपरिभाष्य) गुणधर्म है, और "रगीन" शब्द के अर्थ मे उन विशेष चीजो का कोई निर्देश शामिल नही है जिनम यह गुणधर्म होता है—वैसे ही जैसे 'त्रिभुज" के अर्थ मे त्रिभुज के प्रकारो का कोई निर्देश नही है और उनकी सूची देकर इस शब्द का अर्थ नही बताया जाता। असल मे 'रगीन' ठीक उतना ही अपरिभाष्य है जितना रग"। रगीन होना एक ऐसा गुण है जिसका जन्माध व्यक्ति को सप्रत्यय नही हो सकता, वैसे ही जैसे किसी विशेष रग का नही हो सकता।

'पर हम किसी चीज को तब लाल नही कहेंगे यदि वह रगीन न हो। यदि मुझसे कहा जाए कि एक चीज लाल है तो मैं स्वय उसे देखे बिना ही यह

सकता हूँ कि उसे रंगीन होना चाहिए। यह कहना कि एक चीज लाल है पर रंगीन नही है, स्वतोव्याघाती है।"

"नही, आपने केवल इतना ही सिद्ध किया है कि यदि लाल है तो उसे रंगीन होना चाहिए। केवल इतने से ही मैं सहमत हूँ ; परंतु आपने यह सिद्ध नही किया है कि 'वह लाल है पर रंगीन नही है' स्वतोव्याघाती है। 'यह एक वर्ग है पर आयत नही है' स्वतोव्याघाती है, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि समान भुजाओंवाला एक आयत आयत नही है। परंतु, 'यह लाल है पर रंगीन नही है' स्वतोव्याघाती नही है। कम-से-कम आपने मेरे सामने यह सिद्ध नही किया है, और मैं समझता भी नही कि आप ऐसा कर सकते है क्योंकि आप स्वयं ही मानेंगे कि न 'लाल' की और न 'रंगीन' की परिभाषा बताई जा सकती है, जिसके फलस्वरूप आप परिभाषाओं से स्वतोव्याघात निगमित नही कर सकते।"

"तो फिर 'सब लाल चीजे रंगीन है' की स्थिति के बारे मे आपका क्या मत है ?"

"यह प्रागनुभविक है, क्योंकि हम जानते है कि यह सब प्रसंगो मे सत्य है। परंतु यह विश्लेषी नही है ; अतः यह एक संश्लेषी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति है।"

"मुझे खेद है कि मैं आपकी बात नही मान सकता। मैं जानता हूँ कि जो भी चीज लाल है वह रंगीन है ; पर यह दुनिया के बारे मे कोई तथ्य नही है। यह तो एक भाषाई नियम की तरह है। क्या नही ? मैं मानता हूँ कि मैं इसके निषेध को स्वतोव्याघाती सिद्ध नही कर सकता और इस प्रकार यह नही बता सकता कि यह विश्लेषी है—कम-से कम विश्लेषी की पहली परिभाषा के अनुसार नही। परतु आपको याद होगा कि 'विश्लेषी' की एक अन्य परिभाषा भी है जिसके अनुसार कोई कथन तब विश्लेषी होता है जब आप उसके शब्दो के अर्थों को जानने मात्र से उसका सत्य होना जान लेते है। मेरा विश्वास है कि इस अर्थ मे यह कथन विश्लेषी है। यदि आप बताते हैं कि अमुक चीज लाल है, तो मैं लेश भर भी संदेह किए बिना यह अनुमान कर सकता हूँ कि वह रंगीन है—इस कारण नही कि मैं उसे स्वयं देख चुका हूँ बल्कि एक भाषाई नियम के कारण जो मुझे 'क लाल है' से 'क रंगीन है' कहने का अधिकार देता है। मैं इसके शब्दो के अर्थों से ही यह जान लेता हूँ—अर्थों से, न कि परिभाषाओं से (क्योंकि मुख्य शब्दो की परिभाषा मैं नहीं बता

सकता)। परंतु संबधित भाषाई नियम लाल होने और रंगीन होने के एक संबंध को स्पष्ट करता है, और इसके लिए मुझे इन शब्दों की परिभाषा की बिल्कुल जरूरत नहीं है। फिर भी, चूंकि मैं इन शब्दों के अर्थ समझता हूँ इसलिए मैं 'क रंगीन है' का अनुमान कर सकता हूँ। इस प्रकार, यह कथन दूसरे अर्थ में विश्लेषी है, हालांकि पहले अर्थ में उसका विश्लेषी होना मैंने सिद्ध नहीं किया है।"

"अच्छा, अब तो आपने अर्थ ही बदल दिया है। मैंने कहा था कि यह कथन विश्लेषी नही है, जिसमें मैंने 'विश्लेषी' को पारंपरिक अर्थ मे लिया था, जिसका प्रतिज्ञप्ति की संरचना से संबंध होता है: प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी है यदि उसका निषेध स्वतोव्याघाती है। आप इससे इन्कार नही करते। इसलिए आपने यह सिद्ध नही किया है कि कथन इस महत्त्वपूर्ण अर्थ मे सश्लेषी और प्रागनुभविक नही है। बहुत अच्छा; यदि इतना स्पष्ट है तो अब हम 'विश्लेषी' का दूसरा अर्थ लेते हैं। मैं मानता हूँ कि आप एक भाषाई नियम के द्वारा 'क रंगीन है' प्राप्त कर सकते हैं, और यदि आप पहले से ही जानते हैं कि एक चीज लाल है तो आपको यह जानने के लिए कि वह रंगीन है उसे देखना नही पडेगा। पर अब मैं आपसे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछता हूँ: इस भाषाई नियम का आधार क्या है? भाषाई नियम कोई और होने के बजाय यही क्यो है—जैसे, वह ऐसा क्यो नही है जिससे हम 'क लाल है' से 'क गोल है' मे पहुँच सकें? क्या इसलिए नही कि विचाराधीन गुणधर्मों के मध्य एक अनिवार्य संबध है: लाल चीज का रगीन होना तो जरूरी है पर गोल होना जरूरी नही है? यदि लाल होने और रंगीन होने में एक अनिवार्य प्राकृतिक सबंध न होता, तो 'क लाल है' से 'क रंगीन है' के अनुमान को उचित बनानेवाला कोई 'भाषाई नियम' हमारे पास न होता। आपने भाषाई रूढि के आधार पर उक्त कथन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और मैं मानता हूँ कि ऐसी भाषाई रूढि है; परंतु मैं यह भी कहना कि इस भाषाई रूढि के मूल में कुछ है और वह वास्तविक जगत् का एक अनिवार्य सबंध है। हमारी भाषाई रूढियाँ वास्तविकता के प्रतिबिंब है।"

विवाद ने जो यह नया मोड़ ले लिया है उसमे अब तर्कबुद्धिवाद और इंद्रियानुभववाद के बीच एक दूसरा अंतर पैदा हो गया है जो "विश्लेषी" की परिभाषा पर आश्रित है। (१) पहले के अनुसार, तर्कबुद्धिवादी कहता है कि

सश्लेपी प्रागनुभविक सत्य होते है और इद्रियानुभववादी उनसे इन्कार करता है, क्योकि वह सब प्रागनुभविक सत्यो को विश्लेपी बताता है। यहाँ "विश्लेपी" का पहली परिभाषा के अनुसार अर्थ है ऐसी प्रतिज्ञप्ति जिसका निषेध स्वतो-व्याघाती हो। इस अतर की हम पहले ही चर्चा कर चुके है। (२) दूसरे के अनुसार, इद्रियानुभववादी यह मानता है कि विश्लेपी कथनो के दूसरे अर्थ मे (ऐसा कथन जिसकी सत्यता उसके शब्दो के अर्थो को विश्लेषण मात्र से जान ली जा सकती है) विश्लेपित्व का आधार भाषाई नियम या भाषाई रूढियाँ होती है, और तर्कबुद्धिवादी यह मानता है कि वास्तविक जगत् मे अनिवार्य सबध होते हैं जो इन भाषाई नियमो के मूल मे होते है। इद्रियानुभववाद के विरुद्ध तर्कबुद्धिवाद का जो यह दूसरा रूप है वह उत्तरोत्तर बढते हुए विवाद का विषय बन गया है। आगे के उदाहरणो मे वह फिर सामने आएगा।

२ "सब रग विस्तारयुक्त है।' दूसरे शब्दो मे, सब रग दिक् मे फैले हुए रहते हैं। यह जरूरी नही है कि वे भौतिक वस्तुओ के ही रग हो। वे वैसे रग भी हो सकते हैं जिन्हे आप स्वप्न, उत्तर-प्रतिमा और अपभ्रमा मे देखते हैं। और, दिक् का भी भौतिक दिक् होना जरूरी नही है। वह स्वप्नो का काल्पनिक दिक भी हो सकता है। परतु रग जहाँ भी हो और जब भी हो, वह दिक् मे फैला हुआ होता है। वस्तुत यह बात इतनी सुस्पष्ट है कि इसका उल्लेख अनावश्यक लगता है। पर हमारा प्रश्न यह है यह किस तरह का कथन है? क्या यह आपातिक है? क्या आगे जो रग हमे मिलेगा वह विस्तारयुक्त नही हो सकता? शायद नही हमे पक्का यकीन है कि हम अनुभूत होनेवाला प्रत्येक रग विस्तारयुक्त होता है। पर, हमारे इस पक्के यकीन का क्या औचित्य है?

शायद यह कथन विश्लेपी है। पर यहाँ भी हमारे सामने वही पहलेवाली समस्या आ जाती है। न "रग' परिभाष्य लगता है और न 'विस्तार। इसलिए यहाँ यदि कोई व्याघात है तो उसे सिद्ध नही किया जा सकता।

"परतु, हम तब तक किसी चीज को रगीन नही कहग जब तक वह विस्तारयुक्त न हो।" निस्सदेह यह सत्य है, परतु यह सत्य किस वजह से है। "यह एक भाषाई नियम है रग मे विस्तार शामिल है।" ऐसा इद्रियानुभववादी कहेगा। परन्तु अब तर्कबुद्धिवादी यह उत्तर देता है इस भाषाई नियम के मूल मे क्या है? हम मानते हैं कि शब्दो के अर्थो के आधार मात्र

पर हम इस कथन को सत्य जान लेते है, परतु क्या अर्थ इस तथ्य के प्रतिबिब नही है कि रग मे विस्तार शामिल होता है कि इन दो गुणधर्मो मे एक अनिवार्य प्राकृतिक सबध है ? क्या हम "क रगयुक्त है" से "क विस्तारयुक्त है" का अनुमान इसलिए नही करते कि प्रत्येक रगयुक्त चीज अनिवार्यत: विस्तारयुक्त होती है ?

३. "कोई चीज सारी-की-सारी एक ही समय लाल और हरी नही हो सकती।" यह हो सकता है कि एक चीज एक समय पूरी लाल हो और दूसरे समय पूरी हरी हो। वह एक आदमी को हरी दिखाई दे सकती है और उसी समय दूसरे आदमी को लाल। वह अशत. हरी और अशत लाल हो सकती है : वह धारीदार, चारखोनदार, चितकबरी हो सकती है। उसके ऊपर ऐसा रोगन चढा हुआ हो सकता है जो आधा लाल और आधा हरा मिलाकर बनाया गया हो। उसके ऊपर हरा रोगन चढाया जा सकता है और हरे रोगन के ऊपर भी लाल रोगन चढा हो सकता है। ये सब बातें हो सकती है और होती ही है : जो बात नही हो सकती वह है एक ही समय मे उसकी पूरी सतह का लाल भी होना और हरी भी होना। परन्तु वह क्यो लाल और हरी, दोनो नही हो सकती ? एक ही चीज लाल और वर्गाकार दोनो, लाल और सख्त दोनो, अथवा लाल और भारी, दोनो हो सकती है। तो वह लाल और हरी दोनो क्यो नही हो सकती ? यह एक अनिवार्य सत्य लगता है कि वह दोनो नही हो सकती। परतु यह अनिवार्यता कहाँ से आई ?

"दर्शन मे एक पुराना सिद्धात, परिच्छेद्यो का सिद्धात है। रग, आकृति, लबाई-चौडाई, भार सब परिच्छेद्य है—अर्थात् रगयुक्त होने के विभिन्न तरीके हैं, इत्यदि। लाल और हरा रग के अतर्गत परिच्छिन्न है, छह सेर का वजन और दस सेर का वजन भार के अतर्गत परिच्छिन्न है, वर्गाकार होना और त्रिभुजाकार होना आकृति के अतर्गत परिच्छिन्न है ; इत्यादि। उक्त सिद्धात यह कहता है कि एक ही परिच्छेद्य के अतर्गत एक ही समय मे आप दो भि न परिच्छिन्न नही पा सकते। कोई चीज वजन मे छह सेर हो और दस सेर भी हो, ऐसा नही हो सकता। कोई चीज लाल और सख्त, दोनो हो सकती है, क्योकि ये परिच्छिन्न भिन्न परिच्छेद्यो के अतर्गत आते हैं (रग और सख्ती की मात्रा)। परतु वह लाल और हरी दोनो नही हो सकती, क्योकि ये परिच्छिन्न एक ही परिच्छेद्य, रग, के अतर्गत आते हैं।"

"बात बहुत दिलचस्प है और निस्संदेह सत्य है। अब यह बताइए कि इस परिच्छेद्य-सिद्धांत की स्थिति क्या है? क्या यह संश्लेषी और प्रागनुभविक है? आप कैसे जानते है कि यह सदैव सत्य बना रहेगा? आप कैसे जानते है कि एक रंगीन चीज सदैव किसी विशिष्ट रंग की रहेगी, या जो चीज वजन रखती है वह सदैव कोई विशिष्ट वजन रखेगी? यह क्यों नही हो सकता कि वह एक विशिष्ट रंग से युक्त न होकर केवल रग-सामान्य से युक्त हो, अथवा भारीपन की किसी विशिष्ट मात्रा से युक्त न होकर केवल भारी हो? मैं मानता हूँ कि यह असंभव लगता है, और मैं ऐसी किसी रंगीन चीज की कल्पना नही कर सकता जो किसी विशिष्ट रंगवाली न हो। परंतु आप कैसे जानते हे कि वह ऐसी नही हो सकती? मैं समझता हूँ कि यह एक प्रागनुभविक सत्य है, पर क्या आप सिद्ध कर सकते है कि यह विश्लेषी है? यदि नही, तो हमे कम-से कम एक सश्लेपी प्रागनुभविक सत्य प्राप्त हो गया है, और इसलिए तर्कबुद्धिवाद (पारंपरिक अर्थ में) आखिर है सही।"

"मैं यह सिद्ध करके आपको नही दिखा सकता कि यह विश्लेपी है : यह वास्तविक जगत् की एक अनिवार्य विशेषता लगती जरूर है कि ऐसा होना चाहिए। पर, अब हम लाल और हरे वाले अपने विशेष उदाहरण मे वापस जाते है। क्यों कोई चीज एक ही समय मे अपनी पूरी सतह के ऊपर इन दोनों परिच्छिन्न गुणो से युक्त नही हो सकती? मैं 'लाल' शब्द के अर्थ की सहायता लेना चाहता हूँ। यदि आप 'लाल' शब्द को समझते है तो आप समझते है कि इसका अर्थ हरा-नही है।"

"एक अर्थ मे यह सच है। पर फिर 'लाल' का अर्थ 'नीला-नहीं', 'पीला-नही', इत्यादि भी है। असल में, इसका मतलब 'सख्त-नहीं', 'वर्ग-नही' भी है—वस्तुत : 'लाल' का अर्थ केवल लाल है, और कुछ नही।"

"परंतु एक अंतर है। लाल होना सख्त होने से संगति रखता है; हरा होने से वह संगति नहीं रखता।"

'ठीक है पर क्यों नही? सवाल तो यही है। क्यों लाल और हरा परस्पर असगत है और लाल और सख्त नही है? लाल होने को सब हरा होने से भिन्न मानते है; पर लाल होना सख्त होने से भी भिन्न है।"

"ठीक है। सख्त होना लाल होने से केवल भिन्न है ; पर हरा होना लाल होने से न केवल भिन्न है बल्कि लाल होने से असंगत भी है।"

"असगत ? पर असगत क्यों है ? 'असगत' का यहाँ क्या अर्थ है ?"

"लाल होना हरा होने से व्याघात रखता है ; परंतु लाल होना सख्त होने से व्याघात नही रखता ; वह सख्त होने से केवल भिन्न है।"

"व्याघात रखता है ? केवल प्रतिज्ञप्तियाँ एक-दूसरी से व्याघात रखती है। प्राकृतिक चीजें परस्पर व्याघात नही रखती। प्रकृति मे चीजे सिर्फ होती है—व्याघात केवल प्रतिज्ञप्तियो में होता है।"

"बहुत अच्छा। परिभाषाएँ प्रतिज्ञप्तियाँ है ; 'लाल' की परिभाषा 'सख्त' की परिभाषा से केवल भिन्न है, पर 'हरा' की परिभाषा से व्याघात रखती है।"

"परंतु, आप जानते है कि यह नही चलेगा। आप 'लाल' या 'हरा' की परिभाषा नही बता सकते। और, क्योकि आप इनकी परिभाषा नही बता सकते, इसलिए परिभाषाएँ एक-दूसरी की व्याघाती नही हो सकतीं।"

'मैं आपकी यह बात मानता हूँ कि मै यहाँ औपचारिक रूप से व्याघात नही दिखा सकता। प्रतिज्ञप्ति उस अर्थ मे विश्लेषी नही है। यदि मैं जानता हूँ कि कोई चीज पूरी लाल है, तो यह जानने के लिए कि वह सख्त या भारी भी है, मुझे उसकी जाँच करनी होगी ; परतु यह देखने के लिए कि कही वह (उसी समय) हरी तो नही है, मुझे जांच नही करनी पडेगी, क्योकि मैं पहले ही जानता हूँ कि वह हरी नहीं है। अर्थात्, मैं 'यह लाल है' से एक शाब्दिक नियम के रूप मे 'यह हरी नही है' प्राप्त कर सकता हूँ। यह 'विश्लेषी' के दूसरे अर्थ मे विश्लेषी है। 'यदि यह लाल है तो यह हरी नही है,' यह कहना शब्दो के अर्थों के कारण ही सत्य है। यदि मैं कहूँ कि कोई चीज पूरी लाल है, और आप पूछें कि साथ ही वह कही पूरी हरी तो नही है, तो मुझे यह सदेह हो जाएगा कि आपने इन शब्दो का अर्थ नही सीखा है। परतु 'यह लाल है और सख्त भी है ?', यह प्रश्न बेतुका नही होगा। यह जानने के लिए कि 'यदि यह लाल है तो हरी नहीं है' सत्य है, मुझे केवल भाषा के उस नियम से परिचित होने की जरूरत है जो मुझ 'लाल' से 'हरी-नही' का अनुमान करने का अधिकार देता है। इस प्रकार आप समझ

-लीजिए कि यदि यह लाल है तो हरी नही है, यह मैं भाषा मे प्रयुक्त शब्दो के अर्थ मात्र से जान लेता हूँ, जो कि 'विश्लेषी' की दूसरी परिभाषा है।"

''भाषा का नियम' ? ठहरिए। केवल शब्दो के कारण नही बल्कि शब्दो के अर्थ समझने के कारण ही आप यह अनुमान कर सकते है। और शब्दो के अर्थ ऐसे हैं कि लाल होना हरे होने का व्यावर्तक है। पर क्यो एक दूसरे का व्यावर्तक है ? इसलिए कि यह वास्तविक जगत् का एक अनिवार्य तथ्य है कि कोई चीज एकही साथ लाल और हरी नही हो सकती, जबकि यह वास्तविक जगत् की अनिवार्य विशेषता नही है कि वह लाल और सख्त दोनो नही हो सकती। यही वास्तविक जगत् का वह तथ्य है जो हमारी भाषाई रूढियो के मूल मे है। यदि भाषाई रूढियां मनमानी होती तो केवल यही प्रयोग क्यो होता ? प्रयोग यह क्यो हो कि हम 'लाल, इसलिए हरी-नहीं' कह सकें ? क्या यह एक आकस्मिक बात है ? हमारे शाब्दिक नियम फिर वास्तविकता को प्रतिबिंबित करते है : इस बात का कारण कि लाल-हरे के प्रसग मे एक शाब्दिक नियम है पर लाल-सख्त के प्रसग मे कोई शाब्दिक नियम नही है, यह है कि वास्तविक जगत् मे लाल और हरा-नही के बीच एक अनिवार्यता का सबध है, परतु लाल और सख्त नही के बीच नहीं है। एक बार और फिर वही गत्यवरोध आ गया है।"

४. "यदि अ ब का पूर्ववर्ती है और ब स का पूर्ववर्ती है, तो अ स का पूर्ववर्ती है।" कोई पूछ सकता है कि इससे अधिक स्पष्ट सत्य क्या होगा ? प्रत्येक बालक इसे जानता है। ऐसा कैसे हो सकता है कि अ ब का पूर्ववर्ती हो और ब स का पूर्ववर्ती हो और फिर भी अ स का पूर्ववर्ती न हो ? यह कथन तो अवश्य ही अनिवार्यत: सत्य प्रतीत होता है।

मान लीजिए, कोई यह मानता है कि यह एक अनिवार्य सत्य नही है, बल्कि 'सब कौवे काले होते है" की तरह केवल आपातिक ही है। तब यह अनुभव पर आश्रित एक सामान्यीकरण होगा जिसकी करोडो बार जाँच की जा चुकी है ; पर जो फिर भी पूर्णतः निश्चयात्मक नही है : हो सकता है कि अगली बार यह सत्य न हो। टक्कर होने से पहले कारें एक-दूसरी के निकट आ रही थी ; सवारियो के अस्पताल पहुँचाए जाने से पहले टक्कर हुई थी ; और निश्चय ही सवारियो के अस्पताल पहुँचाए जाने से पहले कारें एक-दूसरी के पास आई थी। हुमायूं ने अकबर से पहले राज्य किया, और अकबर ने

जहाँगीर से पहले राज्य किया ; और निश्चय ही, हुमायूँ ने जहाँगीर से पहले राज्य किया। इस तरह की चीज हमारे अनुभव मे इतनी अधिक बार सत्यापित हो चुकी है कि हमारे मन मे कभी यह खयाल तक नही आता कि शायद वह सदैव सत्य न निकले। परंतु, यदि यह कथन आपातिक मात्र है, तो हो सकता है कि किसी भावी प्रसंग मे वह सत्य न निकले : घटनाओं का कोई अनुक्रम भूतकाल मे चाहे कितने ही नियमित रूप से क्यो न होता रहा हो, भविष्य मे बात भिन्न हो सकती है। प्रतिज्ञप्ति तब तक एक असाधारण रूप से सुस्थापित सामान्यीकरण मात्र होगी, एक अनिवार्य सत्य नही।

पर, यह व्याख्या निस्सदेह बहुत ही अविश्वसनीय है। यह शायद हम न जाने कि भविष्य मे क्या घटनाएँ होगी; परतु क्या हम प्रागनुभविक रूप से यह नही जानते कि यदि तीन घटनाएँ ऐसी है जिनमे से अ ब के पहले होती है और ब स के पहले, तो अ स के पहले होती है ? क्या इससे अधिक बेतुकी कोई बात हो सकती है कि कोई नौ बजने को दस बजने से पहले और दस बजने को ग्यारह बजने से पहले माने, पर नौ का अनिवार्यतः ग्यारह से पहले बजना न माने ? तो फिर यह कथन अनिवार्यत. सत्य है। पर वह विश्लेषी है या सश्लेषी ?

एक पक्ष (इद्रियानुभववादी) का कहना है कि यह विश्लेषी है। "वह अनिवार्यतः सत्य केवल इसलिए है कि वह विश्लेषी है। यदि आप कहे कि अ ब का पूर्ववर्ती है और ब स का पूर्ववर्ती है और फिर भी यह कहे कि अ स का पूर्ववर्ती नही है, तो आप व्याघात के दोषी होंगे।"

दूसरा पक्ष (तर्कबुद्धिवादी) कहता है : "क्यो ? मुझे बताइए, कहाँ व्याघात है ? मैं मानता हूँ कि यदि कोई वैसा कहे तो वह सत्य नही होगा, परतु वह यह कहने से बहुत भिन्न बात है कि वह व्याघात का दोषी होगा। उसका कहना बेतुका तो होगा, पर मुझे उसमे कोई व्याघात नही दिखाई देता। यदि अ का ब से और ब का स से कोई सबध है, तो यह कहने मे क्या व्याघात है कि अ का स से वह सबध नही है ? असल मे अनेक अन्य परिस्थितियो मे प्राय. यह सत्य होता है। यदि टीम अ टीम ब से जीतती है और टीम ब टीम स से जीतती है, तो इससे अनिवार्यतः यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि टीम अ टीम स से जीत जाएगी ; असल मे हो सकता है कि टीम स पलटकर टीम अ को हरा दे। यदि अ ब को पसद करता है और ब स को पसंद करता है तो यह निष्क

नही निकलता कि अ स को पसद करता है। इस प्रकार आप देखते है कि आम तौर पर यह सत्य नही होता कि यदि अ का ब से और ब का स से एक सबध है, तो अ का स से वही सबध है। जब यह सत्य होता है तब सबध सक्रामी होता है ; पर सब सबध सक्रामी नही होते।"

"परतु यहाँ, कालिक पूर्ववर्तित्व के प्रसग मे, बात अनिवार्यत. सत्य है।"

"सचमुच है ; वह अनिवार्य है, आपातिक नही, और प्रागनुभविक रूप से जानी जा सकती है। इससे मैने इन्कार नही किया है। मैं इन्कार सिर्फ इसके विश्लेषी होने से करता हूँ। मै कहता हूँ कि यह एक संश्लेषी प्रागनुभविक सत्य है।"

"मे मानता हूँ कि यह प्रागनुभविक है, पर सश्लेषी नही। काल-सबध का सक्रामी होना जीतने या पसद करने के सबंध से भिन्न है और हमारी भाषा मे रूढ है। जब आप कहते है कि अ ब का पूर्ववर्ती है और ब स का पूर्ववर्ती, तब अव्यक्त रूप से आप कहते है कि अ स का पूर्ववर्ती है। यदि आप यह व्यक्त रूप से भी कह देते हे कि अ स का पूर्ववर्ती है, तो आप कथन मे कोई नई बात नही जोडते। मान लीजिए कि आप पुलिस निरीक्षक को यह बताते है : 'एक सूचना है : उस महिला ने पहले उसे मारा और तब उस आदमी ने उसे गोली मारी, तथा एक सूचना यह है कि पहले उसने गोली मारी और तब पडोसी दौडे आए।' और तब पुलिस-निरीक्षक कहता है : 'क्या इतना ही आप जानते है या कुछ और भी ?' आप जवाब देते है : 'हाँ, एक और सूचना मेरे पास है : पहले उस महिला ने उसे मारा और तब पडोसी दौडकर वहाँ पहुँचे।' पुलिस-निरीक्षक इसे अधिक से अधिक एक बेकार-सा मजाक मानेगा। वह कह सकता है : 'यह तो जो आपने कहा उसमे पहले से ही निहित था।' यह तथा-कथित 'कुछ और' और नही है बल्कि पहले ही जो कहा जा चुका है उसका ही अश है।"

"पुलिस-निरीक्षक का अनुमान उचित था। वह जानता था कि काल-सबध सक्रामी होता है और कि यह एक अनिवार्य सत्य है। उसे यह प्रतीक्षा करने की जरूरत नही थी कि आदमी उसे यह बात बताए। फिर भी, 'अ स का पूर्ववर्ती है' कहना यह कहने के बराबर नही है कि 'अ ब का पूर्ववर्ती है और ब स का पूर्ववर्ती।' दोनो सूचानाएँ एक नही है। 'अ स का पूर्ववर्ती है'

सचमुच एक अतिरिक्त सूचना है, पर पुलिस-निरीक्षक को उसका उस कथन से जो नागरिक ने पहले किया था, अनुमान करने का अधिकार था।"

"ठीक है : उसे उसका अनुमान करने का अधिकार था, और यदि बात विश्लेषी न हुई होती तो उसे ऐसा अधिकार न मिला होता। काल-संबंध संक्रामी होता है, और उसकी संक्रामिता कालसूचक शब्दो के अर्थ का ही अंग होती है। और, यदि कोई कहे कि अ ब का पूर्ववर्ती है और ब स का पूर्ववर्ती है, पर अ स का पूर्ववर्ती नहीं है, तो हम यह निष्कर्ष निकालेंगे कि उसने इन कालसूचक शब्दों का अर्थ नहो सीखा है ; उसे अभी तक इन शब्दों के प्रयोग का नियमन करनेवाली भाषाई रूढ़ियों की जानकारी नहीं है।"

"आपका मतलब है कि उसे वास्तविक जगत् का यह अनिवार्य तथ्य मालूम नहीं है कि काल-सबध संक्रामी होता है। जब वह जान लेगा कि काल-संबंध, बहुत से अन्य संबंधो के विपरीत, संक्रामी होता है, तब वह भी यह अनुमान कर सकेगा। परंतु, आधारभूत बात यह है कि काल-संबंध संक्रामी होता है ; यह बात गौण या अनुषंगी है कि हम अपनी शाब्दिक रूढ़ियों में यह व्यवस्था रखते है कि संक्रामिता कालसूचक शब्दो के 'अर्थ का अंग' बन जाती है। परंतु, इसका हेतु कि हमने अपनी शाब्दिक रूढ़ियों में इस ढंग की व्यवस्था रखी है, यह है कि हमारे भाषाई प्रयोग वास्तविकता को प्रतिबिंबित करें। क्या आप किसी ऐसे संबंध की कल्पना कर सकते हैं जो ठीक काल-संबंध के सदृश हो पर संक्रामी न हो ? निश्चय ही नहो : काल-संबंध अनिवार्यतः संक्रामी होता है। आप देखते है कि संक्रामिता का कालसूचक शब्दों के अर्थ का अंग होना कोई आकस्मिक बात नहो है ; एक ऐसा शब्द जिसका अर्थ वही हो जो 'पहले होना' का है पर जो संक्रामी न हो, किसी भी चीज पर लागू नही होगा। यहाँ फिर हमारी शाब्दिक रूढ़ियाँ वास्तविकता को प्रतिबिंबित करती है। काल-प्रवाह एक ही दिशा मे चलता है ; उसकी गति को पीछे की ओर नहो किया जा सकता। वास्तविकता की यह एक विशेषता है जिसे आप 'शाब्दिक रूढ़ि' कहकर टाल देते है।"

५. "दो चीजें एक ही समय मे एक ही स्थान में नहीं हो सकती।"
"आप खड़े-खड़े यातायात को देखते रहिए। आप देखेंगे कि दो कारें दो भिन्न समयों में उसी स्थान में हो सकती हैं (शायद एक क्षण आगे पीछे ही), और एक ही समय में वे दो भिन्न स्थानो मे हो सकती है (एक-दूसरी के

अगल-बगल), परंतु आप यह नही देखेंगे कि दो कारें एक ही समय मे एक ही स्थान मे है। जब वे ऐसा करने की कोशिश करती हैं तब टक्कर हो जाती है।"

"सच है। अब यह बताइए कि यह किस प्रकार का कथन है कि दो कारें एक ही समय मे एक ही स्थान मे नही हो सकती? क्या यह प्रागनुभविक रूप से सत्य नही है? क्या इसकी सत्यता को आपको प्रत्येक नए उदाहरण मे जाँचना होगा? क्या आप प्रागनुभविक रूप से नही जानते कि यदि दो चीजे हैं तो वे एक ही समय मे एक ही स्थान नही घेर सकती?"

"ठीक है। उत्तर सोपाधिक होगा : कारें अपेक्षाकृत अभेद्य होती हैं। पर, यदि एक-दूसरी के संपर्क मे आने पर वे उस तरह पिघलकर एक हो जाएँ, जिस तरह अत्यधिक ताप या दबाव की अवस्था मे होता है, तो क्या होगा? यदि वे पिघलते हुए मक्खन की दो टिकियो की तरह दबाए जाने पर चिपककर एक हो जाएँ तो?"

"परतु, जब मक्खन की दो टिकियाँ इस तरह चिपक जाती हैं तब वे दो नही रहेगी बल्कि एक हो जाएँगी। इसके अलावा, वे एक स्थान मे भी नही होगी : वे फिर भी एक-दूसरी के अगल-बगल ही रहेगी। फर्क केवल यह होगा कि उन्हे एक-दूसरी से अलग नही पहचाना जा सकेगा और इसलिए वे एक टिकिया मानी जाएँगी। यदि वे वहाँ अगल-बगल होती तो फिर भी दो चीजे होती, पर जब वे चिपककर एक चीज बन गई है तो वहाँ एक चीज है, दो नही।"

"मान लीजिए कि आपके पास गैस के एक एक लिटर के दो पात्र है और आप दोनो लिटरो को एक लिटरवाले पात्र मे भर देते है। क्या तब दो चीजे—गैस के दो लिटर—एक ही स्थान मे नही आ जाती?"

"पर अब वे दो लिटर नही रहे। गैसे अधिकाशत. रिक्त स्थानवाली होती है; इसलिए यह अवश्य ही संभव है कि गैस के जो कण पहले दो लिटर स्थान घेरे हुए थे वे अब एक लिटर स्थान मे आ जाएँ। मैं समझता हूँ कि आप इसे दो चीजो का एक ही समय मे एक ही स्थान मे होना कह सकते है। पर, यदि आप ऐसा कहेगे तो यह बहुत ही भ्रामक होगा, क्योंकि एक अन्य अर्थ मे वे अब भी एक ही स्थान मे नही होगी। आप पात्र के

अदर भरी हुई गैस के करोडो अणुओ मे से किन्ही भी दो को लीजिए। कोई भी दो अणु एक ही समय मे एक ही स्थान मे नही हो सकते।"

"और क्यो नही हो सकते ? क्योकि आप उसे एक ही स्थान नही कहेगे, उसे 'एक ही स्थान' कहने की हमारी कसौटी यह है कि उसमे एक से अधिक चीजें (अणु, कण) न हो।"

"शायद, पर अणुओ की बात छोडिए और पूरी वस्तुओ की बात पर आइए। क्या आप दो वस्तुओ के परस्पर चिपकने की कल्पना नही कर सकते —उनकी सतहा की गोद से चिपकने की नही बल्कि काफी अधिक अश तक उनके एक-दूसरी के अदर प्रविष्ट हो जाने की ? एक के कण दूसरी के अदर का काफी अधिक स्थान ले लेते है, पर फिर भी वे दो अलग वस्तुएँ बनी रहती हैं उन्हे खीचकर अलग भी किया जा सकता है और पहले की अवस्था मे लाया जा सकता है। क्या इन वस्तुओ के एक दूसरी के अदर प्रविष्ट होने की अवस्था मे यह नही कहा जा सकता कि ये एक ही समय मे एक ही स्थान मे है ?"

"मोटे रूप मे आप ऐसा कह सकते है, लेकिन जरा सावधान रहिए। इसका अर्थ केवल यह होगा कि एक निश्चित स्थान, जैसे दो घन इच, मे दो वस्तुओ के कण है, और यह अवश्य ही सभव है। पर यह सभव नही है कि वस्तुओ मे से एक का एक अणु और दूसरी का एक अणु (या उसी एक वस्तु का दूसरा अणु) एक ही समय मे एक ही स्थान मे रहे। ऐसा हो ही नही सकता। और, यह एक अनिवार्य सत्य है कि ऐसा नही हो सकता।"

"यह एक अनिवार्य सत्य क्यो है ?"

"इसलिए कि आपको प्रागनुभविक रूप से ऐसा कहने का अधिकार है। यदि मैं जानता हूँ कि द्रव्य के दो अणु हैं तो मैं प्रागनुभविक रूप से जानता हूँ कि वे दो भिन्न स्थानो मे है।"

'मुझे सिद्ध करके बताइए कि यह कथन विश्लेषी है।"

'मैं पहले अर्थ मे इसे विश्लेषी सिद्ध नही कर सकता। इसके निषेध मे मैं कोई व्याघात प्रदर्शित नही कर सकता। 'स्थान' शब्द की निदर्शन से परिभाषा दी जा सकती है, पर मैं जैसे यह नही बता सकता कि 'लाल' की अन्य शब्दो मे क्या परिभाषा होगी वैसे ही यह भी नही बता सकता कि

'स्थान' की शाब्दिक परिभाषा क्या होगी। परतु मैं मानता हूँ कि कथन दूसरे अर्थ मे विश्लेषी है, कोई भी इसके शब्दो के अर्थ जानकर इसे सत्य जान सकता है। हम 'दो वस्तुओ के एक ही स्थान मे होने' का कोई उदाहरण कभी नही बना सकते, क्योकि उन्हे दो वस्तुएँ स्वीकार कर लेना ही उनके स्थानो को एक नही बल्कि दो कहने के लिए पर्याप्त है।"

"फिर यहाँ भी वही बात हुई कि जिसे आप एक भाषाई रूढि कहते हैं उसे म वास्तविकता की एक अनिवार्य विशेषता मानता हूँ। वास्तविक जगत् ऐसा है कि उसके बारे मे कुछ बाते अनिवार्यत सत्य होती है—और, यह उन्ही बातो मे से एक है।"

"परतु यदि आप इसे वास्तविकता की एक विशेषता मानते है, तो मैं नही समझता कि आप इस प्रतिज्ञप्ति का भविष्य मे भी सदैव सत्य होना कैसे जान सकते है—यह कैसे जान सकते है कि वास्तविकता आगे भी पहले की तरह बनी रहेगी। आखिर, स्थान, वस्तु इत्यादि के हमारे सप्रत्यय आए तो अनुभव से ही है।"

"निश्चय ही अनुभव से आए है। परतु इन सप्रत्ययो को अनुभव से प्राप्त करने के बाद हमने प्रतिज्ञप्तियो के कथन मे उनका प्रयोग करना सीखा, और जल्दी ही हम समझ गए कि वे प्रतिज्ञप्तिया (जैसी एक वह है जिसपर हम इस समय विचार कर रहे है) अनिवार्यत सत्य है।"

११. तर्कशास्त्र के सिद्धांत

अब हम एक और भी अधिक मौलिक विषय को लेते है और वह है · वे सिद्धात जो सपूर्ण मानवीय विचार और वार्तालाप के मूलाधार हैं। हम देख चुके हैं कि अकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्य होती हैं, ऐसी ही ज्यामिति की (एक ज्यामितीय तत्र के सदर्भ मे) होती हैं, ऐसी ही अनेक अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ भी होती है जिनकी पिछले परिच्छेद मे चर्चा हुई है। परतु अब हम तर्कशास्त्र के कुछ सिद्धातो पर विचार करते हैं, जो स्वय भी अनिवार्यत. सत्य प्रतीत होते है। हम शुरू विचार के उन तीन नियमो से करते है जिन्हे अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) ने सूत्रवद्ध किया था।

१. तादात्म्य का नियम : अ अ है।[1]

२. अव्याघात का नियम : कोई चीज अ और न-अ दोनों नहीं हो सकती।

३. मध्याभाव-नियम : प्रत्येक चीज अ है या न-अ है।

ये आधारभूत क्यो है ? इसलिए कि यदि ये सत्य न हो तो कोई भी अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य नही बताई जा सकती, यहाँ तक कि सोची ही नही जा सकती। आप जो कुछ भी कहते हैं उसमे यह पहले से शामिल रहता है कि अ अ है : यदि आप एक मेज के बारे में बात कर रहे है तो आप यह पहले से मानकर चल रहे है कि वह मेज मेज है; यदि वह मेज मेज न हो तो आप बात किसके बारे में कर सकेंगे ? एक मेज अथवा एक मेज नही ?[2] हमने विश्लेषी कथनो की कम-से-कम एक अर्थ मे अव्याघात के नियम की मदद से परिभाषा दी थी। यदि आप कहें कि एक वर्ग वृत्त है, तो आपका कहना यह कहने के बराबर है कि संबंधित आकृति चार भुजाओवाली भी है और चार भुजाओ वाली नही भी है, जो कि अपनी ही बात को काटना है। अर्थात् आप अव्याघात के नियम का उल्लंघन करते है, जो यह कहता है कि कोई भी चीज अ और न-अ दोनो नही हो सकती (चार भुजाओवाली और चार भुजाओवाली नही, दोनों नही हो सकती)। "विश्लेषी" की पहली परिभाषा स्वयं अव्याघात के नियम पर ही आधारित है।

जो कोई नई बात जानना चाहता है उसे ये तीन "नियम" शायद निराशाजनक लगेंगे। ये हमे अधिक जानकारी नही देते। "अ अ है" आपको नही बताता कि अ के क्या गुण हैं, कि अ गोल है या भारी है या मुलायम है। वह केवल इतना बताता है कि अ अ है, कि चीज स्वय वही है। वह आपको नही बताता कि अ दीर्घ काल तक बना रहता है या बिजली की चमक की तरह एक क्षण तक रहकर सदा के लिए लुप्त हो जाता है। यदि

---

१. यहाँ अ का किसी भी चीज के लिए प्रयोग किया जा रहा है, न कि (जैसे पिछले अध्यायों में) केवल एक गुणधर्म के लिए।

२. "एक मेज एक मेज है" एक अनिवार्य सत्य है, परंतु "यह मेरे सामने एक मेज है" ऐसा नही है। यह बादवाला कथन असत्य हो सकता है : आप अपने सामने की चीज को पहचानने में गलती कर सकते हैं या यह मान सकते हैं कि वहाँ एक चीज है जबकि है कोई नहीं।

विश्व बिजली की चमक-जैसी क्षणिक घटनाओं की एक अनत शृंखला होता, तो फिर भी "अ अ है" सत्य होता। यह आपको विश्व की कोई खास विशेषता नही बताता। जितने भी विश्व सभव[1] है उन सबपर यह लागू होता है। अव्याघात का नियम भी विश्व के बारे मे कोई खास बात नही बताता : वह कहता है कि यदि यह एक मेज है तो ऐसी बात नही है कि वह एक मेज न भी हो ; और यदि बर्फ सफेद है तो ऐसा नही है कि वह सफेद न भी हो। अव्याघात का नियम हमे बताता है कि वह एकसाथ दोनो नही हो सकती, परतु, कही हम ऐसा सभव न मान बैठें कि वह दोनो मे से कोई भी नही है, इसलिए मध्याभाव-नियम अ और न-अ के बीच की स्थिति का निषेध कर देता है। वह कहता है कि प्रत्येक चीज या तो अ है या न-अ है—अर्थात् उसे यह या वह होना ही चाहिए, ऐसा सफेद है या नही हो सकता कि वह दोनो मे से कोई भी न हो। यह या तो एक मेज है या मेज नही है, या तो एकशृग है या एकशृग नही है, और या तो बर्फ सफेद है या सफेद-नही है—ऐसा नही हो सकता कि वह न सफेद हो और न सफेद-नही हो।

इन्हें "विचार के नियम" कहने से ऐसा लगता है जैसे कि मानो ये लोग वास्तव मे कैसे विचार करते है, यह बतानेवाले मानव-मनोविज्ञान के नियम हो, और इसलिए यह कहना ठीक नही है। यदि नियम ऐसे होते तो ये गलत होते, क्योंकि लोग सदैव इनके अनुसार विचार नही करते : उदाहरणार्थ, लोग स्वतोव्याघात जरूर करते है और इस प्रकार अव्याघात के नियम का उल्लघन करते है। ये विचार के उस प्रकार के नियम नही है जिस प्रकार के पारपरिक "साहचर्य के नियम" माने जाते थे। असल मे ये सपूर्ण सगत (अस्वव्याघाती) विचार के मूलाधार (अविनाभाव हेतु—जिनके बिना सगत विचार हो ही न सके) है।

इसके अलावा, ये ऐसे कथन है जिनसे अधिक व्यापक या सामान्य कोई हो ही नही सकते—अकगणित के नियमो से भी अधिक सामान्य, जो कि केवल सख्याओ के बारे मे बात करते समय ही लागू होते है, जबकि विचार

---

१. यहाँ मतलब तर्कतः संभव से है, क्योंकि अव्याघात के नियम का उपयोग तार्किक संभवता का अर्थ बताने में किया जाता है। किसी चीज को तर्कतः सभव कहना यह कहना है कि उसका निषेध करने में कोई व्याघात नहीं है।

के नियम प्रत्येक बात मे लागू होते है, उसका चाहे जो भी विषय हो : आप जिस चीज के बारे मे बात कर रहे हो वह वही है जिसके बारे मे आप बात कर रहे हैं (अ अ है)। वह वह और वह नही, दोनो नही है, और न उसमे एक गुणधर्म है भी और नही भी है (अ और न अ दोनो नही)। तथा उसमे या तो वह गुणधर्म है या नही ह (या तो अ या न अ)। कम-से कम तादात्म्य के नियम का पहले से आश्रय लिए बिना न केवल आप बातचीत नही कर सकते बल्कि सोच ही नही सकते, यहाँ तक कि किसी चीज को अ के रूप मे पहचान ही नही सकते जब आप चीजो के अपार समूह मे से एक चीज या एक विशेषता अ, को चुनते है, तब यह आपकी पूर्वमान्यता बन जाती है कि जिसके बारे मे आप सोच रहे है या बात कर रहे है वह कुछ और न होकर अ ही है।

जिस रूप मे हमने इन तीन नियमो का कथन किया है वह दुनिया की वस्तुओ, उनके सबधो और गुणधर्मो इत्यादि से सबधित है। पर कभी-कभी उन्हे प्रतिज्ञप्ति विषयक सत्यो के रूप मे सूत्रित किया जाता है, और तब वे पुनरुक्तियाँ होते हैं :

तादात्म्य का नियम यदि प तो प। प ⊃ प
अव्याघात का नियम : प और न प दोनो नही। ~ (प~प)
मध्याभाव नियम या तो प या न प। प V ~प

दूसरे शब्दो मे यदि एक प्रतिज्ञप्ति सत्य है तो वह सत्य है, कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य और असत्य दोनो नही है, तथा प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य है या असत्य है। उन्हे इस रूप मे रखने का एक लाभ यह है कि अब इन तीन नियमो को प्रतिज्ञप्तियो के तार्किक निगमन की प्रक्रिया मे अनुमान के नियमो के रूप मे इस्तेमाल किया जा सकता है। परतु, फिर भी मौलिक वही पहला कथन है जिसके ये विशेष रूप मात्र हैं जब तक यह सत्य न हो कि अ अ है तब तक यह कहने के लिए कोई आधार नही होगा कि प प है (या प प को आपादित करती है)। एक प्रतिज्ञप्ति प एक अन्य अ मात्र है, अलग पहचानी जा सकनेवाली एक और ऐसी चीज है जिसपर तादात्म्य का नियम लागू होता है।

मान लीजिए की कोई तादात्म्य के नियम को मानने मे इन्कार करता है। तो नतीजा क्या होगा ? 'मैं इस बात मे इन्कार करता हूँ कि अ अ है।'

"अच्छा। और क्या आप मानते है कि आपका इन्कार इन्कार है ?" "निस्संदेह।" "तब अ अ है—जो आपने अभी कहा उसमें यह पहले ही मान लिया गया है। यदि आपने इसे पहले से ही न मान लिया होता तो जिस प्रतिज्ञप्ति का आपने अभी कथन किया है उसका आप कथन ही न कर पाए होते।" तादात्म्य के नियम को पहले से माने बिना वह कुछ भी नही कह सकता, यहाँ तक कि स्वयं इस नियम का निषेध भी नही कर सकता, क्योंकि जब वह किसी भी चीज (उसे अ कह लीजिए) के बारे में कुछ बोलने के लिए अपना मुंह खोलता है (या सोचना तक शुरू करता है), तब उसके बोलने का विषय वही अ होता है, कोई और चीज नही। जिसके बारे में हम बोल रहे थे वह अ और साथ ही न-अ भी कैसे हो सकता था ? तब वह क्या होगा—अ या अ से भिन्न कोई चीज, जैसे ब ? जो भी हो, हर हालत मे अ अ है, और ब ब है।

अथवा मान लीजिए कि कोई अव्याघात के नियम को मानने से इन्कार करता है। वह कहता है, "यह एक मेज है और मेज नही भी है।" इस प्रकार वह कहता है कि वह दोनो ही हो सकती है (जबकि अव्याघात का नियम कहता है कि ऐसा नहीं हो सकता)। हम उससे क्या कह सकते है ? क्या हम उसके आशय को समझ भी सकेंगे ? वह किस स्थिति को बताने की कोशिश कर रहा है ?

"यह एक मेज है और एक मेज नही भी है ? परंतु आपने पहले ही अपने वाक्य के पहले भाग मे कहा था कि यह एक मेज है—तो अब उसी वाक्य के दूसरे भाग मे आपके यह कहने का क्या मतलब है कि यह एक मेज नही है ? जिसके बारे मे आप बात कर रहे है वह एक मेज है, या नही ?"

"मैं सिर्फ यह कह रहा हूँ कि वह एक मेज है और नही है।"

"पर उसे एक मेज कहकर और उसी सांस मे उसके मेज होने से इन्कार करके आप अपनी ही बात काट रहे है, स्वव्याघात कर रहे है।"

"ठीक है। तो मैं स्वव्याघात कर रहा हूँ। इसमे क्या बुराई है ?"

"इसमे बुराई यह है कि जो बात आप कह रहे हैं वह समझ मे नहीं आती : यदि आपकी बात का विषय मेज है तो वह उसी समय मेज-नही नहीं है। यदि आप कहते है कि वह दोनो ही है तो आप किसके बारे मे बात कर रहे हैं ?"

"मुझे खेद है कि आप नही समझ पा रहे है। बात आपकी समझ मे न आती होगी, पर मेरी समझ मे तो आती है।"

"पर कृपया मुझे समझाइए कि आपका उसे मेज और मेज-नही, दोनो कहने से क्या मतलब है। पहले आप कहते हैं कि वह है और तब आप कहते है कि वह नही है। तो बात क्या हुई ? अ या अ-नही ?"

"दोनो। मेरी बात का विषय अ और अ-नही है।"

यहाँ क्या हो गया ? वह सार्थक वार्तालाप के घेरे के बाहर कैसे पहुँच गया ? विश्व मे वस्तुओं का जो अनत समूह है (बडा वृत्त) उसमे से वह एक को चुनता है (छोटा वृत्त), जिसे हम अ कहते हैं। इसके अलावा सब अन्य चीजें अ-नही है। यदि वह अ के बारे मे बात करने का दावा करता है, तो वह छोटे वृत्त के अदर की चीज है ; यदि वह अ से भिन्न किसी चीज के बारे मे बात कर रहा है तो वह बडे वृत्त (अ का व्यावर्तक भाग) के अदर की चीज है। जब वह कहता है कि उसकी बात का विषय अ और अ-नही, दोनो है, तब उसका कथन इस कथन के बराबर है कि वह छोटे वृत्त के अदर है और उसके अदर नही भी है (उसके बाहर है)। इस प्रकार वह अपनी ही बात को काट रहा है। इसके अलावा हम क्या कह सकते हैं ? वह यह मानेगा, शायद डीग भी मारेगा, कि वह अपनी ही बात काट रहा है, पर जो भी हो, बात तो वह करता ही जा रहा है। लेकिन किसके बारे मे ? अ के बारे मे ? या अ से भिन्न किसी चीज के बारे मे (अ नही) ? फिर हम वही पहुँच गए—अ या अ-नही। हम उसे और अधिक बात करने से नही रोकते, परतु हमे पक्का यकीन है कि यदि वह किसी चीज, अ, के बारे मे बात करता है तो न-अ (अ से भिन्न प्रत्येक चीज) बातचीत का विषय नही है, और कि जहां तक वह स्वय किसी भी चीज के बारे मे बात करने मे समर्थ है वहाँ तक उसे भी अव्याघात के नियम का पालन करना होगा—भले ही उसे इसकी जानकारी हो या न हो, वह इससे इन्कार करे या न करे। जब वह कहता है अ, तब वह अव्यक्त रूप से न-अ का निषेध करता है ; और, जब वह अ सोचता है तब वह

उसे न-अ नही सोच सकता । अन्यथा, फिर यह पूछा जा सकता है कि उसके सोचने का विषय क्या है ?

अथवा, मान लीजिए, कोई आपसे कहता है, "मैं शाम के खाने के लिए आपका निमत्रण स्वीकार करता हूँ" और कुछ मिनट बाद कहता है, "सुनिए, मैं शाम के खाने के लिए आपका निमत्रण स्वीकार नही कर सकता ।" "क्या आपका मतलब यह है कि आपने विचार बदल दिया है ?" "नही, मैं आ ही नही रहा हूँ ।" "पर आपने तो अभी कहा था कि आप आ रहे है ?" "मैं जानता हूँ , यह भी सच है—मैं आ रहा हूँ और मैं नही आ रहा हूँ ।" पर आपका मतलब किससे है ?" "दोनो से ।" अब आप किस बात को मानेंगे ? वह कह क्या रहा है ? निस्सदेह वह जो कह रहा है वह समझ मे आनेवाली बात नही है—न केवल आपके लिए बल्कि उसके लिए भी । उसने अव्याघात के नियम का उल्लघन किया है ।

विचार के नियमो का औचित्य—"आपने मुझे दिखा दिया है कि विचार के नियम सपूर्ण वार्तालाप के, और असल मे सपूर्ण विचार के, मूलाधार है , पर अभी तक आपने यह सिद्ध करके नही दिखाया है कि वे सत्य है । आप कैसे यह सिद्ध करेंगे ?"

पहले हम यह विचार कर ले कि सिद्ध करना क्या होता है । किसी चीज को सिद्ध करना उसे सदेहातीत बना देना है । पर ऐसा करने के एक से अधिक तरीके होते है । (१) हम ज्यामिति के एक प्रमेय को पिछले प्रमेयो और सबधित तत्र के अन्य कथनो से निगमन के द्वारा प्राप्त करके सिद्ध करते है । हम एक निष्कर्ष को यह दिखाकर सिद्ध करते हैं कि वह आधारिकाओ से वैध रूप से निगमित होता है, बशर्ते हमे पहले से यह ज्ञान हो कि आधारिकाएँ सत्य है । परतु (२) हम तर्क का बिल्कुल उपयोग न करते हुए साक्ष्य देकर भी किसी बात को सिद्ध करते है । कोई कहता है, "मुझे सिद्ध करके दिखाओ कि आप इस समय पुस्तक पढ रहे है ।" कोई ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ नही हैं जिनसे आप इसे निष्कर्ष के रूप मे निगमित कर सकें (अथवा, यदि है तो वे इससे भी कम प्रत्यक्ष है)। आप उसे पुस्तक दिखाकर, स्थिति को उसके सामने करके, उसे देखने, छूने इत्यादि के लिए कहकर इसे सिद्ध करते है । जब जज कहता है, "यह सिद्ध करो कि तुम हत्या वाली रात को बाहर—कलकत्ते मे थे," तब वह प्रतिवादी को यह नही कह रहा है कि वह

इस बात को अन्य प्रतिज्ञप्तियो से निगमित करे, बल्कि यह कह रहा है कि वह अपने दावे की पुष्टि किसी प्रमाण से करे। उसका प्रमाण उन लोगो की गवाही से मिल सकता है जिन्होने उसे देखा था, या उसकी गतिविधियो के चलचित्रो इत्यादि से भी मिल सकता है।

अधिकतर यह होता है कि जब सिद्ध करने के लिए कहा जाता है तब माँग इस दूसरे प्रकार की होती है। परतु तर्कशास्त्र के इन नियमो के प्रसग मे ऐसा नही है · आप "देखकर पता कर लो" कहकर कैसे यह सिद्ध कर सकते है कि अ अ है? ऐसा कौन है जिसे पहले विश्वास न हुआ हो और अब इससे विश्वास हो जाए? यहाँ सिद्ध करने की माँग इस बात की माँग प्रतीत होती है कि प्रतिज्ञप्ति को अन्य प्रतिज्ञप्तियो से निगमित किया जाए। परतु प्रस्तुत प्रसग मे अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ क्या होगी? जब सभी अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ वास्तव मे इसपर आश्रित है कि अ अ है, तब आप इसे अन्य प्रतिज्ञप्तियो से निगमित करके कैसे सिद्ध कर सकते है? हमे कहीं से शुरुआत करनी है, और वह इसीसे होती है। आप किसी चीज को किसी अन्य चीज से ही सिद्ध कर सकते है, और किसी तरह नही एक प्रतिज्ञप्ति है जिसे सिद्ध करना है और अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ है जिनके द्वारा वह सिद्ध होती है। परतु यहाँ निगमन की यह क्रिया सभव नही है। वस्तुत निगमित करने का जो भी प्रयत्न किया जाएगा उसमे पहले से ही जिस प्रतिज्ञप्ति को सिद्ध करना है उसकी सत्यता आधार के रूप मे वर्तमान मिलेगी। आप तर्कशास्त्र के नियमो को अन्य प्रतिज्ञप्तियो के द्वारा सिद्ध नही कर सकते, क्योकि वे अन्य प्रतिज्ञप्तियो के आधार है। आप उनको स्वय उन्ही के द्वारा भी सिद्ध नही कर सकते : इसमे आत्माश्रय-दोष (जिसे सिद्ध करना है उसे पहले से मान लेना) होगा। परतु, हम तर्कशास्त्र के नियमो को तर्कशास्त्र के नियमो के अलावा किस उपाय से सिद्ध कर सकते है?

उन्हे सिद्ध किया ही नही जा सकता, और यदि सिद्ध किया भी जा सके तो इससे कोई सहायता नही मिलेगी। मान लीजिए कि हम तर्कशास्त्र के नियमो (त) को कुछ अन्य कथना (क) से निगमित करते हैं। तब हम क को कैसे सिद्ध करेंगे? किसी और चीज, ख, से? और ख को कैसे सिद्ध करेंगे? इसी प्रश्न की अनत काल तक आवृत्ति होती रहेगी : हम अनवस्था मे फँस जाएगे। इसके अलावा, हम किसी भी बात को तर्कशास्त्र के नियमो

के अलावा किस उपाय से सिद्ध कर सकते है? ये (तथा कई अन्य नियम भी) स्वय ही तो सिद्धि के वे नियम है। यदि तर्कशास्त्र के इन नियमो को सिद्ध करने के लिए नियमों के एक अन्य समुच्चय, क, की सहायता ली जा सकती हो, तो क ही सिद्धि के नियम होगे न कि त।

हम उन्हे उन्ही के द्वारा सिद्ध नही कर सकते। हम उन्हे उनसे भिन्न किसी उपाय से सिद्ध नही कर सकते। अतः हम उन्हे सिद्ध कर ही नही सकते। (इस कथन मे भी हम तर्कशास्त्र के एक नियम का उपयोग कर रहे है, हालाँकि वह कुछ जटिल है : "यदि प तो फ या ब ; फ नही, ब नही ; अत. प नही।')

क्या यह नतीजा परेशानी पैदा करनेवाला है? ऐसा तो नही होना चाहिए। यदि सिद्ध करने की प्रक्रिया को अनत तक नही चलना है, तो कही-न-कही उसे रोकना ही होगा। परतु, हम "सिद्ध करो" कि माँग के इतने आदी हो गए है कि हम सिद्धि के जो स्वय आधार है उनको लेकर भी यह सोचने लगते है कि उन्हे भी हमे सिद्ध करना है। "यदि आप इसे सिद्ध नही कर सकते तो आप इसे नही जान सकते।" परतु सिद्धि के नियमो से ही सिद्धि सभव होती है। पलटकर उन्हे ही सिद्ध करना हमारे लिए सभव नही है। हम केवल यही दिखा सकते है, जैसा कि हमने किया भी है, कि उनसे इन्कार करने की कोशिश करने का क्या नतीजा होता है।

फिर भी, बेचैनी बनी रह सकती है। हम प्रत्येक कथन को दूसरे कथन पर आश्रित करना चाहते है। हमारी वही स्थिति है जो महिला और चट्टान वाली कहानी मे बताई गई है : पृथ्वी एक हाथी के ऊपर टिकी हुई है, हाथी किस पर टिका हुआ है? एक चट्टान पर। चट्टान किस पर टिकी हुई है? एक और चट्टान पर। और वह चट्टान· ·····, और इसी प्रकार अनत तक। श्रोताओ मे एक महिला है जो इस सवाल को बार-बार पूछती जाती है। अत मे चिढकर वक्ता उससे कहता है, "श्रीमतीजी, वह नीचे तक सब चट्टान ही चट्टान है।" नीचे तक सब—कहाँ तक? वक्ता उसे थोडा खगोल पढाकर और ऊपर तथा नीचे की उसकी प्रकृत धारणाएँ दूर करके उसके अनत प्रश्न को रोक सकता है—हालाँकि शायद वह उसके समाधान से उत्पन्न असंतोष की अनुभूति से कभी पूरी तरह छुटकारा नही पा सकेगी। आप भी शायद तर्कशास्त्र के बारे में हमारे निष्कर्षों से

असंतुष्ट बने रहेंगे। हाँ, तब बात अलग है जब आप इस धारणा को निकाल दें कि सिद्धि के अंतिम नियमो को भी सिद्ध करने की जरूरत है। उनका औचित्य दिखाया जा सकता है, जैसे कि हमने कोशिश भी की है। परंतु इस अर्थ मे उन्हे सिद्ध नही किया जा सकता कि अन्य प्रतिज्ञप्तियो से तर्कशास्त्र के नियमो के अनुसार उन्हें निगमित किया जाए।

तर्कशास्त्र के नियमों के विरुद्ध आपत्तियाँ—फिर भी, जिन सीधे-सादे तीन नियमो पर हम विचार कर रहे है उन तक के विरुद्ध आपत्तियाँ की गई है। कुछ तो स्पष्टतः गलतफहमियो पर आधारित हैं, पर सब नही।

१. "'अ अ है" सदैव सत्य नही होता। कभी-कभी अ अ नही होता, क्योंकि जो अ था वह ब हो जाता है। बेंगची मेढक बन जाता है और फिर बेंगची नही रहता।" परतु इसका जवाब बहुत आसान है। जैसे अकगणित मे वैसे ही यहाँ भी, "अ अ है" इस बारे मे कुछ नही कहता कि अ क्या हो सकता है या किसमे बदल सकता है। यह जगत् के प्रक्रमों के बारे मे आपको कुछ भी नही बताता। यह तो केवल यह बताता है कि जब आपके पास अ हो तब अ ही आपके पास होता है, न कि अ से भिन्न कोई पदार्थ। अगले क्षण अ ब मे बदल सकता है, और तब वह ब है, न कि अ।

"परंतु वह शायद एक अर्थ मे अ हो और दूसरे अर्थ मे नही। आदमी एक अर्थ मे गिलहरी का चक्कर लगा सकता है पर दूसरे अर्थ मे नही।" यह अवश्य ही सच है पर तादात्म्य के नियम पर इसका कोई प्रभाव नही पडता। एक शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं। परतु अ अ है कहकर तादात्म्य का नियम केवल यह बताता है कि यह चीज, अ, चाहे जिस नाम से इसे पुकारा जाय, अ है, कोई और चीज नही। बिल्लियाँ बिल्लियाँ हैं, खाना खाना है, और चक्कर लगाना चक्कर लगाना है। "चक्कर लगाना" के कम-से-कम दो अर्थ हैं। ठीक है; इससे केवल यह प्रकट होता है कि "चक्कर लगाना$_1$" को "चक्कर लगाना$_2$" नही समझना चाहिए। तादात्म्य का नियम यह नही कहता कि अ$_1$ अ$_2$ है, बल्कि केवल यह कहता है कि अ$_1$ अ$_1$ है और अ$_2$ अ$_2$ है।

२. "मध्याभाव-नियम सदैव सच नही होता। मान लीजिए, मैं कहता हूँ, 'यह एकशृंग या तो सफ़ेद है या सफ़ेद-नहीं है।' पर इन विकल्पो मे से कोई भी सत्य नही है, क्योंकि एकशृंग होता ही नही।"

परंतु, "यह एकश्रृंग" कहने में यह पहले से मान लिया गया है कि यहाँ एकश्रृंग है। यदि आप कहते हैं कि यह एकश्रृंग सफेद है तो आपके कथन में दो अलग प्रतिज्ञप्तियाँ शामिल है : (१) यहाँ एक एकश्रृंग है, तथा (२) यह सफेद है। दूसरी प्रतिज्ञप्ति में यह पहले से मान लिया गया है कि पहली सत्य है। पर वह सत्य है नही। अतः, बात को नए रूप मे कहते हैं : या तो यहाँ एक सफेद एकश्रृंग है या नही है। और यह कथन सत्य है: यहाँ कोई सफेद एकश्रृंग नही है। इसी प्रकार यह सत्य है कि यहाँ या तो एक काला एकश्रृंग है या नही है। बात को उस छलपूर्ण ढंग से बचते हुए कहिए जिसमें दो कथन एक मालूम पड़ते है, और इस प्रकार कोई कठिनाई नहीं होगी।

३. "यह आवश्यक नही है कि चीज (जैसे पानी) या तो गर्म हो या ठंडी हो, या एक कार या तो तेज दौड़े या धीमे चले। पानी गुनगुना हो सकता है और कार मध्यम गति से दौड़ सकती है।"

परंतु, यह आपत्ति निषेधक को विपरात समझ लेने की गलती का फल है। मध्याभाव-नियम यह नही कहता कि कार या तो तेज दौड़ रही है या धीमे चल रही है। न वह यह कहता है कि एक निर्दिष्ट तापमान या तो गर्म है या ठडा है, या यह कि परीक्षा या तो आसान होती है या कठिन होती है। इनमे से प्रत्येक विपरीतों का युग्म है और दोनों के मध्य में एक अवस्था हो सकती है। हो सकता है कि किसी द्रव का तापमान न गर्म हो और न ठंडा बल्कि गुनगुना हो ; परीक्षा न आसान हो और न कठिन, बल्कि मध्यम हो ; कार मध्यम गति से चले, जो न तेज हो और न धीमी। मध्याभाव-नियम यह नहीं कहता कि विपरीतो (गर्म और ठडा) के मध्य में कोई अवस्था नही होती, क्योंकि होती अवश्य है। वह केवल यह कहता है कि एक पद और उसके निषेधक (गर्म और गर्म-नही) के बीच कोई अवस्था नही होती। गर्म और गर्म-नही के बीच जहाँ भी आप विभाजक रेखा खींचें, उनके बीच में कोई स्थिति नहीं होती —मध्याभाव-नियम अपने नाम के अनुसार ही मध्यावस्था का व्यावर्तन करता है : कोई भी तापमान जो गर्म नहीं है, गर्म-नही है—गर्म-नहीं में गुनगुना और ठंडा दोनों ही शामिल है।

४. कोटि-संबंधी भूलों के बारे में क्या कहा जाएगा ? "क्या आपका मतलब यह है कि मेरी मनोदशा या तो गर्म है या गर्म-नही है ? और

संख्या २ या तो तेज है या तेज-नही है ? और गंधें या तो सफेद होती है या सफेद नही ? पर यह तो एक बेतुकी बात है।"

लेकिन, मध्याभाव-नियम ऐसा भी नही कहता : वह यह नही कहता कि प्रत्येक विशेषण प्रत्येक उद्देश्य पर अवश्य ही लागू होता है और साथ ही बात मे सार्थकता भी बनी रहती है। वह केवल यह कहता है कि एक विधेय अ या तो लागू होता है या लागू नही होता। उदाहरणार्थ, संख्या २ या तो तेज है या तेज नही है। यह बिल्कुल सच है; वह तेज नही है। परंतु इसका मतलब यह नही है कि उसे धीमी होना चाहिए, क्योंकि गति का संप्रत्यय उसपर लागू ही नही होता (उसे उसपर लागू करना एक कोटि-दोष होगा)। यह याद रखिए कि तेज-नही मे तेज को छोड़कर सभी विधेय शामिल हैं : इसमे धीमा शामिल है पर साथ ही त्रिभुजाकार, खाद्य, मैला, प्रेमातुर और जो भी आप कहना चाहे ऐसी प्रत्येक चीज शामिल है। इस प्रकार यह बात सच बनी रहती है कि संख्या २ या तो तेज की कोटि मे शामिल है या शामिल नही है। वह शामिल नही है; परंतु इसलिए यह न मान लिया जाए कि वह धीमी या मध्यम गति की कोटि मे आती है : वह केवल उस विशाल कोटि मे आती है जिसमे तेज के अलावा सब कुछ शामिल है।

५ "मैं अब भी यह सोचता हूँ कि इसके अपवाद है। उदाहरणार्थ, आप कह सकते हैं कि हमीद या तो घर मे है या घर मे नहीं है। पर मान लीजिए कि हमीद मर चुका है : तब वह न तो घर मे है और न घर मे नही है।" हमारा जवाब है कि बिल्कुल नही। इस आपत्ति का निराकरण दोहरी प्रतिज्ञप्तियों पर विचार करके किया जा सकता है। यहाँ प्रतिज्ञप्ति यह है (१) कि एक आदमी हमीद (अनुमानतः जीवित) है, तथा (२) कि वह घर पर है या घर पर नही है। दूसरी तब तक सत्य नही हो सकती जब तक पहली सत्य न हो। "हमीद या तो .... या ...." में यह पहले से मान लिया गया है कि हमीद का अस्तित्व है। इसलिए हम यह कह सकते हैं : या तो हमीद नाम का एक आदमी अस्तित्व रखता है या अस्तित्व नही रखता ; और यदि ऐसा आदमी है, तो या तो वह घर मे है या घर मे नही है। दोनो ही तरह से मध्याभाव नियम लागू होता है।

बात को एक दूसरे रूप मे बताया जा सकता है : या तो एक आदमी हमीद जो कि घर मे है, अस्तित्व रखता है या नही रखता। यदि एक आदमी

हमीद था, पर अब वह मर चुका है, तो दूसरा विकल्प सत्य है। उसका शव घर मे, अर्थात् उसके जीवन-काल मे जो उसका घर था, वहाँ हो सकता है; परन्तु यदि शव हमीद नही है तो यह सच नही है कि हमीद घर मे है। लेकिन, उस दशा मे कथन का उत्तरार्ध ("या" के बादवाला अश) सत्य है: यह सच नही है कि एक आदमी, हमीद का, जो कि घर मे है, अस्तित्व है। परतु हमे यह सावधानी रखनी होगी कि इसे "हमीद घर मे नही है" से एक न समझें, क्योकि यह बादवाला कथन पूरे कथन के उत्तरार्ध के अतर्गत जो विकल्प सभव हैं, केवल उनमे से एक है। "हमीद अब जीवित नही है" एक और विकल्प है। जो व्यक्ति "हमीद या तो घर मे है या वह घर मे नही है" कहने को स्वीकृति देता है और जिसे फिर यह बताया जाता है कि हमीद तो मर चुका है और इसलिए न तो प और न न-प सत्य है, वह एक जाल मे फँस रहा है। उसने सावधान होकर इस जाल से स्वय को नही बचाया है, क्योकि उसने इन दो प्रतिज्ञप्तियो मे अतर नही किया है: "यह सच नही है कि एक आदमी हमीद है जो घर में है" (जो सत्य है) तथा "हमीद घर में नही है" (जो असत्य है, क्योकि हमीद अब जीवित नही है)।

६. "परतु मध्याभाव नियम उन प्रसगो मे लागू नही होता जहाँ अस्पष्टता रहती है। एक रफ्तार के बारे में कोई कह सकता है कि वह न तो तेज है और न तेज नही।"

यदि कोई टोल चौकीवाली सडक पर ६० मील प्रति घटे की रफ्तार से जा रहा है तो यह स्पष्ट नही है कि उसकी रफ्तार को तेज कहे या नही। यहाँ कोई नियम ऐसा नही है जिससे निश्चय किया जाए। असत्य शब्दो की तरह "तेज" अस्पष्ट है। फिर भी *मध्याभाव-नियम अवश्य* ही लागू होता है, चाहे जहाँ भी हम विभाजक रेखा खीचने का निश्चय करें। यदि हम ६० मील पर रेखा खीचते है तो यह सत्य होगा कि या तो एक कार कम-से-कम ६० मील प्रति घटे की रफ्तार से जा रही है या नही जा रही है। और जो भी रफ्तार कोई चुने, यही उसके बारे मे कहा जाएगा। यह कहना भी उतना ही सत्य होगा कि या तो वह तेज जा रही है या नही। बात सिर्फ इतनी है कि "तेज" शब्द अस्पष्ट है जिससे यह नही जान पडता (जबतक कोई निश्चित न कर दे) कि तेज और तेज-नही के बीच सीमा कहाँ खीचनी है।

७ "अव्याघात के नियम को हर हालत मे सत्य दिखाने के लिए विशेषकों से इतना लाद देना पडेगा कि वह सच नही हो सकता। उदाहरणार्थ, एक आदमी अपनी पत्नी को प्यार कर सकता है और उससे घृणा भी कर सकता है।"

"हाँ, पर एक ही बात मे नही वह उसे उसके सुन्दर होने से प्यार कर सकता है और उसके चरित्र के कारण उससे घृणा भी कर सकता है। इस प्रकार, वह उससे प्रेम और घृणा दोनो ही करता है, पर प्रेम एक बात मे करता है और घृणा दूसरी बात मे। सही रूप मे रखे जाने पर, अव्याघात का नियम केवल यह कहना है कि वह एक ही समय और एक ही बात मे उससे प्रेम और घृणा नही कर सकता।"

"परतु ऐसा हो सकता है कि वह उससे घृणा और प्रेम दोनो ही उसके चरित्र के कारण करता हो: वह उससे प्रेम उसके धैर्य के कारण करता हो और घृणा उसके चिडचिडेपन के कारण—जो कि दोनो ही चरित्र की विशेषताएँ हैं।"

"ठीक है। इसका मतलब केवल यह हुआ कि वह उससे प्रेम उसके चरित्र की एक बात से करता है और उससे घृणा उसके चरित्र की एक अन्य बात से।"

"परतु क्या ऐसा नही हो सकता कि वह उससे प्रेम और घृणा एक ही विशेषता के कारण—एक ही बात से, करता हो? वह उसकी तुनुकमिजाजी के कारण उससे प्रेम करता है और इसलिए उससे घृणा भी करता है।"

"तब वह अवश्य ही एक रूप मे उसके कारण प्रेम करता है और दूसरे रूप मे उसके कारण उससे घृणा करता है।"

"हम ऐसा नतीजा क्यो निकालें? हर बार मैं आपको यह दिखाता हूँ कि प्रेम और घृणा बिल्कुल एक ही विशेषता के कारण एक साथ होते है और आप यह मान लेते हैं कि दोनो दो अलग बातो से ही होते हैं, हालाँकि शायद आपको उन अलग बातो का नाम भी न मालूम हो। हर बार जब भी मैं एक विरोधी उदाहरण आपको दिखाता हूँ, आप एक नई 'बात' पैदा कर देते हैं। परतु आपने यह नही बताया है कि 'एक ही बात मे' से आपका क्या मतलब है? जरूरत है इन शब्दो की एक स्वतत्र परिभाषा की। 'वही बात' क्या होती है और 'अलग बात' क्या होती है? जब कोई ऐसा उदाहरण

आता है जो परेशानी पैदा करे, तब आप कहते है, 'अहो, तो फिर यह अलग बात है'—पर इससे मुझे संतोष नही है। यह तो प्रागनुभविक अभिगृहीत-जैसा लगता है। आप 'वही बात' का सहारा अपने को बचाने के लिए ले रहे है। आप कैसे जानते है कि जब भी अव्याघात के नियम का विरोधी कोई उदाहरण दिखाई देता है तब सदैव कोई अलग बात होती है ? मेरा विश्वास है कि अव्याघात के नियम को बचाने के लिए ही 'अलग बात' का सहारा लिया जा रहा है।"

"मैं समझता हूँ कि प्रेम-घृणा की यह समस्या इसके बिना हल की जा सकती है। प्रेम और घृणा अनिवार्य रूप से विरोधी नही है। दोनो को आप बढ़ाते चले जाइए और आप देखेगे कि संगीत के तीव्र और मंद स्वरो के अनुक्रम की तरह वे पूरा चक्कर लगाकर एक जगह आ जाते है। यदि ऐसी बात है तो प्रेम और घृणा एक साथ रह सकते है ; परंतु यह प्रेम और प्रेम-नही का एक साथ रहना नहीं है (और नियम का उल्लंघन केवल इसी बात से होगा)। यह प्रेम का और प्रेम-नहीं के एक अंश तक का सह-अस्तित्व नही है (घृणा को प्रेम-नही का एक अंश मानते हुए)। अत्यधिक तीव्र सवेगात्मक अवस्थाओं मे ऐसा हो सकता है कि घृणा प्रेम का एक रूप बन जाए और प्रेम घृणा का, या शायद कोई कुछ न रहे : शायद इन नामो का प्रयोग तक उचित न रहे।"

"मैं समझता हूँ कि यह सब टालने की बात है। प्रेम और घृणा विरोधी पद है ; प्रेम और प्रेम-नहीं या अ-प्रेम परस्पर निषेधक है। यदि आप प्रेम नहीं करते तो यह जरूरी नही है कि आप घृणा करते है (जैसे, आप उपेक्षा कर सकते हैं) ; परंतु यदि आप अवश्य ही प्रेम करते है तो यह पक्की बात है कि आप घृणा नही करते। 'मैं पालक से घृणा करता हूँ' प्रायः 'मैं पालक से प्रेम करता हूँ' से असंगत माना जायगा—और है भी वह उससे असंगत। क्या नहीं ? इस प्रकार मेरा पहला आक्षेप यथावत् है : आप हर बार जब भी कोई असंगति होती है, एक 'नई बात' इस प्रकार गढ़ देते है कि अव्याघात का नियम सही-सलामत निकल आता है।"

"'प्रेम' और 'घृणा' का तार्किक संबंध बड़ा पेचीदा है। एक अर्थ मे ये विरोधी हैं, और तब इनका एक ही समय में एक ही व्यक्ति के अंदर एक साथ रहना संभव नहीं होता। परंतु एक अन्य अर्थ ऐसा हो सकता है कि

जिसमें ये विरोधी न हों और इसलिए परस्पर असंगत बिल्कुल न हो। और उस अर्थ में इनके सह-अस्तित्व की बात कहने से अव्याघात के नियम का उल्लंघन नही होता।"

शाब्दिक नियम अथवा वास्तविक जगत् के तथ्य—अंत में, इन नियमों की स्थिति क्या है? ये विश्लेषी है या संश्लेषी? प्रागनुभविक है या अनुभवाश्रित? यहां हम एक अत्यधिक विवादवाले क्षेत्र में पहुँच गए है।

तर्कबुद्धिवादी : मैं समझता हूँ कि हम इन्हें प्रागनुभविक मान सकते है। जांच-पड़ताल या प्रेक्षण से यह कैसे पता लगाया जाएगा कि एक मेज मेज है, या एक चीज एक मेज और एक मेज-नही दोनों नही हो सकती? यदि ये सत्य है (और हमने इनके सत्य होने का विरोध करनेवाली कुछ आपत्तियो पर विचार कर लिया है) तो ये अनिवार्य रूप से सत्य है, न कि आपातिक रूप से। ये "सभी सभव जगतों में सत्य होगे"।

इंद्रियानुभववादी : मानते है। पर सवाल यह है कि क्या ये विश्लेषी है? और हैं अवश्य। ये विश्लेषी कथनों के साक्षात् नमूने हैं। अ अ है—इससे इन्कार करने पर *आपको कहना पड़ेगा कि अ अ-नही है।* इससे अधिक स्पष्ट स्वतोव्याघाती बात क्या होगी? कोई भी चीज अ और अ-नही दोनों नही हो सकती—इससे इन्कार करने पर आपको यह कथन प्राप्त होगा कि कोई चीज अ और अ-नही दोनों हो सकती है। इससे अधिक साफ स्वतोव्याघाती बात क्या हो सकती है? निस्संदेह ये नियम ऐसे कथनो के सबसे स्पष्ट उदाहरण हैं जिनकी अनिवार्यता को विश्लेषी होने का परिणाम कहा जा सकता है।

तर्क० : परंतु इससे काम नही चलेगा। अव्याघात के नियम का निषेध अवश्य ही स्वयं स्वतोव्याघाती है। जब भी आप किसी विश्लेषी कथन का निषेध करते है तब आप सदैव अव्याघात के नियम का उल्लंघन करते है। परंतु यह ध्यान देने की बात है कि "विश्लेषी" की परिभाषा स्वयं अव्याघात के नियम के आधार पर दी जाती है। यह नियम अन्य कथनों की स्वतो व्याघातकता की कसौटी है। स्वयं अव्याघात के नियम के बारे मे क्या कहेंगे? निस्संदेह इसके *निषेध से एक व्याघात ("अ और अ-नही दोनो")* प्राप्त होता है। अव्याघात के नियम की व्याघाती कोई भी प्रतिज्ञप्ति स्वतोव्याघाती होती है, और इनमें स्वयं अव्याघात के नियम का निषेध भी

शामिल है। यह स्वयं ही सब अन्य कथनों के विश्लेपित्व की कसौटी प्रदान करता है। इसलिए यह कहने के बजाय कि अव्याघात का नियम विश्लेपी है, मैं यह कहना अधिक पसंद करूँगा कि इसकी स्थिति कथनों के तंत्र से वाहर है और बाहर रहकर यह ऐसी कसौटी प्रदान करता है जिससे उनके विश्लेपित्व की परीक्षा की जा सके।

इ॰ : शायद। परंतु अब जरा "विश्लेपी" के दूसरे अर्थ पर भी ध्यान दीजिए। आप जिस कथन के शब्दों के अर्थ से बता सकते हैं कि कथन सत्य है वह विश्लेपी है। और इस प्रकार आप तर्कशास्त्र के नियमों के बारे में बता सकते है। ये नियम स्वयं उस भाषाई रूढ़ि के निर्माता है जो अन्य कथनों को विश्लेपी बनाती है। उदाहरणार्थ, "बिल्लियाँ बिल्लियाँ है" "अ अ है" का ही एक विशेष दृष्टांत है और "यह बिल्ली और बिल्ली-नहीं दोनों नही है" "अ और अ-नही दोनों नही" का ही एक विशेष दृष्टांत है। तर्कशास्त्र के नियम उन शाब्दिक रूढ़ियों का स्पष्ट रूप से कथन कर देते है जो इन विशेष दृष्टांतों को विश्लेपी बनाती है। दूसरे शब्दों में, यदि हम "अ और अ-नही दोनों नही", इस शाब्दिक रूढ़ि को जानते है तो हम उस सिद्धात को जानते है जो "यह बिल्ली और बिल्ली-नही दोनों नही है", "यह कुर्सी और कुर्सी-नही दोनों नही है" इत्यादि सब विशेष कथनों को विश्लेपी बनाता है। स्वीकार है?

त॰ : मुझे इतना पक्का यकीन नही है। यदि आप कहे कि "अ और अ-नही दोनों नही" एक शाब्दिक रूढ़ि मात्र है तो मैं इसका घोर विरोध करूँगा। मैं अरस्तू की तरह यह मानता हूं कि विचार के ये तथाकथित नियम वास्तविकता के आधारभूत नियम है। वे हमें शब्दों का प्रयोग करने के तरीके मात्र नही बताते : वे हमें वास्तविक चीजों की प्रकृति के बारे मे कुछ बताते है। वे वास्तविकता के बारे में कुछ सामान्य तथ्यों के सूचक हैं, और ये तथ्य उस तरह से हमारे द्वारा नही बनाए गए जिस तरह शाब्दिक रूढ़ियों को हमने बनाया है।

इ॰ : यहां हमारा मतभेद है। मैं नही समझता कि विचार के नियम वास्तविकता के बारे में कोई भी तथ्य बताते हैं। "मेज मेज है" कहना हमें मेजों के बारे मे कुछ भी नही बताता : इस जानकारी से मेज के बारे में जो कुछ मैं पहले से जानता था उसमें कोई वृद्धि नही होती।

त० : मैं मानता हूँ कि कोई विशेष सूचना इससे नही मिलती : आप मेज के रंग, आकार या वजन के बारे मे कुछ नही जानते। परंतु यह एक तथ्य है कि मेज मेज है, और यह एक तथ्य है कि यह मेज और मेज-नही दोनो नही है। यह ऐसा विशेष तथ्य तो नही है जिसकी आपको फर्नीचर के बारे मे जानकारी प्राप्त करते समय जिज्ञासा हो, पर है फिर भी एक तथ्य।

यह माना जा सकता है कि जिस डेस्क के ऊपर मैं लिखने का काम कर रहा हूँ वह या तो एक डेस्क है या नही है, एक ऐसा सत्य है जिससे हमे व्यवहार मे कोई भी सहायता नही मिलती और जिसमे एक दार्शनिक को छोडकर कोई भी थोडी भी दिलचस्पी नही लेगा। पर क्या यह कोई सच्ची बात कहता है ? इससे इन्कार करने की कोशिश करके देख लो। क्या यह इस विशेष मेज के बारे मे कुछ कहता है ? हाँ, और यह कहने से इसका प्रतिवाद नही होता कि जो कुछ यह बताता है वह सब डेस्को, बादलो और बिजली के खभो पर भी समान रूप से लागू होता है। इस बात को फिर कह दिया जाए कि कोई कथन कुछ नही बताता, यह सिर्फ इस आधार पर कह देना ठीक नही है कि वह हर चीज पर लागू होता है।[1]

इ० : मैं फिर भी कहता हूँ कि वह सारहीन है। वह इस या किसी भी अन्य दुनिया की किसी भी चीज के बारे मे कुछ नही बताता। वह दुनिया के बारे मे कुछ बताता प्रतीत होता है, क्योकि हम "डेस्क" और "बादल" इत्यादि शब्दो का प्रयोग करते हैं जो वास्तविक जगत् की वस्तुओ के बोधक हैं। परतु जब एक बार हम यह समझ जाते हैं कि डेस्क और बादल उस कथन के लिए कतई आवश्यक नही हैं—विचार के ये नियम इन वस्तुओ के बारे में नही हैं—तब हमारी यह भ्राति दूर हो जाती है। हम देख चुके हैं कि "२ + २ = ४" मे सेबो और अमीबाओ की बात एक दिखावा मात्र थी। वैसे ही यहाँ डेस्को और बादलो की बातें केवल "अ अ है," "अ और अ-नही दोनो नहीं" इत्यादि के उदाहरण हैं।

त० : नही, कथन इन्ही चीजो—डेस्क, बादल इत्यादि—के बारे मे हैं और उनके बारे मे सच बातें कहते हैं। परतु ये बहुत ही सामान्य सत्य हैं : कहन का मतलब यह है कि वे डेस्को, बादलो और अन्य सभी चीजो के बारे मे सत्य

१. मेट ब्लैनशार्ड, रीजन एंड एनैलिसिस, पृष्ठ ४२७।

हैं। आप कृपया सामान्यता को रिक्तता न समझ बैठें। वे आपको रिक्त इसलिए लगते है कि वे सब चीजों पर लागू होते हैं, लेकिन ऐसा होने से उनकी सत्यता में कोई कमी नहीं आती। "अ अ है" इस दुनिया में, बल्कि जो भी दुनिया संभव है उसमें, प्रत्येक चीज पर लागू होता है। इतना अधिक सामान्य यह है। परंतु फिर भी यह सत्य है। (इसी प्रकार मैं मानता हू कि अंकगणित के सत्य सभी संभव राशियों के बारे में सत्य हैं, और सभी पर सामान रूप से लागू होने से उनकी सत्यता में कोई कमी नहीं आती।)

इ० : यह बात आपकी समझ में नहीं आ रही है कि तर्कशास्त्र के नियमों के रूप में केवल शाब्दिक रूढियाँ है। यहाँ एक चीज है। उसे आप क कह लीजिए। अब न-क या क-नही क्या है ? क के अलावा प्रत्येक चीज। इस प्रतिज्ञप्ति को सत्य बनानेवाली क्या चीज है ? "न" या "नही" शब्द का प्रयोग। "नही" शब्द का हम इसी तरह प्रयोग करते हैं : पूरा कथन "नही" की एक प्रकार से निहित परिभापा है। यह हमे बताता है कि भापा के प्रयोग में हमें "क-नहीं" का वहाँ इस्तेमाल नही करना है जहाँ हम "क" का इस्तेमाल करते है। हो सकता है कि किसी भापा मे "नही" या इसका तुल्य शब्द न हो। तब ऐसा कोई नियम हम नही बना पाएँगे। परतु इस शब्द का होना बहुत ही सुविधाजनक है, क्योंकि हम चाहते हैं कि हम किसी चीज की उपस्थिति के बारे में और उसकी अनुपस्थिति के बारे मे भी बात कर सकें, और इसके लिए शब्द "नही" ही है।

त० : ऐसी भापा में हम अव्याघात के नियम को नही बता सकेंगे, पर यह नियम होगा फिर भी सत्य। यह संपूर्ण वास्तविक जगत् पर, जिसको कोई नाम दिया जा सकता है ऐसी प्रत्येक चीज पर, जिसे कोई भी कभी सोच सकता है ऐसी प्रत्येक चीज पर, लागू होता है। यदि किसी भापा में इसका कथन करने के लिए आवश्यक शब्द नही है तो इससे इसके सत्य होने मे कोई बाधा नही पडती।

इ० : इसके सत्य होने का कारण केवल यह तथ्य है कि "नही" शब्द का एक अर्थ होता है। यदि कोई कहे कि "यह एक मेज और एक मेज-नही दोनों हो सकता है," तो मैं यह निष्कर्ष निकालूंगा कि उसने "नही" शब्द का अर्थ नही सीखा है। यदि वह सीख ले कि "नहीं" का क्या अर्थ होता है तो वह

सीख लेगा कि ऐसा नही कहना चाहिए (जैसा कि हम सब सीख चुके हैं)। जब आप "नही" का अर्थ समझ जाते है तब आप यह भी समझ जाते हैं कि 'यह एक मेज और एक मेज-नही दोनो नही है" क्यो सत्य है। इसकी सत्यता पूर्णत. इस शाब्दिक रूढि पर आश्रित है।

त० . मैं समझता हूँ कि यहां आप गलती कर रहे हैं। यह एक शाब्दिक रूढि नही है। शाब्दिक रूढि बदली जा सकती है, पर अव्याघात के नियम की सचाई नही। जब आप ब्रिज या शतरंज खेलते हैं, तब कुछ रूढियाँ या नियम होते हैं जिनके अनुसार खेल चलता है। और जब एक तरह से खेलने पर खेल अरुचिकारक हो जाता है, तब उसके कुछ नियमो को बदलकर खेल मे सुधार किया जा सकता है। शब्दो की परिभाषा भी रूढि की बात होती है : एक ध्वनि को एक अर्थ दे दिया जाता है, और किसी शब्द की परिभाषा देना यह बताना होता है कि आपने उसे क्या अर्थ दिया है (स्वनिर्मित परिभाषा) अथवा अन्य लोगो ने उसे क्या अर्थ दिया है (प्रतिवेदक परिभाषा)। परतु तर्कशास्त्र के नियम इस अर्थ मे रूढियाँ नही हो सकते। उनका कोई विकल्प नही होता। उदाहरणार्थ, आप कहते हैं कि तर्कशास्त्र के नियम रूढियाँ हैं, मैं कहता हूँ कि नही। निश्चय ही, यह नही हो सकता कि हम दोनो ही सही हो। हममे से एक अवश्य गलती कर रहा है। यह वास्तविक जगत् का एक अनिवार्य तथ्य है, कोई ऐसी भाषाई रूढि नही जिसे मनमाने ढग से चला दिया गया हो। आप एक रूढिवादी हैं और आप भी मानेंगे कि यदि मैं कहूँ कि वे वास्तविक जगत् के तथ्य हैं और आप कहे कि नही है तो हमारे कथन परस्पर व्याघाती हैं और हम दोनो सही नही हो सकते। यह वास्तविक जगत् का एक सीधा सा तथ्य है। परतु यदि तर्कशास्त्र के नियम रूढियाँ मात्र हैं, तो हम आसानी से उन रूढियो को बदल सकते हैं और इस व्याघात से बच सकते हैं। परतु इस प्रकार व्याघातो से नही बचा जा सकता।

यह प्रस्तावित किया जाता है कि पूरा तर्कशास्त्र रूढिमूलक है, यह एक सत्य कथन है, और हमसे यह आशा की जाती है कि हम "कुछ तर्कशास्त्र रूढिमूलक नही है," इस व्याघाती प्रतिज्ञप्ति को बिना प्रतिवाद किए असत्य मान लेंगे। परतु यदि अव्याघात का नियम वस्तुत एक रूढि मात्र है और उसके विकल्प हैं, तो हमसे क्यो इस व्याघातक प्रतिज्ञप्ति को असत्य मान लेने की इतनी पक्की आशा की जाती है ? यदि अव्याघात के नियम का वस्तुतः

कोई विकल्प है तो दोनों व्याघाती सत्य हो सकते है, और यह एक दुराग्रहपूर्ण बात होगी कि दोनों में से एक ही को सत्य मानकर दूसरे को छोड दिया जाए। परंतु तार्किक प्रत्यक्षवादी यह मानने के बावजूद कि तर्कशास्त्र रूढ़िमूलक है, इस बात पर जोर देने को दुराग्रहपूर्ण नही मानता कि यदि उसका मत सही है तो इसका व्याघातक गलत है।[1]

इ० : पर मैं आपको यह याद दिलाऊँगा कि वैकल्पिक तर्कशास्त्र रचे जा चुके है। अरस्तू के द्विमूल्यक तर्कशास्त्र के अनुसार प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य है या मिथ्या (सत्य या सत्य-नहीं मात्र नही)। (निस्संदेह यदि वाक्य निरर्थक है तो वह किसी भी प्रतिज्ञप्ति का कथन नही करता।) पर मान लीजिए कि कोई एक त्रिमूल्यक तर्कशास्त्र की रचना करता है (ऐसा किया जा चुका है), जिसमें प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य है या मिथ्या है या अनियत है। तब आपके इस दावे का क्या होगा कि कोई विकल्प नही है ?

त० : (१) यह इस बात का निषेध नहीं करता कि कोई प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य होती है या सत्य-नहीं होती है (और केवल इतना ही मध्याभाव-नियम चाहता है)। वह केवल इस बात का निषेध करता है कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य होती है या मिथ्या होती है। परंतु (२) मैं यह मानता हूँ कि "या तो सत्य है या मिथ्या है" वास्तव में "या तो सत्य है या सत्य नही है" के बराबर ही है—अर्थात् कोई तीसरी स्थिति संभव नही है। यदि कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य नही है तो उसे मिथ्या होना चाहिए। शायद हम न जानें कि वह क्या है, और तब हम उसे "अनियत" कहते है, परंतु अनियतता हमारे ज्ञान के अभाव का परिणाम है; प्रतिज्ञप्ति वस्तुत: अनियत नही है। वह या तो सत्य है या मिथ्या है, हालांकि शायद हम न जानते हों कि वह इनमें से क्या है। जहाँ तक हमारी जानकारी का संबंध है, "सत्य," "मिथ्या" या "अनियत" उपयुक्त कोटियाँ हो सकती हैं (ठीक वैसे ही जैसे "हाँ," "नही," या "मैं नही जानता" एक वस्तुनिष्ठ परीक्षा में उपयुक्त विकल्प हो सकते है)। परंतु मैं तो चीजों के वास्तविक रूप की बात कह रहा हूँ। वास्तव में प्रतिज्ञप्ति या तो सत्य है या मिथ्या है—बीच में कोई स्थिति नही है—भले ही हम न जानें कि दोनों में से वह है क्या। वास्तविक जगत् मे (न कि वास्तविक जगत् के हमारे ज्ञान में)

---

१ ब्रैंड ब्लैनशार्ड, रीजन ऐंड ऐनेलिसिस, पृ० २७५।

"सत्य," "मिथ्या" और "अनियत" नाम के विकल्पों के होने की बात एक कोटि-दोष मात्र है।

जहाँ कोई प्रतिज्ञप्ति अपनी व्याघाती प्रतिज्ञप्ति का निषेध न करती हो ऐसे लोक मे कोई भी कथन ऐसा नही हो सकता जो सत्य हो और जिसका विरोधी सत्य न हो; वहाँ विधान और निषेध का लोप ही हो जायगा। हमें इस बाध्यता का कारण साफ मालूम पडता है। यदि रूढियों की तरह इसका भी कारण हमारी इच्छा होता, तो हम इसे बदल सकते थे, जबकि हम इसे बदल नही सकते। यदि अनुभव उसका स्रोत हो तो व्याघात का नियम केवल प्रसंभाव्य ही होगा, और तार्किक प्रत्यक्षवादी मानते है कि वह प्रसंभाव्य से अधिक है। कान्ट की यह बात मानने पर कि उसका स्रोत हमारे ही मन का कोई ऐसा भाग है जो हमारे नियंत्रण में नही है, हमें यह कहने के लिए मजबूर होना पड़ेगा कि यद्यपि वास्तविक जगत् की व्याघातक्ता अकल्पनीय हो सकती है तथापि शायद वह सत्य हो। बाध्यता के स्रोत के बारे मे हमारा अपना मत उसे माना जा सकता है जो "साधारण आदमी" का है। हम व्याघात के नियम को मानते है और हमे मानना ही होगा, क्योंकि "प्रकृति ने ही उसका कथन कर दिया है।" यदि हम यह मानते है कि कोई चीज एक ही साथ एक गुण रखनेवाली और उसे न रखनेवाली नही हो सकती, तो इसका कारण यह है कि हम ऐसा देखते है। व्याघात का नियम एक तार्किक आवश्यकता का कथन है और साथ ही एक सत्ताविषयक सत्य का कथन भी है।[1]

ई० : *यह सच है कि जब तक "नही" का हम वह अर्थ समझते है जो इस समय है, तब तक "अ और अ-नही दोनो नही" का कोई विकल्प नही है। जो मैंने पहले कहा था वह आपको याद होगा : यह वास्तविक जगत् है अथवा उसका वह हिस्सा है जिसकी आप छान-बीन करना चाहते है। यह उसकी वह चीज है जिसके बारे में आप बात करना चाहते है; आप इसे "अ" कहते है। अब हम "अ-नही" का प्रयोग उस सारे क्षेत्र के लिए करते है जो अ मे शामिल नही है। इस प्रकार जब आप "कोई चीज अ और अ-नही, दोनो नही हो सकती" कहते हैं, तब यह निश्चय ही सत्य है, और जब तक आप "नही" शब्द*

१. ब्रैंड ब्लैनशर्ड, रीजन ऐंड अनैलिसिस पृ० २७९।

के अर्थ से संबंधित उस रूढ़ि को नही छोड़ते तब तक निश्चय ही कोई विकल्प नही है। परंतु वैकल्पिक रूढ़ियां भी संभव थीं, हालांकि शायद इतनी उपयोगी जितनी यह है कोई न हुई होती, क्योंकि "यह एक बिल्ली है" और "वह और वह और वह बिल्लियां नहीं हैं" कह पाना वास्तव में बहुत ही उपयोगी है : इससे आप यह कह सकते है कि यह चीज अ नहीं है, भले ही आप निश्चित रूप से यह न जानते हों कि वह है क्या।

त० : निश्चय ही यह उपयोगी है— परंतु आप उल्टी बात कह रहे है; उपयोगी वह इसलिए है कि वह सत्य है। यह सत्य है कि कोई चीज अ और अ-नही दोनों नहीं हो सकती। और चूंकि यह सत्य है तथा हम वास्तविक दुनिया की सही तस्वीर चाहते है, इसलिए हमें यह नहीं कहना चाहिए कि एक चीज अ और अ-नहीं दोनों है। फलतः यह उपयोगी इसलिए है कि हम सचाई को पाने और गलती से बचने में दिलचस्पी रखते है।

इ० : उल्टी बात आप कर रहे है। अव्याघात का नियम सच इसलिए है कि हम "नही" शब्द के प्रयोग को नियंत्रित करनेवाली एक रूढ़ि का अनुसरण कर रहे हैं। इस नियम का निषेध करना "नही" शब्द से संबंधित इस रूढि के अपने अज्ञान को प्रदर्शित करना है। जब आप "नही" का अर्थ समझ लेते है, तब आप समझ जाते है कि क्यो कोई चीज अ और अ-नही दोनों नही हो सकती। यदि कोई कहता है, "मैंने एक मेज देखी जो मेज नही थी," और वह मजाक भी नही कर रहा है, तो मैं कहूँगा कि उसे यह मालूम नहीं है कि हमारी भाषा मे "नही" शब्द का प्रयोग कैसे किया जाता है : "अ-नही" का प्रयोग अ के अतर्गत पहले से ही शामिल चीजों को छोड़कर सब के लिए किया जाता है।

त० : आप उक्त भाषाई रूढि को आधारभूत चीज बनाने की कोशिश कर रहे है : मैं यह कहता हूँ कि इस रूढि का उपयोग उसके वास्तविक जगत् के तथ्यों का अनुसरण करने से है। आप कहते हैं कि सत्यता रूढि का परिणाम है; मैं कहता हूँ कि रूढ़ि सत्यता का परिणाम है। यदि आपके कोई शाब्दिक रूढियां स्थापित करने से पहले ही तर्कशास्त्र के नियम सत्य न होते, तो आप कोई रूढियां स्थापित न कर सके होते। यदि एक रूढ़ि साथ ही अ-रूढि भी हो सकती, तो यह कहने का मतलब हा क्या होता कि वह एक रूढि है? क्या आप नही समझ रहे हैं कि अव्याघात के नियम की सत्यता

कुछ भी कहने की कोशिश ही करने मे—चाहे वह रूढियो के बारे मे हो या किसी भी अन्य चीज के बारे मे हो—आधारभूत हेतु के रूप मे पहले से ही शामिल है ? वास्तविकता ये प्राथमिक नियम निर्धारित कर देती है : "अ अ है" तथा "कोई भी चीज अ और अ-नही दोनो नही है"। यदि हम इनका अनुसरण नही करते, तो हमारी बातचीत निरर्थक हो जाती है।

इ० : जब तक हम इस तरह की भाषाई रूढियो को नही समझते, जैसे "नही" शब्द के प्रयोग को निर्धारित करनेवाली वह रूढि जिसकी मैं अभी चर्चा कर रहा था, तब तक हम इन नियमो को अभिव्यक्त तक नही कर सकते।

त० . यह सत्य है कि उन्हे हम व्यक्त न कर सके होते, क्योकि उन्हे व्यक्त करने का मतलब है शब्दो का प्रयोग करना। परतु व्यक्त न किए जाने पर भी वे सत्य होते। यह तब भी सत्य होता कि यह मेज और मेज-नही दोनो नही है, जब हमारे पास भाषा ही न होती और "नही" शब्द न होता। जो रूढियाँ हम स्वीकार करते है उनमे पहले से ही इन प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता मान ली गई होती है ; और यदि वे सत्य न होती तो न आप और न कोई और किन्ही भी रूढियो का अनुसरण कर सका होता (क्योकि तब वे साथ ही अ-रूढियाँ भी हुई होती)। यदि अव्याघात का नियम एक रूढि है, तो, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, क्यो नही एक इससे भिन्न रूढि मान ली जाती ? बात यह है कि हम ऐसा कर ही नही सकते : कोई विकल्प है ही नही।

इ० : यदि आपने "नही" शब्द को कोई अर्थ (जो मैंने पहले दिया था) दे दिया है तो निस्सदेह कोई विकल्प नही है। "अ और अ-नही दोनो नही" सत्य है और अनिवार्यत. सत्य है, पर केवल तब जब आप "नही" के बारे मे इस रूढि को मान लें (अ-नही मे अ के अतर्गत जो है उसे छोडकर सब कुछ का समावेश होता है)। उस रूढि की दृष्टि से "अ और अ नही दोनो नही" अनिवार्यत सत्य है : इससे इन्कार करना उस रूढि को तोडना होगा जिसे हमने "नही" के बारे मे चलाया था।

त० : "तोडना" का अर्थ है "असगत बात करना" और असगतियो को निषिद्ध घोषित करनेवाला स्वय अव्याघात का नियम ही है : यह हमे बताता

है कि यदि हम "यह अ और अ नही दोनो है" कहे तो यह वदतोव्याघात होगा। यह नियम सत्य इस रूढि से भी पहले है।

इ० : नही, यह नियम केवल तभी सत्य है जब यह रूढि पहले से मान ली गई हो। आइए, हम बिलकुल नई शुरुआत करे। हम एक भाषा का निर्माण करें। प्रत्येक परिस्थिति के लिए एक शब्द होगा, और उस परिस्थिति के अभाव के लिए उस शब्द का निषेधक शब्द होगा। किसी परिस्थिति को एक नाम, अ, दीजिए, दूसरी परिस्थिति को एक और नाम, ब, दीजिए, और इसी तरह आगे भी चलते रहिए। बस इतनी सावधानी रखिए कि ये नाम अलग हो, ताकि हम जान लें कि किस नाम से किस परिस्थिति का बोध होता है। और चूंकि हमे परिस्थितियो की उपस्थिति के साथ-साथ उनकी अनुपस्थिति के लिए भी एक नाम चाहिए, इसलिए प्रत्येक परिस्थिति की अनुपस्थिति के लिए हम "न-अ," "न-ब" इत्यादि का प्रयोग करेंगे। ये हमारे भाषारूपी खेल के आधारभूत नियम है। यदि कोई कहे कि "यह चीज अ और न-अ दोनो है" तो उससे हम यह कहेगे कि उसने इस खेल के नियमो का उल्लघन किया है, क्योकि हमने "न-अ" का प्रयोग उसी परिस्थिति की अनुपस्थिति के लिए रखा है जिसकी उपस्थिति के लिए "अ" का प्रयोग रखा है। अब क्या आपने देख लिया है कि यह भाषारूपी खेल मे कितनी सीधी-सादी बात है ?

न० मैं इसे एक ऐसी बात कहूँगा जिसके बिना चारा नही है। हमे इन नियमो को अपनाना ही पडता है, क्योकि "अ अ है" और "अ तथा अ-नही दोनो नही" इनके अपनाए जाने से पहले ही सत्य है।

इ० नही, हमे इन नियमो की जरूरत नही है। "नही" के बारे मे जो नियम है उसका तब तक उपयोग है जब तक हम परिस्थितियो की उपस्थिति के साथ साथ उनकी अनुपस्थिति के बारे मे भी बताना चाहते है। यदि हमारे पास अ के लिए भी वही शब्द होता जो ब के लिए है या अ और अ की अनुपस्थिति के लिए एक ही शब्द होता, तो वार्तालाप असभव हो गया होता, क्योकि जब हम "अ" शब्द का प्रयोग करते होते तब कोई न जानता कि हमारी बातचीत का विषय क्या है अ है या कोई और चीज, ब, है, या अ का अभाव है (अ-नही), इत्यादि ? एक मिलता-जुलता उदाहरण लीजिए : जब आप सामानघर मे सामान जमा करके उसकी पर्ची लेते है तब आपको

पर्ची पर एक संख्या रहती है और वही संख्या आपके सामान (सूटकेस इत्यादि) पर भी लिख दी जाती है। आपके बाद जो सामान जमा कराता है उसकी पर्ची पर अगली संख्या होगी, पर होगी वह वही जो उसके सूटकेस पर है। इसी प्रकार अन्य लोगो की पर्चियों पर भी संख्याएँ होगी। यह पद्धति अधिक उपयोगी है, क्योंकि इससे किसी भी गडवडी के बिना हम सब अपना-अपना सामान पहचानकर वापस ले सकते है। इससे भिन्न पद्धति भी हो सकती है : हरेक की पर्ची पर सख्या एक ही हो सकती है। परतु तब पर्चियों का कोई फायदा नही होगा, क्योंकि उनका उपयोग यह है कि हर आदमी बिना गड़वड़ी के अपना सामान पहचान सके और उसे वापस ले सके। तर्कशास्त्र के नियमों पर भी यही बात लागू होती है। वे वार्तालाप को उपयोगी बनाने के लिए आवश्यक शर्तें है।

त० : वे वार्तालाप की आवश्यक शर्तें है, क्योकि उनकी सत्यता हमारे प्रत्येक कथन मे पहले से मान ली गई होती है। फिर भी, हमारी भाषाई रूढियो का मूल वास्तविक तथ्य है।

इं० : मै फिर वही कहता हूं। यदि आपका मतलव वही है जो "नही" का हम इस समय समझते हैं तो अव्याघात के नियम का कोई विकल्प नहीं है। यह कहने से कि "अ-नही" उस पूरे क्षेत्र को अपने मे समेट लेगा जो "अ" के क्षेत्र से बाहर है, हमारा प्रयोजन सभी विकल्पों को हटा देने का है। परंतु यही तथ्य इस बात को भी साफ कर देता है कि यह नियम जो कुछ कहता है उससे वास्तविक जगत् के बारे मे कोई तथ्य व्यक्त नही किया जा रहा है। है न ? वह आपको इस बारे मे कुछ नही बताता कि वास्तविक जगत् कैसा है या उसमे क्या होता है। वह आपको नही बताता कि "वास्तविकता इस तरह की है," क्योकि कोई दूसरी तरह बताई ही नहीं जा सकती। क्यों नही ? आप कैसे जानते हैं ? क्या यह बात है कि आप ठीक-ठीक जानते तो हैं कि कौन-सी अन्य तरह अभिप्रेत है, परंतु जानते यह भी हैं कि वह तरह कभी होगी ही नही ? नही। वह अन्य तरह आपको नही बताई गई है। और यदि आपको बताई गई होती तो आपका इस बारे मे आश्वस्त होना कैसे संभव होता कि वह कभी नही होगी ? परंतु यदि यह नियम आपको नहीं बताता कि वास्तविकता किस तरह की है (अन्य संभव तरहों में से), तो आपको यह कैसे सिखाया जाएगा कि "अ अ है" या "अ

तथा अ-नही दोनों नही" से क्या मतलब है ? जो शब्द या वाक्य किसी वस्तुस्थिति को प्रकट करता है उसका अर्थ सिखाना यह बताने से भिन्न क्या होगा कि उसका कब प्रयोग करना है और कब नही ? उदाहरणार्थ, हम "बर्फ" शब्द का कुछ परिस्थितियो में प्रयोग करते है, न कि सभी परिस्थितियो में। हमें सदैव किसी वाक्य का अर्थ उन उदाहरणो को दिखाकर जिनमे वह सत्य होता है ("यह बर्फ है") तथा उन उदाहरणो को दिखाकर जिनमे वह सत्य नही होता, सिखाया जाता है। "यह बर्फ है" का अर्थ आपको इस तरह नही सिखाया जा सकता कि आपको यह बता दिया जाए कि वह कब सत्य नहीं होता, पर यह कभी न बताया जाए कि वह कब सत्य होता है; और इसी प्रकार आपको किसी वाक्य का अर्थ इस तरह नही सिखाया जा सकता कि आपको केवल यह दिखा दिया जाए कि वह कब सत्य होता है, यानी कब वास्तविक जगत् पर लागू होता है, पर यह कभी न दिखाया जाए कि वह कब असत्य होता है, यानी लागू नही होता। अब मुझे पक्का यकीन है कि आप कहेगे कि "अ अ है" तथा "अ और अ-नही दोनो नही" कभी असत्य नही हो सकते। तो फिर आप कैसे कह सकते हैं कि ये वास्तविक जगत् के किसी तथ्य की ओर इशारा करते है ? "यह बर्फ है" अवश्य ही वास्तविक जगत् के एक तथ्य की ओर इशारा करता है, क्योकि मैं जानता हूँ कि वास्तविक जगत् के संबंध मे कब इस वाक्य का प्रयोग करना चाहिए और कब नही करना चाहिए। परंतु आप मुझे यह नहीं दिखा सकते कि "अ अ है" वास्तविक जगत् के किस तथ्य की ओर इशारा करता है, क्योकि इसके असत्य होने का कोई उदाहरण संभव नही है—कोई ऐसा प्रसग नही सोचा जा सकता जिसमे यह लागू न होता हो। परंतु यदि मैं जानता हूँ कि एक वाक्य का कब प्रयोग करना है तो मुझे यह भी जानना चाहिए कि कब उसका प्रयोग नही करना है। और इस वाक्य का मुझे कब प्रयोग नही करना है ?

त० : सदैव करना है। यह अनिवार्य रूप से सदैव हर चीज पर लागू होता है। इसी बात मे यह भिन्न है।

इं० : परंतु चूँकि आप नही बता सकते कि "अ अ है" के असत्य होने का उदाहरण क्या होगा, इसलिए आपने कोई परिस्थितियाँ ऐसी नही बताई हैं जिनमे मैं "अ और अ-नही" का प्रयोग कर सकूँ, और इसलिए यह निरर्थक है।

यह एक विचित्र प्रतिज्ञप्ति है जिसका निषेध असत्य नही बल्कि निरर्थक है। क्या यह एक प्रतिज्ञप्ति है भी ?

त० : प्रतिज्ञप्ति अवश्य है, पर एक भिन्न प्रकार की है। मैं मानता हूँ कि यदि आप स्वतोव्याघाती कथनो को निरर्थक कहते हों तो "यह एक अ है और एक अ नही है" निरर्थक है। परंतु इससे मेरे मत की पुष्टि ही होती है। यह निरर्थक इसलिए है कि "अ अ है" का कोई विकल्प नही है। आपातिक प्रतिज्ञप्तियों का कोई विकल्प होता है : यद्यपि सफेद कौए वास्तव मे है नही, तथापि उनका होना सभव है और शायद वे हो भी; परंतु "अ अ है"-जैसी अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियों मे यह बात नही होती। आपका विश्लेषण केवल आपातिक प्रतिज्ञप्तियों पर ही लागू होता है; जिन प्रसंगों मे वे लागू होती है उनका हम कम-से-कम विचार मे उन प्रसंगों से अंतर कर सकते हैं जिनमें वे लागू नही होती। परंतु तर्कशास्त्र के नियम एक और ही प्रकार की चीजें हैं : वे सत्य हैं और अनिवार्यतः सत्य है क्योकि वे अनिवार्यतः हर चीज पर लागू होते हैं ; इसलिए उनका कोई सगतिपूर्ण निषेध नही होता—ऐसा विकल्प नही होता जिसे संगति बनाए रखते हुए सोचा जा सके।

इं० : और मेरा मत यह है कि किसी विकल्प के न होने का कारण है "नही" के बारे में हमारे द्वारा एक ऐसी रूढि का रचा जाना जो अपनी रचना से ही ऐसे प्रत्येक विकल्प का बहिष्कार कर देती है। रूढियों के वैकल्पिक तंत्र होते हैं, परंतु जब आपके पास एक ऐसी रूढि हो जैसी निषेधक पद के प्रयोग के बारे मे हमारी रूढ़ि है, केवल तभी "अ और अ-नही दोनों नही" का कोई विकल्प नही होगा। यह प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य रूप से सत्य केवल इसलिए है कि हम पहले ही एक रूढ़ि को अपना चुके है।

त० : आपका मतलब है कि वास्तविक जगत् के एक पहले से वर्तमान तथ्य के कारण।

इं० : नही, मेरा मतलब यह नही है। परंतु लगता है कि यहां गत्यवरोध आ गया है। अब मैं एक और तर्क प्रस्तुत करता हूँ। हम यहां तक केवल अरस्तू के द्वारा सूत्रबद्ध किए हुए विचार के तीन नियमों की ही बात करते रहे। परंतु उपपत्तियो मे पहुँचने के लिए ये नियम पर्याप्त नही हैं। हमे अन्यों की भी जरूरत होती है ; और इनमें कुछ नियम ऐसे होने चाहिए जिनकी सहायता से हम सुरक्षापूर्वक एक सत्य प्रतिज्ञप्ति (या सत्य प्रतिज्ञप्तियों के एक

समुच्चय) से एक और सत्य प्रतिज्ञप्ति मे पहुँच सकें—अर्थात् वैध अनुमान निकाल सकें। "सुरक्षापूर्वक" से हमारा मतलब है एक असत्य प्रतिज्ञप्ति के अनुमान के रूप मे निकाले जाने की तार्किक सभावना के बिना। ऐसे कुछ नियम ये हैं :

"प और फ" से हम "प" का अनुमान कर सकते हैं।
"यदि प तो फ" और "प" से हम "फ" का अनुमान कर सकते हैं।
"यदि प तो फ" और "यदि फ तो ब" से हम "यदि प तो ब" का अनुमान कर सकते हैं।

अनुमान के नियमो के बिना हम उपपत्ति की ओर एक कदम भी आगे नही बढ सकते। *ये नियम न सत्य हैं और न असत्य . ये किसी प्रक्रिया को* करने के लिए सिफारिशो या सुझावो की तरह अधिक हैं। ऐसे नियम व्यावहारिक उपाय होते है जिनका उचित होना या न होना इस बात पर निर्भर होता है कि *वे कुछ प्रयोजनो की पूर्ति मे सहायक हैं या नही।* वे *उपयोगी या* अनुपयोगी, सहायक या असहायक, सरल या जटिल हो सकते हैं, परतु वे न सत्य होते हैं और न असत्य। तर्कशास्त्र के नियम इसके अपवाद नही हैं। उनका औचित्य उनके उपयोगी होने से है और उनकी उपयोगिता यह है कि वे सत्य प्रतिज्ञप्तियो (आधारिकाओ) से अन्य ऐसी सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ (निष्कर्ष) प्राप्त करने मे हमारी सहायता करते हैं जिनकी सत्यता की और अधिक जाँच-पडताल की जरूरत नही होती, क्योकि नियम बनाए ही उनकी सत्यता को पक्का करने के लिए गये है।

परतु तर्कशास्त्र मे यह एक साधारण बात है कि हमे इस बात मे चुनाव की काफी अधिक छूट रहती है कि उसके सिद्धातो मे से किन्हे हम अनुमान के नियम बनाना चाहते हैं। हमारे चुनाव से तर्कशास्त्र मे कोई अतर नही आता। दूसरे शब्दो मे, तर्कशास्त्र के किसी भी सिद्धात को, यहाँ तक कि विचार के जो हमारे सिद्धात हैं उनमे से किसी को भी, अनुमान का एक नियम बनाया जा सकता है। इस प्रकार यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि उक्त तीन नियमो मे से किसी भी एक को अनुमान के निम्नलिखित नियम के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है "'प' से हम 'प' का अनुमान कर सकते हैं।" हमारे अनुमान के नियम हमे कुछ सत्य प्रतिज्ञप्तियो से कुछ अन्य सत्य प्रतिज्ञप्तियो मे ले जाने के लिए आवश्यक होते है, और इसके लिए उनकी सामर्थ्य की—अर्थात्

उनकी वैधता की, निश्चायक रूप से जांच की जा सकती है। यदि इस रूप में वे वैध है तो उन्हे स्वीकार किया जाता है; यदि नही तो तर्कशास्त्र से उन्हे बाहर कर दिया जाता है। इसका आधार यह होता है कि उनकी मदद से हम अनुमान करने मे समर्थ हो सकें। और यदि इसका मतलब अतत. "हमे समझ मे आ सकनेवाली बातें करने मे समर्थ बनाना" हो तो यह भी एक ऐसा उद्देश्य है जिसपर हमारी अनुमान-प्रक्रिया का तथा वह जिन नियमो का अनुसरण करती है उनका औचित्य आधारित है। संक्षेप मे, औचित्य का अतिम आधार व्यावहारिक है।

त० : यदि आप सत्य की प्राप्ति के प्रयत्न को "व्यावहारिक" कहते हो, तो मैं मानता हूँ कि उद्देश्य व्यावहारिक है। (जब हम किसी प्रक्रिया को या औचित्य को व्यावहारिक कहते हैं तब अर्थ प्राय: यह नही होता।) अनुमान के नियमो की इस प्रकार रचना करना कि हम सत्य प्रतिज्ञप्तियो से अन्य सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ प्राप्त कर सकें, निश्चय ही सत्यता की प्राप्ति के लिए होना है। है न ? और सत्यता को मैं आधारभूत चीज मानता हूँ। उपयोगिता सत्यता का एक परिणाम मात्र है। मेरा मत यह है कि तर्कशास्त्र के सिद्धात बहुत ही सामान्य सत्य होते है। जैसा कि आप कहते हैं, उन्हे भी अनुमान के नियमो के रूप मे रखा जा सकता है, और ऐसे नियमो के रूप मे वे सत्य या असत्य नही है बल्कि उपयोगी है—इस तरह कि वे सत्य प्रतिज्ञप्तियो से अन्य सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ प्राप्त करने मे सहायक होते हैं। परंतु यद्यपि उन्हे अनुमान के नियमो के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है, तथापि मैं आपको याद दिलाना चाहूँगा कि कोई भी अनुमान का नियम कुछ सामान्य सत्यो को पहले से मानकर चलता है जिन्हे अरस्तू ने "विचार के नियम" कहा था। अ अ है—उदाहरणार्थ, एक अनुमान-नियम एक अनुमान-नियम है न कि कुछ और। अ और अ-नही दोनो नही—उदाहरणार्थ, एक प्रतिज्ञप्ति सत्य और अ-सत्य दोनो नही हो सकती। यदि ये सामान्य सिद्धात सही न हो तो हम अनुमान के नियमों की, असल मे किसी भी चीज की, बात ही नही कर सकते। वास्तविक जगत् के तथ्य फिर भी भाषाई रूढियो के आधार होते हैं।

अध्याय ४

इंद्रियानुभविक ज्ञान

१२ नियम, सिद्धांत और व्याख्या

इंद्रियानुभव से हम भौतिक जगत् के बारे में बहुत-सी बातें सीखते हैं—हम असंख्य भौतिक वस्तुएँ, प्रक्रियाएँ तथा घटनाएँ देखते है और प्रकृति की इन चीजों के साथ स्वयं अपने शरीरों की क्रिया-प्रतिक्रिया भी देखते हैं। परंतु यदि हमारा ज्ञान यही पर समाप्त हो जाय तो दुनिया के साथ सफलतापूर्वक व्यवहार करने का हमारे पास कोई साधन नही होगा। विज्ञानो से जिस प्रकार का ज्ञान हम प्राप्त करते हैं वह केवल तब शुरू होता है जब हम घटनाओं के क्रम में नियमितताएँ देखते हैं। प्रकृति में अनेक घटनाएं और प्रक्रियाएँ बार-बार एक ही तरह से होती है। लोहा जंग खा जाता है, पर सोना नही। मुर्गियाँ अंडे देती है, पर कुत्ते नहीं देते। बिजली के चमकने के बाद गर्जन होता है। बिल्लियाँ चूहों को पकड़ती हैं, पर गाएँ नही पकड़ती। (बिल्ली या गाय तक की बात करने का मतलब यह है कि हम कुछ नियमितताओं को देख चुके हैं—यानी यह कि कुछ विशेषताएँ नियमित रूप से बार-बार आती है या एक साथ चलती है।) प्रकृति के अपने दैनिक अनुभव में हम निरंतर जो विविधता देखते हैं उसमें हम नियमितताएँ ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं: अनुभव के प्रवाह के मध्य हम व्यवस्था की क्षीण-सी रेखा की तलाश करते हैं।

यदि जितनी रुचि हमारी नियमितताओं में है उतनी अपने अनुभव में अनियमितताओं को खोजने में होती, तो काम कही आसान हुआ होता। कुछ पत्थर सख्त होते है और कुछ मुलायम। कुछ भारी होते हैं और कुछ हल्के। कुछ बारिशें फायदेमंद होती हैं और कुछ बर्बाद करनेवाली। कुछ लोग लंबे कद के होते हैं और कुछ ठिगने। यदि सभी अनुभव ऐसे होते तो हम न जान पाते कि आगे क्या होनेवाला है: प्रत्येक नई परिस्थिति हमारे सामने इस रूप में आती जैसे कि मानो भूतकाल में कोई परिस्थितियाँ आई ही न हों, और वर्षों के अनुभव से भी हमें इस बात का संकेत न मिलता कि भविष्य में घटनेवाली घटनाओं का क्या रूप होगा। परंतु प्रकृति इस तरह की नहीं है। प्रकृति

मे अवश्य ही नियमितताएँ है, हालांकि कभी-कभी उन्हे खोजना कठिन होता है।

हम इन नियमितताओ की खोज में क्यों दिलचस्पी रखते है ? सामान्यत: इसलिए नही कि हम उनका चिंतन चिंतन-मात्र के लिए करने मे आनंद प्राप्त करते हैं, बल्कि इसलिए कि हम भविष्यवाणी मे रुचि रखते हैं। यदि इस बात पर हम भरोसा कर सकें कि जब धूल चक्कर खाती हुई ऊपर आकाश की ओर उठती दिखाई देती है तब बवंडर आनेवाला होता है, तो उसके दिखाई देने पर हम बवंडर के आने से पहले ही कही शरण लेकर अपना बचाव कर सकते है। यदि जुकाम से पीडित लोगो के निकट रहनेवाले स्वयं जुकाम से ग्रस्त हो जाते हैं तो हम मुन्नू को कुछ समय के लिए चुन्नू से, जिसे कि जुकाम है, अलग रखकर जुकाम लगने से बचा सकते हैं। हमे भविष्यवाणी करने के लिए कोई आधार चाहिए ताकि घटनाओ की जो श्रृंखला प्रकृति हमारे सामने भविष्य मे प्रस्तुत करने जा रही है वह अचानक आकर हमे चक्कर में न डाल दे। और प्रायः होता यह है कि जब हम भविष्यवाणी करने मे समर्थ होते है तब हम घटनाओ के क्रम पर नियन्त्रण भी कर सकते हैं। यदि हम पहले एक विश्वसनीय भविष्यवाणी कर सकें तो हम नियन्त्रण करने के लिए कम-से-कम एक अच्छी स्थिति तो प्राप्त कर ही लेते हैं। हम ग्रहणो की पक्की भविष्यवाणी कर सकते हैं, परंतु हम उनके होने को नही रोक सकते। लेकिन अनेक प्रसंगो मे हम भविष्यवाणी के फलस्वरूप घटनाओं पर नियंत्रण कर सकते है : यदि हमे पहले से पक्का पता हो जाए कि भारी वर्षा के बाद नदी मे बाढ आ जाएगी तो हम बाढ के रास्ते से हटकर बच सकते हैं, या (यदि बार-बार बाढ़ आती हो तो) हम बाँध का निर्माण कर सकते हैं।

जितनी नियमितताएं हम पाते हैं उनमे से अधिकतर के हम अनेक अपवाद देखते हैं : वे बिल्कुल अटल हो, ऐसी बात नही है। बच्चे जब अन्य ऐसे बच्चों के साथ खेलते हैं जिन्हें पहले से जुकाम हो तब उन्हे भी जुकाम हो जाने की एक नियमितता है, परतु यह बात नही है कि सदैव ऐसा होता हो। मुर्गियां अंडे देती हैं, सार्डीन मछलियो के डिब्बे यद्यपि नही, परंतु यह बिल्कुल ही अनिश्चित होता है कि कितने अंडे देती हैं और कितने समय के अतर से। जोर की आंधी चलने पर पेड़ो के गिरने की संभावना रहती है, परतु ऐसा हमेशा होता नही है : कुछ गिर जाते हैं और कुछ नहीं गिरते। यह कहा जा सकता

है कि वैज्ञानिकों का काम प्रकृति में उसे खोजना है जो सचमुच अपरिवर्तनशील है, जो निरपवाद रूप से नियमित है, ताकि यह कहा जा सके कि "जब भी अमुक-अमुक स्थितियाँ पैदा होती हैं तब सदैव अमुक प्रकार की चीज होती है।" अनेक बार हम समझते हैं कि हमें एक सचमुच का अटल संबंध मिल गया है, पर वह अटल होता नहीं है। शायद हमें इस बात का पक्का यकीन हो गया हो कि पानी २१२° फा० पर खौलता है, क्योंकि हमने कई बार उसे खौलाकर देखा है और सदैव ऐसा पाया है। परंतु यदि हम पहाड़ की चोटी पर ऐसा करके देखें तो हम पाते हैं कि वहाँ इससे थोड़े कम तापांश पर ही पानी खौलने लगता है, जिससे हमारा यह यकीन डिग जाता है कि हमें एक अटल संबंध मिल गया है। फिर भी, हम कुछ और कोशिश करते हैं और देखते हैं कि पानी के खौलने का तापांश न हवा की नमी पर निर्भर होता है, न दिन के समय पर और न किसी अन्य चीज पर, बल्कि आसपास की हवा के दबाव पर निर्भर होता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि "समुद्रतलीय दबाव पर पानी २१२° फा० पर खौलता है।" आखिरकार यहाँ हमें एक असली अटल संबंध मिल ही गया; और देखिए, यह प्रकृति का एक नियम है जो हमें मिल गया।

विधायी बनाम वर्णनात्मक नियम— "नियम" शब्द द्व्यर्थक है और यदि हम सावधान न रहें तो यह द्व्यर्थकता बहुत ही भ्रामक सिद्ध हो सकती है।

१. दैनिक जीवन में बहुधा "नियम बनाना", "नियम इस बात का निषेध करता है कि……" इत्यादि संदर्भों में "नियम" शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस अर्थ में नियम विधायी होता है। किसी राजा या विधान-परिषद् द्वारा बनाया हुआ कानून इस अर्थ में ही नियम होता है और राज्य पुलिस, न्यायालयों इत्यादि के द्वारा उसका पालन करवाता है। इस अर्थ में नियम प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं होते, क्योंकि वे असत्य नहीं हो सकते (पर यह बात कि कुछ नियम बनाए गये हैं, सत्य या असत्य है)। वे आदेश-जैसे होते हैं जो कहते हैं "यह करो," 'वह मत करो।" वे यह नहीं कहते कि बात ऐसी है, बल्कि आज्ञा देते हैं जिसका पालन न करने के लिए प्रायः दंड दिया जाता है। परंतु प्रकृति के नियमों की बात करने में "नियम" का यह अर्थ नहीं होता।

२. प्रकृति के नियम वर्णनात्मक होते हैं : वे इस बात का वर्णन करते हैं कि प्रकृति किस तरह काम करती है : वे कुछ करने का आदेश नहीं देते :

केप्लर के ग्रहो की गतियो से सबधित नियम ग्रहो को यह आदेश नही देते कि वे अमुक-अमुक कक्षाओ मे परिक्रमा करें और यदि नही करेंगे तो उन्हे ऐसा-ऐसा दड मिलेगा। केप्लर के नियम तो यह बताते हैं कि ग्रह वस्तुतः कैसे घूमते हैं। इस अर्थ मे नियम विश्व मे अस्तित्व रखनेवाली कुछ एकरूपताओ को बताते हैं। कभी-कभी बात को सरल करने के लिए वे केवल यह बताते हैं कि किन्ही आदर्श स्थितियो मे क्या घटित होगा। गैलीलियो का पतत पिंडो का नियम केवल उन वेगो को बताता है जिनसे पिंड शून्य (निर्वात) मे गिरते है। परतु ऐसा नियम फिर भी वर्णनात्मक ही होता है : वह हमारे विश्व का (किसी ऐसे विश्व का नही जो तर्कत: संभव हो) वर्णन करता है, और आदेश कोई नही देता। केवल चेतन प्राणी ही आदेश दे सकते हैं। केवल उनमे ही ऐसी योग्यता होती है। परतु प्रकृति मे एकरूपताएँ तब भी होती जब उनका वर्णन करनेवाले मनुष्यो का अस्तित्व न हुआ होता।

यदि हम इस अतर को मन मे रखें तो अनेक भ्रातियो से बचा जा सकता है। (१) "नियमो का पालन होना चाहिए"। देश के सभी नियमो (कानूनो) का आपको पालन करना चाहिए या नही, यह नीतिशास्त्र की एक समस्या है। परतु प्रकृति का नियम ऐसी चीज नही है जिसका आप पालन कर सकें या न कर सकें, क्योकि वह किसी का दिया हुआ आदेश नही है। यदि कोई आपसे कहे कि "गुरुत्वाकर्षण के नियम का पालन करो" तो आप क्या कर सकते हैं ? आपकी गतियाँ तथा साथ ही पत्थरो की और विश्व मे अस्तित्व रखनेवाले भौतिक द्रव्य के प्रत्येक कण की गतियाँ इस नियम के दृष्टात है। परतु चूंकि यह नियम केवल यह बताता है कि भौतिक द्रव्य वस्तुतः कैसे व्यवहार करता है, और यह आदेश नही दे सकता कि चीजो को व्यवहार कैसे करना चाहिए, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि आप उसका पालन करते हैं या नही करते। विधायी नियम तब भी अस्तित्व रखता है जब उसका कोई भी पालन न करे। (२) "जहाँ नियम होगा वहाँ नियम-निर्माता भी होगा"। यह भी स्पष्टत विधायी नियम पर ही लागू होता है : यदि एक व्यवहार नियत किया गया है तो कोई होना चाहिए जिसके आदेश के द्वारा वह नियत किया गया है। परतु यह बात प्रकृति के नियमो पर लागू नही होती। क्या किसीने ग्रहो को उनकी कक्षाओ मे चलाया है ? किसीने

प्रकृति के पूरे घटना-क्रम को नियत किया है, इस विश्वास की चर्चा आगे की जाएगी। अभी यह बता देना काफी है कि "नियम अपने निर्माता की ओर संकेत करता है" विधायी नियम के संदर्भ मे तो एक अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति है, पर वर्णनात्मक नियम के संदर्भ मे ऐसा नही है। (३) "नियम खोजे जाते है बनाए नही जाते।" यह केवल वर्णनात्मक नियमो पर लागू होता है खोज करने से पता चलता है कि प्रकृति कैसे काम करती है, हम नही उससे उस तरह काम कराते। परतु विधायी नियम (कानून) अधिकारयुक्त पदो पर रहनेवाले मनुष्यो के द्वारा योजनानुसार बनाए और पारित किए जाते है। ऐसे नियम केवल मनुष्यो के लिए ही अस्तित्व रखते है, परतु प्रकृति के नियम—अर्थात् प्रकृति की एकरूपताएँ, सदैव अस्तित्व रखती है, उन्हे देखने के लिए मनुष्य चाहे हो या न हो, हालांकि इन एकरूपताओ को वाक्यो के रूप मे रखना मनुष्य का काम है।

प्रकृति के नियम सामान्य इद्रियानुभविक कथनो की तुलना मे प्रतिज्ञप्तियो के एक छोटे वर्ग मे आते है। जिस कथन की सत्यता की जाँच दुनिया के प्रेक्षण से की जाती है वह एक इद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति है। "कुछ मुर्गियाँ अडे देती है", "प्रथम महायुद्ध १९१४ से १९१८ तक चला," "उसे कल निमोनिया हो गया" और "न्यूयार्क नगर मे लगभग अस्सी लाख लोग रहते हैं सब इद्रियानुभविक कथन है। असल मे, दैनिक जीवन मे हम जो कथन करते है वे अधिकतर इद्रियानुभविक कथन होते हैं। पर उनमे से कोई प्रकृति का नियम नही होता प्रकृति के नियम एक विशेष प्रकार के इद्रियानुभविक *कथन होते हैं। चूंकि प्रकृति के नियम इद्रियानुभविक विज्ञानो के*—भौतिकी, रसायन, खगोल, भूविज्ञान, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान समाजशास्त्र, और अर्थ-शास्त्र इत्यादि के—आधार ही होते है, इसलिए प्रकृति के नियमो की मुख्य परिभाषक विशेषताओ के बारे मे बात को स्पष्ट कर देना महत्त्वपूर्ण है।

'प्रकृति का नियम" का अर्थ—तो फिर प्रकृति का नियम क्या है? वे कौन सी शर्ते है जिनके पूरी होने पर एक इद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति उन प्रति-ज्ञप्तियो के विशिष्ट वर्ग का सदस्य बन सकती है जिन्हे हम प्रकृति के नियम कहते हैं?

१. इद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति को सत्य और सर्वव्यापी होना चाहिए। *किसी प्रतिज्ञप्ति को सर्वव्यापी कहने का मतलब यह है कि वह एक निर्दिष्ट*

प्रकृति के पूरे घटना-क्रम को नियत किया है, इस विश्वास की चर्चा आगे की जाएगी। अभी यह बता देना काफी है कि "नियम अपने निर्माता की ओर सकेत करता है" विधायी नियम के संदर्भ में तो एक अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति है, पर वर्णनात्मक नियम के संदर्भ में ऐसा नही है। (३) "नियम खोजे जाते हे, बनाए नहीं जाते।" यह केवल वर्णनात्मक नियमों पर लागू होता है: खोज करने से पता चलता है कि प्रकृति कैसे काम करती है, हम नहीं उससे उस तरह काम कराते। परंतु विधायी नियम (कानून) अधिकारयुक्त पदो पर रहनेवाले मनुष्यों के द्वारा योजनानुसार बनाए और पारित किए जाते हे। ऐसे नियम केवल मनुष्यों के लिए ही अस्तित्व रखते है, परंतु प्रकृति के नियम—अर्थात् प्रकृति की एकरूपताएं, सदैव अस्तित्व रखती हैं, उन्हें देखने के लिए मनुष्य चाहे हों या न हों, हालांकि इन एकरूपताओ को वाक्यों के रूप में रखना मनुष्य का काम है।

प्रकृति के नियम सामान्य इंद्रियानुभविक कथनों की तुलना मे प्रतिज्ञप्तियों के एक छोटे वर्ग में आते है। जिस कथन की सत्यता की जाँच दुनिया के प्रेक्षण से की जाती है वह एक इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति है। "कुछ मुर्गियां अंडे देती हैं", "प्रथम महायुद्ध १९१४ से १९१८ तक चला," "उसे कल निमोनिया हो गया" और "न्यूयार्क नगर में लगभग अस्सी लाख लोग रहते हैं" सब इंद्रियानुभविक कथन है। असल में, दैनिक जीवन मे हम जो कथन करते है वे अधिकतर इंद्रियानुभविक कथन होते है। पर उनमें से कोई प्रकृति का नियम नही होता : प्रकृति के नियम एक विशेष प्रकार के इंद्रियानुभविक कथन होते हे। चूंकि प्रकृति के नियम इंद्रियानुभविक विज्ञानों के—भौतिकी, रसायन, खगोल, भूविज्ञान, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, और अर्थशास्त्र इत्यादि के —आधार ही होते है, इसलिए प्रकृति के नियमों की मुख्य परिभाषक विशेषताओं के बारे मे बात को स्पष्ट कर देना महत्त्वपूर्ण है।

"प्रकृति का नियम" का अर्थ—तो फिर प्रकृति का नियम क्या है? वे कौन-सी शर्तें हे जिनके पूरी होने पर एक इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति उन प्रतिज्ञप्तियो के विशिष्ट वर्ग का सदस्य बन सकती है जिन्हें हम प्रकृति के नियम कहते हैं?

१. इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति को सत्य और सर्वव्यापी होना चाहिए। किसी प्रतिज्ञप्ति को सर्वव्यापी कहने का मतलब यह है कि वह एक निर्दिष्ट

वर्ग के सभी सदस्यों पर निरपवाद रूप से लागू होती है। यह कि आक्सीजन के प्रभाव से सब लोहा जंग खा जाता है, एक सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति है, पर "लोहे का यह टुकड़ा जंग खा जाता है", यहाँ तक कि "कुछ लोहा जंग खा जाता है" भी, सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति नही है।

अ. केवल एक चीज के बारे में जो प्रतिज्ञप्ति होती है—"शैल का यह टुकड़ा कायांतरित है"—वह प्रकृति के किसी नियम के लिए सामग्री प्रस्तुत कर सकती है पर नियम नहीं है। विज्ञान ऐसी एकव्यापी प्रतिज्ञप्तियों से नहीं बनता। इंद्रियानुभविक विज्ञानों में सबसे अधिक विकसित भौतिकी है और उसकी पुस्तकों मे विशेष पिंडों की गतियों का कोई उल्लेख नही होता (केवल उदाहरण के रूप मे कभी-कभी होता है)। रसायन की पुस्तको में भी सीसे के इस टुकड़े या क्लोरीन के उस पात्र के बारे मे कुछ नही बताया जाता। परंतु मनोविज्ञान (मनश्चिकित्सा-शाखा) की पुस्तको मे अवश्य इस तरह के उल्लेख मिलते है, जैसे रोगियों के व्यक्तिगत वृत्तों में। इस क्षेत्र मे अभी तक असली नियम बहुत कम खोजे जा सके है। अतः मनोविज्ञान को मानवीय व्यवहार के नियमों को खोजने में व्यक्ति-वृत्तों की सहायता पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस दृष्टि से मनोविज्ञान अभी बहुत कुछ प्राग्वैज्ञानिक अवस्था में ही है जबकि भौतिकी इस अवस्था से तीन शताब्दी पहले ही निकल चुकी थी। पर भौतिकी को एक लाभ यह प्राप्त है कि उसके नियम अधिक सरल है—इस अर्थ मे नही कि उन्हें समझना आसान है, क्योकि भौतिकी किसी भी अन्य इंद्रियानुभविक विज्ञान की उपेक्षा अधिकतर विद्यार्थियों के लिए अधिक कठिन विषय है बल्कि इस अर्थ में कि भौतिकी के नियम का कथन करने में सबसे कम शर्तें बतानी पड़ती है। वस्तुएँ जिस वेग से गिरती है उसे बताने मे हम अधिकाश जगत् की उपेक्षा कर सकते है: वस्तु के रंग की, उसकी गंध और उसके स्वाद की उपेक्षा की जा सकती है, और इस तरह की हजारों बातों की उपेक्षा की जा सकती है, जैसे आसपास का तापमान क्या है, उसे गिरते हुए कितने लोग देख रहे हैं इत्यादि। इसके विपरीत, मानवीय व्यवहार के वर्णन मे यह कहना मुश्किल है कि अमुक बात आवश्यक नहीं निकलेगी। ऐसा हो सकता है कि एक तुच्छ-सी घटना आपके बचपन में घटी हो, जो न आपको और न किसी और को याद हो, पर जो अब भी आप व्यवहार को प्रभावित कर रही हो और एक निर्दिष्ट उद्दीपन के प्रति आपकी

अनुक्रिया में अंतर पैदा करती हो। मनोविज्ञान में प्रायः अधिक-से-अधिक हम यही कर सकते हैं कि मानवीय व्यवहार की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का कथन कर दें और अनेक अपवादों के लिए गुंजाइश छोड़ दें। मनोविज्ञान में शायद ही कोई नियम हो ; वहाँ नियमों के केवल कामचलाऊ ढाँचे ही होते है। मानवीय व्यवहार के बारे में ऐसे नियम शायद ही कोई पाए गए हों जो सत्य हों और निरपवाद भी हों।

"मानवीय प्रकृति के नियमों" के जो स्पष्ट उदाहरण मन में आते है वे सब जाँच करने पर विश्लेपी निकलते हे। "लोग सदैव प्रबलतम अभिप्रेरक से काम करते है" मानवीय प्रकृति का एक नियम जैसा लगता है : लोग जो भी काम करते है उनमें अत्यधिक विविधता होती हैं; परंतु जो भी वे करते हैं वह क्या वे अपने प्रबलतम अभिप्रेरक के वश में होकर नही करते ? लोग सदैव किसी अभिप्रेरक से ही काम करते हों, ऐसी बात नही है। (वे कभी-कभी आदत से भी काम करते है)। पर यदि इसकी उपेक्षा कर दी जाए तो भी इस बात से परेशानी होती है कि "प्रबलतम अभिप्रेरक" का इससे भिन्न कोई अर्थ नही लगता कि वह वह अभिप्रेरक है जिससे कोई काम करता है। इस प्रकार : आदमी उन अभिप्रेरकों से काम करता है जिनसे वह काम करता है—सत्य है, पर विश्लेपी है। इसी प्रकार, "लोग सदैव वही काम करते हैं जिसे करना वे सबसे अधिक चाहते हैं" या तो संश्लेषी लेकिन असत्य है या सत्य लेकिन विश्लेषी है, जो कि इस बात पर निर्भर करता है कि यह वाक्य किस अर्थ में लिया जा रहा है। एक जाने-पहचाने अर्थ में हम सब वे काम (जैसे कक्षा में आना) करते हैं जिन्हें हम करना नही चाहते। हम प्रायः नीरस काम-काज करते है, हालांकि हम उन्हे बिल्कुल नापसंद करते है। यदि फिर भी कोई कहे कि हम सदव वह करते हैं जो हम करना चाहते हैं तो "चाहना" का किसी असाधारण अर्थ में प्रयोग हो रहा है—और इस अर्थ को ढूंढ़ना वास्तव मे कठिन नही है, क्योंकि हम वस्तुत. क्या करना "चाहते है," यह जानने की एकमात्र कसौटी यह निकलती है कि हम वस्तुतः करते क्या हैं। इस प्रकार यहां भी वात वही "हम वह करते हैं जो करते हे" है, जो कि सत्य तो है पर है विश्लेपी।

तो फिर जो सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति नियम बनती है उसे एक इंद्रियानुभविक सत्य होना चाहिए : उसे विश्लेपी नही होना चाहिए। "सब त्रिभुज तीन

भुजाओ वाले होते है" सत्य है, पर एक विश्लेषी कथन होने से यह प्रकृति का नियम नही है। "सब सोना पीला होता है" भी तब प्रकृति का नियम नही है, जब पीला होने को सोने की एक परिभाषक विशेषता समझा जाता हो, क्योकि उस दशा में सोना कहलाने के लिए उसे पहले पीला होना होगा, और इस प्रकार कथन विश्लेषी होगा। परतु यदि सोने की किसी अन्य तरीके से परिभाषा की जाए (जैसे परमाणु-क्रमाक के आधार पर), तो यह प्रकृति का एक नियम होगा कि इस गुणधर्म वाली प्रत्येक चीज पीली भी होती है। यदि "सब अ ब है" को प्रकृति का एक नियम होना है तो ब का अ से सबध आपातिक होना चाहिए, न कि प्रागनुभविक या अनिवार्य।

ब. किसी वर्ग के कुछ सदस्यो के बारे मे कोई सच्ची बात बतानेवाली प्रतिज्ञप्तियाँ तक प्रायः प्रकृति के नियम नही मानी जाती, हालांकि कभी कभी उन्हे "साख्यिकीय नियम" की सम्मानसूचक पदवी दे दी जाती है। यदि जितने अ है उनमे से ९० प्रतिशत ब है तो दोनो के मध्य काफी अधिक नियमितता है, और इसलिए यह बात बतानेवाला कथन भविष्यवाणी का आधार बन सकता है—इस दृष्टि से बेकार बिल्कुल नही है। परतु हमे पूछना पडेगा कि यदि ९० प्रतिशत अ ब है और शेष १० प्रतिशत नही है, तो ९० प्रतिशत ही ब क्यो है, अन्य क्यो नही है? हम चाहते यह है कि इस साख्यिकीय एकरूपता के मूल मे रहनेवाली एक सार्वभौम प्रकार की कोई एकरूपता पा जाए। जो भी हो, दैनिक जीवन मे हमारे सामने ऐसी नियमितताएँ निरतर आती रहती है जो सार्वभौम नही होती। जुकाम से ग्रस्त लोग प्रायः नाक से सूँ-सूँ करते है, पर सदा नही; यदि एक आदमी दूसरे की नाक पर मुक्का मारे तो उस दूसरे की नाक से खून आने लगता है, पर सदा नही। हमने अभी तक उन निश्चित परिस्थितियो के बारे मे कोई सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति नही रची है जिनमे चोट से लोगो की नाक से खून आने लगता है, हालांकि हम यह काफी अच्छी तरह समझते है कि यह किन बातो पर निर्भर करता है। यहाँ कुछ नियमितता तो है (मुक्का जितने जोर का पडेगा नाक से खून बहने की सभावना उतनी अधिक होगी, इत्यादि), पर दृढ सबध नही है।

२. इन सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्तियो का रूप हेतुफलात्मक होता है। तर्कशास्त्र और विज्ञान, दोनो मे सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्तियो को प्रायः हेतुफलात्मक अर्थ म लिया जाता है—अर्थात् "यदि····तो··" वाले आकार की प्रतिज्ञप्तियों के

रूप मे । इस प्रकार "सव लोहा आक्सीजन के प्रभाव से जग खा जाता है" का यह रूपातर होगा · "यदि कही लोहा है तो आक्सीजन के प्रभाव से वह जग खा जाएगा।" इस रूप मे रखी जाने पर यह प्रतिज्ञप्ति यह नही वताती कि कही कोई लोहा है (अस्तित्व का दावा वह नही करती), वल्कि केवल यह वताती है कि यदि कही है तो कुछ परिस्थितियो मे क्या होगा । "शून्य (निर्वात) मे निर्वाध रूप से गिरते हुए सव पिंडो के वेग मे १६ फुट प्रति सेकड की दर से त्वरण होता है" यह नही वताता कि वास्तव मे शून्य मे कोई पिंड गिर रहे थे या है। "प्रकाश के वेग के ९९.९ प्रतिशत पर जीव उनकी अपेक्षा कही धीमी गति से वृद्ध होते है जो इससे कम वेग से भागते है" एक ऐसी सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति है जिसे वैज्ञानिक सत्य मानते है, पर कोई भी यह नही कहेगा कि इस समय कोई जीव इस वेग से भाग रहा है।

पर नियमो की यह हेतुफलात्मक व्याख्या हमे परेशानी म डाल सकती है। तर्कशास्त्र मे "यदि प सत्य है तो फ सत्य है," यह हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति 'यह वात नही है कि प सत्य हो, पर फ असत्य हो" के तुल्य होती है। उदाहरणार्थ, "यदि घर्पण होता है तो ताप उत्पन्न होता है" (प्रकृति का एक नियम) का अनुवाद होगा "यह वात नही है कि घर्पण होता है, पर ताप उत्पन्न नही होता।" लेकिन 'सव एकश्रृ ग सफेद होते है," इस प्रतिज्ञप्ति को लीजिए। इसका अनुवाद होगा "यह वात नही है कि एक एकश्रृ ग है जो सफेद नही है।" और चूकि एकश्रृ गो का अस्तित्व ही नही है, इसलिए यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है। जो सफेद न हो ऐसे एकश्रृ ग नहीं है और इसका वहुत ही वढिया कारण यह है कि कोई एकश्रृ ग विल्कुल है ही नही। इसी कारण "सव एकश्रृ ग हरे होते है" भी सत्य होगा, क्योकि जो हरे न हो ऐसे एकश्रृ ग नही है। जव प असत्य होता है तव उसका कोई भी फल हो सकता है और इसलिए हम फ के रूप मे जो चाहे सो रख सकते है।

निश्चय ही, "सव एकश्रृ ग सफेद होते है" कदापि प्रकृति का नियम नही माना जाएगा। फिर भी यह एक सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति है जिसे हेतुफलात्मक रूप दिया गया है। ऐसा क्यो है कि एकश्रृ गो के वारे मे इस प्रतिज्ञप्ति को एक नियम नही माना जाता, जवकि घर्पण के वारे म और लगभग प्रकाश के वेग से भागनेवाले जीवो के वारे मे जो प्रतिज्ञप्तियां है उन्हे नियम माना जाता है? उत्तर यह है कि इन नियमो के सत्य होने का प्रमाण अन्य नियमो से प्राप्त

होता है। असल मे प्रकाश के वेग के उत्तरोत्तर निकट पहुँचने के साथ जरण-क्रिया के मद होते जाने के बारे मे जो प्रतिज्ञप्ति है वह उन काल-संबधी नियमों का तार्किक परिणाम है (उनसे निगमित होता है) जो आइन्सटाइन के आपेक्षिकता-सिद्धात से निश्चित होते हैं, जबकि एकशृंगोवाली प्रतिज्ञप्ति किन्ही भी नियमो के साथ नही जुड़ी हुई है।

परतु प्रकृति का नियम बनने के लिए यह विशेषता भी पर्याप्त नही है।

३. अनेक ऐसी सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्तियाँ हैं जो सत्य है और जिनका आकार भी हेतुफलात्मक है, पर जो फिर भी प्रकृति के नियम नही मानी जाती। मान लीजिए कि मैं कहता हूँ, "इस कुत्ताघर मे सब कुत्ते काले हैं" और यह कथन सत्य भी है। पर फिर भी यह प्रकृति का नियम बनने के योग्य नही है। यह दिक् और काल के एक छोटे-से भाग मे ही सीमित है—केवल इस कुत्ताघर मे ही। यदि इसके क्षेत्र का विस्तार भी कर दिया जाए ("अपने कुत्ताघरो में मैंने जितने भी कुत्ते कभी रखे हैं वे सब काले है") तो भी यह सब कुत्तो के, या एक नस्ल के सब कुत्तो तक के, बारे मे कुछ नही बताती। परतु यदि मैं कहूँ कि सब कौए काले होते हैं, तो मतलब सभी कौओ से है—जहाँ भी वे हो और जब भी वे हो या हुए हो या होगे, वे काले हैं, थे और होंगे। (कालापन यहाँ कौओ की परिभाषक विशेषता नही माना जा रहा है, अन्यथा प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी हो जाएगी।) यह नियम "विवृत" है : दिक् और काल मे इसकी पहुँच अनत है। इसका अर्थ यह नही है कि कौओ की सख्या अनत है—और न यह कि कौओ का अस्तित्व है। इसका अर्थ केवल यह है कि कौआ एक विवृत (खुला) वर्ग है और काल तथा दिक् के कोई बधन इस नियम के क्षेत्र को सीमित नही करते। कोई ऐसा समय या स्थान नही है जिसमें यह नियम सत्य न हो : इस प्रतिज्ञप्ति के लागू होने मे काल और स्थान का विचार अनावश्यक है। इसके विपरीत, मेरे कुत्ताघर के कुत्तो के बारे मे जो प्रतिज्ञप्ति है उसके नियम के रूप मे अस्वीकृत होने के कारण ये हैं : (१) यद्यपि आकार मे यह सर्वव्यापी है, तथापि इसकी सर्वव्यापिता एक विशेष स्थान और काल तक ही सीमित है ; (२) जितनी चीजें इस प्रतिज्ञप्ति मे शामिल हैं उनकी सख्या न केवल सीमित है, अपितु उनके सीमित होने का अनुमान स्वयं इस प्रतिज्ञप्ति के पदो से ही हो जाता है ; पर ग्रहो की गतियो से सबधित केप्लर के नियमो मे यह बात नही है : यद्यपि ग्रहो की संख्या सीमित है तथापि

केप्लर के नियम से इसका अनुमान नही होता ; तथा (३) इस प्रतिज्ञप्ति का प्रमाण वह पूरा ही क्षेत्र है जिसमे यह लागू होती है—यह प्रतिज्ञप्ति उसकी जो प्रेक्षण से मालूम हुआ है, एक सकलित सूचना मात्र है ।

चूंकि प्रकृति के नियम सभी स्थानो और सभी कालो मे लागू होते है, इसलिए भविष्य उनकी परिधि मे आ जाता है । नियमो की एक यही विशेषता शायद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसी कारण वे भविष्यवाणी के आधार बनाए जाते है । यदि प्रतिज्ञप्ति केवल इतनी ही बात कहे कि "अब तक सब कौए काले पाए गए" तो कोई कह सकता है, "तो क्या हुआ ?"—इससे हम यह अनुमान नही कर सकते कि भविष्य मे क्या होने जा रहा है । परतु यदि यह कहा जाए कि सब अ, चाहे वे कही हो और कभी हो, ब हैं, तो हम इस और इस प्रतिज्ञप्ति को मिलाकर कि यह एक अ है, यह निगमित कर सकते है कि यह एक ब भी होगा । (इसको लेकर कुछ समस्याएँ खडी होती है जिन पर हम अगले परिच्छेद मे, जो आगमन की समस्या पर है, विचार करेगे) ।

४. परतु हो सकता है कि इन सब शर्तो के पूरी होने पर भी प्रतिज्ञप्ति को प्रकृति के नियमो के वर्ग मे न रखा जाए । "सब कौए काले होते है" काल, स्थान और इसके क्षेत्र मे आनेवाले व्यष्टियो की सख्या की दृष्टि से बधन-मुक्त है । फिर भी, इसे सामान्यत नियम नही माना जाएगा, क्योकि इसके पक्ष मे साक्ष्य केवल प्रत्यक्ष रूप मे ही है, और किसी प्रतिज्ञप्ति को नियम का दर्जा प्राय तब तक प्राप्त नही होता जब तक उसके पक्ष मे परोक्ष रूप मे कोई साक्ष्य न हो । इस बात की कुछ व्याख्या करनी होगी ।

किसी भी विज्ञान के नियम एक-दूसरे से अलग रखकर नही देखे जाते । वे मिलकर नियमो के एक विशाल तत्र का निर्माण करते हैं, जिसमे प्रत्येक नियम दूसरो के साथ अपनी जगह ठीक बैठा होता है और प्रत्येक अन्य के बल को बढाता है । जिन नियमो को छोडने के लिए वैज्ञानिक सबसे अधिक अनिच्छुक होते हैं वे वे होते है जो नियमो के एक तत्र के इस प्रकार आवश्यक अग बन गए होते हैं कि उसमे से एक को छोडने से उस तत्र के अन्य नियमो की एक बडी सख्या को छोडना पडेगा या उनमे फेर-बदल करना पडेगा । इस प्रकार, एक नियम का प्रत्यक्ष रूप से समर्थन करनेवाला प्रेक्षण परोक्षरूप से अन्य नियमो के एक समूह को पुष्ट करता है, क्योकि नियमो का एक तत्र

के अदर परस्पर सबध होता है। (यहां फिर भौतिकी के बारे मे कहना पडेगा कि वह सबसे अधिक तत्रबद्ध विज्ञान है। वर्तमान शताब्दी से पहले जीवविज्ञान बहुत अधिक तत्रबद्ध नही था : तब वह अधिकाश मे एक वर्गीकारी विज्ञान ही था। वह जीवो की विभिन्न जातियो के गुणधर्मो की जानकारी ही इकट्ठी करता था, पर उनके पारस्परिक सबधो का निश्चय नही करता था। वह बहुत-कुछ उस अवस्था मे था जो परमाणु-सिद्धात के उदय से पहले रसायन की थी। सिद्धात के बारे मे अधिक हम बहुत जल्दी बताएंगे।)

"सब कौए मर्त्य हैं" के समर्थन मे परोक्ष रूप से काफी अधिक साक्ष्य है : देहधारियो का सामान्य रूप से मर्त्य होना, ऊतक का जीवरासायनिक ह्रास होना, स्व-ऐलर्जेनिक अनुक्रिया मे वृद्धि होना, इत्यादि। परतु "सब कौए काले होते है' किन्ही भी अन्य महत्त्व की कम या अधिक व्यापक नियमितताओ से सबधित प्रतीत नही होता। एक कौए के काला न निकलने से हमे ज्ञात कोई भी अन्य नियम नही बदलेगा। परतु यदि एक कौआ अमर हो जाए (या एक हजार वर्ष की आयु का भी हो जाए) तो इससे वैज्ञानिको को बहुत अधिक आश्चर्य होगा, क्योकि तब हमे उन अनेक अन्य नियमो पर पुनर्विचार करना पडेगा जिनके साथ यह जुडा हुआ है (ऊतक के ह्रास इत्यादि से सबधित नियमो पर)। तो फिर, किसी प्रतिज्ञप्ति को नियम कहना है या नही, यह काफी बडी सीमा तक इस बात पर निर्भर करता है कि वह नियमो के एक बडे तत्र मे कितनी गहरी बैठी हुई है। यदि प्रतिज्ञप्ति सत्य और सर्वव्यापी है पर परोक्ष रूप मे उसकी पुष्टि करनेवाला कोई साक्ष्य नही है तो विज्ञान मे उसकी मौलिकता कम होगी : उसे शेष तत्र पर कोई प्रभाव डाले बिना आसानी से छोडा जा सकेगा। परतु "सब धातुएं सुचालक होती हैं" (परमाणुमय सरचना के) अन्य नियमो के साथ इतने मौलिक रूप से जुडा हुआ है कि इसका प्रतिदृष्टात मिलने से दूरव्यापी परिणाम पैदा होगे।

५. यह सब कह चुकने के बावजूद अनेक प्रतिज्ञप्तियां ऐसी होती हैं कि इन सब शर्तों के पूरी होने पर भी उन्हे नियम का पद नही दिया जाता। अतर प्रतिज्ञप्ति की सामान्यता की मात्रा का प्रतीत होता है। "सब धातुएं ताप की सुचालक होती हैं" और "चांदी ताप की सुचालक है" दोनो ही सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्तियां हैं, क्योकि दोनो निर्दिष्ट वर्ग के सभी सदस्यो पर लागू होती हैं। परतु पहली दूसरी की अपेक्षा अधिक सामान्य है, क्योकि उसका

क्षेत्र अधिक विस्तृत है। जो सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्तियाँ अधिक मात्रा मे सामान्य होती है उनके नियमो के रूप मे स्वीकृत होने की अधिक संभावना होती है। इस प्रकार धातुओं के बारे मे बतानेवाली प्रतिज्ञप्ति नियम मानी जाती है पर चांदी के बारे मे जो कथन है वह नही। "सब दुर्लभ मृदाधातुओं का गलनाक हेलोजेनो की अपेक्षा ऊचा होता है" एक नियम माना जाएगा, परतु कोई यह कहते नही सुना जाएगा कि टन्गस्टेन के ३३७०° सें० पर गलन की बात एक तथ्य मात्र नही है बल्कि एक नियम भी है।

कभी-कभी इन शर्तों मे से एक दूसरी के विरुद्ध पडती हे और परिणाम अनिश्चित होता है। आइन्सटाइन निर्वात मे प्रकाश के वेग की स्थिरता को प्रकृति का एक नियम कहता है और इसकी कम सामान्यता के बावजूद भौतिकीय नियमो के तन्त्र मे इसके मौलिक होने के कारण इसे एक नियम माना गया है। दूसरी ओर, यद्यपि इलक्ट्रोन का द्रव्यमान भौतिकी का एक प्रारभिक तथ्य है, तथापि उसकी सही-सही मात्रा वैज्ञानिक सिद्धात के मुख्य ढांचे से अधिकाश मे स्वतन्त्र बनी रहती है, और इसलिए उसे नियम का पद नही प्राप्त होता।

नियम बनाम सिद्धात— प्रकृति के अदर प्रेक्षण से कुछ अपरिवर्तनशील सबध मालूम कर लेने के बाद जल्दी ही उनकी व्याख्या के लिए सिद्धातो का निर्माण करना होता है। सिद्धात और नियम का अतर कुछ अस्पष्ट है, पर है बहुत ही महत्त्वपूर्ण : सामान्यत. हम सिद्धातो की रचना करते हैं पर प्रकृति के नियमो को हम खोजते है। वैज्ञानिक सिद्धात मे सदैव कोई ऐसा शब्द शामिल रहता है जो किसी ऐसी चीज का बोधक नही होता जिसका हमे सीधे प्रत्यक्ष हो सके। यदि हम किसी चीज का केवल दूरदर्शक या सूक्ष्मदर्शक से ही प्रेक्षण कर सकते हो, तो फिर भी यही कहा जाएगा कि वह प्रेक्षणगम्य है। परतु यदि किन्ही भी परिस्थितियो मे हम एक चीज का प्रेक्षण न कर सकें, तो वह एक सैद्धातिक वस्तु है ; और जब ऐसी वस्तु का बोधक शब्द किसी कथन का भाग होता है तब उस कथन को सिद्धात कहते है। इस प्रकार यह प्रतिज्ञप्ति कि प्रोटोन और इलेक्ट्रोन होते हैं, एक सिद्धात है। ये चीजें प्रेक्षणगम्य नही है, हालांकि हम बहुत-सी ऐसी बातो का प्रेक्षण अवश्य करते हैं जो उनके प्रभाव मानी जाती है। प्रोटोनो और इलेक्ट्रोनो के बारे मे (तथा साथ ही उनसे उत्पन्न न्यूट्रोनो और न्यूट्रिनोओ के बारे मे) जो कथन होते है वे सिद्धात हैं,

नियम नही। "भौतिक द्रव्य के अतिम घटको" मे यह जो विश्वास है वह शायद इद्रियानुभविक विज्ञानो मे पाया जानेवाला सबसे अधिक व्यापक और सर्वागपूर्ण सिद्धात है।

ऐसा सिद्धात आया कैसे ? इसका प्रारभ पुराने जमाने मे कुछ ऐसी बातो को देखने से हुआ जो सुविदित थी। अति प्राचीन काल से ही कुछ बातें ऐसी देखी जाती रही जिनकी किसी अदृश्य चीज के द्वारा व्याख्या आवश्यक समझी गई। पत्थर की सीढियां थोडी-थोडी करके घिसती जाती हैं। प्रतिवर्ष वे अधिकाधिक घिसती चली जाती है। एक गिलास पानी मे दो-चार बूंद बेरी के रस की डाल देने से एक ही क्षण मे पूरा पानी लाल हो जाता है। अथवा उसमे थोडी चीनी डाल दीजिए और तुरत पूरा द्रव मीठा हो जाता है। ये और असख्य अन्य घटनाएँ तब तक कैसे समझ मे आ सकती है जब तक बहुत ही सूक्ष्म कणो का, जो खाली आँखो को न दिखाई दे सकते हो, अस्तित्व न माना जाए ? पत्थर की सीढ़ियाँ ऐसे ही कणो से बनी होती हैं जो धीरे धीरे एक-एक करके टूट फूटकर निकलते जाते हैं और वर्षो की टूट-फूट के बाद अत मे इससे सीढियो मे आनेवाला अतर भी हमे दिखाई देने लगता है। बेरी का रस बहुत छोटे कणो से बना होता है जो पूरे पानी मे फैलकर उसे लाल कर देते हैं। यही बात चीनी मे भी है जो पानी मे घुल जाती है और पूरे द्रव के स्वाद को मीठा कर देती है। इसके अलावा, जो चीजें हम देखते हैं उन्हें किसी पदार्थ से बना होना चाहिए। मैं खडिया के इस टुकडे के दो टुकडे कर सकता हूँ और एक को उँगली पर रगड सकता हूँ, जिसके फलस्वरूप उसके अश मेरी उँगली को सफेद कर देंगे। परतु ये अश भी (इस तरह तर्क चला) और छोटे अशो से बने हुए हैं, और ये छोटे और भी छोटे अशो से बने हुए हैं। पर इस प्रक्रम के अत मे ऐसे कण आ जाएँगे जिनका विभाजन नही हो सकता और यही भौतिक द्रव्य के अतिम घटक, परमाणु, हैं। जितनी चीजें हम देखते और छूते है वे इन्ही अति सूक्ष्म कणो से निर्मित हैं जिन्हे और सूक्ष्म कणो मे नही तोडा जा सकता। इन्हे हम अपनी आँखो से नही देख सकते ; परतु यदि हम इनके अस्तित्व को मान लें तो विभिन्न चीजो की जो विशाल सख्या हम देखते है उनकी हम व्याख्या कर सकते हैं।

यह डीमोक्रिटस (जन्म ४६० ई० पू० के आसपास) और ल्यूक्रीशियस (९६-५५ ई० पू०) का तर्क था। इनका परमाणु सिद्धात पुराने ढर्रे का था

पर उसमे शामिल सारभूत बात आधुनिक सिद्धातो से भिन्न नही थी। उसमें भी दृश्य की व्याख्या के लिए अदृश्य की सहायता ली गई थी। आज के परिष्कृत परमाणु सिद्धातो ने असख्य ऐसी बातो की भी व्याख्या कर दी है जिनकी प्राचीन लोगो ने कल्पना भी नही की थी क्यो तत्त्व अ तत्त्व ब और स से सयुक्त हो जाता है पर द और ध से नही होता (और कुछ तत्त्व किन्ही भी तत्त्वो से सयुक्त नही होते), कुछ तत्त्वो और यौगिको के वे गुणधर्म क्यो है जो उनमे है, वे क्यो एक खास तापमान पर भाप बन जाते या जल जाते हैं, एक खास तापमान पर क्यो जम जाते है इत्यादि। आधुनिक रसायन के लगभग सभी तथ्यो की परमाणु-सिद्धात से व्याख्या कर दी गई है। पर है यह सिद्धात, न कि प्रेक्षित तथ्य। (कुछ जटिल अणुओ को अब इलेक्ट्रोन-सूक्ष्मदर्शी से देख लिया गया है, और इस प्रकार अब वे सिद्धात की बात नही रहे। परतु परमाणु और इलेक्ट्रोन तथा अन्य इनसे भी सक्ष्म "कण" जिनका अध्ययन भौतिकी मे होता है, अदृश्य बने हुए है।)

क्या ये सूक्ष्म "कण" अस्तित्व रखते है ? क्या ये लघु गोलियो की तरह के कण है या इन्हे कुछ और कहा जाए ? ऐसा शायद ही कोई भौतिकविज्ञानी होगा जो इन चीजो के अस्तित्व से इन्कार करे तथा यह न माने कि कुछ प्रेक्षित तथ्यो की व्याख्या केवल इनके अस्तित्व को स्वीकार करने से ही होती है। कभी कभी यह कहा गया है कि इनका वास्तव मे अस्तित्व नही है बल्कि ये "सुविधानक कल्पनाएँ" मात्र हैं जिनके द्वारा हम विविध घटनाओ की एक बडी सख्या की व्याख्या करते है। परतु यदि ये सुविधाजनक कल्पनाएँ मात्र हैं तो ऐसा क्यो है कि घटनाओ को जिस विशाल सख्या की ये व्याख्या करते हैं वे नियमित रूप से उसी तरह होती हैं ? तब क्या यह एक बहुत बडा सयोग मात्र नही होगा यदि वे परमाणु और इलेक्ट्रोन वास्तव मे हो ही नही जिनमे वे व्याख्याकारी गुणधर्म हो जिनका हम उनमे आरोप करते हैं ? यदि अत्यधिक सूक्ष्म कणो का अस्तित्व है ही नही, तो चीजें क्यो इस तरह से व्यवहार करती हैं जैसे कि मानो वे ऐसे कणो से बनी हो ?

परतु, कुछ वैज्ञानिक सिद्धातो मे अवश्य ही ऐसे सप्रत्यय शामिल रहते हैं जो सुविधाजनक कल्पनाएँ मात्र होते हैं। फ्रायडीय मनोविज्ञान की पहली मान्यता यह है कि अचेतन मानसिक तत्त्वो का इड, अहम् और अत्यहम्, इन तीन विभागोवाला एक विशाल भडार है। ये सब सिद्धात की बातें हैं, क्योंकि

मनुष्य के मन के अंदर निवास करनेवाली ऐसी कोई चीजें प्रेक्षणगम्य नही है। फिर भी, इन सप्रत्ययो से एक विस्तृत सिद्धात का निर्माण करके उसके आधार पर फायडीय मनोविज्ञान मानसिक घटनाओ की एक विशाल सख्या (मानसिक द्वद्व, तत्रिकाताप और मनस्ताप, स्वप्न, वाणी की भूले, भावदशाएँ, अवसाद) की व्याख्या करने की कोशिश करता है। इड मानवीय इच्छाओ का एक विशाल भडार है, जिनमे से अधिकतर निषिद्ध होती हैं, जिससे उनका दमन कर दिया जाता है और वे चेतन से अचेतन मे चली जाती हैं। अत्यहम् निषेध-कर्ता या नही कहनेवाला होता है, जो इनमे से अनेक इच्छाओ को पूरी होने से रोकता है। अहम् इन दो पक्षों के परस्पर विरोधी दावो का निर्णय करनेवाला है और एक या दूसरे पक्ष को उसके दावे के अनुसार समर्थन प्रदान करता है। मनोविश्लेषण के साहित्य से परिचय होने पर मानवीय व्यवहार की उन व्याख्याओ की विशाल विविधता को देखकर चकित रह जाना पडता है जो सप्रत्ययो के इस तत्र से प्राप्त होती हैं। फिर भी, कोई यह विश्वास नही करता कि उसके सिर के अदर तीन लोग रहते हैं। ऐसा लगता जरूर है कि मानो वे हैं, पर हैं बिल्कुल नही। यहाँ सिद्धात एक जटिल कल्पना है, परतु उसके अदर व्याख्या करने की अद्भुत शक्ति है (हालाँकि जैसा कि मनश्चिकित्सा के अनेक परस्पर विरोधी सप्रदायो के अस्तित्व से पता चलता है, मानवीय व्यवहार की व्याख्या की कोशिश करनेवाला यह एकमात्र सिद्धात नही है)। इसी प्रकार, जब कोई रसायन मे सयोजकता की बात करता है तब जैसे कि मानो परमाणुओ पर छोटे-छोटे हुक लगे हो, जैसे एक हाइड्रोजन पर और दो आक्सीजन पर लगे हो, जिससे आक्सीजन के एक परमाणु के दो हुक हाइड्रोजन के दो परमाणुओ के एक-एक हुक मे फँस जाते हैं और एच$_2$ओ यानी पानी बन जाता है। पर कोई भी यह विश्वास नही करता कि इन परमाणुओ पर वाकई ये छोटे हुक लगे है (लेकिन शायद उनमे इनके समान कुछ है जरूर)।

जो भी हो, दोनो ही प्रसगो मे यह याद रखना जरूरी है कि सिद्धात जिन प्रेक्षित तथ्यो की व्याख्या करता है उनकी अपेक्षा अधिक बातें उसमे शामिल है। सिद्धात उन तथ्यो का सक्षेप मात्र नही होता जिनका पहले प्रेक्षण किया जा चुका है। वह विविध तथ्यो के एक सग्रह की ओर इशारा करने का एक सक्षिप्त तरीका मात्र नही होता : उसमे सप्रत्यय होते हैं जिनमे नए

और अब तक अज्ञात तथ्यो का अनुमान किया जा सकता है। यह बात मनोविश्लेपण के कल्पितार्थों वाले सिद्धात के बारे मे उतनी ही सच है जितनी परमाणुमय सरचना का वस्तुत अस्तित्व माननेवाले सिद्धात के बारे मे है। जो सिद्धात प्रेक्षण से पहले से ही ज्ञात तथ्यो का सक्षेप मात्र है उसमे व्याख्या करने की क्षमता जरा भी नही होगी।

हम जो कथन करते है उनमे से कुछ "सक्षेप कथन" मात्र होते है। जब हम यह कहते है कि तार मे बिजली है तब इस कथन का विविध प्रेक्षण योग्य बातो के एक समूह के बारे मे बतानेवाले कथन के रूप मे विश्लेपण सही लगता है (हालाँकि कुछ लोगो ने इसका प्रतिवाद किया है) : वह तार वोल्टमीटर को प्रभावित करता है, उसे छूने पर धक्का लगता है, उससे चिनगारियाँ निकलती है, वह वैटरियो को चलाता है इत्यादि। यह कहना कि तार मे बिजली है, केवल यह कहना है कि वह ये विभिन्न बाते करता है। परतु विज्ञान मे सिद्धात इस प्रकार के नही होते। सिद्धात सदैव ऐसा होना चाहिए कि जितने तथ्यो की व्याख्या के लिए वह बनाया गया हो उनसे अधिक तथ्यो की व्याख्या करे। किसी सिद्धात की वैज्ञानिक क्षमता उन तथ्यो के परिमाण और परास (यह अधिक महत्त्वपूर्ण है) से सीधा अनुपात रखती है जिनकी वह व्याख्या करता है—उन तथ्यो मे से भी विशेप महत्त्व उनका है जो उस समय ज्ञात नही थे जब सिद्धात बनाया गया था। इस दृष्टि से परमाणु-सिद्धात और अचेतन-सिद्धात दोनो ही बहुत ऊँची मात्रा मे व्याख्या करने की क्षमता रखते है।

प्राक्कल्पना—इस सिलसिले मे सिद्धातो का प्राक्कल्पनाओ से अतर करना जरूरी है। दैनिक जीवन मे इन दो शब्दो का पर्यायो के रूप मे प्रयोग किया जाता है, परतु विज्ञान मे इनमे अतर किया जाता है। सिद्धात नियमो के समकक्ष होते है दोनो ही दुनिया की किसी बात के बारे मे सामान्य कथन होते है, अतर केवल इसमे है कि उनके मुख्य शब्द दुनिया की किसी प्रेक्षण-गम्य चीज के बोधक है या नही। परतु प्राक्कल्पना कोई सामान्य या सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति होती ही नही। वह एक विशेप या अशव्यापी कथन होता है जिसका कुछ नियमो या सिद्धातो की मदद से किन्ही घटनाओ की व्याख्या के लिए उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार हम परमाणु-सिद्धात की बात

कहते है, पर सौर-परिवार के उद्भव की व्याख्या के संदर्भ मे विभिन्न प्राक्कल्पनाओ की बात करते है। अपने जीवन मे प्रतिदिन हम प्राक्कल्पनाएँ बनाते है। हम सुबह उठते है और देखते हैं कि सडक गीली है ; इसलिए हम यह प्राक्कल्पना बनाते है कि रात को वर्षा हुई थी। हम कार को चालू करनेवाला बटन दबाते है और किसी खराबी की सूचक गडगडाहट की आवाज होकर बद हो जाती है ; तब हम यह प्राक्कल्पना बनाते है कि बैटरी खत्म हो गई है। हम देखते है कि कुत्ता अपने खाने की तश्तरी के चारो ओर घूम रहा है और बेचैनी प्रकट कर रहा है। हम तत्काल यह प्राक्कल्पना बनाते है कि वह भूखा है और उसे खाना नही मिला है। हम देखते है कि जानी दर्द से कराह रहा है और पास ही गोश्त की पूरी प्लेट खाली पडी है। हम फौरन यह प्राक्कल्पना बनाते हैं कि उसे अधिक गोश्त खा जाने से पेटदर्द हुआ है। प्राक्कल्पना एक विशेष तथ्य (या कल्पित तथ्य) है जो सत्य होने पर कुछ नियमो या सिद्धातो की मदद से इस बात की व्याख्या कर देता है कि क्यो एक बात वैसी है जैसी वह है। कोई प्राक्कल्पना असभाव्य हो सकती है, या अनोखी हो सकती है (जैसी ज्योतिषियो की यह प्राक्कल्पना कि आज का दिन आपके लिए खराब है, क्योकि ग्रहो का योग अच्छा नही है) अथवा इतनी प्रसभाव्य हो सकती है कि आप उसे निश्चित-जैसी ही मान ले (जैसी यह प्राक्कल्पना कि सड़कें गीली है, क्योकि रात को वर्षा हुई थी)। अधिक या कम प्रसभाव्य होना प्राक्कल्पना का लक्षण नही है, बल्कि केवल इस बात का सूचक है कि प्राक्कल्पना स्वीकार-योग्य या सतोषजनक है या नही।

इसके अलावा, प्राक्कल्पना का किसी ऐसी बात से सबध नही होना जिसे आप देख चुके हैं : यदि आपने वर्षा को होते हुए देख लिया है तो आप "वर्षा हुई है" को एक प्राक्कल्पना नही बल्कि एक देखी हुई बात कहेंगे। परन्तु साधारणत. प्राक्कल्पना किसी प्रेक्षण-योग्य चीज के बारे मे होती है . उद., कुत्ते को २४ घटे से खाना न मिलना, जानी का गोश्त खा जाना—ये सब बातें भले ही देखी नही गईं, पर देखी जा सकती थी। परतु कुछ प्राक्कल्पनाएं अवश्य ही ऐसी बातो के बारे मे होती है जिनका प्रेक्षण नही किया जा सकता, जैसे "मेरे अदर जो विचार आ रहा है वह इसलिए कि ईश्वर मुझे इस काम को न करने की चेतावनी दे रहा है।"

नियम और सिद्धात तथा साथ ही प्राक्कल्पनाएँ भी विज्ञान मे मुख्य रूप से व्याख्या का काम करते हे ।

व्याख्या

वैज्ञानिक व्याख्या—वैज्ञानिक सिद्धातो का यह वड़ा लाभ है कि उनमे व्याख्या करने की वहुत अधिक क्षमता होती है । उनके विना जीवविज्ञान अव भी वर्गीकरण की अवस्था मे हुआ होता, आनुवशिकी मे इधर जो प्रगति हुई है वह असभव हुई होती, और भौतिकी अव भी लगभग वही होती जहाँ तीन शताब्दी पूर्व थी । अव यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वैज्ञानिक व्याख्या क्या होती है । इस विषय का विशेष महत्त्व है, क्योकि आगे के अध्यायो मे हम व्याख्या के सप्रत्यय का उपयोग करेंगे ।

क्यो-प्रश्न—"क्यो" से सामान्यतः व्याख्या पूछी जाती है । परतु "क्यो ?" एक द्व्यर्थक प्रश्न है : यह हेतु बताने की प्रार्थना हो सकता है या व्याख्या पूछ सकता है । जव आप मुझसे यह पूछते है कि में एक प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने मे क्यो विश्वास करता हूँ, तव आप मुझे अपने विश्वास के समर्थन मे हेतु का वताने के लिए कह रहे ह । प के हेतु वे प्रतिज्ञप्तियाँ हैं जिनके सत्य होने पर प मे विश्वास अधिक उचित हो जाता है । हेतु वे प्रतिज्ञप्तियाँ है जो अन्य प्रतिज्ञप्तियो के समर्थन मे दिए जाते है, और यदि वे अच्छे हेतु ह तो वे अवश्य ही प को अधिक प्रसभाव्य वनाते है (यही उन्हे अच्छे हेतु कहने का मतलव होता है) । विश्वास करने के लिए यानी किसी वात को सत्य मानने के लिए हेतु दिए जाते है । इसके विपरीत, व्याख्या घटनाओ की, प्रक्रमो की, प्रकृति मे होनेवाली वातो की होती है व्याख्या इस वात की दी जाती है कि लोहा जग क्यो खा जाता है, नदियो मे वाढ क्यो आ जाती है, कार्वन मोनोक्साइड से मृत्यु क्यो हो जाती है इत्यादि । (अन्य सदर्भो मे भी व्याख्या होती है : किसी वात को अधिक स्पष्ट करना भी व्याख्या करना है—"कविता के इस अश की व्याख्या करो"—तथा कहाँ, कव, कैसे, कितना वताकर भी हम व्याख्या करते हैं । घटनाएँ क्यो होती हैं, यह व्याख्या, जो कि वैज्ञानिक व्याख्या का मतलव है, व्याख्या के अनेक प्रकारो मे से केवल एक है ।) यदि आदमी तर्कशील है, तो जिस हेतु से वह कोई विश्वास रखता है वह इस वात की भी व्याख्या है कि वह उसे क्यो रखता है : वह उसमे विश्वास करना चाहता है जो सत्य है और इस तरह व्याख्या और हेतु का अभेद हो जाता है । पर

सदैव ऐसा होता नही है : कोई आदमी एक उपकारी ईश्वर मे विश्वास करता है और इसके लिए वह जो हेतु देता है (इसके समर्थन मे वह जो प्रतिज्ञप्तियाँ देता है) वे ईश्वर के अस्तित्व की साधक अनेक युक्तियाँ हो सकती है, जिनकी हम अध्याय ७ मे चर्चा करेगे ; परतु हो सकता है कि उसके यह विश्वास रखने की व्याख्या उन युक्तियो स कोई सरोकार न रखे—व्याख्या यह हो सकती है कि वह इस हृदयहीन और कठोर दुनिया मे कोई पिता का स्थानापन्न या रक्षक चाहता है। अतः हेतु बताना और व्याख्या देना एक ही चीज नही है, हालांकि दोनो को प्राय· इसलिए एक समझ लिया जाता है कि दोनो "क्यो" पूछनेवाले द्व्यर्थक प्रश्न के उत्तर होते है, भले ही वे अलग अर्थों मे होते हो।

यहाँ हमे "क्यो" का केवल वह अथ अभिप्रेत है जिसमे क्यो-प्रश्न व्याख्या चाहते हैं—विशेष रूप से प्रकृति मे घटनेवाली बातो की व्याख्या। इस सदर्भ मे हम पूछ सकते है कि क्यो एक विशिष्ट घटना घटी है (पिछली रात तहखाने मे नल क्यो फट गए ? खिडकी क्यो टूट गई ?) या एक अमुक प्रकार की घटना सदैव क्यो उस रूप मे होती है (गुब्बारे क्यो ऊपर उठते हैं ? लोहे मे जग क्यो लगती है ?)। इन दोनो प्रसगो मे व्याख्या का रूप कुछ भिन्न होता है।

जब हम एक विशेष घटना, जैसे "नल क्यो फटे ?", इस बात की, व्याख्या पूछते हैं, तब व्याख्या मे (१) प्रकृति के कुछ नियम (जैसे यह कि पानी जमने पर फैलता है) तथा (२) कुछ विशेष तथ्य (जैसे यह कि पिछली रात को तहखाने का तापमान हिमाक से नीचे पहुँच गया था) शामिल होते हैं। घटना की व्याख्या के लिए ये दोनो ही हमारे पास होने चाहिए। सबधित नियमो और तथ्यो की सख्या बडी भी हो सकती है : न केवल यह कि जमने पर पानी फैलता है (नियम) बल्कि यह जानना भी जरूरी है कि नलो मे पानी भरा था (विशेष तथ्य), फैलते हुए बर्फ की शक्ति नलो के प्रतिरोध की शक्ति से बडी थी (विशेष तथ्य) और जब ऐसा होता है तब पात्र टूट जाता है, क्योकि उसके अदर की चीज को और स्थान चाहिए (नियम)। विशेष तथ्य सीधे प्रेक्षण से ज्ञात हो सकते हैं या प्राक्कल्पित हो सकते हैं : यदि हम तहखाने मे हुए होते और हमने थर्मामीटर को देखा होता तथा ठडक को महसूस किया होता तो कहा जा सकता है कि हमने उस विशेष स्थिति का स्वय प्रेक्षण किया था ; परतु यदि हम पूरे समय ऊपर की मजिल मे गहरी

नीद मे सोते रहे और जब सुवह उठे तब हमने महसूस किया कि ठडक कितनी अधिक है, तो रात मे तहखाने के तापमान का हिमाक से नीचे पहुँच जाना एक प्राक्कल्पना था। अकेली प्राक्कल्पना (तहखाने का तापमान हिमाक से नीचे था) घटना (नलो का फटना) की नियम (जमने पर पानी फैलता है) के विना व्याख्या नही करती, और न नियम अकेला ही घटना की इस विशेष तथ्य (प्रेक्षित या प्राक्कलित) के विना व्याख्या करता है कि तहखाने का तापमान रात मे हिमाक से नीचे चला गया था। इसी प्रकार, खिड़की के टूटने की व्याख्या के लिए एक विशेष तथ्य या स्थिति (किसीने उसपर पत्थर मारा) और एक नियम (शीशे की भगुरता तथा उससे टकरानेवाली चीज के द्रव्यमान और वेग के वारे मे) का उल्लेख आवश्यक है।

परतु, कभी-कभी व्याख्या विशेष घटनाओ की नही वल्कि स्वय प्रकृति के नियमो की ही हम करना चाहते है। गुब्बारे क्यो ऊपर उठते है ? लोहा क्यो जग खा जाता है ? चीनी पानी मे क्यो घुल जाती है ? जमने पर पानी क्यो फैलता है ? इन नियमो की व्याख्या हम अन्य नियमो और सिद्धातो से करते है। हाइड्रोजन या हीलियम से भरे होने पर गुब्बारे ऊपर की ओर क्यो उठते है ? क्योकि हाइड्रोजन और हीलियम हमारे वातावरण के आक्सीजन, नाइट्रोजन इत्यादि के मिश्रण से हल्की होती है (नियम) और जिस गैस का आयतन प्रति मात्रक दूसरी गैस से हल्का होता है वह ऊपर उठ जाती है (नियम)। जमने पर पानी ही क्यो फैलता है जबकि अधिकतर अन्य द्रव नही फैलते ? पानी के अणु की क्रिस्टलीय सरचना के कारण (सिद्धात)। लोहे पर जग क्यो लग जाती है ? क्योकि लोहे के अणु हवा की आक्सीजन के साथ सयुक्त हो जाते है, और इसके फलस्वरूप एक यौगिक, लोहे का आक्साइड, वन जाता है (नियम)। नियमो की व्याख्या मे सामान्य रूप से सिद्धात और नियम दोनो ही शामिल होते हैं। नियमो की व्याख्या मे हम निश्चय ही सिद्धात की मदद के विना वहुत आगे नही वढ सकते।

कभी-कभी हम प्रक्रिया को एक मे मिला देते हैं—घटनाओ की व्याख्या करते हैं और तब नियमो की व्याख्या करते हैं—और एक नियम के अलावा किसी वात का उल्लेख नही करते, जिससे व्याख्या का रूप अस्पष्ट हो जाता है। "यह तार विजली का चालक क्यो है ?" "तावा सदैव विजली का चालक होता है।" परतु, पूरी व्याख्या यह होगी : "यह तार तावे का है (विशेष

तथ्य) और ताँबा बिजली का चालक होता है (नियम) ।" तब आगे यह प्रश्न पूछा जाएगा : "ताँबा क्यो बिजली का चालक है (जबकि कुछ अन्य चीजे नही है) ?" और इसका उत्तर देने के लिए हमें विद्युत् तथा धातुओं की क्रिस्टलीय सरचना, दोनो के भौतिकीय सिद्धात मे जाना पडेगा ।

व्याख्या चाहे विशेष घटनाओं की हो या नियमो की, नियमो या सिद्धातों का उल्लेख उसमे सदैव रहेगा ; और नियम या सिद्धात वह होना चाहिए जिसे हम पहले स्वीकार करते हो ; अन्यथा हम व्याख्या को स्वीकार नही करेंगे । "लाल द्रव पारदर्शी द्रव के साथ मिश्रित क्यो नही होता ?" "क्योकि लाल द्रव रगीन पानी है और पारदर्शी द्रव पेट्रोल है ।" यहाँ नियम यह शामिल है कि पानी और पेट्रोल मिश्रित नही होते और इस व्याख्या का हमे स्वीकार होना इस बात पर निर्भर करता है कि हम इस नियम को स्वीकार करते हो । यदि उत्तर "क्योकि वह लाल है" दिया गया होता, तो मे यह व्याख्या स्वीकार न हुई होती, क्योकि प्रकृति का कोई ऐसा नियम हम नही जानते जिसके अनुसार पारदर्शी द्रव लाल द्रवो के साथ मिश्रित न हो ।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जिस व्याख्या को हम स्वीकार करते है उसमे नियम केवल एक बहुत मोटे अर्थ मे ही शामिल होते हैं--एक कामचलाऊ सामान्यीकरण होता है जो अधिकतर सत्य होता है, परतु सभी प्रसगो मे सत्य नही होता । "मुन्नू को जुकाम क्यो हो गया ?" "वह चुन्नू से खेलता रहा और चुन्नू को जुकाम था ।" यह कोई नियम नही है कि जो उनके सपर्क मे आते हैं जिन्हे जुकाम हो, वे स्वय सदैव जुकाम से ग्रस्त हो जाते हैं । परतु इसमे कुछ माना मे एकरूपता रहती है जो इस व्याख्या को स्वीकार करने के लिए पर्याप्त होती है । निश्चय ही हम यह कह सकते थे कि पप्पू भी चुन्नू से खेला था और उसे जुकाम नही हुआ, और तब हमें ऐसी स्थितियो को ढूंढने की कोशिश करनी होगी जिनमे लोगो को हमेशा जुकाम लग जाता है । फिलहाल, हमारा झुकाव इस सामान्यीकरण को उन तथ्यो की व्याख्या मान लेने का होता है । इसी प्रकार, यदि हम पूछें कि "आज रात इतने अधिक सदस्य बैठक से अनुपस्थित क्यो रहे ?" और हमे उत्तर मिले कि "एक अन्य सस्था की भी बैठक थी और हमारे अधिकतर सदस्य उसके भी सदस्य है", तो हम इस व्याख्या को स्वीकार कर लेते हैं, हालाकि यहाँ कोई नियम शामिल नही है बल्कि केवल यह अनिवार्य सत्य शामिल है कि लोग एक ही समय मे

दो भिन्न स्थानो मे नही हो सकते और यह सामान्यीकरण शामिल है कि जो लोग अ बैठक से अधिक ब बैठक को चाहते है या ब मे जाने की आवश्यक्ता को अधिक महसूस करते है वे ब बैठक मे जाएँगे।

व्याख्या और भविष्यवाणी—किसी घटना या नियम की व्याख्या को यह बताना होता है कि क्यो किसी अन्य घटना के बजाय वही घटना हुई। "जो हर चीज की व्याख्या है वह किसी भी चीज की व्याख्या नही है।" मान लीजिए, कोई पूछता है कि पानी जमने पर फैलता क्यो है, और इसका उत्तर यह दिया जाता है कि "ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है और ईश्वर की इच्छा थी कि पानी मे यह गुण हो, बस इसीलिए।" कोई भी वैज्ञानिक इस व्याख्या को नही मानेगा, और न हम दैनिक जीवन मे इसे मानेंगे। वैज्ञानिक अवश्य ही यह मान सकता है कि प्रत्येक घटना ईश्वर की इच्छा से होती है तथा उसमे शामिल नियम भी ईश्वर की इच्छा है, पर फिर भी एक वैज्ञानिक की हैसियत से वह यह जानना चाहेगा कि क्यो पानी ही जमने पर फैलता है जबकि अन्य अधिक्तर द्रव नही फैलते। दूसरे शब्दो मे, हम ऐसी व्याख्या चाहेगे जो उस तात्कालिक घटना से बहुत परे चली जाती है जिसकी व्याख्या करनी है—ऐसी व्याख्या जो अन्य घटनाओ या नियमो की भी व्याख्या कर देती है, जिनमे कोई ऐसा भी हो सकता है जिसके अस्तित्व का व्याख्या देते समय विचार भी मन मे नही आया था। जमने पर पानी का फैलना न केवल नलो के फटने की व्याख्या कर देता है बल्कि किसी ठडी रात मे खिडकी मे रखे पानी से भरे घड़े मे दरार पड जाने की तथा झील और तालाब मे तलहटी के बजाय ऊपर बर्फ जम जाने की भी कर देता है। यदि हम जानते है कि पानी जमने पर फैल जाता है तो हम जानते हैं कि क्यो ये विभिन्न बातें होती है, और क्यो घडे या नल मे पानी के बजाय मिट्टी का तेल भरा होने पर ये बातें नही होगी।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि व्याख्याकारी नियम या सिद्धान्त होने की कसौटी यह है कि उसमे भविष्यवाणी की क्षमता हो, उसके आधार पर हम सही भविष्यवाणियाँ कर सकें। चूँकि नियम जिन घटनाओ की व्याख्या के लिए लाए जाते हैं उनके अलावा बहुत-सी अन्य बातो की भी व्याख्या करते हैं और चूँकि इन अन्य बातो मे से अनेक का भविष्य मे होना बिल्कुल स्वाभाविक होता है, इसलिए वे नियम इनकी भी व्याख्या कर देंगे। यह जानकर कि पानी

जमने पर फैलता है, हम उन स्थितियों की जिनमे पानी के नल भविष्य में फट जाएँगे तथा और भी अनेक बातों की भविष्यवाणी कर सकते हैं। परंतु कुछ ऐसे नियम भी हमें ज्ञात है जो बहुत ही अच्छी तरह से स्थापित होने पर भी भविष्यवाणी की क्षमता से लगभग शून्य हैं। भूविज्ञानी भूकंप करनेवाले नियमो को अच्छी तरह जानते है, परंतु आगे कब और कहाँ भूकंप होगा, यह भविष्यवाणी करने की कोशिशें विशेष रूप से सफल नही हुई है। इसका कारण यह नहीं है कि नियम ज्ञात नहीं है बल्कि यह है कि विशिष्ट तथ्य (प्रारंभिक स्थितियाँ) ज्ञात नही हैं: पृथ्वी की सतह के बहुत नीचे क्या हो रहा है, उसके गर्भ में कहाँ क्या दबाव, चट्टानों के दोष, वजन की असमानता इत्यादि है, इस बारे में हम पर्याप्त जानकारी नही रखते। नियमो मे व्याख्या की क्षमता होती है, परंतु यदि उनसे हमें कोई भविष्यवाणी करनी है तो विशेष स्थितियों से संबंधित कथनो के साथ उन्हें जोड़ना जरूरी है।

दूसरी ओर, न्यूटन का सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण का नियम व्याख्या की अनुपम शक्ति रखनेवाला नियम है। यह सेब के जमीन पर गिरने की घटना से लेकर सौर-परिवार तथा सबसे दूर स्थित तारे के ग्रहो की गतियों तक को एक विशाल सामान्यीकरण के अंतर्गत ले आता है। इसके आधार पर (और अन्य नियमो तथा विशेष वस्तुस्थितियों या प्रारंभिक अवस्थाओ से संबंधित अन्य कथनों के आधार पर भी) हम इस तरह की परस्पर भिन्न बातो की भविष्यवाणी करने में भी समर्थ है जैसे सूर्य-ग्रहण तथा आकाशगंगाओं का विकास के क्रम में सर्पिल आकार ग्रहण कर लेना। इसी प्रकार, इलेक्ट्रोन तथा उनकी तरह की अदृश्य चीजो से संबंधित नियम वैज्ञानिको के द्वारा क्यो इतने व्यापक रूप से माने जाते हैं, इस बात का कारण यह है कि इनमें भविष्यवाणी की अद्भुत क्षमता है। परमाणुमय संरचना के कुछ नियमो के आधार पर हम पदार्थो के अनेक रासायनिक गुणधर्मों के ज्ञात होने से पहले ही यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि वे क्या होंगे, जैसे घनत्व तथा अन्य पदार्थों से संयुक्त होने की क्षमता।

असंतोषजनक व्याख्याएँ— परंतु, दैनिक जीवन मे प्रायः ऐसी तथाकथित व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं जो व्याख्या कुछ भी नही करती। "ये गोलियाँ नींद क्यों लाती हैं?" "उनकी निद्रावह शक्ति के कारण।" यह व्याख्या शुरू में प्रभावोत्पादक लगेगी, पर शीघ्र ही हम समझ जाते हैं कि "निद्रावह शक्ति"

का अर्थ बिल्कुल यही है कि वे लोगो को सुलाने की शक्ति रखती हैं। यह तथाकथित व्याख्या हमे वह नही बताती जो हम जानना चाहते थे : इन गोलियो मे वह क्या गुण है जिसकी वजह से लोग सो जाते हैं ? "हाइड्रोजन का आक्सीजन से मिलने पर पानी क्यो बन जाता है ?" 'क्योकि हाइड्रोजन की आक्सीजन से बधुता होती है।" पर क से बधुता केवल क से सयुक्त होने की प्रवृत्ति है, और जो व्याख्या दी गई है वह यह नही बताती कि हाइड्रोजन मे यह प्रवृत्ति क्यो है : उसने तो प्रश्न को केवल दूसरे शब्दो मे दोहरा ही दिया है। "बिल्ली अपने बच्चो की रक्षा क्यो करती है ?" "क्योकि उसके अदर मातृत्व की सहज प्रवृत्ति है।" यह व्याख्या नितात खोखली नही है; क्योकि कुछ तो यह नई चीज बतानी है, और वह यह कि बिल्ली का व्यवहार सीखा हुआ नही है। पर, इसके अलावा वह कुछ नही बताती। कोई पशु जो कुछ भी करे, हम कह सकते हैं कि उसमे उस प्रकार का व्यवहार करने की सहज प्रवृत्ति है। परतु, मुख्य प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है . बिल्ली की शारीरिक रचना के अदर वह क्या विशेषता है जिसके कारण वह मातृत्व का व्यवहार प्रदर्शित करती है ? शायद उसके जीनो और गुणसूत्रो की कोई विशेषता। यह एक बहुत ही कठिन सवाल है, पर यह बात हमे हर हालत मे साफ समझ लेनी चाहिए कि सहज प्रवृत्ति कह देने से हमे लगभग कुछ भी जानकारी नही होती। हो सकता है कि रोबिन नामक पक्षियो के अदर प्रवास करने की सहज प्रवृत्ति हो—अर्थात् वे जरूर प्रवास करते हो—पर इससे हमे यह मालूम नही होता कि रोबिन क्यो प्रवास करते हैं और गौरैया पक्षी क्यो नही करते। ऐसी व्याख्याएँ जानकारी देने के बजाय हमे शब्द मात्र देती हैं . "सहज प्रवृत्ति", "बधुता", "शक्ति" इत्यादि।

मान लीजिए, आपकी घडी खराब हो गई है, और कोई कहता है, "इसमे एक बौना प्रेत है।" यदि हर बार जब घडी खराब होती है, ऐसा जीव उसके अंदर देखा जा सके, तो यह प्रकृति के बारे मे सचमुच एक दिलचस्प तथ्य होगा। तब शायद हर बार जब रेडियो खराब होता है, इसी छोटे से जीव की शरारत होती है। परतु चूंकि ऐसा कोई भी जीव किसी के देखने, छूने इत्यादि मे नही आया है, इसलिए उसके अस्तित्व को व्याख्या के रूप मे कैसे लिया जा सकता है ? एक अदृश्य बौने का बौने के न होने मे क्या फर्क है ? "अदृश्य बौना" और "कोई बौना नहीं" मे से आप किसको चुनेंगे ? क्या चुनने के लिए

कुछ है ? बौने मे विश्वास व्याख्या के लिए कोई महत्व नही रखता। वह सिर्फ एक लेवल प्रतीत होता है जिसे आप अपनी घड़ी की पीठ पर चिपकाना चाहते हैं ताकि उससे आपको घड़ी की हूबहू वही विशेषताएँ याद आ जाएँ।[1] हर बार जब घड़ी बिगड़ जाती है, आप कह सकते है कि "वह बौना प्रेत फिर आ गया" ; परंतु चूंकि वह किसी भी तरह पकड़ा नही जा सकता, इसलिए यह यह कहने के एक बढिया तरीके के अलावा क्या है कि घडी बिगड़ गई है ?

बौना प्रेत दिखाई नही दे सकता ; परतु व्याख्या के लिए उसका कोई मूल्य न होना अकेली इस बात के कारण से नहीं है। इलेक्ट्रोन भी दिखाई नही दे सकते, पर फिर भी वे व्याख्या की उत्कृष्ट शक्ति रखते है। इलेक्ट्रोन मे विश्वास से हम अनेक तार्किक परिणाम निकाल सकते हैं, और इन परिणामों (जो कि देखे जा सकते है) का पाया जाना इलेक्ट्रोन-सिद्धात को मजबूत कर देता है। परंतु प्रेत-सिद्धात के प्रसंग मे यह शर्त पूरी नही होती। यदि हम एक प्रेत को मान लेते है तो उसके द्वारा हम उस तथ्य के अलावा जिसकी व्याख्या करनी है (घड़ी का बिगड़ जाना), किसी भी बात की व्याख्या नहीं कर सकते। उससे हम कोई अन्य तार्किक परिणाम नही निकाल सकते। यह सिद्धांत व्याख्या के रूप में अशक्त है। यह सीधा-सा कथन भी भविष्यवाणी का कुछ आधार बन सकता है कि रेडियो प्लग के निकाल दिए जाने के कारण बोल नही रहा है : यदि प्लग को फिर लगा दिया जाए तो रेडियो फिर बोलने लगेगा। पर प्रेत-सिद्धात के आधार पर इससे अधिक कुछ कहा ही नही जा सकता कि घड़ी चल नही रही है। उसे फिर चलाने के लिए हम किसी भी जंतु को उसके बाहर नहीं खदेड़ सकते। हम सिर्फ वही कर सकते है जो हम प्रेत-सिद्धात के न होने पर किए होते : यानी घडी को खोलकर उसकी मरम्मत का काम। घड़ी का न चलना अवश्य ही हमारे अनुभव मे अतर पैदा करता है, परंतु प्रेत-सिद्धात इस तथ्य से अधिक कि घड़ी नही चल रही है, हमारे अनुभव मे कोई अतर पैदा नही करता।

प्रयोजनमूलक व्याख्याएँ —यहाँ तक प्रयोजनमूलक व्याख्या के बारे मे कुछ नही कहा गया है, पर फिर भी है यह व्याख्या सबसे पुराने प्रकार की। तूफान

---

१. जॉन विज़डम, अदर माइन्ड्स (आक्सफोर्ड, ब्लैकवेल, १६४६), अध्याय १।

होते है, केवल तभी हम ऐसे प्रयोजनो के आधार पर घटनाओं की व्याख्या कर सकते है। और, ऐसे नियम वास्तव मे कामचलाऊ ही होते है, जैसे यह कि लोग साधारणतः वह करते है जो वे करना चाहते है बशर्ते वे उसे करने मे असमर्थ न हो।

कभी-कभी लोग (खास तौर से बच्चे) व्याख्याओ से तब तक सतुष्ट नही होते जब तक उन्हे प्रयोजनपरक उत्तर न दिया जाए। चूंकि इसी प्रकार की व्याख्या से प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही चेतना मे सबसे अधिक परिचित होता है, इसलिए वह यह मान लिया करता है कि व्याख्या का रूप सदैव यही होना चाहिए। "वह क्यो मर गया ?" "सडक पार करते समय वह कार से टकरा गया और ......"। "नही, मेरा मतलब है कि वह क्यों मर गया, यह नही कि कैसे मर गया।" यदि घटना का तथा उसमे शामिल नियमो का पूरा ब्यौरा प्रश्नकर्ता को संतुष्ट नही करता तो शायद वह चाहता कोई ऐसी व्याख्या है (शायद उसे स्वय इसका साफ पता न हो) जो प्रयोजन पर आधारित हो : प्रस्तुत उदाहरण मे शायद व्यक्ति की मृत्यु के पीछे वह ईश्वरीय प्रयोजन देखता है। इस तरह की व्याख्याएँ—दैवी प्रयोजन पर आधारित—कभी सही होती भी है या नही, इस प्रश्न पर विचार हम यहाँ नही कर सकते, पर आगे अध्याय ७ मे थोडा-सा करेगे। यहाँ केवल इतना कहा जा सकता है कि यदि दैवी प्रयोजन होते है और यह हम जान सकते हैं, तो सबधित घटनाओ की व्याख्या प्रयोजन के आधार पर हो सकती है, अन्यथा नही। यह बात हर दशा मे सत्य होगी कि जब भी कोई प्रयोजन होता है तब कोई ऐसी चीज या सत्ता अवश्य होनी चाहिए जिसका वह प्रयोजन हो।

वर्णन बनाम व्याख्या—"विज्ञान हमे केवल यह बताता है कि चीजें कैसे होती है ; वह यह नही बता सकता कि वे क्यो होती है।" इस आम धारणा मे सार बहुत कम है। विज्ञान हमे बताता है कि क्यो लोहे पर जग लगता है, क्यो गुब्बारे ऊपर की ओर उठते है, क्यो नल फट जाते है इत्यादि। वह इन घटनाओं की व्याख्या नियमो और सिद्धातो के आधार पर देता है, और यही विज्ञान मे व्याख्या का अर्थ होता है। यदि यह व्याख्या नही है तो क्या है ? यह ठीक है कि वह यह वर्णन करता है कि चीजें कैसे होती है ; परन्तु चीजें कैसे होती हैं, यह दिखाने मे वह हमे बताता है कि वे क्यो होती है : वह घटनाओ को नियमो के अतर्गत लाता है। यदि कोई कहता है कि विज्ञान

यह व्याख्या नही करता कि अमुक घटना क्यो होती है, तो व्याख्या किसे माना जाएगा ? शायद आलोचक के मन मे यह बात है कि "क्यो" पूछनेवाले प्रश्न का सदैव प्रयोजन के आधार पर उत्तर नही दिया जा सकता और वह इस प्रश्न को प्रयोजनमूलक व्याख्या जानने के लिए पूछ रहा है। उस दशा मे, विज्ञान यह नही बता सकता कि क्यो हल्की गैसे ऊपर उठती है, पर फिर कोई और चीज भी तो नही बता सकती—वास्तव मे यदि उसे स्वीकार हो कि प्रयोजन मे प्रयोजनवाला विवक्षित है और यहाँ प्रयोजनवाला कोई नही है तो वह स्वतोव्याघात का दोषी होगा।

चरम नियम—हम किसी घटना की व्याख्या नियमो के आधार पर कर सकते है, और हम प्राय ऐसे नियम की व्याख्या अन्य नियमो या सिद्धातो के द्वारा कर सकते हैं। परतु जल्दी या देर मे हमारा ज्ञान समाप्त हो जाता है एक नियम या सिद्धात की व्याख्या के लिए हमारे पास कोई आधार नही बचता।

नलो के फटने की हम इस नियम से व्याख्या करते है कि पानी जमने पर फैलता है ; हम मान लेते है कि जमने पर पानी के फैलने की व्याख्या हम पानी के अणुओ की सरचना से सबधित किसी सिद्धात के द्वारा करते है। पानी के अणु की वह सरचना क्यो होती है ? क्या यह किसी अधिक आधारभूत नियम या सिद्धात का उदाहरण है ? मान लीजिए कि है। तो फिर, उस नियम या सिद्धात के बारे मे क्या कहेगे—उसकी व्याख्या क्या होगी ? उसकी हम व्याख्या नही दे सकते। हम कहेगे, "बात ही ऐसी है—यह विश्व के बारे मे एक अतिम नियम या सिद्धात है। हम अन्य बातो की इसके आधार पर व्याख्या दे सकते है, परतु इसकी हम व्याख्या नही दे सकते। यह एक 'कठोर तथ्य' है कि चीजें ऐसी ही है।" जब हम व्याख्याएँ खोजते-खोजते कुछ प्रारभिक सरचनाओ या प्रक्रमो मे पहुँच जाते हैं तब ऐसा लगता है कि और आगे जाने मे हम असमर्थ है। तथ्य यह है कि चीज की बनावट ही ऐसी है या इस या उस प्रकार के प्रक्रम परिवर्तन को निर्धारित करते है और इसी वजह से चीजो के वे गुणधर्म है जो उनमे अलग-अलग या सयुक्त रूप मे हैं, परतु हम इसकी व्याख्या नही दे सकते कि उनमे वे क्यो हैं। एक और उदाहरण लीजिए : जब एक तरग-दैर्घ्य वाला प्रकाश मेरी आँख के रेटिना पर पडता है तब मैं पीला देखता हूँ ; जब प्रकाश का तरग दैर्घ्य इससे कुछ

अधिक होता है तब मैं नारंगी रग देखता हूँ ; और इसी प्रकार आगे भी। परतु इस बात की कोई व्याख्या मैं नहीं दे सकता कि अमुक तरंग-दैर्ध्य वाले प्रकाश के फलस्वरूप मुझे उस विशिष्ट रंग का अनुभव क्यों होता है। उस प्रकाश और आँखों से होनेवाले उस अनुभव का सहसंबंध एक "कठोर तथ्य" मात्र है।

तो फिर ऐसा लगेगा कि विश्व मे कुछ आधारभूत या चरम नियम है। प्रकृति मे कुछ आधारभूत अचल तथ्य है जिनकी किसी अन्य बात से व्याख्या नही की जा सकती। परंतु, हम कदापि निश्चयात्मक रूप से यह नही कह सकते कि हमारे सामने जो कोई भी नियम है वह आधारभूत है। हो सकता है कि कल उसकी किसी अन्य नियम के द्वारा व्याख्या की जा सके। न्यूटन का सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण का नियम व्याख्या की अद्भुत क्षमता रखता है, पर बहुत समय तक यह सोचा जाता रहा कि स्वयं इसकी कोई व्याख्या नही दी जा सकती और इसलिए यह प्रकृति का एक चरम नियम है। परंतु आइन्सटाइन के आपेक्षिकता-सिद्धात ने न्यूटन के नियम को एक कही अधिक व्यापक सिद्धात का एक विशेष रूप बना दिया है। किसी भी समय हम विश्वस्त रूप से नही कह सकते कि अब तक जो नियम चरम माने गए है वे वास्तव में चरम है।

यदि एक निर्दिष्ट नियम (या सिद्धात) वास्तव मे चरम है, तो उसकी व्याख्या पूछना स्वतोव्याघाती है। किसी नियम की व्याख्या बताना उसे अधिक व्यापक नियमों और सिद्धांतो के तंत्र के अंदर स्थान देना है। एक आधारभूत या चरम नियम परिभाषा के अनुसार वह है जिसके संबध मे ऐसा नही किया जा सकता। अतः एक आधारभूत माने गए नियम की व्याख्या पूछना व्यावहारिक रूप से इस बात से इन्कार करना है कि वह एक आधारभूत नियम है। यह ऐसी स्थिति में व्याख्या माँगना है जिसमे माँगनेवाला स्वयं मानता है कि व्याख्या नही दी जा सकती। व्याख्या सदैव किसी अन्य चीज के द्वारा की जाती है। जब ऐसी कोई अन्य चीज हो ही नही जिसके द्वारा व्याख्या करनी है, तब व्याख्या करना तर्कतः असंभव है।

१३. आगमन की समस्या

जैसा कि हम देख चुके है, प्रकृति का नियम भूतकाल में देखी हुई किसी न बदलनेवाली बात के कथन से अधिक होता है। वह कहता है, "सब अ ब हैं"

—न केवल यहाँ बल्कि सब जगह, न केवल इस समय बल्कि सदैव। फिर भी इस नियम मे हमारे विश्वास करने का आधार यह है कि अब तक जितने भी उदाहरण हमने देखे हैं उनमे सब अ ब पाए गए। और यदि अब तक जितने उदाहरण हमने देखे है उनके अलावा भी उदाहरण है तो हम केवल इतना ही पता लगा पाए है कि कुछ अ ब है।

तो फिर हम कुछ से सब मे कैसे पहुँचते है ? निगमन से नही · यदि हम केवल इतना ही कहने की स्थिति मे हैं कि कुछ अ ब है, तो इससे हम वैध रूप से यह निगमन नही निकाल सकते कि सब अ ब है। फिर भी, प्रकृति का नियम यह बताता है कि सब अ ब है। क्योकि इस निष्कर्ष को हम निगमन से प्राप्त नही कर सकते, इसलिए सवाल यह है कि इसका औचित्य क्या है ?

इतना तो काफी स्पष्ट लगता है कि "कुछ" से "सब" मे छलाँग लगाना आगमन है। असल मे, अध्याय २ मे जब हमने आगमनात्मक तर्क की चर्चा शुरू की थी, तब यही हमने आगमन की विशेषता बताई थी। हमे यह कहने का अधिकार नही मिलता कि क्योकि कुछ अ ब हैं इसलिए अवश्य ही सब अ ब है, बल्कि केवल इस बात का मिलता है कि कुछ मात्रा मे यह प्रसभाव्य है कि सब अ ब है, और प्रसभाव्यता की यह मात्रा अ के ब होने के तथा किसी अ के ऐसे न निकलने के जो ब न हो, प्रत्येक नए उदाहरण के साथ उत्तरोत्तर बढती जाती है। यह प्रसभाव्यता कितनी मात्रा तक बढ जाती है, इस बारे मे विश्वास प्रसभाव्यता के बारे म हमारी धारणा पर निर्भर करता है, और इस बारे मे अनेक परस्पर विरोधी धारणाएँ है। जो भी हो, यदि जो लाखो अ हमने देखे है वे सब ब है और कोई अ ऐसा नही देखा गया जो ब न हो, तो अवश्य ही यह बात कुछ मात्रा मे प्रसभाव्य लगती है कि सब अ ब है—निश्चय ही इस बात से अधिक प्रसभाव्य कि कुछ अ ब नही हैं, जिसका कि हमारे पास कोई भी प्रमाण नही है।

तो फिर, ऐसा प्रतीत होगा कि इस बात का हमारे पास कुछ प्रमाण अवश्य है कि कल सूर्योदय होगा और गुरुत्वाकर्षण का नियम पूर्ववत् सत्य बना रहेगा। परतु यदि हमसे पूछा जाए कि "क्या आप जानते हैं (प्रबल अर्थ मे) कि ऐसा होगा ?", तो हमे निषेधात्मक उत्तर देना होगा, क्योकि अभी पूरा प्रमाण प्राप्त नही हुआ है, और हो सकता है कि कल के प्रेक्षण आज के प्रमाण के विपरीत निकलें। पर अभी दिए हुए दो उदाहरणो के अतर पर ध्यान दीजिए।

बावजूद इसके कि लाखो बार सूर्योदय हो चुका है, कल सूर्योदय होगा, इस बात के पक्ष मे प्रमाण उतना नही है जितना गुरुत्वाकर्षण के नियम के पक्ष मे है। भूतकाल मे अनेक एकरूपताएँ हुई हैं और फिर उनका होना बद हो गया। कई शताब्दियो तक घोडे और गधे-जैसे पशु चलने के अतिरिक्त मनुष्य के आने-जाने के मुख्य साधन रहे ; परतु इजन से चलनेवाले यानो के आविष्कार के बाद यह बद हो गया, हालाँकि कई शताब्दियो तक ऐसा नियमित रूप से होता रहा। अनेक शताब्दियाँ बीत गई जिनमे कोई आदमी वायुमडल से ऊपर नही गया, पर पिछली दशाब्दी मे यह नियमितता भी भग हो गई। जो मुर्गी को आजीवन चारा खिलाता रहा वही अत मे उसे मार देता है, इत्यादि। सूर्योदय के प्रसग मे यह पता लगाना कठिन नही है कि भविष्य मे किसी दिन सूर्योदय न हो, इसके लिए कौन-सी शर्तें पूरी होनी चाहिए सौरपरिवार के बाहर से आनेवाली कोई चीज या उसके अदर का भी कोई असाधारण रूप से ठोस धूमकेतु सामने से आकर पृथ्वी से टकरा सकता है और उसके नियमित रूप से अपने अक्ष पर घूमने को रोक सकता है ; और हम नही जानते कि भविष्य मे किसी दिन ऐसा नही होगा। वास्तव मे, ऐसा प्रकृति के किसी नियम का उल्लघन किए बिना भी हो सकता है ; यह पहले से जाने-पहचाने प्रकृति के नियमो का ही एक और उदाहरण होगा। यह बात समझ मे आ जाने के बाद हम इस बात पर कि सूर्य भविष्य मे प्रतिदिन उदित होगा, अपने जीवन, व्यवसाय या प्रतिष्ठा को उस तरह दाँव पर नही लगाएँगे जिस तरह गुरुत्वाकर्षण के नियम के प्रसग मे। पृथ्वी से किसी चीज के टकराने इत्यादि की कोई घटना विशेष न केवल तर्कत सभव है बल्कि अनुभवत भी सभव है। परतु गुरुत्वाकर्षण के नियम का काम बंद कर देना (अर्थात् विश्व की वस्तुओ की गति पर लागू होना बद होना) तर्कत सभव है लेकिन अनुभवत सभव नही है, क्योकि "आनुभविक सभवता" की परिभाषा ही स्वय प्रकृति के नियमो के आधार पर दी जाती है। वैज्ञानिक लोगो को प्रकृति के नियमो के सदैव काम करते रहने मे उससे कही अधिक दृढ विश्वास होता है जितना किसी विशेष घटना के होने या न होने मे होता है, बशर्ते वह घटना उन नियमो के विरुद्ध न हो। इसलिए, आगमन के बारे मे हमारे प्रश्न सूर्योदय जैसी विशेष घटनाओ को न लेकर नियमो के अविरत व्यापार को लेकर चलेंगे।

परन्तु अब हम प्रकृति के नियमो के अविरत व्यापार के बारे मे एक कहीं

अधिक आधारभूत और व्यापक प्रश्न पूछते हैं । सामान्य बुद्धि के अनुसार हमने यह कहकर सतोष कर लिया कि यद्यपि हम जानते नही हैं कि प्रकृति के नियम भविष्य मे भी उसी तरह काम करते रहेगे जिस तरह वे अब तक करते रहे, तथापि हमारे पास प्रत्येक प्रमाण यह दिखाता है कि वे पूर्ववत् काम करते रहेंगे । पर अब जो प्रश्न उठता है वह शुरू मे इतना अविश्वसनीय लगता है कि उसे पूछना तक पागलपन-सा प्रतीत होता है : क्या सचमुच हमारे पास इस बात का कोई सबूत है कि प्रकृति के नियम उसी तरह काम करते रहेंगे जिस तरह अब तक करते रहे ? शुरू मे इसका उत्तर स्पष्ट प्रतीत होगा : "निश्चय ही, हमारे पास है ! क्या यह तथ्य कि एक नियम इतने अधिक वर्षों से किसी भी अपवाद के बिना काम करता आया है, इस बात का बहुत अच्छा सबूत नही है कि वह कल भी काम करना जारी रखेगा ? इससे अच्छा सबूत क्या हो सकता है ? असल मे और सबूत ही क्या हो सकता है ?" और शायद यह उत्तर है भी सही । परतु अनेक चिंतनशील लोगो ने इससे इन्कार किया है, अथवा कम-से-कम इसका प्रतिवाद किया है, और अच्छा होगा कि हम यहाँ रुककर यह विचार कर लें कि प्रतिवाद क्यो किया गया है ।

जो व्यक्ति ऐसा प्रश्न पूछता है उसका तर्क इस प्रकार होगा : "भूतकाल मे बात एक नियमित तरीके से हुई है— तो क्या हुआ ? आप भूत को भविष्य मे ले जा रहे हैं, पर ऐसा करने का आपको क्या अधिकार है ? आप भूतकाल का विवरण मुझे बताइए, और मैं मान लेता हूँ : अ और ब का सहसंबध एकरूप है ; परतु इसका भविष्य से क्या सबध ? आप इतन दृढ विश्वास के साथ *क्यों* सोचते है कि भूतकाल में विश्व जिस तरह चलता रहा उससे हमे उसके भविष्य के बारे मे कोई सकेत मिलता है ? मुझे इस विश्वास मे कोई हेतु नही दिखाई देता कि भूतकाल मे ज्ञात एकरूपताएँ, चाहे कितने ही अधिक बार उनकी आवृत्ति क्यो न हुई हो, भविष्य की सूचक हो सकती हैं । क्या आपके पास इसका कोई हेतु है ? यदि है तो कृपया बताइए ।"

यह ध्यान रखिए कि सशयवादी का प्रश्न यह नही है कि "आप कैसे जानते हैं कि भूतकाल की एकरूपताएँ भविष्य मे भी जारी रहेंगी ?" कारण यह है कि इसका यह सीधा-सा उत्तर दिया जा सकता है कि "हम नही जानते, पर हमारे पास सबूत बहुत ज्यादा है ।" सशयवादी इससे कही अधिक मौलिक बात पूछता है ! वह पूछ रहा है, "आप कैसे जानते हैं कि भूतकाल मे एक-

रूपताओ का होना इस बात का कोई प्रमाण है कि भविष्य भूत के सदृश होगा ?" आगे वह कहता है, "आप नही जानते कि गुरुत्वाकर्षण का नियम कल भी काम करेगा। इतना ही नही ; आपके पास इसका कोई प्रमाण भी नही है कि वह कल भी काम करेगा। आपका तथाकथित प्रमाण भूतकाल से लिया हुआ है, परंतु मै उसे प्रमाण नही मानता। मैं कहता हूँ कि उसका इस बात से कोई सबंध है ही नहो। जब आप ऐसा कहते है तब आपने पहले से मान लिया है कि भूतकाल भविष्य का विश्वसनीय सूचक है। और ठीक यही वह बात है जिसका मैं प्रतिवाद कर रहा हूँ। जो भी हो, आपने बात को सिद्ध नही किया है। इस प्रकार, आप चाहे जिन अतीत प्रेक्षणो का हवाला दें, मैं फिर भी भविष्य को लेकर एक मौलिक सवाल पूछ सकता हूँ: तो क्या हुआ ?"

सशयवादी के प्रश्न का हम क्या उत्तर देगे ? क्या इसका उत्तर देने का कोई तरीका है भी ? दार्शनिको ने काफी कौशल दिखाकर इसका उत्तर देने की अनेक कोशिशे की है और इनमे से कई इतनी अधिक तकनीकी हैं कि यहाँ उनकी छानबीन नही की जा सकती। पहले हम सशयवादी को कई आसान उत्तर देकर जो उसका समाधान नही करते कुछ आपत्तियो का निवारण करते हैं।

१. "प्रकृति के नियम अनिवार्यतः भविष्य मे भी काम करते है। यदि नही करते, तो वे प्रकृति के नियम नही हैं। प्रकृति के नियमो की यह परिभाषक विशेषता ही है कि वे देश और काल की अपेक्षा न रखते हुए सत्य होते है।"

यह अतिम बात सत्य है। हमने पहले नियमो की जिन परिभाषक विशेषताओ की सूची दी है उनमे से यह एक थी। यह नियम का भूतकाल की किसी घटना से एक अतर है। परंतु तर्क इसके बावजूद असफल रहता है। आप परिभाषा के द्वारा किसी चीज को अस्तित्व मे नही ला सकते। आप कह सकते हैं कि यदि इसमे विशेषता अ नही होगी तो यह क नही होगी, परंतु इससे केवल इतनी ही बात निकलती है कि यदि इसमें विशेषता अ नही है तो यह क नहीं है। प्रश्न बदलकर केवल यह हो जाता है: "तो क्या अ है ?" शायद अब तक जो एकरूपताएँ देखी गई हैं और जिन्हे हम प्रकृति के सबंध नियम मान बैठे हैं वे आगे नही बनी रहेगी, और इस प्रकार जिसे हमने प्रकृति

का एक नियम समझ लिया था वह वास्तव मे नियम नही था। सशयवादी के प्रश्न को अब नए रूप मे रखा जा सकेगा: "हम कैसे जानते हैं कि नियम है ?"

२. "अ मे कोई ऐसी बात हो सकती है जो दिखाती हो कि उसे अवश्य *ब होना चाहिए, और उस दशा मे हम जान लेते है कि अ को अनिवार्यतः* सदैव, भूतकाल की तरह भविष्य मे भी, ब होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि सोने की परमाणुमय सरचना मे हमे कोई बात ऐसी मिल जाए जो यह प्रदर्शित करे कि ठीक वही सरचना वाली किसी भी चीज से अनिवार्यत. कुछ स्पेक्ट्रमी रेखाएँ निकलनी चाहिए, तो हम जान लेगे कि सोना सदैव इन रेखाओ का उत्सर्जन करता रहेगा ; और इस प्रकार वह एकरूपता ("यदि सोना है, तो ये स्पेक्ट्रमी रेखाएँ है") भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालो के लिए सिद्ध हो जाएगी। *अथवा, यदि कौओ के जीनो मे हमे कोई ऐसी विशेषता* मिल जाए जो यह प्रकट करे कि सभी कौओ को अनिवार्यत· काला होना चाहिए ··· । इत्यादि।"

परतु यह भी काफी नही होगा। यहाँ शक पैदा करनेवाले शब्द "अनिवार्यतः", "अवश्य", "चाहिए" है। प्रकृति हमे केवल यह दिखाती है कि चीजो मे क्या गुणधर्म हैं और किन गुणधर्मों के साथ कौन-से अन्य गुणधर्म रहते है। सोने के परिभाषक गुणधर्म जिस किसी चीज मे होते है उसमे अब *कुछ स्पेक्ट्रमी रेखाएँ भी पाई गई हैं। इसे प्रकृति का एक नियम मान लो।* अब सशयवादी पूछेगा कि हम कैसे जानते हैं कि यह सहसबध, या प्रकृति का नियम, भविष्य मे भी बना रहेगा। 'लेकिन उसे बना रहना होगा ! यह परमाणुमय सरचना वाली कोई भी चीज अवश्य · ·।" और यह हम कैसे जानते हैं ? *यह कोई तार्किक अनिवार्यता तो है नही।* चूँकि अब प्रकृति के सभी नियम प्रश्नाधीन है, इसलिए हम एक नियम का समर्थन दूसरे नियम से नही कर सकते। संशयवादी हमे केवल यह पूछेगा कि इस पिछले नियम का आधार क्या है।

प्रकृति की एकरूपता का सिद्धात—तो फिर प्रकृति के कामो के बारे मे हम कोई ऐसा सामान्य सिद्धात ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं जो शायद हमारे रोजाना के सोच-विचार मे आधार-रूप मे मान लिया गया होता है और जिससे हम यह निगमित कर सकें कि प्रकृति के नियम (अथवा वे जिन्हें हम प्रकृति

के नियम समझते हैं) भविष्य मे भी बने रहेगे। हम इस सरल सिद्धात की परीक्षा करके देख लें: "भूतकाल मे जिस तरह चीजें हुई हैं उसी तरह वे भविष्य मे भी होती रहेगी।"

परतु ऐसे सिद्धात के कथन मे हमे बहुत ही सावधान रहने की जरूरत है : जिस रूप मे वह ऊपर बताया गया है वह पर्याप्त नही है। स्पष्ट है कि भूतकाल मे उल्कापिडो के बार-बार पृथ्वी पर गिरने से यह अनुमान उचित नही हो जाता कि वे भविष्य मे भी गिरते रहेगे (उनकी सख्या पहले ही घटती नजर आ रही है और शायद अधिकतर उल्कापिड ग्रहो की कक्षाओ से हट गए हैं)। विगत शताब्दियो मे अमेरिका के आकाश मे यात्री कपोत (एक प्रकार का जगली कबूतर) चाहे कितनी ही एकरूपता के साथ क्यो न उडते रहे हो, हम यह आशा नही करते कि वे भविष्य मे भी उडते रहेंगे, क्योकि इस शताब्दी के शुरू मे ही उनका लोप हो गया था। अनेक बातो मे हम यह आशा नही करते कि भविष्य भूत की तरह होगा। हम यह आशा नही करते कि परमाणु-युग मे विश्व अनेक बातो मे प्राक्परमाणु-युग के विश्व के सदृश होगा। हम आशा करते हैं कि केवल कुछ ही एकरूपताएँ बनी रहेगी। परतु वे कौन-सी होगी ? शायद केवल वे जिन्हे हम प्रकृति के सच्चे नियम मानते हैं। जो भी हो, वैज्ञानिक केवल इन्ही के बारे मे यह कहना चाहेगे कि "वे जैसे भूतकाल मे थे वैसे ही भविष्य मे भी रहेगे।" उल्कापिडो के लगातार गिरते रहने या यात्री-कपोतो के प्रवास के बारे मे जो प्रतिज्ञप्तिया है उन्हे प्रकृति के नियम नही कहा जाता। तो फिर बात को हम इस रूप मे कहते है. "चूंकि कुछ एकरूपताएँ—वे जिन्हे हम सच्चे प्रकृति के नियम मानते हैं—भूतकाल मे हुई है, इसलिए वे भविष्य मे भी होती रहेगी।" इसे हम प्रकृति की एकरूपता का सिद्धात कहेगे।

इस सिद्धात की सहायता से अब हम वैध निगमन के द्वारा सशयवादी के विरुद्ध वाछित निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं :

जो एकरूपताएँ (जिन्हे हम प्रकृति के नियम मानते हैं) भूतकाल मे नियमित रूप से होती रही वे भविष्य मे नियमित रूप से होती रहेगी।

यह एकरूपता भूतकाल मे नियमित रूप से होती रही है।

इसलिए यह एकरूपता भविष्य मे नियमित रूप से होती रहेगी।

अब हमने वाछित निष्कर्ष निगमित कर लिया है। पर किसके द्वारा? उसे प्राप्त करने के लिए साध्य-आधारिका (ऊपर की युक्ति में पहला कथन) की जरूरत है, पर हम कैसे जानते है कि यह साध्य-आधारिका सत्य है? क्या प्रकृति की एकरूपता का सिद्धात हमारा एक अभ्युपगम मात्र है? पर हम कैसे जानते है कि हमारा अभ्युपगम सत्य है? क्या यह केवल एक आस्था या आशा है या अभिलाषानुसारी विचार है? एक अभ्युपगम मात्र से संशयवादी का समाधान नही होगा। जब तक हमे इस बात की चिंता न हो कि हमारा अभ्युपगम सत्य है या नही, तब तक किसी कठिन परिस्थिति से निकलने के लिए हम जो चाहे वह अभ्युपगम कर सकते है।

फिर भी, इसके बिना हम काम कैसे चलाएँ? यदि आप भविष्य के बारे मे एक निष्कर्ष निगमित करना चाहते है, तो जिन आधारिकाओ से निष्कर्ष प्राप्त करना है उनमे से कम से कम एक मे भविष्यविषयक किसी बात का होना आवश्यक है। पर ऐसी आधारिका को शामिल करते ही संशयवादी वही सवाल पूछ सकता है जो उसने स्वय निष्कर्ष को लेकर पूछा था। समस्या की केवल जगह बदली है, हल वह नही हुई।

'अच्छा, शायद हम यह सिद्ध नही कर सकते कि प्रकृति की एकरूपता का सिद्धात सत्य है। फिर भी, है वह अभिलाषानुसारी विचार या आस्था की वस्तु से अधिक। इस बात का काफी ज्यादा सबूत है कि वह सत्य है। उदाहरणार्थ, भूतकाल मे जब भी आपने यह भविष्यवाणी की थी कि यदि आप अपने हाथ से पेंसिल को छोड़ दें तो वह गिर जाएगी, तब हर बार वैसा ही हुआ; एक बार भी यह नही हुआ कि यह बात न हुई हो। यदि किसीने शर्त लगाई होती कि वैसा नही होगा, तो आप शर्त जीत गए होते। एक परखे हुए सच्चे मित्र के समान हम सदैव उसपर निर्भर कर सकते हैं। जब वह जो उस समय भविष्य था वर्तमान हो गया, तब पता चला कि नियम लागू होता है। इससे निश्चय ही यह सिद्ध नही होता कि वर्तमान के बाद भी वह सत्य होगा—परन्तु इससे कुछ प्रसभाव्यता उसे अवश्य प्राप्त होती है। क्या नही? क्या आप किसी अज्ञात व्यक्ति के या ऐसे आदमी के बजाय जिसने आपको धोखा दिया हो, ऐसे मित्र का विश्वास नही करते जो भूतकाल में विश्वासपात्र सिद्ध हुआ है? क्या कुत्ते तक उनके प्रति जिन्होंने उनके साथ दया का बर्ताव किया है, अपरिचितो या शत्रुओं की अपेक्षा भिन्न व्यवहार नहीं

करते ? यह बात कि चीजो ने भूतकाल मे एक तरीके से व्यवहार किया है, निश्चय ही यह सिद्ध नही करती कि वे आगे भी वह व्यवहार करती रहेगी (अर्थात् आप निगमन से इस निष्कर्ष को प्राप्त नही कर सकते)। परंतु, इससे यह अवश्य कुछ प्रसभाव्य हो जाता है। ऐसी बात नहीं है जैसे कि परिस्थिति हमारे लिए बिल्कुल नई हो। ऐसी बात नही है जैसे कि हमने भूतकाल मे कभी उसपर शर्त न लगाई हो, या शर्त लगाई हो पर हम शर्त हार गए हो। भूतकाल मे वह इतने अधिक बार सत्य रही है—वास्तव मे जब भी हमने उसके आधार पर भविष्यवाणी की तब हर बार—कि हमारा यह मानना कि वह भविष्य मे भी सत्य रहेगी, निश्चय ही उचित है।"

परतु, सशयवादी निश्चय ही इसे नहा मानेगा। वह कहेगा : "मनुष्य और पशु निश्चित रूप से आगमनशील होते है। लेकिन इसका औचित्य क्या है ? अभी जो युक्ति दी गई है उससे औचित्य सिद्ध नही होता। मैं मानता हूँ कि भूतकाल मे जब भी आपने भविष्यवाणी की कि पेंसिल गिर जाएगी तब सदैव वैसा हुआ। पर इससे यह सिद्ध नही होता कि अब जब आप यह भविष्यवाणी करेंगे तब ऐसा होगा---या ऐसा होने की प्रसभाव्यता भी है। आपने भूतकाल मे ऐसी भविष्यवाणी की थी, और आपकी भविष्यवाणी सत्य निकली थी। जो आपने भविष्यवाणी की थी वह उस समय भविष्य मे होना था। पर अब वह सब हो चुका है, वह अतीत हो गया है। आपके पास क्या प्रमाण है कि भावी भविष्य अतीत भविष्यो की तरह होगे ? सिद्ध करके दिखाइए कि अतीत भविष्य जिस तरह थे, भावी भविष्य भी वैसे ही होंगे—उनका वैसे होना प्रसभाव्य तक है। यह बात कि भविष्यवाणी सच हुई, भूतकाल की बात है—अब जो भविष्य है उससे इसका क्या सबध है ?"

एक और बात पर विचार कर लें। हम विशेष भविष्यवाणियाँ कर सकते है, यदि हम प्रकृति की एकरूपता के सिद्धात को मानकर चलें। परतु, स्वय इस सिद्धात को हम कैसे सिद्ध कर सकते है अथवा प्रसभाव्य तक दिखा सकते हैं ? भूतकाल की एकरूपताओं के आगे जारी रहने का आश्वासन केवल तब मिलता है जब हम इस सिद्धात को सत्य मान ले, और वे प्रसभाव्य केवल उतनी मात्रा मे होंगी जितनी मात्रा मे स्वय यह सिद्धात प्रसभाव्य है। पर हम कैसे दिखा सकते हैं कि यह सिद्धात प्रसभाव्य तक है ? ऐसा लगता कि यह सिद्धात प्रसभाव्यता का मानक बताता है जिसके आधार पर हम प्रसभाव्यता के सारे विशेष निर्णय करते है। घटनाओं के एकरूप अनुक्रम की भविष्य में

आवृत्ति होने मे विश्वास प्रकृति की एकरूपता के सिद्धात के आधार पर टिका हुआ है। जब हम यह कहते है कि अनुक्रम अ भूतकाल से आगे भविष्य मे जारी रहेगा, तब हम इस अनुमान का आधार इस सिद्धात को बनाते है। पर हम इस सिद्धात का उपयोग इसीको सिद्ध करने के लिए नही कर सकते। यह निश्चय ही चक्रकता का दोष होगा। हम इस सिद्धात का इस्तेमाल उसे प्रसभाव्य तक दिखाने के लिए नही कर सकते, क्योकि प्रसभाव्यता (भावी घटनाओ की) के आकलन का आधार स्वय यह सिद्धात होता है।

स्थिति यह लगती है : हम इस सिद्धात को इससे भी अधिक मौलिक किसी चीज से निगमन द्वारा प्राप्त नही कर सकते। न हम आगमन द्वारा इसे प्राप्त कर सकते है : आगमनात्मक युक्ति से हम इसे अधिक प्रसभाव्य तक नही सिद्ध कर सकते, क्योकि यह सिद्धात सभी आगमनात्मक युक्तियो मे पहले से आधार-रूप मे छिपा हुआ है।

हम एक बिल्कुल ही निराशाजनक स्थिति मे पहुँच गए लगते है। प्रकृति की एकरूपता के सिद्धात के समर्थन मे हमारे लिए कुछ भी कहना कैसे सभव है ? क्या वह बिल्कुल ही अरक्षणीय है ? इसके बावजद हम उसे छोडना भी नही चाहते। असल मे, सशयवादी की चालो के बारे मे हम कुछ सशकित हो सकते है—उसका समाधान किससे होगा ? भूतकाल मे जो कुछ देखा गया है उससे उसका समाधान नही होगा ; और न उन भविष्यवाणियो से होगा जो भूतकाल मे की गई थी और बाद मे सही निकली थी। इन सबके उत्तर मे वह यही कहेगा कि "इसका भविष्य से क्या सबध ?" ऐसा लगता है कि उसका किसी बात से समाधान होगा ही नही। असल मे, उसकी मांग को पूरा करना तर्कत असभव है। उसकी मांग केवल इस बात से पूरी होगी कि इस समय ऐसी घटनाओ की ओर सकेत किया जाए जो अभी भविष्य मे होनेवाली है, और यह तर्कत असभव है। जो घटनाएँ पहले हो चुकी हैं उनकी ओर इशारा करने से उसका समाधान नही होगा, क्योकि वह आसानी से यह कह देगा कि उनका भविष्य से कोई सबध नही है, और भूतकाल मे जो भविष्यवाणियां सही निकली है उनका उसपर कोई प्रभाव नही होगा, क्योकि वह कहेगा कि उनकी अब उसके दावे के लिए कोई उपयुक्तता नही रही—दावा यह है कि अब जो भविष्य है उसका, न कि अतीत भविष्य का, हमारे पास कोई प्रमाण नही है। इस प्रकार सशयवादी ने एक ऐसी मांग रखी है

जिसे पूरा करना तर्कतः असंभव है। निश्चय ही ऐसी स्थिति में कोई भी उसे पूरी नही कर सकता। तो फिर हम इस वात की कोशिश ही क्यों करें ?

लेकिन, क्या संशयवादी की वात में कोई तत्व नही है ? हम कैसे जानते हे कि प्रकृति की एकरूपता का सिद्धांत सत्य है, अथवा उसके पक्ष में कोई प्रमाण भी है ?

समाधान के प्रयत्न—क्या इन कठिनाइयो से निकलने का कोई तरीका है ? कई तरीके सुझाए गए है, पर हम वहुत ही सक्षेप मे उनकी कुछ रूपरेखा वता सकते है। दर्शन-सवंधी पत्रिकाओ मे इस प्रश्न पर जो विवाद चला है उसका अधिकाश अत्यधिक तकनीकी होने के कारण यहां नही दिया जा सकता, और अनेक समाधानो की रूपरेखा तक केवल लंबे-चौड़े गणितीय सूत्रो के द्वारा ही बताई जा सकती है।

"समस्या" के कुछ हल यह दिखाने के प्रयत्न है कि कोई समस्या वास्तव मे हल करने के लिए है ही नही। यह प्रयत्न अधिकाशतः इस वात की ओर ध्यान खीचकर किया गया है कि सशयवादी ने अपने तर्क मे कुछ महत्वपूर्ण शब्दो का प्रयोग विवेकपूर्वक नही किया है। उदाहरणार्थ, सशयवादी कहता है, "इस वात का कोई प्रमाण नही है कि प्रकृति की एकरूपताएँ जिस तरह भूतकाल मे रही है उसी तरह भविष्य मे भी रहेगी।" क्या कहा, कोई प्रमाण नही ? भूतकाल मे हजारो वार मैंने अपनी पेंसिल गिराई है और वह गिरी है ; कभी एक बार भी वह उड़कर ऊपर नही गई। इस वात से और भौतिक वस्तुओ के व्यवहार के वारे मे जितनी भी वाते मैं जानता हूँ उनसे मुझे यह विश्वास करना पडा है कि अब जब मैं उसे छोड़ूंगा वह गिर पड़ेगी। क्या यह कोई प्रमाण है ही नही ? यदि नहीं है, तो प्रमाण किसे माना जाएगा ? निश्चय ही, यह तो हमारे पास "अच्छे प्रमाण" का प्रतिमान ही है। यदि जो तथ्य अभी बताए गए है वे प्रमाण नहीं है तो क्या है ? क्या हो सकता है ? सशयवादी से हम पूछ सकते हैं, "जब आप कहते हैं कि इस प्रसग मे अच्छा प्रमाण है ही नही तव आप किस वात के न होने की वात कह रहे है ? कमी क्या है ? आप और किस चीज की प्रतीक्षा कर रहे है ?" और उत्तर स्पष्ट लगता है : किसी भी चीज को सशयवादी प्रमाण नहीं मानेगा ; जिसका इस समय अभाव है वह यदि स्वय भावी घटना का ही होना नहीं है तो उसे वह प्रमाण नही मानेगा—और जब यह घटना हो जाएगी तव वह भविष्य नहीं

रहेगी, तथा जो अभी भविष्य है उन घटनाओ को लेकर वह वही बात दोहराता है। इस समय कोई भी चीज ऐसी उपलब्ध नही है जिसे सशयवादी एक या दूसरी तरह भविष्य का प्रमाण मानेगा, जबकि हम बाकी लोग पेंसिल के पिछले व्यवहार को इस बात का प्रमाण मानते है कि वह इस बार भी गिरेगी। ऐसी बात नही है कि जैसे सशयवादी जादुई थैली से किसी जादुई खरगोश के निकलने की, अनुभव से किसी ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य की खोज की प्रतीक्षा कर रहा हो जो अकेला ही उसके सशय को दूर करने मे समर्थ हो। कोई चीज उसके सशय को दूर नही करेगी। कोई भी बात जो हम उसके सामने रखेंगे उसे विश्वास नही करा पाएगी। कारण सीधा-सा यह है कि जो भी चीज हम उसे इस समय दिखाते है वह वर्तमान है न कि भविष्य, और किसी भी वर्तमान चीज को वह भविष्य का प्रमाण कतई नही मानेगा। जो वह मांगता है उसे पूरा करना तर्कतः असभव है। पर क्या सशयवादी की मांग के तर्कतः असभव होने से उसका प्रयोजन निष्फल नही हो जाता ? यदि वह ऐसी मांग करता है जो तर्कत. असभव है, तो क्या हमसे उसे पूरी करने की आशा की जा सकती है ? वह कहता है कि हमारे पास कोई प्रमाण नही है, परंतु जो भी हम प्रस्तुत करते हैं उसे वह प्रमाण मानने से इन्कार कर देता है। कम-से-कम हम जानते हैं कि हम प्रमाण किसे कहेगे, और वह प्रमाण हम उसे दिखाते हैं। परतु वह केवल सिर हिला देता है और कहता है कि वह प्रमाण नही है। लेकिन तब तो वह "प्रमाण" शब्द का प्रयोग एक बहुत ही विचित्र रूप मे (निरर्थक रूप मे ?) कर रहा है, जिससे कुछ भी प्रमाण गिना ही नही जाएगा। तो क्या वह इसका प्रयोग किसी नए और विशिष्ट अर्थ मे कर रहा है, जैसे एक नई स्वनिर्मित परिभाषा मे होता है ? प्रकटत. नही, क्योकि उसने ऐसा कोई अर्थ हमे बताया नही है। जो भी तथ्य हम प्रस्तुत करते है वह तो केवल इस बात को दोहराता है कि वह प्रमाण नही है। क्या नही है ? प्रमाण नही है। और उसके प्रयोग के अनुसार प्रमाण क्या है ? वह नही बताता। तो क्या वह इसका प्रयोग निरर्थक रूप मे नही कर रहा है ? 'प्रमाण नही है।" क्या यह यह कहने के बराबर नही है कि "ग्लबग्लब नही है ?" उस आदमी के बारे मे हम क्या कहेगे जो बार-बार कहता है कि क नही है, पर यह बताने से इन्कार कर देता है कि क किसे कहा जाएगा ?

यदि हम "प्रमाण" के स्थान पर कोई और उपयुक्त शब्द रख दें, तो भी

सशयवादी की स्थिति मे कोई परिवर्तन नही होता। "यह मानने का कोई हेतु नही है कि यदि मैं पेंसिल को छोड दूं तो वह गिर जाएगी।" पर हम उत्तर देगे कि ऐसा मानने का पक्का हेतु है—जो हेतु हम दे चुके है वे। पेंसिल जब वास्तव मे गिर ही जाती है, तब इससे भिन्न और क्या हेतु चाहिए ? बल्कि तब तो हम किसी ऐसी बात मे जो अभी नही हुई है, विश्वास करने के लिए हेतु के होने की बात कहने के बजाय यह कह सकते है कि यह एक देखा हुआ तथ्य है। यदि सशयवादी कहता है कि ऐसा विश्वास करने का कोई हेतु नही है, तो वह हेतु किसे कहेगा ? वह उसे बताए जिसे वह ऐसा विश्वास करने का हेतु मानेगा। यदि नही बता सकता तो क्या इसका कारण यह नही है कि वह इस सदर्भ मे "हेतु" शब्द का कोई अर्थ मानने से इन्कार करता है ? वह कहता है कि कोई हेतु नही है। क्या नही है ? हेतु। और, क्योकि किसीको भी वह हेतु नही मानता, इसलिए इससे उसका क्या मतलब है ? यहाँ भी उसका दावा निरर्थक लगता है, क्योकि उसने बताया ही नही है कि उसके द्वारा प्रयुक्त एक महत्वपूर्ण पद ("विश्वास करने का हेतु") का क्या अर्थ है। परतु किसी निरथक आरोप का हमे उत्तर देने की वास्तव मे आवश्यकता ही नही है।

इस प्रसग मे हम एक और बात कह देते है आगमन निगमन नही है। हम भविष्य के बारे मे ऐसी आधारिकाओ से जो भविष्य के बारे मे कुछ भी नही कहती, वैध निष्कर्ष तकत निगमित कर ही नही सकते। ठीक है। पर इससे क्या प्रकट होता है ? केवल यह कि आगमन निगमन नही है। दोनो चीजे भिन्न है, और एक से हम जो आशा करते है वह आशा हमे दूसरे से नही करनी चाहिए। आगमन निगमन का एक खराब या असफल रूप नही है। वह निगमन है ही नही, और इसलिए जो निश्चयात्मकता निगमन से प्राप्त होती है उसे आगमन-प्रक्रिया से भी प्राप्त करने की आशा करना उचित नही है। यदि आगमन से ऐसे नतीजे प्राप्त होने लगे तो वह निगमन हो जाएगा, आगमन नही रहेगा। क्या कुत्ते पर यह दोपारोपण किया जा सकता है कि वह बिल्ली क्यो नही हुआ ?

वास्तव मे, काफी जोरदार तरीके से यह दलील दी गई है कि सामान्य आगमन का औचित्य दिखाने का कोई उपाय न है, न हो सकता है और न उसकी आवश्यकता ही है— कि उसका औचित्य सिद्ध करने का पूरा प्रयत्न ही

गलत है। हम यादृच्छिक प्रतिचयन इत्यादि कुछ प्रक्रियाओ को आगमन मानने का औचित्य (यह देखकर कि विश्वसनीय नतीजे किससे प्राप्त होते हे) दिखा सकते है, परतु सामान्य आगमन का औचित्य दिखाने की कोशिश न हम कर सकते हे और न करने की आवश्यकता है।

किसी विशेष विश्वास के बारे मे यह पूछना आम तौर पर उचित होता है कि उसे स्वीकार करना ठीक है या नही , और यह बात पूछकर हम यह जानना चाहते है कि उसके पक्ष मे कोई अच्छा, बुरा या कुछ भी प्रमाण है या नही। विशेष विश्वासो के प्रसग मे "उचित", "सुस्थापित" इत्यादि विशेषणो का प्रयोग करने या न करने मे हम आगमनिक मानको का आश्रय ले रहे होते हैं। परतु जब हम यह पूछते हैं कि आगमनिक मानको को लागू करना उचित है या नही अथवा उनका आधार पक्का है या नही, तब हम किन मानको का आश्रय ले रहे होते हैं ? यदि हम उत्तर देने मे असमर्थ है तो कारण यह है कि सवाल का ही कोई अर्थ नही बताया गया है। उसकी इस सवाल से तुलना कीजिए : क्या कानून कानून सम्मत है ? किसी विशेष काम या किसी विशेष प्रशासनिक विनियम के बारे मे अथवा विधानमडल के किसी विशेष अधिनियम (कुछ राज्यो के प्रसग मे) तक के बारे मे यह पूछना बिल्कुल अर्थ रखता है कि वह कानून-सम्मत है या नही। इस सवाल का जवाब किसी विधि-तन्त्र या कानूनी व्यवस्था का आश्रय लेकर दिया जाता है। परतु सामान्य रूप मे यह पूछना कोई अर्थ नही रखता कि देश का कानून या पूरा ही विधि-तत्र कानून-सम्मत है या नही। उसका जवाब हम कानून के किन मानको का आश्रय लेकर देंगे ?

आगमन सामान्य रूप मे एक उचित या उचित सिद्ध की जा सकनेवाली प्रक्रिया है या नही, इस प्रश्न को कोई अर्थ प्रदान करने का केवल एक तरीका है और वह तुच्छ सा लगेगा। .... उसका यह अर्थ लगाया जा सकता है : "क्या आगमन से प्राप्त सभी निष्कर्ष उचित हैं ?" अर्थात् "क्या लोगो के पास जो निष्कर्ष वे निकालते है उनका सदैव पर्याप्त प्रमाण होता है ?" इस प्रश्न का उत्तर आसान है पर दिलचस्प नहीं है : उत्तर यह है कि प्रमाण कभी पर्याप्त होता है और कभी नही होता।[1]

---

१. पी० एफ० स्ट्रॉसन, इन्ट्रोडक्शन टु लॉजिकल थियरी, पृष्ठ २५७।

बहुत-से लोग इन तर्कों को इस समस्या के निश्चित समाधान के लिए या समस्या को समाप्त ही करने के लिए पर्याप्त मानेगे। पर कुछ शायद इनसे सतुष्ट नही होगे। वे पूछेगे कि क्या और कुछ भी नही कहा जा सकता ? और वास्तव मे सुझाव और भी बहुत-कुछ दिए गए है। परिच्छेद के अत मे हम एक ऐसे ही सुझाव की चर्चा करेगे।

हम प्रकृति की एकरूपता के सिद्धात को (अथवा किसी भी ऐसे अन्य सिद्धात को जिसे आगमन का आधार या मूल आधारिका माना जा सके) किसी अधिक मौलिक सिद्धात से, कम से-कम उससे जिसका सत्य होना ज्ञात हो, निगमित करके सिद्ध नही कर सकते। न उसे आगमन के द्वारा अधिक प्रसभाव्य ही बनाया जा सकता है, क्योकि यह सिद्धात स्वय ही सपूर्ण आगमनिक तर्क मे आधार के रूप मे पहले से शामिल रहता है। (यहाँ निगमनात्मक तर्क के आधार के साथ बहुत जोरदार सादृश्य है। देखिए पृ० ३१४-७) परतु हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि व्यावहारिक औचित्य दिखा दे—स्वय इस सिद्धात का नही, बल्कि इस बात का कि हम उसे क्यो स्वीकार करते है। हमारा उसे स्वीकार करना एक काम है और किसी काम का औचित्य यह बताकर दिखाया जा सकता है कि उसे करने से कौन-सा प्रयोजन या उद्देश्य पूरा होता है। बेसबॉल, शतरज या टनिस मे कुछ नियमो को स्वीकार करने का हम एक व्यावहारिक औचित्य दिखा सकते हैं : अन्यो के बजाय उन नियमो को स्वीकार करके हम खेल को अधिक प्रतियोगिता-पूर्ण, कौशल की अधिक अच्छी परख करनेवाला, अधिक मनोरजक, अधिक रोचक या उत्तेजक इत्यादि बना देते हैं। शायद ऐसा ही कुछ आगमन के इस सिद्धात के सबध मे भी किया जा सकता है। हम (आगमन या निगमन से) उसको सिद्ध तो नही कर सकते, परतु यह दिखाकर कि उसे स्वीकार करने से कौन से उद्देश्य पूरे होते है, एक प्रकार के वैज्ञानिक खेल के एक नियम के रूप मे हम उसके अपनाए जाने का औचित्य दिखा सकते हैं। उद्देश्य है और नियमो की खोज, जिससे हमे घटनाओ के क्रम की भविष्यवाणी करने मे अधिक सफलता प्राप्त होती है। विशेष बात यह है कि हम प्रकृति के रहस्यो को खोजना चाहते हैं ताकि हम उसे समझ सकें, उसकी भविष्यवाणी कर सकें और उसपर नियत्रण कर सकें। ऐसा स्फटिक पर दृष्टि एकाग्र करके (अलौकिक ज्ञान की एक परामानसिकीय प्रणाली), अत प्रज्ञा से, या सिक्के उछालकर

नही किया जा सकता। यदि ऐसा किया जा सकता है तो केवल इस तरह से कि प्रकृति जिस ढग से काम करती है उसका धीरे-धीरे धैर्य के साथ सतर्कतापूर्वक प्रेक्षण किया जाए, जो एकरूपताएँ प्रतीत होती हैं उनको नोट किया जाए, उनके जो अपवाद है उन्हे नोट किया जाए, सच्ची एकरूपताओ को खोजने की फिर कोशिश की जाए, व्याख्या करनेवाली प्राक्कल्पनाओ की रचना की जाए, उनकी जाँच की जाए और यह प्रक्रिया अनत तक चलती रहे। प्रकृति के रहस्यो को खोजने का यही एकमात्र तरीका है। यदि हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते है और ज्ञान के द्वारा भविष्यवाणी करने की शक्ति, तो यही एकमात्र तरीका है जिससे ऐसा किया जा सकता है। इस प्रकार, यदि प्रकृति मे कोई व्यवस्था है तो आगमन की प्रणाली से उसे खोजा जा सकता है।

निश्चय ही हम जानते नही है कि प्रकृति मे कोई व्यवस्था है—कि कम-से-कम भूत से भविष्य मे पहुँचनेवाली कोई व्यवस्था है। सभव है कि कल विश्व का व्यवहार इतना भिन्न हो कि आज के हमारे सब सुप्रमाणित सामान्यीकरण खडित हो जाएँ। परतु यदि प्रकृति मे कोई अविच्छिन्न व्यवस्था है तो उल्लिखित प्रक्रियाएँ हमे उसके स्वरूप को विस्तार के साथ जानने मे समर्थ बना सकती हैं। हम कुछ-कुछ एक ऐसे रोगी की स्थिति मे हैं जो एक गभीर बीमारी से पीडित है :

डाक्टर हमे बताता है : "मैं नही जानता कि आपरेशन से आदमी बच जाएगा, पर यदि कोई इलाज है तो आपरेशन ही है।" ऐसी हालत मे आपरेशन का औचित्य है। निश्चय ही, यह जानना और अच्छा होगा कि आपरेशन से आदमी बच जाएगा; परतु यदि हम यह नही जानते, तो भी डाक्टर के कथन मे जितना ज्ञान समाविष्ट है उतना ही उसका औचित्य दिखाने के लिए पर्याप्त है। यदि हम सफलता की पर्याप्त शर्तों को पूरा नही कर सकते तो कम-से-कम आवश्यक शर्तों को तो हम पूरा करेंगे ही। यदि हम यह दिखा सकते कि आगमनिक अनुमान सफलता की आवश्यक शर्त है तो उसका औचित्य सिद्ध हो जाता। आगमन के औचित्य के बारे मे जो भी माँग उठाई जाएगी उसकी पूर्ति ऐसे प्रमाण से हो जाएगी।[1]

---

१ हन्स राइखेनबाक, ऐक्सपीरियन्स ऐंड प्रिडिक्शन, पृ० ३४९।

निश्चय ही, यह हो सकता है कि जिस प्रकार आदमी शायद आपरेशन के बाद भी न बचे उसी प्रकार प्रकृति मे अविच्छिन्न रूप से बनी रहनेवाली कोई व्यवस्था न हो। उस दशा मे आगमनिक प्रक्रियाओ के द्वारा प्रकृति के रहस्यों को खोजने के हमारे सारे प्रयत्न व्यर्थ होगे। परतु यदि प्रकृति मे कोई व्यवस्था है, जिसके नियम, जैसा कि आगमिनक सिद्धात हमे आश्वस्त करता है, सपूर्ण दिक् और काल मे अविच्छिन्न बने रहते है, तो हम उसे खोजने मे समर्थ हो सकते है — हम नही कह सकते कि हम समर्थ होगे, क्योकि यह हमारे बुद्धि-कौशल पर निर्भर करता है। यदि हम शर्त लगाकर कहे कि ऐसी कोई व्यवस्था है ही नही, तो हम देखने तक का कष्ट नही करेंगे—हम पहले ही हार मान लेगे। परतु यदि हम शर्त लगाकर कहें कि व्यवस्था है, तो हम काम मे लग जाएँगे और उसे खोजने की कोशिश करेगे ; और यदि हम पर्याप्त प्रयत्न करें तो शायद हम सफल हो जाएँ। प्रकृति की एकरूपता के सिद्धात को स्वीकार करने का बस यही हमारा व्यावहारिक औचित्य है। इसके बिना हमारा असफल होना अवश्यभावी है ; इसके होने से शायद हम सफल हो जाएँ।

१४. परीक्षणीयता और अर्थ

इंद्रियानुभविक विज्ञान मे जो भी कथन किया जाता है, चाहे वह एकव्यापी हो ("यह एक कायातरित शैल का टुकडा है") या नियम हो ('पानी २१२° फा० पर खौलता है") या सिद्धात हो ("हीलिअम के परमाणु मे दो इलेक्ट्रोन होते है"), उसका किसी तरह परीक्षणीय होना आवश्यक होता है। उसकी सत्यता या असत्यता का हमारे ऐंद्रिय अनुभवो मे कोई अतर पैदा करनेवाली होना जरूरी है। इस प्रकार हमे सार्थकता की एक और कसौटी प्राप्त हो जाती है, और यह है परीक्षणीयता की कसौटी।

यदि कोई एक ऐसा वाक्य कहता है जिसे आप नही समझते, जैसे "सारा जगत् माया है", तो आपका पहला उत्तर होगा, "इसका क्या अर्थ है ?" या "मैं नही समझा, कृपया समझाइए"। पर आप यह भी कह सकते हैं, "कृपया मुझे बताइए कि आपके वाक्य के सत्य या असत्य होने का पता करने के लिए क्या करना होगा।" इस तरह आप यह आशा करेंगे कि यदि वह यह बता दे तो आप उसके कथन का अर्थ जान लेंगे। यहाँ सार्थकता की परीक्षणीयता वाली कसौटी सामने आती है : यदि कोई भी तरीका ऐसा न बताया जा सके

जिससे वाक्य (अधिक सही उसके द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति कहना होगा) की परीक्षा की जा सके, तो वाक्य निरर्थक है। अर्थ जानना यह जानना है कि वाक्य की परीक्षा कैसे की जा सकती है।

सत्यापनीयता—अर्थ को परीक्षणीयता पर आधारित करनेवाले मत के दो रूप है : सत्यापनीयता और संपुष्टियोग्यता। किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन ऐसे प्रेक्षणो के द्वारा किया जाता है जिससे हमे निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार मिल जाए कि प्रतिज्ञप्ति सत्य या असत्य है। (कभी-कभी हम एक और अंतर करते हैं : सत्यापन यह निर्धारित करना है कि प्रतिज्ञप्ति सत्य है और मिथ्यापन यह निर्धारित करना है कि वह मिथ्या है।) संपुष्टि करना एक या अधिक ऐसे प्रेक्षण करना है जो प्रतिज्ञप्ति की सत्यता या असत्यता को निश्चयात्मक रूप से सिद्ध या असिद्ध न करें बल्कि केवल उसकी प्रसंभाव्यता को बढा या घटा दें। यदि किसी थैली की १०० गोलियो मे से मैंने ५० की जांच कर ली है और उन सबको काली पाया है, तो मैंने इस प्रतिज्ञप्ति की कि थैली की सब गोलियां काली हैं संपुष्टि कर ली है। सत्यापन यह नही है, क्योंकि वह तब होगा जब मैं पूरी १०० गोलियो की जांच कर लूं।

सत्यापन और संपुष्टीकरण दोनों ऐसी बातें हैं, ऐसी क्रियाएँ है, जिन्हे हम करते हैं। हम कुछ रासायनिक परीक्षण करके यह सत्यापित करते हैं कि यह शक्कर है या नमक है। ऐसा न कहिए कि यह प्रतिज्ञप्ति कि यह द्रव लाल लिटमस पत्र को नीला कर देता है, इस प्रतिज्ञप्ति को सत्यापित या संपुष्ट कर देती है कि यह द्रव क्षारक है। प्रतिज्ञप्तियां नही एक-दूसरी को सत्यापित *करती ; लोग प्रतिज्ञप्तियो को सत्यापित करते हैं।*

सत्यापनीयता वाली कसौटी यह नही कहती कि कथन सार्थक केवल तब होता है जब वह सत्यापित हो जाता है, और न संपुष्टि-योग्यता वाली कसौटी यह कहती है कि वह सार्थक केवल संपुष्ट होने पर होता है। हमे पता नही है कि चंद्रमा के दूसरी ओर कितने पर्वत हैं, पर यह कथन निश्चय ही सार्थक है कि वहां २००० पर्वत हैं। वास्तव मे, इसका सत्यापन या संपुष्टीकरण हम तब तक कर ही नही सकते जब तक हम यह नहीं जान लेते कि जिस कथन का सत्यापन या संपुष्टीकरण करना है उसका अर्थ क्या है। परीक्षणीयता वाली कसौटी यह कहती है कि हम अर्थ केवल तब जानते हैं जब हम यह जान लेते है कि कथन कैसे सत्यापित या संपुष्ट किया जाएगा, चाहे किसीने ऐसा

सचमुच किया हो या नहीं। अर्थ सचमुच किए गए सत्यापन पर नही बल्कि सत्यापनीयता पर—दूसरे शब्दो मे, सत्यापन (या संपुष्टीकरण) के सभव होने पर, निर्भर होता है।

"संभव" के किस अर्थ में सत्यापन का संभव होना जरूरी है ? प्रविधितः संभव होना नही : इस समय अतरिक्ष-यान के द्वारा लुब्धक तारे तक पहुँचना प्रविधितः संभव नही है, पर इस वजह से वे कथन निरर्थक नही हो जाते कि यदि हम वहाँ की यात्रा कर सकें तो वहाँ क्या-क्या पाएँगे। अनुभवत. सभव होना भी नही : यदि एक तारा १००० प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है तो हमारे लिए यह पता लगाना अनुभवतः असंभव है कि आज उस तारे के पृष्ठ पर क्या हो रहा है, क्योकि आज उस तारे से जो प्रकाश १८६००० मील प्रति सेकंड के वेग से चलता है वह पृथ्वी पर एक हजार वर्ष तक नही पहुँचेगा ; पर फिर भी यदि हम कहें कि उस तारे के पृष्ठ पर आज धब्बे है तो हम कोई निरर्थक बात नही कह रहे है। जरूरत है सत्यापन के तर्कतः संभव होने की। और एक बार फिर कह दिया जाए कि तर्कतः सभव होने का केवल यह अर्थ है कि उक्त प्रतिज्ञप्ति मे कोई व्याघात नही है। "उस तारे के पृष्ठ पर आज जो कुछ हो रहा है उसका मुझे आज पता चला" स्वतोव्याघाती नही है, परंतु, प्रकाश के वेग को देखते हुए इस बात का आज पता लगाना अनुभवतः असभव है। इस प्रकार इस कथन का सत्यापन तर्कतः संभव है, पर अनुभवतः सभव नही है (और फलतः प्रविधितः भी संभव नहीं है)।

परीक्षणीयता वाली कसौटी जो कहती है वह वास्तव में काफी सत्य लगता है : जब भी कोई ऐसा वाक्य बोलता है जिसका अर्थ आपकी समझ मे नही आता, आप उससे पूछिए, "यदि यह सत्य है तो आपको कैसे पता चलेगा ?" इस कसौटी से "सात नीला है," "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" और इसी तरह के अनेक अन्य वाक्य तत्काल निरर्थक होकर बाहर कर दिए जाएगे। पर दैनिक जीवन और विज्ञान मे प्रयुक्त अधिकतर वाक्य— जैसे "इस समय मैं एक किताब पढ़ रहा हूँ," "अन्य ग्रहो मे जीवन है," "सोना पीटने पर फैलता है," "तापमान के स्थिर रहने पर गैस का आयतन उसके दबाव के साथ प्रतिलोम अनुपात रखते हुए बढ़ता-घटता है"—सब सार्थक है, क्योकि हम जानते है कि कैसे इनके सत्य होने या न होने का पता लगाया जाएगा (भले ही कोई सदैव यह पता लगाने की स्थिति मे न हो)। शायद अंततोगत्वा हमे सार्थक वाक्यो

को निरर्थक वाक्यों से अलग पहचानने के लिए एक संतोषजनक कसौटी मिल ही गई है।

परतु इस कसौटी मे जो भी अच्छाइयाँ हो, अनेकार्थकता का अभाव इसमे नही है। हम इसके अनेक अर्थों मे से कुछ सबसे अधिक महत्वपूर्ण अर्थों को यहाँ बताएंगे और तब इस कसौटी की समीक्षा के रूप मे कुछ सामान्य बातें कहेगे।

प्रारभ मे ही एक आपत्ति पर विचार कर लें। "यदि प्रत्येक कथन का सार्थक होने के लिए परीक्षणीय होना जरूरी है तो स्वय इस कथन के बारे मे क्या कहेगे? क्या यह परीक्षणीय है? यदि नही, तो आपका कथन स्वयं ही निरर्थक है।"

"हमे कथन और अधिकथन—अर्थात् कथन के बारे मे कथन—मे अतर करना होगा। मेरा यह कथन कि प्रत्येक सार्थक कथन को परीक्षणीय होना चाहिए, जगत्-विषयक कथन नही है बल्कि कथन-विषयक कथन है। सार्थकता के बारे मे जो कुछ मैं कहता हूँ वह केवल जगत् के बारे मे किए जानेवाले कथनो पर लागू करने के लिए है।"

"मैं अब भी यह नही समझा कि आपकी परीक्षणीयता वाली कसौटी की स्थिति क्या है। क्या यह सार्थक कथनो के बारे मे एक सामान्यीकरण है? क्या आप यह कह रहे हैं कि सब कथन जो सार्थक है, सत्यापनीय भी हैं? यदि ऐसा है, तो मैं आपको कुछ विपरीत उदाहरण बता सकता हूँ, परतु सबसे महत्व की बात आपको यह याद दिलाना है कि यदि बात ऐसी है तो आप मुझे अर्थ की एक कसौटी नही बता रहे हैं बल्कि ऐसी कसौटी का पहले से ही अस्तित्व मान रहे हैं। आप यह कह रहे हैं कि जो सार्थक है (शायद किसी ऐसी कसौटी के अनुसार जो आपने नही बताई है) वह सत्यापनीय भी है।"

"परतु ऐसा मैं नही कर रहा हूँ। मैं अर्थ की परिभाषा दे रहा हूँ, सार्थक वाक्यों के बारे मे कोई सामान्यीकरण नहीं कर रहा हूँ।"

"क्या आप स्वनिर्मित परिभाषा बता रहे है? उस दशा मे मुझे आपकी परिभाषा को मानने का कोई कारण नही दिखाई देता : मैं आपकी परिभाषा को अस्वीकार करने और स्वय एक और परिभाषा का निर्माण करने मे स्वतत्र हूँ। परतु यदि आप यह सूचना दे रहे हैं कि लोग वास्तव मे 'अर्थ' शब्द का प्रयोग कैसे करते हैं तो मैं केवल यही कहूँगा कि आपकी सूचना गलत है : मैं

सचमुच किया हो या नही। अर्थ सचमुच किए गए सत्यापन पर नही बल्कि सत्यापनीयता पर—दूसरे शब्दो मे, सत्यापन (या सपुष्टीकरण) के सभव होने पर, निर्भर होता है।

"सभव' के किस अर्थ मे सत्यापन का सभव होना जरूरी है ? प्रविधित: सभव होना नही : इस समय अतरिक्ष-यान के द्वारा लुब्धक तारे तक पहुँचना प्रविधित: सभव नही है, पर इस वजह से वे कथन निरर्थक नही हो जाते कि यदि हम वहाँ की यात्रा कर सके तो वहाँ क्या-क्या पाएँगे। अनुभवत सभव होना भी नही : यदि एक तारा १००० प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है तो हमारे लिए यह पता लगाना अनुभवत. असभव है कि आज उस तारे के पृष्ठ पर क्या हो रहा है, क्योकि आज उस तारे से जो प्रकाश १८६००० मील प्रति सेकड के वेग से चलता है वह पृथ्वी पर एक हजार वर्ष तक नही पहुँचेगा ; पर फिर भी यदि हम कहे कि उस तारे के पृष्ठ पर आज धब्बे है तो हम कोई निरर्थक बात नही कह रहे है। जरूरत है सत्यापन के तर्कत सभव होने की। और एक बार फिर कह दिया जाए कि तर्कत सभव होने का केवल यह अर्थ है कि उक्त प्रनिज्ञप्ति मे कोई व्याघात नही है। "उस तारे के पृष्ठ पर आज जो कुछ हो रहा है उसका मुझे आज पता चला" स्वतोव्याघाती नही है, परतु, प्रकाश के वेग को देखते हुए इस बात का आज पता लगाना अनुभवतः असभव है। इस प्रकार इस कथन का सत्यापन तर्कत सभव है, पर अनुभवत सभव नही है (और फलतः प्रविधितः भी सभव नही है)।

परीक्षणीयता वाली कसौटी जो कहती है वह वास्तव मे काफी सत्य लगता है जब भी कोई ऐसा वाक्य बोलता है जिसका अर्थ आपकी समझ मे नही आता, आप उससे पूछिए, "यदि यह सत्य है तो आपको कैसे पता चलेगा ?" इस कसौटी से "सात नीला है," "शनिवार बिस्तर पर लेटा है" और इसी तरह के अनेक अन्य वाक्य तत्काल निरर्थक होकर बाहर कर दिए जाएगे। पर दैनिक जीवन और विज्ञान मे प्रयुक्त अधिकतर वाक्य– जैसे "इस समय मैं एक किताब पढ रहा हूँ," "अन्य ग्रहो मे जीवन है," "सोना पीटने पर फैलता है," "तापमान क स्थिर रहन पर गैस का आयतन उसके दबाव के साथ प्रतिलोम अनुपात रखते हुए बढता-घटता है"—सब सार्थक है, क्योकि हम जानते है कि कैसे इनके सत्य होने या न होन का पता लगाया जाएगा (भले ही कोई सदैव यह पता लगाने की स्थिति मे न हो)। शायद अततोगत्वा हमे सार्थक वाक्यो

'अर्थ' शब्द का इस रूप में प्रयोग नही करता और न मैं यही समझता हूँ कि अधिकतर लोग इस रूप में प्रयोग करते हैं।"

"असल में मैं तो यह समझता हूँ कि अधिकतर लोग 'अर्थ' का प्रयोग इस रूप में करते ही है—कि यदि किसी कथन की परीक्षा करने का कोई तरीका समझ में नही आता तो वे नहीं जानते कि उसका अर्थ क्या है। किसी कथन का अर्थ जानने के लिए हमारा यह जानना जरूरी है कि उसकी परीक्षा कैसे की जाएगी। दैनिक जीवन में हम इस कसौटी का प्रयोग करते ही हैं। परंतु मैं नहीं चाहता कि मै यह बात शर्त लगाकर कहूँ : कुछ लोग अवश्य ही निरर्थक बातें कहते है और सोचते यह है कि वे अर्थयुक्त बात कह रहे है। हाँ, यह स्वनिर्मित परिभाषा है। परंतु बिलकुल मनमाने ढंग से या किसी आधार के बिना यह नहीं रची गई है। 'अर्थ' शब्द को यह अर्थ देकर मैं एक स्पष्ट और निश्चित कसौटी प्रस्तुत कर रहा हूँ और आपसे यह आग्रह कर रहा हूँ कि इसे अस्वीकार करने से पहले जांच तो ले। मेरा निवेदन यह है कि कोई कथन सार्थक तब और केवल तभी होता है जब वह किसी तरह से परीक्षण-योग्य हो। यदि आप कोई कथन प्रस्तुत करते है और उसकी परीक्षा करने का कोई भी तरीका नहीं सोच सकते, यदि आप कोई भी ऐसा प्रेक्षण नही सोच सकते जिसका उसकी सत्यता या असत्यता से कोई संबंध हो, तो क्या आप उसका कोई अर्थ समझेंगे? और यदि दो कथन ऐसे हों कि उनका सत्यापन प्रेक्षणों की ठीक एक ही शृंखला से हो सके, तो क्या उनका एक ही अर्थ नही होगा? मेरा आपसे अनुरोध है कि यदि आपने इस कसौटी का अब तक प्रयोग नही किया है (मैं सामान्य रूप से सोचता हूँ कि आपने किया है), तो करना चाहिए, क्योंकि केवल इस कसौटी का प्रयोग करके ही आप सार्थक को निरर्थक से स्पष्टतः अलग कर सकते है।"

"आपका मतलब है कि निरर्थक आपकी कसौटी के अनुसार न? पर मैं इसे नही मानता।"

"कोई तरीका ऐसा नही है जिसे मैं आपसे इसे मनवा सकूं। मैं केवल आपको यह दिखाने की कोशिश कर सकता हूँ कि प्रतिदिन आप और हम सब जो कथन करते हैं और जिन्हें हम स्पष्ट रूप से समझते हैं वे इस कसौटी को अवश्य ही पूरा करते हैं और जिन कथनों को हम नही समझ पाते (हालांकि उन्हें हम बोलते हैं) वे उसे पूरा नही करते।"

कथनों की तरह यह कुछ अस्पष्ट है)। परंतु इसका भविष्य मे सत्यापन हो सकता है और उक्त कसौटी के अनुसार इसे सार्थक बनाने के लिए इतना पर्याप्त है। सामान्यतः भविष्यविषयक कथनों के प्रसंग में हम सिर्फ प्रतीक्षा करते हैं और देखते है कि पहले से बताए हुए समय के आने पर क्या होता है।

२. सत्यापन का कार्य किसके द्वारा किया जाना है ? कुछ लोगो ने कहा है कि कथन का कोई भी सत्यापन कर सकता है। मैं इस समय लन्दन में नहीं हूँ, इसलिए मैं इस बात का सत्यापन नही कर सकता कि पार्लियामेंट की कार्यवाही चल रही है। पर यदि मैं चाहूँ तो वहाँ जाकर इसका सत्यापन कर सकता हूँ, और मेरे अलावा कोई भी जो स्थान और काल की दृष्टि से उपयुक्त स्थिति मे है (इस समय वेस्टमिन्स्टर, लंदन में है) तथा जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और मस्तिष्क काम कर रहे है, स्वयं इसका सत्यापन कर सकता है। ग्रैण्ड कैनयन (अमेरिका मे एक महाखड्ड) के शैलस्तरो के स्वरूप का सत्यापन ऐसा कोई भी व्यक्ति कर सकता है जो वहाँ जाने का कष्ट करे और स्वयं देखे। निश्चय ही, उसे भूविज्ञान की इतनी काफी जानकारी प्राप्त कर लेनी होगी कि वह शैल के विभिन्न प्रकारो को पहचान सके और उनके नामों को याद रख सके, परतु यदि वह कष्ट करे तो यह भी कर सकेगा। इस प्रकार वह उस कथन का सत्यापन कर सकेगा, भले ही उसने वास्तव में ऐसा किया नहीं है। इतना इस मत के अनुसार है कि कथन को सार्वजनिक रूप से सत्यापनीय होना चाहिए—किसी भी ऐसे व्यक्ति के द्वारा सत्यापनीय, जो पर्याप्त बौद्धिक और प्रात्यक्षिक क्षमता रखता हो और उपयुक्त स्थान तथा समय मे उपस्थित हो।

पर एक अड़चन है। क्या ऐसे कथन नही है जिन्हे केवल एक ही व्यक्ति सत्यापित कर सकता हो ? यदि मेरे दाँत मे दर्द है तो केवल मैं ही इस बात को सत्यापित कर सकता हूँ। आप मेरे मुंह को खोल सकते हैं और अदर देखकर यह अनुमान कर सकते है कि शायद मेरे दाँत मे दर्द है। आप मेरे चेहरे की विकृति को देख सकते है और मेरे "हाय ! हाय !" चिल्लाने को सुन सकते हैं। परतु यह तो इस बात का परोक्ष प्रमाण मात्र है कि मुझे दर्द है। केवल मैं ही यह सत्यापित कर सकता हूँ कि मुझे दर्द है, क्योकि उसे केवल मैं ही महसूस कर सकता हूँ और दर्द को महसूस करना यह जानने का एकमात्र

असंदिग्ध तरीका है कि दर्द है। कम-से-कम मैं किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा यह कहने के लिए अच्छी स्थिति मे हूँ कि मुझे दर्द है। मुझे देखनेवाले अन्य लोग मेरे व्यवहार से अनुमान ही कर सकते है कि मुझे दर्द है ; पर मुझे अनुमान करने की जरूरत नही है, मुझे अनानुमानिक रूप से इस बात का ज्ञान है : पक्के निश्चय के साथ यह कहने मे समर्थ होने के लिए कि मेरे दांत में दर्द है, मुझे शीशे मे देखना, दांत को जांचना इत्यादि नही पडता। इस तरह यह प्रतीत होता है कि आपकी अनुभूतियों से संबधित कथन केवल आपके द्वारा ही सत्यापित हो सकते है, मेरी अनुभूतियो से सबधित कथन केवल मेरे द्वारा ही सत्यापित हो सकते है इत्यादि। ऐसे कथन सार्वजनिक रूप से सत्यापनीय नही होते।

"परंतु आप यह मानकर चल रहे हैं कि मुझे दर्द है, इस बात का सत्यापन करने का एकमात्र तरीका उसका अनुभव करना है, जबकि जरूरत केवल इतनी है कि किसीको यह ज्ञान हो कि मुझे दर्द है। निश्चय ही मेरा डाक्टर जो मुझे विस्तर पर लेटे देख रहा है और मेरे खुले हुए घावो को देख रहा है, मेरे समान ही यह जानता है कि मुझे दर्द है।" यह इसपर निर्भर है कि "जानना" शब्द का प्रबल अर्थ मे प्रयोग हो रहा है या निर्बल अर्थ मे। "जानना" का दैनिक जीवन मे हम साधारणतः जो प्रयोग करते है उसके अनुसार मेरा डाक्टर अवश्य ही जानता है कि मुझे दर्द है ; वह अनुमान से यह जानता है, पर जानता फिर भी है। पर क्या उसने इसका सत्यापन कर लिया है ? उस तरह से नही जिस तरह से केवल मैं ही सत्यापन कर सकता हूँ, क्योकि अनुभूति तो केवल मुझे ही हो सकती है। सत्यापन का एक ऐसा उपाय मुझे उपलब्ध है जो डाक्टर को उपलब्ध नही है, और यह उपाय इतना निश्चायक है कि डाक्टर की तरह मुझे इस बात का कोई और प्रमाण नही चाहिए कि मुझे दर्द है। इस प्रकार यदि सत्यापन निश्चित रूप से यह पता लगाना है कि मुझे दर्द है तो मेरे प्रसग मे केवल मैं ही ऐसा करने की स्थिति मे हूँ, ठीक वैसे ही जैसे डाक्टर के प्रसग मे केवल डाक्टर ही निश्चित रूप से यह सत्यापित कर सकता है कि उसे दर्द है। सत्यापन का प्रायः यह मतलब लिया जाता है कि किसी कथन के सत्य होने का पता लगाने का सर्वोत्तम उपाय उपलब्ध हो : सीजर की हत्या की गई थी, इस बात की सत्यता का पता लगाने का सर्वोत्तम तरीका उस दिन वहाँ उपस्थित होना होगा ; यह

पता लगाने का कि किसीको दर्द है, सर्वोत्तम तरीका सबधित व्यक्ति होना होगा, क्योंकि उसके पास वह प्रमाण है जो किसी भी अन्य व्यक्ति के पास नही है। यदि यह बात है (और सत्यापनीयता का प्राय यही मतलब समझा गया है), तो कथनो का एक वर्ग ऐसा है जो सार्वजनिक रूप से नही बल्कि कवल एक व्यक्ति के द्वारा सत्यापनीय है।

सार्वजनिक रूप से सत्यापनीय होने की शर्त को यह कहकर बनाए रखा जा सकता है कि आपके दर्द के बारे मे जो कथन है उनका अर्थ मेरे दर्द के बारे मे जो कथन है उनके अर्थ मे भिन्न है। कोई कह सकता है कि "जो सत्यापनीय है वह अलग है, इसलिए अर्थ अलग है।" अपने ही प्रसग मे मैं जिस बात का सत्यापन कर सकता हूँ वह यह है कि मैं दर्द महसूस करता हूँ, अत जब कथन मेरे बारे मे होता है तब उसका यही अर्थ होता है। परतु आपके प्रसग मे मै केवल इस बात का सत्यापन कर सकता हूँ कि आप एक विशेष तरह से व्यवहार कर रहे है, और इसलिए जब कथन आपके बारे मे होता है तब उसका यही अर्थ होता है। परतु यह समाधान बहुत ही बतुका है, और साफ पैतरेबाजी लगता है, क्योकि जब मैं कहता हूँ कि आपको दर्द है तब अवश्य ही मैं आप मे ठीक उसी प्रकार की अनुभूति का आरोप कर रहा हूँ जो मैं "मुझे दर्द हो रहा है" कहकर अपने मे आरोपित करता हूँ। "आपको दर्द हो रहा है" और "मुझे दर्द हो रहा है" इन दो कथनो मे अर्थ का अतर केवल पुरुषवाचक सर्वनाम के कारण है. पहला कथन आपके बारे मे है, दूसरा मेरे बारे मे है, और बस यही अतर है। एक सिद्धात से मेल बैठाने के लिए यह कहना कि एक कथन एक अनुभूति के बारे मे है और दूसरा कथन व्यवहार के बारे मे है और यह केवल इस वजह से कि दूसरे प्रसग मे सत्यापन हम केवल व्यवहार का ही कर सकते है, तथ्यो को बहुत ही ज्यादा विकृत कर देना होगा। यह हो सकता है कि आपके प्रसग मे मै केवल यह सत्यापित कर सकता हूँ कि "आपका मुख विकृत हो जाता है और आप चिल्लाते इत्यादि है", परतु इस कथन से कि आपको दर्द है, मेरा मतलब यह है कि आपको एक अनुभूति हो रही है जिसकी यह व्यवहार अभिव्यक्ति मात्र है, और यह ठीक वही बात है जो मैं स्वय अपने प्रसग मे कह रहा हूँ, हालाँकि तथ्य यह है कि मैं अपने प्रसग मे जिस बात का सत्यापन कर सकता हूँ वह उससे अधिक है जिसका मैं आपके प्रसग मे सत्यापन कर सकता हूँ।

इस कठिनाई से बचने का एक बहुत आसान उपाय है : यह कथन तब तक सार्थक है जब तक किसी भी एक या दूसरे व्यक्ति के द्वारा इसका सत्यापन किया जा सकता है। मैं इस बात का सत्यापन कर सकता हूँ कि मुझे दर्द है, हालांकि इसका सत्यापन मैं नही कर सकता कि आपको दर्द है। पर उसे सार्थक बनाने के लिए यही तथ्य पर्याप्त है कि मैं उसका सत्यापन कर सकता हूँ। स्वयं अपने दर्दों तक मेरी विशेष पहुँच है, और शायद कोई अन्य व्यक्ति निश्चयात्मक रूप से नही बता सकता कि मुझे दर्द है या नहीं, पर इससे कोई फर्क नही पड़ता : चूंकि मैं इस प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन कर सकता हूँ, इसलिए कथन सार्थक है। और निश्चय ही यही बात उन कथनों पर भी लागू होती है जो आपके दर्द के बारे में हे, क्योंकि उनका आप सत्यापन कर सकते है, हालांकि कोई भी अन्य व्यक्ति नही कर सकता।

यह निष्कर्ष कुछ घबरा देनेवाला हो सकता है, परंतु यदि हमें सत्यापनीयता की कसौटी बनाए रखना है और फिर भी यह कहना है कि अन्य लोगों के अनुभवों के बारे में जो कथन है वे सार्थक हैं, तो हमें इससे संतोष कर लेना होगा। (क्या कुत्तों और बिल्लियों को दर्द का अनुभव होना उनके द्वारा सत्यापन किया जाना गिना जाएगा ?) केवल एक के द्वारा सत्यापित किए जा सकने की बात कुछ संदेहजनक मानी गई है और इसके पीछे डर यह रहा कि इससे अनेक ऐसे कथनों को सार्थक मान लेना पड़ेगा जिन्हे सार्थक मानना ठीक नही है : उदाहरणार्थ, "मैंने इस प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन किया है कि आनंत्य शीशे की तरह है, क्योंकि आज मैंने इसका अनुभव किया।" परंतु यदि हम इस बात को स्पष्टतः ध्यान में रखें कि ऐसा कोई कथन केवल अपनी अनुभूतियों के ही बारे में होना चाहिए और उसके अलावा जिसकी परीक्षा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की जा सके अन्य किसी भी बात के बाह्य जगत् में सत्य होने का दावा नही करना चाहिए, तो ऐसी स्थिति पैदा होने की आशंका करने की आवश्यकता नही है।

एक और डर है जिसका कुछ अच्छा आधार है। डर यह है कि सत्यापन और सत्यापनीयता की बात शायद स्वकीय अनुभवों के बारे मे जो कथन है उनपर भी लागू न हो। क्या मैं इस कथन का सत्यापन करता हूँ कि मुझे दर्द है ? अगर करता हूँ तो कैसे करता हूँ ? सत्यापन एक प्रक्रिया है। यह सत्यापन करने के लिए कि मुझे दर्द है, मैं किस प्रक्रिया मे से गुजरता हूँ ? यह पता

लगाने के लिए कि यह कथन सत्य है या नही मैं क्या करता हूँ ? "आप दर्द का अनुभव करने मात्र से उसका सत्यापन करते है। दर्द का अस्तित्व स्वय ही उसका सत्यापन है।" परतु यहाँ कुछ गडबड है : मान लिया, मैं जानता हूँ कि मुझे दर्द है ; तो क्या मैं इस बात को इसका सत्यापन करके जानता हूँ ? सत्यापन एक ऐसा काम है जिसे कोई यह पता करने के लिए करता है कि एक कथन सत्य है या नही, और यहाँ यह प्रतीत होता है कि काम ही कुछ नही किया जा रहा है। यहाँ कुछ करने को है ही नही। (क्या अतर्निरीक्षण करके स्वय से यह पूछा जाएगा कि "क्या मुझे वास्तव मे दर्द का अनुभव हो रहा है ?") दर्द मुझे है और इसके सत्यापन की जरूरत नही है। जहाँ तक स्वय अपने अनुभवो का सबध है, यह कहने के बजाय कि उनका अतर्निरीक्षण से, स्वय को बार-बार यह आश्वासन इत्यादि देकर कि मुझे दर्द हो रहा है, सत्यापन किया जाता है, यह कहना अधिक अच्छा लगेगा कि उनके सत्यापन की जरूरत ही नही होती। दैनिक जीवन मे स्वय अपने अनुभवो की बात करते समय हम कभी यह नही कहते कि हमे उनके सत्य होने का पता लगाना है। हम सत्यापन की बात तब करते है जब हमारे सामने अपने अनुभवो से भिन्न किसी बात के बारे मे कोई कथन होता है, जब हमे किसी प्रक्रिया से यह पता लगाना होता है कि वह कथन सत्य है या नही। "मुझे दर्द हो रहा है" या "मुझे नीद आ रही है" के प्रसग मे ऐसी कोई प्रक्रिया है ही नही। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होगा कि इस सदर्भ मे 'सत्यापन" (और इसलिए 'सत्यापन का सभव होना') का प्रयोग नही करना चाहिए—कि सत्यापनीयता वाली कसौटी के प्रस्तावक स्वय अपने अनुभवो से सबधित कथनो को इस कसौटी के अतर्गत लाकर चौकोर खूँटियो को गोल छेदो मे बैठाने की कोशिश कर रहे हैं। परतु यदि खूँटी बैठती नही है तो (सत्यापनीयता-सिद्धात के अनुसार) ऐसे सारे कथनो को निरर्थक वाक्यो के कूडाघर मे डाल देना चाहिए। इसके बावजूद, क्या वे अर्थ नही रखते, और क्या हम नही जानते कि उनका क्या अर्थ है ?

३ ऐसे कथनो का कैसे सत्यापन हो सकता है जिनका क्षेत्र अनत या बहुत ही विशाल होता है ? प्रकृति के नियमो को लीजिए। "विश्व मे भौतिक द्रव्य का प्रत्येक कण प्रत्येक अन्य कण को आकर्षित करता है .....।" यह न्यूटन के सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण के नियम की शुरुआत है। यह कथन इस नियम की कोई सीमा नही बाँधता वह सभी स्थानो और सभी कालो मे लागू होता

है। उसका दावा बहुत ही विशाल है। तो कैसे इसका सत्यापन किया जाएगा? लोगों का कोई भी समूह एकसाथ काम करते हुए कैसे इसका सत्यापन कर पाएगा? "सब कौवे काले होते है" इससे कुछ कम विस्तार वाला सर्वव्यापी कथन है, पर इसमें भी वही कठिनाई है। कौवों की संख्या अनंत नही है, पर यह वर्ग खुले सिरे वाला है; और पूरे सदस्यों की जांच कर लेने के बाद भी यह ज्ञान नही होगा कि ऐसा कर लिया गया है (अंतिम कौवे पर कोई चिप्पी नही लगी होगी जो कहे कि "मै अंतिम कौवा हूँ")। इसके अलावा, उन कौवों की जांच असंभव है जो भविष्य में पैदा होगे और जो जांच करनेवाले के जन्म से शताब्दियों पहले होकर मर गए। (यदि कौवो की जाति का ही लोप हो जाए तो क्या यह निश्चित माना जाएगा कि वह फिर पुनर्जीवित नहीं होगी? शायद पृथ्वी से सत्यापन करनवाले मनुष्यो की जाति का लोप हो जाने के बहुत बाद कौवो की जाति फिर पैदा हो जाए।)

"परंतु यदि कोई मनुष्य या मनुष्यों का समूह सत्यापन नही कर सकता तो सर्वज्ञ ईश्वर सत्यापन कर सकेगा। ऐसी सत्ता एक ही बार में सब स्थानों और कालों को देख सकती है, और वह जान लेगा कि कोई कौवे ऐसे तो नही है जो काले न हों।" शायद; यदि "ईश्वर" की परिभाषा में ऐसी क्षमता शामिल कर दी जाए तो वह ऐसा कर सकेगा। परंतु यदि कौवो से संबंधित कथन का अर्थ संदेहग्रस्त है तो निश्चय ही ऐसी सत्ता की उक्त योग्यता का कथन और भी संदेहग्रस्त है। क्या हम वास्तव मे जानते है कि ऐसी सत्ता भूत और भविष्य को एकसाथ देख सकती है? क्या इस कथन का अर्थ मूल कथन के अर्थ से कही अधिक संदेहग्रस्त नहीं है?

शायद निराशा मे ऐसे उपाय का आश्रय लिए विना भी काम चल जाएगा। हम कह सकते हैं, 'कोई आदमी अमर नही है, पर तर्कतः यह सभव है कि कोई आदमी अमर हो, और यदि ऐसा हो अर्थात् यदि किसी आदमी की आयु विश्व के पूरे इतिहास के बराबर हो, और वह सारे जगत् को इस प्रकार देख सके कि कोई भी घटना उसके ध्यान से न छूट पाए—तो वह प्रकृति के नियमों को सत्यापित कर सकेगा। केवल वर्तमान स्थितियों मे वह उन्हें सत्यापित नही कर सकेगा; परन्तु इनसे भिन्न स्थितियों मे, जो कि तर्कतः संभव है, वह कर सका होता। इस प्रकार हमने सत्यापन का सभव होना बता दिया है, और जरूरत केवल इतनी ही है।" शायद। परन्तु कौवो से संबंधित कथन

लगाने के लिए कि यह कथन सत्य है या नही मैं क्या करता हूँ ? "आप दर्द का अनुभव करने मात्र से उसका सत्यापन करते है। दर्द का अस्तित्व स्वय ही उसका सत्यापन है।" परतु यहाँ कुछ गडबड है : मान लिया, मैं जानता हूँ कि मुझे दर्द है ; तो क्या मै इस बात को इसका सत्यापन करके जानता हूँ ? सत्यापन एक ऐसा काम है जिसे कोई यह पता करने के लिए करता है कि एक कथन सत्य है या नही, और यहाँ यह प्रतीत होता है कि काम ही कुछ नही किया जा रहा है। यहाँ कुछ करने को है ही नही। (क्या अतर्निरीक्षण करके स्वय से यह पूछा जाएगा कि "क्या मुझे वास्तव मे दर्द का अनुभव हो रहा है ?") दर्द मुझे है और इसके सत्यापन की जरूरत नही है। जहाँ तक स्वय अपने अनुभवो का सबध है, यह कहने के बजाय कि उनका अतर्निरीक्षण से, स्वय को बार-बार यह आश्वासन इत्यादि देकर कि मुझे दर्द हो रहा है, सत्यापन किया जाता है, यह कहना अधिक अच्छा लगेगा कि उनके सत्यापन की जरूरत ही नही होती। दैनिक जीवन मे स्वय अपने अनुभवो की बात करते समय हम कभी यह नही कहते कि हमे उनके सत्य होने का पता लगाना है : हम सत्यापन की बात तब करते है जब हमारे सामने अपने अनुभवो से भिन्न किसी बात के बारे मे कोई कथन होता है, जब हमे किसी प्रक्रिया से यह पता लगाना होता है कि वह कथन सत्य है या नही। "मुझे दर्द हो रहा है" या "मुझे नीद आ रही है" के प्रसग मे ऐसी कोई प्रक्रिया है ही नही। इस प्रकार, ऐसा प्रतीत होगा कि इस सदर्भ मे 'सत्यापन" (और इसलिए 'सत्यापन का सभव होना") का प्रयोग नही करना चाहिए—कि सत्यापनीयता वाली कसौटी के प्रस्तावक स्वय अपने अनुभवो से सबधित कथनो को इस कसौटी के अतर्गत लाकर चौकोर खूँटियो को गोल छेदो मे बैठाने की कोशिश कर रहे है। परतु यदि खूँटी बैठती नही है तो (सत्यापनीयता-सिद्धात के अनुसार) ऐसे सारे कथनो को निरर्थक वाक्यो के कूडाघर मे डाल देना चाहिए। इसके बावजूद, क्या वे अर्थ नही रखते, और क्या हम नही जानते कि उनका क्या अर्थ है ?

३ ऐसे कथनो का कैसे सत्यापन हो सकता है जिनका क्षेत्र अनत या बहुत ही विशाल होता है ? प्रकृति के नियमो को लीजिए। "विश्व मे भौतिक द्रव्य का प्रत्येक कण प्रत्येक अन्य कण को आकर्षित करता है ·····।" यह न्यूटन के सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण के नियम की शुरुआत है। यह कथन इस नियम की कोई सीमा नही बाँधता वह सभी स्थानो और सभी कालो मे लागू होता

का अर्थ इतना सीधा-सादा लगता है कि उसे स्पष्ट करने के लिए हमे कल्पना को इतना व्यायाम कराना पड़ेगा—यदि उसके सत्यापन का तरीका निश्चित कर देने से सचमुच उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है तो—यह विश्वास करना कठिन है।

४. कथनो का एक छोटा पर विचित्र वर्ग ऐसा है कि विध्यात्मक रूप मे उनकी सत्यापनीयता और तरह की होती है और निषेधात्मक रूप मे और तरह की। मान लीजिए कि मैं यह कहता हूँ "मेरा शरीर की मृत्यु के बाद भी अस्तित्व रहेगा।" इसका सत्यापन में कैसे करता हूँ ? कोई यह जवाब दे सकता है : "जैसे भविष्यविषयक अन्य कथनो का वैसे ही इसका भी। बात आसान है—प्रतीक्षा करो और देखो। यदि मृत्यु के बाद आप फिर उठ जाते है और अपने शारीरिक जीवन को याद रखते है तो आप इस बात को सत्यापित कर लेते है कि आप अपनी शारीरिक मृत्यु के बाद भी अस्तित्व रखते है। यह सच है कि अभी आप इसको सत्यापित नही कर सकते, पर तब तो कर सकेंगे। और हो सकता है कि तब भी आपके अलावा कोई इसे सत्यापित न कर सके। (आप यह सत्यापित कर सकेंगे कि आपका अस्तित्व बना रहता है, राम यह सत्यापित कर सकेगा कि उसका अस्तित्व बना रहता है, पर हो सकता है कि आप और राम एक-दूसरे को न बता सके अथवा यह तक न जान सके कि दूसरे का अस्तित्व बना हुआ है।) परतु हम ऐसे सत्यापन को पहले ही स्वीकार कर चुके है जो केवल एक विशेष समय मे और एक विशेष व्यक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। हम मान लेते है कि "मेरा अपनी शारीरिक मृत्यु के बाद भी अस्तित्व रहेगा" सत्यापित किया जा सकता है। पर अब "मेरा अपनी शारीरिक मृत्यु के बाद अस्तित्व नही रहेगा," इस कथन को लीजिए। इसे मैं कैसे सत्यापित करता हूँ ? यदि यह कथन सत्य है तो मैं कभी यह न जान सकूँगा। मैं दुबारा नही उठूँगा और इस प्रकार इस कथन को सत्यापित नही कर पाऊँगा। यदि मेरा मृत्यु के बाद अस्तित्व नही रहेगा, तो इसका सत्यापन तर्कतः भी सभव नही है। यह सचाई के साथ कहना तर्कतः सभव ही नही है कि "मैं अब देख रहा हूँ कि शरीर की मृत्यु के बाद मेरा अस्तित्व नही रहा।"

परतु अब एक विचित्र परिस्थिति हमारे सामने है : यह सत्यापित करना तो तर्कतः सभव है कि मेरा शारीरिक मृत्यु के बाद अस्तित्व बना हुआ है, पर

यह सत्यापित करना तर्कत: असभव है कि मेरा अस्तित्व नही रहा। यदि अर्थ सत्यापनीयता पर निर्भर होता है, तो पहला कथन सार्थक है और दूसरा नही है। परतु ऐसा कथन विचित्र होगा जिसका निषेध निरर्थक हो पर विधान सार्थक हो। क्या यह स्पष्ट नही लगता कि एक उतना ही सार्थक है जितना दूसरा, और हम जानते हैं कि दोनो कथनो का क्या अर्थ है ? (अथवा शायद कोई भी सार्थक नही है, पर ऐसा नही है कि एक हो और दूसरा न हो।) हम अवश्य ही यह जानते प्रतीत होते है कि "मेरा शारीरिक मृत्यु के बाद भी अस्तित्व बना रहेगा" का क्या अर्थ है, और इतने ही स्पष्ट रूप से यह भी कि 'मेरा अस्तित्व नही रहेगा" का क्या अर्थ है, भले ही इस दूसरे कथन के सत्यापन का कोई उपाय तर्कत सभव न हो।

अथवा, इस कथन पर विचार कीजिए : 'पृथ्वी के ऊपर रहनेवाले प्राणियो का अस्तित्व समाप्त हो जाने के बाद भी पृथ्वी का अस्तित्व बना रहेगा। "कोई भी मनुष्य इस कथन का सत्यापन नही कर सकेगा, क्योकि सत्यापन करने के लिए कोई बचेगा ही नही। फिर भी, हम अवश्य जानते है कि इस कथन का क्या अर्थ है और हम इसकी सत्यता को लेकर कुछ सोच-विचार कर सकते हैं ; हम ऐसा चित्र तक बना सकते है जिसमे पृथ्वी हो, चट्टाने हो, समुद्र इत्यादि हो, पर लोग न हो—उतनी ही आसानी से जितनी आसानी से वह चित्र जिसमे इन चीजो के साथ-साथ लोग भी हो। इस कथन मे अर्थ-सबधी कोई कठिनाई नही है। समस्या सत्यापनीयता के सबध मे है और वह यह कि इसे सत्यापित करना तर्कत : असभव है, क्योकि सत्यापन के साधन (प्रेक्षण करनेवाले चेतन प्राणियो) का अभाव हो जाने से कोई रहेगा ही नही जो सत्यापन करे। हम यह जानते अवश्य हैं कि इस कथन के सत्य होने के लिए किस वस्तुस्थिति का अस्तित्व चाहिए, परतु यह एक भिन्न कसौटी है—यह सत्यापनीयता नही है। सत्यापन एक काम है जिसे हम करते हैं और इस काम को करने के लिए किसीको मौजूद होना चाहिए। स्पष्ट है कि सत्यापनीयता वाली कसौटी मे कठिनाई गभीर है।

सपुष्टियोग्यता—इस तरह की कठिनाइयो को देखते हुए सत्यापनीयता वाली कसौटी को कुछ नरम कर दिया गया है। अब हम सत्यापनीयता के बजाय सपुष्टियोग्यता की बात कहते है। मैं यह सत्यापित नही कर सकता कि आपको दर्द है, पर मैं आपकी चेष्टाओ और मुद्राभिव्यक्तियो को देखकर

इसकी सपुष्टि कर सकता हूँ। म यह सत्यापित नही कर सकता कि सव कौवे काले होते ह, परतु हजारो कौवो की जांच करके और उन सवको काले पाकर मे इसकी सपुष्टि कर सकता हूँ। मैं यह सत्यापिन नही कर सकता कि किसी दिन पृथ्वी पर जीवन नही रहगा, परतु मैं यह देखकर इसकी इस समय सपुष्टि कर सकता हूँ कि निर्जीव चीजो का लगातार अस्तित्व वना रहता है जबकि सजीव चीजे मरती रहती है, कि तीव्र शीत सजीव चीजो को मार देता है पर पर्वतो और घाटियो इत्यादि का फिर भी अस्तित्व बना रहता है, इत्यादि ; तथा म अनुमान करता हूँ कि जव सूर्य का ताप और प्रकाश समाप्त हो जाएगा तव पृथ्वी इतनी शीतल हो जाएगी कि उसपर कोई जीवित ही न रह पाएगा।

ऐसा प्रतीत होना है कि सत्यापनीयता के स्थान पर सपुष्टियोग्यता को लाने से हमारी बहुत-सी कठिनाइया दूर हो गई ह। परतु जो कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं वे सत्यापन की लगती है, अर्थविषयक नही। यह समझना आसान है कि हम प्रकृति के नियमो की सपुष्टि कैसे करेंगे (नियमो के प्रसग मे हम केवल यही कर सकते हे), यह नही कि हम उनका सत्यापन कैसे करग। परतु उनका अर्थ सदैव बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है। क्या हम "सव प्राणी मरते हैं", "पानी २१२° फा० पर खौलता है" और असख्य अन्य नियमो का अर्थ सत्यापन की कठिनाई के वावजूद नही जानते ? हम जानते है कि अन्य लोगो के अनुभवो की बात कहने का क्या अर्थ है, हालांकि हम उनके अस्तित्व का सत्यापन नही कर सकते—हम चाहे सत्यापनीयता की वात करें या सपुष्टियोग्यता की, अन्य लोगो के अनुभवो की वात मे अर्थ का अभाव नही है। और हम जानते हे कि 'मेरा शारीरिक मृत्यु के बाद अस्तित्व नही रहेगा" का क्या अर्थ है, भले ही इसका हम सत्यापन नही कर सकते और न सपुष्टि ही कर सकते है।

वास्तव मे, सपुष्टियोग्यता मे अपनी ही कुछ विशेष कठिनाइयाँ हे। जव तक मैं यह पहले से न जानता होऊँ कि "सब कौवे काले होते है' का क्या अर्थ है, तव तक मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि यह कौवा काला है यह प्रेक्षण "सव कौवे काले होते हैं" की सपुष्टि करता है ? यदि मैं "नीकू ने मीकू की हत्या की" का अर्थ पहले से ही नही जानता, तो नीकू की आस्तीन पर लगे हुए मीकू के रक्त को मैं इस कथन की सपुष्टि करनेवाला कैसे जान सकता हूँ ? ऐसा

प्रतीत होता है कि यह जानने के लिए कि क्या किस बात की सपुष्टि करता है, मेरे लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि कथन का अर्थ क्या है—अतः अर्थ संपुष्टियोग्यता से नही आता।

यदि कोई पहले से ही यह न जानता हो कि जिस कथन की सपुष्टि करना है उसका अर्थ क्या है, तो वह सपुष्टि के रूप मे प्रस्तावित किसी प्रेक्षण को सपुष्टि मानने से कैसे इन्कार कर सकेगा ? मान लीजिए, कोई कहता है कि "चूहे बत्तखो को खाते है" और यह दावा करता है कि उसने आकाश को नीला देखकर इस कथन की सपुष्टि कर ली है। हम पूछेगे : "दोनो मे सबध ही क्या है ? आकाश के रग के प्रेक्षण से चूहो के बारे मे कही हुई बात की संपुष्टि या असपुष्टि कैसे होती है ?" परतु यह जानने के लिए कि एक कथन की सपुष्टि करनेवाला या न करनेवाला किसे माना जाएगा, हमे पहले यह जानना होगा कि उस कथन का अर्थ क्या है। और यदि हम पहले से ही जानते है कि उसका क्या अर्थ है, तो हमे उसके अर्थ को उसकी सपुष्टियोग्यता पर आश्रित करने की कोई जरूरत है ही नही। (एक और उदाहरण लीजिए : *शायद यह बात कि बच्चा ठीक हो गया,* इस प्रतिज्ञप्ति की सपुष्टि नही करती कि किसी दयालु ईश्वर का अस्तित्व है, क्योकि बहुत-से बच्चे ठीक नही हो पाते। परतु यदि हम पहले से ही न जानते होते कि "ईश्वर का अस्तित्व है" का क्या अर्थ है, तो यह हम कैसे जान पाते कि बच्चे के अच्छे हो जाने से इसकी सपुष्टि होती है ? *शायद हम "ईश्वर का अस्तित्व है" का अर्थ नही जानते*—इन बातो की चर्चा हम अध्याय ७ मे करेंगे—परतु उस अवस्था मे हम यह भी तो नही जानते कि बच्चे का अच्छा हो जाना इसकी सपुष्टि करता है। यदि एक वाक्य निरर्थक है तो कोई भी चीज उसकी सपुष्टि कैसे कर सकेगी ?)

परीक्षणीयता वाली कसौटी मे चाहे हम उसके सत्यापनीयता वाले रूप का समर्थन करने की कोशिश कर रहे हो या सपुष्टियोग्यता वाले रूप का, और भी बहुत-सी कठिनाइयाँ है। सत्यापनीयता वाले रूप के अनुसार, सत्यापन का तर्कतः सभव होना जरूरी है ; सपुष्टीयोग्यता वाले रूप के अनुसार, सपुष्टीकरण का तर्कतः सभव होना जरूरी है। पर दोनो ही अवस्थाओ मे क्या प का तर्कतः सभव होना प के परीक्षण (सत्यापन या सपुष्टिकरण) के तर्कतः सभव होने से पहले जरूरी नही है ? उदाहरणार्थ, "पानी नीचे से ऊपर की ओर बहता है" असत्य होने पर भी सार्थक है। इसका समर्थन यह दिखाकर

किया गया है कि पानी का नीचे से ऊपर की ओर वहना तर्कतः संभव है। परंतु पानी के नीचे से ऊपर की ओर वहने का तर्कतः संभव होना वही बात नहीं है जो पानी के नीचे से ऊपर की ओर वहने के सत्यापन या संपुष्टीकरण का तर्कतः संभव होना है—और परीक्षणीयता वाली कसौटी जो कहती है वह यह दूसरी बात है। यदि आपने सिर्फ यह कहा होता कि "पानी का नीचे से ऊपर की ओर वहना तर्कतः संभव है, इसलिए 'पानी नीचे से ऊपर की ओर बहता है' सार्थक है", तो आप परीक्षणीयता वाली कसौटी का कोई उपयोग नहीं कर रहे होंगे। आप सार्थकता की कसौटी स्वतोव्याघातकता के अभाव को मान रहे होंगे, क्योंकि "तार्किक संभवता" की परिभाषा स्वतोव्याघातकता के अभाव के आधार पर दी गई है। हो सकता है कि स्वतोव्याघातकता का अभाव सार्थकता की परीक्षणीयता से अधिक अच्छी कसौटी हो, पर है दोनों अलग और इन्हे एक-दूसरी से नही उलझाना चाहिए।[1]

यह जानने मे समर्थ होने से पहले कि प का परीक्षण तर्कतः संभव है या नही, यह जान लेना जरूरी है कि प ऐसी परिस्थिति का वर्णन करता है या नही जो तर्कतः संभव हो।[2] यह विचार करने से पहले कि प का परीक्षण तर्कतः संभव है या नही, यह विचार जरूरी है कि प तर्कतः संभव है या नही। यह जानने के पहले कि कौन-से प्रेक्षण एक वाक्य का सत्यापन या सपुष्टि करेंगे, यह जान लेना जरूरी है कि उसका क्या अर्थ है ; अन्यथा यह कोई कैसे जानेगा कि सत्यापन किसका करना है, या यह कि आपका प्रेक्षण उसका सत्यापन करता है? वाक्य का क्या अर्थ है, यह जानना मुख्य है, और उसका कैसे सत्यापन करना है, यह जानना उसके अर्थ को जानने का फल है।

---

१. 'प तर्कतः संभव है" और "प का सत्यापन तर्कतः संभव है" को एक-दूसरे से उलझाने के उदाहरण मॉरित्स श्लिक ने फेल और सेलर्स के रीडिंग्ज इन फिलॉसोफिकल एनैलिसिस में शामिल अपने लेख, "मीनिंग ऐंड वेरिफिकेशन" में दिए है। आलोचना के लिए देखिए, लिन्स्की द्वारा संपादित सीमेन्टिक्स ऐंड फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज में पॉल मार्हेन्के का लेख "दि क्राइटीरियन ऑफ सिग्निफिकेन्स"।

२. इससे भी आगे बढ़कर यह पूछा जा सकता है : "प का सत्यापन तर्कतः संभव है" का क्या अर्थ है? पानी का नीचे से ऊपर की ओर बहना जैसी एक वस्तुस्थिति तर्कतः संभव या असंभव हो सकती है : पर एक प्रक्रिया तर्कतः संभव कैसे हो सकती है?

"कल वर्षा हुई थी।" .... इस वाक्य का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट और सीधा लगता है। पर यदि मुझसे पूछा जाए कि इसका सत्यापन कैसे किया जाएगा तो शायद पहले मुझे कुछ नही सूझेगा और तब मैं बहुत-से सुझाव दूंगा : मैं दूसरे लोगों को पूछूंगा या पिछले दिन की मौसम की रिपोर्ट देखूंगा, मैं जमीन की जांच करके गीलेपन के निशान खोजूंगा या स्वयं अपनी स्मृति को टटोलूंगा। बहुत-से काम संभव है जिनकी पूरी सूची नहीं दी जा सकती। यह तक संभव है कि कोई ऐसी खोज हो जाए जिससे पिछली वर्षा का समय ठीक-ठीक निर्धारित किया जा सके। पर क्या कथन का अभिप्राय इन तथ्यों में से किसी एक का होना है? मेरा अभिप्राय अवश्य ही यह है कि कल एक निश्चित घटना हुई थी जिसके "सूचक" गीलेपन के निशान इत्यादि हैं। ऐसा लगता है कि वाक्य के अर्थ का उसके सत्यापन से कतई कोई संबंध नही होता। ऐसा कहने की इच्छा होती है कि "मैं वाक्य का अर्थ बिल्कुल समझता हूँ, और इसलिए समझता हूँ कि मैं हिंदी भाषा को जानता हूँ।" .... प्रायः दैनिक जीवन में प्रयुक्त ऐसे वाक्यों पर विचार करते समय मैं सत्यापन की बात नही सोचता, पर आवश्यकता पड़ने पर इसकी कोई प्रक्रिया बता सकता हूँ। पर ऐसा करने से निश्चय ही अर्थ नही बदलेगा और न वाक्य के मूल अर्थ में मेरे लिए कोई अधिक स्पष्टता ही आएगी। सत्यापन की प्रणाली अनियमित, अनिश्चित और परिवर्तनशील होती है जबकि वाक्य सदैव एक ही बना रहता है।

स्पष्ट है कि मैं "वर्षा हो रही है" का अर्थ जानता हूँ; मैं यह भी जानता हूँ कि "कल" का क्या अर्थ है; और मैं अब "कल वर्षा हुई थी" का अर्थ समझता हूँ, और इसलिए समझता हूँ कि मैं इसके अलग-अलग शब्दो को समझता हूँ और वाक्य-रचना की जानकारी रखता हूँ। पर इसका मतलब यह नही है कि मैं जानता हूं कि इस प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन कैसे करना है। यदि बाद मे मैं सत्यापन के किसी तरीके को जान लूं तो उससे इसके अर्थ मे कोई वृद्धि नही होगी।............

यदि एक बच्चा किसी वाक्य को नही समझता, तो उसे हम शब्दों के अर्थ समझाते हैं, न कि वाक्य के सत्यापन का तरीका। भाषा के सामान्य प्रयोग में "इस वाक्य का क्या अर्थ है?" और "मैं इस बात का कैसे पता लगाता हूँ कि

यह वाक्य सत्य है ?" दो बिल्कुल ही भिन्न प्रश्न है, और हर आदमी इन्हे एक मानने से इन्कार करेगा।[1]

इस प्रकार ऐसा लगता है कि हमने परीक्षणीयता को अर्थ की कसौटी मानने के विरुद्ध पक्का निर्णय कर लिया है। वाक्य के सार्थक होने की एक सामान्य कसौटी के रूप मे परीक्षणीयता पर्याप्त नही है। परंतु सब वाक्य समान नही होते : ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे वाक्य भी है जिनका तब तक कोई अर्थ नही होता जब तक सत्यापन की कोई प्रणाली नही बताई जाती। "जिस समय आप सोते रहे उस समय मे ब्रह्माड फैलकर अपने मूल आकार का दुगुना हो गया।" इस कथन पर विचार कीजिए। हम तुरंत ही यह सोचने लगेगे कि हम इसके अर्थ को सही-सही जानते है—हर चीज कल जितनी बडी थी उससे दुगुने आकार की हो गई है। इससे अधिक सीधी बात क्या होगी ? परतु यह ध्यान देने की बात है कि ऐसा कोई तरीका नही है जिससे ऐसे अतर का कभी पता चल सकता हो। हम यह देखने के लिए इस मेज की लबाई को नापेगे कि इसका आकार दुगुना हुआ है या नही, पर नापने का परिणाम ठीक वही होगा जो कल था : यह कल तीन फुट लबा था और अब भी तीन फुट लबा है, क्योकि हर चीज, नापने की पटरी भी, आकार मे दुगुनी हो गई है। यदि मेज कल गज-भर लबी थी तो आज भी उतनी ही है। मेज के किनारे आज भी गज के सिरो तक पहुँचते हैं। और यही बात हर अन्य चीज के साथ होगी। नापने मे कोई भी अतर नही आएगा। किसी भी तरीके से किसी अतर का पता नही चलेगा।

अब हमारे मन मे सदेह पैदा होने लगेगा : प्रस्तुत बात मे कुछ अस्वाभाविकता दिखाई देती है। 'हर चीज आकार मे दुगुनी हो गई है" एक सीधी इद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति-सा प्रतीत होता है, पर कोई इद्रियानुभव ऐसा नही है जो इसे सत्य या असत्य सिद्ध कर सके। ऐसा फर्क है ही नही जिसका पता चले। क्या कोई भी फर्क है ? क्या यह कहने का कोई अर्थ है कि हर चीज आकार मे दुगुनी हो गई है ? हम जानते है कि सामान्य परिस्थिति मे यह कहने का क्या अर्थ है कि कोई चीज आकार मे दुगुनी हो गई है। उदाहरण के लिए, हमारा मतलब यह है कि यदि हम इस मेज की लबाई को नापें तो आज यह

१. फ्रीड्रिक वैजमान, प्रिन्सिपल्स ऑफ लिंग्विस्टिक फिलॉसफी, पृ० ३२६-३० ।

७२ इच निकलेगी जबकि कल वह ३६ इच थी। परतु प्रस्तुत प्रसग मे यह हमारा मतलब नही है, क्योकि आज मेज को नापने से नतीजा वही निकलता है जो पहले निकलता था। तो फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि मेज और साथ ही हर अन्य चीज आकार मे दुगुनी हो गई है ? यदि हम मेज की लबाई को नापते है और उसके सिरो को गज के सिरो के ठीक नीचे पाते हैं, जैसे कि वे कल थे, तो इस प्रेक्षण को हम यह कहने का पर्याप्त आधार समझते है कि मेज का आकार नही बदला है। फिर भी, इस अवसर पर हमसे यह विश्वास करने के लिए कहा जा रहा है कि इस बात की मेज और प्रत्येक अन्य वस्तु के आकार के दुगुने हो गए होने के साथ बिल्कुल सगति है।

"अच्छा, यदि आप अकेले मेज के आकार मे दुगुने होने की कल्पना कर सकते है तो मेज और प्रत्येक अन्य चीज के आकार मे दुगुने होने की कल्पना करने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए।" परतु क्या ऐसा है ? हम सब अन्य चीजो की तुलना मे मेज के लबाई मे दुगुने होने की आसानी से कल्पना कर सकते है, पर यदि प्रत्येक चीज दुगुनी हो जाती है तो "प्रत्येक चीज का आकार मे दुगुना हो जाने" का "प्रत्येक चीज के वही बनी रहने" से क्या फर्क होगा ? ऐसा प्रतीत होगा कि जब हम "मेज आकार मे दुगुनी हो गई है" कहते है तब हमारा मतलब केवल यह हो सकता है कि वह अन्य चीजो की तुलना मे दुगुनी हो गई है, जिनमे से कम-से कम कुछ मे यह परिवर्तन नही हुआ है। (यदि आधी चीजे आकार मे दुगुनी हो गई है पर शेष आधी ज्यो-की-त्यो है, तो यह बात इससे किस तरह भिन्न होगी कि पहली आधी ज्यो-की-त्यो रहे जबकि दूसरी आधी आकार मे सिकुड जाएँ ?) लबाई का सप्रत्यय सबधमूलक लगता है : लबाई एक गुण है जो किसी चीज मे अन्य चीजो के सबध से होता है। यदि इस सबध मे कोई परिवर्तन नही होता तो लबाई मे कोई परिवर्तन नही होता।

अब हमने देख लिया है कि "लबाई" का क्या अर्थ है . यह अन्य चीजो के सबध मे नापने की क्रिया का परिणाम है। परतु सबका आकार दुगुना हो जाने की कल्पना म यह इसका अर्थ नही है, क्योकि तब सबध मे कोई परिवर्तन नही होता। अत. या तो इस नए प्रसग मे "लबाई मे दुगुनी हो गई है" का प्रयोग निरर्थक है या ऐसे नियमो के अनुसार किया जा रहा है

जो बताए नही गए है। लबाई का सप्रत्यय सत्यापन की एक प्रक्रिया के साथ बँधा हुआ है।

विज्ञान मे अनेक कथनो मे यह विशेषता होती है। भौतिकविज्ञानी कहता है कि "इलेक्ट्रोन होते है।" और हम समझते हें कि हम इसका अर्थ जानते हैं (सूक्ष्म गोलियां), हालांकि हमे इस बात की कोई कल्पना नही है कि इसके सत्यापन की प्रक्रिया क्या होगी। परतु भौतिकविज्ञानी हमे यह बताएगा : "इलेक्ट्रोनो के बारे मे आपकी बातो का जो भी अर्थ हो, मैं जो अर्थ समझता हूँ वह कुछ जटिल भौतिकीय क्रियाओ को करने का परिणाम है—न उससे कम और न उससे अधिक। यह ठीक वैसी ही बात है जो 'लबाई' के प्रसग मे होती है। भौतिकी मे 'इलेक्ट्रोन' के सप्रत्यय को हम इस तरह लाते है और इसका आपके मन मे जो भी चित्र हो उनसे कोई सबध नही है। इस प्रकार 'इलेक्ट्रोन' से मेरा क्या मतलब है, यह मैं आपको केवल यह बताकर ही बता सकता हूँ कि वे प्रेक्षण क्या हैं जिनके द्वारा मैं इस शब्द को चलाऊंगा। 'इलेक्ट्रोन' शब्द केवल इन प्रेक्षणो के अर्थ मे ही वैज्ञानिक भाषा मे चल पडा है। जब ऐसा होता है तब अर्थ केवल सत्यापन-प्रक्रिया को बताकर ही बताया जाता है।"

ऐसा क्यो है कि कभी तो एक वाक्य का अर्थ बिल्कुल निश्चित होता है जबकि उसके सत्यापन की प्रक्रिया अनिश्चित और परिवर्तनशील होती है, लेकिन कभी अस्पष्ट अर्थ केवल तभी स्पष्ट और निश्चित होता है जब सत्यापन की प्रक्रिया बता दी जाती है ? ... इस अतर को इस रूप मे रखा जा सकता है : जब मै कहता हूँ कि "यदि कल वर्षा हुई थी तो आज जमीन गीली है," तब म अनुमान के किसी नियम का कथन नही कर रहा होता बल्कि एक इद्रियानुभविक कथन कर रहा होता हूँ। इस प्रकार के इद्रियानुभविक कथन हमारी बात की सत्यता का पता लगाने मे मदद करते है, पर उसका अर्थ नही वे निर्धारित करते। अर्थ तो जांच की प्रक्रिया का उल्लेख करने से पहले ही निश्चित हो चुका था। अत जांच का तरीका उस अर्थ के अनुरूप ही है। इसके विपरीत, जब मैं कहता हूँ कि "यदि गोला (विद्युत् के) चार्ज से युक्त है तो विद्युत्दर्शी के पत्र अपसारित हो जाते हैं," तब मैं अनुमान का एक नियम बता रहा होता हूँ जो पहले वाक्य का अर्थ स्पष्ट करता है। उस वाक्य का अर्थ अब सत्यापन की प्रणाली पर आश्रित हो जाता है। यदि मैं उस

वाक्य के लिए कोई अन्य नियम निश्चित करता हूँ तो इस प्रकार मैं उसका अर्थ बदल देता हूँ।[1]

बाद वाले प्रसग मे भी यह कहना शायद बिल्कुल सही नही है कि "अर्थ सत्यापन की प्रणाली है"; यह कहना तक सही नही है कि "अर्थ को जानना सत्यापन की प्रणाली को जानना है।" यह कहना अधिक सही प्रतीत होगा कि वाक्य तब तक सार्थक नही होता जब तक उसका किसी ऐसे वाक्य या वाक्यो मे अनुवाद न हो जिसका या जिनका पहले से ही कोई अर्थ हो। जब ऐसा अनुवाद कर दिया जाता है, और मैं जानता हूं कि उसका क्या अर्थ है, तब मैं जान लेता हूँ कि मूल कथन का क्या अर्थ है। मूल कथन का सत्यापन मैं केवल तभी कर सकता हूँ जब मैं दूसरे कथन का सत्यापन करता हूँ। "गोला विद्युत् के चार्ज से युक्त है", इस मूल कथन का सत्यापन म "विद्युत्दर्शी के पत्र अपसारित होते है," इस दूसरे कथन के सत्यापन के द्वारा करता हूँ। यहाँ भी अर्थ सत्यापनीयता नही है : अर्थ एक अनुवाद से प्राप्त होता है, जो मुझे यह बताता है कि सत्यापन किसका करना है।

परीक्षणीयता वाली कसौटी के बारे मे हम अतिम निष्कर्ष क्या निकालते हैं ? अर्थ की एक सामान्य कसौटी के रूप मे यह पर्याप्त नही है। (१) विश्लेषी कथनो पर यह लागू नही होगी, क्योकि उनका दुनिया का प्रेक्षण करके सत्यापन बिल्कुल नही होता। (२) कोई बात न बतानेवाले वाक्यो पर, जैसे प्रश्नो, आदेशो और भावोद्गारो पर, वह लागू नही होती, क्योकि वे ऐसा कुछ नही कहते जो सत्य या असत्य हो सके। (यह कसौटी इन दो प्रकार के वाक्यो के लिए बनाई ही नही गई थी।) (३) ऐसा लगता है कि स्वय अपने अनुभवो से सबधित कथनो पर भी वह लागू नही होगी, क्योकि "सत्यापन" का कोई ऐसा अर्थ आसानी से समझ मे नही आता जिसमे इनके सत्यापित होने की बात कही जा सके। (४) वह "यह अच्छा है" या "यह प्रशसनीय है" जैसे मूल्यसूचक कथनो पर लागू नही होती (ऐसे कथनो पर अध्याय ९ मे विचार किया जाएगा)। ये कथन बिल्कुल ही भिन्न कोटि के प्रतीत होते हैं। (५) तत्वमीमासीय कथनो पर वह लागू नही होती। ऐसे कथनो पर हम अगले तीन अध्यायो मे विचार करनेवाले हैं। सामान्यत: ऐसे कथनों का

---

१. फ्रीड्रिक वेसमान, प्रिन्सिपल्स ऑफ लिंगुइस्टिक फिलॉसफी, पृ० ३१२।

खंडन-मडन तर्क से किया जाता है, न कि ऐसे इद्रियानुभविक तथ्यो की इशारा करके जो प्रतिवादी के लिए अपरिचित है। तर्क का दर्शन के लिए वही महत्व है जो इद्रियानुभविक साक्ष्य का विज्ञान के लिए है। (निश्चय ही कोई निराश होकर यहाँ तर्क कह सकता है कि सब तत्वमीमासीय विवाद निरर्थक हैं ; परतु यह तो समस्याओ की एक पूरी शृंखला को अर्थ की एक मनमानी कसौटी बनाकर बाहर निकाल देना होगा। प्रतितत्वमीमासक स्वय ही यह मान चुके है कि तत्वमीमासा को टुकडे-टुकडे करके बाहर निकालना होगा, कि प्रत्येक तत्वमीमासीय समस्या से अलग-अलग निपटना होगा , सबको जाँच करने से पहले ही एकमुश्त नही हटाया जा सकता।)

परीक्षणीयता वाली कसौटी केवल इंद्रियानुभविक कथनो के क्षेत्र मे ही ठीक-सी लगती है। ये वे कथन है जो दैनिक जीवन मे और विज्ञान मे होते हैं। यदि आप दुनिया के बारे मे कुछ कहते हैं तो आपको यह बताने मे समर्थ होना चाहिए कि दुनिया के कौन-से प्रेक्षण उसके पक्ष या विपक्ष मे गिने जाएँगे। परतु जैसा कि हम अभी देख चुके है, यहाँ भी हमे एक अतर करना होगा · अधिकतर इद्रियानुभविक कथनो का अर्थ हम यह जानने से पहले ही जान लेते हैं कि उनका सत्यापन हम कैसे करेगे, और यह जानकारी कि उन्हे कैसे सत्यापित करना है उनके अर्थ मे कोई वृद्धि नही करती। अर्थ की एक कसौटी के रूप मे परीक्षणीयता केवल उन इद्रियानुभविक कथनो के तग दायरे मे ही ठीक-सी लगती है जिनके मुख्य शब्दो को अर्थ यह बतानेवाले अनुवाद-नियम के द्वारा दिया जाता है कि प्रेक्षण की किन स्थितियो मे मूल कथन को सत्य या असत्य मानना है।

अर्थ की कसौटियो के बारे मे सामान्य बात—अब वाक्य के अर्थ की कसौटियो का हमारा जांच कार्य समाप्त हो गया है। क्या वाक्यार्थ की कोई एक कसौटी मान्य है ? एक भी कसौटी ऐसी नही है जो अकेली ही सभी वाक्यो पर लागू हो सके। केवल इस तरह के अलग-अलग दोष होते हैं जैसे एक दिए हुए सदर्भ के बाहर शब्दो का प्रयोग करना, कोटियो का सकरण, स्वतोव्याघात इत्यादि, जिनमे कोई समान बात नही भी हो सकती। हम इन सब वाक्यो को एक समूह मे लेकर चाहे तो "निरर्थक" कह सकते हैं, पर यह शब्द स्वय बहुत महत्व का नही है। इसे छोडा जा सकता है। यह जरूरी नही है कि निरर्थकता की कोई एक ही कसौटी हो— उसी तरह जिस तरह यह जरूरी

नही है कि सभी बीमारियो का एक ही परीक्षण हो। किसीके कहे हुए वाक्य को "निरर्थक" कहना वैसा ही है जैसा डाक्टर का रोगी को यह कहना कि "तुम बीमार हो"। उसका निदान तब तक किसी महत्व का नही है जब तक रोगी को यह न बताया जाए कि बीमारी क्या है। और जो दार्शनिक बार-बार कहता है कि "यह निरर्थक है" पर यह नही बताता कि गलती किस वजह से हो रही है, वह डाक्टर से अधिक सहायक सिद्ध नही हो रहा है। इसका कोई छोटा और आसान तरीका नही है। दार्शनिक को गलती को खोजते-खोजते उसके मूल तक पहुँचना होगा और जब वह यह कर चुका हो और श्रोता हर विशेष उदाहरण मे देख ले कि गडबडी कहाँ हुई है, तब उसे निंदात्मक शब्द "निरर्थक" का प्रयोग करने की फिर जरूरत नही होगी। असल मे, बात को और अधिक स्पष्ट न करके इस शब्द का प्रयोग कर देने मात्र से दूसरे लोगो की मनोवृत्ति गलतियो की एक बडी सख्या को एक ढेर मे डाल देने की बन जाएगी, जबकि होना यह चाहिए कि उन्हे सावधानी के साथ एक दूसरी से अलग रखा जाए।

अध्याय ५

कारण, नियतत्ववाद, और स्वतंत्रता

इस अध्याय में हम इंद्रियानुभविक ज्ञान के एक पक्ष पर विचार करेंगे, और यह है कारणों का हमारा ज्ञान। हमने अर्थ-संबंधी सिद्धांतों के बारे में जो कुछ कहा है उसकी परीक्षा का अब एक अच्छा अवसर मिलेगा। पर यह विषय अन्य कारणों से स्वयं भी अत्यधिक रोचक है। हम निरंतर कारणपरक भाषा का प्रयोग करते रहते हैं। तो क्यों न "कारण" शब्द के अर्थ को खोजने का प्रयत्न किया जाए, जो कि दार्शनिक विश्लेषण के लिए एक रोचक अभ्यास भी सिद्ध होगा? लोग प्रायः यह समझते है कि वे इस शब्द का अर्थ जानते है—कम-से-कम तब तक जब तक उनसे अर्थ बताने को नही कहा जाता। इसके अलावा एक और भी बात है: यह विषय सीधे दर्शन की दो सर्वाधिक चर्चित समस्याओं में पहुँचा देता है, जो ये हे: एक यह कि क्या प्रत्येक घटना का कोई कारण होना है (सार्वभौम कारणता), और दूसरी यह कि कारण का मानवीय स्वतंत्रता से क्या संबंध है।

१५. कारण क्या है?

जब हम कहते है कि हवा का चलना ठंडक का कारण है या माचिस को झाड़ना रोशनी का कारण है, अथवा संखिया खाना मृत्यु का कारण बन जाता है, तब "कारण" शब्द से हमारा क्या मतलब होता है? जब हम यह कहते हैं कि क ख का कारण है, तब वह ठीक क्या बात है जो हम कारण क का कार्य ख के साथ जो सबंध है उसके बारे में कह रहे होते है?

हमारी पहली प्रतिक्रिया यह कहने की हो सकती है: "बात आसान है। किसी चीज का कारण होना उसे पैदा करना, उसे अस्तित्व में लाना है।" निस्सदेह यह ठीक है, लेकिन सवाल का जवाब यह नही है: यह तो सवाल को टालना मात्र है: पैदा करने का क्या मतलब है? यह तो मोटे तौर से "कारण" शब्द का पर्याय ही है, और इस प्रकार जहाँ से हम चले थे वही हम वापस पहुँच जाते है। "पैदा करना" और "कारण होना" की एक-दूसरे के द्वारा परिभाषा देने के बजाय हमे यह बताना चाहिए कि इन दोनों का क्या

अर्थ है । हम जानना यह चाहते हैं कि क मे कौन-सी विशेषताएँ हो जिनसे वह ख का कारण बने ।

कालिक पूर्ववर्तिता—सबसे सरल इंद्रियानुभविक कथन वे होते है जिनका सीधे प्रेक्षण से सत्यापन हो सके : "मैं बैठा हूँ", 'मेरी मेज पर तीन किताबें है" । हम यह भी प्रेक्षण से जान सकते है कि कुछ घटनाएँ अन्य घटनाओ से पहले या बाद मे घटती हैं : उदाहरणार्थ, मेरी सिगरेट से धुआँ उसके जलाए जाने के बाद निकलता है, पहले नही, और नशा शराब को पीने के बाद आता है न कि पहले । पर क्या यह भी हम प्रेक्षण से जानते है कि एक घटना दूसरी का कारण है ? यदि हाँ, तो जब हम यह प्रेक्षण करते है तब वह क्या होता है जिसका हम प्रेक्षण करते हैं ? हम देखते हैं कि कोई माचिस झाडता है और वह जल उठती है , परतु जब हम देखते है (यदि वाकई हम देखते हैं तो) कि माचिस झाडना उसके जल उठने का कारण है, तब हम देखते क्या है ?

यह कहना कि क ख का कारण है, मात्र यह कहना नही है कि क ख के पहले होता है । अनेक घटनाएँ अन्य घटनाओ के पहले घटती है पर उनके कारण नही होती । शायद एक क्षण पहले अमेरिका के राष्ट्रपति ने छीका था ; पर यह बिल्कुल भी इस तथ्य का कारण नही है कि मैं इस समय अपनी कार के अदर जा रहा हूँ । यदि आज सुबह मैंने ७-३० पर नाश्ता किया था और आपने ७-३१ पर नाश्ता किया था, तो मेरा नाश्ता करना आपके नाश्ता करने का कारण नही था ।

अत यह कहना पर्याप्त नही है कि क ख से पहले होता है । कोई इस बात को सत्य मानने का विरोध तक कर सकता है कि जब भी क ख का कारण बनता है तब क ख से पहले होता है ।[1] आपका शीशे के सामने खडा होना उसमे आपके प्रतिबिंब के दीख पडने का कारण है । क्या ये दोनो साथ साथ होनेवाली बातें नही हैं ? नही । प्रकाश १८६००० मील प्रति सेकड की गति से चलता है । इसलिए समय स, मे शीशे मे दीख पडनेवाले आपके

[1] ठीक-ठीक इस बात को रखना यह कहना होगा कि एक वर्ग क की घटनाएँ सदैव एक अन्य वर्ग ख की घटनाओं से पहले होती हैं । इस अतर का महत्व इस अध्याय मे बाद मे प्रकट होगा । तब तक हम इस चर्चा को इस अतर के अनुरूप तकनीकी भाषा के प्रयोग से मुक्त रखेंगे ।

अध्याय ५

कारण, नियतत्ववाद, और स्वतंत्रता

इस अध्याय मे हम इंद्रियानुभविक ज्ञान के एक पक्ष पर विचार करेंगे, और यह है कारणो का हमारा ज्ञान। हमने अर्थ संबधी सिद्धातो के बारे मे जो कुछ कहा है उसकी परीक्षा का अब एक अच्छा अवसर मिलेगा। पर यह विषय अन्य कारणो से स्वय भी अत्यधिक रोचक है। हम निरतर कारणपरक भाषा का प्रयोग करते रहते है। तो क्यो न "कारण" शब्द के अर्थ को खोजने का प्रयत्न किया जाए, जो कि दार्शनिक विश्लेषण के लिए एक रोचक अभ्यास भी सिद्ध होगा? लोग प्राय. यह समझते है कि वे इस शब्द का अर्थ जानते है— कम-से-कम तब तक जब तक उनसे अर्थ बताने को नही कहा जाता। इसके अलावा एक और भी बात है : यह विषय सीधे दर्शन की दो सर्वाधिक चर्चित समस्याओ मे पहुँचा देता है, जो ये है : एक यह कि क्या प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है (सार्वभौम कारणता), और दूसरी यह कि कारण का मानवीय स्वतत्रता से क्या सबध है।

१५. कारण क्या है ?

जब हम कहते है कि हवा का चलना ठडक का कारण है या माचिस को झाडना रोशनी का कारण है, अथवा संखिया खाना मृत्यु का कारण बन जाता है, तब "कारण" शब्द से हमारा क्या मतलब होता है ? जब हम यह कहते हैं कि क ख का कारण है तब वह ठीक क्या बात है जो हम कारण क का कार्य ख के साथ जो सबध है उसके बारे मे कह रहे होते है ?

हमारी पहली प्रतिक्रिया यह कहने की हो सकती है : "बात आसान है। किसी चीज का कारण होना उसे पैदा करना, उसे अस्तित्व मे लाना है।" निस्सदेह यह ठीक है लेकिन सवाल का जवाब यह नही है : यह तो सवाल को टालना मात्र है : पैदा करने का क्या मतलब है ? यह तो मोटे तौर से "कारण" शब्द का पर्याय ही है, और इस प्रकार जहाँ से हम चले थे वही हम वापस पहुँच जाते हैं। "पैदा करना" और "कारण होना" की एक-दूसरे के द्वारा परिभाषा देने के बजाय हमे यह बताना चाहिए कि इन दोनो का क्या

अर्थ है। हम जानना यह चाहते हैं कि क मे कौन-सी विशेषताएँ हों जिनसे वह ख का कारण बने।

कालिक पूर्ववर्तिता—सबसे सरल इंद्रियानुभविक कथन वे होते हैं जिनका सीधे प्रेक्षण से सत्यापन हो सके : "मैं बैठा हूँ", "मेरी मेज पर तीन किताबें है"। हम यह भी प्रेक्षण से जान सकते है कि कुछ घटनाएँ अन्य घटनाओं से पहले या बाद में घटती है : उदाहरणार्थ, मेरी सिगरेट से धुआँ उसके जलाए जाने के बाद निकलता है, पहले नही, और नशा शराब को पीने के बाद आता है न कि पहले। पर क्या यह भी हम प्रेक्षण से जानते हैं कि एक घटना दूसरी का कारण है ? यदि हाँ, तो जब हम यह प्रेक्षण करते है तब वह क्या होता है जिसका हम प्रेक्षण करते है ? हम देखते है कि कोई माचिस झाड़ता है और वह जल उठती है ; परंतु जब हम देखते हैं (यदि वाकई हम देखते है तो) कि माचिस झाड़ना उसके जल उठने का कारण है, तब हम देखते क्या है ?

यह कहना कि क ख का कारण है, मात्र यह कहना नही है कि क ख के पहले होता है। अनेक घटनाएँ अन्य घटनाओ के पहले घटती है पर उनके कारण नही होती। शायद एक क्षण पहले अमेरिका के राष्ट्रपति ने छींका था ; पर यह बिल्कुल भी इस तथ्य का कारण नही है कि मैं इस समय अपनी कार के अंदर जा रहा हूँ। यदि आज सुबह मैंने ७-३० पर नाश्ता किया था और आपने ७-३१ पर नाश्ता किया था, तो मेरा नाश्ता करना आपके नाश्ता करने का कारण नही था।

अतः यह कहना पर्याप्त नही है कि क ख से पहले होता है। कोई इस बात को सत्य मानने का विरोध तक कर सकता है कि जब भी क ख का कारण बनता है तब क ख से पहले होता है।[1] आपका शीशे के सामने खड़ा होना उसमे आपके प्रतिबिंब के दीख पड़ने का कारण है। क्या ये दोनो साथ-साथ होनेवाली बातें नही हैं ? नही। प्रकाश १८६००० मील प्रति सेकंड की गति से चलता है। इसलिए समय $स_1$ मे शीशे मे दीख पड़नेवाले आपके

१. ठीक-ठीक इस बात की सत्यता को कहना होगा कि एक वर्ग क की घटनाएँ सदैव एक अन्य वर्ग ख की घटनाओं से पहले होती हैं। इस अंतर का महत्व इस अध्याय मे बाद में प्रकट होगा। तब तक हम इस चर्चा को इस अंतर के अनुरूप तकनीकी भाषा के प्रयोग से मुक्त रखेंगे।

प्रतिबिंब का कारण समय $स_1$ में आपका शीशे के सामने खड़ा होना है, जो कि एक सेकंड के बहुत ही अल्प अंश पहले होता है। जो भी हो, अधिकतर उदाहरणों मे कारण कार्य से पहले होता है (हालांकि सदैव बहुत थोड़े पहले)। क्या सदैव ही ? यदि आप झूमाझूमी के तख्ते के एक सिरे के ऊपर कूद पड़ें तो दूसरा सिरा एकदम ऊपर चढ़ जाता है। क्या दूसरा सिरा पहले सिरे पर आपके कूदने पर तत्क्षण ऊपर चढता है या थोड़े बाद में ? यहाँ भी तर्क से यह दिखाया जा सकता है कि कार्य के होने मे कुछ समय लगता है, क्योकि गति को पूरे तख्ते मे एक सिरे से दूसरे तक पहुँचना होगा। परंतु यह बात प्रकाश वाली बात से अधिक संदिग्ध है। प्रकाश से तथा विकिरण के अन्य रूपो के प्रसग मे जिस तरह समय लगता है उस तरह गुरुत्वाकर्षण के प्रसग मे भी समय लगता हो, यह ज्ञात नही है। यदि आप हवा मे एक गेंद फेंके, तो उसे वापस पृथ्वी पर आने मे समय लगता है, पर (जहाँ तक हम जानते है) उसपर गुरुत्वाकर्षण का असर होने मे कोई समय नही लगता। यदि हम आक्षेप से बिल्कुल बचना चाहते है तो हम यह नही कहेंगे कि कारण सदैव कार्य के पहले होता है बल्कि यह कहेंगे कि कारण कभी कार्य के बाद नही होता।

इससे भी किसी-किसी ने इन्कार किया है, परतु यह इन्कार एक गलतफहमी की वजह से मालूम पडता है। मान लीजिए, मेरा एक लक्ष्य है, जैसे एक परीक्षा पास करना। क्या भविष्य का यह लक्ष्य वर्तमान मे मेरे कुछ कामों का कारण बनेगा, जैसे पास होने के लिए अध्ययन करने का ? नही, भविष्य की घटना (परीक्षा मे पास होना) अभी घटी नही है और अभी उसका अस्तित्व न होने से वह कारण बन ही नहीं सकती। बल्कि वास्तव मे यह भी हो सकता है कि वह कभी घटे ही नहीं। लक्ष्य से प्रेरित व्यवहार के क्षेत्र मे जो चीज आपके अध्ययन इत्यादि का कारण बनती है वह है उस लक्ष्य का आपका वर्तमान विचार तथा उसे प्राप्त करने की आपकी वर्तमान इच्छा। ये अवस्थाएँ इस समय अस्तित्व रखती है, हालांकि लक्ष्य स्वयं नही। यदि इस समय उसका अस्तित्व होता तो आप उसे प्राप्त करने का प्रयत्न ही न करते। सामान्य रूप से केवल वही चीज कारण बन सकती है जो पहले से मौजूद हो। आज होनेवाली वर्षा पिछले दिन फसल को नही बचा सकती। मंगलवार को विष खाना उसी सप्ताह के सोमवार को किसी के मरने का कारण नही बन सकता।

तो फिर कारण कभी अपने कार्य के बाद नही होता। पर यह सीधी सी बात हमको अधिक जानकारी नही देती। हमे इससे भी कही अधिक जानना है। किसी चीज के किसी अन्य चीज के पहले होने मात्र से वह उसका कारण नही बन जाती। क के ख का कारण होने और क के ख के पहले मात्र होने मे किस बात का अतर है ? अब हम एक बडे विवाद मे उतर गए है।

अनिवार्य सबध—हमारी भाषा और हमारी विचार प्रणाली म यह धारणा बहुत गहरी बैठी हुई है कि जब कारण क कार्य ख को पैदा करता है तब क और ख के मध्य कोई "अनिवार्य सबध" होता है – कि जब क होता है तब ख को किसी अर्थ मे अनिवार्य रूप से होना चाहिए। शायद हमारे इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने मे कि "कारण क्या है ?" यह बात हमे कुछ रास्ता बताएगी। पर यह कहने का क्या अर्थ है कि एक कार्य को अवश्य होना चाहिए ? यहाँ "चाहिए" का क्या अर्थ है ? यहाँ हम इस शब्द के कुछ मुख्य अर्थ बताने की कोशिश करते हैं।

१ "तुम्हे मध्यरात्रि से पहले अदर आ जाना चाहिए, अन्यथा " । यह "चाहिए" का आदेशात्मक अर्थ है, वह अर्थ जो आदेशो और नियमो (कानूनो) के सदर्भ मे उपयुक्त होता है। एक आदमी को यह बताया जाता है कि यदि वह एक निर्दिष्ट काम नही करता तो कुछ दड उसे भुगतना होगा। पर "चाहिए" का यह अर्थ प्रकृति की घटनाओ के सदर्भ म उपयुक्त नही है। जब हम कहते है कि लकडी को जलना ही चाहिए या पानी को नीचे की ओर बहना ही चाहिए, तब लकडी और पानी को कोई आदेश नही दिया जा रहा है।

इस पहले अर्थ से बहुत मिलता जुलता अर्थ तब हो । है जब हम कहते है, "मुझे रुपया लौटा देना चाहिए, क्योकि यह मैंने उधार लिया था," हालांकि ऐसा न करने पर मुझे कोई दड नही मिल रहा हैं। यहाँ हमारा अभिप्राय केवल यह है कि हम रुपया लौटाने के लिए अपने को नतिक दृष्टि से बँधे हुए मानते हैं।

अब कोई कहता है, 'आपको आज मेरी पार्टी म आना ही चाहिए (या पडेगा या हागा)" तब उसका यह अभिप्राय नही है कि वह नैतिक रूप स बंधा हुआ है या यदि यह नही आता तो उम दड मिलगा। उसके कहन का कुछ

इनके उत्तर कुर्सी पर बैठकर और गणना करके, जैसे हम गणित मे करते है, नही प्राप्त कर सकते ।[१]

एक बार बता दिए जाने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है, पर फिर भी लोगों के मन मे इस बारे मे भ्रम हो जाने की अत्यधिक संभावना बनी रहती है—तार्किक "चाहिए" फिर भी चोरी से अदर पहुँच ही जाता है। अब हम देखते है कि यह कैसे हो जाता है : "राम श्याम से लंबा है,"इस कथन पर विचार कीजिए। निस्सदेह यह एक इद्रियानुभविक कथन है, अनिवार्य कथन नही। यही बात "श्याम राम से छोटा है" पर भी लागू होती है। यह पता लगाने के लिए कि ये कथन सत्य हे, हमे राम और श्याम को देखना पड़ेगा। परंतु "यदि राम श्याम से लबा है, तो श्याम राम से छोटा है" एक तर्कतः अनिवार्य कथन है, और इसकी सत्यता का पता लगाने के लिए हमे राम और श्याम के बारे मे कुछ भी जानने की जरूरत नही है। प्रकृति की एकरूपताओं पर भी यही बात लागू होती है। "जब भी घर्षण होता है तब ताप उत्पन्न होता है" प्रकृति का एक इद्रियानुभविक नियम है। "घर्षण होता है' (किसी विशेष स्थान और काल मे) एक इद्रियानुभविक कथन है, और इन दो कथनो से प्राप्त तार्किक निगमन "ताप उत्पन्न होता है" भी एक इद्रियानुभविक कथन है। परंतु "यदि घर्षण होता है तो ताप उत्पन्न होता है, और घर्षण होता है, अतः ताप उत्पन्न होता है" एक तर्कतः अनिवार्य कथन है। यह बात कि एक विशेष दृष्टात मे जब घर्षण होता है तब ताप उत्पन्न होता है, प्रकृति के एक सामान्य नियम से निगमित की जा सकती है, जो घर्षण और ताप के सतत साहचर्य को बताता है। कथन स्वतः अनिवार्य नही है, परतु जब वह एक "यदि—तो" कथन का "तो" वाला भाग होता है, जिसका "यदि" वाला भाग प्रकृति के एक नियम को बताता है, और उसके साथ कोई विशेष परिस्थिति जुडी होती है, तब पूरी प्रतिज्ञप्ति, हेतुफलात्मक या यदि-तो कथन, तर्कतः अनिवार्य होती है।

---

१ यदि "क ख का कारण है" का अर्थ वही है जो "क के अनंतर सदैव ख होता है" का है, तो यह कथन कि "क ख का कारण है पर क के अनतर ख सदैव नही होता" निस्संदेह स्वतोव्याघाती है। परतु इससे यह बिल्कुल भी तर्कतः असंभव नही हो जाती कि क के अनतर ख न हो। यदि ऐसा हो तो इसका अर्थ केवल यह होगा कि यह क इस ख का कारण नही है।

अब यदि हम सावधान नही हैं तो हमे भ्रम कैसे होगा? इस तरह : हम कह सकते ह कि "जब घर्षण होता है तब सदैव ताप पैदा होता है, और यहाँ घर्षण हो रहा है, इसलिए बात यह होनी चाहिए कि यहाँ ताप पैदा होता है।" यह "चाहिए" का तार्किक अर्थ है, जो केवल यह है कि सत्रजित निष्कर्ष आधारिकाओ से तर्कत. निगमित हो सकता है। यही बात तब भी होगी जब आधारिकाएँ असत्य हो : "यदि सब रेंगनेवाले प्राणी हरे होते हैं और मेरा कुत्ता एक रेंगनेवाला प्राणी है, तो होना यह चाहिए कि मेरा कुत्ता हरा है।" किसी भी निगमनात्मक युक्ति के निष्कर्ष के पहले यह दिखाने के लिए कि वह आधारिकाओ से तर्कत. निगमित होता है, सदैव "चाहिए" लगाया जा सकता है। खतरा यह है कि हम "चाहिए" तो लगा देते है पर उसके बाद उन इद्रियानुभविक आधारिकाओ की बात को प्राय भूल जाया करते हैं जिनसे निष्कर्ष निगमित हुआ है। इस प्रकार हम कहते है, "पत्थरो को गिरना ही चाहिए," "पानी को नीचे की ओर बहना ही चाहिए," "जीवो को मरना ही चाहिए" इत्यादि, और यह भूल जाते है कि ये अनिवार्य कथन बिल्कुल ही नही है बल्कि प्रकृति के सामान्य नियमो से निगमित किए जानेवाले कथन है।

पर क्या यह सत्य नही है कि पानी को नीचे की ओर बहना चाहिए, कि जीवो को मरना चाहिए ? यदि अब भी हम यह प्रश्न पूछते हैं, तो ऊपर के विश्लेषण को हम समझ नही पाए हैं। हम प्रेक्षण से अधिक-से-अधिक यह जान सकते है कि पानी सदैव नीचे की ओर बहता है और सब जीव मरते है, और यह कि इन तथ्यो को बतानेवाले कथन प्रकृति के सामान्य नियमो से निगमित किए जा सकते हैं और यदि वे नियम सत्य है तो इन्हे भी सत्य होना चाहिए (तार्किक अर्थ मे)। केवल इस गौण अर्थ मे ही हम प्रकृति की घटनाओ के बारे मे इस तरह कह सकते है जैसे कि मानो उन्हे होना चाहिए उन्हे या उनका होना बतानेवाले कथनो को सामान्य इद्रियानुभविक नियमो से निगमित किया जा सकता है, और केवल उनसे सबधित रूप मे ही वे अनिवार्य होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे "श्याम राम से छोटा है" केवल "राम श्याम से लबा है," इस आधारिका से सबधित रूप मे ही अनिवार्य है।

"परन्तु जब एक बार आप जो कारण काम कर रहा है उसकी प्रकृति को जान लेते हैं, तब आप जान लेते हैं कि कार्य को होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि आप जानते है कि यह पानी है तो आप जानते हैं कि उसे २१२° फा०

पर खौलना चाहिए। ऐसा करना पानी का स्वभाव ही है, और जो उसके स्वभाव का अंग है वह उसे करना ही चाहिए।" यहाँ फिर "चाहिए" आ गया। हम देखते हैं कि गड़बड़ कहाँ है। शायद वक्ता यह कहना चाहता है कि "यदि यह पानी है तो होना यह चाहिए कि यह २१२° फा० पर खौलेगा"। ("चाहिए" यहाँ आधारिका और निष्कर्ष के संबंध का अंग है, स्वयं निष्कर्ष का अंग नहीं : "अतः होना यह चाहिए कि—यह तर्कतः निगमित होता है कि—यह २१२° पर खौलता है," यह नहीं कि "अतः इसे २१२° पर खौलना चाहिए।") क्या यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है ? सब इस बात पर निर्भर है कि २१२° पर खौलना पानी की एक परिभाषक विशेषता मानी जाती है या नहीं। यदि यह एक परिभाषक विशेषता है तो निश्चय ही यह कथन कि वह २१२° पर खौलता है विश्लेषी है : "पानी २१२° पर खौलता है" का यह रूप हो जाता है कि "कोई भी चीज जिसमें अ, ब, स गुणधर्म हैं (अ २१२° पर खौलने का गुणधर्म है) गुणधर्म अ से युक्त है" जो कि स्पष्टतः विश्लेषी है। इस तरह यदि वह २१२° पर नहीं खौलता तो वह पानी नहीं है। परंतु यदि इसे एक परिभाषक विशेषता नहीं मानना है—जैसे यदि यह तब तक पानी है जब तक यह हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और आक्सीजन के एक परमाणु से बना है, चाहे जो इसके *अन्य* गुणधर्म हों—तो प्रतिज्ञप्ति विश्लेषी नहीं है : वह संश्लेषी और अनुभवसापेक्ष (आपातिक) है तथा वह इस बात का कोई औचित्य नहीं दिखाती कि पानी को २१२° पर खौलना चाहिए।

२. **प्रकृति के नियमों को विधायी नियमों (कानूनों) के साथ उलझाना**—जैसा कि हम देख चुके हैं, हम "चाहिए" शब्द का प्रयोग प्रायः आदेश के अर्थ में करते हैं। "तुम्हें ग्यारह बजे तक घर वापस आ जाना चाहिए, अन्यथा .... " का व्यवहारतः यह अर्थ है कि यदि तुम ग्यारह बजे तक घर न लौटे तो तुम्हें कुछ दंड मिलेगा। यह आदेश आपको कुछ बाध्य करता है। वैसे बाध्य यह आपको नहीं करता जैसे तब जब आपको बांध दिया जाता है, आपका मुंह बंद कर दिया जाता है और आपका अपनी चेष्टाओं पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। आपके लिए आदेश को न मानने का और दंड को पाने का रास्ता सदैव खुला रहता है। फिर भी, आप बाध्य इस अर्थ में हैं कि आपके सामने आदेश का पालन करने या दंड पाने के अलावा कोई विकल्प नहीं है, और इस सीमा तक आपके ऊपर बल-प्रयोग किया जा रहा है।

विधायी नियम आम तौर पर इसी तरह के होते है। कानून आपको एक क्षेत्र-विशेष मे २५ मील प्रति घटे की रफ्तार से अधिक गाडी न चलाने का आदेश देता है और इस प्रकार आपको बाध्य करता है। यहाँ भी हम यह कहते है, "आपको कानून का पालन करना चाहिए या दड के लिए तैयार रहो।" आदेश के अर्थ मे 'चाहिए" शब्द के साथ प्राय एक प्रबल सवेगात्मक अर्थ जुडा होता है (देखिए पृष्ठ ७९-८२)। इसके प्रयोग का उद्देश्य यह है कि जिसे आदेश दिया जा रहा है उसके ऊपर प्रभाव पडे और वह आदेश का पालन करे।

जो लोग वर्णनात्मक और विधायी नियमो के मध्य स्पष्ट अतर नही करते उनकी प्रवृत्ति प्रकृति के नियमो और कानूनो के बारे मे इस तरह बात करने की हो जाती है जैसे कि मानो वे एक हो। ऐसा करने मे वे "चाहिए" इत्यादि शब्दो का प्रयोग, जो कि विधायी नियमो (कानूनो) के बारे मे बात करते समय बिल्कुल उचित होता है, वर्णनात्मक नियमो के प्रसग मे भी कर सकते हैं। परतु यदि हम ऐसे कथनो को शाब्दिक अर्थ मे लें तो उनका कोई सज्ञानात्मक अर्थ नही निकलता। हम कहते है "पानी को नीचे की ओर बहना चाहिए।" पर यह पानी को कोई आदेश नही दिया जा रहा है। यह नियम प्रकृति मे होनेवाली एक एकरूपता का कथन मात्र है। आदेश यह किसी बात का नही देता।

खगोलीय यान्त्रिकी के नियम ग्रहो को किसी विशेष प्रकार से गति करने का आदेश नही देते—जैसे कि मानो वे वस्तुत. अन्य तरीके से गति करना चाहते हो और केप्लर के इन भारी-भरकम नियमो के द्वारा साधारण पथो पर चलने के लिए बाध्य किए जाते हो। नही, ये नियम किसी भी तरह ग्रहो को बाध्य नही करते बल्कि केवल इस बात को व्यक्त करते है कि ग्रह वस्तुत कैसे गति करते है।[1]

"नियम" शब्द के इन दो अर्थों मे पहले भेद नही किया जाता था। प्रकृति की एकरूपताओ को ईश्वर या देवताओ की इच्छा की अभिव्यक्ति माना जाता था। ईश्वर प्रकृति की शक्तियो को कुछ विशेष तरीको से काम करने का आदेश

१. मॉरित्स श्लिक, दि प्रोब्लेम्स ऑफ एथिक्स (एगलवुड क्लिफ्स, एन०जे०. प्रेन्टिस हॉल), पृ० १४७।

देता है। वही प्रत्येक घटना को होने के लिए बाध्य करता है। चूंकि वह किसी भी सरकार से कही अधिक शक्तिशाली है, इसलिए उसके नियम अनुल्लंघनीय हैं। इसके अतिरिक्त, ईश्वर के अच्छे होने से उसके नियम भी अच्छे हैं : प्रकृति के नियम एक नैतिक व्यवस्था की अभिव्यक्ति है, जो एक अलौकिक शक्ति के द्वारा विश्व के ऊपर लागू की गई है। इस व्यवस्था में जो होता है वही होना चाहिए, क्योकि वे सब बातें ईश्वर की इच्छा की अभिव्यक्तियाँ हे। कार्य कारणो का उसी तरह अनुसरण करते है जिस तरह दड निषिद्ध कर्मो का और पुरस्कार विहित कर्मों का। वे अनिवार्य रूप से उनका अनुसरण करते है, क्योकि नियमो का प्रवर्तन सर्वशक्तिमान् ईश्वर के द्वारा होता है। विश्व के बारे मे यह धारणा होने के फलस्वरूप "चाहिए" और "अनिवार्य" इत्यादि शब्द कारणों और कार्यों से संबंधित कथनों के साथ भी जुड गए, और यह कोई अचंभे की बात नही है।

यहाँ यह चर्चा उपयुक्त नही होगी कि विश्व के बारे मे यह धारणा सत्य है या नही। सवाल यह है कि कारणो या कार्यों के बारे में हम जो भी कथन करते है उसमें इस धारणा की सत्यता पहले से निहित है या नही। जब हम कहते हैं कि "घर्षण ताप की उत्पत्ति का कारण है" या "सिंह के आने के कारण हरिण भाग खड़ा हुआ," तब क्या हम सचमुच प्रकृति के बारे मे यह धारणा रखते है ? यदि प्रकृति के बारे में यह धारणा सही न हो, तो क्या हमे कारणता के बारे में कोई भी कथन करने का अधिकार न रहेगा ? निश्चय ही, यह बात नही है। हम प्रकृति को ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति मानें या न माने, दैनिक जीवन मे जब हम कारणपरक कथन करते है तब हमारे अभिप्राय मे यह शामिल नही होता। हम प्रकृतिविषयक इस धारणा का विवेचन अलग से करना चाहेंगे : हम पहले हर हालत में कारणपरक कथन करेंगे (घर्षण, हरिण, या किसी भी अन्य चीज के बारे मे), और तब प्रकृतिविषयक इस धारणा का अलग से मूल्यांकन करेंगे।

जो लोग इस तरह बात करते हैं जैसे कि मानो प्रकृति में अनिवार्यता हो, उनसे सवाल यह पूछा जाना चाहिए कि क्या वे सचमुच यह मानते हैं कि प्रकृति के नियम किसी दैवी इच्छा के द्वारा प्रवर्तित मानवीय नियम हैं। यदि ऐसा उनका मतलब नही है तो उनका अनिवार्यता की बात करना अधिक-उ-

अधिक एक दुर्भाग्यपूर्ण रूपक ही है।[1]

३. भाषा के जीववादी प्रयोग से होनेवाला भ्रम— कोई यह प्रतिवाद कर सकता है कि अभी प्रकृतिविषयक जिस धारणा का उल्लेख किया गया है वह शाब्दिक अर्थ मे युक्तियुक्त नही है : क्या "आदेश", "बाध्य करना" और "अनिवार्य करना" जैसे शब्द केवल मनुष्यों के ही संदर्भ मे, जो इच्छा-शक्ति रखते हैं और इस प्रकार जिनसे उनकी इच्छा के विरुद्ध काम कराया जा सकता है, सार्थक नही है ? पत्थर और झरने कोई इच्छा नही रखते, और इसलिए उन्हें आदेश देने या बाध्य करने की बात ही नही कही जा सकती।

यह अवश्य ही सत्य है, बशर्ते पत्थरो और झरनों को इच्छाशक्ति से युक्त न माना जाए। चीजो के बारे में "जीववाद" नाम की जो आदिम धारणा है उसमे ठीक यही बात मानी जाती है। जीववाद निर्जीव वस्तुओं मे उन विशेषताओ का आरोप करने की प्रवृत्ति है जो केवल जीवो मे ही रहती हे।

अब लोग शाब्दिक अर्थ मे जीववादी नही रहे : हम यह नही मानते कि पर्वत और पेड़ आत्माएँ है, यह तक नही कि उनके अंदर आत्माएँ रहती है। हम यह विश्वास नही करते कि काटे जाने पर पेड़ को दर्द होता है या पत्थर पृथ्वी के केन्द्र में पहुँचने की इच्छा से प्रेरित होता है। हम नही मानते कि पानी को कुछ करने के लिए बाध्य किया जाता है, क्योकि बाध्य केवल सजीव चीजे ही की जा सकती हैं, और पानी निर्जीव है। इसके बावजूद, हम प्रायः इस तरह बात करते हैं जैसे कि मानो हम ऐसी बातो मे विश्वास करते हो। हम प्रकृति में अपनी अनुभूतियाँ देखते हैं। हम आकाश को उदास कहते है. हालांकि उदास हम होते हैं न कि आकाश ; हम खाई को मुँह फाड़े हुए देखते हैं, पृथ्वी को मुस्कराती हुई कहते है, गाड़ी को जल्दी भागनेवाली बताते हैं। कविता मे जीववादी भाषा भरी होती है, और इससे उसका सौंदर्य प्रायः बढ जाता है। परंतु दर्शन मे यह बात जरूरी है कि हम भाषा के ऐसे प्रयोग से सतर्क रहे। जैसा कि थोड़े-से उदाहरणो से प्रकट हो जाएगा, जीववादी भाषा भ्रामक सिद्ध हो सकती है।

मूलतः "प्रतिरोध" शब्द लोगों की एक अनुभूति का बोधक था, जैसे वह जो तब होती है जब कोई एक बड़े शिलाखंड को हटाने का प्रयत्न कर रहा होता

---

१. ए० जे० प्यर, फाउन्डेशन्स ऑफ एम्पीरिकल नॉलेज, पृ० १९८।

है या एक भारी दरवाजे को खुला रखने की कोशिश कर रहा होता हे। अब हम तब भी इस शब्द का प्रयोग करते है जब काम में कोई प्राणी शामिल नही होता : हम कहते हैं कि एक चीज दबाव का प्रतिरोध करती है, हिलाए जाने का प्रतिरोध करती है, इत्यादि, हालांकि हमारा मतलब यह नही होता कि उसे प्रतिरोध की अनुभूति होती है। "प्रतिरोध" शब्द अनुभूति से उस चीज मे स्थानातरित हो गया है जिसने उसे पैदा किया था। हम दरवाजे को खुला रखनेवाली अड़ानी पर प्रतिरोध का आरोप करते है, क्योंकि यदि अड़ानी की स्थिति मे हम हुए होते तो हमे प्रतिरोध की अनुभूति हुई होती। "प्रतिरोध," "बल," "शक्ति" और अन्य जीववादी शब्दों का भौतिक विज्ञानों में निरतर प्रयोग होता है। लेकिन वहाँ वे कुछ कम हानिकारक हैं क्योंकि इन क्षेत्रो मे उन्हे विशिष्ट और सुनिश्चित अर्थ दे दिए गए हैं।

आप एक बडे गोले को धकेलते है और लुढ़काते हुए उसे जहाँ चाहे उस स्थान पर ले जाते है। एक दूसरे मौके पर आप देखते ह कि एक अन्य गोला आकर उससे टकराता हे और वह भी चलने लगता है। काम लगभग एक ही है। परंतु चूँकि पहले मौके पर आप गोले को धकेलकर वहाँ ले गए जहाँ आप चाहते थे, इसलिए जब आप दूसरे गोले को यही काम करते हुए देखते है तब आप यह कहने लगते हैं कि उस गोले ने उस गोले को धकेला या उसने उसे उस रास्ते पर चलने के लिए बाध्य किया। यह भाषा निश्चय ही कुछ भ्रामक है। यदि ये बातें सिर्फ वह बताती हों जिसका आपने प्रेक्षण किया है, यानी यह कि एक गोला दूसरे को छूता है और दूसरा एक दिशा की ओर लुढकना शुरू कर देता है (जो कि एक चल-चित्र लेनेवाले कैमरे की फिल्म मे आ जाएगा), तो आप प्रेक्षणगम्य तथ्यो से आगे नही गए है। परंतु आपके द्वारा इस परिस्थिति मे प्रयुक्त शब्द कोई ऐसी बात ले आते है जो वहाँ है ही नहीं। उनसे यह ध्वनित होता है कि दूसरे गोले को "धकेलने" मे पहले गोले को प्रयत्न या आयास का अनुभूति हुई और दूसरे गोले को पहले के धक्के के प्रति "प्रतिरोध" की अनुभूति हुई। हम सचमुच ऐसा विश्वास नहीं करते, परतु हमारी भाषा से ऐसा लगता है कि जैसे हम ऐसा विश्वास करते हैं।

यही बात तब भी लागू होनी है जब हम कहते है कि पहला गोला दूसरे को चलाता है। यदि इसका मतलब सिर्फ यह हो कि पहला दूसरे से टकराता है और दूसरे मे गति उत्पन्न हो जाती है तो हम सिर्फ वही बात कह रहे हैं

जो हमने देखी है। परंतु "चलाता है" मे एक जीववादी ध्वनि है जो किसी तरह की बाध्यता की ओर इशारा करती प्रतीत होती है। इस शब्दावली का प्रयोग करने मे यह याद रखने की बात है कि जो हम देखते हे वह सिर्फ यह है कि जब पहला गोला दूसरे गोले से टकराता है तब दूसरा चल पडता है और यह नियमित रूप से होता है। इससे अधिक कुछ नही है। शायद हम गभीरता के साथ अधिक की माँग भी नही करते; पर हमारी भाषाई आदतें, जो आदिम युग के अवशेष है जब जीववाद को अक्षरशः सत्य माना जाता था, इस बात को तत्काल प्रकट नही करती, और वे हमे भ्रम मे डाल सकती है। शायद इस प्रकार की भाषा का प्रयोग तब आपत्तिजनक नही है जब हमारे मन मे यह बात साफ हो कि हम क्या कह रहे हे; परतु हमारी भाषा मे जीववाद इतना छाया हुआ है कि अचेतन रूप से हमारी विचारधारा जीववाद से ओत-प्रोत हो जाती है और हमारे पास जो भाषाई प्रयोग बचे रह गए हे उनका समर्थन करने की हमारी प्रवृत्ति होती है, हालाँकि हम गभीरतापूर्वक उन्हे अक्षरशः सत्य नही मान सकते। यही वजह है कि जितना हम देख सकते हैं केवल उतना कारणमूलक संबधो को बताने की प्रवृत्ति का हम प्रतिरोध करते ह। हम कहना चाहते हैं कि "बिलियर्ड की पहली गेंद दूसरी को आगे बढने के लिए मजबूर करती है" और "जब पहली दूसरी से टकराती है तब दूसरी को चल पडना चाहिए" या "जब पहली दूसरी से टकराती है तब दूसरी चले बिना नही रह सकती" (जैसे कि मानो वह एक चेतन प्राणी हो जो यदि चाहे तो काम न भी करे) अथवा "पहली गेद दूसरी को बलपूर्वक चलाती है" (इसमे एक बिल्कुल भिन्न प्रकार की परिस्थिति से अव्यक्त रूप से तुलना की जा रही है, जैसे डाकू का बलपूर्वक आपसे रुपया निकलवाना)। ये जीववाद के प्रेत हैं जो हमारे दैनिक प्रयोग की भाषा पर लगे हुए है। हम बालकपन से ही इन तरीको से बात करने के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि जब हम "पहली गेद के कारण दूसरी मे गति पैदा हुई" का "जब पहली गेंद दूसरी का स्पर्श करती है तब दूसरी मे सदैव गति हो जाती है" मे अनुवाद करते है तब हम ऐसा महसूस करते हैं जैसे कि कुछ कमी रह गई है। हमे यह स्पष्टवादी, नग्न रूप से इद्रियानुभविक, जानबूझकर जीववादी तत्वों से हीन बनाई गई भाषा उतनी जानी-पहचानी नही लगती, और इसलिए हम ऐसा महसूस करते हैं कि हमारा अभिप्राय उससे कुछ अधिक ही है, हालाँकि यह अधिक क्या है, इसका

पता हमे नही चल पाता। जब हम इस अवस्था मे पहुँच चुके होते है तब हम "अनिवार्य सबध" जैसे शब्दो का प्रयोग शुरू करने के लिए तैयार हो जाते है,- चाहे वे किसी चीज के बोधक हो या नही : उनमे "सही किस्म की ध्वनि होती है," हमारे दैनिक प्रयोग की कारणपरक भाषा से जीववादी व्यजनाओ के निकाल दिए जाने से जो रिक्तता आ गई होती है उसे वे भर देते है।

कारण "नियत संयोजन" के रूप मे—यदि हमे यह कहने का अधिकार नही है कि कारण का कार्य द्वारा अनुसरण किया जाना "चाहिए", यदि "अनिवार्य सबध" (प्रकृति के प्रक्रमो का) एक कल्पना है या एक निरर्थक शब्दो का योग है, तो कारणात्मक सबध को हम निश्चित रूप से क्या बताएँगे ? डैविड ह्यूम (१७११-१७७६) एक दार्शनिक था जिसने अनिवार्य-सबध के सिद्धांत का सबसे अधिक विरोध किया था। उसने भी कारण सबध का एक नया विश्लेषण प्रस्तुत किया था। उसके कहने का मतलब यह था कि कारणता केवल एक "नियत संयोजन" है—दूसरे शब्दो मे, "क ख का कारण है" का वही मतलब है जो "क ख के साथ नियत रूप मे संयुक्त रहता है" का है, अथवा और भी भिन्न शब्दो मे (कार्य को कारण के बाद होनेवाला मानते हुए), जो "क के बाद नियमित रूप से ख होता है" का है। ह्यूम पूछता है : वह कौन-सी बात है जो हमे यह कहने का अधिकार देती है कि क ख का कारण है, बिजली गर्जन पैदा करती है या बवडर पेडो को गिरा देता है ? और उसने जवाब दिया था कि इद्रियो के द्वारा किया जानेवाला प्रेक्षण। और प्रेक्षण हम किसका करते है ? प्रेक्षण हम इस बात का करते है कि क ख के पहले होता है। पर यह बात सचमुच काफी नही है। तो फिर वह कौन सा प्रेक्षण है जो हमे यह कहने का अधिकार देता है कि क ख का कारण है ? क्या वह प्रकृति मे घटनाओ के मध्य होनेवाले किसी अनिवार्य सबध का प्रेक्षण है ? ह्यूम के कथनानुसार, नही , क्योकि ऐसी किसी चीज का हम कभी प्रेक्षण नही करते। हम जिस बात का प्रेक्षण करते है, वह सदैव यह होती है कि चीजें किसी एक तरीके से होती है, इस बात का कदापि नही कि उन्हें उस तरीके से होना चाहिए। चाहे जितनी कोशिश करो, हम प्रकृति के कार्यकलाप मे "चाहिए" कदापि नही पाते। ऐंद्रिय प्रेक्षण से हमे कदापि "क का ख से अनिवार्य सबध है," "ख को होना चाहिए," "ख को होना पड़ेगा" इत्यादि वाक्यो का प्रयोग करने का अधिकार नही मिलता।

परंतु यदि कारणता अनिवार्य सबध नही है तो क्या है ? तब हम क्या देखते हैं जब क ख का कारण होता है ? आइए, पता करें : जब हम किसी भी क्षण अपने आसपास की दुनिया को देखते हैं, तब हम अनेक घटनाओं को होते हुए पाते है ; कुछ अन्यो के साथ-साथ होती है, कुछ पहले होती हैं, कुछ बाद मे होती है। परतु अपने चारो ओर की घटनाओ की इस बदलती हुई दृश्यावली मे घटनाओ के कुछ अनुक्रमो का दोहराया जाना हमारा ध्यान आकर्षित करने लगता है--कुछ क होते है जिनका कुछ ख नियमित रूप से अनुसरण करते है। क के बाद ख एक बार होता है, दो बार होता है, दस बार होता है, हजार बार होता है—और जब हम देखते है कि क के बाद ख नियमित रूप से होता है तब हम कहते है कि क ख का कारण है। दूसरे शब्दो मे कारणता घटनाओ का नियत सयोजन है। क और ख के मध्य एक कारणात्मक सबध देखना केवल यह देखना है कि क और ख नियमित रूप से साथ चलते है— वे सदैव सयुक्त रहते हैं। निश्चय ही, एक बार का प्रेक्षण हमे यह कहने का अधिकार देने के लिए पर्याप्त नही होता कि क ख का कारण है। ऐसा कह सकने से पहले क का ख के साथ अनेक बार सयोजन देख लिया जाना चाहिए और जितनी ही अधिक बार देख लिए जाए उतना ही अच्छा है। क का ख के द्वारा एक बार अनुसरण और क का ख का कारण होना, इन दो बातो मे अतर यह है कि दूसरी मे क और ख का सयोजन नियमित या सतत है। दूसरे शब्दो मे, "यदि क तो सदैव ख"। ह्यूम के दो आधुनिक अनुयायियो के अनुसार,

यह कहना कि बिजली की करेंट चुम्बकीय सुई के विक्षेप का कारण बनती है, यह अर्थ रखता है कि जब भी बिजली की करेन्ट होती है तब सदैव चुम्बकीय सुई का विक्षेप हो जाता है। अतिरिक्त शब्द "सदैव" कारणात्मक सबध का आकस्मिक सपात से भेद करता है। एक बार ऐसा हुआ कि जब एक सिनेमा के पर्दे पर लकडी के एक ढेर का विस्फोट दिखाया जा रहा था तब एक हल्के से भूकप ने सिनेमाघर को हिला दिया। दर्शकों को एक क्षण के लिए ऐसा महसूस हुआ कि परदे पर होनेवाला विस्फोट सिनेमाघर के हिलन का कारण बना। जब हम इस व्याख्या को मानने से इन्कार करते हैं तब हमारा सकेत इस तथ्य की ओर होता है कि जो घटना-सपात देखा गया वह ऐसा नही था जिसकी पुनरावृत्ति होती।

चूंकि केवल पुनरावृत्ति ही वह चीज है जो कारणात्मक नियम का संपात मात्र से भेद करती है, इसलिए कारण-कार्य-संबंध का अर्थ है निरपवाद पुनरावृत्ति। यह मान बैठना अनावश्यक है कि इससे अधिक कोई अर्थ है। यह धारणा कि कारण कार्य के साथ किसी तरह की अदृश्य रस्सी से बँधा होता है, कि कार्य कारण का अनुसरण करने के लिए बाध्य होता है, मूलतः मानवत्वारोप की प्रवृत्ति की उपज है और इसे छोड़ा जा सकता है। कारणात्मक संबंध का अर्थ सिर्फ यदि-तो-सदैव है। यदि सिनेमाघर पर्दे पर विस्फोट के दिखाए जाने पर सदैव हिलता तो इनमें कारण-कार्य-संबंध होता।[1]

एक कालिक अनुक्रम मात्र और एक कारणात्मक अनुक्रम में अंतर इस बात का होता है कि दूसरा नियमित या एकरूप होता है। यदि क के बाद नियमित रूप से ख होता है तो क ख का कारण है; यदि ख केवल कभी-कभी ही क के बाद होता है तो ऐसे अनुक्रम को मात्र संयोग या यदृच्छा कहते हे। और चूंकि (जैसा कि हमने अभी देखा है) नियमितता का प्रेक्षण ही एकमात्र वह काम है जो किया गया था, इसलिए कारण और कार्य की बात कहने का एकमात्र हेतु अनिवार्य रूप से वही है, वही उसका पर्याप्त हेतु है। दैनिक प्रयोग में "कारण" शब्द से अनुक्रम की नियमितता के अलावा कुछ भी विवक्षित नही होता, क्योंकि जिन प्रतिज्ञप्तियों में यह आता है उनके सत्यापन में इसके अलावा किसी चीज का उपयोग नहीं किया जाता।[2]

इस प्रकार, यह जानना कि क ख का कारण है यह जानने के बराबर है कि ख नियमित रूप से क का अनुसरण करता है। यदि ख केवल कभी-कभी ही क का अनुसरण करता है तो उनका संबंध कारणमूलक नहीं है। कारणमूलक संबंध अनुक्रम का नियमित होना ही है, न इससे कम और न इससे अधिक। हमे यह कहने का अधिकार कि क ख का कारण है केवल क और ख के बीच नियमितता का संबंध होने से प्राप्त होता है। कालिक पूर्ववर्तिता के

---

१. हन्स राइखेनबाक, दि राइज ऑफ साइन्टिफिक फिलॉसफी, पृ० १५७-५८।

२. ई० स्प्रेग तथा पी० टेलर द्वारा संपादित नॉलेज ऐंड वैल्यू (प्र० सं०) में मॉरित्स श्लिक का "कॉजेलिटी इन एवरीडे लाइफ ऐंड इन साइन्स" शीर्षक लेख, पृ० १९५ (न्यूयार्क : हार्कोर्ट, ब्रेस ऐंड वर्ल्ड द्वारा प्रकाशित)।

सहित यह बात "कारण" की परिभाषा को बनाती है । क ख का कारण केवल तभी होगा जब (१) क ख से पहले हो और (२) क तथा ख नियमित रूप से सबद्ध हो ।

इससे स्पष्ट हो गया होगा कि ह्यूम की व्याख्या के अनुसार कारणो का प्रागनुभविक ज्ञान नाम की कोई चीज नही है । कौन किसका कारण है, इस बात का ज्ञान अनुभव के पहले हमे नही हो सकता, क्योकि अनुभव हुए बिना हम नही जान सकते कि किन घटनाओ के बाद नियमित रूप से कौन-सी अन्य घटनाएँ होगी । ह्यूम ने लिखा है : "कोई भी चीजे ऐसी नही हैं जिन्हे हम सर्वेक्षण मात्र से, अनुभव को पूछे बिना, किन्ही अन्य चीजो के निश्चयात्मक रूप से कारण कह सकें; और कोई भी चीजे ऐसी नही है जिन्हे हम इसी प्रकार निश्चयात्मक रूप से कारण नही है, यह कह सकें ।"

जब हम दो रेलगाड़ियो को एक ही पटरी के ऊपर सौ फुट की दूरी पर एक-दूसरी की ओर तेजी से आती हुई देखते हैं तब क्या हम पहले से नही कह सकते कि उनकी टक्कर होगी ? यहाँ भी उत्तर "नही" है । इस बात का अनुभव होने से पहले कि ठोस चीजे किस प्रकार व्यवहार करती है, हमे इस बात की कतई कल्पना नही हो सकती कि जब वे एक-दूसरी की ओर आती हैं तब क्या होगा । केवल पहले के अनुभव के आधार पर ही हम यह भविष्यवाणी कर सकते है कि क्या होगा । जबसे हमने घटनाओ को याद करना शुरू किया है तबसे बहुत पहले से हम गतिमान् पिंडो के व्यवहार से परिचित है ; परन्तु यदि हम पहली बार आँखे खोलकर दुनिया को देख रहे हो और दो रेलगाडियो को एक-दूसरी की ओर आती पाते हो तो हमारे पास इस बात का कोई विशेष प्रमाण नही होगा कि वे एक-दूसरी की बगल से निकलने, विस्फोट से उड जाने, हवा बन जाने, लुप्त हो जाने, नष्ट हो जाने या उड़कर चद्रमा मे पहुँच जाने क बजाय एक-दूसरी से टकरा जाएँगी । अनुभव और केवल अनुभव ही हमे बता सकता है कि कौन किसका कारण है । प्रागनुभविक रूप से घटनाओ का कोई भी योग समानतः प्रसभाव्य होता है ; अनुभव से हमे सीखना होता है कि कौन-सी घटनाएँ हैं जो वास्तव मे सयुक्त रूप से घटती हैं ।

संकल्प कारण के रूप मे— परतु यह आपत्ति की जा सकती है : "जो आप कहते हैं वह शायद बाहरी दुनिया मे घटनेवाली घटनाओ के बारे मे सच हो ; लेकिन कुछ घटनाएँ, जिनमे हमारा सकल्प सक्रिय रहता है, ऐसी हैं

जिनके प्रसग मे हमे अनिवार्य सवध की चेतना होती है। मुझे फ्यूज के जलने और विस्फोट के बीच किसी अनिवार्य सवध का बोध नही होता बल्कि केवल इस बात का होता है कि इन दो घटनाओ का सदैव साथ रहता है ; परतु जब मै किसी बात का सकल्प करता हूँ और तत्पश्चात् वह काम कर डालता हूँ, तब मुझे एसा बोध होता है। यहाँ कारण और कार्य के मध्य सचमुच ही अनिवार्य सवध है।"

ह्यूम का उत्तर यह है कि आपके शरीर मे गति उत्पन्न करनेवाला आपका सकल्प अन्य उदाहरणो से बिल्कुल भिन्न नही है। अतर यहाँ केवल इस बात का है कि कारण (सकल्प) मे उत्पन्न किए जानेवाले कार्य का प्रत्यय शामिल है। परतु फिर भी हमे कौन किसका कारण है, यह नियत सयोजनो का प्रेक्षण करके ही जानना पडगा। अनुभव से मैं जानता हूँ कि बाँह को हिलाने का सकल्प करने के बाद मेरी बाँह हिलती है, परन्तु मेरे अपने यकृत, गाडी या चद्रमा को हिलाने के सकल्प के बाद ये कोई नही हिलते। नवजात शिशु शायद यह मान बैठे कि हर बात उसके सकल्प के नियत्रण मे है, परतु अनेक नियत सयोजनो का होना रुक जाना उसे यह कडुवा सबक सिखा देता है कि बात ऐसी नहीं है। वह क्या-क्या काम कर सकता है, इस बात का पता उसे यह देख-देखकर चलता है कि कौन-से काम उनको करने के सकल्पो के साथ नियत रूप से जुडे हुए है जैसे, टाँग के निचले भाग को पीछे की ओर मोडना, न कि आगे की ओर।

एक और शर्त की भी पूर्ति होनी चाहिए और वह यह कि अग काम करने के लिए स्वस्थ हो, क्योकि यदि ऐंठन या लकवे की बीमारी हो गई है तो कोई कितना ही सकल्प करे वह अपने अगो को वाछित रूप मे नही हिला पाएगा। इस तरह असली नियत सयोजन क-१ (बाँह को उठाने का सकल्प) धन क-२ (अगो का स्वस्थ होना) तथा ख (बाँह का उठना) के मध्य है। तो फिर सकल्प और काम के बीच अनिवार्य सवध कैसे हो सकता है, जब कुछ स्थितियो मे काम सकल्प का अनुसरण नही करता ?

जिस आदमी की टाँग या बाँह को एकाएक लकवा मार गया है, या जिसके ये अग हाल ही म नष्ट हो गए हैं, वह शुरू म बार बार उन्ह हिलाने और उनसे उनका स्वाभाविक काम लेने की चेष्टा करता है। यहाँ ऐसे अगो को आदेश देने की शक्ति की आदमी को उतनी ही चेतना है जितनी पूर्णतः

स्वस्थ एक आदमी को अपने स्वाभाविक स्वस्थ अवस्था में रहनेवाले किसी अंग को संचालित करने की अपनी शक्ति की होती है।......न तो पहले में और न दूसरे ही प्रसंग मे हमे कभी किसी अनिवार्य संबंध की चेतना होती है। अपने संकल्प के प्रभाव का ज्ञान हमें केवल अनुभव से ही होता है। और केवल अनुभव ही हमे सिखाता है कि कैसे एक घटना दूसरी का सतत अनुसरण करती है।[1]

ह्यूम की व्याख्या के विरुद्ध आपत्तियाँ— यह रही ह्यूम की कारणता की व्याख्या। परतु आकर्षक होने पर भी यह अपने वर्तमान रूप में पर्याप्त नहीं है। (१) *अनेक उदाहरण नियत संयोजन के ऐसे मिलते है जिनमें कारण-कार्य का संबंध नही होता।* चौराहे पर हरी बत्ती जलती है, फिर लाल बत्ती जलती है, तब हरी। और, इसी प्रकार नियत रूप से चलता है, पर हरी बत्ती लाल बत्ती के जलने का कारण नही है। रात और दिन नियत रूप से एक-दूसरे का अनुसरण करते हैं, पर फिर भी एक-दूसरे को पैदा नही करते। शिशुओ मे बालो के उगने के बाद दाँत निकलते है, पर बाल दाँतों के पैदा होने के कारण नही हैं। (२) अनेक उदाहरण ऐसे लगते हैं जिनमे कारण-कार्य का सबध होता है पर नियत संयोजन नहीं होता। हम कहते है कि माचिस को रगड़ने से वह जल उठती है, परतु रगड़ी हुई माचिस सदैव नही जलती। मसालेदार भोजन खाना व्रणो की उत्पत्ति का कारण होता है, पर ऐसा भोजन करने से व्रण सदैव उत्पन्न नही होते। मुक्केबाजी मे आपको देखना मेरे आश्चर्य का कारण हो सकता है, पर यदि दुबारा मैं आपको वहाँ देखूं तो मुझे आश्चर्य शायद न हो। मैं अपनी भुजा उठाने का निश्चय करता हूँ और वह उठ जाती है, पर यदि इसके बाद एकाएक मुझे लकवा मार जाता है और मैं भुजा को नही उठा सकता तो यह बात फिर भी सत्य होगी कि मेरा उसे उठाने का निश्चय ही पिछली बार उसके उठने का कारण था। ह्यूम का जैसा कोई विश्लेषण शायद फिर भी पर्याप्त हो, पर ह्यूम का विश्लेषण नहीं।

"नियत सयोजन" के अर्थ का हम कुछ अधिक सावधानी के साथ विश्लेषण कर लें। क्या इसका यह मतलब है कि जब भी क होता है तब ख होता है? क्या यह मतलब है कि यदि ख होता है तो हम अनुमान कर सकते है कि क होगा

---

१. डेविड ह्यूम, ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग, भाग VII।

चुका है ? क्या इसका यह अर्थ है कि यदि क नही होता तो ख नही होगा ? यहाँ हम एक ऐसे अंतर मे आ गए है जिसका कारणता के विषय मे बात करने मे बड़ा महत्व है : यह अतर है अनिवार्य और पर्याप्त उपाधि का, क्योंकि "नियत संयोजन" कहने से यह स्पष्ट नही होता कि संकेत अनिवार्य उपाधि की ओर है या पर्याप्त उपाधि की ओर या दोनो की ओर।

१. **अनिवार्य उपाधि**—जब हम यह कहते है कि क ख के होने की एक अनिवार्य उपाधि है तब हमारा अभिप्राय यह नही होता कि क और ख के बीच कोई अनिवार्य संबध है, हालांकि कहते हम कभी-कभी यह हं कि " ख के होने के लिए क को जरूर होना चाहिए।" हमारा मतलब सिफ यह होता है (या होना चाहिए) कि क के अभाव मे ख कभी नही होता, जो कि एक इद्रियानुभविक तथ्य मात्र है। इस प्रकार आक्सीजन के अभाव मे आग कभी नही जलती। आक्सीजन की उपस्थिति किसी भी तरह आग की उपस्थिति की एक तर्कतः अनिवार्य उपाधि नही हे। असल मे यह बात स्वतोव्याघात के बिना सोची जा सकती हे कि आक्सीजन से बिल्कुल भिन्न कोई चीज, जैसे एक हाथी की उपस्थिति, आग की एक अनिवार्य उपाधि हो। केवल अनुभव से हम जान सकते हैं कि वे उपाधियाँ कौन-सी है जिनकी अनुपस्थिति मे वाछित घटना नही होती। इस प्रकार "आक्सीजन आग के लिए अनिवार्य है" एक मामूली इद्रियानुभविक कथन है जिसकी अनुभव से जाँच की जा सकती है।

यदि आक्सीजन (क) आग (ख) के लिए आवश्यक है तो हम यह भी कह सकते हैं कि यदि आग है तो आक्सीजन मौजूद है। इस प्रकार हम कह सकते है कि जब क ख की एक अनिवार्य उपाधि होता है तब

यदि क नही है तो ख नही है,

अथवा दूसरी तरह से,

यदि ख है तो क है।

परतु हम इनमे से कोई बात नही कह सकते :

यदि क है तो ख है।

यदि ख नही है तो क नही है।

२. **पर्याप्त उपाधि**— क को ख के होने के लिए पर्याप्त कहा जाता है यदि सदैव जब भी क होता है तब ख होता है। "यदि सडक के ऊपर वर्षा हो रही है तो सडक गीली हो जाती है।" वर्षा का होना सडक के गीली होने

के लिए पर्याप्त है ; पर वह अनिवार्य नही है : यदि वर्षा न भी हुई हो तो भी सडक गीली हो सकती है, जैसे तब जब पानी छिडकनेवाली गाड़ी उधर से गुजरी हो। क को ख के लिए पर्याप्त कहना यह कहना है कि

यदि क है तो ख है,

अथवा, दूसरी तरह से,

यदि ख नही है तो क नही है।

परतु हम इनमे से कोई बात नही कह सकते :

यदि क नही है तो ख नही है।

यदि ख है तो क है।

इस प्रकार अनिवार्य उपाधि और पर्याप्त उपाधि एक-दूसरी के विपरीत है।

कारण पर्याप्त उपाधि के रूप में—इस अतर को देखते हुए यह पूछा जा सकता है कि क्या "कारण" की अनिवार्य उपाधि के रूप मे परिभाषा देना ठीक होगा ? स्पष्ट है कि नही : ऐसी अनेक अनिवार्य उपाधियाँ हैं जिन्हे हम कारण नही कहेगे। उदाहरणार्थ, यदि कोई आपसे पूछे कि "आपने यह पाठ्यक्रम क्यो लिया है ?" और आप जवाब दे कि "क्योकि मै पैदा हुआ हूँ," तो आपका जवाब सतोषजनक नही माना जाएगा। फिर भी आपका पैदा होना आपके इस क्षण यहाँ या अन्यत्र होने की अनिवार्य उपाधि है। किसी भी घटना के होने के लिए यह एक अनिवार्य उपाधि है कि जगत् का अस्तित्व हो, परतु यदि एक निर्दिष्ट घटना का आपसे कारण पूछा जाए तो जवाब यह नही होगा कि जगत् का अस्तित्व है। इसलिए कारण और अनिवार्य उपाधि एकही बात नही है। अनिवार्य उपाधि का कारणता के साथ कुछ सबध जरूर है : हम प्रायः अनिवार्य उपाधि को एक कारक (कारण नही) कहते हैं. जैसे, इसके पहले कि कोई चीज जल सके आक्सीजन का होना जरूरी है : आक्सीजन जलने की एक अनिवार्य उपाधि है। इसे जलने का एक कारक कहा जा सकता है (इस बात मे यह जलनेवाली वस्तु के रग से भिन्न है जो कारक बिल्कुल नही है), पर निश्चय ही कारण यह नही है।

पर पर्याप्त उपाधि के बारे मे क्या कहा जाएगा ? कारणता की ह्यूम द्वारा दी गई व्याख्या की कमियो को दूर करने की कोशिश करते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३) ने "कारण" को पर्याप्त उपाधि बताया था। जलने के लिए कौन-सी उपाधियाँ पर्याप्त होती हैं ? (१) एक चीज होनी

चाहिए जो जल सके। (२) एक अपेक्षित तापमान होना चाहिए · जब चीज को एक निश्चित मात्रा तक गर्म किया जाता है तब वह जल उठती है (अलग-अलग चीजो के लिए अलग-अलग तापमान चाहिए)। (३) आक्सीजन होना चाहिए। जब ये सब उपाधियाँ मौजूद होती है तब चीज जल उठती है ; ये उपाधियाँ सम्मिलित रूप से पर्याप्त है। यह ध्यान देने की बात है कि इनमे से प्रत्येक उपाधि पृथक् रूप से अनिवार्य है, पर कोई भी स्वत. पर्याप्त नही है। जब ये तीनो उपस्थित हो तभी हमारे पास पर्याप्त उपाधि होगी। उपाधियो का वह समुच्चय जो पर्याप्त हो, घटना का कारण है।

जलने का उदाहरण बहुत ही सरल है : केवल तीन ही उपाधियाँ इसके लिए पर्याप्त है। कार ठीक तरह से चले, इसके लिए क्या पर्याप्त है ? यहाँ उपाधियाँ सख्या मे कही अधिक है : पहिए जुडे होने चाहिए, धुरियो को टूटी नही होना चाहिए, मोटर और जनरेटर तथा अनेक अन्य भागो का काम सुचारु होना चाहिए और उन्हे कुछ उपयुक्त तरीको से जुडे होना चाहिए, इत्यादि। अनिवार्य उपाधियो की सूची हजारो मे पहुँच जाएगी। और इन हजारो मे से प्रत्येक को पर्याप्त उपाधि के अशो की सूची मे रखना होगा ; क्योकि उन सबके समुच्चय से कम कोई भी बात कार को ठीक तरह से चलाने के लिए पर्याप्त नही है। पर यह उदाहरण जीव-जगत् के उदाहरणो की तुलना मे वस्तुतः सरल है, और मानवीय व्यवहार के उदाहरणो की तुलना मे तो और भी सरल है : उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति किसी दार्शनिक चर्चा मे आनद ले सके, इसके लिए कौन-सी शर्तें (उपाधियाँ) पूरी होनी चाहिए ? यहाँ शर्तें आश्चर्यजनक रूप से जटिल है, और अनेक बातो की सूची बनाने पर भी शायद हमे पर्याप्त उपाधि नही प्राप्त हो सकेगी। सामान्यत· पर्याप्त उपाधियो (वे उपाधियाँ जिनकी उपस्थिति मे घटना सदैव घटती है) की तुलना मे अनिवार्य उपाधियो (वे उपाधियाँ जिनकी अनुपस्थिति मे घटना कदापि नही घटती) की सूची देना कही आसान होता है।

अतः, पर्याप्त उपाधियाँ सरल बिल्कुल ही नही होती। जिन्हे आसानी से बताया जा सकता है वे केवल वे है जो "अभावात्मक घटनाओ" को पैदा करती हैं—अर्थात् किसी बात के न होने को। आपका बिजली से चलनेवाला रेडियो बजे नही, इसके लिए प्लग को निकाल देना पर्याप्त है। किसी एक ट्यूब को निकाल देना भी पर्याप्त है। यहाँ उपाधियाँ बहुत है जिनमे से

प्रत्येक अकेली पर्याप्त है। परंतु भावात्मक घटना के होने के लिए—रेडियो के ठीक तरह से बजने के लिए—पर्याप्त उपाधियों का कोई सरल समुच्चय नही है। सूची लंबी है, पर कम से कम यहाँ रेडियो की मरम्मत करनेवाला उन उपाधियों के पूरे समुच्चय को जानता है जिनपर रेडियो का बजना निर्भर होता है, क्योकि वह (प्रायः) रेडियो को ठीक कर सकता है और रेडियो निश्चय ही तब तक ठीक नही चलेगा जब तक उसके ठीक चलने के लिए पर्याप्त उपाधि-समुच्चय मौजूद न हो। सौ वर्ष की आयु तक शरीर के स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए पूरा उपाधि-समुच्चय ज्ञात नहीं है।

मिल ने लिखा है : "अतः कारण, दार्शनिक दृष्टि से, भावात्मक और अभावात्मक दोनो ही प्रकार की उपाधियो का पूरा समुच्चय है ; हर तरह की ऐसी घटनाओं का पूरा समूह है जिनके होने पर वह घटना नियत रूप से होती है।" मिल के अनुसार, "कारण" की यह सही वैज्ञानिक परिभाषा है। कारण (पूरा कारण) उपाधियो का वह समुच्चय है जो घटना को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हो—अर्थात् उन शर्तों का समूह जिनके पूरे होने पर घटना सदैव होती है। किसी घटना के कारण को बताना उपाधियों के पूरे समुच्चय को गिन देना है।

किसी घटना को पैदा करनेवाली कोई अकेली घटना नही होती। एक घटना (कार्य) का कारण उपाधियो का एक पूरा समुच्चय होता है, जिनमे से कुछ घटनाएँ (जैसे फ्यूज को जलाना) होती हैं पर अन्य द्रव्य की अवस्थाएँ (बारूद का सूखा होना) होती है और कुछ पर्यावरण की अवस्थाएँ (हवा मे आक्सीजन का होना)। कारण के द्वारा कार्य की उत्पत्ति सामान्यतः स्थायी वस्तुओं के इतिहास में होनेवाली एक बात है, जिन्हे हम द्रव्य कहते हैं, या, लोकप्रिय भाषा मे, चीजें। (पर शायद हर प्रसंग मे ऐसा न हो : आकाश मे चमकनेवाली बिजली [वज्र] किसी की मृत्यु का कारण बन सकती है ; पर क्या वज्र एक द्रव्य है ?) इस प्रकार मिल ह्यूम के मत के विरुद्ध प्रायः उठाई जानेवाली इस आपत्ति के निराकरण का प्रयत्न करता है कि घटनाएँ स्वतः अन्य घटनाओं को उत्पन्न नही करतीं। ह्यूम ने कभी नही कहा कि वे उन्हें उत्पन्न करती है, परंतु उसका कारण और कार्य के नियत योग की बात को इस प्रकार बार-बार दोहराना जैसे कि मानो कारण एक घटना हो और कार्य दूसरी घटना, अनेक आलोचकों के इस निष्कर्ष का आधार बन गया

चाहिए जो जल सके। (२) एक अपेक्षित तापमान होना चाहिए : जब चीज को एक निश्चित मात्रा तक गर्म किया जाता है तब वह जल उठती है (अलग-अलग चीजो के लिए अलग-अलग तापमान चाहिए)। (३) आक्सीजन होना चाहिए। जब ये सब उपाधियाँ मोजूद होती है तब चीज जल उठती है ; ये उपाधियाँ सम्मिलित रूप से पर्याप्त है। यह ध्यान देने की बात है कि इनमे से प्रत्येक उपाधि पृथक् रूप से अनिवार्य है, पर कोई भी स्वतः पर्याप्त नही है। जब ये तीनो उपस्थित हो तभी हमारे पास पर्याप्त उपाधि होगी। उपाधियो का वह समुच्चय जो पर्याप्त हो, घटना का कारण है।

जलने का उदाहरण बहुत ही सरल है : केवल तीन ही उपाधियाँ इसके लिए पर्याप्त है। कार ठीक तरह से चले, इसके लिए क्या पर्याप्त है ? यहाँ उपाधियाँ संख्या मे कही अधिक है : पहिए जुड़े होने चाहिए, धुरियों को टूटी नही होना चाहिए, मोटर और जनरेटर तथा अनेक अन्य भागों का काम सुचारु होना चाहिए और उन्हे कुछ उपयुक्त तरीकों से जुड़े होना चाहिए, इत्यादि। अनिवार्य उपाधियो की सूची हजारो मे पहुँच जाएगी। और इन हजारों मे से प्रत्येक को पर्याप्त उपाधि के अशों की सूची मे रखना होगा ; क्योकि उन सबके समुच्चय से कम कोई भी बात कार को ठीक तरह से चलाने के लिए पर्याप्त नही है। पर यह उदाहरण जीव-जगत् के उदाहरणो की तुलना में वस्तुतः सरल है, और मानवीय व्यवहार के उदाहरणों की तुलना में तो और भी सरल है : उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति किसी दार्शनिक चर्चा मे आनद ले सके, इसके लिए कौन-सी शर्तें (उपाधियाँ) पूरी होनी चाहिए ? यहाँ शर्तें आश्चर्यजनक रूप से जटिल है, और अनेक बातो की सूची बनाने पर भी शायद हमें पर्याप्त उपाधि नही प्राप्त हो सकेगी। सामान्यतः पर्याप्त उपाधियों (वे उपाधियाँ जिनकी उपस्थिति मे घटना सदैव घटती है) की तुलना मे अनिवार्य उपाधियों (वे उपाधियाँ जिनकी अनुपस्थिति में घटना कदापि नही घटती) की सूची देना कही आसान होता है।

अतः, पर्याप्त उपाधियाँ सरल बिल्कुल ही नही होती। जिन्हे आसानी से बताया जा सकता है वे केवल वे है जो "अभावात्मक घटनाओ" को पैदा करती हैं—अर्थात् किसी बात के न होने को। आपका बिजली से चलनेवाला रेडियो बजे नही, इसके लिए प्लग को निकाल देना पर्याप्त है। किसी एक ट्यूब को निकाल देना भी पर्याप्त है। यहाँ उपाधियाँ बहुत है जिनमे से

प्रत्येक अकेली पर्याप्त है। परतु भावात्मक घटना के होने के लिए—रेडियो के ठीक तरह से बजने के लिए—पर्याप्त उपाधियो का कोई सरल समुच्चय नही है। सूची लबी है, पर कम से कम यहाँ रेडियो की मरम्मत करनेवाला उन उपाधियो के पूरे समुच्चय को जानता है जिनपर रेडियो का बजना निर्भर होता है, क्योकि वह (प्रायः) रेडियो को ठीक कर सकता है और रेडियो निश्चय ही तब तक ठीक नही चलेगा जब तक उसके ठीक चलने के लिए पर्याप्त उपाधि-समुच्चय मौजूद न हो। सौ वर्ष की आयु तक शरीर के स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए पूरा उपाधि-समुच्चय ज्ञात नही है।

मिल ने लिखा है : "अतः कारण, दार्शनिक दृष्टि से, भावात्मक और अभावात्मक दोनो ही प्रकार की उपाधियो का पूरा समुच्चय है ; हर तरह की ऐसी घटनाओ का पूरा समूह है जिनके होने पर वह घटना नियत रूप से होती है।" मिल के अनुसार, "कारण" की यह सही वैज्ञानिक परिभाषा है। कारण (पूरा कारण) उपाधियो का वह समुच्चय है जो घटना को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हो—अर्थात् उन शर्तों का समूह जिनके पूरे होने पर घटना सदैव होती है। किसी घटना के कारण को बताना उपाधियो के पूरे समुच्चय को गिन देना है।

किसी घटना को पैदा करनेवाली कोई अकेली घटना नही होती। एक घटना (कार्य) का कारण उपाधियो का एक पूरा समुच्चय होता है, जिनमे से कुछ घटनाएँ (जैसे फ्यूज को जलाना) होती है पर अन्य द्रव्य की अवस्थाएँ (बारूद का सूखा होना) होती है और कुछ पर्यावरण की अवस्थाएँ (हवा मे आक्सीजन का होना)। कारण के द्वारा कार्य की उत्पत्ति सामान्यतः स्थायी वस्तुओ के इतिहास मे होनेवाली एक बात है, जिन्हे हम द्रव्य कहते है, या, लोकप्रिय भाषा मे, चीजें। (पर शायद हर प्रसग मे ऐसा न हो : आकाश मे चमकनेवाली बिजली [वज्र] किसी की मृत्यु का कारण बन सकती है, पर क्या वज्र एक द्रव्य है ?) इस प्रकार मिल ह्यूम के मत के विरुद्ध प्राय उठाई जानेवाली इस आपत्ति के निराकरण का प्रयत्न करता है कि घटनाएँ स्वत. अन्य घटनाओ को उत्पन्न नही करती। ह्यूम ने कभी नही कहा कि वे उन्हे उत्पन्न करती हैं, परतु उसका कारण और कार्य के नियत योग की बात को इस प्रकार बार-बार दोहराना जैसे कि मानो कारण एक घटना हो और कार्य दूसरी घटना, अनेक आलोचको के इस निष्कर्ष का आधार बन गया

कि ह्यूम एक घटना के कारण को सदैव अन्य घटना मानता है।

क्या मिल की व्याख्या का दैनिक जीवन मे "कारण" शब्द का हम जो प्रयोग करते है उससे मेल बैठता है ? पूरा नही। मिल ने प्रयत्न "वैज्ञानिक व्याख्या" देने का किया था जिसमे उन सब उपाधियो की सूची देना जरूरी था जिनके ऊपर घटना निर्भर होती है। परतु दैनिक जीवन मे हम कहते हैं कि माचिस झाड़ने से वह जल उठी, आर्सेनिक खाना उसकी मृत्यु का कारण था, फ्यूज का जलाया जाना बारूद के विस्फोट का कारण था, सीढी से गिर पडने से आदमी की टाँग टूट गई। सबधित घटना के होने के लिए इनमे से कोई भी उपाधि पर्याप्त नही है। प्रत्येक के होने के लिए असख्य अन्य उपाधियो की उपस्थिति आवश्यक हैं, जिन्हे उपस्थित मान लिया गया है। जिन उपाधियो के समुच्चय से पर्याप्त उपाधि बनती है उनकी विशाल सख्या मे हम एक को चुन लेते है और उसे कारण कहते है, हालांकि वे सबधित घटना के होने के लिए समान रूप से अपरिहार्य हैं, और सभी पर्याप्त उपाधि के समान रूप से अश हे। जिसे हम चुनते है उसे इसलिए चुनते है कि (१) कार्य की उत्पत्ति से पहले वह अतिम शर्त है जिसे पूरा करना है, या (२) वह ऐसी शर्त है जिसके बारे मे हम समझते है कि श्रोता पहले से नही जानता, अथवा (३) वह ऐसी शर्त है जिसका कार्योत्पादन मे हिस्सा सबसे स्पष्ट होता है। इस प्रकार, बारूद अपनी जगह पर है, हवा मे आक्सीजन मौजूद है, इत्यादि और फ्यूज को जलाना बारूद का विस्फोट करने के लिए की जानेवाली अतिम बात है। हम कहते है कि आर्सेनिक का खाया जाना उसकी मौत का कारण बना, हालाकि यदि उसका पेट लोहे का बना होता तो दसगुना आर्सेनिक खाने के बाद भी उसे कुछ न हुआ होता। पर हम मान लेते हैं कि श्रोता पहले से जानता है कि उसका पेट वैसे नही बना हुआ है, और इसलिए इस बात को हम कारण नही गिनते, हालांकि यह भी कार्योत्पत्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितना आर्सेनिक का खाया जाना। हम कहते है कि उसकी टाँग सीढी से उसके गिरने के कारण टूटी, पर हम यह नही बताते कि वह दलदल म न गिरकर ठोस भूमि के ऊपर गिरा या उसका शरीर हवा से ज्यादा भारी था (जिसके अभाव मे वह सीढी से फिसलने पर भी भूमि पर न गिरा होता)। अत दैनिक जीवन मे हम इस प्रकार बोलते है जैसे कि मानो एक घटना अकेली ही दूसरी घटना का कारण बनती हो, पर वास्तव म यह बात नही होती :

विभिन्न व्यावहारिक हेतुओ से हम एक उपाधि को पृथक् कर लेते हैं और ऐसे बात करते है जैसे कि वही कारण हो, हालांकि वास्तव मे अनेक उपाधियाँ हो सकती हैं जिन सबके होने से ही पर्याप्त उपाधि बनेगी ।

जब कारक अत्यधिक बडी सख्या मे होते हैं, जैसे मानवीय व्यवहार के क्षेत्र में, तब हमारी इस तरह बात करने की सबसे अधिक प्रवृत्ति होती है । इस चोरी का क्या कारण था ? एक आदमी कहता है कि ताला कमजोर था । दूसरा कहता है कि घर मे कोई प्राणी नही था । "मकान सडक से बहुत पीछे था ।" "रात अँधेरी थी और चाँद नही था जिससे चोर को पकडना और पहचानना कठिन था ।" "चोर थोडे समय पहले ही जेल तोडकर भागा था ।" "उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि पर विचार कीजिए—असली कारण वही मिलेगा ।" ये सभी कारक है ; इस मामले मे कार्योत्पादन मे इन सभी का कुछ कुछ हाथ हो सकता है, परतु हम केवल एक को ले लेते है और ऐसे बात करते है जैसे कि वही कारण हो ।

प्राय हम उस एक कारक को "कारण" कहते हैं और शेष सबको "उपाधियाँ ।" परतु मिल ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि यह अतर निराधार है कार्य की उत्पत्ति के लिए सभी कारक काम करते हैं ।

कारण की घटना-क-के-अनतर-घटना ख का-होना के रूप मे शुरू म जो व्याख्या दी गई थी उसमे से अधिक शेष नही रहता । प्राय. होता यह है कि जिस घटना के बाद नियमित रूप से एक घटना होती है वह उसके कारण का एक अश तक नही होती । क और ख का नियत सयोजन किसी ऐसी चीज का परिणाम हो सकता है जो उन दोनो ही का कारण हो । हरी बत्ती के बाद बिल्कुल नियमित रूप मे लाल बत्ती जलती है और लाल बत्ती के बाद हरी बत्ती, परतु इनमे कोई कारण-कार्य का सबध नही है बत्तियो के अनुक्रम का जो रूप है उसका नियत्रण एक यान्त्रिक क्रिया के द्वारा होता है, और यदि वह यान्त्रिक क्रिया बद हो जाए तो न हरी बत्ती जलेगी और न लाल । इसी तरह रात भी दिन का या दिन रात का कारण नही है, हालांकि इनका सतत सयोजन रहता है । दिन और रात नियमित रूप से एक के बाद एक आते हैं, और इस एकातरण का कारण यह है कि (१) पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है , (२) सूर्य निरतर प्रकाश देता रहता है (यदि न देता होता तो पृथ्वी का उसकी ओर मुडना दिन निकलने की दृष्टि से व्यर्थ होता), तथा

(३) पृथ्वी और सूर्य के मध्य कोई ऐसा अपारदर्शी पदार्थ नही है जो सूर्य के प्रकाश को रोक दे। ये वे उपाधियाँ है जो इकट्ठी रात और दिन के एकातरण के लिए पर्याप्त है, और इनमे से प्रत्येक एक अनिवार्य उपाधि है।

कारणो की अनेकता—अनेक उपाधियो के एक साथ मिलने से एक पर्याप्त उपाधि बनती है ; पर क्या उनमे से प्रत्येक सदैव अनिवार्य होती है ? शायद उपाधि १, २, और ३ मिलकर ख को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है , पर शायद उपाधि ४, ५, और ६ भी मिलकर ख की उत्पत्ति के लिए पर्याप्त है, भले ही १, २ और ३ का अभाव हो। उस दशा मे ख की पर्याप्त उपाधियाँ दो है। अथवा शायद यहाँ कुछ अतिव्यापिता है : १, २ और ३ ख के लिए पर्याप्त हो सकती है और १, २ और ४ भी ख के लिए पर्याप्त है। ऐसी दशा मे उपाधि १ और २ अनिवार्य है, क्योकि ख इनके अभाव मे नही होता, पर उपाधि ३ और ४ नही है, क्योकि कभी-कभी ख उनके अभाव मे हो जाता है।

निश्चय ही ऐसा लगता है कि जैसे प्रायः कारण अनेक होते है। एक ही कार्य उपाधियो के एक भिन्न समुच्चय से उत्पन्न हो सकता है। यदि हम एक कपडे से कोई धब्बा मिटाना चाहते हैं तो हम पेट्रोल, कार्बन टेट्राक्लोराइड इत्यादि रासायनिक अभिकर्मको की एक बडी सख्या मे से किसी भी एक का प्रयोग कर सकते है। हम कुछ कार्बनिक यौगिको का निर्माण या तो जीवित प्राणियो के अदर रासायनिक प्रतिक्रियाएँ प्रेरित करके कर सकते है या उनके तत्वो अथवा सरल यौगिको से उनका सश्लेषण करके कर सकते हैं। आप कालेज की पत्रिका मे भडकानेवाली सामग्री देकर, प्रिन्सिपल की मेज के नीचे बम रखकर या कोई और बात करके कालेज से निकाले जा सकते है।

दूसरी ओर, प्रायः यह होता है कि कारणो की अनेकता केवल आभासी होती है। (१) कभी-कभी पर्याप्त उपाधि मे जरूरत से अधिक शामिल कर लिया जाता है। यदि रेडियो का बजना रोकने के लिए प्लग को निकाल लेना काफी है तो प्लग को निकालना + चद्रमा का पूर्ण होना भी काफी है जब भी आप प्लग को निकालते है और चद्रमा पूर्ण होता है तब सदैव रेडियो का बजना रुक जाता है। परतु हम चद्रमा को कारण का अश नही मानते, क्योकि रेडियो का बजना प्लग को निकाल देने से बद हो जाता है, चाहे चद्रमा पूर्ण हो या नही। इस उदाहरण मे चद्रमा की असबद्धता आसानी से समझ मे आ जाती

है, परंतु अन्य उदाहरण इतने स्पष्ट नही होते । इस प्रकार हम कह सकते है कि बिलियर्ड गेंद ब के एक निश्चित दिशा में चलने का कारण न केवल बिलियर्ड गेद अ का उससे टकराना है वल्कि आपकी कोहनी का उससे छूना या मेज का हिलना या एक हल्का-सा भूकप भी है । परंतु इसे कारणो की अनेकता का एक सच्चा उदाहरण शायद ही माना जाएगा : गेद के इस दिशा मे जाने के लिए आवश्यक और पर्याप्त यह है कि उसपर इस दिशा मे बल की कोई मात्रा लगाई जाए ; इससे कोई फर्क नही पड़ता कि बल कौन लगाता है, और इसलिए उन उपाधियो की सूची मे जिनपर यह घटना निर्भर है इन बातों का उल्लेख करने की जरूरत नही है । इस प्रकार दो पैरा पहले संख्याओ के साथ उपाधियो का जो उल्लेख किया गया था उसमे ३ और ४ को शामिल करना जरूरत से अधिक होगा : ख को उत्पन्न करनेवाली असली चीज घटक क है जो ३ और ४ मे समान है । यदि ऐसा है तो कारणो की अनेकता की बात समाप्त हो जाती है, क्योकि दोनो ही प्रसगो मे उपाधियो का पूरा समुच्चय १, २ और क है । (२) कभी-कभी एक ही सामान्य प्रकार का कार्य विभिन्न उपायो से पैदा किया जा सकता है : मकान बिजली गिरने से, चूल्हे की आग से, आगजनी इत्यादि से जल सकता है । यदि "मकान का जलकर राख हो जाना" कार्य है तो निश्चय ही यह उपाधियो के विभिन्न समुच्चयो से हो सकता है । परतु बीमा-कंपनी का निरीक्षक खडहरो की बारीकी से जाँच करके प्राय. यह पता लगा लेता है कि आग बिजली से लगी है या चूल्हे से । दोनो दशाओं मे कार्य कुछ भिन्न होता है और "आग से नष्ट होना" एक सामान्य बात है जिसमे कई तरह के विशिष्ट कार्य आ जाते है । शायद यदि हम कार्यों का भी कारणो की ही तरह सावधानो से विश्लेषण करें तो अत मे कारणो की अनेकता बिल्कुल ही समाप्त हो जाएगी ।

हम कार ो की अनेकता से सबधित प्रश्न का निर्णय करने की चेष्टा नहीं करेंगे : यह इद्रियानुभव से जाँच करके निर्णय करना वैज्ञानिको का काम है, हमारा काम केवल इसके अर्थ को स्पष्ट कर देना है। हम कारणता के बारे मे कारणो की अनेकता को लेकर किसीका पक्ष न लेते हुए बात करेंगे । जब हम यह कहेंगे कि कारण क कार्य ख के लिए पर्याप्त है तब हम स्वयं को इस पक्ष से नही बाँधेंगे कि वही उपाधियों का ऐसा एकमात्र समुच्चय है जिसका अनुसरण नियत रूप से ख के द्वारा होता है ।

कारणों के बारे में हमारा ज्ञान—चूँकि हमे इस बात का प्रागनुभविक ज्ञान

नही होता कि कौन किसका कारण है, इसलिए "तो हम कैसे जानते है कि कौन किसका कारण है ?" का उत्तर आसान लगेगा : इद्रियो के द्वारा प्रेक्षण करके। परंतु यह उत्तर बहुत विशिष्ट नही है। किस प्रकार के प्रेक्षण से हम जानेंगे कि कौन किसका कारण है ? प्रेक्षण से हम बता सकते है कि एक घटना दूसरी के पहले होती है—बिजली गर्जन से पहले चमकती है। क्या हम एक प्रेक्षण से यह बता सकते है कि कौन किसका कारण है ?

मान लीजिए कि आपने असख्य बार यह देखा है कि एक कागज का टुकड़ा आग मे डाले जाने पर जल जाता है। आपने मान लिया कि किसी दाह्य पदार्थ को एक निश्चित मात्रा मे गरमी देना उसके जलने के लिए पर्याप्त होता है। तब आपने एक ऐसे कमरे मे प्रयोग किया जिसमें आक्सीजन नही थी और देखा कि कागज का टुकड़ा नही जला। शायद आपने कभी यह न सोचा हो कि आक्सीजन की उपस्थिति भी एक उपाधि है, क्योकि हमारे अनुभव मे आक्सीजन सामान्यतः उपस्थित रहता है। परतु यदि उसका अभाव हो तो आग जलाने की कोशिश करके आप देख लेगे कि वह एक अनिवार्य उपाधि है। प्रागनुभविक रूप से आप नही जान सकते थे कि जलने का कारण कोई और बात न होकर आक्सीजन है : केवल बार-बार दोहराए जानेवाले प्रयोगो से ही आप जानते हैं। इसी प्रकार, यदि आप यह जानना चाहते है कि एक वैक्सीन गिनीपिगो को एक रोग से मुक्त रखने के लिए पर्याप्त है तो उन्हे उसकी सुई लगाइए और देखिए कि रोग का उनपर प्रभाव होता है या नही। (यदि केवल कुछ पर ही प्रभाव होता है तो अन्य उपाधियाँ काम कर रही है जिनका अभी आपको पता नही हुआ है।) आप असल मे एक प्रयोग से केवल तभी एक उपाधि क को ख का कारण जान सकते है जब आप जानते हो कि प्रत्येक अन्य बात ज्यो-की-त्यो बनी हुई है। यदि मैं एक बटन को दबाता हूँ और एक बत्ती जल जाती है तो इन दोनो मे कारणात्मक सबध होने का अनुमान मैं केवल तभी कर सकता हूँ जब मुझे ज्ञात हो कि परिस्थिति मे हर अन्य बात यथावत् बनी हुई है। पर यह मैं केवल एक ही प्रयत्न मे कैसे जान सकता हूँ ? ठीक उस क्षण मे, जब मैंने बटन दबाया था, कोई अन्य ऐसी बात हो सकती है जो वास्तविक कारण (कम-से-कम पर्याप्त उपाधि का एक अश) रही हो। यदि मैं उसे बार-बार दबाता हूँ, और हर बार बत्ती जल जाती है, तो यह बात उत्तरोत्तर अधिक प्रसभाव्य होती जाती है कि वह एक

कारक है (कुछ अन्य स्थायी कारकों के सहित, जैसे सरकिट का न टूटना तथा विजली-रायत्र का सक्रिय बना रहना)। यदि आप यह जानना चाहते है कि क ख के लिए अनिवार्य है तो उपाधियो को बदलते रहिए और देखिए कि कभी ख क के बिना प्राप्त होता है या नही। यदि आप यह जानना चाहते है कि क ख के लिए पर्याप्त है, तो उपाधि क का बार-बार प्रयोग करके देखिए कि ख सदैव होता है या नही।

"सदैव" का क्या अर्थ है ? प्रकटत. "सदैव" को शाब्दिक अर्थ मे लेना है जिसका मतलब है भूत, वर्तमान और भविष्य सभी उदाहरणो मे। परंतु यदि ऐसी बात है तो आप इस समय यह नही जान सकते कि क ख का कारण है, क्योकि आपने कोई भविष्य उदाहरण नही देखे है (और न असंख्य अतीत उदाहरण देखे है)। इसके बावजूद, जैसा कि प्रकृति के किसी भी नियम मे होता है, यह सब शामिल रहता है : जब आप कहते हैं कि आक्सीजन की उपस्थिति मे किसी जल सकनेवाली सामग्री को ताप देने से वह जल उठती है, तब यह विवक्षित होता है कि यदि ये शर्तें पूरी हो तो न केवल आज ऐसा होता है और कल हुआ था बल्कि कल फिर होगा। और यह बात सही अर्थ मे आप जान नही सकते : आपको प्रसभाव्यता की केवल न्यूनाधिक मात्राएँ ही प्राप्त हो सकती हैं। हमारा पूरा अतीत का अनुभव हमे यह विश्वास देता है कि यदि आक्सीजन है तो कल कागज आग मे डाले जाने पर जल उठेगा : इन परिस्थितियो मे सदैव ऐसा हुआ है और हम कोई और भी ऐसी परिस्थितियाँ नही सोच सकते जो अनिवार्य हो। व्यावहारिक प्रयोजन के लिए इतना ही हमे चाहिए और प्राप्य भी केवल इतना ही है। हमे केवल यही कहने की आवश्यकता है कि "अब तक का हमारा अनुभव केवल यही बताता है कि क ख की उत्पत्ति का कारण है और हमे कोई ऐसा अनुभव नही हुआ है जो इस बात मे सदेह पैदा करे।" कल क के बाद ख होगा या नही, यह हम कल से पहले निश्चयात्मक रूप से नही जानते।

कारणता के अन्य विश्लेषण—यहाँ तक हमने "कारण" की इस परिभाषा का प्रतिवाद नही किया है कि वह "पर्याप्त उपाधि" है। पर बहुत-से इस परिभाषा से असहमति प्रकट करेंगे। उन्हें शायद इस अर्थ मे मिल के "कारण" शब्द के प्रयोग के अधिकार पर कोई आपत्ति न होगी, पर वे कहेंगे कि दैनिक

जीवन मे इस शब्द का हम ऐसा प्रयोग नही करते और कि साधारणत: इससे हमारा मतलब बिल्कुल भिन्न होता है। मिल वैज्ञानिक परिभाषा देने की कोशिश कर रहा था—अर्थात् ऐसी परिभाषा जो वैज्ञानिक छानबीन मे यह शब्द जिस रूप मे प्रयुक्त होता है उसके अनुसार हो, और शायद इस शब्द का मिल वाला प्रयोग अवश्य ही वैज्ञानिक प्रयोग के निकट है। परंतु कहा जाता है कि हमारे दैनिक वार्तालाप में "कारण" का अर्थ वह नही होता जो मिल ने बताया है। तो फिर दैनिक जीवन मे इसका क्या अर्थ है ?

व्यक्तियों के मध्य कारण-संबंध—आर० जी० कॉलिंगवुड (१८८९-१९४३) के अनुसार "कारण" का मूल, आधारभूत, आदिम अर्थ मनुष्यों के अन्य मनुष्यों के सबध मे किए जानेवाले व्यवहार मे पाया जाता है। जब भी मैं आपको कोई काम करने के लिए उकसाता हूँ, प्रेरित करता हूँ या बाध्य करता हूँ, तब मै आपके उस काम का कारण बनता हूँ। मेरे प्रभाव का रूप आप अन्यथा जो किए होते उससे भिन्न तरह से स्वेच्छापूर्वक आपसे काम करवाने से लेकर आपको बाध्य करके काम करवाने तक, कुछ भी हो सकता है। स्पष्ट है कि यदि मैं बंदूक दिखाकर आपको मजबूर करता हूँ तो मैं आपके किसी काम का कारण बनता हूँ (जो अन्यथा आप न किए होते)। परंतु जब आप समाचार-पत्र मे यह पढते है कि चर्चिल के भाषण से कॉमन्स-सभा का कार्य स्थगित हो गया, तब मतलब यह नही है कि उसके भाषण ने अध्यक्ष को कार्य रोक देने के लिए बाध्य कर दिया ; मतलब यह है कि चर्चिल के भाषण को सुनकर अध्यक्ष ने स्वेच्छा से सभा का कार्य रोक देने का निश्चय कर लिया। इसी प्रकार, हम कहते है कि वकील के पत्र ने आदमी से ऋण चुकता करवा दिया। कारणता के प्रत्यय का मूल हमे व्यक्तियों के द्वारा अन्य व्यक्तियों के व्यवहार के प्रभावित होने मे खोजना चाहिए :

जैसाकि ह्यूम ने ठीक ही पूछा था, यह प्रत्यय किस सवेदन से व्युत्पन्न है ? मैं उत्तर देता हूँ कि हमारे सामाजिक जीवन मे मनुष्यो के आपस के व्यावहारिक सबधो से प्राप्त संवेदनो से ; विशेषत: किसी अन्य आदमी से तब कुछ "करवाने" या उसे कुछ करने के लिए "बाध्य करने" के अनुभव से जब तर्क, आदेश, धमकी इत्यादि से हम उसे ऐसी स्थिति मे पहुँचा देते हैं कि वह अपना इरादा केवल वह काम करके ही पूरा कर सकता है ; और विलोमतः

स्वय कुछ करने के लिए प्रेरित या बाध्य किए जाने के अनुभव से ।[1]

कारणता के बारे मे कहते समय हमारी "अनिवार्य सबंध" वाली भाषा का प्रयोग करने की जो प्रवृत्ति होती है उसके लिए जिम्मेदार "कारण" का यही आदिम अर्थ है जिसमे एक आदमी सीधे दूसरे के व्यवहार को प्रभावित करता है या उसे बाध्य करता है : हम अपने द्वारा दूसरे को प्रभावित या बाध्य किए *जाने का अथवा दूसरो के द्वारा स्वय प्रभावित या बाध्य किए जाने का अनुभव* करते हैं, और जब हम भौतिक जगत् की उन वस्तुओ के बारे मे, जिनमे हम अपने व्यवहार के द्वारा परिवर्तन लाते हैं, ऐसे सोचते हैं जैसे कि मानो वे भी उन अन्य मनुष्यो की तरह हो जिन्हे हम बाध्य कर सकते है, तब हमारी प्रवृत्ति जीवत्वारोप की बन जाती है—यही वजह है कि क्यो हमारी दैनिक जीवन मे जो कारण-विषयक बातचीत होती है वह जीववाद से ओत-प्रोत रहती है ।

यद्यपि यही "कारण" का सर्वाधिक मौलिक या आदिम अर्थ है, तथापि यही वह एकमात्र या मुख्य अर्थ नही है जिसमे इस शब्द का आजकल प्रयोग होता है । पर तब भी कॉलिंगवुड के अनुसार मिल का कथन गलत है, क्योंकि दैनिक वार्तालाप मे इसका मुख्य अर्थ इसी आदिम अर्थ का विस्तार होता है, लेकिन उस सीमा तक नही जहाँ तक मिल का अर्थ है । तो, यह मुख्य अर्थ क्या है ?

व्यक्ति और वस्तु के मध्य कारण-संबंध— अपने व्यवहार से हम न केवल अन्य मनुष्यो को प्रभावित करते हैं अपितु प्रकृति के घटना-क्रम को भी बदलते हैं ।

अर्थ$_2$ मे "कारण" शब्द मानवीय व्यवहार से सबधित प्रयत्न को अर्थ$_1$ की अपेक्षा कम नही प्रकट करता ; परतु व्यवहार यहाँ अन्य मनुष्यो को नियत्रित करने के उद्देश्य से नही बल्कि "प्रकृति" की वस्तुओ, "भौतिक" वस्तुओ, के नियत्रण के उद्देश्य से किया जाता है । इस अर्थ मे प्रकृति मे किसी

---

१. आर० जी० कॉलिंगवुड, "ऑन दि सोकॉल्ड आइडिया ऑफ कॉजेशन", हर्बर्ट मॉरिस द्वारा सपादित 'फ्रीडम ऐंड रिस्पान्सिबिलिटी' मे उद्धृत, पृ० ३०७ । यह लेख सर्वप्रथम 'प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि अरिस्टोटेलियन सोसायटी', १९३८, पृ० ८५-१०८ में प्रकाशित हुआ था ।

घटना का "कारण" एक हत्था-जैसा है जिसे पकड़कर हम उसे सचालित कर सकते है। यदि हम ऐसी चीज को पैदा करना या रोकना चाहते है और तत्काल उसे पैदा नही कर सकते या रोक नही सकते (वैसे जैसे हम स्वय अपने शरीर की कुछ गतियो को पैदा कर सकते हे या रोक सकते है) तो हम उसका "कारण" खोजने लगते ह। इस प्रसग मे "घटना ख का क्या कारण है ?" पूछने का अर्थ है "हम कैसे ख को जब चाहे तब पैदा कर सकते या रोक सकते हैं ?"………

आजकल के दैनिक प्रयोग मे यह एक बहुत ही सामान्य अर्थ होता है। खरोंच का कारण वह ठोकर है जो आदमी के टखने पर पड़ी थी ; मलेरिया का कारण मच्छड का काटना है ; नाव के डबने का कारण उसपर हद से ज्यादा भार लदा होना है, किताबो के टेढी-मेढ़ी हो जाने का कारण उनका सीलन-भरे कमरे मे रखा होना है ; आदमी को पसीना आने का कारण यह है कि उसने ऐस्पिरीन की गोली खा ली थी ; भट्ठी के रात मे बुझ जाने का कारण यह है कि हवा के लिए दरवाजा पूरी तरह नही खुला था ; पौधे के मर जाने का कारण यह हे कि उसे किसी ने पानी नही दिया ; इत्यादि।[1]

इनमे से प्रत्येक प्रसग मे घटना ऐसी है जिसे हम पैदा कर सकते है या रोक सकते हे। कारण पकडने का हत्था है जिसके द्वारा हम पैदा करने या रोकने का काम कर सकते हे। जैसे हम अन्य मनुष्यो के कामो को बदल सकते है वैसे ही प्रकृति मे कुछ घटनाओ के क्रम को भी बदल सकते ह ; और कारण वह चीज है जो हम उन्हे बदलने के लिए करते हे।

जब पेन्सिल आपके हाथ से छूटकर नीचे गिर जाती है, तब कोई नही कहेगा कि नीचे गिरते समय उसकी दूसरे क्षण की गति का कारण गिरने की पहले क्षण की गति है, या तीसरे क्षण की गति का कारण दूसरे क्षण की गति है, इत्यादि। फिर भी जब तक गुरुत्वाकर्पण का नियम काम करता रहेगा और जब तक गिरनेवाली चीज के रास्ते मे कोई रुकावट न हो, तब तक समय $स_1$ मे उसका एक स्थान पर होना एक सेकड के एक अल्पाश के अनतर समय $स_2$ मे उसके एक मिलिमीटर नीचे होने की पर्याप्त उपाधि है। परतु कारणता के बारे मे हम इस रूप मे बात नही करते। इसके बजाय हम कहते है कि

---

१. वही पृ० ३०४-५।

मेरे द्वारा पेन्सिल का छोड़ दिया जाना उसके जमीन पर गिर पड़ने का कारण था। अथवा यदि हम लोहे के एक टुकडे को आग मे तपाकर गरम करे तो वह लाल हो जाएगा ; परंतु सामान्यतः हम यह नही कहते कि हम लोहे को लाल करते है : हम उसे तपाते है (आग मे रखकर) और जब वह काफी तप जाता है तब वह हमारी किसी भी अन्य क्रिया की अपेक्षा किए बिना स्वतः ही लाल हो जाता है। दोनो ही प्रसगो मे जिस शर्त का उल्लेख किया गया है वह कार्य की एक अनिवार्य उपाधि है और साथ ही पर्याप्त उपाधि का एक घटक भी ; फिर भी हम उसे कारण नही कहते। ऐसा क्यो ?

इस समय हम जिस मत पर विचार कर रहे हैं उसके अनुसार उत्तर यह है कि हम किसी उपाधि को कारण तब तक नही कहते जब तक उसमे कोई ऐसा काम शामिल न हो जिसे हम *कार्य* को उत्पन्न करने के लिए कर सकते हो। हमारा यह कहना सही है कि हमारे द्वारा पत्थर को छोड दिया जाना उसके गिरने का कारण है : यही वह बात है जो हम पत्थर को गिरने देने के लिए करते हैं। नीचे गिरते समय दूसरे क्षण मे होनेवाली पत्थर की गति को पैदा करने के लिए हमने पहले ही क्षण मे जो कर लिया उसके अलावा हम कुछ नही करते। उसे छोड देने के बाद उसके जमीन पर पहुँचने के लिए हम कुछ करने की जरूरत नही है। पत्थर को छोड देना एक काम है जो हम पत्थर के गिरने के लिए करते है। इसी प्रकार लोहे के उदाहरण मे उसके लाल होने के लिए हमने कोई ऐसा काम नही किया जो हम उसे गरम करने के लिए पहले न कर चुके हो। उसे गरम करने के लिए जो तरीका हमने अपनाया है *उसके अलावा कोई और तरीका हमने उसे लाल करने के लिए नही अपनाया।* अतः हम सामान्यतः यह नही कहते कि हम उसे लाल करते हैं बल्कि केवल यह कहते है कि हम उसे गरम करते है। हम जब उसे आग मे रख देते है तब बाकी बातें हमारे हस्तक्षेप के बिना स्वत. ही हो जाती है।

अनादि काल से लोग उन परिस्थितियो मे कारण और कार्य की बात करते आए हैं जिनमे वे कोई चीज करते है जिससे कोई और इच्छित चीज हो जाती है—एक निश्चित प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए वे अपने शरीर को एक निश्चित तरीके से हिलाते-डुलाते हैं : किसी के जबड़े पर आघात करने के लिए (कार्य) आप अपने मुक्के को आगे की ओर बढ़ाते हैं (कारण) ; खाने को मुंह मे डालने के लिए (कार्य) आप काँटे को उठाकर मुंह की ओर

घटना का "कारण" एक हत्था-जैसा है जिसे पकड़कर हम उसे सचालित कर सकते है। यदि हम ऐसी चीज को पैदा करना या रोकना चाहते है और तत्काल उसे पैदा नही कर सकते या रोक नही सकते (वैसे जैसे हम स्वय अपने शरीर की कुछ गतियो को पैदा कर सकते है या रोक सकते है) तो हम उसका "कारण" खोजने लगते हैं। इस प्रसग मे "घटना ख का क्या कारण है?" पूछने का अर्थ है "हम कैसे ख को जब चाहे तब पैदा कर सकते या रोक सकते है?"………

आजकल के दैनिक प्रयोग मे यह एक बहुत ही सामान्य अर्थ होता है। खराच का कारण वह ठोकर है जो आदमी के टखने पर पड़ी थी; मलेरिया का कारण मच्छड का काटना है; नाव के डवने का कारण उसपर हद से ज्यादा भार लदा होना है; किताबो के टेढी-मेढी हो जाने का कारण उनका सीलन-भरे कमरे मे रखा होना है; आदमी को पसीना आने का कारण यह है कि उसने ऐस्पिरीन की गोली खा ली थी; भट्ठी के रान मे वुझ जाने का कारण यह है कि हवा के लिए दरवाजा पूरी तरह नही खुला था; पौधे के मर जाने का कारण यह है कि उसे किसी ने पानी नही दिया; इत्यादि।[1]

इनमे से प्रत्येक प्रसग मे घटना ऐसी है जिसे हम पैदा कर सकते है या रोक सकते है। कारण पकडने का हत्था है जिसके द्वारा हम पैदा करने या रोकने का काम कर सकते हैं। जैसे हम अन्य मनुष्यो के कामो को बदल सकते है वैसे ही प्रकृति मे कुछ घटनाओ के क्रम को भी बदल सकते है; और कारण वह चीज है जो हम उन्हे बदलने के लिए करते है।

जब पेन्सिल आपके हाथ से छूटकर नीचे गिर जाती है, तब कोई नही कहेगा कि नीचे गिरते समय उसकी दूसरे क्षण की गति का कारण गिरने की पहले क्षण की गति है, या तीसरे क्षण की गति का कारण दूसरे क्षण की गति है, इत्यादि। फिर भी जब तक गुरुत्वाकर्षण का नियम काम करता रहेगा और जब तक गिरनेवाली चीज के रास्ते मे कोई रुकावट न हो, तब तक समय स१ मे उसका एक स्थान पर होना एक सेकड के एक अल्पाश के अनतर समय स२ मे उसके एक मिलिमीटर नीचे होने की पर्याप्त उपाधि है। परतु कारणता के बारे मे हम इस रूप मे बात नही करते। इसके बजाय हम कहते है कि

१. वही पृ० ३०४-५।

मेरे द्वारा पेन्सिल का छोड़ दिया जाना उसके जमीन पर गिर पडने का कारण था। अथवा यदि हम लोहे के एक टुकडे को आग मे तपाकर गरम करे तो वह लाल हो जाएगा ; परतु सामान्यतः हम यह नही कहते कि हम लोहे को लाल करते है : हम उसे तपाते है (आग मे रखकर) और जब वह काफी तप जाता है तब वह हमारी किसी भी अन्य क्रिया की अपेक्षा किए बिना स्वतः ही लाल हो जाता है। दोनो ही प्रसंगो मे जिस शर्त का उल्लेख किया गया है वह कार्य की एक अनिवार्य उपाधि है और साथ ही पर्याप्त उपाधि का एक घटक भी ; फिर भी हम उसे कारण नही कहते। ऐसा क्यो ?

इस समय हम जिस मत पर विचार कर रहे हे उसके अनुसार उत्तर यह है कि हम किसी उपाधि को कारण तब तक नही कहते जब तक उसमे कोई ऐसा काम शामिल न हो जिसे हम कार्य को उत्पन्न करने के लिए कर सकते हो। हमारा यह कहना सही है कि हमारे द्वारा पत्थर को छोड दिया जाना उसके गिरने का कारण है : यही वह बात है जो हम पत्थर को गिरने देने के लिए करते है। नीचे गिरते समय दूसरे क्षण मे होनेवाली पत्थर की गति को पैदा करने के लिए हमने पहले ही क्षण मे जो कर लिया उसके अलावा हम कुछ नही करते। उसे छोड देने के बाद उसके जमीन पर पहुँचने के लिए हम कुछ करने की जरूरत नही है। पत्थर को छोड देना एक काम है जो हम पत्थर के गिरने के लिए करते है। इसी प्रकार लोहे के उदाहरण मे उसके लाल होने के लिए हमने कोई ऐसा काम नही किया जो हम उसे गरम करने के लिए पहले न कर चुके हो। उसे गरम करने के लिए जो तरीका हमने अपनाया है उसके अलावा कोई और तरीका हमने उसे लाल करने के लिए नही अपनाया। अत. हम सामान्यतः यह नही कहते कि हम उसे लाल करते है बल्कि केवल यह कहते हैं कि हम उसे गरम करते हैं। हम जब उसे आग में रख देते हैं तब बाकी बातें हमारे हस्तक्षेप के बिना स्वत. ही हो जाती है।

अनादि काल से लोग उन परिस्थितियों मे कारण और कार्य की बात करते आए है जिनमे वे कोई चीज करते हैं जिससे कोई और इच्छित चीज हो जाती है—एक निश्चित प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए वे अपने शरीर को एक निश्चित तरीके से हिलाते-डुलाते है : किसी के जबड़े पर आघात करने के लिए (कार्य) आप अपने मुक्के को आगे की ओर बढ़ाते हैं (कारण) ; खाने को मुंह में डालने के लिए (कार्य) आप काँटे को उठाकर मुंह की ओर

ले जाते है (कारण) ; इत्यादि । जिस उपाधि को हम कारण कहते है वह ऐसी होती है जिसमे हम हेरफेर कर सके, पर वह पर्याप्त उपाधि नही होती ; कार्य के होने के लिए और भी कई उपाधियाँ चाहिए—जैसे, आपकी बाँह को स्वस्थ अवस्था मे होना चाहिए । परंतु यद्यपि यह उस घटना की एक उपाधि है, तथापि एक कारण नही है । दैनिक जीवन मे हम कारणो और उपाधियो मे स्पष्टतः भेद करते है (मिल की विपरीत धारणा के बावजूद) । किसी कार्य के होने से पहले चाहे जितनी शर्तें पूरी करनी पड़ें, किसी को हम तब तक कारण नही कहते जब तक उसमे हेरफेर की कोई तकनीक (चलाने के लिए हत्था) न हो जिसके द्वारा हम कार्य को उत्पन्न कर सके ।[1]

एच० एल० ए० हार्ट और ए० एम० हॉनोर[2] इत्यादि कुछ अन्य दार्शनिक भी कारण और उपाधि मे स्पष्ट भेद करते हैं, परतु कुछ अलग तरह से । दैनिक जीवन मे हम प्राय यह कहते है कि क ख का कारण है, यद्यपि हमें बिल्कुल भी पक्का यकीन नही होता कि क के अनतर ख नियमित रूप से होगा और हम इस सामान्यीकरण से नही बँधे होते कि ऐसा होगा ही । हम यह विश्वास कर सकते है, और है भी यह सही, कि अ के द्वारा ब की नाक पर आघात किया जाना ब की नाक से खून आने का कारण था, और ऐसा यह विश्वास किए बिना कि किसी के द्वारा किसी अन्य की नाक पर आघात किए जाने के बाद सदैव उसकी नाक से खून निकलने लगता है, तथा यह जाने बिना कि आघात के बाद नियमित रूप से खून बहने के लिए आघात को कितना शक्तिशाली होना चाहिए या नाक की झिल्लियो को कितना कमजोर होना चाहिए । यह सत्य है कि हमें कुछ सामान्यीकरणो की जरूरत होती है, हालाँकि वे कामचलाऊ होते हैं । यदि कोई कहे कि अ की मृत्यु का कारण सूर्य-कलक थे, तो इस सबध की व्याख्या के लिए हम कोई सामान्यीकरण चाहेंगे, क्योंकि हमारे अनुभव मे ऐसी कोई बात नही है जो मृत्यु को सूर्यकलको के साथ जोड़े । परतु हम निश्चित रूप से, और सही, कहते हैं कि कागजो से भरी रद्दी की टोकरी मे जलती हुई माचिस फेंकना आग लगने का

---

१. माइन्ड, १९५७ में डगलस गैसकिंग का लेख "कॉज़ेशन एँड रेसिपीज़" । गैसकिंग का कारणता के बारे में वही मत है जो कॉलिंगवुड ने ऊपर उल्लिखित अपने लेख में "कारण" का दूसरा अर्थ दिया है ।

२ कॉज़ेशन इन दि लॉ, विशेषतः अध्याय २ ।

कारण है, भले ही हम यह कहना न चाहे कि जब भी कोई कागजो से भरी रद्दी का टोकरी मे जलती हुई माचिस फेकता है तब हमेशा आग लग जाएगी। हवा मे आक्सीजन का मौजूद होना और रद्दी के टोकरी मे कागजो का होना आग की उपाधियाँ है (पहली निश्चित रूप से एक अनिवार्य उपाधि है, दूसरी नही), परतु उन्हे हम आग का कारण नही कहते—हम कहते है कि कारण आपका जलती माचिस को फेकना है। गैसकिंग के अनुसार हम इसे कारण इसलिए कहते हैं कि इसमे हेरफेर की एक तकनीक है : माचिस को फेकना एक ऐसा काम है जिसको करने का नतीजा आग का लगना है। परतु हार्ट और हॉनोर एक थोडी भिन्न व्याख्या देते हैं। वे कहते है कि हम घटना का कारण (मात्र उपाधियो के विपरीत) उस बात को बताते है जो प्रकृति मानदड—उसकी सामान्य प्रक्रिया या उसके सामान्य व्यापार—से कुछ भिन्नता लिए होती है।

सामान्य अनुभव हमे सिखाता है कि अकेली छोड दी जाने पर चीजें, जिनमे हम हेरफेर करते है पर जिनकी अपनी कोई "प्रकृति" होती है अथवा जिनका व्यवहार का एक विशिष्ट तरीका होता है, उन अवस्थाओ से भिन्न अवस्थाओं मे या उन परिवर्तनो से भिन्न रूप मे बनी रहेगी जिन्हे हम अपने हस्तक्षेप से उनमे पैदा करना सीख चुके है। यह धारणा कि कारण तत्वत. वह चीज है जो घटनाओ के स्वाभाविक या सामान्य रूप से स्वय होनेवाले क्रम मे हस्तक्षेप करती है, कारण की सामान्य-बुद्धिसुलभ धारणा मे मुख्य अश है, और कम-से-कम उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी मिल तथा ह्यूम द्वारा उतनी अधिक महत्वपूर्ण बताई हुई नियत या सतत अनुक्रम की धारणा। जहाँ आदमी का हस्तक्षेप अक्षरश. नही होता ऐसे प्रसगो मे भी प्राकृतिक घटना-क्रम मे आशिक नियत्रण के लिए आदमी के द्वारा जो हस्तक्षेप किया जाता है उससे सादृश्य के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि किसी घटना का कारण किसे बताना है। शाब्दिक अर्थ मे हस्तक्षेप न होते हुए भी कारण सामान्य घटना-क्रम मे किसी अतर का आना है जो परिणाम मे अतर लाता है।[1]

इस प्रकार हम कहते हैं कि एक जलती हुई सिगरेट आसानी से आग पकड़नेवाली सामग्री मे फेंक देना इमारत मे आग लगने का कारण है और इमारत का सूखा होना तथा सामग्री का दाह्य होना केवल उपाधियाँ हैं।

---

१. वही, पृ० २७।

रेल-दुर्घटना में ऐसे कारक भी होंगे जैसे गाड़ी की सामान्य चाल, उसपर लदा सामान और उसका अपना भार तथा नियमानुसार उसका रोका जाना या चाल का तेज किया जाना। निश्चय ही ये बातें ऐसी है जो उन दोनों ही अवसरों पर समान रूप से मौजूद रहती है जब दुर्घटनाएँ होती है तथा जब वे नही होती ; और यही सोचकर हम उन्हे दुर्घटना का कारण नही मानते, हालांकि यह सत्य है कि इनके अभाव मे दुर्घटना न हुई होती। यह बात अवश्य ही साफ है कि ऐसी बातों के उल्लेख से कोई स्पष्टीकरण नही होगा जो दुर्घटना तथा सामान्य अवस्था दोनों में उपस्थित हों : ऐसे तत्व दुर्घटना और सामान्य अवस्था के बीच वैसा कोई अंतर पैदा नही करते जैसा मुड़ी हुई पटरी या जलती हुई सिगरेट करती है।............

सामान्य स्थितियाँ वे है जो विचाराधीन वस्तु की सामान्य अवस्था या सामान्य व्यापार के अंश के रूप मे विद्यमान रहती है : ऐसी सामान्य अवस्थाओं मे से कुछ पर्यावरण की जानी-पहचानी, व्यापक विशेषताएँ भी होंगी : और उनमे से काफी अधिक न केवल दुर्घटना और सामान्य व्यापार दोनों ही में समान रूप से विद्यमान होंगी, अपितु उनका विद्यमान होना कारण की जाँच करनेवालो को बहुत ही सामान्य रूप से ज्ञात भी होगा।... .....जो बात इस तरह से असामान्य होती है वह दुर्घटना और व्यापार के यथावत् चलते रहने मे "अंतर पैदा करती है।"[१]

इस प्रकार, यदि बलदेव ने विष खा लिया या उसे छुरा मार दिया गया, तो इस बात को हम उसकी मृत्यु का कारण बताते है। यदि उसकी मृत्यु की जाँच की गई और एक वकील कहे कि उसकी मृत्यु का कारण उसकी रक्त-कोशिकाओं का आक्सीजन से वंचित होना है तो जज इसमे कोई दिलचस्पी नही लेगा। जो स्थिति बताई गई है वह वस्तुत: मरने की सभी घटनाओं के लिए पर्याप्त उपाधि है ; परन्तु जज वह बात नहीं जानना चाहता जो आदमियो के मरने के लिए आम तौर पर एक पर्याप्त उपाधि है बल्कि यह जानना चाहता है कि इस समय इस आदमी की मृत्यु का क्या कारण था। विज्ञान इस प्रश्न मे रुचि रखता है कि "किन स्थितियों में इस प्रकार की घटनाएँ सदैव घटती हैं ?" परंतु दैनिक जीवन में तथा अदालती मामलों मे हमारी

---

१. वही, पृ० ३२-३३।

दिलचस्पी यह पूछने मे होती है कि "इस घटना का क्या कारण था ?" जिसको प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार इस रूप मे पूछा जा सकता है कि "यह बात क्यो हो गई, जबकि सामान्य अवस्था मे यह न हुई होती ?"

तो फिर हम स्थायी उपाधियो (वे जो घटना के होने के लिए अनिवार्य होती है पर जिनका घटना के होने की और न होने की दोनो ही अवस्थाओ मे अस्तित्व होता है) का भेदक उपाधियो (वे जो उसमे जो हुआ है और "सामान्य व्यापार" मे अतर पैदा करती है) से अतर करते हैं। परतु परिस्थिति की वह विशेषता जिसे हम कारण कहते है कुछ अस्थिर होती है तथा इस बात पर निर्भर होती है कि हम स्थायी उपाधियाँ किन्हे मानते है। उदाहरण के लिए : एक आदमी जिसके पेट में व्रण हैं एक दिन मसालेदार खाना खाता है और उसे दर्द का तेज दौरा पड़ जाता है। उसकी पत्नी दौरे का कारण इस बात को बताएगी कि उसने मसालेदार खाना खाया ; जो डाक्टर बुलाया जाता है वह व्रणो को कारण बता सकता है। दोनो ही सही हैं, पर दोनो अवस्थाओ मे स्थायी उपाधियाँ कुछ भिन्न हैं। पत्नी यह पूछ रही है कि "व्रणो के पहले से रहते हुए, आज ही क्यो उसे दौरा पड़ा जबकि आम तौर पर उसे दौरा नही पडता ?" और इसका उत्तर यह है कि उसने मसालेदार खाना खाया था। परतु डाक्टर यह पूछ रहा है कि "मसालेदार खाना खाने के बाद इस आदमी को दौरा क्यो पडा जबकि अन्य लोगो को नही पडता ?" और इसका उत्तर यह है कि उसके पेट मे व्रण हैं। (अन्यो को मसालेदार खाना खाने के बावजूद दौरा नही पडेगा।) किन्हे कोई स्थायी उपाधियाँ मानेगा, यह बात सदर्भ-सापेक्ष होती है, और पत्नी का सदर्भ डाक्टर के सदर्भ से कुछ भिन्न है। एक और उदाहरण :

एक कार एक स्थल पर मोड लेती हुई फिसलती है, उलट जाती है और उसमे आग लग जाती है। चालक के दृष्टिकोण से दुर्घटना का कारण बहुत तेज रफ्तार से मोड़ लेना था, और इससे यह सबक मिलता है कि अधिक सावधानी के साथ कार चलानी चाहिए। जिला-सर्वेक्षक के दृष्टिकोण से कारण सड़क की सतह का दोषपूर्ण होना था, और सबक यह मिलता है कि सड़को को ऐसी बनाया जाना चाहिए जिनमे फिसलन न हो। मोटर-निर्माता के दृष्टिकोण से कारण डिजाइन का दोषपूर्ण होना है, और सबक यह मिलता

है कि गुरुत्व केंद्र को और भी नीचे रखा जाना चाहिए।[1]

परतु हार्ट-हॉनोर मत के अनुसार यह सही नही है कि कारण सदैव कोई बात होती है जिसे हम करते है। जब जो बात हम करते है वह "मानक से विचलित होना" होता हे, जैसा कि प्राय होता भी है, तभी वह कारण होती है ; और ऐसे विचलन प्रकृति मे प्राय. मनुष्य के किए विना भी होते हे, जैसे तब जब हम कहते हे कि विजली गिरने से आग लग गई या बादल के गरजने से मवेशियो मे भगदड मच गई।

इन मतो की ये आलोचनाएँ सभव हैं— १. कारणता की ये व्याख्याएँ स्वय कारणपरक भाषा से ओतप्रोत हैं। ह्यूम और मिल ने कम-से-कम यह प्रयत्न तो किया था कि "कारण" की परिभाषा मे ऐसे शब्दो का प्रयोग हो जो स्वय कारणपरक न हो। परतु हेरफेर करना किसी तरह का कार्य उत्पन्न करना है, और "हेरफेर की तकनीक" या "चलाने का हत्था" इस प्रकार स्वय एक कारणपरक पद है जिसका 'कारण" की परिभाषा मे चक्रक-दोष से वचते हुए प्रयोग नही किया जा सकता। फिर, कॉलिंगवुड ने "कारण" का जो सकल्पपरक अर्थ वताया है उसमे कार्योत्पादन का प्रेरित करना, अनुनय करना इत्यादि से अभेद बताया गया है, जो कि सब कार्योत्पादन के रूप है। अच्छा होगा कि हम रुककर जरा विचार कर लें कि प्रतिदिन कितने ऐसे शब्दो का हम प्रयोग करते ह जिनके मूल मे कारण का सप्रत्यय पहले से ही वर्तमान रहता है • "काटना" का अर्थ है काट को अस्तित्व मे लाने का कारण वनना ; "वदलना" का अर्थ है परिवर्तन के होने का कारण वनना ; "तोडना" टूट का कारण वनना है ; "छोडना" का अर्थ है ऐसे कामो मे लगना जिनके फलस्वरूप कोई व्यक्ति या वस्तु छूट जाती है, इत्यादि। "कारण" सामान्य शब्द है, लेकिन इसके विशेप रूपो या कार्योत्पादन के विशेष तरीको के लिए हमारे पास अन्य शब्द हैं, और इनका हम "कारण" की परिभाषा मे चक्रकना-दोष के विना प्रयोग नही कर सकते।

२ हेरफेर वाली व्याख्या के अनुसार कारण होना कोई ऐसा काम करना है जिसका परिणाम कार्य हो ("परिणाम" एक कारणपरक शब्द है : यदि क

---

१. आर० जी० कॉलिंगवुड, "ऑन दि सो-कॉल्ड आइडिया ऑफ कॉजेशन" (मॉरस द्वारा संपादित पूर्वोद्धृत ग्रंथ में, पृ० ३०६ पर)।

ख का कारण है तो क का परिणाम ख है) । परतु हम प्राय: उन प्रसगो मे भी कारण और कार्य की बात करते है जिनमे कुछ भी ऐसा नही होना जिसे हम कार्योत्पत्ति के लिए कर सके । हम न केवल गोला-बारूद के कारखाने मे विस्फोट होने के कारण के बारे मे बात करते है अपितु करोडो-अरबो प्रकाश-वर्ष की दूरी पर किसी अधिनवतारे (सुपर्नोवा) मे होनेवाले विस्फोट के कारण के बारे मे भी । इस दूसरे प्रसग मे हम बिल्कुल तटस्थ द्रष्टा ही बने रह सकते है—कोई ऐसा हत्था नही हो सकता जिसको चलाकर हम कोई सबधित परिवर्तन पैदा कर सकें । हम कहते है कि हम पानी के एक बर्तन को अधिक ऊँचे तापमान मे रखकर जिससे उसकी बर्फ पिघल जाए, उसके पानी के स्तर को ऊँचा करते हैं ; परतु हम यह भी कहते है कि उत्तरी ध्रुव के सागरो मे बर्फ का पिघलाना सभव है जो पृथ्वी के महासागरो मे जल के स्तर के बढ़ जाने तथा फलत: तटवर्ती नगरो मे बाढ़ आने का कारण बनेगा । ऐसा लगता है कि हेरफेर के लिए एक हत्था होने या न होने से कोई फर्क नही पड़ता । निश्चय ही कोई यह कह सकता है कि "हेरफेर की तकनीक" मूल अर्थ है और उत्तरी ध्रुव के सागरो तथा सुपर्नोवा इत्यादि के उदाहरण उसके विस्तार है—कि विस्तृत अर्थ सादृश्य के आधार पर मूल अर्थ से निकलता है और मूल अर्थ मे हेरफेर की तकनीक शामिल है । परंतु यदि ऐसा है तो "कारण" का यह विश्लेषण उसे उसकी स्वकीय विशेषता के काफी बडे अश से वचित कर देता है, क्योकि अब "कारण" जो काम हम कर सकते है या जो हेरफेर हम कर सकते हैं उसी तक सीमित नही रहता ।

३. इसी प्रकार के सवाल कारणता की मानक-से-विचलन वाली व्याख्या को लेकर भी उठाए जा सकते है । यह सत्य है कि दैनिक जीवन मे हम प्राय: मानक से विचलन होने की अवस्थाओ के बारे मे प्रश्न पूछते हैं : जब इमारत जलकर धराशायी हो जाती है तब हम पूछते हैं कि आग का क्या कारण था ; पर जब वह बिना कुछ हुए खड़ी रहती है तब हम नही पूछते कि यह खडी क्यो हैं । लेकिन हम यह पूछ भी सकते हैं । वैज्ञानिक वह है जो अनुभव के सबसे साधारण और सुपरिचित तथ्यो के बारे मे कारण-सबधी प्रश्न पूछता है : डबल रोटी के फूलने का क्या करण है ? लोहे पर जग लगने का क्या कारण है ? पृथ्वी के सूर्य की परिक्रमा करने का क्या कारण है ? रात मे चन्द्रमा के कुछ देर से निकलने और तारो के जल्दी उदय का क्या कारण है ? इसे

असख्य प्रश्न उन वातो को लेकर पूछे जा सकते हैं जो मानक से विचलन की अवस्थाएँ किसी तरह नही है वल्कि इसके वजाय विल्कुल सामान्य घटनाएँ है और प्राय: किसी भी अपवाद के विना होती रहती है ।

इस आक्षेप का एक उत्तर यह सभव है : प्रश्न को सदैव इस तरह रखा जा सकता है कि प्रश्नाधीन घटना एक अन्य मानक से विचलन का रूप ले ले । मान लीजिए कि एक बालक जिसने डवल रोटी को फूलते देखा है, पूछता है कि आटा फैलता क्यो है। उत्तर यह है कि उसमे खमीर होता है। यह कारण सामान्य है, असामान्य नही , परतु प्रश्न को निश्चय ही यह रूप दिया जा सकता है कि "इस चीज के आकार मे फैलने का क्या कारण है जवकि अन्य चीजे नही फैलती ?" और इसका उत्तर होगा "क्योकि इसमे खमीर है जवकि अन्य चीजो मे नही है ।" यदि खमीर का न होना मानक है तो किसी ऐसी चीज के बारे मे उत्तर देना जिसमे खमीर हो एक ऐसा उत्तर है जिसमे इस मानक से विचलन शामिल है। अथवा यदि वह बालक जिसने गेद के पडने से खिडकी के टूटने की घटना देखी है, पूछता है कि इसका कारण क्या है (गेद के जोर से खिडकी का टूटना एक बहुत ही आम घटना है), तो हम उसके प्रश्न को इस रूप मे ले सकते हैं कि "गेद खिडकी के पार कैसे निकल गई जबकि वह ईटो की एक दीवार और अधिकतर अन्य ठोस चीजो के पार नही निकलती ?" और तब हम इसका उत्तर यह कहकर दे सकते है कि खिडकी शीशे की है और शीशा भगुर होता है जवकि अधिकतर अन्य ठोस चीजे भगुर नही होती। इस चीज के होने या इस प्रकार की घटना तथा अन्यो मे वैषम्य दिखाने के लिए हमे सदैव कोई आधार मिल सकता है ।

परतु प्रश्न को सदैव इस प्रकार दूसरे शब्दो मे रखने की प्रक्रिया से कि वह इस प्रकार की घटना और अन्य घटनाओं के बीच जो अतर है उसका कारण बताने की प्रार्थना का रूप ले ले, हमे लाभ ही क्या हुआ ? इससे सिद्धात तो बच जाता है, पर केवल उसका इस तरह विस्तार करके ही कि जिससे उसकी वह स्वकीय विशेषता नष्ट हो जाती है जो प्रारभ मे उसमे थी। इस सिद्धात के समर्थन मे पहले जो उदाहरण दिए गए थे वे एक मानक से विचलन के सच्चे उदाहरण थे ; परतु जो उदाहरण अभी-अभी दिए गए है उन्हे केवल अत्यधित प्रयत्न और कष्ट से ही किसी-मानक-से-विचलन के उदाहरणो मे बदला जा सकता है, क्योकि वे सब किसी भी साधारण अर्थ मे सामान्य प्रक्रिया

अथवा सामान्य व्यापार के ही उदाहरण हैं। और यह तथ्य फिर भी बना रहता है कि हम इनके भी कारण पूछ सकते है। यह कहना कि ये सब एक मानक से विचलन के अर्थात् अन्य चीजो से विषमता रखने के उदाहरण है, एक सिद्धात को तो बचा देता है पर इन प्रश्नो के उद्देश्य को समाप्त कर देता है। जब हम यह पूछते है कि वर्फ के पिघलने या लोहे पर जंग लगने का क्या कारण है, तब हम एक बिल्कुल ही सामान्य प्रक्रिया, "प्रकृति के काम करने के एक सामान्य तरीके" के बारे मे प्रश्न पूछ रहे होते हैं और इस तथा अन्य चीजों के बीच रहनेवाला कोई वैषम्य उसमें विवक्षित नही होता—हालांकि ऐसे वैषम्य सदा ही ढूंढ़ निकाले जा सकते है।

४. इन सिद्धातों की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि ये कारणता को सतत संयोजन मानने वाले किसी भी अपरिष्कृत सिद्धात का बिल्कुल ही अपर्याप्त होना सिद्ध कर देते हे। दैनिक जीवन में "क ख का कारण है" इस बात का समानार्थक नही है कि "क के अनंतर सदैव ख होता है"। हम यह कह सकते है और यह सत्य भी होगा कि "आजकल डिप्थीरिया मौत का कारण बहुत ही कम होता है", परंतु यह कथन इस कथन से संगति नही रखता कि "जब हम यह कहते है कि डिप्थीरिया मौत का कारण है तब हमारा मतलब यह होता है कि डिप्थीरिया के बाद सदैव मौत होती है।"

फिर भी, क्या यह सचमुच मिल के कारण-संबंधी मत की आलोचना है ? मिल ने इस बात से इन्कार न किया होता कि डिप्थीरिया से कभी-कभी मौत होती है और कभी-कभी नही होती। वह होती है या नही होती, यह बात कई बातों पर निर्भर करती है, जैसे संक्रमण की मात्रा और संक्रमण से पहले रोगी का स्वास्थ्य। परंतु मिल ने यह भी न कहा होता कि डिप्थीरिया मौत का कारण है। बहुत-सी बातें कारण मे शामिल है, और यदि एक रोगी की मौत होती है जबकि दूसरे की नही होती तो इसकी वजह यह है कि कारणात्मक उपाधियाँ (इस तथ्य के अतिरिक्त कि उसे रोग का संक्रमण हो गया था) भिन्न थीं। मिल कहता है कि यदि सब कारणात्मक उपाधियाँ वही हो तो कार्य सदा ही होगा। केवल यही वह अर्थ है जिसमें "यदि क ख का कारण है तो क के अनंतर ख सदैव होता है" कहना सत्य होता है। दैनिक जीवन में (जैसाकि हम पहले देख चुके हैं) हम प्रायः ऐसी बात करते हैं जैसे कि

असख्य प्रश्न उन बातो को लेकर पूछे जा सकते है जो मानक से विचलन की अवस्थाएँ किसी तरह नही है वल्कि इसके बजाय बिल्कुल सामान्य घटनाएँ है और प्राय: किसी भी अपवाद के विना होती रहती है ।

इस आक्षेप का एक उत्तर यह सभव है : प्रश्न को सदैव इस तरह रखा जा सकता है कि प्रश्नाधीन घटना एक अन्य मानक से विचलन का रूप ले ले । मान लीजिए कि एक बालक जिसने डबल रोटी को फूलते देखा है, पूछता है कि आटा फैलता क्यो है । उत्तर यह है कि उसमे खमीर होता है । यह कारण सामान्य है, असामान्य नही ; परतु प्रश्न को निश्चय ही यह रूप दिया जा सकता है कि "इस चीज के आकार मे फैलने का क्या कारण है जबकि अन्य चीजे नही फैलती ?" और इसका उत्तर होगा "क्योकि इसमे खमीर है जबकि अन्य चीजो मे नही है ।" यदि खमीर का न होना मानक है तो किसी ऐसी चीज के बारे मे उत्तर देना जिसमे खमीर हो एक ऐसा उत्तर है जिसमे इस मानक से विचलन शामिल है । अथवा यदि वह बालक जिसने गेद के पडने से खिडकी के टूटने की घटना देखी है, पूछता है कि इसका कारण क्या है (गेद के जोर से खिडकी का टूटना एक बहुत ही आम घटना है), तो हम उसके प्रश्न को इस रूप मे ले सकते है कि "गेंद खिडकी के पार कैसे निकल गई जबकि वह ईंटो की एक दीवार और अधिकतर अन्य ठोस चीजो के पार नही निकलती ?" और तब हम इसका उत्तर यह कहकर दे सकते है कि खिडकी शीशे की है और शीशा भगुर होता है जबकि अधिकतर अन्य ठोस चीजे भगुर नही होती । इस चीज के होने या इस प्रकार की घटना तथा अन्यो मे वैषम्य दिखाने के लिए हमे सदैव कोई आधार मिल सकता है ।

परतु प्रश्न को सदैव इस प्रकार दूसरे शब्दो मे रखने की प्रक्रिया से कि वह इस प्रकार की घटना और अन्य घटनाओ के बीच जो अतर है उसका कारण वताने की प्रार्थना का रूप ले ले, हमे लाभ ही क्या हुआ ? इससे सिद्धात तो बच जाता है, पर केवल उसका इस तरह विस्तार करके ही कि जिससे उसकी वह स्वकीय विशेषता नष्ट हो जाती है जो प्रारभ मे उसमे थी । इस सिद्धात के समर्थन मे पहले जो उदाहरण दिए गए थे वे एक मानक से विचलन के सच्चे उदाहरण थे , परतु जो उदाहरण अभी-अभी दिए गए है उन्हे केवल अत्यधित प्रयत्न और कष्ट से ही किसी-मानक-से-विचलन के उदाहरणो मे बदला जा सकता है, क्योकि वे सब किसी भी साधारण अर्थ मे सामान्य प्रक्रिया

अथवा सामान्य व्यापार के ही उदाहरण है। और यह तथ्य फिर भी बना रहता है कि हम इनके भी कारण पूछ सकते है। यह कहना कि ये सब एक मानक से विचलन के अर्थात् अन्य चीजो से विषमता रखने के उदाहरण है, एक सिद्धात को तो बचा देता है पर इन प्रश्नो के उद्देश्य को समाप्त कर देता है। जब हम यह पूछते है कि बर्फ के पिघलने या लोहे पर जग लगने का क्या कारण है, तब हम एक बिल्कुल ही सामान्य प्रक्रिया, "प्रकृति के काम करने के एक सामान्य तरीके" के बारे मे प्रश्न पूछ रहे होते है और इस तथा अन्य चीजो के बीच रहनेवाला कोई वैषम्य उसमे विवक्षित नही होता—हालांकि ऐसे वैषम्य सदा ही ढूंढ निकाले जा सकते है।

४. इन सिद्धातो की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि ये कारणता को सतत सयोजन मानने वाले किसी भी अपरिष्कृत सिद्धात का बिल्कुल ही अपर्याप्त होना सिद्ध कर देते है। दैनिक जीवन मे "क ख का कारण है" इस बात का समानार्थक नही है कि "क के अनतर सदैव ख होता है"। हम यह कह सकते है और यह सत्य भी होगा कि "आजकल डिप्थीरिया मौत का कारण बहुत ही कम होता है", परतु यह कथन इस कथन से सगति नही रखता कि "जब हम यह कहते है कि डिप्थीरिया मौत का कारण है तब हमारा मतलब यह होता है कि डिप्थीरिया के बाद सदैव मौत होती है।"

फिर भी, क्या यह सचमुच मिल के कारण-सबधी मत की आलोचना है? मिल ने इस बात से इन्कार न किया होता कि डिप्थीरिया से कभी-कभी मौत होती है और कभी-कभी नहीं होती। वह होती है या नही होती, यह बात कई बातो पर निर्भर करती है, जैसे सक्रमण की मात्रा और सक्रमण से पहले रोगी का स्वास्थ्य। परतु मिल ने यह भी न कहा होता कि डिप्थीरिया मौत का कारण है। बहुत-सी बातें कारण मे शामिल हैं, और यदि एक रोगी की मौत होती है जबकि दूसरे की नही होती तो इसकी वजह यह है कि कारणात्मक उपाधियां (इस तथ्य के अतिरिक्त कि उसे रोग का सक्रमण हो गया था) भिन्न थीं। मिल कहता है कि यदि सब कारणात्मक उपाधियां वही हों तो कार्य सदा ही होगा। केवल यही वह अर्थ है जिसमे "यदि क ख का कारण है तो क के अनतर ख सदैव होता है" कहना सत्य होता है। दैनिक जीवन मे (जैसाकि हम पहले देख चुके हैं) हम प्रायः ऐसे बात करते हैं जैसे कि

कारणात्मक उपाधियों में से एक पूरा ही कारण हो ; परंतु यदि हम ऐसा करते हैं तो यह कहना सत्य नहीं होगा कि "यदि यह कारक उपस्थित है तो कार्य सदैव होगा", क्योंकि एकरूपता (कारण के वही होने पर कार्य सदैव वही होगा) केवल कार्य तथा सब कारणात्मक उपाधियों के संबंध में ही होती है।

वास्तव में यह प्रश्न कि "क्या प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है ?"—जो कि अगले परिच्छेद का विषय है—केवल कारणता के मिल के जैसे मत के प्रसंग में ही उठता है। (१) यदि कारण सदैव एक मानक से विचलन के रूप में होता है तो प्रत्येक घटना का कारण होना जरूरी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक घटना ऐसी नहीं हो सकती कि वह किसी मानक से विचलन हो ही। यदि प्रत्येक घटना एक विचलन हो तो मानक होगा ही क्या ? (२) यदि हम पूछें कि "क्या प्रत्येक घटना जो घटती है, हेरफेर वाली किसी ऐसी तकनीक से युक्त होती है जिससे वह पैदा की जाए ?" तो उत्तर स्पष्टतः "नहीं" होगा, बशर्ते "हेरफेर की तकनीक" का हम इस तरह अर्थ-विस्तार न कर दें कि इसमें उनसे कहीं अधिक बातें शामिल हो जाएँ जिन्हें इसमें शामिल करना मूल उद्देश्य था। सूर्य-ग्रहण, सुपर्नोवा के विस्फोट, विषुव-अयन, अथवा वस्तुतः किसी भी अन्य खगोलीय घटना में तथा अनेक पार्थिव घटनाओं में कोई भी हेरफेर वाली तकनीक शामिल नहीं होती।

१६. कारण-सिद्धांत

क्या जो भी चीज होती है उसका कोई कारण होता है ?

मान लीजिए कि "कारण" का अर्थ पर्याप्त उपाधि ही है। तो हमारे प्रश्न का यह रूप होगा : क्या विश्व की प्रत्येक घटना उपाधियों के एक समुच्चय से इस प्रकार जुड़ी होती है कि यदि उपाधियाँ, क, सब उपस्थित हों तो घटना, ख, नियत रूप से घटती है ? उपाधियों का समुच्चय इतना अधिक जटिल हो सकता है और उसे खोज पाना इतना अधिक कठिन हो सकता है कि शायद हम सबको न खोज पाएँ, पर प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है : क्या प्रत्येक घटना के लिए उपाधियों का ऐसा समुच्चय होता है ? इस प्रश्न का "हाँ" में उत्तर देना उस सिद्धांत को मानना है जिसे सार्वभौम कारणता का सिद्धांत, अथवा संक्षेप में, कारण-सिद्धांत कहते हैं।

जब हम इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करते है तब ठीक शुरू मे ही हमारे सामने एक कठिनाई आ जाती है। "जब भी समुच्चय क की सब उपाधियाँ उपस्थित होती है, तब ख होता है।" परतु ख एक विशेष घटना है और विशेष घटनाएँ कभी दुबारा नही होती। उनकी तरह की घटनाएँ हो सकती हे, परतु विशेष घटना ख एक बार हो जाने के बाद सदा के लिए समाप्त हो जाती है। तो फिर ख के दुबारा होने की बात का हम क्या मतलब समझे ?

यदि ख दूसरी बार नही होती, तो उसकी तरह की कोई घटना दुबारा हो सकती है। और बिल्कुल यही बात क पर भी लागू होती है। कारण-सिद्धात को प्राय. इस रूप मे व्यक्त किया जाता है (अभिव्यक्तियो मे कुछ-कुछ अतर होता है) : "विश्व मे घटनाओ के प्रत्येक वर्ग ख के लिए उपाधियो का एक वर्ग क ऐसा होता है कि जब भी क वर्ग के प्रत्येक सदस्य का कोई दृष्टात उपस्थित होता है तब ख का भी एक दृष्टात होता है।" उदाहरणार्थ: जब भी उपाधियो के प्रथम वर्ग (दाह्य सामग्री) का एक दृष्टात, + द्वितीय वर्ग (तापमान) का एक दृष्टात, + तृतीय वर्ग (आक्सीजन) का एक दृष्टात उपस्थित होता है और इन सबके मेल से समुच्चय क बनता है, तब वर्ग ख (जलना) का एक दृष्टात घटित होता है।

हम प्रश्न को अब इस रूप मे दोहराते हैं : क्या विश्व मे घटनेवाली प्रत्येक घटना (भूत, वर्तमान और भविष्य) के बारे मे यह कहना सत्य है कि वह घटनाओ के एक ऐसे वर्ग की सदस्य है जो उपाधियो के एक वर्ग (या वर्गों) के साथ इस प्रकार जुडा हुआ होता है कि जब भी उपाधियो के इस वर्ग (या इन वर्गों) का एक सदस्य उपस्थित होता है तब सदैव घटनाओ के उस वर्ग का एक सदस्य भी उपस्थित होता है ? (प्रश्न अब कही अधिक जटिल हो गया है, परतु जटिलता प्रायः वह कीमत होती है जो हमे यथार्थता के लिए चुकानी पडती है।) यदि उत्तर "हाँ" है तो कारण-सिद्धात सत्य है ; यदि उत्तर "नही" है तो वह मिथ्या है।

१. इंद्रियानुभविक व्याख्या— विश्व मे इस समय घटनेवाली घटनाओ के एक अत्यत सूक्ष्म अंश को ही हम देख सकते हैं, और यदि हम उन सभी को देख सकते तो भी अतीत घटनाओ का एक अनत विस्तार है जो स्मरणातीत है और भावी घटनाओ का भी एक अनत विस्तार है जो अभी घटी नही हैं।

वास्तव मे, ऐसा लगेगा कि जितने आश्वस्त हम किसी भी साधारण इद्रियानुभविक नियम, जैसे भौतिकी और रसायन के नियमो, के बारे मे होते हैं उसकी तुलना मे बहुत ही कम आश्वस्त हम इस सिद्धात के बारे मे है, क्योंकि यह उनकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। जो आदमी इस सिद्धात को स्वीकार करता है वह और जो उसे अस्वीकार करता है वह दोनो ही जितना इद्रियगम्य है उससे बहुत आगे निकल जाते है।

असल मे यह प्रतीत होगा कि हम अधिक-से-अधिक यही कह सकते है कि ज्यो-ज्यो हम प्रकृति की जाच करते जाते है त्यो-त्यो हमे उसमें कुछ एकरूपताएँ मिलती जाती है अर्थात् घटनाओ के कुछ वर्ग ऐसे मिलते जाते है जो उपाधियो के कुछ वर्गों से एकरूप सबध रखते हैं, और कि जितनी अधिक सतर्कता से हम जाँच करते है उतनी ही अधिक सख्या मे हमे ऐसी एकरूपताएँ मिलती जाती है। अनेक खोज-कार्य ऐसे होते है जिन्हे करने के बाद कोई भी एकरूपताएँ ज्ञात नही होती और जिनमे उन्हे पाने के भरपूर प्रयत्न भी निष्फल रहे है। कभी-कभी हम ऐसी उपाधियो के कामचलाऊ विवरण दे देते हें—जैसे उन उपाधियो का जिनकी उपस्थिति मे शरीर के अदर कैन्सर हो जाता है और कभी कारणात्मक उपाधियो को पाने की हमारी आशाएँ अनुभव के द्वारा सपुष्ट होती हैं और कभी नही होती। जब वे नही सपुष्ट होती तब हम दुबारा कोशिश करते है और देखते है कि परिस्थिति मे अन्य कारको को शामिल करके या पुराने कारको के बारे मे हमारे जो कथन है उन्हे अधिक यथार्थ बनाने के लिए उनमे विशेषण जोडकर हम ऐसे कथन प्राप्त कर सकते है या नही जो उन घटनाओ और उनकी उपाधियो के मध्य सचमुच अपरिवर्ती सबध का होना व्यक्त करें। कभी-कभी हम इसमे सफल होते हैं और कभी-कभी नही होते।

जो भी हो, घटनाओ और उनकी उपाधियो के बीच सचमुच के अपरिवर्ती सबधो की खोज सबसे कठिन होती है। घटनाओ के एक वर्ग पर विचार कीजिए जो कि बिल्कुल जाना-पहचाना है : पेडो का उखडकर गिर जाना। क्या यह सत्य है कि जब भी उपाधियो के एक वर्ग क का कोई सदस्य उपस्थित होता है (हवा का पेड के विपरीत चलना) तब घटनाओ के एक वर्ग ख का एक सदस्य (पेड का गिर जाना) सदैव होता है? नही, हमे अनत विशेषण जोडने होगे हवा को काफी अधिक तेज चलना चाहिए (और कितना तेज?);

पेड को कमजोर होना चाहिए (कम-से-कम हवा की अपेक्षा कमजोर—और कमजोर की क्या परिभाषा है ?), इत्यादि । गिरने की घटना होती है या नही, यह कारको की एक बडी सख्या पर निर्भर करता है, जैसे हवा का वेग और उसकी दिशा, पेड की आकृति, अन्य पेडो तथा इमारतो के बीच उसकी स्थिति, तथा आसपास के भूभाग से उसका सबध । वास्तव मे उपाधियो का, *उनकी सख्या कितनी ही बडी क्यो न हो, कोई भी समुच्चय ऐसा बताना* कठिन होगा जिसकी उपस्थिति मे पेड के गिरने की घटनाओ के वर्ग का एक सदस्य सदैव उपस्थित होता हो ।

यदि पेड के प्रसग मे उपाधियो को बताना कठिन है तो अधिक उलझे हुए प्रसगो मे यह कितना अधिक कठिन होता होगा ? उदाहरणार्थ, वे उपाधियाँ क्या हैं जिनकी उपस्थिति मे बेटहोवेन की इरोयका सिम्फनी को सुनने के बाद सदैव एक विशेष प्रकार की अनुभूति पैदा होती है ? यदि हम शब्दो के द्वारा उस प्रकार की अनुभूति को, जो हमे अभिप्रेत है, सही-सही बताने मे सफल हो भी जाएँ तो भी यह हमारी कठिनाइयो की केवल शुरुआत ही होगी, क्योकि जिन उपाधियो की उपस्थिति मे ऐसी अनुभूति सदैव होती है उनका कौन-सा विवरण देना हमारे लिए सभव हो सकेगा ? साधारणत हम उस सिम्फनी को पसद करेंगे, पर शायद अन्य बातो मे ध्यान होने से या दिन मे पहले ही कई बार उसे सुन चुके होने से इस समय हम उसे सुनने की मन स्थिति मे न हो , और जिन्होने उसे पहले कभी नही सुना उनके ऊपर उसका उनकी अपेक्षा बिल्कुल भिन्न प्रभाव पडता है जो पहले सुन चुके हैं । उसे सुनकर हमे जो अनुभूति होती है वह कारको के इतने बडे घबरा देनेवाले समूह पर निर्भर करती है कि, जिससे लगता है, घटनाओ के इस वर्ग का हम कभी उपाधियो के किसी परिमित समुच्चय से सबध जोडने मे सफल नही हो पाएँगे । (किसी दिन शायद हम इस प्रकार की अनुभूति का मस्तिष्क की किसी निश्चित प्रकार की तन्त्रिकीय अवस्था से सबध जोडने मे सफल हो जाएँ, परतु फिर वही प्रश्न सबध के बारे मे पूछा जा सकेगा जो इस प्रकार की तन्त्रिकीय अवस्था और उन उपाधियो के मध्य है जिनकी उपस्थिति मे वह अवस्था सदैव होती है ।)

तो फिर क्या ऐसा नही लगता कि कारण-सिद्धात के सत्य होने की अपेक्षा मिथ्या होने की अधिक सभावना है ? यदि घटनाओ के प्रत्येक वर्ग के लिए

उपाधियों का ऐसा समुच्चय ढूंढते-ढूंढते हम हताश हो गए हैं, तो क्या हम यह आशंका न करें कि ऐसा समुच्चय है ही नही ?

पर इस सुझाव का बहुत-से लोग फौरन ही प्रतिवाद करेंगे : "इस बात से कि इन उपाधियो को पाना बहुत ही कठिन है, यह मतलब नही निकलता कि कोई उपाधियां है ही नही। उनमे से कुछ को पाने का प्रयास हम कई पीढियो से करते आ रहे थे और अत मे हमे सफलता मिल ही गई ; कुछ हम कालातर मे अवश्य पा जाएँगे ; कुछ हम कभी नही पा सकेंगे। परंतु यदि घटनाओ के प्रत्येक वर्ग से संबंधित ऐसी उपाधियो को हम कभी न भी पा सकें तो भी अस्तित्व उनका अवश्य है। प्रकृति पूर्णतः एकरूप है, भले ही उसकी एकरूपता विस्मयकारी रूप से जटिल हो। विश्व मे प्रत्येक घटना उपाधियो के एक समुच्चय से उस तरह जुड़ी हुई है जिस तरह यह सिद्धात बताता है। यह बात केवल हमारे अज्ञान की ही सूचक है कि हम शायद उसे कभी न पा सके।"

ऐसे कथन पर हम क्या टिप्पणी करें ? हमारा स्वयं भी इससे सहमत होने का मन करेगा : और फिर भी इंद्रियानुभविक आधार पर इसका समर्थन करने में हमें बहुत ही परेशानी होगी। आखिर हमारे लिए यह जानना कैसे संभव होगा कि यह सत्य है ? हमारे या कम-से-कम कई लोगो के इस बात में पक्का विश्वास करने का क्या औचित्य है कि यह सदैव सच होता है ?

इस समूचे प्रसग मे एक और विचित्र बात है। किसी भी इद्रियानुभविक सामान्यीकरण का इद्रियानुभविक तथ्यो के द्वारा खडन सभव होता है। हजारो सामान्यीकरण किए गए और फिर छोड़ दिए गए, क्योकि वे इस कसौटी पर सही उतरने मे असफल रहे। एक सफेद कौवे का मिलना इस सामान्यीकरण को समाप्त कर देगा कि सब कौवे काले होते हैं। (जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, इसे हम शायद नियम नही कहेंगे।) परतु इस सामान्यीकरण को कि प्रत्येक घटना उपाधियो के एक समुच्चय के साथ कारण-सिद्धात के बताए हुए तरीके से जुडी होती है, कौन-सी बात समाप्त करेगी या कर सकेगी ? जितने अधिक कारण हम पाएँगे उतना ही अधिक हम कहेंगे कि हमने कारण-सिद्धात की सपुष्टि कर ली है ; परतु यदि कुछ प्रसगो मे हम कोई कारण नहीं पाते तो क्या हम यह कहेंगे कि "इन घटनाओं का कोई कारण नही है ?" नहीं, हम कहेंगे कि "हमे कोई कारण नहीं मिला है" अथवा "कोई कारण है तो अवश्य और किसी दिन उसे हम ढूंढ भी लेंगे, पर यदि न भी ढूंढ सकें तो

भी यह हमने सिद्ध नही किया है कि कोई कारण है ही नही, बल्कि केवल यह कि हमारी ढूंढने की क्षमताएँ सीमित है।" दूसरे शब्दो मे, कारण-सिद्धात कदापि अप्रमाणित नही किया जा सकता। अधिक कारणो की खोज को इसकी सपुष्टि करनेवाला माना जाता है, परतु कारणो को न पा सकने से इसमे बिल्कुल भी बाधा नही पडती। यह किस प्रकार का सिद्धात है जिसे ऐद्रिय प्रेक्षणो से प्रमाणित किया जा सकता है पर उनसे अप्रमाणित नही किया जा सकता ?

कोई शायद यह प्रतिवाद करेगा "पर अनुभव से यह अप्रमाणित हो सकता है। यदि कारणो का मिलना इस सिद्धात की सपुष्टि कर सकता है तो कारणो का न मिलना उसकी असपुष्टि करेगा। यह दिखाने के लिए कि यह सिद्धात शायद असत्य है, हमे काफी सावधानी के साथ छानबीन करनी पडेगी, क्योकि हम हमेशा यह कह सकते है कि ढूंढने मे हमारी असफलता उनके अभाव के बजाय उनके अत्यधिक जटिल होने का परिणाम है। फिर भी, एक ऐसी सीमा आ जाएगी जब कारणो की खोज मे असफलता इस सिद्धात की सत्यता के विरुद्ध जाएगी। उदाहरणार्थ : अभी तो हम यह विश्वास करते है कि कुछ निश्चित उपाधियाँ ऐसी है जिनकी उपस्थिति मे यह रोशनी का बल्ब जलता रहेगा। हम बटन को एक ओर दबाते है और वह जल उठता है। हम उसे दूसरी ओर दबाते है और वह बुझ जाता है। निश्चय ही, ऐसा निरपवाद रूप से नही होता। कभी कभी हम बटन को पहली ओर दबाते है और रोशनी नही होती, पर तब हम पाते है कि बल्ब ही समाप्त हो गया है। तब हम उसकी जगह दूसरा बल्ब लगाते है और वह जल उठता है। *अथवा पहली ओर बटन को दबाने पर बल्ब के ठीक होने पर भी वह* जलता नही पर तब दोष तार मे कही है। इत्यादि। उपाधियो का एक सीमित समुच्चय ऐसा है जिसपर बल्ब का जलना निर्भर करता है, और हम पता लगा सकते हैं कि वे उपाधियाँ क्या है। बल्ब के बुझ जाने के बाद भी हम रोशनी को दुबारा चालू कर सकते हैं। परतु अब मान लीजिए कि रोशनी का जलना और बुझना मनमाने ढग से चलता रहता है और किसी भी ऐसी उपाधि से जिसे मालूम किया जा सकता हो, उसका कोई सबध नही है। कभी बल्ब जल उठता है और कभी बुझ जाता है, और हमे किसी ऐसी उपाधि का पता नही चलता जिसपर यह कोई भी बात निर्भर हो। किसी भी ओर हम बटन

को दबाएँ, फर्क कोई नही पडता : उसका बल्ब के जलने या बुझने से कोई सरोकार नही है। इससे भी कोई फर्क नही पडता कि सर्किट पूरा है या नही : कभी जब वह पूरा होता है तो रोशनी होती है और कभी नही होती, और जब सर्किट टूट जाता है तब भी ऐसा ही होता है—कभी रोशनी होती है और कभी नही होती। हम हजारो अन्य चीजो को परखते है, जैसे दिन का समय, प्रकाश की मात्रा, कमरे का तापमान, हवा मे नमी की मात्रा। पर उनमे से कोई भी अतर नही पैदा करती : इन उपाधियो मे से किसी की भी परवाह न करते हुए रोशनी जलती-बुझती रहती है। निश्चय ही उसका जलना और बुझना किसी ऐसी उपाधि या उपाधियो के ऐसे समुच्चय पर निर्भर हो सकता है जिसके बारे मे अभी तक हमने सोचा ही न हो। परतु यदि न केवल बल्ब के साथ बल्कि अनेक अन्य चीजो के साथ भी ऐसा होना जारी रहे तो हमे कारण-सिद्धात मे सदेह होने लगेगा। हम इस बात की सत्यता का प्रतिवाद करने लगेगे कि विश्व की प्रत्येक घटना का होना उपाधियो के एक निश्चित समुच्चय के ऊपर निर्भर होता है।"

जो आदमी इस प्रकार तर्क करता है वह कारण-सिद्धात की इद्रियानुभविक व्याख्या को मान रहा होगा : कुछ इद्रियानुभविक तथ्य इसके पक्ष मे गिने जाएँगे और कुछ इसके विपक्ष मे। परतु जैसे सफेद कौवो के प्रसग मे होता है, जिनका होना इस सामान्यीकरण का खडन करनेवाला होगा कि सब कौवे काले होते है, वैसी बात प्रस्तुत प्रसग मे नही होगी . हमे यह विश्वास नही करना होगा कि कारणो को ढूंढने मे हमारी असफलता इस सिद्धात के विरुद्ध एक प्रमाण है। हम इसकी एक प्रागनुभविक व्याख्या दे सकते ह।

२ **प्रागनुभविक व्याख्या**—कई लोगो ने यह माना है कि कारण-सिद्धात विरोधी इद्रियानुभविक प्रमाणो से खडित नही हो सकता, बल्कि वह एक अनिवार्य सत्य है। जब इस सिद्धात का कथन किया जाता है तब शुरू मे वह किसी भी साधारण प्राकृतिक नियम की तरह लगता है, परतु जब उसपर विचार शुरू होता है तब यह समझ मे आने लगता है कि वह इद्रियानुभविक नियमो से बिल्कुल भिन्न तरीके से काम करता है, क्योंकि इद्रियानुभविक प्रमाणो से उसका खडन नही होता। अब हम देखते है कि इस मत का कैसे विस्तार किया जा सकता है।

यहाँ तक हम उपाधियो के वर्गों और घटनाओ के वर्गों की बात करते

रहे। इन वर्गों के अदर की उपाधियो और घटनाओ का हूबहू समान होना जरूरी नही है। केवल यह जरूरी है कि उनमे इतनी काफी समानता हो कि उन्हे एकही वर्ग मे रखा जा सके। पर अब हम अधिक की मांग करते हुए समरूप उपाधियो और समरूप घटनाओ की बात करेंगे।

दो चीजें, उपाधियाँ तथा प्रक्रियाएँ या घटनाएँ समरूप (अभिन्न) तब होती है जब वे हूबहू समान होती है—दूसरे शब्दो मे, जब उनके सभी गुणधर्म एक होते है। सभी गुणधर्मों का मतलब है वे जिनकी उनके एक न होकर दो घ न एँ होने से सगति हो। दो घटनाएँ जो एक ही समय और एक ही स्थान मे घटे, एक ही घटना होगी, न कि दो। यदि वे एक ही समय मे हो पर दो भिन्न स्थानो मे हो, तो भी वे दो घटनाएँ होगी। अथवा एक ही स्थान मे होने के बावजूद वे दो हो सकती है, बशर्ते वे दो भिन्न समयो मे हो। अतः दो घटनाओ को हमे अभिन्न तब कहना पडेगा जब उनके जो देशिक-कालिक गुणधर्म है उनके अलावा सब गुणधर्म वही हो। अब हम मान लेते है कि दो घटनाएं इस अर्थ मे अभिन्न है। क्या दो अभिन्न घटनाओ की दो भिन्न कारणात्मक उपाधियाँ हो सकती है? कारण-सिद्धात की प्रागनुभविक व्याख्या को माननेवाला कहेगा कि नही ; ऐसा होना सभव नही है। यदि घटनाओ मे कोई भिन्नता है (यदि वे अभिन्न नही हैं) तो उस भिन्नता के स्पष्टीकरण के लिए उनकी उपाधियो मे कोई भिन्नता माननी होगी। मान लीजिए कि दो अभिन्न उपाधियो को हम क$_1$ और क$_1$ कहते है, अभिन्न घटनाओ को ख$_1$ और ख$_1$, भिन्न उपाधियो को क$_1$ और क$_2$ तथा भिन्न घटनाओ को ख$_1$ और ख$_2$ कहते हैं। तब ये चार चीजें सभव हैं.

१.	क$_1$	ख$_1$	२	क$_1$	ख$_1$
	क$_1$	ख$_1$		क$_2$	ख$_2$
३.	क$_1$	ख$_1$	४.	क$_1$	ख$_1$
	क$_2$	ख$_1$		क$_1$	ख$_2$

पहली मे कोई कठिनाई नही है. अभिन्न उपाधियो से अभिन्न घटनाओ की प्राप्ति। दूसरी मे भी कोई कठिनाई नही है. भिन्न उपाधियो से भिन्न घटनाओ की प्राप्ति। शायद तीसरी को भी मान लिया जाएगा. भिन्न उपाधियो से अभिन्न घटनाओ की प्राप्ति ; यह केवल कारणो की अनेकता की बात होगी। परंतु चौथी नही मानी जाएगी. अभिन्न उपाधियो से भिन्न घटनाओ की प्राप्ति। यदि परिणाम मे कोई अतर है तो उस परिणाम को

पैदा करनेवाली उपाधियो मे सदैव (ऐसा कहा जाएगा) कोई अंतर होता है, चाहे हमे कभी उसका पता चले या नही ।

व्यवहार मे निश्चय ही हमे कभी अभिन्न उपाधियाँ या अभिन्न घटनाएँ नही मिलती (उनमे सदैव किसी-न-किसी बात मे अतर होता है) । फिर भी, कारण-सिद्धात के उनमे लागू होने की बात हम उतने ही दृढ विश्वास के साथ मानते है जितने तब जब हमने इस सिद्धात को कुछ ढीले तरीके से "यदि उपाधियाँ सदृश हो तो घटनाएँ सदृश होती है," इस रूप मे रखा होता, जिसकी सपुष्टि की जा सकती है । ऐसा क्यो है ? इसलिए नही कि हमने अभिन्न घटनाएँ देखी हैं या अभिन्न उपाधियो से उन्हे पैदा होते देखा है । हमने केवल ऐसी ही उपाधियाँ और घटनाएँ देखी है जो विभिन्न मात्राओ मे सादृश्य रखती है । फिर भी हमे निश्चय है कि यह सत्य है : हम कहते है कि यदि उपाधियाँ हूबहू वही होती तो घटनाएँ कैसे भिन्न निकलती ?

मान लीजिए कि हमने दो बार एक प्रयोग किया और परिणामो को बहुत भिन्न पाया, हालाँकि उपाधियाँ हमारी अच्छी-से-अच्छी जानकारी के अनुसार हूबहू वही थी । हम क्या कहेगे ? क्या हम कारण-सिद्धात को, उसके परिनिश्चित रूप मे भी (अभिन्न उपाधियाँ, अभिन्न घटनाएँ), यह कहकर त्याग देगे कि हमे एक अपवाद मिल गया है और इसलिए यह सामान्यीकरण नहा चला ? इस बात की पूरी सभावना है कि ऐसा हम नही करेंगे । हमे सदैव इससे बचने का कोई तरीका मिल जाएगा । यहाँ विशेष रूप से हम क्या कहेगे ?

हम कहेगे कि हमने सब सबद्ध उपाधियाँ नही देखी है । "यदि हम उन सबको देख पाते (या देख चुके होते), तो हमे क मे कोई अंतर मिल गया होता , यदि दोनो प्रसगो मे सब ज्ञात कारणात्मक घटक वही हो, तो अतर अन्य घटको के होने से होना चाहिए जिनपर हमने पहले विचार नही किया है और जो दोनो प्रसगो मे अलग-अलग है ।"

इस तरह की चीज अवश्य ही बहुधा होती है । यदि आपने सोचा हो कि दो घडियाँ जो एक ही कमरे मे रखी है, एक ही वायुमडलीय स्थितियो मे है, एक ही कपनी की बनी हुई है और एक ही रचना वाली है, हर बात मे अभिन्न है और बाद मे यह हुआ कि एक तो ठीक समय देती है पर दूसरी अधिक समय बताने लगी, तो आप यह अनुमान करगे कि कारणात्मक उपाधियो

मे कोई अतर है और तब उसे आपने शायद उनकी रचना मे कही जहाँ पहले वह आपको नही मिला था, ढूंढ भी लिया। इस तरह का कुछ अनुभव हो जाने के बाद अधिक प्रमाण के बिना भी हम कहते हैं कि यदि ख मे कोई अतर है तो क मे अवश्य ही कोई अतर रहा होगा। इस तथ्य मात्र को कि ख मे कोई अतर है हम क मे कोई अतर होने का प्रमाण मान लेते है।

इस सिद्धान का कोई अपवाद मानने की भी हम जरूरत नही समझते। यदि दो कार्य बिल्कुल भिन्न निकलते हैं और उनकी उपाधियो मे हम कोई अतर नही मिलता और बार बार देखने पर तथा और अधिक ढूंढने पर भी उपाधियो मे हम कोई अतर नही पाते, तो क्या हम कारण-सिद्धात को त्याग देगे और यह निष्कर्ष निकालेगे कि आखिर उपाधियो के अभिन्न होने के बावजूद कभी-कभी घटनाएँ भिन्न हो सकती है? शायद नही। हम फिर भी यही कहते रहेगे कि 'दोनो कार्यो मे एक अतर था, कोई-न कोई चीज अवश्य ऐसी रही होगी जिसके कारण वह अतर आया', हालाकि लाखो वर्षो तक खोजते रहने पर भी ऐसा कोई अतर ज्ञात न हो।

इसी प्रकार, यद्यपि अभिन्न उपाधियाँ हम कभी नही पाते, तथापि क्या हम यह विश्वास नही करते कि यदि उपाधियो मे अभिन्नता प्राप्त हो सके तो कार्यो मे भी अभिन्नता आ जाएगी? एक लडका एक गेंद को दीवार पर मारकर पकडता है, फिर मारता है और पकडता है। गेंद कभी दो बार दीवार के उसी स्थान पर नही पडती और न वह किन्ही भी दो अवसरो पर बिल्कुल एक तरीके से वापस उसके हाथ मे आती है। प्रत्येक बार उसकी दिशा, उसकी रफ्तार और उसकी दूरी थोडी भिन्न होती है। परतु क्या हम यह विश्वास नही करते कि यदि किन्ही दो अवसरो पर उपाधियाँ बिल्कुल एक (अभिन्न) बनाई जा सकती हो—रफ्तार, दिशा किस बिंदु से वह फेंकी जाती है, इत्यादि—तो वह दीवार के ठीक उसी स्थल पर पडेगी और ठीक उसी तरीके से वापस उसके हाथ म आएगी? यदि जिस तरह से आपने कल रात पासे फके थे, ठीक उसी तरह से आज रात भी आप फेंक सकें और प्रत्येक पासे की स्थिति बिल्कुल वही रहे, तो निश्चय ही वही कल वाले सात आज भी आ जाएगे। यदि इस बार कुछ और आता है, तो क्या इस वजह से नही कि उपाधियाँ भिन्न हो गई हैं? उपाधियाँ इतनी जटिल होती है कि लगातार दो अवसरो पर

शायद हम उसे कभी नहीं खोज पाएंगे ; परंतु फिर भी हमें पक्का विश्वास रहता है कि, पता कभी चल पाए या नही, कोई अंतर अवश्य है ; अन्यथा कार्यों में कोई भिन्नता न हुई होती।

किस प्रकार का प्रागनुभविक ?—यदि हम मानते है कि कारण-सिद्धांत प्रागनुभविक है तो अगला सवाल यह पैदा होता है : वह किस प्रकार का प्रागनुभविक है ?

अ. यदि हम यह दिखा सकते कि कारण सिद्धांत विश्लेषी है, तो हमें स्वयं को यह मानने के लिए तैयार करने में कोई कठिनाई न हुई होती कि हम उसे प्रागनुभविक रूप से सत्य जान सकते हैं। परन्तु यह बात बिल्कुल साफ लगती है कि वह संश्लेषी है। कारण का संप्रत्यय घटना के संप्रत्यय में किसी भी तरह शामिल नहीं है। घटना कोई बात मात्र है जो रही है : कोई दौड़ रहा है, बदूक चल रही है इत्यादि। उसमें इस बात का कोई विचार शामिल नहीं होता कि उसका क्या कारण है या वह किससे पैदा हुई। यदि विश्व बिल्कुल ही व्यवस्थाहीन होता, जिसमें किसी भी एकरूपता का कभी पता न चला होता, तो घटनाएँ फिर भी होतीं, परंतु कारणता का संप्रत्यय पैदा तक न हुआ होता। यदि प्रतिज्ञप्ति "प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है" होती, तो वह अवश्य ही विश्लेषी होती, क्योकि "कार्य" और "कारण" परस्पर सापेक्ष पद है : और घटना को तब तक कार्य नही कहा जाएगा जब तक उसका कोई कारण न हो। परंतु कारण-सिद्धांत यह कहता है कि प्रत्येक घटना एक घटना मात्र होने के अतिरिक्त किसी का कार्य भी होती है—दूसरे शब्दों में, उसका कोई कारण होता है। और यह कथन स्पष्टतः संश्लेषी है।

ब. यदि वह संश्लेषी है और प्रागनुभविक भी है, तो शायद यहाँ आखिरकार हमें संश्लेषी प्रागनुभविक सत्य का एक उदाहरण मिल ही गया। इस मत के अनुसार, विशेष कारणों और कार्यों का हमारा ज्ञान (जैसे, यह कि हवा के झोंकों से जुकाम हो जाता है) प्रागनुभविक ज्ञान नही है। वह इंद्रियानुभविक होता है। परंतु यह सामान्य प्रतिज्ञप्ति कि होनेवाली प्रत्येक घटना का कोई-न-कोई कारण होता है (चाहे हमें उसका कभी पता चले या नही), संश्लेषी और प्रागनुभविक रूप से ज्ञात दोनों ही मानी जाती है।

हम अध्याय ३ में पहले ही संश्लेषी प्रागनुभविक ज्ञान पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। उसके पक्ष या विपक्ष में जो भी बातें हों वे यहाँ भी लागू

होती है और हमें इस सवाल को दुबारा उठाने की जरूरत नही है। परतु कही कोई कारण-सिद्धात को सिर्फ इस वजह से सश्लेपी और प्रागनुभविक न कहे कि वह उसे इद्रियानुभविक महसूस नही करता और पुनरुक्ति भी नही, इसलिए अन्य संभव विकल्पो पर विचार करने का आग्रह किया जा सकता है।

स. हो सकता है कि यह सिद्धात ज्ञान हो ही नही, वल्कि एक अभिगृहीत मात्र हो। हम पहले ही प्रागनुभविक अभिगृहीतो पर विचार कर चुके हैं (देखिए पृ० २७२-७४) और शायद कारण-सिद्धात उन्ही में से एक है। इसके बजाय कि हम उसके भूत, वर्तमान और भविष्य, सभी प्रसंगो मे सत्य होने की जानकारी रखते हो, हम यह केवल मान लेते हैं कि वह सबमे लागू होता है। हम उसके विरुद्ध कोई प्रमाण होने की बात को सभव मानने तक से इन्कार कर देते है। आगे कोई छानबीन किए विना ही हम कार्यो के भिन्न होने के तथ्य को इस बात का प्रमाण मान लेते हैं कि कारण भी भिन्न हैं। यह बहुत-कुछ एक प्रागनुभविक अभिगृहीत की तरह लगता है।

लेकिन, इस व्याख्या को भी और विचार-विमर्श किए बिना नही मान लेना चाहिए, क्योकि परिस्थिति ऐसी नही है कि हम दुराग्रहपूर्वक इस सिद्धात के किसी अपवाद को उस तरह मानने से इन्कार कर दें जिस तरह लोग अपने प्रिय पूर्वाग्रहों के विरोधी किसी कथन को मानने से हठपूर्वक इन्कार कर देते हैं। आखिरकार हम कह सकते है कि क्या किसी अन्य सिद्धात की अपेक्षा इस सिद्धात को मानने के लिए कोई अच्छा इद्रियानुभविक आधार नही है? क्या हमारे पास उसका कोई प्रमाण नही है? क्या सबसे पहले इद्रियो से प्रेक्षण करके हमने उसका कथन नही किया? और, क्या यह सिद्धात बहुत अधिक प्रसगो मे अपनी सचाई सिद्ध नही कर चुका है? और, फलतः जिस सीमा तक वस्तुत. इसकी सपुष्टि हो गई है उससे कही अधिक इसमे विश्वास करने का कुछ औचित्य नही है?

पिछली व्याख्याओ की कठिनाइयाँ—इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक बार फिर कारण-सिद्धात की इद्रियानुभविक व्याख्या मे वापस पहुँच गए हैं। फिर भी, वापस जाने से पहले एक बार फिर हम स्वयं को यह याद दिला दे कि यह उन इद्रियानुभविक सामान्यीकरणो से भिन्न है जिनकी विज्ञान मे प्रधानता होती है। इद्रियानुभविक सामान्यीकरण मे सदैव यह सभावना

रहती है कि विपरीत दृष्टातो से वह खडित हो जाएगा। भले ही कोई विपरीत दृष्टात वस्तुत न मिले, लेकिन आशका यह होती है कि यदि एक अ ऐसा निकल आए जो ब न हो तो यह सामान्यीकरण कि सब अ व है निरस्त हो जाएगा। और, उसके समर्थक दृष्टात चाहे जितनी अधिक सख्या मे देखे गए हो, यह आशका सदैव बनी रहती है। परतु कारण-सिद्धात इस तरह का नही है उसके खडित होने की कोई सभावना नही लगती।

बात को बिल्कुल स्पष्ट करने के लिए हम कारण-सिद्धात और विज्ञान के सामान्यीकरणो मे वैषम्य दिखाते है। मान लीजिए कि प्रथम वर्ष का एक रसायन का छात्र कहता है (और वह जान-बूझकर झूठ नही बोल रहा है) कि जब उसने सीसे का गलनाक जानने के लिए परीक्षण किया तव वह रसायन की किताबो मे जो बताया गया है उससे भिन्न निकला। उसका अध्यापक किसी परेशानी के विना कह देगा कि वह गलती कर रहा है। अध्यापक एक क्षण के लिए भी इस सामान्यीकरण का कोई अपवाद स्वीकार नही करेगा। क्या यह अध्यापक का एक प्रागनुभविक अभिगृहीत नही है ? नही, क्योकि अध्यापक अपने दावे को इद्रियानुभविक प्रमाण पर आधारित मानता है सभी बातो का विचार कर लेने के बाद सीसे का गलनाक, जैसा रसायन की किताबो मे दिया गया है वैसा न होने की अपेक्षा अधिक प्रसभाव्य यह है कि छात्र ने अपने प्रयोग मे कही गलती की है। छात्र पहले भी गलती करते देखे गए है, और सीसे का गलनाक ऐसी चीज है जिसकी हजारो बार देखकर जांच की जा चुकी है। हम सभी कथित अपवादो को अस्वीकार इसलिए कर दिया करते है कि पहले ही हमारे पास इस नियम के पक्ष मे बहुत अधिक इद्रियानुभविक साक्ष्य इकट्ठा हो चुका है। निस्सदेह यह नियम इद्रियानुभविक है. यदि प्रथम वर्ष का छात्र ही नही बल्कि प्रशिक्षित रसायनशास्त्री भी बार-बार यह कहते रहे कि सीसे का गलनाक पाठ्यपुस्तको मे दिए हुए अक से भिन्न है तो पूरी-पूरी जांच की जाएगी और बाद के परीक्षणो के छात्र के दावे के पक्ष मे निकलने पर सीसे के गलनाक के बारे मे जो सामान्यीकरण है उसमे सशोधन कर दिया जाएगा।

अव कारण-सिद्धात के बारे मे क्या कहना है ? क्या वह भी उसी तरह इद्रियानुभविक है ? शायद इद्रियानुभव के आधार पर ही हमने पहले-पहल इस सिद्धात को सूत्रबद्ध किया था। यदि प्रकृति मे हमने कभी कोई एकरूपता

न देखी होती तो यह सिद्धात हमारे दिमाग मे आया ही न होता। परतु विचित्र बात यह है कि कोई भी इद्रियानुभविक प्रमाण ऐसा नही हो सकता जिससे हमे इसे छोड़ना पड़े : प्रकृति मे हम चाहे जो बात देखे, हम उसके बावजूद इस सिद्धात पर अडिग बने रह सकते है। हम जानते है कि दुनिया मे क्या बात देखकर हमे साधारण इद्रियानुभविक कथनो को त्याग देना होगा। लेकिन दुनिया मे वह कौन-सी बात होगी जिसे देखकर हमे कारण-सिद्धात को त्याग देना होगा ? ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी नही है। यदि विश्व जैसा इस समय है उससे बिल्कुल भिन्न होता, यदि उसमे कम ही एकरूपताएँ ज्ञात हुई होती या कोई भी ज्ञात न हो पाती, तो भी हमे इस सिद्धात को मिथ्या कहकर नही त्याग देना पडता। "यह सामान्यीकरण अब खडित हो गया है" कहने के बजाय केवल इतना ही कह देने की जरूरत होगी कि "घटनाएँ फिर भी कारणो से पैदा होती है, यह बात अलग है कि उन्हे ढूंढना आजकल बहुत मुश्किल हो गया है।" हम यह नही कहेगे कि अभिन्न उपाधियो वाली भिन्न घटनाएँ हुई है। इसके बजाय हम कहेगे . "उपाधियो मे रहस्यात्मक अतर होते है जिन्हे, ऐसा प्रतीत होता है कि, हम निश्चित रूप से जान ही नही सकते।" दूसरे शब्दो मे, चाहे कुछ हो जाए, भले ही विश्व मे व्यवस्था के नाम पर कुछ बाकी न रहे, चाहे कारणो का पता लगाने के हमारे प्रयत्न बिल्कुल ही निराशाजनक रूप से असफल हो जाएँ, हम कारण-सिद्धात पर हर हालत मे जमे रहेगे।

यह है वह विचित्र स्थिति जिसमे हम स्वय को पाते हें। यहाँ बात इद्रियानुभविक सामान्यीकरणो के समान नही है और फिर भी हम इसे प्रागनुभविक कहकर छुटकारा नही पा सकते। हमारे सामने एक ऐसा कथन है जिसे इद्रियानुभविक प्रमाण सपुष्ट कर सकते हैं पर जिसे व खडित नही कर सकते। जो भी हो, यह किसी प्रकार का नकर (दोगला) है। कारण-सिद्धात ऐसे किसी भी खाने मे ठीक बैठता नही लगता जो हमने उसके लिए तैयार किया है।

३. कारण सिद्धात वैज्ञानिक अनुसधान का एक मार्गदर्शक सिद्धात हं — कारण-सिद्धात के बारे म एक मत ऐसा है जो शुरू मे विचित्र लगेगा, पर इसके बावजूद जिसे काफी अधिक मान्यता मिल चुकी है। कारण-सिद्धात न अनुभवाश्रित (एक इद्रियानुभविक कथन) है और न प्रागनुभविक है, क्योकि

वह एक प्रतिज्ञप्ति है ही नही, और प्रतिज्ञप्ति न होने से वह न सत्य है और न असत्य।

निश्चय ही इसकी व्याख्या की जरूरत है। वह न सत्य और न असत्य कैसे हो सकता है? क्या वह किसी चीज का कथन नही करता? यह बात अलग है कि हम उसे इद्रियानुभव से जानते हो या प्रागनुभविक रूप से, अथवा हम उसे जानते भी हो या नही। प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार, कारण-सिद्धात अवश्य ही किसी बात के बारे मे है, पर वह एक प्रतिज्ञप्ति नही है, और इसलिए वह न सत्य है और न असत्य। वह एक खेल के नियम से अधिक मिलता जुलता है। वेसबॉल का यह नियम कि 'बल्लेबाज को तीन से अधिक बार प्रहार करने का मौका नही मिलेगा" न सत्य है और न असत्य। यह सत्य है कि बेसबॉल के खेल मे ऐसा एक नियम है पर वह नियम स्वय न सत्य है और न असत्य। वह सिर्फ यह विधान करता है कि बेसबॉल का खेल किस तरह खेला जाना है। इसी प्रकार, "अपनी खाने की छुरी को बाएँ हाथ से मत पकडो" एक शिष्टाचार का नियम है जो यह विधान करता है कि खाने की छुरी को किस तरह इस्तेमाल नही करना है। वह यह नही बताता कि लोग वस्तुतः कैसे छुरी का इस्तेमाल करते है, क्योकि हो सकता है कि वे इस नियम के पालन के बजाय उसे तोडकर ही उसका मान करते हो। इसी प्रकार, कारण-सिद्धात भी वैज्ञानिक खेल के एक नियम का काम करता है, जो कि वेसबॉल से कही बढ़कर महत्व रखता है और शाब्दिक अर्थ मे खेल न होते हुए भी नियमो के द्वारा नियत्रित एक उद्यम है। प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार, कारण-सिद्धात ऐसा ही एक नियम है। (शायद प्रकृति की एकरूपता का सिद्धात एक और नियम है।) कारण-सिद्धात वैज्ञानिक खोज का एक तरह का मार्गदर्शक सिद्धात है: इसके अनुसरण से हम उत्तरोत्तर अधिक सख्या मे कारणात्मक उपाधियाँ खोज लेते है। यद्यपि यह न तो सत्य है और न असत्य, तथापि इसके अपनाए जाने का (स्वय नियम का नही बल्कि नियम के अपनाए जाने का) इसके प्रभावो के आधार पर व्यावहारिक औचित्य दिखाया जा सकता है। यदि हम इसे अपनाते है तो हमे कारणो को खोजने की प्रेरणा मिलती है। यदि हम इसके विपरीत नियम को अपनाते तो कारणो की खोज को हम छोड़ चुके होते।

यह हो सकता है कि कारण-सिद्धात वैज्ञानिक उद्यम का पूरी तरह से एक

'नियम न हो। इसमें एक सुझाव-जैसा कुछ हो सकता है : "हमे अधिक एकरूपताएँ खोजनी चाहिए।" इसमे इस बात की कुछ आशा-जैसी हो सकती है कि हम ऐसी और भी उपाधियाँ खोज डालेंगे जिनपर घटनाएँ आश्रित होती हैं। यह भी हो सकता है कि हम अपने साहस को बनाए रखने के लिए सीटी बजाने-जैसी कोई बात इसमे पाते हो, जैसे कि मानो वह कह रहा हो कि "डरो नही, जिन कारणात्मक उपाधियो को हम खोज रहे ह वे मिल ही जाएँगी।" परतु इन तत्वो का जितना भी मिश्रण उसमे हो, यह सिद्धात (इस *व्याख्या के अनुसार*) *दुनिया की किसी भी वस्तुस्थिति का वर्णन नही करता।* और चूँकि वह दुनिया की किसी भी बात का वर्णन नही है, इसलिए वह दुनिया की किसी भी बात का सच्चा (या झूठा) वर्णन नही हो सकता। वह कोई सत्य प्रतिज्ञप्ति है ही नही, ऐसी तक नही जिसे सत्य मान लिया गया हो। कोई ऐसी चीज, जिसे हमे विश्व का कोई भी रूप होने के बावजूद छोडना ही नही है (जैसे, तब भी नही जब हमे कारणो को पाने मे लगातार असफलता मिलती रहे), विश्व के बारे मे किसी सचाई का कथन नही हो सकती।

हमे उसे छोडना नही पडेगा। पर यदि इस समय देखने मे आनेवाली एकरूपताएँ आगे न बनी रहे और बार-बार तथा लगातार खोज करते रहने पर भी कोई और एकरूपताएं न मिले तो हम उसे छोड भी सकते हैं। मान लीजिए कि एक बार आप अपने हाथ से पेन्सिल छोड देते है और वह फर्श पर गिर पडती है, दूसरी बार वह हवा मे उड जाती है, तीसरी बार वह हाथी के रूप मे बदल जाती है, चौथी बार वह कोई भी निशान छोडे बिना एकदम गायब हो जाती है, पांचवी बार वह आपकी नाक पर चोट करती है और आपको डांटती है कि आपने उसे छोड क्यो दिया, इत्यादि। मान लीजिए कि ऐसा न केवल पेन्सिल के साथ बल्कि हर चीज के साथ होता है और इस तरह आपको ऐसी एकरूप उपाधियो का मिलना बद हो जाता है जिनपर घटनाएं आश्रित हो। आप फिर भी ऐसा कह सकेंगे कि "इनमे से प्रत्येक घटना फिर भी उपाधियो पर आश्रित है, पर वे उपाधियां इतनी अधिक जटिल है कि मैं उन्हें नही खोज पाया हूँ। कारण अब भी हैं, पर उनका मिलना कठिन हो गया है।" लेकिन हम इस सिद्धात को छोड भी सकते हैं—यह बात नही है कि अब हम कहेंगे कि वह असत्य था (क्योकि हमने कभी उसे सत्य नही सोचा था), बल्कि शायद हम अब खेल के इस नियम को उपयोगी नही समझेंगे। कारण

यदि होगे भी, तो भी उनकी खोज करना अव उपयोगी नही रहेगा। जैसे हम एक खान को छोड देते है वैसे ही इस सिद्धात को भी छोड देंगे—इस वजह से नही कि हमे वहाँ सोने के शेप न रहने का पक्का यकीन हो गया है वल्कि इस यकीन की वजह से कि सोना मात्रा मे इतना कम रह गया है या इतना विरल है या उसे प्राप्त करना इतना कठिन हो गया है कि खान खोदना उपयोगी नही रहा। तव उसे त्याग देना हमारे इस निश्चय को प्रकट करेगा कि "अव हमे इसे छोड देना चाहिए।"

अन्य वैज्ञानिक सिद्धातो के साथ तुलना—यदि यह कारण सिद्धात की सही व्याख्या है तो यह इद्रियानुभविक विज्ञानो मे पाए जानेवाले कुछ अन्य सिद्धातों से भिन्न नही है। उदाहरण के लिए, ऊर्जा-सरक्षण के सिद्धात को लीजिए। कारण-सिद्धात की तरह ही वैज्ञानिक इसपर प्रकृति का प्रेक्षण करके पहुँचे हैं, और शुरू मे इसे इस रूप में रखा गया था कि इसे प्रकृति के वारे में एक सत्य कथन माना जाता था। एक के वाद दूसरा उदाहरण ऐसा मिलता रहा जिससे यह सिद्धात सही निकलता रहा। तव एक वात ऐसी देखी गई जो इसके विरुद्ध लगी, लेकिन वैज्ञानिक फिर भी इसपर अडिग वने रहे : उनका इसमे विश्वास पूर्ववत् वना रहा, जिसके फलस्वरूप इस सिद्धात के खतर मे पडने पर इसे सही-सलामत वनाए रखने के लिए ऊर्जा के प्ररूपो और परिमाणो को मान लिया गया। जव ऐसा हुआ—जव एक प्रकार के प्रेक्षण इसके पक्ष मे गिने गए, पर विरोधी प्रकार के प्रेक्षण इसके विपक्ष मे नही गिने गए—तव इसे एक प्रागनुभविक सत्य माना जाने लगा, अथवा एक सत्य नही वल्कि वैज्ञानिक उद्यम का एक नियम या मार्गदर्शक सिद्धात। (यह वस्तुतः इस अवस्था मे पहुँच गया है या नही, यह वात सूक्ष्म प्रेक्षणो से लैस वैज्ञानिको के निर्णय करने की है।)

"दूरी पर कोई क्रिया नही हो सकती" ऐसा ही एक और सिद्धात है। एक समय यह सोचा जाता था कि जव भी क ख को पैदा करता है तव क और ख के वीच कोई भौतिक सपर्क होता है—और यदि क और ख एक-दूसरे से दूर भी स्थित हो तो भी उनके वीच में एक दूसरी से लगी हुई घटनाओ की एक अविच्छिन्न शृखला खोजी जा सकती है। आप आग में घुसी हुई कुरेदनी का एक सिरा पकडे है और तीन फुट की दूरी पर आपकी उगलियो मे जो हत्था है वह गरम हो जाता है। परन्तु निश्चय ही ऐसा इसलिए होता है कि

लोहे के जो अणु आग में है उनकी क्षिप्र गति कुरेदनी के साथ साथ आगे बढती हुई आपके हाथ तक पहुँच जाती है। यही बात सवहन धाराओ पर भी लागू होती है। अथवा एक घटी एक मील की दूरी पर बजती है और आपके कान मे और कान मे से होकर आपके मस्तिष्क मे विक्षोभ पैदा करती है। घटी आपके कान से लगी हुई नही है, परतु घटी और कान हवा के कणो के द्वारा परस्पर सबधित है जो कि ध्वनि की तरगो को अणुओ का सीधा सपर्क होने से घटी से कान तक पहुँचाते है। यदि दोनो के मध्य हवा न हो तो ध्वनि की तरगे आपके कान तक कदापि नही पहुँच पाएँगी। इस प्रकार घटी का बजना आपके मस्तिष्क के अदर होनेवाली घटनाओ का कारण परस्पर लगी हुई घटनाओ की एक पूरी शृ खला के द्वारा बनता है। *"कार्योत्पादन हमेशा सपर्क से होता है,' अथवा दूसरे शब्दो मे, "दूरी पर कोई क्रिया नहीं होती।"*

परतु अब अन्य उदाहरणो पर विचार कीजिए सूर्य ताप और प्रकाश पृथ्वी पर पहुँचाता है, और इसमे कोई सदेह नही है कि इनमे कारण कार्य का सबध है, पर सपर्क कहाँ है ? दोनो के बीच कुछ भी नही है, यहाँ तक कि हवा भी नही है। "परतु अवश्य ही कोई माध्यम है जो विकिरण को सूर्य से पृथ्वी तक पहुँचाता है।" जो व्यक्ति ऐसा कहता है वह कैसे जानता है कि यह सच है ? हाँ, एक पारदर्शी, भारशून्य द्रव्य, ईथर, होता है जिसका काम ही यही होता है कि निर्वात अवकाश मे ऐसे विकिरण को प्रेपित करे। परतु इसका *क्या प्रमाण है कि ईथर का अस्तित्व है ?* ऐसा कोई *प्रमाण* नही है *उसका पता लगाने के लिए किया गया माइकेलसन मोर्लो प्रयोग तथा अन्य* कौशलपूर्ण प्रयोगो से बिलकुल ही निपधात्मक निष्कर्ष प्राप्त हुए। ऐसी दशा म हमे क्या कहना है ? वैज्ञानिक लोग सिफ इसलिए ईथर से चिपके रह सकते थे कि उन्हे "दूरी पर कोई क्रिया नही होती" बतानेवाले सिद्धात का बचाव करना है। वे यह कह सकते थे कि चूंकि प्रकृति को शून्य सह्य नही है इसलिए वास्तव म शून्य है ही नही बल्कि एक अदृश्य ईथर भरा हुआ है जिसका काम विकिरण को ताराओ के मध्यवर्ती अवकाश मे से प्रेपित करना है। परतु प्रयोगो से *निषेधात्मक निष्कर्ष* प्राप्त होने पर वैज्ञानिकों ने ईथर को छोड दिया और उसके साथ ही 'दूरी पर कोई क्रिया नही हो सकती' मानने वाले सिद्धात को भी त्याग दिया। यह सिद्धात इस योग्य नही पाया गया कि उसका बचाव किया जाए। सब मिलाकर विज्ञान के सप्रत्ययात्मक ढाँचे को

इस सीमा तक बदल देना अधिक आसान पाया गया कि ईथर तथा उसके साथ उक्त सिद्धान को भी छोड दिया जाए। सोने की खान की तरह उसे बिल्कुल छोड दिया गया। कारण-सिद्धात को त्यागने मे जो कि कही अधिक व्यापक रूप से लागू होता है, हमारे सप्रत्ययो को एक बहुत बडा झटका लगेगा। परतु यदि ऊपर बताई हुई बातें होती तो उमे छोडा जा सकता था (परतु उसे छोडना अनिवार्य न होता), जैसे कि "दूरी पर कोई क्रिया नही हो सकती" माननेवाला सिद्धात पहले ही छोडा जा चुका है।

कारण-सिद्धात की जो भी व्याख्या हमे स्वीकार्य हो, महत्व इस बात का है कि हम उसे लागू करने मे सगति बनाए रखें। ऐसा न हो कि हम पहले किसी भी हालत मे कारण सिद्धात को छोडने से इन्कार न करें और तब इस प्रकार तर्क करें जैसे कि मानो यह जगत् के जितने भी वैकल्पिक वर्णन सोचे जा सकते है उनमे से एक सही वर्णन हो। यदि हम इसे प्रकृति के एक नियम की तरह एक इद्रियानुभविक कथन समझ तो एकरूपताओ का न मिल सकना उसी तरह इसके विपक्ष मे गिना जाएगा जिस तरह एकरूपताओ का मिलना इसके पक्ष मे गिना गया था। परतु यदि हम अतिम व्याख्या को अपनाते है और यह कहते है कि यह विश्व के बारे मे एक सत्य कथन बिल्कुल नही है (और न असत्य कथन है), तो फिर हम अपनी स्थिति को बदलकर यह नही कह सकते कि यह सदैव सत्य होता है, और इस बात को आधार बनाकर यह नही कह सकते कि नियतत्ववाद सही है या सकल्प स्वतत्र नही हो सकता।

१७ नियतत्ववाद और स्वातत्र्य

प्राय कारणता की और नियतत्ववाद तथा स्वातत्र्य की चर्चाएँ साथ-साथ चलती है। यदि प्रत्येक घटना किसी कारण से होती है तो नियतत्ववाद सत्य है, और यदि नियतत्ववाद सत्य है तो ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की स्वतत्रता के लिए कोई गुजाइश नही है। नीचे की युक्ति पर विचार कीजिए

प्रत्येक दिन के बीतने पर विज्ञान हमे चीजो के कारणो के बारे मे— अर्थात् घटनाएँ जिस रूप मे होती हैं उस रूप को निर्धारित करनेवाले तत्वो के बारे मे, अधिक जानकारी देने म समर्थ हो जाता है। यह बात मनुष्य के कर्मों

और भौतिक जगत् की घटनाओ, दोनो पर लागू होती है। लोग जो व्यवहार करते हैं वह क्यो करते हैं, इस बारे मे हम जितना पहले कभी जानते थे उससे अधिक अब जानते हैं।

भविष्य की घटनाओ की पहले से जानकारी करने मे उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है। पहले ग्रहण की भविष्यवाणी नही हो सकती थी। अब हम १०,००० वर्ष पहले ही बता सकते है कि ग्रहण होगा और उसके काल को हम एक सेकड के दसवे भाग तक सही बता सकते है। पहले एक प्रक्षेप्य (फेकी जानेवाली चीज) के पथ की भविष्यवाणी नही की जा सकती थी। अब हम उसका बिल्कुल सही नक्शा बना सकते हैं और जान सकते है कि हम एक दूरस्थ लक्ष्य को बिल्कुल ठीक समय मे उसके द्वारा कैसे मार सकते है। यदि हम यह बिल्कुल ठीक-ठीक न भी जानते हो कि एक चीज क्या करेगी—जैसे, एक पत्थर पहाड से नीचे ठीक किस तरह लुढकेगा—तो इसकी वजह यह नही है कि उसका पथ उसपर क्रिया करनेवाली शक्तियो के द्वारा पूरी तरह से निर्धारित नही है, बल्कि यह है कि हमे उन शक्तियो की पूरी जानकारी नही है। पत्थर इस दरार मे ठीक कहाँ पडेगा, क्या पत्थर का चिकना हिस्सा उसके नीचे लुढकते समय जमीन के चिकने हिस्से पर पडेगा, इत्यादि। हम नियमो को जानते है पर प्रारभ की सब उपाधियो को नही जानते। परतु कोई यह कल्पना नही करता—कम से कम वह जो विज्ञान से थोडा भी परिचय रखता है—कि यदि हम ढलान पर जिस रास्ते से वह लुढकना है उसकी गणना करने मे जिन लाखो कारको पर विचार करना है उन्हे जानते हो या जानने का कष्ट करें तो भी हम उसके पथ को नही बता सकेंगे।

किसीने कभी यह नही कहा कि पत्थर स्वतन्त्र होते है या स्वतत्र सकल्प से काम करते है। परतु यह कहा गया है कि मनुष्य स्वेच्छा से स्वतत्रतापूर्वक काम करते है, और विज्ञान धीरे धीरे इस दावे की असलियत को प्रकट कर रहा है—यह बता रहा है कि यह एक अधविश्वास मात्र है। अब हम लोगो की आनुवशिक गठन और पर्यावरणगत स्थितियो के बारे मे, उनके व्यवहार के नियमो के बारे मे, जो काम वे करते हैं उन्हे करवानेवाले सारे कारको के बारे मे पहले से कही अधिक जानकारी रखते है। व्यक्ति पत्थर के उत्तरोत्तर अधिक समान बनता जा रहा है। वह सोचता होगा कि वह स्वतत्र है, पर यह उसकी भ्रान्ति है। वह पत्थर से अधिक स्वतत्र नही है। उसके ऊपर क्रिया

करनेवाली शक्तियाँ अधिक जटिल हैं और इसलिए पत्थर के ऊपर क्रिया करनेवाली शक्तियों की तुलना में उन्हें खोज पाना कही अधिक कठिन है, लेकिन है वे बिल्कुल वैसी ही। चाहे उसे इस बात की जानकारी हो या नही कि वे क्या है, अस्तित्व उनका अवश्य है, और वह जो है वह अनिवार्यतः उनकी वजह से है तथा जो वह करता है उनके द्वारा बाध्य होकर ही करता है। यदि किसीको एक निर्दिष्ट क्षण में काम करनेवाले नियमो की तथा उसकी पूरी अवस्था की जानकारी हो तो वह उसके द्वारा प्रत्येक भावी परिस्थिति में किए जानेवाले काम की भविष्यवाणी करने में समर्थ होगा। संक्षेप में, वह यह सिद्ध कर सकेगा कि उस व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक क्षण किस प्रकार निर्धारित है।

उपर्युक्त तर्क काल्पनिक है, पर हमारे आसपास रोजाना जो अनेक तर्क दिए जाते हैं उनसे इसका बहुत साम्य है। शायद उनमे से अधिकतर की अपेक्षा यह अधिक स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करता है। फिर भी, यह भ्रांतियों से भरा पड़ा है। (आगे पढने से पहले अच्छा होगा कि आप जितनी गलतियाँ इसमें निकाल सकते है उतनी निकाल डालिए।) उदाहरणार्थ, इसमें तीन संप्रत्ययों—कारणता, बाध्यता और भविष्यवाणी—का इस तरह उपयोग किया गया है मानो वे अभिन्न हों।

तो फिर कारणता के बारे मे पहले जो कहा जा चुका है उसकी रोशनी मे हम नियतत्ववाद और मानवीय स्वातंत्र्य के बारे मे बात को यथाशक्ति स्पष्ट करने का प्रयत्न करते है।

नियतत्ववाद—नियतत्ववाद इस मत का नाम है कि जो कुछ भी होता है वह नियत होता है। "नियत" का मतलब होता है "कारण के द्वारा निर्धारित", अत. नियतत्ववाद यह मत हुआ कि जो कुछ भी होता है उसका कोई कारण होता है। परंतु "नियतत्ववाद" शब्द का प्रयोग अच्छा नही है, क्योंकि इसके साथ ऐसी धारणाएँ जुड़ गई है जैसी "कारण" शब्द के साथ नही जुडी हुई है। यदि कोई आपसे कहे कि "आप जो कुछ करते है, उसका कोई कारण होता है" तो इसमे आपको कोई आश्चर्य नही होगा; परतु यदि वह कहे कि "आप जो कुछ करते है वह नियत होता है" तो आपको शायद यह लगेगा कि आप उससे सहमत नहीं है, क्योंकि "नियत" शब्द के प्रयोग से ऐसा आभास होता है जैसे कि हर चीज आपकी इच्छा के विरुद्ध होती है और

आपका उसमे कोई हाथ नही होता। परतु नियतत्ववाद ऐसा नही कहता : नियतत्ववाद सर्वत्र कारण-कार्य का संबध माननेवाला सिद्धात है : वह केवल यह कहता है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है। वह यह नही कहता कि कारण मानसिक होता है या भौतिक, कि वह जड प्रकृति है या जीव है या मनुष्य है या ईश्वर है। जहाँ तक नियतत्ववाद का सबंध है, कारण कुछ भी हो सकता है। यह तक जानना आवश्यक नही है कि घटनाओ के कारण क्या हैं—नियतत्ववाद केवल यह कहता है कि प्रत्येक घटना का किसी प्रकार का एक कारण होता है। यह अलग बात है कि हम उसे कभी खोज पाते है या नहीं।

परतु यह आपत्ति की जा सकती है : "यदि प्रत्येक घटना नियत (कारण द्वारा निर्धारित) है, तो मनुष्य की स्वतत्रता कैसे सभव है ? प्रत्येक चीज जो होती है उसका कारण पहले से अस्तित्व रखनेवाली उपाधियाँ होती है, और उन उपाधियो का भी कारण उनकी पूर्ववर्ती उपाधियाँ होती हैं, तथा यह क्रम पीछे अनिश्चित काल से चला आ रहा है। परतु यदि प्रत्येक काम किसी कारण के द्वारा निर्धारित होता है तो वह स्वतत्र कैसे हो सकता है ?"

यहाँ पर नियतत्ववाद को एक और सिद्धात, नियतिवाद या दैववाद से एक समझ लेना बहुत आसान हो जाता है।

नियतिवाद— नियतिवाद इस बात से इन्कार नहीं करता कि जो भी बात होती है उसका कोई कारण होता है। वह केवल इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्यो मे घटनाओ के क्रम को बदलने की शक्ति है। "जो होनेवाला है वह होकर रहेगा," "जो होगा सो होगा"—नियतिवाद के ये नारे विश्लेषी कथन नही है। इनका मतलब यह है कि हम जो कुछ भी करे, भविष्य को जो होना है वही होगा, और इसलिए इस सबध मे हमारा कोई भी प्रयत्न करना बेमानी है। १९४० ई० मे लदन के ऊपर जो बमबारी हुई थी उसके दौरान एक सामान्य नियतिवादी युक्ति यह थी :

या तो बमबारी मे तुम मर जाओगे या नही मरोगे। यदि तुम्हे मरना है तो तुम जो भी सावधानी बरतोगे वह प्रभावहीन होगी। यदि तुम्हे मरना नही है तो सब सावधानियाँ व्यर्थ है। अत. सावधानी बरतना बेकार है।[1]

---

१ फिलासोफिकल रिव्यू, १९६४ में पृ० ३३८-३९ पर "मगिन अबाउट दि पास्ट" शीर्षक लेख में माइकेल डमेट द्वारा उद्धृत।

परंतु भले ही यह मत उन लोगों को आकर्षक लगे जो कुछ न करने का बहाना ढूंढ़ रहे हैं, इंद्रियानुभविक तथ्यों के यह स्पष्टतः विरुद्ध है। लोग जरूर ही कभी-कभी सावधानी रखते हैं और अपनी जान बचा लेते हैं। जो लोग जमीन के नीचे बनी हुई खाइयों में चले गए वे प्रायः बमबारी में बच गए। यदि वे अपने घरों में रहे होते तो मारे गए होते। यदि लोग बड़ी सड़कों पर कार चलाते समय सावधानी बरतें तो उनके जीवित रहने की अधिक संभावना रहती है। नियतिवादी के तर्क में जो दोष है उसे ढूंढना अधिक कठिन नहीं है। उसका यह कथन सही है कि "या तो इस बमबारी में तुम मारे जाओगे या नहीं मारे जाओगे" (या तो अ या न अ)। परंतु यह कथन गलत है कि "यदि तुम्हें मारा जाना है तो तुम जो भी सावधानी रखो, मारे अवश्य जाओगे" और "यदि तुम्हें नहीं मारा जाना है तो सावधानी न रखने पर भी तुम नहीं मारे जाओगे।" ये दोनों हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ स्पष्टतः उतनी ही असत्य हैं जितनी कोई इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ हो सकती हैं। यह एक सीधा-सा इंद्रियानुभविक तथ्य है, और इसका समर्थन आँकड़ों से हो जाएगा, कि जो सावधानी बरतने में सुस्ती दिखाते हैं उनके मारे जाने की अधिक संभावना होती है तथा जो सावधानी बरतते हैं उनके जीवित बने रहने की अधिक संभावना होती है। लोगों के काम घटनाओं के कार्य-कारणात्मक संबंध को अवश्य प्रभावित करते हैं। कुछ बातें इसलिए होती हैं कि लोग उन्हें करते हैं और यदि वे उन्हें न करते तो वे न हुई होतीं। यदि कुछ लोगों ने बमों का निर्माण न किया होता और कुछ लोगों ने उन्हें हवाई जहाज से न गिराया होता तो वे लंदन में न गिरे होते। 'जो होना है वह होगा," परंतु यह निर्धारित करने में कि क्या होना है आदमियों का अवश्य हाथ होता है। फिर भी आपकी सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं है हो सकता है कि आप दुनिया के सर्वोत्तम कार-चालक हों, परंतु यदि कोई पागल जान बूझकर अपनी कार आपकी कार से भिड़ा देता है तो शायद आप मारे जाएँगे। और हो सकता है कि बम सीधे आपकी खाई के ऊपर ही गिर जाए और आप मारे जाएँ, जबकि यदि आप घर में रह होते तो शायद बच जाते। जीवन में खतरे तो होते ही हैं। फिर भी, नियतिवादी का यह निष्कर्ष कि आदमी घटनाओं के क्रम को बदलने में अशक्त है, एक बिल्कुल ही असत्य इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति है।

दैनिक जीवन मे प्रत्येक आदमी पूरी तरह से यह बात जानता है। लोग दूरवर्ती घटनाओ के बारे मे, या उन चीजो के बारे मे, जिन्हे वे समझते हैं कि वे उनके वश मे बिल्कुल नही है, नियतिवादी हो सकते हैं, परतु ऐसा नही है कि अपने जीवन की प्रत्येक घटना के बारे मे वे सदैव नियतिवादी बने रहे। "यदि मेरे भाग्य मे पास होना है तो मैं पढाई करू या नही पास मैं अवश्य होऊँगा ; और यदि मेरे भाग्य मे पास न होना है तो पढाई करू या नही मैं पास नही होऊँगा ; अत. पढाई करने की कोई जरूरत नही है।" जो विद्यार्थी इस प्रकार का तर्क करेगा वह जल्दी ही कालेज से फेल होकर निकल जाएगा। "यदि मेरे भाग्य मे भोजन है तो वह मुझे किसी प्रकार मिल ही जाएगा ; और यदि वह मेरे भाग्य मे नही हे तो भोजनालय मे मंगने पर भी वह मुझे नही मिलेगा ; अत. म यहां केवल बैठा रहूँगा और इतजार करूँगा।" जो आदमी इस तरह के तर्क करेगा वह जल्दी ही भूखा मर जाएगा। इन व्यावहारिक परिस्थितियो मे, जो कि प्रतिदिन सैंकडो बार हमारे सामने आती हैं, हम सब जानते है कि जो होता है वह हमारे करने पर निर्भर होता है। यह सत्य है कि जो कुछ भी आप करे उसके बावजूद अगला सूर्य-ग्रहण होकर रहेगा, परतु यह सत्य नही है कि आपके प्रथम श्रेणी प्राप्त करने लिए कोई प्रयत्न न करने पर भी आप प्रथम श्रेणी मे पास हो जाएँगे। जो भी आदमी नियतिवादी होने का दावा करता हो उससे यह पूछा जाना चाहिए कि क्या वह इन दैनिक जीवन की परिस्थितियो के बारे मे भी नियतिवादी है और यदि है तो वह अब तक जीवित कैसे रह पाया है। लोग केवल कक्षा के अदर ही नियतिवादी रह सकते है : एक बार उन्हे भूख लगने दीजिए और आप देखेंगे कि वे नियतिवादी नही रहे। यह बात बिल्कुल सुस्पष्ट है कि भविष्य का रूप कम से कम अशत. इसपर निर्भर करता है कि हम वर्तमान मे क्या करते है।

लेकिन, ऐसी बातो से सामना होने पर नियतिवादी शायद अर्थांतर करेगा। वह कहेगा : "मैं इससे इन्कार नही करता कि यदि मैं पढाई करू तो अवश्य प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हो जाऊँगा, या यदि मैं होटल मे जाऊं और खाना मगाऊ अथवा घर जाऊँ और खाना तैयार करू तो मुझे खाना मिल जाएगा। प्राय. इन अन्य बातो के होने के लिए मेरे द्वारा कोई काम किया जाना आवश्यक होता है। परतु मेरा विचार यह है कि यह बात कि आप इन कामों को करते

हूँ तव मैं ठीक किस वात मे विश्वास कर रहा होता हूँ ? स्वयं से यह सवाल करने पर में पाता हूँ कि मेरे आगे जो सचमुच के दो विकल्प है उनमे से किसे में अपनाता हूँ, यह यहां और इस समय पूरी तरह से मेरे वश की वात है और यह विश्वास करने से मैं स्वय को नही रोक सकता। विकल्प ये है : एक ओर यह कि मैं अपनी संकल्प-शक्ति पर जोर डालकर क का चुनाव करूँ और दूसरी ओर यह कि मेरा अव तक जो चरित्र वन गया है उसके अनुसार मैं अपनी स्वाभाविक इच्छा को चलने दूँ और ख को चुन लूँ जो कि मेरे लिए "न्यूनतम प्रतिरोध की दिशा मे" पडता है।[1]

लेकिन नियततत्ववादी की इस मत के विरुद्ध ये आपत्तियाँ है :

१. सबसे पहले वह पूछेगा कि क्या इस वात का कोई प्रमाण है कि कुछ घटनाएँ अकारण यानी पूर्ववर्ती उपाधियो से उत्पन्न हुए विना ही हो जाती है ? यह सत्य है कि हम इद्रियानुभव से यह नही जानते कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है, परतु कारणो का हमारा ज्ञान दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है, और यह विश्वास न करने का कोई हेतु नही है कि प्रत्येक घटना का निरपवाद रूप से कोई कारण होता हे। इसे हम चाहे दुनिया के बारे मे एक सचाई के रूप मे लें या एक मार्गदर्शक सिद्धात के रूप मे, इसपर विश्वास करने के लिए (या इसे स्वीकार करने के लिए) बहुत ही दृढ आधार है। दूसरी ओर, अनियततत्ववाद के पक्ष मे कोई भी प्रमाण नही है। घटनाओ का कोई ऐसा क्षेत्र ज्ञात नही है जिसमे कारण न होते हो · केवल घटनाओ का एक क्षेत्र है जिसमे कारणो का होना ज्ञात नही है, और यह क्षेत्र भी उत्तरोत्तर छोटा होता जा रहा है। यह सत्य है कि जब तक घटनाओ का एक ऐसा क्षेत्र वना रहता है जिसमे कारणो का होना ज्ञात नही है तव तक अनियततत्ववाद खडित नही हो सकता, परतु, नियततत्ववादी के अनुसार, उसके पक्ष मे थोडा-सा भी प्रमाण नही है और इसलिए उसमे विश्वास करने का कोई हेतु नही है।

निश्चय ही, किसीको ऐसा महसूस होता होगा कि अनियततत्ववाद सत्य है, पर ऐसा महसूस होना इस बात की गारटी नही है कि वह सत्य है ही।

---

१. सी० ए० कैम्बेल, 'इज 'फ्री-विल' ए स्यूडोप्रोब्लेम ?', माइन्ड, १९५१, पृ० ४६३।

मेरा डर महसूस करना अवश्य ही इस कथन को सत्य बनाता है कि "मुझे डर महसूस हो रहा है," परतु कारण सिद्धात का विषय मेरा महसूस करना नहीं है और वह सत्य मेरे महसूस करने से नही होता (देखिए, पृ० १८२-१८८)। मुझे यह महसूस हो सकता है कि कल ब्रह्माड का विस्फोट हो जाएगा, परतु यह इस बात का प्रमाण नही है कि ऐसा हो ही जाएगा। इस बात का एकमात्र हेतु कि अनियतत्ववादी कारण-सिद्धात से क्यो इन्कार करना चाहता है, यह है कि वह स्वातत्र्य के लिए गुजाइश निकालना चाहता है: उसके पास अपने मत के पक्ष मे कोई प्रमाण नही है, पर उसे इस बात का दृढ विश्वास है कि यदि वह कारण-सिद्धात को अस्वीकार नही करता तो मानवीय स्वातत्र्य सभव नही होगा। परंतु तब क्या होगा जब अनियतत्ववाद को मानने पर भी स्वातत्र्य सभव न हो ? यही बात अगली आपत्ति मे उठाई गई है।

२. *यदि अनियतत्ववाद सत्य हो तो स्वातत्र्य कैसे संभव है?* नियतत्ववादी कहता है: "वह सभव नही है। स्वातत्र्य केवल वही तक सभव है जहाँ तक नियतत्ववाद सत्य है। मान लीजिए कि आपका कोई काम अकारण होता है। उसका कारण आपका चरित्र, आपकी अब तक की आदतें, या आपके व्यक्तित्व का कोई भी अश नही है। क्या आप नही चाहते कि आपके कर्मों का कोई कारण हो - उनके कारण आप स्वय हो ? यदि वे अकारण हो तो क्या आप सचमुच उन्हे स्वतत्र कह सकेंगे ? तब तो वे ऐसे कर्म न होगे जिनके मूल आप हो। यदि आप उनके कारण न हो तो वे आपके कार्य कैसे होगे ? यदि कोई भी उनका कारण नही है तो वे बिल्कुल ही निर्मूल हो जाएँगे। वे कही से भी न आकर एकाएक अस्तित्व मे उभर आनेवाले माने जाएँगे और जिस व्यक्ति ने उन्हे किया है उसके तक कर्म नही कहे जा सकेंगे। असल मे वह उन्हे करेगा ही नही, क्योकि उन्हे करने का मतलब है उनके होने का कारण बनना। वे केवल उसको होते हैं। मान लीजिए कि आपका एक मित्र है जिसे आप वर्षों से जानते हैं और जिसपर आप पूरी तरह भरोसा करते है। अब मान लीजिए कि उसका अगला कर्म सभी कारणात्मक उपाधियो से बिल्कुल अलग हो गया है—उसे अनियतत्ववादी की मनचाही स्वतत्रता (कारणो का अभाव) प्राप्त हो गई है। तब उसपर भरोसा करने का कोई हेतु न होगा, क्योकि आगे जो होगा वह उसका काम नही होगा, वह उसके चरित्र की उपज

नही होगा, उसका वह कारण नही होगा। जव हम अन्य लोगो को प्रशिक्षित करने, शिक्षा देने, सुधारने, पुरस्कार देने, सलाह देने, दड देने का प्रयत्न करते ह (ये सव कारणसूचक शब्द ह), तव हम यह मान लेते है कि नियततत्ववाद सही है ; हम यह मान लेते हे कि अपने कामो से हम उस आदमी के कामो मे परिवर्तन पैदा कर सकते है जिसे हम वदलने की कोशिश कर रहे हैं। परतु यदि अनियततत्ववाद सही है तो ऐसी सारी कोशिशे वेकार होगी। जहाँ तक वह सही होगा वहा तक हमारे प्रयत्न निष्फल रहेंगे, क्योकि सवधित व्यक्ति के कामो का कोई कारण न होगा।"

अनियततत्ववादी यह उत्तर देगा : "मेरी स्थिति को हास्यास्पद न वनाइए। कोई अनियततत्ववादी यह नही मानता कि सभी घटनाएँ अकारण होती हे, अथवा यह तक कि सभी मानवीय कर्म अकारण होते हैं। अनियततत्ववाद शायद केवल ·०१ प्रतिशत मानवीय कर्मो पर ही लागू होता है (शायद केवल उन कर्मो पर जिनमे नैतिक चुनाव शामिल होता है)। अनियततत्ववाद की यह थोडी-सी मात्रा विश्व की नियमितता और एकरूपता मे कोई अधिक वाधक नही होगी। भविष्यवाणी तक मे वह वाधक नही वनेगी। जिनकी इस समय भविष्यवाणी करना सभव नही है उनकी वात अलग है— और यह प्रसिद्ध है कि मानवीय कर्मो की कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती। अनियततत्ववाद के थोडे-से अश का उसी तरह पता भी नही चलेगा जिस तरह महासागर मे एक वूंद पानी का। आपको यह भय करने की कोई जरूरत नही है कि यदि दुनिया पूरी तरह नियततत्ववाद के अनुसार न हो तो कही सब कुछ समाप्त न हो जाए : फिर भी काफी अधिक कारण ऐसे वने रहेंगे जिनकी खोज विज्ञान कर सकेगा।"

"जो भी हो, जहा तक हम अनियततत्ववाद को आने देते हैं वहाँ तक हम अव्यवस्था और अनिश्चितता को आने देते हैं। उसे स्वीकार करना एक गलती है। यदि अनियततत्ववाद ०१ प्रतिशत मानवीय कर्मो पर ही लागू होता है तो वह ०१ प्रतिशत उस वीमारी का शिकार हो जाता है जिसका मैंने उल्लेख किया था : आदमी के कर्म का ०१ प्रतिशत उसके चरित्र की उपज नहीं होगा। वह उसका कर्म नही होगा, वल्कि उसे होनेवाली कोई ऐसी चीज होगा जैसे विजली का उसके ऊपर गिरना। मेरा विश्वास है कि अनियततत्ववाद मे आपके विश्वास का एकमात्र हेतु—अन्यथा कोई उसमे विश्वास कदापि नही

करेगा—आपको यह डर है कि यदि नियतत्ववाद सही हो तो मानवीय स्वतत्रता असंभव हो जाएगी। आप स्वतंत्रता को बचाना चाहते है, इसीलिए आप अपने अनियतत्ववाद से इतनी बुरी तरह चिपके हुए है। पर मै यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि ऐसा करना अनावश्यक है। यदि अनियतत्ववाद को मान भी लिया जाए तो भी, जैसा कि मैं अभी दिखा चुका हूँ, स्वतंत्रता आपको नही मिलेगी। न केवल यह बल्कि नियतत्ववाद को सत्य मान लेने से वह आपको मिल जाएगी, और यही मैं अब सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा।"

सयोग या दैवयोग— "स्पष्ट है कि कुछ चीजें सयोग या दैवयोग से होती हैं। अनियतत्वाद सही है, क्योकि उसके अनुसार कुछ चीजे दैवयोग से होती है।" प्रश्न यह है: इस कथन का क्या मतलब है कि कुछ चीजें "दैवयोग से" होती हैं? यह शब्द अनेकार्थक है। इसके मुख्य अर्थ ये है:

१. जब हम कहते है कि आप और मैं आज सुवह बाजार मे दैवयोग से या अकस्मात् मिले, तब मतलब यह होता है कि हमारी मुलाकात योजनानुसार नहीं हुई। निस्सदेह आपका बाजार जाना किन्ही कारणो से हुआ, और मेरा बाजार जाना भी। मुलाकात को आकस्मिक कहने का मतलब केवल यह है कि हमने मुलाकात का पहले से कोई इरादा नही किया था।

२. "उत्परिवर्तन दैवयोग से (अकस्मात्) होते हैं।" यहाँ हमारा मतलब यह नही है कि उत्परिवर्तन अकारण होते है, वल्कि यह है कि हम उनके कारणों को ठीक-ठीक नही जानते। "अकस्मात्" शब्द का प्रयोग हम कारणो के अपने अज्ञान को प्रकट करने के लिए करते है। एक सिक्के को उछालने मे जो कारक सबधित होते है उन्हें हम जानते है, परंतु हम ठीक-ठीक नही जानते कि उत्क्षेप (उछालने मे लगा हुआ बल) कितना अधिक है, उछाल की दिशा क्या है, मेज के ऊपर गिरने से पहले सिक्का कितनी बार पलट चुका है, इत्यादि। यदि ये सब बातें हम जान लें, तो हम उछाल का परिणाम पहले से बता सकेंगे, परन्तु चूंकि हम जानते नही है इसलिए हम कह देते है कि यह दैवयोग की बात है।[1]

१. मूल अंग्रेजी शब्द "Chance" का एक और अर्थ मे भी प्रयोग होता है, जैसे "the chances are that.........", इस प्रकार के वाक्य मे (हिं० अनु०-"सभावना या प्रसभाव्यता यह है·······")। यहाँ प्रसभाव्यता बताई

"संयोग" शब्द के विभिन्न प्रयोगो तथा उनके पारस्परिक संबंधो को बताने मे कई पृष्ठ रगे जा सकते है।[1]

परंतु क्या ऐसा कोई अर्थ नही है जिसमे "संयोग" सचमुच कारणता के अभाव को व्यक्त करता हो ? क्या अवपरमाणवीय भौतिकी मे हमे यह उल्लेख नही मिलता कि इलेक्ट्रोन किसी एक दिशा मे "संयोगवश" पहुँच जाते हैं, जिसका मतलब यहाँ "किसी भी कारण के बिना" है ?

यह बात बहुत ही विवादास्पद है। क्या सचमुच यह मतलब है कि इलेक्ट्रोनो के इस दिशा मे न जाकर उस दिशा मे जाने का कोई कारण नही

जा रही है। परंतु प्रसभाव्यता का आकलन सदैव एक ही प्रकार का नही होता। गणितीय प्रसभाव्यता का आकलन पूर्णतः प्रागनुभविक होता है : यदि हम जानते हो कि दो विकल्प है तो हम उनके बारे मे कुछ भी जाने बिना प्रत्येक की ५० प्रतिशत प्रसभाव्यता नियत कर देते है। चूँकि हम अभी किसी भी विकल्प के बारे मे कोई विशेष बात नही जानते होते, इसलिए हम वास्तविक भविष्यवाणी करने के लिए गणितीय प्रसभाव्यता को आधार नही बना सकते। पर हम तब उसे आधार बना सकते है जब हम साख्यिकीय प्रसभाव्यता को जान लेते है—अर्थात प्रत्येक विकल्प की आपेक्षिक बारबारता के पुराने आँकडे जान लेते है। यदि हम जानते है कि ५०·२ प्रतिशत जन्म लडको के हुए है, तो हम कहेगे कि आपके लडका पैदा होने की प्रसंभाव्यता ५०·२ प्रतिशत है, न कि ५० प्रतिशत, जो कि केवल गणितीय प्रसभाव्यता है। इन दोनो मे प्रायः भ्रम हो जाया करता है, क्योकि इनके परिणाम बहुधा एक होते है। अगली बार उछालने पर सिक्के के चित गिरने की प्रसभाव्यता ५० प्रतिशत है, पर यह गणितीय प्रसभाव्यता नही है बल्कि सिक्के उछालने के पिछले आँकडो के अनुसार है। एक बार यह शक हो जाने पर कि सिक्का भारित है, आप प्रसभाव्यता को ५० प्रतिशत नही आँकेगे। सिक्को के या इस सिक्के के व्यवहार के बारे मे यदि अनुभव के आधार पर आपको कोई विशेष जानकारी हुई है तो सांख्यिकीय अर्थ मे, न कि गणितीय अर्थ मे, प्रसभाव्यता को आँकने मे उसका उपयोग होगा।

१. "चान्स" (संयोग) शब्द के विभिन्न अर्थों के और अधिक विस्तृत वर्णन के लिए, देखिए ए० जे० एयर, "चान्स," साइंटिफिक अमेरिकन, अक्टूबर १९६५।

है ? हम यह भविष्यवाणी नही कर सकते कि इलेक्ट्रोन किस दिशा मे जाएगा, क्योकि इस क्षेत्र के नियमो का हमे कोई ज्ञान नही है। परतु उस अवस्था मे, उसकी गति की दिशा मे अनिश्चितता का पाया जाना वास्तव मे सयोग की बात (अकारण) नही है बल्कि हमारे अज्ञान का ही फल है।[1]

नियतत्ववाद स्वातत्र्य के साथ चल सकता है—तो हम वापस नियतत्ववाद मे आ गए है। एक बार फिर कह दिया जाए कि नियतत्ववाद केवल इतना ही कहता है कि जो कुछ होता है उसका कोई-न कोई कारण होता है। परतु 'नियत" शब्द जीववादी व्यजनाओ से इतना लदा हुआ है कि इस सिद्धात के लिए "नियतत्ववाद" नाम का प्रयोग बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण लगता है। "सर्वव्यापी कारणता" का प्रयोग अधिक अच्छा हुआ होता। यदि आपको कहा जाए कि जो कुछ भी होता है वह नियत है, तो आपको यह आपत्तिजनक लग सकता है। "नियत" से ऐसी ध्वनि निकलती है जैसे कि मानो घटना हमारी इच्छा के विरुद्ध होती हो, जैसे कि उसके होने मे हमारा कोई हाथ न हो बल्कि हम घटनाओ के क्रम के निष्क्रिय द्रष्टा मात्र हो। और यह, जैसा कि हम नियतिवाद की चर्चा मे देख चुके है, वास्तव मे गलत है। यदि हम 'नियत होना," "नियत" और "नियतत्ववाद" का प्रयोग करते हैं, तो हमे ध्यान मे रखना होगा कि 'नियत" का अर्थ केवल "कारण से उत्पन्न" है, न इससे कम और न अधिक।

१. कभी-कभी नियतत्ववाद—सर्वव्यापी कारणता—को इस मत से अभिन्न माना जाता है कि सभी घटनाओ की भविष्यवाणी की जा सकती है। लेकिन दोनो मे भेद है। यदि नियतत्ववाद सही है और यदि हम प्रकृति के सब नियमो की तथा सब "प्रारंभिक स्थितियो" की जानकारी रखते हो, तो हम हर होनेवाली घटना की भविष्यवाणी कर सकते है। परतु नियतत्ववाद तब भी सही हो सकता है जब हम अपने अज्ञान की वजह से भविष्यवाणी न कर सकते हो। नियतत्ववाद (सर्वव्यापी कारणता) एक तत्त्वमीमासीय

[1] अनिर्धार्यता का हाइजेनबर्ग-सिद्धात भौतिकी की एक विशिष्ट शाखा मे सबधित सिद्धात है और इसकी व्याख्या गणितीय भौतिकी की कुछ तकनीको द्वारा ही सभव है। जो भी हो, उसका इस परिच्छेद की मूल-स्वातत्र्य की समस्या मे कोई सबध नही है।

सिद्धात है : इसका सबध उससे है जो है, जो वस्तुत. अस्तित्व रखता है ; परतु भविष्यवाणी का किया जा सकना एक ज्ञानमीमासीय बात है : उसका संबध जो अस्तित्व रखता है उसके हमारे ज्ञान से है। सही भविष्यवाणी करने के लिए न केवल यह जरूरी है कि प्रत्येक घटना का एक कारण हो, बल्कि हमारा विस्तार से यह जानना भी कि वे कारण क्या है और कारणो को कार्यो से जोडनेवाले नियम क्या है। भविष्यवाणी कर सकना नियतत्ववाद तथा नियमो के हमारे ज्ञान का मिला-जुला परिणाम है, परतु वह नियतत्ववाद का अंग नही है।

२. "परतु यदि नियतत्ववाद सही है तो प्रत्येक घटना जो होती है (मनुष्य के प्रत्येक कर्म के सहित) उसके पहले से वर्तमान उपाधियो तथा पहले हो चुकी घटनाओं से अनिवार्य रूप से उत्पन्न होती है। यदि प्रत्येक घटना अनिवार्यत. होती है तो मनुष्य का स्वतत्र होना कैसे सभव है ?" परतु प्रस्तुत सदर्भ से "अनिवार्य" (अवश्य) शब्द अनेक गडबडिया पैदा करता है। इसके मुख्य अर्थो को यहाँ स्पष्ट कर दिया जाए :

अ. एक तो तार्किक अर्थ है जिसमे "यह एक त्रिभुज है" से अनिवार्यत. यह बात निकलती है कि "इसके तीन कोण है।" केवल प्रतिज्ञप्तियाँ ही इस अर्थ मे एक-दूसरी से अनिवार्य रूप से निकल सकती है (यानी परस्पर अनुलग्न होती है)। हम इस अर्थ का विस्तार करके कुछ गुणधर्मो के साथ अन्य गुणधर्मो के अनुलग्न होने की बात भी कह सकते है। लाल होने के साथ रगीन होना अनुलग्न है, घनाकार होने के साथ बारह किनारोवाला होना अनुलग्न है, इत्यादि। परतु इस अर्थ मे कारण से कार्य अनिवार्य रूप से नही निकलता। यह बात सदैव तर्कतः सभव होती है कि उपाधियो के एक समुच्चय से एक निश्चित कार्य न पैदा हो, भले ही भूतकाल मे एक दूसरे के बाद कितने ही बार हो चुका हो।

ब. कभी-कभी यह कहा जाता है कि एक घटना अनिवार्यत. होती है, जिसका मतलब यह होता है कि उसका होना किसी नियम का एक दृष्टान्त है, और उससे निगमित होता है ; अर्थात् यह प्रतिज्ञप्ति कि यह घटना ख होती है "यदि क है तो ख है" और "क है', इन आधारिकाओ से निगमित होती है। और निगमित होती ही है ; निगमन वैध है। परतु निष्कर्ष केवल तभी सत्य है जब दोनो आधारिकाएँ सत्य हो। यदि ख किसी बार न हो (जो कि तर्कतः

संभव है) जबकि क हुआ है, तो इससे यह सिद्ध होगा कि आधारिका "यदि क है तो ख है" असत्य थी। नियम जो कि तर्क में साध्य-आधारिका बनता है ("यदि क है तो ख है") स्वयं एक इंद्रियानुभविक सामान्यीकरण होता है जिसके सदैव बाद के अनुभव से खंडन या संशोधन की आशंका रहती है।

स. "परंतु नियम स्वयं अनिवार्य रूप से लागू होता है।" यह भी एक भूल है। यदि मतलब सिर्फ यह हो कि नियम सभी प्रसंगो में लागू होता है, तो बात अलग है। परंतु इसका मतलब यह नही है कि वह एक अनिवार्य सत्य है, बल्कि केवल यह है कि उसका कोई अपवाद नही है। नियम की एक परिभाषक विशेषता यह है कि वह निरपवाद होता है : यदि वह निरपवाद नहीं है तो वह नियम नही है।

द. शायद "अनिवार्य" का "बाध्य" या "मजबूर" के अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है। परंतु इस अर्थ मे कारण कार्यो को अनिवार्य नही करते। कार्य कारणो के फलस्वरूप होते है, अन्यथा वे कार्य न होते। परतु कारण से होना और बाध्य होना एक ही बात नही है। जड प्रकृति मे बाध्यता नाम की कोई चीज नही हो सकती : बाध्य केवल चेतन प्राणी ही अन्य चेतन प्राणो को कर सकता है। पहली बिलियर्ड की गेंद दूसरी को चलने के लिए इस प्रकार बाध्य नही करती जैसे कि मानो कह रही हो "चलो, नही तो ?" चीजों और घटनाओं के बारे में हम इस तरह सोचा करते है जैसे कि ये एक-दूसरी का अनुसरण मात्र न करके एक-दूसरी को बाध्य करती हों। हम इस तरह बात करते है कि जैसे एक दु:खी कार्य अपने-आप को एक क्रूर कारण के चगुल से छुड़ाने की व्यर्थ ही कोशिश कर रहा हो। परतु यह निस्सदेह एक भूल है। पहली गेंद दूसरी से टकराती है और दूसरी आगे की ओर चल पड़ती है, और यह बात नियमित रूप से होती है ; बस इतनी-सी बात है। "बाध्य करना" केवल ऐसे प्राणियो के बारे मे बात करने मे ही सार्थक होता है जो अपनी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए दूसरे प्राणियो को विवश कर सकते है और इस प्रकार उनके निश्चयो तथा कामो को प्रभावित कर सकते है। चूंकि "बाध्य करना" केवल इसी संदर्भ मे अर्थ रखता है, इसलिए जड वस्तुओं के एक-दूसरी को बाध्य करने की बात कहना न सत्य है और न असत्य, बल्कि निरर्थक है, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग उस एकमात्र संदर्भ के बाहर किया जा रहा है जिसमे वह अर्थ रखता है। इसके विपरीत, मनुष्य अवश्य ही

एक दूसरे को बाध्य करते है, और कभी-कभी ऐसा होता है कि एक काम बाध्य होकर किया जाता है : एक आदमी दूसरे को मृत्यु या यातना का भय दिखाकर वह काम करने के लिए बाध्य कर सकता है जो वह अन्यथा नहीं करेगा। परतु बाध्यता मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे कारणता का एक विशेप रूप है मनुष्यो के अधिकाश काम बाध्य होकर नही किए जाते, हालांकि वे सब सकारण होते है। कोई मुझे किताब लिखने के लिए बाध्य नही कर रहा है, पर मैं किताब लिख रहा हूँ और किताब लिखने की मेरी इच्छा मेरे उसे लिखने का एक कारण है : केवल थोडे ही काम आदमियो के द्वारा बाध्य होकर किए जाते है, पर इसका मतलब यह नही है कि मनुष्यो के केवल थोडे ही काम कारणो से होते है। बाध्य होकर किए जानेवाले सब काम सकारण होते है, परन्तु सब सकारण होनेवाले काम बाध्य होकर नही किए जाते। "प्रत्येक चीज सकारण होती है, अत प्रत्येक चीज बाध्य होती है" कहना उसी तरह की भूल करना है जो यह कहने मे है कि "प्रत्येक वस्तु रगीन है, अतः प्रत्येक वस्तु लाल है"।

यदि "अनिवार्य करना" केवल "कारण के द्वारा कार्य के उत्पन्न होने" का ही समानार्थक है तो यह कहना वस्तुत. एक पुनरुक्ति है कि सब कारण समान रूप से कार्यो को अनिवार्य करते है। परतु यदि वह "बाध्य या मजबूर करना" का समानार्थक माना जाता है, जैसा कि आपत्ति मे माना गया है, तो मैं नही समझता कि यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है। वजह यह है कि एक घटना का दूसरी का कारण बनने के लिए जरूरी केवल इतना होता है कि · · उन दो प्रकार की घटनाओ के मध्य नियत साहचर्य हो, परतु लाक्षणिक अर्थ के अलावा किसी भी रूप मे वहाँ बाध्यता नही होती।[1]

३ "परन्तु यदि हर चीज कारण से उत्पन्न है तो क्या स्वय हमारे कर्म कारणो से उत्पन्न नही है?" नियततत्ववादी का जवाब है कि बिल्कुल हैं; और हमे इसके लिए आभारी होना चाहिए कि वे कारणो से उत्पन्न हैं, अन्यथा हम भी अनियततत्ववादी के कारणहीन कर्मों के शिकार हो गए होते। नियततत्ववादी के अनुसार हमारे कर्म सचमुच कारणो से होते है और कारण हम स्वय

---

१. ए० जे० एयर, "फ्रीडम एंड नेसेसिटी," फिलासोफिकल एसेज, पृ० २७१-८४।

हैं। "मैं अपने कर्मों का कारण हूँ" और "मेरे कर्म मेरे द्वारा किए जाते हैं" एक ही बात को कहते हैं। "मैं अपने कर्मों का कारण हूँ" स्वतन्त्रता का सूत्र है और "मेरे कर्म मेरे द्वारा किए जाते हैं" नियतत्ववाद का। नियतत्ववाद न केवल मानवीय स्वतन्त्रता से सगति रखता है, बल्कि मानवीय स्वतन्त्रता सभव ही इस आधार पर है कि नियतत्ववाद को सत्य माना जाए।[1]

"स्वतन्त्रता" एक अनिश्चितार्थक शब्द है जिसके सामान्य प्रयोग मे अनेक आंशिक रूप मे मिलते-जुलते अर्थ है। इसकी विस्तार से चर्चा करने मे कई पृष्ठ रँग जाएँगे। (१) हम इसका एक अभावात्मक अर्थ मे प्रयोग करते हैं जो बाध्यता के अभाव का सूचक है। इस अर्थ मे हम तब स्वतन्त्र हैं जब कोई हमे हमारी इच्छा के विरुद्ध काम करने के लिए विवश न कर रहा हो। यदि आप किसी निरकुश तानाशाह के शासन मे रह रहे है जिसमे आपके अधिकतर काम आपको कठोर दड का भय दिखाकर आपसे बलात् करवाए जाते है, तो आप स्वतन्त्र नही है। ऐसी परिस्थिति मे आप स्वय अपने निर्णय के अनुसार काम नही कर सकते बल्कि जैसा अन्य आपको आदेश देते है वैसा करने के लिए आप मजबूर होते है। ऐसी परिस्थितियो मे आप बाध्य होकर काम करते हैं और बाध्यता स्वतन्त्रता के विपरीत है। आप स्वतन्त्र हैं, यदि आप बाध्य न हो। (२) हम इसका एक भावात्मक अर्थ मे भी प्रयोग करते है। तब यह लगभग वही होता है जो सामर्थ्य है। इस अर्थ मे आप बाध्यता से नही बल्कि कुछ काम करने के लिए स्वतन्त्र होते है। आप उन कामो को करने के लिए स्वतन्त्र है जिन्हे आप चाहने पर कर सकते हैं। आप दस सेर का वजन उठाने के लिए स्वतन्त्र हैं, क्योकि आप चाहने पर यह कर सकते है; पर आप एक हजार सेर वजन उठाने के लिए स्वतन्त्र नही हैं, क्योकि आप चाहे या न चाहे, यह आप नही कर सकते। आप चलने के लिए स्वतन्त्र है (यदि आप लँगडे नही हैं तो), पर चिडिया की तरह आकाश मे उडने के लिए स्वतन्त्र नही है।

इन दो अर्थों मे से किसी मे भी कोई पूर्णतः स्वतन्त्र नही है। स्वतन्त्रता की मात्राएं और जिन बातो मे हम स्वतन्त्र है, वे व्यक्ति-व्यक्ति मे और स्थान-स्थान

---

१. देखिए आर० ई० हॉबर्ट, "फ्री-विल एज इनवॉल्विंग डिटर्मिनेशन एंड इनकन्सीवेबल विदाउट इट"।

एक दूसरे को बाध्य करते है, और कभी-कभी ऐसा होता है कि एक काम बाध्य होकर किया जाता है · एक आदमी दूसरे को मृत्यु या यातना का भय दिखाकर वह काम करने के लिए बाध्य कर सकता है जो वह अन्यथा नहीं करेगा। परतु बाध्यता मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे कारणता का एक विशेष रूप है मनुष्यो के अधिकाश काम बाध्य होकर नही किए जाते, हालांकि वे सब सकारण होते हे। कोई मुझे किताब लिखने के लिए बाध्य नही कर रहा है, पर मै किताब लिख रहा हूँ और किताब लिखने की मेरी इच्छा मेरे उसे लिखने का एक कारण है. केवल थोडे ही काम आदमियो के द्वारा बाध्य होकर किए जाते है, पर इसका मतलब यह नही है कि मनुष्यो के केवल थोडे ही काम कारणो से होते हैं। बाध्य होकर किए जानेवाले सब काम सकारण होते है, परन्तु सब सकारण होनेवाले काम बाध्य होकर नही किए जाते। "प्रत्येक चीज सकारण होती है, अत प्रत्येक चीज बाध्य होती है" कहना उसी तरह की भूल करना है जो यह कहने मे है कि "प्रत्येक वस्तु रगीन है, अतः प्रत्येक वस्तु लाल है"।

यदि "अनिवार्य करना" केवल "कारण के द्वारा कार्य के उत्पन्न होने" का ही समानार्थक है तो यह कहना वस्तुत. एक पुनरुक्ति है कि सब कारण समान रूप से कार्यों को अनिवार्य करते है। परतु यदि वह "बाध्य या मजबूर करना" का समानार्थक माना जाता है, जैसा कि आपत्ति मे माना गया है, तो मैं नही समझता कि यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है। वजह यह है कि एक घटना का दूसरी का कारण बनने के लिए जरूरी केवल इतना होता है कि · · उन दो प्रकार की घटनाओ के मध्य नियत साहचर्य हो ; परतु लाक्षणिक अर्थ के अलावा किसी भी रूप मे वहां बाध्यता नही होती।[1]

३ "परन्तु यदि हर चीज कारण से उत्पन्न है तो क्या स्वय हमारे कर्म कारणो स उत्पन्न नही है?" नियततत्ववादी का जवाब है कि बिल्कुल हैं; और हमे इसके लिए आभारी होना चाहिए कि वे कारणो से उत्पन्न है, अन्यथा हम भी अनियततत्ववादी के कारणहीन कर्मों के शिकार हो गए होते। नियततत्ववादी के अनुसार हमारे कर्म सचमुच कारणो से होते हैं और कारण हम स्वयं

---

१. ए० जे० एयर, "फ्रीडम एंड नेसेसिटी," फिलॉसॉफिकल एसेज़, पृ० २७१-८४।

हैं। "मैं अपने कर्मों का कारण हूँ" और "मेरे कर्म मेरे द्वारा किए जाते हैं" एक ही बात को कहते हैं। "मैं अपने कर्मों का कारण हूँ" स्वतन्त्रता का सूत्र है और "मेरे कर्म मेरे द्वारा किए जाते है" नियतत्ववाद का। नियतत्ववाद न केवल मानवीय स्वतन्त्रता से संगति रखता है, बल्कि मानवीय स्वतन्त्रता संभव ही इस आधार पर है कि नियतत्ववाद को सत्य माना जाए।[1]

"स्वतन्त्रता" एक अनिश्चितार्थक शब्द है जिसके सामान्य प्रयोग में अनेक आंशिक रूप में मिलते-जुलते अर्थ हैं। इसकी विस्तार से चर्चा करने में कई पृष्ठ रंग जाएँगे। (१) हम इसका एक अभावात्मक अर्थ में प्रयोग करते हैं जो बाध्यता के अभाव का सूचक है। इस अर्थ में हम तब स्वतन्त्र हैं जब कोई हमें हमारी इच्छा के विरुद्ध काम करने के लिए विवश न कर रहा हो। यदि आप किसी निरंकुश तानाशाह के शासन में रह रहे हैं जिसमें आपके अधिकतर काम आपको कठोर दंड का भय दिखाकर आपसे बलात् करवाए जाते हैं, तो आप स्वतन्त्र नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में आप स्वयं अपने निर्णय के अनुसार काम नहीं कर सकते बल्कि जैसा अन्य आपको आदेश देते हैं वैसा करने के लिए आप मजबूर होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में आप बाध्य होकर काम करते हैं और बाध्यता स्वतन्त्रता के विपरीत है। आप स्वतन्त्र हैं, यदि आप बाध्य न हों। (२) हम इसका एक भावात्मक अर्थ में भी प्रयोग करते हैं। तब यह लगभग वही होता है जो सामर्थ्य है। इस अर्थ में आप बाध्यता से नहीं बल्कि कुछ काम करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। आप उन कामों को करने के लिए स्वतन्त्र हैं जिन्हें आप चाहने पर कर सकते हैं। आप दस सेर का वजन उठाने के लिए स्वतन्त्र हैं, क्योंकि आप चाहने पर यह कर सकते हैं, पर आप एक हजार सेर वजन उठाने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि आप चाहें या न चाहें, यह आप नहीं कर सकते। आप चलने के लिए स्वतन्त्र हैं (यदि आप लँगड़े नहीं हैं तो), पर चिड़िया की तरह आकाश में उड़ने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं।

इन दो अर्थों में से किसी में भी कोई पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। स्वतन्त्रता की मात्राएँ और जिन बातों में हम स्वतन्त्र हैं, वे व्यक्ति-व्यक्ति में और स्थान-स्थान

---

१. देखिए आर० ई० हॉबर्ट, "फ्री-विल ऐज इनवॉल्विंग डिटर्मिनिज्म एँड इनकन्सीवेबल विदाउट इट"।

पर भिन्न होती है। पर हमारा सवाल स्वतत्रता और नियततत्ववाद के सबंध के बारे मे है। क्या नियततत्ववाद स्वतंत्रता के विरुद्ध है ? और नियततत्ववादी का स्पष्ट उत्तर है कि नही है। प्राय. हमारी स्वतत्रता के ऊपर प्रतिबध लगे होते है, जैसा कि रास्ते मे रोककर लूट लिया जानेवाला कोई भी व्यक्ति और सशस्त्र तानाशाही का शिकार होनेवाला हर व्यक्ति कहेगा। परतु इन प्रतिबधो को लगानेवाला नियततत्ववाद नही है। नियततत्ववाद केवल यह कहता है कि जो कुछ होता है उसका कोई-न-कोई कारण होता है। और जब तक वह कारण आप बन सकते है, और प्राय. (कम से कम अशत) ऐसा होता ही है, तब तक नियततत्ववाद के अनुसार आपकी स्वतत्रता के ऊपर कोई प्रतिबध नही है। दूसरे लोगो के काम और पर्यावरण की अवस्थाएँ, अथवा स्वय आपके अंदर की अवस्थाएँ, जैसे कोई अदम्य लालसा, आपकी स्वतत्रता को प्रतिबधित कर सकते है, परतु आपकी स्वतत्रता पर सर्वव्यापी कारणता के किसी सिद्धात से कोई प्रतिबध नही लगेगा।

तो यह तय रहा कि आपका काम सकारण होता है: उसका कारण आपका उसे कर डालने का निश्चय होता है। (पर यह स्वत पर्याप्त नही है। आपके अगो को स्वस्थ होना चाहिए, काम को ऐसा होना चाहिए कि उसे करने की आपमे सामर्थ्य हो, इत्यादि।) निश्चय$_1$ कर्म$_1$ का कारण है; निश्चय$_2$ कर्म$_2$ का कारण है। इससे अधिक स्वतत्रता आपको क्या चाहिए ? यदि आप कर्म$_1$ को करने का निश्चय करें और स्वय को उसके बजाय कर्म$_2$ को करते पाएँ तो क्या आप अधिक स्वतत्र होगे ? आप इससे अधिक स्वतत्रता क्या चाहेगे कि आपके कर्म आपके निश्चयो से उत्पन्न हो ?

४. "परतु यदि प्रत्येक घटना कारण से पैदा होती है तो हमारे निश्चय भी कारणो से उत्पन्न होते है। और यदि वे कारणो से उत्पन्न है तो हम स्वतत्र कैसे हो सकते है ?"

नियततत्ववादी का उत्तर है : "हमारे निश्चयो का कारण (प्राय.) हमारी इच्छा या पसदगी होती है। मैं आइसक्रीम से अधिक पसद केक को करता हूँ। इसलिए भोजन के बाद मैं उसे मँगाने का निश्चय करता हूँ और उसे मँगाता हूँ। स्वतत्रता का अभाव कहाँ हुआ ? मैं समझता हूँ कि यह स्वतत्र निश्चय का एक आदर्श उदाहरण है।"

"परतु यदि नियततत्ववाद सत्य है तो हमारी इच्छाएँ भी कारणो से उत्पन्न

है। निस्संदेह उनके कारण बहुत ही विविध होते हैं—जैसे हमारी आनुवंशिक प्रवृत्तियाँ, हमारा बचपन का पर्यावरण, अब तक बनी हुई हमारी आदतें, इत्यादि। परंतु यदि मेरे चुनाव मेरी इच्छाओं के परिणाम हैं और इच्छाओं को मैंने नहीं पैदा किया और न उनपर मेरा नियंत्रण ही है, तो मैं स्वतंत्र कैसे हो सकता हूँ ?"

"यह सच है कि जितने स्वतंत्र हम अपने कामों में हैं उससे कम ही स्वतंत्र अपनी इच्छाओं के मामले में हैं। यदि आपकी कोई इच्छा है, जैसे शराब पीने की इच्छा, तो शायद उस समय उसे बदलने के लिए आप कुछ भी न कर पाएँ। परंतु आप कोशिश करते रह सकते हैं : अगली बार आप पीने से इन्कार कर सकते हैं, मद्यव्यसनी-अनामिकों एल्कोहोलिक्स-अनोनिमस की संस्था के सदस्य बन सकते हैं और अंत में इस इच्छा से पूरी तरह मुक्ति पा सकते हैं। लोगों का अवश्य ही अपनी इच्छाओं के ऊपर कुछ नियंत्रण होता है, और उन्हें उनको बदलने में प्रायः आत्मानुशासन और संकल्प-शक्ति से सफलता भी मिल जाया करती है।'

"परंतु कुछ लोग इस शक्ति का प्रयोग करने की योग्यता रखते हैं और कुछ नहीं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि भरसक प्रयत्न करने के बावजूद अपने को अनुशासन में नहीं बाँध सकते और अपनी जमी हुई आदतों को बदलने में असमर्थ रहते हैं। कुछ सामर्थ्य रखते हैं और कुछ नहीं रखते। अंतर कारणों में होता है जो हमारे वश के बाहर होते हैं। कुछ लोगों में अपनी आदतों को बदलने के लिए आवश्यक प्रयत्न करने की शक्ति होती है और कुछ में नहीं होती। और हमने या किसी ने भी स्वयं को यह शक्ति नहीं दी है। हमारे अंदर वह या तो होती है या नहीं। निस्संदेह, यह हम तब तक नहीं जानते जब तक हम कोशिश करके नहीं देखते। यदि हम भरसक कोशिश करें और असफल रहें तो हम जान लेते हैं कि वह वास्तव में हमारे वश के बाहर था, और कि हम स्वतंत्र नहीं हैं।'

"पर मैंने यह कभी नहीं कहा कि हर आदमी हर बात में स्वतंत्र होता है। हर आदमी की स्वतंत्रता सीमित होती है, और कुछ आदमियों में वह अन्यों की अपेक्षा अधिक मात्रा में होती है। यदि बचपन में आपका पर्यावरण बहुत ही प्रतिकूल रहा और उसके फलस्वरूप आपकी बहुत उग्र आदतें बन गई हैं, तो बहुत संभव है कि बाद के जीवन में आप चाहे जो करें—मनश्चिकित्सक से चिकित्सा भी करवाएँ—कुछ भी उनसे छुटकारा पाने में आपकी मदद नहीं

करेगा। उनकी दृष्टि से आप उसी तरह स्वतंत्र नही है जिस तरह आप पुरुष (या स्त्री) होने के मामले मे स्वतंत्र नही थे। मैं केवल इसी बात का आग्रह कर रहा हूँ कि आप कुछ बातों मे स्वतंत्र है, और कि यह बात नियततत्ववाद से पूरी तरह सगति रखती है। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि स्वतंत्रता है, यह नही कि वह आदमी के हर काम मे और हर प्रवृत्ति मे विद्यमान है। यह सिद्ध करने के लिए कि स्वतत्रता नाम की कोई चीज है, मुझे यह सिद्ध नही करना पड़ेगा कि प्रत्येक कर्म, प्रत्येक निश्चय, प्रत्येक इच्छा स्वतत्र है। आपने कहा था कि नियततत्ववाद के अनुसार स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नही हो सकती। यह याद रखिए। इस बात को सिद्ध करने के लिए व्यवहार के उन क्षेत्रों की ओर सकेत कर देना काफी नही है जिनमे हम स्वतंत्र नही हे, क्योकि जब आप ऐसा करते ह तब मेरा केवल उन क्षेत्रो की ओर सकेत कर देना काफी होगा जिनमे हम स्वतत्र है।"

"बहुत ठीक। मेरा तर्क अब यह है : यदि नियततत्ववाद सही है तो परिस्थितियों के जिस पूरे समुच्चय ने आपसे वह काम करवाया है जो आपने किया है, उसकी उपस्थिति मे आप अपने जीवन मे किसी भी विशेष अवसर पर उससे भिन्न कोई काम न कर सके होते। वे परिस्थितियाँ जैसी थीं वैसी रहने पर आप केवल एक ही काम कर सकते थे : वह, जो आपने वास्तव में किया। हम अन्यथा केवल इसलिए सोचते है कि हम नही जानते कि वे परिस्थितियाँ क्या है।"

"अहा! अब हमारे सामने एक दार्शनिक दावा है। हम इसका मूल्यांकन करते हे। आप कहते है कि किसी भी अवसर-विशेष पर मैं उसके अलावा कोई काम न कर सका होता जो मैने किया है। अब, 'सकना" एक सामर्थ्य सूचक शब्द है। यह कहना कि मैं कुछ कर सकता हूँ, यह कहना है कि मैं उसे करने मे समर्थ हूँ—यह नही कि में निरतर उसे किए जा रहा हूँ, बल्कि यह कि में उसे करने मे समर्थ हूँ, जिसका अर्थ यह है कि यदि में उसे करने का निश्चय करूँ तो उसे कर डालूंगा। में चार मील प्रति घटा की चाल से चल सकता हूँ पर चालीस मील प्रतिघटा की चाल से नही, अर्थात् यदि मैं निश्चय करूँ तो चार मील की चाल से चलूंगा, परतु निश्चय, संकल्प या इच्छा की कोई भी मात्रा मुझे चालीस मील की चाल से चलने मे समर्थ नही बनाएगी। इस प्रकार कुछ बातें है जिन्हें मैं कर सकता हूँ और कुछ है जिन्हें मैं नही कर सकता।"

"सामान्य रूप मे, हाँ । परंतु मैं कह यह रहा हूँ कि अपने जीवन के किसी भी विशिष्ट क्षण मे—जब आपके सामने कोई चुनाव करने की बात हो तब (ऐसा हम मान लेते हैं)—आप केवल एक ही काम कर सकते है, वह काम जो आप वास्तव में करते हैं ।"

"यह सत्य नही है । इस क्षण में मैं कई बातें कर सकता हूँ । मैं बाई ओर चल सकता हूँ, मैं दाई ओर चल सकता हूँ या मैं जहाँ हूँ वही रुक सकता हूँ । इनमें से मैं जो भी बात करूँ उसके कारण होगे । सामान्य रूप से यदि मैं चलना चाहता हूँ तो मैं चलता हूँ और यदि चुपचाप खडा रहना चाहूँ तो खडा रहता हूँ । मैं क्या करता हूँ, यह इस बात पर निर्भर करता है कि मैं क्या करना चाहता हूँ । और इस प्रकार मैं फिर कहता हूँ कि मैं कम-से-कम इन विकल्पो के सबध मे स्वतत्र हूँ ।"

"मै इससे इन्कार नही करता कि यदि आप चाहे तो ये बाते कर सकते हैं । परतु परिस्थितियों के ठीक वही होने पर जिनमे आप स्वय को पाते हैं, आप कोई दूसरी बात करना ही नही चाह सके होते । आप जो चाहे सो कर सकते हैं, पर जो चाहें सो नही चाह सकते ।"

"परतु निश्चय ही मैं कोई भिन्न बात चाह सकता था । यदि पहले मैं व्हिस्की को चाहता था, लेकिन धीरे-धीरे व्हिस्की के बजाय कोकाकोला मुझे अच्छा लगने लगा, तो अत में व्हिस्की के बजाय मैं कोकाकोला चाह सकता था । क्या नही ?"

"निस्सदेह चाह सकते थे ; पर अब भी बात को आप नही समझ पाए । यदि इच्छा, सकल्प, चुनाव या काम करते समय जो परिस्थितियाँ आपकी हैं और जिस शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में आप है ठीक वही हो, तो जो आपने किया उसके अलावा कुछ भी आप न कर सके होते ।"

"मुझे आश्चर्य है कि आप यह जानने का दावा कैसे करते हैं । चूंकि आप नही जानते कि कारक क्या हैं, इसलिए आप यह जानने की स्थिति में नही हैं कि चुनाव का कोई दूसरा परिणाम नही हो सकता था ।"

"मैं यह जानने का दावा नही करता । मेरा दावा केवल यह है कि यदि नियततत्ववाद सत्य है तो बात यह होती । मैं आपके नियततत्ववाद के आधार पर ही यह दिखाने की कोशिश कर रहा हूँ कि स्वतत्रता असभव है ।"

इसे मैं इस रूप मे रखता हूँ : 'यदि सभी स्थितियाँ वही होती तो क्या आपने कोई और काम किया होता ?'"

"ठीक है। यदि स्थितियाँ आज वही होती जो वे एक वर्ष पहले तब थी जब राम ने मुझसे सौ रुपए उधार माँगे थे, तो मैंने और ही काम किया होता : मैंने उसे उधार न दिया होता, क्योंकि पिछली बार उसने वह रुपया वापस नही किया था।"

"निस्संदेह। परंतु 'सब स्थितियों' से मेरा मतलब सचमुच सभी स्थितियों से है, न कि बाह्य स्थितियों मात्र से : और उनमे आप स्वयं तथा आपकी मानसिक स्थिति भी शामिल होनी चाहिए। आप निस्संदेह अब भिन्न हो गए है; इस अवधि में अनेक बातें हो चुकी हैं, विशेषतः यह बात कि जब आपने पहले राम को रुपया उधार दिया था तब आप धोखा खा गए। परतु एक क्षण के लिए मान लीजिए कि दूसरी बार आप बिल्कुल वही हुए होते। निस्संदेह ऐसा कभी होता नही है पर मान लीजिए कि हो जाता है : बाह्य स्थितियाँ ठीक वही एक वर्ष पूर्व वाली है, और पिछली बार के अनुभव की कोई स्मृति शेष नही रही। तब आपने वही बात दोहराई होती। है न ? आप ठीक वही करते जो आपने उस बार किया था, क्योंकि (प्राक्कल्पनातः) आप बिल्कुल वही है जो उस बार थे। आप कोई और काम न कर सकते।"

"न कर सकते ? आपका मतलब है कि चाहने पर भी मैंने न किया होता ?"

"हाँ, आपने न किया होता।"

"और मान लीजिए कि अपनी सर्वोत्तम जानकारी के अनुसार पूरी जाँच-पड़ताल के बाद हम यह निष्कर्ष निकालते कि स्थितियाँ सब की सब हूबहू वही थीं जो तब थी। और अब मान लीजिए कि अंत मे मैंने काम कोई और किया। तब आप क्या कहते ? क्या आप यह कहते कि आपका विश्वास (कि इस बार मैं कोई और काम नही करूँगा) खडित हो गया ?"

"नही, मैं नही कहता। मैं कहता कि स्थितियाँ हूबहू वही नही थी।"

"निस्सदेह। और यदि स्थितियों मे हमने कभी कोई अतर न भी पाया होता, तो भी आप यही कहते कि उनमें अंतर था। है न ? आप कहते कि उन्हें भिन्न होना चाहिए, क्योंकि परिणाम भिन्न था। और यह किस प्रकार

का 'चाहिए' है ? आप अपनी प्राक्कल्पना को प्रागनुभविक बना रहे हे। है न ? आप इस तथ्य को कि परिणाम भिन्न है, आगे कोई जाँच-पड़ताल किए बिना ही यह सिद्ध करनेवाला मान रहे है कि स्थितियाँ भिन्न थी। अतः या तो आप कारण-सिद्धात का एक प्रागनुभविक सत्य मान रहे हे या उसे खेल के एक नियम के रूप मे ले रहे हैं। पहली दशा मे आप कैसे जानते हैं कि वह सत्य है ? और दूसरी दशा मे तो वह जगत् के बारे मे कोई सचाई बताता ही नही।"

"अच्छा, आप तो एक नियतत्ववादी है। आप उसे किस रूप में लेते है ?"

"एक नियतत्ववादी के रूप मे मैं उसे इनमें से किसी रूप में ले सकता हूँ। प्रत्येक व्याख्या को अलग से सप्रमाण प्रस्तुत करना पड़ेगा। परंतु यदि मैं उसे जगत् के बारे मे एक सचाई मानता हूँ तो मैं उसे प्रकृति के किसी नियम की तरह एक इंद्रियानुभविक सत्य के रूप मे लूंगा। मैं मानता हूँकि इस रूप मे इसके पक्ष में प्रमाण अपर्याप्त है। पर यह मानते हुए कि वह सत्य है, मैं आपको केवल यह समझाना चाहता हूँ कि वह मानवीय स्वतंत्रता का विरोधी नही है। यह मांग करना कि सब कारणात्मक उपाधियों के ठीक वही रहने पर भी मैं कोई और काम कर सका होता, एक स्वतोव्याघाती माँग करना है। स्वाभाविक है कि मैं इस जाल मे फँसनेवाला नही हूँ। तो फिर शेष केवल यही कहना रह जाता है कि यदि सभी स्थितियाँ वही होती तो मैंने वही काम किया होता। और इसे मैं सत्य मानता हूँ। परंतु यदि यह सत्य है तो फिर भी स्वतंत्रता से इसकी कोई असंगति नही है, क्योकि यह फिर भी सत्य है कि मैं भिन्न काम कर सकता था, अर्थात् यदि मैं चाहता तो मैंने भिन्न काम किया होता। बस इतनी ही स्वतंत्रता मुझे चाहिए या इतनी की ही मांग करना तर्कसंगत हो सकता है।"

नियतत्ववाद स्वतंत्रता का विरोधी है – परंतु गलतियाँ करने के बावजूद प्रश्नकर्ता के हाथ कुछ लग गया है। मैं भिन्न काम कर सकता था ; यह सत्य है। यदि मैंने चाहा होता तो मैं भिन्न काम कर सकता था, क्योंकि मेरे चाहने से एक स्थिति बदल गई होती। परंतु मैंने भिन्न काम केवल तब किया होता जब कोई स्थिति भिन्न हुई होती—जब कुछ बाह्य स्थितियाँ भिन्न

इसे में इस रूप मे रखता हूँ : 'यदि सभी स्थितियाँ वही होती तो क्या आपने कोई और काम किया होता ?'"

"ठीक है। यदि स्थितियाँ आज वही होती जो वे एक वर्ष पहले तव थी जब राम ने मुझसे सौ रुपए उधार माँगे थे, तो मैंने और ही काम किया होता : मैने उसे उधार न दिया होता, क्योकि पिछली बार उसने वह रुपया वापस नही किया था।"

"निस्सदेह। परतु 'सब स्थितियो' से मेरा मतलब सचमुच सभी स्थितियो से है, न कि बाह्य स्थितियो मात्र से : और उनमे आप स्वय तथा आपकी मानसिक स्थिति भी शामिल होनी चाहिए। आप निस्सदेह अब भिन्न हो गए है; इस अवधि में अनेक बाते हो चुकी है, विशेषतः यह बात कि जव आपने पहले राम को रुपया उधार दिया था तव आप धोखा खा गए। परतु एक क्षण के लिए मान लीजिए कि दूसरी बार आप बिल्कुल वही हुए होते। निस्सदेह ऐसा कभी होता नही है पर मान लीजिए कि हो जाता है : बाह्य स्थितियाँ ठीक वही एक वर्ष पूर्व वाली है, और पिछली बार के अनुभव की कोई स्मृति शेष नही रही। तव आपने वही वात दोहराई होती। है न ? आप ठीक वही करते जो आपने उस बार किया था, क्योकि (प्राक्कल्पनात.) आप बिल्कुल वही हे जो उस बार थे। आप कोई और काम न कर सकते।"

"न कर सकते ? आपका मतलब है कि चाहने पर भी मैने न किया होता ?"

'हाँ, आपने न किया होता।"

"और मान लीजिए कि अपनी सर्वोत्तम जानकारी के अनुसार पूरी जाँच-पडताल के वाद हम यह निष्कर्ष निकालते कि स्थितियाँ सब की सब हूबहू वही थी जो तब थी। और अब मान लीजिए कि अत मे मैंने काम कोई और किया। तव आप क्या कहते ? क्या आप यह कहते कि आपका विश्वास (कि इस वार मैं कोई और काम नही करूँगा) खडित हो गया ?"

"नही, मैं नही कहता। मैं कहता कि स्थितियाँ हूबहू वही नही थी।"

'निःसदेह। और यदि स्थितियो मे हमने कभी कोई अतर न भी पाया होता, तो भी आप यही कहते कि उनमे अतर था। है न ? आप कहते कि उन्हे भिन्न होना चाहिए, क्योकि परिणाम भिन्न था। और यह किस प्रकार

का 'चाहिए' है ? आप अपनी प्राक्कल्पना को प्रागनुभविक बना रहे है। है न ? आप इस तथ्य को कि परिणाम भिन्न है, आगे कोई जाँच-पड़ताल किए बिना ही यह सिद्ध करनेवाला मान रहे है कि स्थितियाँ भिन्न थी। अतः या तो आप कारण-सिद्धांत का एक प्रागनुभविक सत्य मान रहे है या उसे खेल के एक नियम के रूप में ले रहे है। पहली दशा मे आप कैसे जानते है कि वह सत्य है ? और दूसरी दशा में तो वह जगत् के बारे में कोई सचाई बताता ही नही।"

"अच्छा, आप तो एक नियतत्ववादी है। आप उसे किस रूप में लेते है ?"

"एक नियतत्ववादी के रूप मे मै उसे इनमे से किसी रूप मे ले सकता हूँ। प्रत्येक व्याख्या को अलग से सप्रमाण प्रस्तुत करना पड़ेगा। परंतु यदि मै उसे जगत् के बारे में एक सचाई मानता हूँ तो मैं उसे प्रकृति के किसी नियम की तरह एक इंद्रियानुभविक सत्य के रूप मे लूँगा। मैं मानता हूँकि इस रूप मे इसके पक्ष मे प्रमाण अपर्याप्त है। पर यह मानते हुए कि वह सत्य है, मै आपको केवल यह समझाना चाहता हूँ कि वह मानवीय स्वतंत्रता का विरोधी नही है। यह माँग करना कि सब कारणात्मक उपाधियो के ठीक वही रहने पर भी मैं कोई और काम कर सका होता, एक स्वतोव्याघाती माँग करना है। स्वाभाविक है कि मैं इस जाल में फँसनेवाला नहीं हूँ। तो फिर शेप केवल यही कहना रह जाता है कि यदि सभी स्थितियाँ वही होती तो मैंने वही काम किया होता। और इसे मैं सत्य मानता हूँ। परंतु यदि यह सत्य है तो फिर भी स्वतंत्रता से इसकी कोई असंगति नही है, क्योंकि यह फिर भी सत्य है कि मैं भिन्न काम कर सकता था, अर्थात् यदि मैं चाहता तो मैंने भिन्न काम किया होता। वस इतनी ही स्वतंत्रता मुझे चाहिए या इतनी की ही माँग करना तर्कसंगत हो सकता है।"

नियतत्ववाद स्वतंत्रता का विरोधी है— परंतु गलतियाँ करने के बावजूद प्रश्नकर्ता के हाथ कुछ लग गया है। मैं भिन्न काम कर सकता था ; यह सत्य है। यदि मैंने चाहा होता तो मैं भिन्न काम कर सकता था, क्योंकि मेरे चाहने से एक स्थिति बदल गई होती। परंतु मैंने भिन्न काम केवल तब किया होता जब कोई स्थिति भिन्न हुई होती— जब कुछ बाह्य स्थितियाँ भिन्न

हुई होतीं, या मैं भिन्न प्रकार का व्यक्ति हुआ होता। लेकिन इससे स्वतंत्रता का समर्थन कैसे होता है? यह ज्ञात होना काफी नहीं है कि यदि मैं किसी बात में भिन्न हुआ होता तो मैंने भिन्न काम किया होता। मैं यह जानना चाहता हूँ कि मुझ अमुक व्यक्ति ने ठीक इन गुणों के रहते हुए और जैसा मैं इस समय हूँ ठीक वैसा रहते हुए क्या कोई भिन्न काम किया होता? स्वतंत्रता के लिए इससे कम की बिल्कुल भी जरूरत नहीं है, और अनेक लेखकों ने इस बात का समर्थन किया है :

आबंध और दोष के प्रत्ययों को हम उचित रूप से नैतिक प्रत्यय केवल इसी शर्त पर मानते चल सकते हैं कि हम ऐसे कर्मों का किया जाना भी मान सकते हों जो विश्व में प्रत्येक अन्य बात के यथावत् रहने के बावजूद भिन्न हो सकते थे।[1]

नैतिक दायित्व के लिए यह जरूरी है कि आदमी कर्म से पहले विश्व की जो स्थिति थी और स्वयं वह जैसा था उसके ठीक वही रहने के बावजूद अन्य वैकल्पिक कर्मों का चुनाव करने में समर्थ हो। मैं नहीं समझता कि इससे अधिक कोई बात कैसे कही जा सकती है कि "वह भिन्न काम कर सकता था", यह हमारा सच्चा और पक्का अभिप्राय है। यदि विश्लेषण इसके साथ न्याय करने मे असफल रहता है तो यह उसी के लिए खराब बात है।[2]

और इसके बावजूद नियततत्ववादी इस शर्त को स्वीकार नही कर सकता। जब तक वह नियततत्ववादी रहता है तब तक नही कर सकता। यदि उपाधियों का ठीक यही समुच्चय हो तो वह यह कहने के लिए बँधा हुआ है कि केवल यही इच्छा पैदा होगी (ये उपाधियाँ इस इच्छा के होने की पर्याप्त उपाधियाँ है)। और यदि ठीक यह इच्छा तथा उसकी अनुषंगी स्थितियाँ हों, तो ठीक यही चुनाव होगा। और यदि यह चुनाव हो तो उसके परिणामस्वरूप केवल यही कर्म होगा। प्रत्येक चरण अगले चरण की एक पर्याप्त उपाधि है। इस प्रकार हम क्या अब भी कारण और कार्य के जाल में नही फँसे हुए हैं, जिसमें प्रत्येक चरण ठीक बाद के चरण की एक पर्याप्त उपाधि है? और यदि

---

१. एच० डी० ल्यूइस, "गिल्ट ऐण्ड फ्रीडम" डब्ल्यू० सेलर्स तथा जे० हॉस्पर्स द्वारा संपादित रीडिंग्ज इन इथिकल थियरी, पृ० ६१५-१६।

२. जे० डी० मैबॉट, कंटेम्पोररी ब्रिटिश फिलासफी, तृतीय शृंखला, पृ० ३०१-२।

वर्णन शायद ही होगा। यह तो पूरी तरह से एक कठपुतली का वर्णन है। किसी आदमी को अपनी कठपुतली बनाने के लिए यह जरूरी नही है कि जिस तरह सचमुच की कठपुतलियो को चलाया जाता है उस तरह उसके हाथ-पैरों की गतियों को बलपूर्वक करवाया जाए। किसी आदमी को अपनी कठपुतली बनाने का इससे सूक्ष्म परन्तु इतना ही प्रभावशाली तरीका उसकी आंतरिक अनुभूतियों के ऊपर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर लेना होता है, जिससे यह पक्का रहे कि उसका शरीर उनके अनुसार ही चलेगा। ....

इस बात से भी कोई अंतर नही पड़ता कि मेरी जिन आतरिक अवस्थाओ को मेरी सब "स्वतत्र" क्रियाओं को पैदा करनेवाली कहा जाता है वे मेरे अंदर किसी दूसरे कर्ता के द्वारा पैदा की जाती है या पूर्णतः अवैयक्तिक शक्तियो के द्वारा। उदाहरण के लिए, इससे जरा भी फर्क नही पड़ता कि जो इच्छा मेरे शरीर के एक विशेष तरीके से व्यवहार करने का कारण बनती है वह मुझे किसी दूसरे व्यक्ति से प्राप्त होती है या आनुवशिक तत्वो से पैदा होती है या किसी और स्रोत से आती है। जो भी हो, यदि वह वास्तव मे मेरे शारीरिक व्यवहार का कारण है तो मैं उसके अनुसार काम किए बिना नही रह सकता। जहाँ से भी वह आई हो, उसका मूल स्रोत चाहे वैयक्तिक हो या अवैयत्तिक हो, है वह पूरी तरह से कारणसापेक्ष या नियत, और इसलिए वह मेरे नियत्रण मे नहीं है। वास्तव में, यदि नियतत्ववाद सत्य है........... तो वे सब आतरिक अवस्थाएँ जो मेरे शरीर से वह व्यवहार करवाती है जो वह करता है निश्चित रूप से उन परिस्थितियो से उत्पन्न होती है जो मेरे जन्म से पहले से विद्यमान थी। कारणो और कार्यो की श्रृंखला अनंत है और पूर्ववर्ती बाते जो थी उनके होते हुए कोई भी बात थोड़ी भी भिन्न न हो सकी होती (पिछली युक्ति को देखते हुए "न हुई होती" कहना ठीक होगा)।[1]

यदि यह युक्ति ठीक है तो नियतत्ववादी के सामने फिर भी यह समस्या बनी हुई है कि उसके मत के सही होने पर मानवीय स्वतत्रता कैसे संभव है। उसने अपने प्रतिपक्षी की युक्तियो मे अनेक कमियाँ और दोष निकाले है (जैसे "सकता था" मे निकाला गया दोष), पर अब भी उसके सामने इस आरोप का जवाब देने की समस्या है कि यदि उसका मत ठीक है तो स्वतंत्रता एक

१. रिचर्ड टेलर, मेटाफिजिक्स, पृ० ४५-४६।

क ख के लिए पर्याप्त है तो ख नियत रूप से क का अनुसरण करेगा। "पर्याप्त उपाधि" का यही अर्थ है।

क्या इससे स्वतन्त्रता लुप्त नही हो जाती ? क्या शायद हमने "स्वतन्त्रता" की बहुत ही सतही परिभाषा नही दी है ? यदि मैं क को कर सकता हूँ तो मैं उसे करने के लिए स्वतन्त्र हूँ और यह कहने का कि मैं क को कर सकता हूँ, यह अर्थ है कि यदि मैं क को चुनूँगा तो उसे कर डालूँगा। इस अर्थ मे हम सब अपने बहुत से कामो मे स्वतन्त्र है, और इसे सब स्वीकार करेगे। परतु यदि हम और अधिक गहरी जाँच करे तो क्या हम यह नही पाएँगे कि यह स्वतन्त्रता उस स्वतन्त्रता से अधिक नही है जो घडी के डायल के ऊपर घूमने मे उसकी सुइयो को प्राप्त होती है ? सुइयो की प्रत्येक गति नियत होती है। मान लीजिए कि जिस समय मेरा व्यवहार पूर्णतः मेरे अपने ही सकल्पो के अनुरूप होता है और इस तरह स्वतन्त्रता की जिस धारणा की हम जाँच कर रहे है उसके अनुसार "स्वतन्त्र" होता है, उस समय स्वय मेरे सकल्प कारणो से उत्पन्न होते है। हम मान सकते है कि कोई कुशल शरीरक्रियाविज्ञानी एक यन्त्र के ऊपर लगे हुए विभिन्न बटनो को सिर्फ दबाकर ही (मान लीजिए कि उस यन्त्र से मैं कई तारो के जरिए जुडा हुआ हूँ) मनचाहे तरीके से मेरे अदर सकल्प पैदा कर सकता है। तदनुसार उस परिस्थिति मे जितने भी मेरे सकल्प होगे वे सब बिल्कुल वही होगे जो वह मुझे देना है। एक बटन को दबाकर वह मेरे अदर हाथ को ऊपर उठाने का सकल्प पैदा करता है, और मेरा हाथ बाधा के न होने से उस सकल्प के अनुसार ऊपर उठ जाता है। एक और बटन को दबाकर वह मेरे अदर ठोकर मारने का सकल्प पैदा करता है, और बाधा के अभाव मे उसके अनुसार मेरा पैर ठोकर मारता है। हम यह तक मान सकते है कि शरीरक्रियाविज्ञानी एक बदूक मेरे हाथ मे दे देता है, निकट से गुजरनेवाले किसी व्यक्ति की ओर उसकी नली कर देता है और तब उपयुक्त बटन को दबाकर मेरे अदर घोडे को दबाने का सकल्प पैदा करता है, जिससे वह व्यक्ति गोली खाकर मर जाता है।

यह एक ऐसे आदमी का वर्णन है जो अपने आतरिक सकल्पो के अनुसार काम कर रहा है, जिसके शरीर के हिलने-डुलने मे कोई चीज बाधक नही है और न कोई जिसे बाध्य करनेवाला है, क्योकि उसकी गतियाँ उन आतरिक अवस्थाओ के परिणाम है। लेकिन यह एक स्वतन्त्र और जिम्मेदार कर्ता या

का क्या होगा ? प्राक्कल्पना के अनुसार उसका कारण उससे पहले अस्तित्व रखनेवाली कोई उपाधि नही था । तो ऐसा लगता है कि उसका कुछ भी कारण नही था । परतु यदि उसका कोई कारण नही था तो हम कम-से-कम उस प्रथम निश्चय के मामले मे अनियतत्ववाद पर अटक जाते है। यदि उसका कोई कारण नही था तो वह आकाश से अकस्मात् गिरनेवाले वज्र के समान है (इस अंतर के साथ कि वज्र का अवश्य एक कारण होता है) और जैसे वज्र हमारे निश्चय की उपज नही है वैसे ही वह हमारा निश्चय नही है। (और यदि हमारा कोई पहले से बना हुआ चरित्र न हो तो हम निश्चय कर ही कैसे सकते हैं ? और वे पूर्ववर्ती स्थितियाँ क्या होगी जो इस चरित्र को बना सकी होगी ?)

२. अथवा एक और ढग से दलील दी जा सकती है : अनुभव के कुछ तथ्य है जो निश्चयात्मक है, जबकि तत्वमीमासीय सिद्धात, जैसे नियतत्ववाद और अनियतत्ववाद, अनुभव के इन तथ्यो की अपेक्षा कही कम प्रसभाव्य है। यदि दोनो मे से हमे चुनाव करना पडे तो अनुभव के तथ्यो को प्राथमिकता मिलनी चाहिए और जो सिद्धात उनके विपरीत हैं उन्हें छोड दिया जाना चाहिए। परतु अनुभव के ये तथ्य है क्या ?

(अ) "मुझे स्वतत्र होने की अनुभूति होती है। यह बात निश्चित है कि मुझे ऐसी अनुभूति होती है, और यदि उसका होना नियतत्ववाद (या किसी भी अन्य सिद्धात) से मेल नही खाता तो बात सिद्धात के प्रतिकूल जाएगी।" परतु यह "स्वतन्त्रता की अनुभूति" ठीक-ठीक है क्या ? हम सबको निश्चय करने की अनुभूति होती है और हम देखते है कि हमारे निश्चय प्रायः बाद मे होनेवाली घटनाओं मे अतर लाते हैं। परतु नियतत्ववाद इनमे से किसी बात का निषेध नही करता। नियतत्ववाद हमे इस बात की याद मात्र दिलाता है कि हमारे अदर इस अनुभूति का होना कारण-सिद्धात की सत्यता के बारे मे कुछ भी सिद्ध नही करता। अतर्निरीक्षण से केवल यह पता चलता है कि हमे कुछ अनुभव होते है : वह हमे इसके अलावा किसी तथ्य की सूचना नही दे सकता कि ये अनुभव स्वय होते हैं। हमे निश्चय करने, विचार करने इत्यादि का अनुभव होता है, परतु उन निश्चयो के तथा इच्छाओं और पसदो के कारण हमसे छिपे रहते हैं ; इनका अतर्निरीक्षण से हमे कोई जानकारी नही हो सकती। इस प्रकार इन छिपे हुए स्रोतो के बारे मे नियतत्ववाद जो कुछ

का क्या होगा ? प्राक्कल्पना के अनुसार उसका कारण उससे पहले अस्तित्व रखनेवाली कोई उपाधि नही था। तो ऐसा लगता है कि उसका कुछ भी कारण नही था। परतु यदि उसका कोई कारण नही था तो हम कम से कम उस प्रथम निश्चय के मामले मे अनियततत्ववाद पर अटक जाते है। यदि उसका कोई कारण नही था तो वह आकाश से अकस्मात् गिरनेवाले वज्र के समान है (इस अतर के साथ कि वज्र का अवश्य एक कारण होता है) और जैसे वज्र हमारे निश्चय की उपज नही है वैसे ही वह हमारा निश्चय नही है। (और यदि हमारा कोई पहले से बना हुआ चरित्र न हो तो हम निश्चय कर ही कैसे सकते हैं ? और वे पूर्ववर्ती स्थितियाँ क्या होगी जो इस चरित्र को बना सकी होगी ?)

२ अथवा एक और ढग से दलील दी जा सकती है अनुभव के कुछ तथ्य है जो निश्चयात्मक है, जबकि तत्त्वमीमासीय सिद्धात, जैसे नियतत्ववाद और अनियतत्ववाद, अनुभव के इन तथ्यो की अपेक्षा कही कम प्रसभाव्य है। यदि दोनो मे से हमे चुनाव करना पडे तो अनुभव के तथ्यो को प्राथमिकता मिलनी चाहिए और जो सिद्धात उनके विपरीत है उन्हे छोड दिया जाना चाहिए। परतु अनुभव के ये तथ्य है क्या ?

(अ) "मुझे स्वतत्र होने की अनुभूति होती है। यह बात निश्चित है कि मुझे ऐसी अनुभूति होती है, और यदि उसका होना नियतत्ववाद (या किसी भी अन्य सिद्धात) से मेल नही खाता तो बात सिद्धात के प्रतिकूल जाएगी।" परतु यह "स्वतन्त्रता की अनुभूति" ठीक ठीक है क्या ? हम सबको निश्चय करने की अनुभूति होती है और हम देखते है कि हमारे निश्चय प्राय बाद मे होनेवाली घटनाओ मे अतर लाते हैं। परतु नियतत्ववाद इनमे से किसी बात का निषेध नही करता। नियतत्ववाद हमे इस बात की याद मात्र दिलाता है कि हमारे अदर इस अनुभूति का होना कारण सिद्धात की सत्यता के बारे मे कुछ भी सिद्ध नही करता। अतर्निरीक्षण से केवल यह पता चलता है कि हमे कुछ अनुभव होते हैं वह हमे इसके अलावा किसी तथ्य की सूचना नही दे सकता कि ये अनुभव स्वय होते हैं। हमे निश्चय करने, विचार करने इत्यादि का अनुभव होता है, परतु उन निश्चयो के तथा इच्छाओ और पसदो के कारण हमसे छिपे रहते हैं, इनके अतर्निरीक्षण से हमे कोई जानकारी नही हो सकती। इस प्रकार इन छिपे हुए स्रोतो के बारे मे नियतत्ववाद जो कुछ

नियतत्ववाद (अतिम रूप मे) यह कहता है कि भविष्य हमारे हाथ मे नही है बल्कि हम क्या निश्चय करेंगे, यह पहले से नियत है, तो इस सिद्धात को छोड देना होगा।

इसमे 'अनुभव का तथ्य'' स्पष्टत. क्या है ? यह कि हम निश्चय करते है, और हमारा निश्चय कभी-कभी बाद मे होनेवाली बातो मे अतर ले आता है। नियतत्ववाद सत्य हो या न हो, यह तो एक तथ्य है ही , और यहां तक बात नियतत्ववाद के बिल्कुल भी विपरीत नही है। नियतत्ववाद के विपरीत तो यह विश्वास है कि ये चुनाव स्वय पूर्ववर्ती स्थितियो के परिणाम नही हे ; परतु उनका ऐसा होना या न होना अनुभव के असदिग्ध तथ्य मे शामिल नही है। अतर्निरीक्षण नही बता सकता कि हमारे निश्चय पूर्ववर्ती स्थितियो से उत्पन्न परिणाम हे या नही। यदि वह ऐसा दावा करता है तो गलती अतर्निरीक्षण के फैसले की होगी न कि नियतत्ववाद की।

(स) यह दावा किया जा सकता है कि जो मैंने किया है उससे भिन्न कोई काम प्राय मैं कर सकता था और यह एक तथ्य है। अतर्निरीक्षण इसकी गारटी नही दे सकता, क्योकि वह केवल वही बता सकता है जिसका हमे अनुभव होता है, वह नही जो किसी बात के भिन्न होने की दशा मे हुआ होता। परतु अतर्निरीक्षणगम्य न होने पर भी यह दावा सही जैसा लगता है कि हमने जो किया है उससे भिन्न तरीके से हम काम कर सकते थे।

मान लीजिए कि यह एक तथ्य है। तब इसकी नियतत्ववाद से सीधी टक्कर होती है, जो यह कहता है कि हमारे कर्म के पहले की उपाधियो के समुच्चय के जो वह है ठीक वही रहते हुए हम कभी कोई और काम नही कर सकते थे (या न किए होते)। परतु यह कथन उस तथ्य से मेल नही खाता। दो असगत तथ्य हो ही नही सकते . यदि एक सत्य है तो दूसरे को मिथ्या होना चाहिए। यह बात सत्य है कि हम प्राय. कोई भिन्न काम कर सके होते ; अतः नियतत्ववादी का इस बात से इन्कार गलत होना चाहिए। इस तरह दलील दी जाती है।

परतु क्या यह एक तथ्य है कि हम कभी भिन्न तरीके से भी काम कर सकते थे ? विवादास्पद बात तो यही है। और तथ्य क्या बताया गया है ? यह कि यदि एक या अधिक उपाधियां भिन्न हुई होती तो कभी कभी हम कोई

कहता है वह हमे "स्वतंत्रता की अनुभूति" होने के बावजूद सत्य हो सकता है।

इस युक्ति मे यह भी हो सकता है कि "स्वतंत्रता की अनुभूति" का आश्रय न लेकर स्वतंत्रता में हम सबका जो अटूट विश्वास है उसका आश्रय लिया जाए। परंतु किसी विश्वास की व्यापकता, उसकी सर्वव्यापकता भी, इस बात का प्रमाण बिल्कुल नही होती कि वह सत्य है। यदि एक आदमी गलती कर सकता है तो अनेक या सब भी गलती कर सकते है। इसके अलावा, यह "स्वतंत्रता में सर्वव्यापक और अटूट विश्वास" क्या है ? क्या यह कारण-सिद्धांत का विरोधी वह विश्वास है जिसका समर्थन अनियततत्ववादी करते है ? परंतु यह कहना बहुत ही संदिग्ध है कि यह विश्वास सर्वव्यापक है। बल्कि इतना तक पक्का नही है कि काफी अधिक लोगो ने इस बात पर विचार किया है और उसके बाद वे स्वतंत्रता के बारे मे इस विशेष अर्थ में दृढ़ता के साथ स्वीकारोक्ति या अस्वीकारोक्ति करने की स्थिति मे आ पाए है। अधिकतर लोगों का स्वतंत्रता में जो विश्वास है उसका केवल यह मतलब है कि वे प्रायः जो चाहते है वह कर सकते हे, और उनके कर्म उनके चुनाव के अनुसार ही होते हे, इत्यादि—और यह सब अवश्य ही नियततत्ववादी भी मानते है।

(ब) परंतु हम बात को और अधिक विशिष्ट करके कह सकते है। हम विमर्श करते है, और विमर्श अनुभूति से अधिक होता है। हम अपने ही व्यवहार के बारे मे विमर्श करते है, दूसरो के नही ; हम केवल भविष्य के बारे में विमर्श कर सकते है, अतीत के बारे में नही : यदि हम पहले से जानते हों कि हम क्या करेंगे तो हम यह विमर्श नही कर सकते कि हम क्या करेंगे—उस अवस्था में विमर्श करने के लिए कोई बात ही नही होगी—और यदि हम यह न भी जानते हों कि हम क्या करेंगे तो भी हम इस संबंध मे विमर्श तब तक नही कर सकते जब तक हम यह विश्वास न करते हों कि जो हम करने जा रहे है वह हमारे वश में है : यदि हम दूसरों के वश में है या परिस्थितियों के वश मे है जिनपर हमारा कोई नियंत्रण नही है, तो हम उनके बारे में विमर्श नही कर सकते।[1] अब यह कहा जा सकता है कि हमारा विमर्श करना एक तथ्य है। यदि यह तथ्य नियततत्ववाद से मेल नही खाता और

---

१. रिचर्ड टेलर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ३७-३८।

नियतत्ववाद (अंतिम रूप में) यह कहता है कि भविष्य हमारे हाथ में नही है बल्कि हम क्या निश्चय करेंगे, यह पहले से नियत है, तो इस सिद्धांत को छोड देना होगा।

इसमे "अनुभव का तथ्य" स्पष्टतः क्या है ? यह कि हम निश्चय करते है, और हमारा निश्चय कभी-कभी बाद मे होनेवाली बातों मे अतर ले आता है। नियतत्ववाद सत्य हो या न हो, यह तो एक तथ्य है ही ; और यहां तक बात नियतत्ववाद के बिलकुल भी विपरीत नही है। नियतत्ववाद के विपरीत तो यह विश्वास है कि ये चुनाव स्वय पूर्ववर्ती स्थितियों के परिणाम नही हे ; परंतु उनका ऐसा होना या न होना अनुभव के असदिग्ध तथ्य मे शामिल नहीं है। अतर्निरीक्षण नही बता सकता कि हमारे निश्चय पूर्ववर्ती स्थितियो से उत्पन्न परिणाम है या नही। यदि वह ऐसा दावा करता है तो गलती अंतर्निरीक्षण के फैसले की होगी न कि नियतत्ववाद की।

(स) यह दावा किया जा सकता है कि जो मैंने किया है उससे भिन्न कोई काम प्रायः मैं कर सकता था और यह एक तथ्य है। अतर्निरीक्षण इसकी गारंटी नही दे सकता, क्योकि वह केवल वही बता सकता है जिसका हमे अनुभव होता है, वह नही जो किसी बात के भिन्न होने की दशा मे हुआ होता। परंतु अंतर्निरीक्षणगम्य न होने पर भी यह दावा सही जैसा लगता है कि हमने जो किया है उससे भिन्न तरीके से हम काम कर सकते थे।

मान लीजिए कि यह एक तथ्य है। तब इसकी नियतत्ववाद से सीधी टक्कर होती है, जो यह कहता है कि हमारे कर्म के पहले की उपाधियों के समुच्चय के जो वह है ठीक वही रहते हुए हम कभी कोई और काम नही कर सकते थे (या न किए होते)। परंतु यह कथन उस तथ्य से मेल नही खाता। दो असंगत तथ्य हो ही नही सकते : यदि एक सत्य है तो दूसरे को मिथ्या होना चाहिए। यह बात सत्य है कि हम प्रायः कोई भिन्न काम कर सके होते ; अतः नियतत्ववादी का इस बात से इन्कार गलत होना चाहिए। इस तरह दलील दी जाती है।

परंतु क्या यह एक तथ्य है कि हम कभी भिन्न तरीके से भी काम कर सकते थे ? विवादास्पद बात तो यही है। और तथ्य क्या बताया गया है ? यह कि यदि एक या अधिक उपाधियाँ भिन्न हुई होती तो कभी कभी हम कोई

और काम कर सके होते (या किए होते—अंतर महत्वपूर्ण है—इससे कौन इन्कार करना चाहेगा ?) अथवा यह कि यदि सब उपाधियाँ वही होतीं तो भी हम कोई और काम किए होते ? परंतु चूंकि मानवीय व्यवहार मे कभी उपाधियों का ठीक वही समुच्चय दुबारा नही आ सकता, इसलिए हम कैसे जान सकते है कि "हम कोई भिन्न काम किए होते," यह एक तथ्य है ?

वास्तव मे यह बात कि हम कोई भिन्न काम कर सकते थे केवल एक ही अर्थ में एक निर्विवाद तथ्य है और उस अर्थ में निर्जीव पदार्थ भी ऐसा कर सकते है।

मान लीजिए कि एक कार को ट्यून कर दिया गया है और जांच करके चालू होने के लिए बिलकुल उपयुक्त अवस्था मे कर दिया गया है और तब उसे ऐसी परिस्थितियों में रख दिया गया है जो उसके सही ढंग से चलने के लिए अनुकूल है। यदि कोई उस कार को चालू करने की कोशिश करता है, चाबी को घुमाता है, चोक को सेट इत्यादि करता है, पर कार चालू *नहीं* होती, तो यह इस बात का प्रमाण है कि वह चालू नही हो सकती। इसके विपरीत, यदि कार को चालू करने की कोशिश ही नहीं की जाती तो केवल इस बात को कि कार चालू नही होती, इस प्राक्कल्पना का समर्थन करनेवाली नही माना जाएगा कि कार चालू नही हो सकती।[1]

दूसरे शब्दो मे, कार चालू हो सकती थी—अर्थात् यदि हम चालू करनेवाला बटन दबाए होते तो वह चालू हो गई होती। हमारे पास इस बात का पूरा प्रमाण है कि यह सत्य है। इससे यह पता चलता है कि यदि एक उपाधि भिन्न हुई होती (चालू करनेवाले बटन को दबाना) तो कार चल पड़ती। परंतु यह स्वतंत्रता का समर्थन करनेवाली युक्ति कैसे बन सकती है, क्योंकि कार-जैसे निर्जीव पदार्थ स्वतंत्र नहीं हैं ? (निस्सदेह वे अस्वतंत्र भी नही है : स्वतंत्र और अस्वतंत्र का भेद उसी तरह निर्जीव पदार्थों पर लागू नही होता जिस तरह बाध्यता की भाषा लागू नहीं होती।)

२. यहाँ तक हमने कारणों की बात कही है, हेतुओं की नहीं। परंतु मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे यह भेद बहुत महत्व रखता है। इस भेद को

---

१. कीथ लेहरर, फ्रीडम ऐंड डिटर्मिनिज्म में "डिस्प्रूफ ऑफ डिटर्मिनिज्म" शीर्षक प्रकरण, पृ० १८२-८३।

से आने से नियतत्ववाद की विवादास्पद समस्याओं पर विचार करने के लिए एक नया ही दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

"नियतत्ववाद" का अर्थ एक वैज्ञानिक के लिए यह है कि प्रत्येक घटना का एक कारण होता है, जो कि एक सामान्य प्रतिज्ञप्ति है। इस प्रश्न का निर्णय करना बहुत ही कठिन है कि यह सामान्य प्रतिज्ञप्ति सत्य है या नहीं, परंतु अधिकतर वैज्ञानिकों के द्वारा यह सत्य मान ली जाती है।········ उदाहरणार्थ, यदि यह ज्ञात है कि क, ख, ग स्थितियों में लोहा गरम किए जाने पर फैलता है, और यदि यह भी ज्ञात है कि क, ख, ग स्थितियाँ वस्तुतः हे और लोहा गरम किया जा रहा है, तो हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि लोहा फैलेगा। यह कारणात्मक संबंध का एक नमूना है।····· ··और इन उपाधियों को कार्य की व्याख्या के लिए पर्याप्त समझा जाता है।

क्या ऐसे संबंध मानवीय व्यवहार के क्षेत्र में मिलते हैं ? यह कहने मे कि मिलते हैं पहली कठिनाई यह है कि ऐसे किन्ही मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय नियमों के होने की बात कहना मुश्किल है जिनके आधार पर हम ऐसी भविष्यवाणियाँ करने मे समर्थ हों।······ ····[1]

मानवीय व्यवहार के केवल उन्हीं क्षेत्रो मे पर्याप्त उपाधियों को बतानेवाले नियम ज्ञात हैं जिनमे मनुष्य निष्क्रिय होता है। हम प्राय. उन उपाधियो की सूची बता सकते है जो आपके साथ होनेवाली किसी घटना के लिए पर्याप्त हो, जैसे आपके पैर के टूट जाने की घटना। परंतु हम ऐसी उपाधियो की सूची नहीं बता सकते जो एक भी मानवीय काम, जैसे चिट्ठी लिखना या दर्शन के बारे मे सोचना, के लिए पर्याप्त हो। अधिक से अधिक हम अनिवार्य उपाधियाँ ही बता सकते हैं : आप उंगलियों के बिना चिट्ठी नहीं लिख सकते; आप मस्तिष्क के बिना सोच नहीं सकते। परतु उंगलियां और मस्तिष्क के होने से आप ठीक क्या करेंगे, यह भविष्यवाणी हम नहीं कर सकते। यदि मैं

---

1. स्टेनली आई० बेन तथा रिचर्ड पीटर्स, प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट (न्यूयार्क : फ्री प्रेस ऑफ ग्लैन्को, १९६५), पृ० २३२-३३। यह ग्रंथ ब्रिटेन में भी 'सोशल प्रिंसिपल्स ऐंड दि डमोक्रेटिक स्टेट' के नाम से छपी है।

और काम कर सके होते (या किए होते—अंतर महत्वपूर्ण है—इससे कौन इन्कार करना चाहेगा ?) अथवा यह कि यदि सब उपाधियाँ वही होती तो भी हम कोई और काम किए होते ? परंतु चूँकि मानवीय व्यवहार में कभी उपाधियों का ठीक वही समुच्चय दुबारा नही आ सकता, इसलिए हम कैसे जान सकते है कि "हम कोई भिन्न काम किए होते," यह एक तथ्य है ?

वास्तव मे यह बात कि हम कोई भिन्न काम कर सकते थे केवल एक ही अर्थ मे एक निर्विवाद तथ्य है और उस अर्थ मे निर्जीव पदार्थ भी ऐसा कर सकते है।

मान लीजिए कि एक कार को ट्यून कर दिया गया है और जांच करके चालू होने के लिए बिल्कुल उपयुक्त अवस्था मे कर दिया गया है और तब उसे ऐसी परिस्थितियो मे रख दिया गया है जो उसके सही ढग से चलने के लिए अनुकूल हैं। यदि कोई उस कार को चालू करने की कोशिश करता है, चाबी को घुमाता है, चोक को सेट इत्यादि करता है, पर कार चालू नहीं होती, तो यह इस बात का प्रमाण है कि वह चालू नही हो सकती। इसके विपरीत, यदि कार को चालू करने की कोशिश ही नही की जाती तो केवल इस बात को कि कार चालू नही होती, इस प्राक्कल्पना का समर्थन करनेवाली नही माना जाएगा कि कार चालू नही हो सकती।[1]

दूसरे शब्दो मे, कार चालू हो सकती थी—अर्थात् यदि हम चालू करनेवाला बटन दबाए होते तो वह चालू हो गई होती। हमारे पास इस बात का पूरा प्रमाण है कि यह सत्य है। इससे यह पता चलता है कि यदि एक उपाधि भिन्न हुई होती (चालू करनेवाले बटन को दबाना) तो कार चल पडती। परतु यह स्वतत्रता का समर्थन करनेवाली युक्ति कैसे बन सकती है, क्योंकि कार-जैसे निर्जीव पदार्थ स्वतत्र नहीं है ? (निस्सदेह वे अस्वतत्र भी नही है : स्वतत्र और अस्वतत्र का भेद उसी तरह निर्जीव पदार्थों पर लागू नही होता जिस तरह बाध्यता की भाषा लागू नही होती।)

३. यहाँ तक हमने कारणो की बात कही है, हेतुओं की नही। परतु मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे यह भेद बहुत महत्व रखता है। इस भेद को

---

१. कोष लेह्रर, फ्रीडम ऐंड डिटर्मिनिज्म में "डिस्प्रूफ ऑफ डिटर्मिनिज्म" शीर्षक प्रारूप, पृ० १८२-८३।

ले आने से नियतत्ववाद की विवादास्पद समस्याओं पर विचार करने के लिए एक नया ही दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

"नियतत्ववाद" का अर्थ एक वैज्ञानिक के लिए यह है कि प्रत्येक घटना का एक कारण होता है, जो कि एक सामान्य प्रतिज्ञप्ति है। इस प्रश्न का निर्णय करना बहुत ही कठिन है कि यह सामान्य प्रतिज्ञप्ति सत्य है या नही, परतु अधिकतर वैज्ञानिको के द्वारा यह सत्य मान ली जाती है।········ उदाहरणार्थ, यदि यह ज्ञात है कि क, ख, ग स्थितियो मे लोहा गरम किए जाने पर फैलता है, और यदि यह भी ज्ञात है कि क, ख, ग स्थितियाँ वस्तुतः है और लोहा गरम किया जा रहा है, तो हम यह भविष्यवाणी कर सकते है कि लोहा फैलेगा। यह कारणात्मक सबध का एक नमूना है। और इन उपाधियो को कार्य की व्याख्या के लिए पर्याप्त समझा जाता है।

क्या ऐसे सबध मानवीय व्यवहार के क्षेत्र मे मिलते है ? यह कहने मे कि मिलते है पहली कठिनाई यह है कि ऐसे किन्ही मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय नियमो के होने की बात कहना मुश्किल है जिनके आधार पर हम ऐसी भविष्यवाणियाँ करने मे समर्थ हो। [1]

मानवीय व्यवहार के केवल उन्ही क्षेत्रो मे पर्याप्त उपाधियो को बतानेवाले नियम ज्ञात है जिनमे मनुष्य निष्क्रिय होता है। हम प्राय उन उपाधियो की सूची बता सकते है जो आपके साथ होनेवाली किसी घटना के लिए पर्याप्त हो, जैसे आपके पैर के टूट जाने की घटना। परतु हम ऐसी उपाधियो की सूची नही बता सकते जो एक भी मानवीय काम, जैसे चिट्ठी लिखना या दर्शन के बारे मे सोचना, के लिए पर्याप्त हो। अधिक से अधिक हम अनिवार्य उपाधियाँ ही बता सकते है आप उगलियो के बिना चिट्ठी नही लिख सकते, आप मस्तिष्क के बिना सोच नही सकते। परतु उगलिया और मस्तिष्क के होने से आप ठीक क्या करेंगे, यह भविष्यवाणी हम नहीं कर सकते। यदि मैं

---

१. स्टेनली आई० बेन तथा रिचर्ड पीटर्स, प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल थॉट (न्यूयार्क फ्री प्रेस आफ ग्लेन्को, १९६५), पृ० २४२-४३। यह ग्रंथ ब्रिटेन में भी 'सोशल प्रिंसिपल्स ऐंड दि डमोक्रेटिक स्टेट' के नाम से छपी है।

यह भविष्यवाणी करूँ कि आप अमुक काम करेंगे, तो हो सकता है कि आप मेरी भविष्यवाणी का खंडन करने के लिए ठीक उलटा काम करें।

उदाहरणार्थ, फ्रॉयड ने जो चमत्कारी खोजें की वे गाने के अनुबंध या तीतर के शिकार-जैसे कामो के कारणो के बारे में नही थीं ; वे उन बातों के बारे में थी जो आदमी के साथ होती है, जैसे स्वप्न, हिस्टीरिया, तथा जबान की भूलें। इनमें मनुष्य कुछ करनेवाला नही होता बल्कि वह होता है जिसके साथ कोई चीज की जाती है, और इस तरह ये उसकी तरह होते है जिसे हम "मनोवेग का दौरा" या "सवेग की झोंक" कहते है।········ तो मनोविज्ञान में एक तरह के नियम कारणात्मक व्याख्याएँ देते है जो मनुष्य के साथ घटनेवाली बातो के लिए पर्याप्त प्रतीत होती है, पर उसके द्वारा की जानेवाली बातो के लिए नही।[१]

यहाँ हम पूछ सकते है, "तो क्या हुआ ? नियतत्ववाद के विरुद्ध इसमे क्या है ?" जो लोगो के साथ घटित होता है उसके कारणों की अपेक्षा उसके कारण कही अधिक जटिल होते है जो लोग करते है। मेरे चिट्ठी लिखने की पर्याप्त उपाधि उस उपाधि से कही अधिक जटिल है जो आपके पैर के टूटने के लिए पर्याप्त है ; और इसीलिए उसके बारे में हमारा अज्ञान अधिक है तथा उसका पूरा कारण (पर्याप्त उपाधि) अभी तक भी नही बताया जा सकता। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि उसका अस्तित्व हो नही है। निश्चय ही उपाधियो का एक समुच्चय ऐसा है कि यदि उनकी आवृत्ति हो तो आप वही काम दुबारा कर डालेंगे, भले ही वे इतनी जटिल हों कि अब तक कोई भी उन सब की सूची न बना सका हो।

परतु मुख्य बात अब आती है :

जब एक आदमी ज्यामिति का एक सवाल हल कर रहा होता है और उसके विचार तर्कशास्त्र के कुछ सूत्रो के अनुसार चल रहे होते हे तब यह सुझाव देना तर्कतः बेतुका होता है कि उसके विचार की गति को समझाने के लिए उसके मस्तिष्क, उसके स्वभाव, उसकी शारीरिक दशा इत्यादि पर आधारित कोई कारणपरक व्याख्या स्वतः पर्याप्त है। तर्कशास्त्र के सूत्र तो

१. वही, पृ० २३३।

मानकीय होते ह और उन अवस्थाओ तथा प्रक्रमो के द्वारा जो मानकीय नहीं है, उनकी पर्याप्त रूप से व्याख्या नही हो सकती। निस्सदेह अनिवार्य उपाधियो की, जिनको ध्यान मे रखना जरूरी होता है, कोई भी सख्या हो सकती है। उदाहरणार्थ, आदमी मस्तिष्क के बिना नही सोच सकता। परतु कोई भी व्याख्या, जो पर्याप्त हे, उसके कामो के हेतुओ का अवश्य विचार करेगी। उदाहरणार्थ, हमे शतरज के नियमो को जानना होगा जो खिलाडो की चाल को कुछ अर्थ प्रदान करते हे।[1]

तो फिर, ऐसा प्रतीत होता है कि केवल कारणात्मक उपाधिया बता देने से पर्याप्त उपाधि नही मिल जाती। अपनी लक्ष्योन्मुख क्रियाओ मे आदमी जो कुछ करता है उसकी व्याख्या के लिए हमे उसके हेतुओ को भी जान लेना होगा, और हेतु कारण नही होते। वे कारणो से बिःकुल ही भिन्न स्तर की चीजें होते ह। कारण सदैव पूर्ववर्ती स्थितियाँ (घटनाएँ, द्रव्यो की अवस्थाएँ इत्यादि) होते है, परतु हेतु नही। किसी हेतु से कोई काम करना काम के किसी मानक के पहले से होने पर निर्भर करता है :

स्मरण करना एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मात्र नही है, क्योकि स्मरण करने मे भूतकाल मे हुई घटना के बारे मे सही होना होता है। जानना एक मानसिक अवस्था मात्र नही है। उसमे इस बात के बारे मे आश्वस्त होना होता है कि हम सही है, और इस विश्वास का आधार भी समुचित होना चाहिए। किसी चीज के प्रत्यक्ष मे सामने की चीज क्या है, यह दावा सही होना चाहिए। किसी चीज को सीखना किसी चीज मे सुधार करना या किसी चीज को सही ढग से करना है। इन सारे सप्रत्ययो मे कुछ मानक स्पष्टतः निहित होते है। · · आदमी का काम विशिष्ट रूप से ऐसा होता है जो किसी परिणाम को प्राप्त करने के लिए या किसी मानक के अनुसार किया जाता है। ऐसे कामो को कम या अधिक बुद्धिमानी के साथ और कम या अधिक यथार्थता के साथ किए जाने वाले केवल इस बात के मानको के होने से ही कहा जा सकता है कि लक्ष्य क्या है और उन्हें प्राप्त करने के सफल और सम्यक् उपाय क्या हें। निष्कर्ष यह निकलता है कि जो मनोवैज्ञानिक यह दावा करता है कि ऐसे काम पूर्ववर्ती शारीरिक अवस्थाओ या मानसिक

१. वही, पृ० २३८-३६।

प्रक्रियाओं पर निर्भर होते है वह अधिक-से-अधिक अनिवार्य उपाधियों का ही कथन कर रहा होता है, क्योंकि प्रक्रियाओं को स्वतः सम्यक् या असम्यक्, बुद्धिमानी के साथ या बेवकूफी के साथ की जानेवाली कहना उचित नहीं हो सकता। वे ऐसी केवल उन मानकों के संदर्भ में ही कहला सकती है जो मनुष्यों ने निर्धारित किए है। जैसा कि प्रोटेगोरस ने कहा था, प्रकृति कोई मानक नही जानती।.....यह बात सही हो सकती है कि आदमी मस्तिष्क के किसी भाग के सक्रिय हुए बिना कुछ याद नही कर सकता अथवा सीखना अंशतः पूर्ववर्ती "तनाव" का फल होता है। परंतु "याद करना" और "सीखना" का अर्थ ही ऐसा है कि इस प्रकार की प्राकृतिक बातों के आधार पर उनकी पर्याप्त व्याख्या हो ही नही सकती।[१]

तो फिर, मानवीय काम स्वरूपतः होते ही ऐसे हे कि उनकी कारणमूलक व्याख्या, जो पर्याप्त हो, असभव होती है। पूर्ववर्ती घटनाओं और प्रक्रियाओं की चाहे जितनी छानबीन की जाए, इसमे सफलता नहीं मिलेगी, क्योंकि मनुष्य के कामों की व्याख्या उन हेतुओं से प्राप्त होगी जिनसे वे किए जाते है (और हेतुओं में मानक गर्भित होते हे), न कि कारणों से। (हम पहले ही अध्याय ४ मे देख चुके है कि "क्यों ?" पूछनेवाला प्रश्न कितना अनेकार्थक होता है : वह कारण जानने के लिए पूछा जा सकता है और हेतु जानने के लिए भी।) तो मानवीय कामों के कारणों (पर्याप्त उपाधियो) का पता करने की कोशिश असफल इसलिए नही होती कि हम काफी सख्या मे पूर्ववर्ती उपाधियाँ नहीं खोज पाते है (हालांकि यह बात भी सही हो सकती है), बल्कि इसलिए होती है कि सारी कोशिश ही गलत दिशा मे होती हे : हमें खोज कारणो की नहीं बल्कि हेतुओं की करनी चाहिए।

हम जानते है कि पादरी मंच पर क्यों चढ रहा है, और यह इसलिए नहीं कि हम उसके व्यवहार के कारणों के बारे मे काफी अधिक जानकारी रखते हैं बल्कि इसलिए कि हम चर्च मे उपासना-पूजा जिन परिपाटियों के अनुसार होती है उन्हें जानते है। यदि उसकी दृष्टि भक्त-समुदाय के ऊपर से निकलती हुई बाहर जाती है और वह मूर्छित हो जाता है या इसी तरह की कोई बात उसके साथ हो जाती है, तो केवल तभी हम पूछेंगे कि उसके व्यवहार

१ वही, पृ० २३४।

का क्या कारण है। मानवीय व्यवहार की हमारी अधिकतर व्याख्याएँ प्रयोजन वाली भाषा का प्रयोग करती है, कारण-कार्य वाली भाषा का नही।[1]

इस नवीनता के बारे मे हम क्या कहेगे ? यह निस्सन्देह सत्य है कि हेतु बताना और कारण बताना एक बात नही है। तर्क पर आधारित मानवीय कामो या विश्वासो का उन कामो या विश्वासो से भेद करना जो तर्क पर आधारित नही है, बिल्कुल उचित है; परतु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि पहले प्रकार के काम या विश्वास किसी रूप मे बिना कारण होते है अथवा यह कि किसी व्यक्ति का एक प्रतिज्ञप्ति मे विश्वास करना उसके काम या विश्वास की पूर्ववर्ती कारणात्मक उपाधियो मे से एक नही हो सकता। यदि एक व्यक्ति यह जानना हो कि एक काम करने मे उसका हेतु क्या है, तो क्या उसका होना एक कारण नही गिना जा सकता ? छोटे रास्ते से जाने का उसका हेतु (अपने इस काम का समर्थन करने के लिए पूछे जाने पर जो प्रतिज्ञप्ति वह प्रस्तुत करेगा वह) यह था कि वैसा करने से उसके समय की बचत हो सकती है, और छोटे रास्ते से जाने का कारण (कम से कम कारण का एक अश) यह था कि उस समय वह यह विश्वास करता था कि उस रास्ते से जाने मे वह समय की बचत कर सकेगा, और कि वह समय की बचत करना चाहता था। इस दृष्टि से विचार करने पर यह मत अत्यधिक अविश्वसनीय लगेगा कि चूँकि कोई हेतु बता सकता है इसलिए वह कारण नही बता सकता।

परतु इस युक्ति के बारे मे क्या कहा जाएगा कि मानवीय कर्म नियमो के नुसार चलते है, कि हम यह पता लगाने के बजाय कि वे हुए कैसे, यह निर्णय करने मे प्रायः अधिक दिलचस्पी रखते है कि वे आदर्श के अनुरूप है या नही और कहाँ तक उसके अनुरूप है ? में नही समझता कि यह प्रसगोचित है। इस बात से कि हम एक नियम के अनुसार होने की दृष्टि से एक काम का मूल्याकन कर सकते है, यह निष्कर्ष नही निकलता कि उस काम के किए जाने का कोई कारण नही हो सकता—वैसे ही जैसे इस बात से कि इद्रधनुष एक सौंदर्यपरक निर्णय का विषय बन सकता है, यह निष्कर्ष नही निकलता कि उसके दिखाई देने की किसी कारण के द्वारा व्याख्या नही दी जा सकती। किसी चीज की कारणात्मक व्याख्या देने का मतलब यह नही है कि अन्य तरीकों से उसका मूल्याकन निषिद्ध है। परतु शायद सुझाव केवल यह है कि किसी काम के

१. वही, पृ० २३६।

एक नियम से जोड़ना उसकी व्याख्या का एक तरीका है, और, इस समय हमारा ज्ञान जिस अवस्था में है उसे देखते हुए, किन्हीं संदिग्ध कारणात्मक नियमों के अतर्गत उसे रखने की कोशिश करने की अपेक्षा यह एक अधिक अच्छा तरीका है। मे इससे भी सहमत नही हो सकता, क्योकि मैं समझता हूँ कि यह हमारे सामने एक गलत प्रतिपक्ष प्रस्तुत करता है। किसी काम के किए जाने की उसे एक नियम से जोड़कर व्याख्या करना संभव क्यो है, इस बात का एकमात्र हेतु यह है कि नियम की मांगो का सम्मान करना कर्ता के अभिप्रेरक का एक अग होता है। कर्ता एक प्रकार के काम को सही तरीके से करने को स्वत. महत्वपूर्ण समझ सकता है, वह उसके सही ढंग से किए जाने को किसी और लक्ष्य की प्राप्ति का साधन समझ सकता है; अथवा यह इन दोनों का सम्मिलित रूप हो सकता है। जो भी हो, यह कारणमूलक व्याख्या उतनी ही है जितनी अभिप्रेरक के आधार पर दी जानेवाली कोई और व्याख्या। नियमो का आश्रय लेना—उस सामान्य युक्ति में कोई भी नई बात नही जोड़ता। ....

यदि हम इस दलील को मान लेते है, तो निष्कर्ष क्या निकलता है? निश्चय ही यह नही कि इन कामों की कारणों के द्वारा व्याख्या नहीं दी जा सकती, जैसा कि इसपर बल देने वाले दार्शनिकों का विचार लगता है, क्योकि जब बात किसी काम की व्याख्या की आती है तब सामाजिक परिवेश का उसमें समावेश केवल कर्ता के ऊपर पड़नेवाले उसके प्रभाव के द्वारा ही होता है। उस काम का जो महत्व है वह वही है जो उसका कर्ता के लिए है। कहने का मतलब यह है कि उन परिस्थितियों मे उसके द्वारा उस काम का ही सही, लाभदायक या वाछनीय माना जाना उसके अभिप्रेरक का ही अग है। अत: सामाजिक परिवेश की उसे जो चेतना है, वह और उसके ऊपर जो प्रभाव पड़ते है वे उन प्रारंभिक उपाधियो की सूची मे शामिल है जिनसे हम उसके द्वारा उस काम के किए जाने को किसी कारणात्मक नियम के अनुसार व्युत्पन्न करना चाहते है। यह एक अनिर्णीत प्रश्न है कि ऐसे नियम खोजे जा सकते हैं या नही; परंतु यह बात कि व्याख्या की आधारभूत सामग्री मे ये चीजें शामिल रहती हैं, इससे कोई महत्व का सबध नही रखती।[1]

१. ए० जे० एयर, मैन ऐज ए सब्जेक्ट फॉर साइंस (लंदन : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६४), पृ० २२-४।

जहा तक पादरी का सबध है, हम अवश्य ही उसके व्यवहार की व्याख्या कर सकते है, क्योकि हमे कुछ नियमो और परिपाटियो की जानकारी है। परतु ऐसा हम केवल इसलिए कर सकते है कि हम यह भी मान लेते ह या जानते है कि वह इन नियमो और परिपाटियो का अनुसरण करना चाहता है।

एक और भी गलती प्रतीत होती है। सबंधित लेखक कामो के मानकीय स्वरूप की ओर ठीक ही इशारा करते है, पर उनका तब यह निष्कर्ष निकालना ठीक नही है कि ऐसी कारणात्मक व्याख्याएँ नही दी जा सकती जो अमानकीय बातो की ओर सकेत करें। लेकिन यह निष्कर्ष बिल्कुल भी नही निकलता। निष्कर्ष यह निकलता है कि ऐसी कारणात्मक व्याख्या से एक ही साथ इस बात का भी स्पष्टीकरण नही हो जाता कि काम क्या होता है या कोई मानकीय बात क्या होती है।

यहाँ भ्रम कारणो के आधार पर किसी काम की भविष्यवाणी करने तथा काम क्या होता है, इस बात के अतर को लेकर है। क्या यह जरूरी है कि कारणात्मक व्याख्या कार्य के वर्णन मे निहित सप्रत्ययो का विश्लेषण प्रस्तुत करे? क्या मनस्तापी के अवसाद की मस्तिष्कगत रासायनिक असतुलन के द्वारा व्याख्या करने के प्रयत्न को हम इसलिए अस्वीकार कर देंगे कि रासायनिक असतुलन की बात हमे हम नही बताती कि चीजो मे रुचि का अभाव हो जाने का क्या अर्थ होता है! यह शायद पीटर्स का यह कहना सही है कि कामो की गतियो के आधार पर भविष्यवाणियाँ करना "पर्याप्त व्याख्या" नही है; परतु कई नियततत्ववादी व्याख्याएँ इस अर्थ मे पर्याप्त व्याख्याएँ नही ह।

यही गलती पीटर्स का कामो को बुद्धिमत्तापूर्ण या अबुद्धिमत्तापूर्ण बताने मे है। काम की कोई नियततत्ववादी व्याख्या यह क्या प्रकट करे कि काम बुद्धिमत्तापूर्ण है, या "बुद्धिमत्तापूर्ण" का अर्थ ही वह क्यो बताए? यही बात पीटर्स के इस तथ्य की ओर सकेत करने के बारे मे भी कही जा सकती है कि कामो मे कोई नियम या मानक निहित होते हैं।[1]

४. एक और भी विकल्प बताया जा सकता है। हम स्वय यह विश्वास

---

१. बर्नार्ड बरोफ्स्की, "डिटर्मिनिज्म एँड कन्सेप्ट ऑफ ए पर्सन", दि जर्नल ऑफ फिलॉसफी, सितबर ३, १९६४, पृ० ४७३।

करते है कि हम आत्मनिर्धारण की सामर्थ्य वाले प्राणी हैं--ऐसे प्राणी जो कभी-कभी स्वय ही अपने व्यवहार के कारण होते है।

यदि कोई कर्म स्वतत्र है तो उसे ऐसा होना चाहिए कि उसका कारण उसे करनेवाला व्यक्ति हो, परतु कोई भी पूर्ववर्त्ती उपाधियाँ इस वात के लिए पर्याप्त न हो कि वह केवल उसी कर्म को कर सकता हो। यदि कोई कर्म स्वतत्र और युक्तियुक्त दोनो ही है तो उसे ऐसा होना चाहिए कि उसे करनेवाले व्यक्ति ने उसे किसी हेतु से किया हो, परतु वह हेतु उसका कारण न वन सका होता।

यह धारणा उस धारणा से मेल खाती है जो लोगो की स्वयं अपने वारे में होती है। वे स्वय को काम करनेवाले या कर्ता समझते ह, न कि ऐसी चीजें जिनके ऊपर काम किया जाता है और जिनका व्यवहार ऐसी उपाधियो का परिणाम मात्र होता है जो उन्होने नही पैदा की। जव मैं यह विश्वास करता हूँ कि मैंने कुछ किया है, तव अवश्य ही मेरा यह विश्वास होता है कि उसके किए जाने का कारण म था, किसी वात के होने का कारण मैं था, न कि मेरे अदर की कोई चीज मात्र, जैसे मेरी मानसिक अवस्थाओ मे से कोई एक, जो कि मुझसे अभिन्न नही है।[1]

मैं विश्वास करता हूँ कि मैं एक व्यक्ति हूँ, एक स्वय को चलानेवाला प्राणी हूँ, कर्मों का सचमुच ही कर्ता हूँ। ये कर्म मेरे द्वारा उत्पन्न होने पर भी अपनी पूर्ववर्ती उपाधियो की अपरिहार्य उपज नही है। यदि वे ऐसे होते तो मैं कर्ता न हुआ होता वल्कि कारण-कार्य शृंखला को आगे बढाने का एक निमित्त या साधन मात्र हुआ होता। मैं सचमुच स्वयं अपने कर्मों का आरंभ करनेवाला, आदि कारण हूँ।

यदि यह मत—कर्तृत्व सिद्धात—सत्य है, तो यह हमे अनियततत्ववाद, जिसके अनुसार मैं किसी भी कर्म का सच्चा कर्ता नही हूँ, और नियततत्ववाद, जिसके (सवमे वाद मे दिए गए रूप के) अनुसार प्रत्येक कर्म, प्रत्येक आवेग प्रत्येक विचार पूर्ववर्ती उपाधियों का अपरिहार्य परिणाम होता है, दोनो ही से हमें वचा देता है। वह हमें कर्ता वना देता है और यह एक ऐसी वात है जो उससे मेल खाती है जो हम सामान्यत. स्वय को समझते है।

---

१. रिचर्ड टेलर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ५०।

पर क्या वह सत्य है ? यह बात कि वह हमे दो अरुचिकर विकल्पो से बचा देती है, यह सिद्ध नही करती कि वह सत्य है। यह बात तो काफी विश्वसनीय लगती है कि हमारे कर्मो का कारण हमारे निश्चय है ; परंतु क्या यह सत्य हो सकता है कि हमारे निश्चय स्वयं ही अपने कारण हैं, अर्थात् अपनी पूर्ववर्ती किसी भी चीज के कार्य नही हैं ? वह चीज ठीक-ठीक क्या है जिसका यह वर्णन है ? (खाली शब्दों के द्वारा नही बल्कि तथ्य के रूप मे इसकी कल्पना करने की कोशिश कीजिए।) यदि इसका मतलब यह है कि हमारे निश्चय अकारण है तो हम वापस अनियतत्ववाद मे पहुँच जाते है। परंतु यदि इसका मतलब यह है कि हमारे निश्चय स्वकारण है, तो इसका अर्थ क्या निकला ? क्या कोई चीज स्वय अपना कारण हो सकती है ? और उसका अपनी पूर्ववर्ती उपाधियो से क्या सबंध है ? कभी-कभी यह कहा जाता है कि "वे बाध्य किए बिना प्रवृत्त करते है।" परंतु इस रूपक का क्या मतलब है ? यदि दो आदमी नशे की प्रवृत्ति रखते है और एक उसके आगे हार मान लेता है तथा दूसरा उसका प्रतिरोध करता है तो क्या इन दोनो के अंतर की कारणो के आधार पर व्याख्या नही दी जा सकती ? क्या हमे केवल यह कहना पडेगा कि एक ने प्रतिरोध का निश्चय किया है और दूसरे ने हार मान लेने का, और कि इससे अधिक कुछ नही कहा जा सकता, क्योकि दोनो ही निश्चय स्वकारण और स्वोत्पन्न है ?

जब तक इस विचित्र संकल्पना का और अधिक स्पष्टीकरण नही होता तब तक यह प्रतीत होगा कि यह मत रुचिकर तो है पर समझ मे आनेवाला नही है, जबकि पिछले मत समझ मे आनेवाले है पर रुचिकर नही हैं। यह कोई अच्छा चुनाव नही है—और चुनाव निश्चित किस आधार पर होगा ?

करते हैं कि हम आत्मनिर्धारण की सामर्थ्य वाले प्राणी हैं--ऐसे प्राणी जो कभी-कभी स्वय ही अपने व्यवहार के कारण होते है।

यदि कोई कर्म स्वतत्र है तो उसे ऐसा होना चाहिए कि उसका कारण उसे करनेवाला व्यक्ति हो, परंतु कोई भी पूर्ववर्ती उपाधियाँ इस बात के लिए पर्याप्त न हो कि वह केवल उसी कर्म को कर सकता हो। यदि कोई कर्म स्वतत्र और युक्तियुक्त दोनो ही है तो उसे ऐसा होना चाहिए कि उसे करनेवाले व्यक्ति ने उसे किसी हेतु से किया हो, परंतु वह हेतु उसका कारण न बन सका होता।

यह धारणा उस धारणा से मेल खाती है जो लोगों की स्वयं अपने बारे में होती है। वे स्वय को काम करनेवाले या कर्ता समझते हे, न कि ऐसी चीजें जिनके ऊपर काम किया जाता है और जिनका व्यवहार ऐसी उपाधियो का परिणाम मात्र होता है जो उन्होने नही पैदा की। जब मैं यह विश्वास करता हूँ कि मैंने कुछ किया है, तब अवश्य ही मेरा यह विश्वास होता है कि उसके किए जाने का कारण मै था, किसी बात के होने का कारण मैं था, न कि मेरे अदर की कोई चीज मात्र, जैसे मेरी मानसिक अवस्थाओ मे से कोई एक, जो कि मुझसे अभिन्न नही है।[1]

मैं विश्वास करता हूँ कि मैं एक व्यक्ति हूँ, एक स्वयं को चलानेवाला प्राणी हूँ, कर्मो का सचमुच ही कर्ता हूँ। ये कर्म मेरे द्वारा उत्पन्न होने पर भी अपनी पूर्ववर्ती उपाधियो की अपरिहार्य उपज नही हैं। यदि वे ऐसे होते तो मैं कर्ता न हुआ होता बल्कि कारण-कार्य-शृंखला को आगे बढाने का एक निमित्त या साधन मात्र हुआ होता। मैं सचमुच स्वयं अपने कर्मो का आरंभ करनेवाला, आदि कारण हूँ।

यदि यह मत— कर्तृत्व सिद्धात—सत्य है, तो यह हमे अनियततत्ववाद, जिसके अनुसार मैं किसी भी कर्म का सच्चा कर्ता नही हूँ, और नियततत्ववाद, जिसके (सबसे बाद मे दिए गए रूप के) अनुसार प्रत्येक कर्म, प्रत्येक आवेग प्रत्येक विचार पूर्ववर्ती उपाधियों का अपरिहार्य परिणाम होता है, दोनो ही से हमे बचा देता है। वह हमें कर्ता बना देता है और यह एक ऐसी बात है जो उससे मेल खाती है जो हम सामान्यतः स्वयं को समझते है।

---

१. रिचर्ड टेलर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ५०।

पर क्या वह सत्य है ? यह बात कि वह हमे दो अरुचिकर विकल्पो से बचा देती है, यह सिद्ध नही करती कि वह सत्य है। यह बात तो काफी विश्वसनीय लगती है कि हमारे कर्मो का कारण हमारे निश्चय है ; परतु *क्या यह सत्य हो सकता है कि हमारे निश्चय स्वयं ही अपने कारण है, अर्थात् अपनी* पूर्ववर्ती किसी भी चीज के कार्य नही है ? वह चीज ठीक-ठीक क्या है जिसका यह वर्णन है ? (खाली शब्दो के द्वारा नही बल्कि तथ्य के रूप मे इसकी कल्पना करने की कोशिश कीजिए।) यदि इसका मतलब यह है कि हमारे निश्चय अकारण है तो हम वापस अनियतत्ववाद मे पहुँच जाते है। परंतु यदि इसका मतलब यह है कि हमारे निश्चय स्वकारण है, तो इसका अर्थ क्या निकला ? क्या कोई चीज स्वयं अपना कारण हो सकती है ? और उसका अपनी पूर्ववर्ती उपाधियो से क्या सबंध है ? कभी-कभी यह कहा जाता है कि "वे बाध्य किए बिना प्रवृत्त करते है।" परंतु इस रूपक का क्या मतलब है ? *यदि दो आदमी नशे की प्रवृत्ति रखते है और एक उसके आगे हार मान लेता है* तथा दूसरा उसका प्रतिरोध करता है तो क्या इन दोनो के अंतर की कारणो के आधार पर व्याख्या नही दी जा सकती ? क्या हमे केवल यह कहना पडेगा कि एक ने प्रतिरोध का निश्चय किया है और दूसरे ने हार मान लेने का, और कि इससे अधिक कुछ नही कहा जा सकता, क्योकि दोनो ही निश्चय स्वकारण और स्वोत्पन्न है ?

जब तक इस विचित्र संकल्पना का और अधिक स्पष्टीकरण नही होता तब तक यह प्रतीत होगा कि यह मत रुचिकर तो है पर समझ मे आनेवाला नही है, जबकि पिछले मत समझ मे आनेवाले है पर रुचिकर नही है। यह कोई अच्छा चुनाव नही है—और चुनाव निश्चित किस आधार पर होगा ?

अध्याय ६

कुछ तत्वमीमांसीय समस्याएँ

तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की समस्याएँ परस्पर इतनी अधिक जुडी हुई है कि उन्हे अलग नही किया जा सकता। वास्तव मे, दोनो मे अंतर करना सदैव आसान नही होता। तत्वमीमासीय समस्याओं का संबंध उससे होता है जो है, जबकि ज्ञानमीमासीय समस्याओ का संबंध जो है उसके ज्ञान से होता है। परंतु एक की चर्चा मे दूसरी का आ पडना निश्चित होता है। पिछले अध्याय मे "क्या जो कुछ होता है उसका कोई कारण होता है ?", इस प्रश्न पर विचार किया गया था। प्रारंभ मे यह बिल्कुल ही जो है उससे संबंधित प्रश्न लगता है—यानी यह पूछनेवाला प्रश्न कि वास्तविकता एक विशेष प्रकार की है या नही है। लेकिन हम देख चुके है कि कैसे इस प्रश्न के साथ ज्ञान-संबंधी इस तरह के प्रश्न लिपटे हुए हैं जैसे यह कि कारण सिद्धात एक संश्लेषी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति है अथवा वैज्ञानिक अनुसंधान का मार्गदर्शक सिद्धात। कारणता की चर्चा मे हम बराबर तत्वमीमासीय प्रश्नो से ज्ञानमीमासीय प्रश्नो मे आते-जाते रहे। इस अध्याय मे हम "जो है" उसके बारे मे कुछ और समस्याओ की जाँच करेंगे, परंतु ये भी ज्ञानमीमासीय समस्याओं के साथ उलझी हुई होंगी. उदाहरणार्थ, शरीर और मन के संबंध का विवेचन करते समय हमारे सामने इस तरह के ज्ञानमीमासीय प्रश्न आएँगे जैसे "हम कैसे जानते हैं कि दूसरो के अंदर भी मन होता है ?" और "हम कैसे जानते हैं कि हम उसी रंग को देख रहे हैं ?"

जो है उसको लेकर सारी समस्याएँ तत्वमीमासीय समस्याएँ नही होती। "मेरी आलमारी मे कितनी किताबें हैं ?" यह जो है उसके बारे मे एक प्रश्न है परंतु इसे एक तत्वमीमासीय समस्या नही कहा जाएगा। इसके कई हेतु हैं, पर। मन्य निस्संदेह यह है कि यह प्रश्न काफी अधिक सामान्य नही है : अब क्या समय है, आज रात को भोजन पर कितने आदमी निमंत्रित हैं और इसी तरह के जो है उसके बारे मे पूछे जानेवाले असख्य प्रश्न वास्तव मे "स्थानीय" प्रश्न होते है जिनका कोई तत्वमीमासीय महत्व नही होता। विज्ञान बहुत

सामान्य प्रश्नो को लेता है वह नियमो को जानने का प्रयत्न करता है और घटनाओ की व्याख्या के लिए सिद्धात बनाता है। परतु चूँकि ये स्पष्टत: इद्रियानुभव के क्षेत्र की बाते है, इसलिए सामान्य होने के बावजूद इन्हे वैज्ञानिक प्रश्न माना जाता है न कि तत्वमीमासीय प्रश्न। बहुत-से लोगो का कहना है कि ऐसे सभी सामान्य प्रश्न वैज्ञानिक प्रश्न है और कि जब इन वैज्ञानिक प्रश्नो का उत्तर मिल जाता है तब कुछ पूछना बाकी नही रहता—तत्वमीमासा के विवेचन के लिए कुछ नही बचता। ऐसा लगेगा कि ऐसे अत्यधिक सामान्य प्रश्न तक जैसे भौतिक द्रव्य और ऊर्जा के सबध का लेकर पैदा होनेवाला प्रश्न, वैज्ञानिक प्रश्न ही है। तो फिर तत्वमीमासा का सबध किससे है ? सामान्य उत्तर है, "वास्तविकता के मौलिक स्वरूप से"। परतु यदि भौतिक द्रव्य और ऊर्जा तथा इनकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ वास्तविकता की मौलिक विशेषताएँ नही ह, तो क्या है ?

इस अतर को प्राय इस प्रकार दिखाया जाता है · "जो है" उससे सबधित जो समस्याएँ कम से-कम सिद्धा-त-रूप मे केवल इद्रियानुभविक उपायो से हल की जा सकती है वे वैज्ञानिक समस्याएँ हैं, और जिन्हे केवल गणित के द्वारा हल किया जा सकता है वे गणितीय समस्याएँ है , शेष तत्वमीमासीय समस्याएँ है। प्रकाश तरगमय है या कणमय है, भौतिक द्रव्य और ऊर्जा एक-दूसरे मे परिणत हो सकते है या नही, गैलेक्सियो के उदभव के बारे मे "महाविस्फोट"-सिद्धात मान्य है या "स्थायी दशा" सिद्धात—ये सब वैज्ञानिक प्रश्न हैं जिनका समाधान इद्रियानुभविक प्रमाण से, यदि वह प्राप्य हो और जब भी वह प्राप्त हो तब, किया जाता है। परतु और भी समस्याएँ है जो समाधान के इन प्रयत्नो के वश की नही लगती। उदाहरणार्थ, वास्तविकता को किन वर्गो या कोटियो मे बाँटना है - कालिक बनाम कालातीत, भौतिक बनाम अभौतिक, मानसिक बनाम अमानसिक – यह एक ऐसा प्रश्न है जो तत्वमीमासा के लिए छोड दिया गया है। तत्वमीमासा इद्रियानुभविक विज्ञान से भी अधिक व्यापक है, क्योकि विज्ञान सामान्यत· केवल भौतिक से सबध रखता है। इस अध्याय मे हम ऐसे ही कुछ प्रश्नो पर चर्चा करेंगे। पहले परिच्छेद मे हम सक्षेप मे द्रव्य और सामान्यो की समस्याओ पर विचार करेंगे। ये दोनो ही परपरागत तत्वमीमासीय समस्याएँ हैं और इनका इतिहास प्राचीन यूनानियो से चला आ रहा है तथा इनमे से एक भी इद्रियानुभविक उपायो से

हल हो सकनेवाली नही प्रतीत होती । अजैव द्रव्य बनाम जीवन से संबंधित समस्या पर दूसरे परिच्छेद मे और जड द्रव्य बनाम मन की समस्या पर अधिक विस्तार से तीसरे परिच्छेद मे विचार किया जाएगा ।

"परतु यदि ये प्रश्न इद्रियानुभविक उपायो से हल नही किए जा सकते तो क्या ये शाब्दिक मात्र नही है ?" अध्याय १ मे हमने शाब्दिक और ताथ्यिक प्रश्नो मे अतर किया था । यदि तत्वमीमासीय समस्याएँ ताथ्यिक नही है तो फिर क्या वे शाब्दिक है ? कुछ लोग है जो ऐसा ही कहते है । इस बात का निर्णय हम इस अध्याय में उठाए हुए प्रश्नो पर विचार कर लेने के बाद स्वयं करने के लिए पाठक पर छोड़ देते है । परतु कोई यह न मान बैठे कि "ताथ्यिक समस्याएँ" ठीक वे ही है जो "इंद्रियानुभविक समस्याएँ" है । तत्वमीमासक इस बात का आग्रह करेंगे कि वे ताथ्यिक समस्याओ का विवेचन करते है, परतु ताथ्यिक समस्याओ के तब वे ये दो प्रकार बताएँगे—एक इंद्रियानुभविक और दूसरी वे जो इद्रियानुभविक नही है । तत्वमीमासीय समस्याओ को वे इस दूसरी कोटि की बताएँगे । तब वे तथ्य से सबधित होगी, पर तथ्य वे जिनका फैसला आम इंद्रियानुभविक उपायों से नही हो सकता बल्कि केवल बुद्धि का व्यवस्थाबद्ध प्रयोग करने से ही हो सकता है ।

१८. द्रव्य और सामान्य

द्रव्य की समस्या—दुनिया मे अनेक वस्तुएँ या द्रव्य है । ये द्रव्य अनेक परस्पर भिन्न प्रकारो के है—लकडी, खडिया मिट्टी, ग्रेनाइट इत्यादि—परतु इनके विविध प्रकार के घटक संख्या मे अपेक्षाकृत कम है : लगभग एक सौ आधारभूत या अतिम द्रव्य (तत्व) ज्ञात है, जिनके विभिन्न मिश्रणों और सयोगो से शेष सब निर्मित हुए है । इन द्रव्यो मे परिवर्तन होते हे जो उनके सत्ता-काल मे घटनाओं के रूप मे होते हैं । परिवर्तन केवल चीजो (द्रव्यो) मे ही हो सकते हैं : चीजें परिवर्तित होती हैं—अभी उनमे एक विशेषता होती है और अभी दूसरी हो जाती है—परतु घटनाएँ केवल एक-दूसरी का अनुसरण ही करती है । हरी पत्ती बदलकर लाल हो जाती है, परंतु एक घटना, जैसे बिजली की कड़क, के बाद दूसरी घटना, खामोशी या दूसरी कड़क, होती है । परिवर्तन स्थायी वस्तु को प्रकट करता है जिसमे परिवर्तन होता है ।

(यह बात प्रेक्षण से प्राप्त तथ्य के जैसी लगती है, पर है यह "परिवर्तन" शब्द की एक अशतः निहित परिभाषा, जो हमे बताती है कि 'परिवर्तन" शब्द किस तरह की चीज पर लागू होता है ।)

प्रत्येक द्रव्य के अनेक परस्पर भिन्न गुणधर्म या विशेषताएँ होती हैं । सोने का एक विशेष रंग होता है, एक गलनाक होता है, पिटने पर वह फैलता है, उसके आयतन की प्रत्येक इकाई का एक विशेष वजन होता है, इत्यादि। अध्याय १ (पृ० १०६) मे हमने पूछा था कि इन गुणो मे से कितने ऐसे है जिन्हे निकाल देने पर भी चीज सोना ही बनी रहेगी। यह निस्सदेह एक शाब्दिक प्रश्न है, सोने की परिभाषक विशेषताएँ पूछनेवाला प्रश्न है । तब हमने देखा था कि "सोना" जैसे एक अपेक्षाकृत निश्चित अर्थ वाले शब्द के प्रसग मे तक उत्तर पूरी तरह स्पष्ट नही है, क्योकि वहाँ परिभाषक विशेषताओं का कोई स्पष्ट समुच्चय है ही नही : उनके बजाय इसपर कोरम वाली शर्त लागू होती है (पृ० १०३-१०६) । परतु कोरम चाहे कितनी ही अधिक विशेषताओ से बनता हो और किसी चीज मे सोना कहलाने के लिए चाहे इनमें से जितनी अधिक विशेषताओ का होना जरूरी हो, यह बात बिल्कुल साफ है कि यदि कोरम की सभी विशेषताएँ निकाल दी जाएँ तो सबधित वस्तु सोना नही रहेगी, और हम उसके लिए "सोना" शब्द का प्रयोग नही कर सकेगे ।

फिर भी इसमे कोई सदेह नही है कि यदि हमने परिभाषक विशेषताओ मे से एक या अधिक को निकाल दिया होता तो भी कोई-न-कोई द्रव्य रहता ही। यदि वह पीला न रहता तो भी कुछ-न-कुछ तो रहता ही, भले ही "सोना" शब्द का हम उसके लिए प्रयोग करते रहे या नही। परतु अब हम यह पूछते है : मान लीजिए कि हम सब गुणधर्मों को निकाल देते है— न केवल उनको जो सोने मे विशेष रूप से रहते है बल्कि सभी को जिनमे विस्तार, द्रव्यमान और आकृति भी शामिल हैं ? तब क्या बिल्कुल शून्य नहीं शेष रहेगा ? हम यह कहना चाहेगे कि वह न केवल अब सोना नहीं रहेगा बल्कि वह कुछ भी नही रहेगा : कोई गुणधर्म शेष नही रहेंगे और गुणधर्मों का आश्रय कोई "यह" भी नही रहेगा।

परतु क्या यह सत्य है ? हमे यह कहने का लोभ होता है कि निश्चय ही सोना एक चीज है और उसके गुणधर्म कुछ और। "सोना और सोने के गुण-धर्म एक नहीं हैं। क्या सोने के गुणधर्मो के अस्तित्व के लिए सोने का अस्तित्व

जरूरी नही है ? क्या द्रव्य (तार्किक दृष्टि से, कालक्रम की दृष्टि से नही) अपने गुणधर्मों का पूर्ववर्ती नही होता ?"

इसका कोई यह उत्तर देगा : "निस्सदेह मैं मानता हूँ कि सोने का अस्तित्व है। परतु सोना अपने गुणधर्मों के योग से अधिक कुछ नही है। द्रव्य अपने गुणधर्मों के योग मात्र होते है।"

"अपने गुणधर्म ! क्या इससे पूरा भेद नही खुल जाता ? तो फिर गुणधर्म रखनेवाला कोई 'यह' होता है।"

"निस्सदेह है, परतु यहाँ शामिल 'यह' क्या है ?" 'यह,' सोना, केवल एक नाम है जो हम इस स्थान और काल मे एकसाथ रहनेवाले गुणधर्मो के समूह को देते हैं। 'सोना' शब्द साथ-साथ अस्तित्व रखनेवाले गुणधर्मों के एक समूह का नाम मात्र है। एकसाथ अस्तित्व रखनेवाले गुणधर्मों के अतिरिक्त वह कुछ नही है : उनका समूह ही सोना है।"

"नही। गुणधर्म तब तक हो ही नही सकते जब तक पहले कोई चीज या द्रव्य न हो जिसके वे हो। कोई द्रव्य होना चाहिए जिसके वे गुणधर्म हो या जिसमे वे समवेत हो। चीजें तर्कतः अपने गुणधर्मों के पूर्ववर्ती होती है। यदि चीजें नही है तो गुणधर्म भी नही है।"

"इसके विपरीत, यदि गुणधर्म नही है तो चीजें भी नही है। चीजें गुणधर्मों के सयोग मात्र है। क्या आप कोई एक ऐसी चीज बता सकते है जो गुणधर्मों से रहित हो ?"

'निश्चय ही नहीं : जो भी चीज या द्रव्य है उसके कोई-न-कोई गुणधर्म है। परतु इससे यह सिद्ध नही होता कि चीजें गुणधर्मों से भिन्न नही होती। मैं आपको कोई ऐसी आकृति नही दिखा सकता जिसमे लंबाई-चौड़ाई न हो, और कोई ऐसा रग नहीं दिखा सकता जिसमे आकृति न हो, परतु इसका यह अर्थ नही है कि आकृति और लबाई-चौडाई एक ही बात है या रंग और आकृति एक ही होते हैं। ये अलग पहचाने जा सकते है पर अलग नही किए जा सकते। यही बात द्रव्यों और गुणधर्मों पर भी लागू होती है। गुणधर्म तब तक नही हो सकते जब तक कोई चीजें या द्रव्य न हो जिनके वे गुणधर्म हो।"

'नहीं यदि गुणधर्म न होते तो चीजें भी न होती। एक गुणधर्महीन वस्तु की कल्पना स्वतोव्याघाती है, क्योंकि वस्तु अपने गुणधर्मों के योग के

अलावा कुछ होती ही नही। यदि आप सोचते हो कि वस्तु अपने गुणधर्मों के योग से अधिक होती है तो कृपया बताइए कि वह अधिक क्या है। सोना पीला, आघातवर्ध्य (पीटे जाने पर फैलनेवाला) इत्यादि होने के अतिरिक्त क्या है ? आप चाहे जिसकी ओर इशारा करें वह एक और गुणधर्म मात्र होगा। मुझे यह दिखाने के अलावा कि यह पीला है, पिटने पर बढता है इत्यादि, क्या आप मुझे वह सोना भी दिखा सकते हें जिसके ये गुणधर्म हैं ? निश्चय ही आप नही दिखा सकते। निस्सदेह आपके मन मे पिनकुशन जैसी किसी चीज की तस्वीर है जिससे आप एक-एक करके पिन निकालते जाते है और सब पिनो के निकाल दिए जाने के बाद भी खाली पिनकुशन बच रहता है। परतु इस प्रकार के चित्रमय चिंतन से भ्रम मे न पडिए। जब आप सब गुणधर्मों को निकाल बाहर करते है तब कोई द्रव्य शेष नही रहता, कुछ भी नही बचता, यहाँ तक कि खाली पिनकुशन भी नही।"

"मैं पिनकुशन-जैसी किसी भी तस्वीर को कोई महत्व नही देता। मैं समझता हूँ कि तस्वीरें तो अनुपगी मात्र हैं जो प्रस्तुत प्रश्न के बारे मे कुछ भी नही बताती। मैं तो सिर्फ उस बात की ओर इशारा कर रहा हूँ जिसे मैं एक तत्वमीमासीय तथ्य समझता हूँ, जो यह है कि गुणधर्मों के होने के लिए द्रव्यो का अस्तित्व आवश्यक है। गुणधम अकेले नही तैरते फिरते। बर्फ सफेद होती है, पर सफेद होनेवाली बर्फ ही है—सफेदी का अकेले कोई अस्तित्व नही है। चूंकि सफेदी एक गुणधर्म है, इसलिए वह सदैव किसी चीज की होती है। यह वास्तविक जगत् का एक तथ्य ही है : गुणधर्म द्रव्यो का पहले से अस्तित्व होने पर निर्भर होते हैं जिनके वे गुणधर्म होते हैं। द्रव्य होते है और द्रव्यगत गुणधर्म होते हैं; और चूंकि अब मैंने अर्थ स्पष्ट कर दिया है इसलिए आप समझ गए होंगे कि यह दावा कितना बेतुका है कि द्रव्यगत गुणधर्म द्रव्यों के बिना हो सकते है।"

"मैं समझता हूँ कि भाषा मे सज्ञाओ और विशेषणो के व्याकरणिक भेद से आप भ्रम मे पड गए है। सामान्यतः विशेषण गुणधर्मों के सूचक होते हैं और सज्ञाएँ द्रव्यो के। परतु द्रव्य विश्लेषण करने पर गुणधर्मो के समूह मात्र निकलते हैं। मैं बात को स्पष्ट करता हूँ :

ऐसा होता है कि भाषा मे हम किसी चीज के इद्रियग्राह्य गुणधर्मों का किसी ऐसे शब्द-समूह का प्रयोग किए बिना निर्देश नही कर सकते जो उन

चीज का ही बोध कराता है न कि किसी ऐसी वात का जो उस चीज के वारे मे कही जा सकती है। और इसके फलस्वरूप वे जो इस आदिम अधविश्वास से ग्रस्त है कि हरेक नाम के अनुरूप एक-एक वास्तविक चीज का अस्तित्व होना चाहिए, यह मान लेते है कि स्वय वस्तु का उसके किसी या सव इद्रिय-ग्राह्य गुणधर्मो से भेद करना तर्कत. आवश्यक है। और इस प्रकार वे स्वय वस्तु के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग करते हैं। परतु इस वात से कि हम एक वस्तु का निर्देश करने के लिए एक अकेले शब्द का प्रयोग करते हैं और उस शब्द को उन वाक्यो का व्याकरणिक उद्देश्य वना देते है जिनमे हम वस्तु की ऐद्रिय प्रतीतियो का निर्देश करते है, यह निष्कर्ष विल्कुल भी नही निकलता कि वस्तु स्वय एक 'सरल सत्ता' है अथवा उसकी उन प्रतीतियो के द्वारा परिभाषा नही दी जा सकती। यह सच है कि 'उसकी' प्रतीतियो की वात करने मे हम वस्तु का उसकी प्रतीतियो से भेद करने लगते है, परतु यह तो भाषाई प्रयोग का एक अप्रत्याशित परिणाम मात्र है। तार्किक विश्लेषण से प्रकट होता है कि इन 'प्रतीतियो' को एक ही वस्तु 'की प्रतीतियाँ' वनानेवाली वात उनका अपने से भिन्न किसी सत्ता से सवधित होना नहीं है वल्कि उनका एक-दूसरी से सवधित होना है।"[1]

"मैं इससे सहमत नही हो सकता। वस्तु गुणो के एक समूह मात्र से अधिक होती है। समूह को एक साथ वाँधनेवाला, उसे एक वनानेवाला कुछ होना चाहिए; और वही द्रव्य है। पहले द्रव्य होता है और तव गुण होते है—और गुण क्या है, यह वात निर्धारित करती है कि द्रव्य किस प्रकार का है।"

"आपका मतलव यह है कि कुछ होता है—एक शुद्ध गुणहीन द्रव्य—जो गुणो की अनुपस्थिति मे अस्तित्व रखता है, और जव गुण उसके साथ जोड दिए जाते हैं तव हम कह सकते है कि वह और (चाँदी, पीतल) न होकर अमुक प्रकार का द्रव्य (सोना) है? यह वेतुकी वात है! निश्चय ही द्रव्य होता है, परतु मै यह कह रहा हूँ कि द्रव्य गुणो के योग के अतिरिक्त कुछ नही है। गुणो से पृथक् अस्तित्व रखनेवाला—जैसे कि मानो वह गुणो को ग्रहण करने के लिए तैयार वैठा हो—एक अज्ञेय द्रव्य (अधिष्ठान) दार्शनिको की एक कल्पना है। केवल साथ-साथ अस्तित्व रखनेवाले गुण ही होते है। जव कुछ गुण साथ साथ रहते है तव उनके सयोग को हम सोना कहते है, जव कुछ

---

१. ए० जे० एयर लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक, पृ० ३२-३३।

अन्य गुण साथ-साथ रहते है तब उसे हम चाँदी कहते है, इत्यादि। बस इतनी सी बात है।"

"आप गलती कर रहे हे। द्रव्य गुणो का समूह मात्र नही हो सकता। मान लीजिए कि हमारे पास सोने के दो हूबहू एक-से गोले हैं—परिमाण, भार, रग इत्यादि हर बात में बिल्कुल अभिन्न। अब वह कौन-सी बात है जो एक गोले को दूसरे से अलग करती है? उनके गुण बिल्कुल एक हैं और इसलिए उनके गुणों के आधार पर आप उन्हे अलग अलग नही पहचान सकते। आप उन्हे केवल उनकी स्थिति से अलग पहचान सकते हे: यहाँ एक है (इशारा करते हुए) और वहाँ दूसरा है। ये गुणो के दो समूह, जैसाकि आप कहना चाहेगे, नही हे। ये दो वस्तुएँ या द्रव्य है जिनमे गुणो का संयोग बहुत-कुछ एकही है। 'भौतिक द्रव्य या पुद्गल व्यष्टीयन (व्यष्टियो के भेद) का मूल आधार है।' एक चीज को दूसरी से अलग करनेवाला द्रव्य होता है, न कि गुण।"

चूंकि यह समस्या ऐसी नही है जो दैनिक जीवन में हमारे सामने आती हो, इसलिए पहले-पहल इससे जिस पाठक का परिचय होता है वह शायद बोझ और कृत्रिमता का अनुभव करेगा। कोई कहेगा, 'हमे चिंता नही है। तत्वमीमासको को लडने दो। हम चाहे यह निश्चय करें कि सोना गुणधर्मों का एक समुच्चय है या यह कि उन गुणधर्मों का आश्रय कोई द्रव्य है, वह इसकी परवाह किए विना वही दिखाई देता है जो पहले दिखाई देता था और वही गुण रखता है जो पहले रखता था। फर्क केवल इसका है कि हम कैसे बात करते है और किस भाषा का प्रयोग अधिक पसंद करते हैं। बात कुल शब्दों की है।" परतु इस बारे मे हमे विना विचार किए दुराग्रह नही करना चाहिए। यह निष्कर्ष सही हो सकता है। इसके विपरीत, विवाद का इंद्रियानुभव से समाधान न निकलने पर यह निष्कर्ष नही निकलता कि वह अनुभवों के वर्गीकरण को लेकर पैदा होनेवाला एक शाब्दिक विवाद मात्र है। जो भी हो, कुछ तत्वमीमासकों का विचार है कि विवाद तथ्य-सबधी है, इस बारे मे है कि वे चरम पदार्थ क्या हैं जिनसे वास्तविकता की रचना हुई हैं; और वास्तविकता का विश्लेषण करके इस बात का पता लगाना तत्वमीमासक का काम है।

इस प्रश्न को अधिक समय दिए बिना हम एक और सबधित प्रश्न पर

चीज का ही बोध कराता है न कि किसी ऐसी बात का जो उस चीज के बारे मे कही जा सकती है। और इसके फलस्वरूप वे जो इस आदिम अंधविश्वास से ग्रस्त हैं कि हरेक नाम के अनुरूप एक-एक वास्तविक चीज का अस्तित्व होना चाहिए, यह मान लेते है कि स्वयं वस्तु का उसके किसी या सब इंद्रिय-ग्राह्य गुणधर्मों से भेद करना तर्कतः आवश्यक है। और इस प्रकार वे स्वयं वस्तु के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग करते हैं। परंतु इस बात से कि हम एक वस्तु का निर्देश करने के लिए एक अकेले शब्द का प्रयोग करते हैं और उस शब्द को उन वाक्यों का व्याकरणिक उद्देश्य बना देते है जिनमें हम वस्तु की ऐंद्रिय प्रतीतियों का निर्देश करते है, यह निष्कर्ष बिल्कुल भी नही निकलता कि वस्तु स्वयं एक 'सरल सत्ता' है अथवा उसकी उन प्रतीतियों के द्वारा परिभाषा नही दी जा सकती। यह सच है कि 'उसकी' प्रतीतियों की बात करने में हम वस्तु का उसकी प्रतीतियों से भेद करने लगते है, परंतु यह तो भाषाई प्रयोग का एक अप्रत्याशित परिणाम मात्र है। तार्किक विश्लेषण से प्रकट होता है कि इन 'प्रतीतियो' को एक ही वस्तु 'की प्रतीतियां' बनानेवाली बात उनका अपने से भिन्न किसी सत्ता से संबधित होना नहीं है बल्कि उनका एक-दूसरी से संबंधित होना है।"[1]

"मैं इससे सहमत नही हो सकता। वस्तु गुणों के एक समूह मात्र से अधिक होती है। समूह को एक साथ बांधनेवाला, उसे एक बनानेवाला कुछ होना चाहिए; और वही द्रव्य है। पहले द्रव्य होता है और तब गुण होते है— और गुण क्या है, यह बात निर्धारित करती है कि द्रव्य किस प्रकार का है।"

"आपका मतलब यह है कि कुछ होता है—एक शुद्ध गुणहीन द्रव्य—जो गुणों की अनुपस्थिति में अस्तित्व रखता है, और जब गुण उसके साथ जोड़ दिए जाते हैं तब हम कह सकते है कि वह और (चांदी, पीतल) न होकर अमुक प्रकार का द्रव्य (सोना) है? यह बेतुकी बात है! निश्चय ही द्रव्य होता है, परंतु मै यह कह रहा हूँ कि द्रव्य गुणो के योग के अतिरिक्त कुछ नही है। गुणों से पृथक् अस्तित्व रखनेवाला—जैसे कि मानो वह गुणों को ग्रहण करने के लिए तैयार बैठा हो—एक अज्ञेय द्रव्य (अधिष्ठान) दार्शनिकों की एक कल्पना है। केवल साथ-साथ अस्तित्व रखनेवाले गुण ही होते है। जब कुछ गुण साथ-साथ रहते है तब उनके सयोग को हम सोना कहते है, जब कुछ

१. ए० जे० एयर, लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक, पृ० ३२-३३।

अन्य गुण साथ-साथ रहते है तब उसे हम चाँदी कहते हैं, इत्यादि। बस इतनी सी बात है।"

"आप गलती कर रहे है। द्रव्य गुणो का समूह मात्र नही हो सकता। मान लीजिए कि हमारे पास सोने के दो हूबहू एक-से गोले हैं—परिमाण, भार, रग इत्यादि हर बात मे बिल्कुल अभिन्न। अब वह कौन-सी बात है जो एक गोले को दूसरे से अलग करती है? उनके गुण बिल्कुल एक है और इसलिए उनके गुणो के आधार पर आप उन्हे अलग अलग नही पहचान सकते। आप उन्हे केवल उनकी स्थिति से अलग पहचान सकते है: यहाँ एक है (इशारा करते हुए) और वहाँ दूसरा है। ये गुणो के दो समूह, जैसाकि आप कहना चाहेगे, नही है। ये दो वस्तुएँ या द्रव्य है जिनमे गुणो का सयोग बहुत-कुछ एकही है। 'भौतिक द्रव्य या पुद्गल व्यष्टीयन (व्यष्टियो के भेद) का मूल आधार है।' एक चीज को दूसरी से अलग करनेवाला द्रव्य होता है, न कि गुण।"

चूंकि यह समस्या ऐसी नही है जो दैनिक जीवन मे हमारे सामने आती हो, इसलिए पहले-पहल इससे जिस पाठक का परिचय होता है वह शायद बोझ और कृत्रिमता का अनुभव करेगा। कोई कहेगा, 'हमे चिंता नही है। तत्वमीमासको को लड़ने दो। हम चाहे यह निश्चय करें कि सोना गुणधर्मों का एक समुच्चय है या यह कि उन गुणधर्मों का आश्रय कोई द्रव्य है, वह इसकी परवाह किए विना वही दिखाई देता है जो पहले दिखाई देता था और वही गुण रखता है जो पहले रखता था। फर्क केवल इसका है कि हम कैसे बात करते है और किस भाषा का प्रयोग अधिक पसद करते हैं। बात कुल शब्दा की है।" परतु इस बारे मे हमें बिना विचार किए दुराग्रह नही करना चाहिए। यह निष्कर्ष सही हो सकता है। इसके विपरीत, विवाद का इद्रियानुभव से समाधान न निकलने पर यह निष्कर्ष नही निकलता कि वह अनुभवो के वर्गीकरण को लेकर पैदा होनेवाला एक शाब्दिक विवाद मात्र है। जो भी हो, कुछ तत्वमीमासको का विचार है कि विवाद तथ्य-सबधी है, इस बार मे है कि वे चरम पदार्थ क्या है जिनसे वास्तविकता की रचना हुई है; और वास्तविकता का विश्लेषण करके इस बात का पता लगाना तत्वमीमासक का काम है।

इस प्रश्न को अधिक समय दिए बिना हम एक और सबधित प्रश्न पर

ध्यान देते है जो इसी की तरह तत्वमीमासीय है और जिसका इद्रियानुभविक उपायो से ऐसे ही हल नही निकल सकता। वह सामान्यो की समस्या है। इस समस्या पर बहुत अधिक विवाद हुआ है और नतीजा बहुत कुछ दार्शनिक तर्क पर निर्भर करता है।

सामान्यों की समस्या

सामान्यो की समस्या बहुत ही जटिल है और इसे अनेक दार्शनिक तत्वमीमासा की केद्रभूत समस्या मानते है। समस्या ठीक क्या है, यह कई तरीकों से बताया जा सकता है :

१ बहुत-सी चीजें हे जो नीली है—यह कमीज, वह कुर्सी, महासागर, आकाश इत्यादि। इनमे अनेक अतर है, पर नीले होने मे सब समान ह। इन सबमे एक समान विशेषता है नीलापन। अब, नीली चीजे विशेष है (दुनिया मे, दिक्-काल मे परस्पर पृथक अस्तित्व रखनेवाले व्यष्टि हैं), परतु नीलापन जो कि उन सबमे समान रूप से है, एक सामान्य है। विशेष चीजें नीली ह, नीलापन नीला नही है। विशेष (कमीज, महासागर) काल मे अस्तित्व रखते है, नीलापन नही। विशेष दिक् मे रहते हैं, नीलापन नही रहता। नीली चीजे सब नीलत्व-गुण के उदाहरण ह। कुछ भी जिसके उदाहरण हो सकते है सामान्य है।

२. विभिन्न विशेष एक समान गुणधर्म, नीलत्व, वाले हैं। अब, यदि उनका एक समान गुणधर्म है तो ऐसा एक समान गुणधर्म अवश्य होना चाहिए। न केवल उन विशेषो का जो इस गुणधर्म के उदाहरण है बल्कि इस गुणधर्म का भी अस्तित्व होना चाहिए। इस प्रकार दुनिया मे दो प्रकार की सत्ताएँ है . विशेष, जिनके गुणधर्म होते हैं और गुणधर्म, जो चीजो मे होते हैं। विशेष चीजो के बिना काम नही चल सकता, क्योकि कुछ होना चाहिए जिसमे कि गुणधर्म रहते हो। परतु गुणधर्मो के बिना भी काम नही चल सकता, क्योकि कुछ होना चाहिए जो विशेषो का हो। कुछ अव्याकरणिक रूप मे यह पूछा जा सकता है कोई चीज नीली तब तक कैसे हो पाती जब तक उसके होने के लिए नीलापन न होता ?

३. व्यक्तिवाचक नाम विशेष चीजो का निर्देश करते है : "जवाहरलाल नेहरू" एक विशेष आदमी का, "दिल्ली" एक विशेष नगर का, "गगा" एक

नदी का। परतु "नीला," "कुत्ता," "आदमी," "दौडना" इत्यादि अनेक-व्यापी शब्द किसका निर्देश करते है ? ये विशेष चीजो के नाम नही है। परतु. तब तो इन्हे अनकव्यापी गुणधर्मो के नाम होना चाहिए—नीला होने का गुणधर्म, कुत्ता होने का गुणधर्म इत्यादि। लेकिन यदि अनेकव्यापी शब्द गुण-धर्मो के नाम है, तो इन गुणधर्मो का तथा उन वस्तुओ का जिनमे ये होते है, अस्तित्व होना चाहिए। ये अनेकव्यापी गुणधर्म ही सामान्य ह।

प्लेटो का सिद्धात—सामान्यो की समस्या दर्शन मे सबसे पहले प्लेटो के द्वारा प्रस्तुत की गई थी और इसम उसकी दिलचस्पी उसकी रचनाओ मे सर्वत्र झलकती है। पहले हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि यह समस्या उसके सामने आई कैसे, और तब हम आलोचनाओ और वाद क मतो की ओर ध्यान देंगे। प्लेटो के मत को प्राय. 'वास्तववाद" (इस शब्द के अनेक अर्थो मे से एक मे) कहते हैं, क्योकि प्लटो के अनुसार सामान्य किसी रूप मे वस्तुत. अस्तित्व रखते हैं। वास्तविक जगत् विशेषो से बना है—विशेष कुर्सियाँ, नीले के विशेष उदाहरण—और सामान्यो से भी जिनके कि विशेष उदाहरण होते है। वह एक नीले रग की चीज है और यह एक और नीले रग की चीज है, परतु सामान्य, नीलापन, भी है जिसके कि विशेष नीले रग उदाहरण हैं। यह बिल्ली है और वह बिल्ली है, पर सामान्य, "बिल्ली होने का गुण' या "बिल्लीपन" भी है, विशेष बिल्लियाँ जिसके उदाहरण हैं। प्रायः सामान्य के लिए स्वाभाविक लगनवाला कोई शब्द नही होता। इसलिए प्रत्यय "—पन", "—त्व" या "—ता" को लगाकर काम चलाया जाता है : जैस, नीलापन, मनुष्यत्व, बिल्लीपन, सरलता।

परतु सामान्यो मे प्लेटो की दिलचस्पी मुख्यत (१) नैतिक गुणधर्मो तथा (२) गणितीय सत्ताओ के प्रसग मे हुई। पूर्ण सद्गुण, पूर्ण शुभत्व, पूर्ण न्याय इस जगत् मे कही अस्तित्व नही रखते, अर्थात् कोई भी परिस्थिति इन गुणा का पूर्ण उदाहरण नही है। इस जगत् म कही एक सरल रेखा या पूर्ण वृत्त नही मिलता। फिर भी पूर्ण शुभत्व, पूर्ण सरलता और पूर्ण वृत्तत्व या एक प्रत्यय हमारे मन म रहता है (कुछ लोग नैतिक गुणो के प्रसग मे इस बात का प्रतिवाद करेंगे)। जब हम कहते है कि यह आकृति एक पूर्ण वृत्त नही है तब हमारे मन म पूर्ण वृत्त का प्रत्यय अवश्य होना चाहिए, क्योकि यदि हम जान न हो कि पूर्ण वृत्त क्या होता है तो हम यह नही जान सकते कि अमुक

'प्लेटो ने अनेक लोगो के एक ही आवरण के नीचे ढके होने (और इस प्रकार उसके अशभागी होने) का उदाहरण दिया है ; परंतु यह बात निश्चय ही आवरण पर लागू होती है कि शायद वह इतना काफी वडा न हो जिससे शरण लेनेवाले सभी लोग उसके नीचे आ जाएँ ।

परतु यह भी सामान्यो का सिद्धात बनने के लिए पर्याप्त नहीं है। इन साधारण प्रसगो मे "अशभागी होना" के जितने भी प्रयोग हैं उन सबमे जिस चीज का कोई अशभागी होता है वह उतनी ही विशेष होती है जितनी वह चीज जो उसकी अशभागी होती है। आवरण उसी तरह एक विशेष है जिस तरह वे लोग जो उसके नीचे ढके है, हालांकि आकार मे वह वडा है। निश्चय ही, प्लेटो ने इन उदाहरणो का प्रयोग केवल उपमाओ के रूप मे ही किया है, न कि विशेषो और सामान्यो के सबध के यथार्थ वर्णन के रूप मे। परतु प्रत्येक उपमा मे कोई समान तत्व होना चाहिए, हालांकि सादृश्य का पूरा होना जरूरी नही है , और यहां ऐसा लगेगा कि नमूना बनाम नकल तथा अशभागिता बनाम वह चीज जिसका कोई अशभागी होना है दोनो के प्रसग मे उपमा तत्काल भग हो जाती है, क्योकि इन सबमे सबध किसी विशेष का अन्य विशेषो से होता है।

यह हो सकता है कि प्लेटो मुख्यतः दो बातें एक साथ करना चाहता था—वह एक दो लोको को माननेवाला सिद्धात स्थापित करना चाहता था और सामान्यो के एक सिद्धात को भी। परतु जो भी उसका अभिप्राय रहा हो, उसका मत सामान्यो के एक सिद्धात के रूप मे अपर्याप्त है। सामान्यो और विशेषो का सबध अक्षरश वह था उससे मिलता जुलता भी नही हो सकता है जो उसके द्वारा प्रस्तुत उदाहरणो मे है। इस बारे मे अधिक यथार्थ वह बात होगी जिसकी ओर प्लेटो ने इशारा किया था पर जिसे उसने कभी खुलकर नही कहा सामान्यो और विशेषो का सबध किसी भी अन्य सबध की तरह नही है। यह दृष्टातीकरण या निदर्शन का सबध है जो किसी भी अन्य सबध से भिन्न होता है (अत इसकी कोई भी उपमा नही मिल सकती)। एक नीला विशेष नीलेपन का दृष्टात है, यह त्रिभुज त्रिभुजत्व का दृष्टात है, इत्यादि। एक व्यष्टि और उसके गुणधर्म का सबध सदैव दृष्टातीकरण का होना है।

परतु एक कठिनाई प्लेटो को मालूम थी और उसने उसकी चर्चा भी की

थी : यह त्रिभुज त्रिभुजत्व का उदाहरण है, नीला आकाश नीलत्व का उदाहरण है। क्या इसी प्रकार यह विशाल वस्तु विशालता का उदाहरण है ? क्या अ, जो व के उत्तर मे है, उत्तरत्व का उदाहरण है ? ऐसा नही हो सकता : वस्तुएँ अकेली विशाल या लघु नही होती , वे अन्य वस्तुओं की तुलना मे विशाल या लघु होती है। यदि दुनिया मे केवल एक ही वस्तु होती, जैसे एक हाथी, तो वह न विशाल होता और न लघु, क्योकि "विशाल" और "लघु" सबधमूलक या तुलनामूलक शब्द है—चीजें स्वत विशाल या लघु नही होती वल्कि केवल अन्य वस्तुओ की तुलना मे ऐसी होती है : एक हाथी एक चूहे की तुलना मे विशाल है पर एक इमारत की तुलना मे लघु है। इस विशेष का यह गुणधर्म स्वत नही होता वल्कि केवल अन्य चीजो की ही तुलना मे होता है। दूसरे शब्दो मे, विशालता एक सरल गुणधर्म नही है वल्कि एक सबध है—अथवा यदि आप चाहे तो सबधमूलक गुणधर्म कह सकते हैं। इससे भी अधिक स्पष्ट "के उत्तर मे होना" का एक सबध होना है, और इसके उदाहरण अनेक हो सकते है : एडिनबर्ग का लदन से सबध एक उदाहरण है, मान्ट्रियल का न्यूयार्क से सबध इसका दूसरा उदाहरण है, इत्यादि। हम कह सकते है कि *वास्तविक जगत मे तीन प्रकार की सत्ताएँ है* · *विशेष*, *सामान्य* और *सबध*। परतु यह कहना कम भ्रामक होगा कि केवल दो प्रकार की सत्ताएँ, *विशेष* और *सामान्य*, है, लेकिन *सामान्यो को (१) गुणधर्मों* (वर्गत्व, नीलत्व इत्यादि) और (२) सबधो (ऊपर होना, के उत्तर मे होना, की तुलना मे अधिक शिक्षित होना, के बारे मे सतर्क होना इत्यादि) मे विभाजित किया जा सकता है। गुणधर्म और सबध दोनो के ही उदाहरण होते है और इस प्रकार दोनो ही सामान्य है।

यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि सबधो को वास्तविक जगत् से निकालकर मन के अदर नही धकेला जा सकता। हम नही कह सकते कि वस्तुएँ तो वाह्य जगत् मे अस्तित्व रखती है, पर वस्तुओं के सबध बाहर नही होते, वल्कि वे मन की देन होते है। प्लेटो को इस बात का पता था। यहाँ एथेन्स है और वहाँ स्पार्टा है और उनके सबध (एथेन्स स्पार्टा के उत्तर मे है और एथेन्स स्पार्टा से बडा है) उतने ही वस्तुतत्र तथा "बाहर वहाँ" है जितने स्वय ये नगर। प्लेटो ने कहा था कि सामान्यो का अस्तित्व उतना ही वस्तुतत्र है जितना उन चीजो का जो उनके उदाहरण है। यह कहना ठीक

नही है जो प्लेटो के वाद के कुछ अनुयायियो ने, जैसे नवप्लेटोवादियो ने कहा था—यह कि सामान्य मन के अदर रहनेवाले विचारो के अलावा कुछ भी नही है, क्योकि मन के विचार भी विशेष हैं। यदि मैं एथेन्स के बारे मे सोचता हूँ तो उसका विचार एक विशेष विचार है—एक भौतिक विशेष नही बल्कि एक मानसिक विशेष (जिसके बारे मे हमे काफी अधिक इस अध्याय मे बाद मे कहना होगा)—और यदि आपके मन मे भी एथेन्स के बारे मे कोई विचार है तो आपका विचार एक और विशेष है। विचार, स्वप्न, अपभ्रम तथा अन्य मानसिक चीजे उसी तरह विशेष है जिस तरह वे भौतिक चीजें जिनके बारे मे वे है। प्लेटो इस मत का विशेष रूप से विरोधी था कि गणितीय पदार्थ केवल मन के अदर अस्तित्व रखते है। जब कोई किसी प्रमेय को ढूंढ निकालता है तब वह एक खोज होती है, आविष्कार नही। और वह किसी चीज की खोज होती है—ऐसी चीज की जो उतनी ही वास्तविक होती है जितनी जिब्राल्टर की चट्टान (हालाकि उस वर्ग की नही)। प्रमेय एक चीज है और उसका किसी के मन मे रहनेवाला विचार एक और चीज है; किसी दूसरे के मन मे रहनेवाला उसका विचार उससे भी भिन्न एक चीज है। विचार विशेष घटनाएँ है, सामान्य कदापि नही। यहाँ तक कि ईश्वर के मन मे रहनेवाले विचार भी (जिन्हे कुछ ईसाई दार्शनिको ने सामान्यो से अभिन्न बताया था) एक विशेष मन के अदर, हालाँकि वह अधिमानव है, रहनेवाले विशेष है; वे सामान्य नही है। विशेषो का सामान्यो से अभेद करना कोटि-दोष का एक उत्कृष्ट उदाहरण होगा।

सामान्यो का उपमा के द्वारा भी ऐसी चीजो से अभेद नही करना चाहिए जो विशेष हो, क्योकि ऐसा करने से वे सामान्य नही रहेगे। वास्तव मे सामान्यो का विशेषो से सबध किसी भी अन्य सबध की तरह नही है। फिर भी, इस बात की बहुत अधिक सभावना रहती है कि वह भ्रमवश एक बिल्कुल ही भिन्न सबध से एक समझ लिया जाता है और यह है जाति का उपजाति से सबध। सिंदूरी लाल जाति की एक उपजाति है, और लाल रग जाति की एक उपजाति है। आयत चतुर्भुज की एक उपजाति है, और चतुर्भुज समतलाकृति की एक उपजाति। (ठीक यह कहना होगा कि आयतत्व नामक गुण चतुर्भुजत्व की एक उपजाति है, इत्यादि।) परतु जाति का उपजाति से सबध एक सामान्य का सामान्यो के सोपानवत् क्रम मे स्थिति रखनेवाले एक अन्य सामान्य

से संबंध है। एक अधिक व्यापक सामान्य (रगवत्ता) मे एक कम व्यापक सामान्य (नीलत्व) समाविष्ट रहता है, पर नीलत्व है तब भी एक सामान्य ही : नीलत्व एक गुणधर्म है और उसको नीली वस्तु से, जिसका कि वह गुण-धर्म है, एक नही समझना है। यदि हम नीले के एक लाख भेद भी कर दे तब भी ये विशेष नही होगे (हालाँकि हम उन्हे भ्रामक तरीके से "नीले के विशेष भेद" कहते है)। नीला न० ६८४९५ फिर भी एक गुणधर्म है जो अनेक विशेष चीजो मे समान हो सकता है, भले ही वस्तुत. वह समान न हो। कोई चीज (विशेष) फिर भी नीले की ठीक उस रगत वाली होने के गुणधर्म से युक्त होगी ; वह रगत एक गुणधर्म होने से फिर भी एक सामान्य होगी और जो विशेष चीज उसके दृष्टात के रूप मे है उससे सदैव पृथक् होगी। इसी प्रकार, आप भौतिक वस्तु से जीव मे, जीव से पशु मे, पशु से स्तनधारी मे, स्तनधारी से कुत्ते मे, कुत्ते से गड़रिए के कुत्ते मे, गडरिए के कुत्ते से पिंटू (एक विशेष कुत्ता) मे नही पहुँच सकते। अतिम को छोडकर प्रत्येक चरण स्वीकार्य हे : प्रत्येक (जैसे गडरिया-कुत्ता-पन) एक अधिक व्यापक सामान्य (कुत्तापन) मे समाविष्ट एक सामान्य है। परतु गड़रिए का कुत्ता होना फिर भी एक गुणधर्म है। लेकिन 'पिंटू" किसी गुणधर्म का नाम नही है बल्कि एक विशेष कुत्ते का नाम है। गडरिए का होना, कुत्ता होना, पशु होना, इत्यादि इस विशेष जंतु के गुणधर्म है। पिंटू इस विशेष जतु का एक गुणधर्म नही है बल्कि वह विशेष जतु स्वय ही है।

अत. प्लेटो के अनुसार सामान्य होते है और वे विशेषो के अस्तित्व से पृथक् अस्तित्व रखते हैं। उनका तब भी अवश्य ही अस्तित्व रहेगा जब उनके दृष्टातो के रूप मे कोई विशेष न हो। परतु इसका यह अर्थ निकालना आवश्यक नही है (लगता है कि प्लेटो का प्रारभिक वार्ताओ मे ऐसा ही अभिप्राय था) कि यदि पृथ्वी मे कहा पूर्ण वृत्त नही है तो फिर भी वह अन्यत्र कही होगा, क्योकि, जैसाकि हम देख चुके हैं, यदि ऐसा पूर्ण वृत्त कही हो भी तो होगा वह फिर भी एक विशेष ही और सामान्य वृत्तत्व की, जिसका कि वह एक दृष्टात होगा, फिर भी हमे जरूरत होगी। ऐसा पूर्ण वृत्त फिर भी वृत्तत्व नही होगा ; वह वृत्तत्व का एक उदाहरण ही होगा। परतु प्लेटो का यह विश्वास निस्सदेह सत्य था कि गुणधर्मो का बोध करानेवाले शब्दो के अर्थ हम तब भी समझ सकते हैं जब दुनिया मे उन गुणधर्मो का दृष्टातीकरण

करनेवाली कोई चीज न हो। हम "सहस्रभुज" (एक हजार भुजाओ वाला बहुभुज) का अर्थ समझ सकते हैं, यद्यपि कही ऐसा बहुभुज नही होता। हम "एकशृंग" (वह जिसमे घोडे के गुणधर्म हो और जिसके माथे के बीच मे एक सीग भी हो) का मतलब समझ सकते हैं, हालांकि एकशृंग होते नहीं हैं। यही बात किसी भी अन्य काल्पनिक जंतु के नाम पर लागू होती है (जैसे नराश्व इत्यादि)। गुणधर्मो के इन सब सयोगो का दुनिया मे हम कहीं दृष्टातीकरण नही देखते, पर फिर भी हम इन्हें समझ सकते हैं। प्लेटो के अनुसार ये सब सामान्य अस्तित्व रखते है और (मानो) दृष्टातीकरण के लिए तैयार बैठे है, परतु सामान्यो के लोक मे वे उतने ही वास्तविक है, भले ही उनके दृष्टातो के रूप मे कोई विशेप न हो।

लेकिन यदि हमने उनके दृष्टातो के रूप मे कोई विशेप नही देखे हैं तो हमे उनका सप्रत्यय कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्लेटो ने प्रागस्तित्व का एक सिद्धात प्रस्तुत किया था। परतु हमे वहाँ तक जाने की जरूरत नही है. प्रागस्तित्व हो या न हो, जैसा कि हमने (पृ० १५०-५१) मे देखा था, हम अपने ही मन मे सरल प्रत्ययो को सयुक्त करके जटिल प्रत्ययो का निर्माण कर सकते हैं और इसमे कोई कठिनाई नही है। पर ऐसे सरल लगने वाले प्रत्ययो के बारे मे क्या कहा जाएगा जैसे सीधापन ? हमने कभी एक बिल्कुल सीधी रेखा नही देखी है, और फिर भी हम जानते हैं कि सीधी रेखा कैसी होगी। परतु इस उदाहरण के लिए भी प्रागस्तित्व का सिद्धात मानने की आवश्यकता नही है। सीधेपन का प्रत्यय हमे उन्ही चीजो से प्राप्त होता है जिन्हे हम देखते और छूते है। निस्सदेह आप पेन्सिल और पटरी से जो रेखा खीचते है वह वस्तुत सीधी नही होती, परतु वह सीधी दिखाई तो देती है, और इसी प्रत्यक्ष से आपको सीधेपन का प्रत्यय प्राप्त होता है। वही रेखा (या कागज के ऊपर रेखा को दिखाने के लिए बना हुआ निशान) सूक्ष्मदर्शी यत्र से टेढी मेढी दिखाई दे सकती है, पर सूक्ष्मदर्शी से होनेवाला प्रत्यक्ष आखिर उसके बिना होनेवाले प्रत्यक्ष से तो भिन्न ही है और आपका सीधेपन का प्रत्यय सूक्ष्मदर्शी के बिना देखने से प्राप्त हो सकता है। सही बात यह है कि ज्यामितिज्ञ की रेखाएँ, बिंदु, और समतल वैसी चीजें नही है जिन्हे कोई देख सके। परतु बिंदु, रेखा इत्यादि का बोध करानेवाले चिह्नो को कोई भी देख सकता है और वे सीधेपन, वृत्तत्व इत्यादि के प्रत्यय हमारे मन मे पैदा करने

के लिए पर्याप्त है।

इन प्रत्ययो की उत्पत्ति बताने के लिए इतना काफी है। परतु प्रत्यय किसी का प्रत्यय होता है और प्लेटो के अनुसार वही सामान्य है। प्रत्यय तो हमारे मन मे है, परतु जिसका वह प्रत्यय है वह चीज हमारे मन मे नही है : वह "बाहर वहाँ" वास्तविक जगत् मे है। और वास्तविक जगत् मे उस चीज के दो प्रकार है : वे विशेष जो सामान्यो के दृष्टातीकरण हैं और वे सामान्य जिनके वे दृष्टातीकरण हैं। सामान्यो का इद्रियो से उस तरह प्रत्यक्ष तो नही हो सकता जिस तरह विशेषो का हो सकता है, पर है वे ठीक उतने ही वास्तविक, उतने ही बुद्धिनिरपेक्ष, वास्तविकता के उतने ही सच्चे अश जितने विशेष है।

अरस्तू का सिद्धांत—प्लेटो का शिष्य अरस्तू प्लेटो के दो लोको के सिद्धात से असतुष्ट था। अरस्तू ने कहा कि दूसरा लोक कोई नही है, केवल एक ही लोक है और उसमे भी विशेष रहते हैं जिनके अदर सामान्य पूर्णत. निवास करते है. प्लेटो का वास्तववाद उस रूप मे गलत था ; "सामान्यो का लोक" एक तत्वमीमासीय कल्पना है। यदि एक दूसरा लोक मान भी लिया जाए, तो भी वह सामान्यो का लोक नही होगा बल्कि केवल महाविशेषो का होगा जो कि इद्रियानुभव से हमारे जाने-पहचाने विशेषो से शायद (किसी रूप मे) अधिक पूर्ण होगे, पर होगे फिर भी विशेष ही ; और इस बात का कोई प्रम ण नही है कि महाविशेषो के ऐसे किसी लोक का कोई अस्तित्व है। फिर भी स मान्यो के बारे मे अरस्तू का भो मत वास्तववादी था : वह यह मानता था कि सामान्य और विशेष दोनो का वास्तव मे अस्तित्व है, कि वे "बाहर वहाँ" रहते है न कि हमारे मन के अदर, और कि उनका अस्तित्व बिल्कुल भी हमारे मन पर या हमारे सोचने पर निर्भर नही है : यदि उनके बारे मे सोचनेवाले मन न होते तो भी उनका उसी तरह अस्तित्व होता जिस तरह अब है।

तो उनका अस्तित्व किस प्रकार का है? अरस्तू के अनुसार सामान्य केवल एक गुणधर्म (सरल या जटिल, सहज या सबधज) है जो अनेक उदाहरणो मे समान होता है। और हम इन गुणधर्मो का सप्रत्यय विशेषो से अपाकर्षण की प्रक्रिया से प्राप्त होता है (हम नीला आकाश देखते हैं, नीला पानी, नीला कपडा इत्यादि देखते हैं और अपाकर्षण से हम नीलेपन का

सप्रत्यय प्राप्त करते है)। विशेषो के बिना सामान्य नही हो सकते (गुण-धर्मो को धारण करनेवाली वस्तुओ के बिना सामान्य गुणधर्म नही हो सकते), वैसे ही जैस सामान्यो के बिना विशेष नही हो सकते (गुणधर्मों के बिना वस्तुएँ नही हो सकती)। दोनो तर्कतः एक-दूसरे पर निर्भर है—ऐसे नही, जैसा प्लेटो ने माना था, कि विशेष सामान्यो पर निर्भर हो पर सामान्य सभी विशेषो से स्वतत्र होकर तटस्थ भाव से अस्तित्व रखते हो। सामान्य केवल वस्तुओ मे ही अस्तित्व रखते है, न कि, जसा कि प्लेटो का विचार था, वस्तुओ से पहले। और चूँकि सामान्यो को विशेषो की उतनी ही जरूरत रहती है जितनी विशेषो को सामान्यो की, इसलिए सामान्य विशेषो से पृथक् रह ही नहा सकते—विशेषो मे सचमुच समान रूप से रहनेवाले गुणधर्मों से अलग सामान्य नही होते। अब एकशृ ग, नराश्व इत्यादि की बात लीजिए। एकशृंगत्व इत्यादि के सप्रत्यय होते अवश्य है : हम प्रत्ययो के साथ खेल सकते है (पृ० १५०-५७) और उन्हे विभिन्न तरीको से मिलाकर ऐसी वस्तुआ के सप्रत्यय बना सकते है जिनका जमीन या समुद्र मे कही अस्तित्व न हो ; परतु भले ही इन सप्रत्ययो का हमारे मन मे निवास हो, वास्तविक जगत् मे उनके अनुरूप कोई सामान्य नही होता, क्योकि ऐसी कोई चीजें है ही नही जिनमे गुणधर्मो के ये सयोग हो।

यहाँ तक बात इतनी सहज है कि उससे इन्कार करना कठिन लगेगा। सामान्य विभिन्न विशेषो के समान गुणधर्म मात्र है, और निश्चय ही वस्तुओ के गुणधर्म केवल तभी अस्तित्व रखते हैं जब वस्तुओ का अस्तित्व हो (वैसे ही जैसे वस्तुओ का गुणधर्मों के बिना अस्तित्व नही हो सकता)। परतु अरस्तू के सिद्धात को जो चीज विलक्षणता प्रदान करती है वह है इन समान गुणधर्मों के स्वरूप के बारे मे अरस्तू का दृष्टिकोण। अरस्तू यह मानता था कि सामान्य कोई ऐसी चीज है जो प्रत्येक विशेष मे जिसमे वह होती है, बिल्कुल एक ही रूप मे वर्तमान होती है। नीलत्व सब नीली चीजो मे बिल्कुल एक ही रूप मे विद्यमान होता है और उसीका वजह से वे नीली होती है (जैसे कि उनमे से प्रत्येक मे एक ही चीज, नीलत्व, का एक-एक टुकडा मौजूद हो) ; और नीलत्व उतना ही वस्तुतत्र होता है जितनी वह चीज जिसमे वह होता है। इसी प्रकार, कुत्तापन एक गुणधर्म है जो कुत्तो मे बिल्कुल एक ही रूप मे विद्यमान होता है, और कोई उसके बारे मे सोचे या

न सोचे, विद्यमान वह हर हालत मे रहता है। सामान्य वस्तुओ मे, बाह्य जगत् में, रहते है, परंतु वे वस्तुओ के बुद्धिनिरपेक्ष रूप से अस्तित्व रखनेवाले गुणधर्मों के रूप मे रहते है न कि मूल-प्ररूपों या अन्य किसी ऐसी चीज के रूप मे जो वस्तुओं से पृथक् रह सकती हो। वह उस अभेद की तरह है जो केकों का साँचा केकों को प्रदान करता है (इस उपमा को बहुत आगे ले जाना ठीक नही है) : सभी केक, जितनी भी बड़ी संख्या उनकी हो और जितनी भी भिन्न उनकी सामग्री हो, एक ही आकृति वाले होते हैं क्योंकि एक ही सांचे से उन्हें वह आकृति प्राप्त होती है। सामान्य एक गुणधर्म होता है जो सभी विशेषों मे, जो उसके दृष्टांतीकरण होते है, अभिन्न रूप मे विद्यमान होता है और ऐसे दृष्टांतीकरण से पृथक् अस्तित्व नही रखता।

नामवाद— अरस्तू ने जो कुछ कहा है उसे यदि सामान्य और विशेष से संबधित अन्य मतों से मिलाकर देखा जाए तो बड़ी आसानी से वह समझ में आ जाता है। यहाँ तक के हमारे वर्णन को पढ़कर कोई यह महसूस कर सकता है कि इसमें कल्पना का बहुत बड़ा अंश है—समस्या कुछ बनावटी है और उसमे हम केवल भाषा की कुछ कठिनाइयो की वजह से फँस गए हैं। कोई कहेगा, "वास्तव में विश्व मे विशेषों के अलावा कुछ भी नही है। हमे दिखाई सब विशेष ही देते है और विशेष ही सब है। यह सत्य है कि वस्तुओं के गुणधर्म होते हे, परंतु गुणधर्म स्वय वस्तुओं के ही भाग होते है, न कि वस्तुओं से पृथक् किसी प्रकार की सत्ताएँ—विशेषों से भिन्न किसी लोक की सत्ताएँ जैसा प्लेटो ने माना है, वे निश्चित रूप से नही है, बल्कि जैसा अरस्तू ने माना है वैसी भी, अर्थात् प्रत्येक विशेष में अभिन्न रूप से और बुद्धिनिरपेक्ष रूप से अस्तित्व रखनेवाली और इस प्रकार विचार में उनसे अलग पहचानी जा सकने-वाली विशेषताएँ (हालांकि उनसे सचमुच अलग अस्तित्व उनका नहीं हो सकता) भी, वे नही है। हम चाहते है कि व्यर्थ की बातों से हमारा पिंड छूटे और जो हम देख सकते हैं उसी तक हम सीमित रहे, और वह विशेष है : हरे पेड़ है परंतु वह खास तरह की चीज नहीं है जिसे हरापन कहते हैं।"

इस तरह की विचार-प्रणाली का सबसे अधिक अनुसरण करनेवाला वह मत है जिसे "नामवाद" कहते हैं—पर इस नाम के अंतर्गत परस्पर कुछ अंतर रखनेवाले अनेक मत समाविष्ट है। चरम नामवाद यह मानता है कि केवल

विशेपो का ही अस्तित्व है और वस्तुओं के एक वर्ग मे (नीली वस्तुएँ, वे वस्तुएँ जिन्हे हम विल्ली कहते है) समान केवल वह नाम ही होता है जो हम उन्हे देते है। सामान्य एक नाम मात्र है और जिसका वह नाम होता है वह केवल एक विशेप या विशेपो का एक समूह होता है।

परतु चरम नामवाद का उल्लेख विचार किए बिना ही उसे निकाल-बाहर करने के लिए करना है। (१) पहली वात यह है कि जव हम विभिन्न वस्तुओ को "नीली" कहते है तव हमारा सकेत खाली वस्तुओ की ओर नही होता बल्कि उनके एक गुणधर्म की ओर होता है जो वस्तु से अभिन्न न होकर (नीली पोशाक और नीला एक ही वात नही है) वस्तु मे रहनेवाली कोई वात होता है और अन्य वस्तओ मे भी रह सकता है—वह गुणधर्म अनेक वस्तुओ मे समान रूप से हो सकता है। परतु यह कह चुकने के वाद हम वापस बुद्धिनिरपेक्ष रूप से अस्तित्व रखनेवाले गुणधर्मो मे पहुँच जाते है : वस्तुएँ होती है और वस्तुओ के गुणधर्म होते है : तथा अनेक वस्तुओ मे समान गुण-धर्म होते है। (२) इसके अतिरिक्त यह अवश्य ही सही नही है कि अलग-अलग कुत्तो मे समान केवल "कुत्ता" नाम है। एक वर्ग मे शामिल अलग-अलग वस्तुएँ इसलिए उसमे शामिल होती है कि उनम कुछ गुणधर्म समान होते है—वे गुणधर्म जिन्हे हम उस वर्ग की परिभापा मे शामिल करते हैं। जैसा कि हमने अध्याय १ मे देखा था, वर्गीकरण सदैव समान गुणधर्मो की उपस्थिति पर आधारित होता है—उन गुणधर्मो पर जो केवल हमारे मन मे नही वल्कि वास्तविक जगत् मे अस्तित्व रखते है। (सप्रत्यय हमारे मन मे रहता है, पर गुणधर्म नही।) ऐसा हो सकता है कि गुणधर्मों का कोई एक ही समुच्चय ऐसा न हो जो अनिवार्य और पर्याप्त दोनो हो शायद उनका कोई कोरम हो या (पृ० ९७-११३) मे वताई हुई अन्य प्रकार की अस्पष्टताओ मे से कोई हो। परतु वर्ग के सदस्यो मे कोई सवध होता है, भले ही कभी-कभी उनमे एक मोटा-सा पारिवारिक सादृश्य ही हो। शायद सभी खेलो मे गुणधर्मों का एक ही समुच्चय न हो, पर गुणधर्मो के परस्पर अशत भिन्न और अशत. समान समुच्चय होते हैं और ये गुणधर्म उतना ही वस्तुतः अस्तित्व रखते हैं जितना कोई भी अन्य, तथा वे यह निर्धारित करते हैं कि "खेल" शब्द किसी निर्दिष्ट परिस्थिति मे लागू होता है या नही। सक्षेप मे, एक ही शब्द का अनेक परस्पर भिन्न वस्तुओ के लिए प्रयोग करने का कोई आधार होता है,

और यह आधार कुछ समान गुणधर्मों के अस्तित्व के अलावा क्या होगा? गुणधर्मों की जगह पर नाम ले आने से हम गुणधर्मों से छुटकारा नहीं पा सकते, क्योंकि तब हमे इस सवाल का उत्तर देना होगा : अनेक विशेष चीजों को एक ही नाम से पुकारने का क्या आधार है?

एक अन्य मत को भी "नामवाद" कहा गया है : वास्तविक जगत् मे केवल विशेष होते हैं ; पर हमारे मन के अदर केवल विंब होते हैं, सप्रत्यय नही (इस मत को "विंववाद" कहा गया है)। वर्कली ने कहा था कि जब मैं एक त्रिभुज की सकल्पना करता हूँ तब मेरे मन मे किसी विशेष त्रिभुज का विंब होता है। त्रिभुज की (त्रिभुजत्व की) सकल्पना मे उसके एक गुणधर्म के रूप में यह बात शामिल नहीं हो सकती कि उसे समद्विवाहु होना चाहिए, या समत्रिवाहु या विषमवाहु होना चाहिए, क्योंकि अनेक त्रिभुज समद्विवाहु नहीं होते, अनेक समत्रिवाहु नहीं होते, और अनेक विषमवाहु नही होते। मेरे मन मे उपस्थित केवल एक त्रिभुज का विंब है, और यह विंब एक विशेष त्रिभुज का होना चाहिए : मेरे मन मे त्रिभुज का जो विंब है उसे एक विषमवाहु त्रिभुज का, एक समद्विवाहु त्रिभुज का, या एक समत्रिवाहु त्रिभुज का विंब होना चाहिए। आप त्रिभुज का एक ऐसा विंब नही बना सकते जो न विषमवाहु हो, न समद्विवाहु हो और न समत्रिवाहु हो। परंतु जब हम त्रिभुजो के बारे में सामान्य रूप से बात करते हैं तब हमारे मन मे एक विशेष त्रिभुज का जो विंब होता है उसका प्रयोग हम किसी भी त्रिभुज का बोध कराने के लिए कर देते हैं। यद्यपि मेरा विंब एक समद्विवाहु त्रिभुज का विंब होता है, तथापि मैं इस विंब का प्रयोग किसी भी त्रिभुज का, यहाँ तक कि जो समद्विवाहु नही है उसका भी बोध कराने के लिए कर सकता हूँ। परतु यहाँ पहुँचकर वर्कली एक कठिनाई मे फँस जाता है : वह कहता है कि एक विंब से एक प्रकार की सभी आकृतियों के बोधक का काम लिया जाता है (प्रस्तुत उदाहरण मे त्रिभुजो के)। परतु "एक प्रकार की" से क्या मतलब है? यह जानने के लिए कि यह क्या है, हमारे मन में त्रिभुज क्या होता है, इसकी कोई सकल्पना होनी चाहिए और यह सकल्पना विंब नही है। इससे पहले कि हम किसी विंब को इस तरह एक प्रतिनिधि के रूप मे ले सकें, यानी एक ही प्रकार के सभी अन्य विशेषों का बोधक बना सकें, हमें जान लेना होगा कि प्रकार क्या है—और प्रकार को जान लेने मे यह बात शामिल है कि हमे एक समान गुणधर्म को जानना है। अतः हम वापस

विशेषों का ही अस्तित्व है और वस्तुओं के एक वर्ग में (नीली वस्तुएँ, वे वस्तुएँ जिन्हे हम बिल्ली कहते हैं) समान केवल वह नाम ही होता है जो हम उन्हे देते है। सामान्य एक नाम मात्र है और जिसका वह नाम होता है वह केवल एक विशेष या विशेषों का एक समूह होता है।

परतु चरम नामवाद का उल्लेख विचार किए बिना ही उसे निकाल-बाहर करने के लिए करना है। (१) पहली बात यह है कि जब हम विभिन्न वस्तुओं को "नीली" कहते है तब हमारा सकेत खाली वस्तुओं की ओर नहीं होता बल्कि उनके एक गुणधर्म की ओर होता है जो वस्तु से अभिन्न न होकर (नीली पोशाक और नीला एक ही बात नही है) वस्तु मे रहनेवाली कोई बात होता है और अन्य वस्तुओं मे भी रह सकता है—वह गुणधर्म अनेक वस्तुओ मे समान रूप से हो सकता है। परतु यह कह चुकने के बाद हम वापस बुद्धिनिरपेक्ष रूप से अस्तित्व रखनेवाले गुणधर्मो मे पहुँच जाते है : वस्तुएँ होती है और वस्तुओं के गुणधर्म होते है : तथा अनेक वस्तुओं मे समान गुण-धर्म होते है। (२) इसके अतिरिक्त यह अवश्य ही सही नही है कि अलग-अलग कुत्तो मे समान केवल "कुत्ता" नाम है। एक वर्ग में शामिल अलग-अलग वस्तुएँ इसलिए उसमे शामिल होती है कि उनमे कुछ गुणधर्म समान होते है—वे गुणधर्म जिन्हे हम उस वर्ग की परिभाषा मे शामिल करते हैं। जैसा कि हमने अध्याय १ मे देखा था, वर्गीकरण सदैव समान गुणधर्मो की उपस्थिति पर आधारित होता है—उन गुणधर्मो पर जो केवल हमारे मन मे नही बल्कि वास्तविक जगत् मे अस्तित्व रखते है। (सप्रत्यय हमारे मन मे रहता है, पर गुणधर्म नही।) ऐसा हो सकता है कि गुणधर्मों का कोई एक ही समुच्चय ऐसा न हो जो अनिवार्य और पर्याप्त दोनो हो : शायद उनका कोई कोरम हो या (पृ० ९७-११३) मे बताई हुई अन्य प्रकार की अस्पष्टताओ मे से कोई हो। परंतु वर्ग के सदस्यो मे कोई संबंध होता है, भले ही कभी-कभी उनमे एक मोटा-सा पारिवारिक सादृश्य ही हो। शायद सभी खेलो मे गुणधर्मों का एक ही समुच्चय न हो, पर गुणधर्मों के परस्पर अशत: भिन्न और अशत: समान समुच्चय होते हैं और ये गुणधर्म उतना ही वस्तुतंत्र अस्तित्व रखते हैं जितना कोई भी अन्य, तथा वे यह निर्धारित करते हैं कि "खेल" शब्द किसी निर्दिष्ट परिस्थिति मे लागू होता है या नही। सक्षेप मे, एक ही शब्द का अनेक परस्पर भिन्न वस्तुओं के लिए प्रयोग करने का कोई आधार होता है,

और यह आधार कुछ समान गुणधर्मो के अस्तित्व के अलावा क्या होगा ? गुणधर्मों की जगह पर नाम ले आने से हम गुणधर्मो से छुटकारा नही पा सकते, क्योकि तब हमे इस सवाल का उत्तर देना होगा : अनेक विशेष चीजो को एक ही नाम से पुकारने का क्या आधार है ?

एक अन्य मत को भी "नामवाद" कहा गया है : वास्तविक जगत् मे केवल विशेष होते है ; पर हमारे मन के अदर केवल बिंब होते है, सप्रत्यय नही (इस मत को "बिंबवाद" कहा गया है) । बर्कली ने कहा था कि जब मैं एक त्रिभुज की सकल्पना करता हूँ तब मेरे मन मे किसी विशेष त्रिभुज का बिंब होता है। त्रिभुज की (त्रिभुजत्व की) सकल्पना मे उसके एक गुणधर्म के रूप मे यह बात शामिल नही हो सकती कि उसे समद्विबाहु होना चाहिए, या समत्रिबाहु या विषमबाहु होना चाहिए, क्योकि अनेक त्रिभुज समद्विबाहु नही होते, अनेक समत्रिबाहु नही होते, और अनेक विषमबाहु नही होते । मेरे मन मे उपस्थित केवल एक त्रिभुज का बिंब है, और यह बिंब एक विशेष त्रिभुज का होना चाहिए : मेरे मन मे त्रिभुज का जो बिंब है उसे एक विषमबाहु त्रिभुज का, एक समद्विबाहु त्रिभुज का, या एक समत्रिबाहु त्रिभुज का बिंब होना चाहिए । आप त्रिभुज का एक ऐसा बिंब नही बना सकते जो न विषमबाहु हो, न समद्विबाहु हो और न समत्रिबाहु हो । परतु जब हम त्रिभुजो के बारे मे सामान्य रूप से बात करते है तब हमारे मन मे एक विशेष त्रिभुज का जो बिंब होता है उसका प्रयोग हम किसी भी त्रिभुज का बोध कराने के लिए कर देते है । यद्यपि मेरा बिंब एक समद्विबाहु त्रिभुज का बिंब होता है, तथापि मैं इस बिंब का प्रयोग किसी भी त्रिभुज का, यहाँ तक कि जो समद्विबाहु नहीं है उसका भी बोध कराने के लिए कर सकता हूँ । परतु यहाँ पहुँचकर बर्कली एक कठिनाई मे फँस जाता है : वह कहता है कि एक बिंब से एक प्रकार की सभी आकृतियो के बोधक का काम लिया जाता है (प्रस्तुत उदाहरण मे त्रिभुजो के) । परतु "एक प्रकार की" से क्या मतलब है ? यह जानने के लिए कि वह क्या है, हमारे मन मे त्रिभुज क्या होता है, इसकी कोई सकल्पना होनी चाहिए और यह सकल्पना बिंब नही है । इससे पहले कि हम किसी बिंब को इस तरह एक प्रतिनिधि के रूप मे ले सकें, यानी एक ही प्रकार के सभी अन्य विशेषों का बोधक बना सके, हमे जान लेना होगा कि प्रकार क्या है—और प्रकार को जान लेने मे यह बात शामिल है कि हमें एक समान गुणधर्म की सकल्पना है । अत हम आपन

समान गुणधर्मो मे पहुँच गए। त्रिभुजत्व की सकल्पना का होना और त्रिभुज का बिंब होना एक ही बात नही है (जैसा कि हमने पहले पृ० १५५-५८)में देखा था), हालाकि त्रिभुजत्व की सकल्पना के साथ-साथ हमारे मन मे बिंब भी उपस्थित हो सकते है। उस सकल्पना का होना त्रिभुजो की परिभाषक विशेषताओ का मन मे होना है। सकल्पना अमूर्त होती है जबकि बिंब विशेष होता है। एक के मन मे होने का मतलब दूसरे का होना नही है—वास्तव मे सकल्पना के होने मे बिल्कुल भी किसी बिंब का होना शामिल नही है, और अनेक आदमियो को सकल्पनाओ के साथ किसी भी बिंब का अनुभव नही होता। अत यदि नामवाद यह कहता है कि मन मे उपस्थित केवल बिंब रहते है तो वह गलत ही है। जब हम अनेकव्यापी शब्दो का प्रयोग करते है तब हमारे मन मे बिंबो से कही अधिक बातें उपस्थित रहती है। वहाँ बिंब हो सकते है और उनके अलावा सकल्पनाएँ होती है।

सप्रत्ययवाद—चरम नामवाद से और भी अधिक भिन्न एक मत है जो "सप्रत्ययवाद" के एक पृथक् नाम से प्रसिद्ध है, और यह जॉन लॉक के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। सप्रत्ययवाद के अनुसार सामान्य न एक नाम मात्र है और न एक बिंब, बल्कि एक सप्रत्यय या सकल्पना है। वास्तविक जगत् मे केवल विशेष रहते है, परतु हमारे मन मे कुछ और चीजें होती है—बिंब नही, बल्कि सप्रत्यय। अनेकव्यापी शब्द (व्यक्तिवाचक नामो के अलावा शेष सब शब्द) सप्रत्ययो के नाम होते हैं; परतु ये हमारे मन मे होते है, प्रकृति मे नही। प्रकृति मे सप्रत्यय नही होते बल्कि केवल विशेष होते है। परतु फिर यहाँ हम कठिनाई मे फँस गए। मान लिया कि हमारे मन मे सप्रत्यय रहते है—परतु ये सप्रत्यय किसके सप्रत्यय है। और यहाँ भी फिर उत्तर स्पष्टतः यह है कि "समान गुणधर्मों के—उन गुणधर्मो के जो किसी वस्तु मे होने चाहिए जिससे वह उस सप्रत्यय के अतर्गत आ सके।" इस प्रकार हम वापस गुणधर्मो मे आ जाते हैं। यदि वास्तविक जगत् मे कोई समान गुणधर्म नही है जो हमारे सप्रत्ययों के आश्रय बन सकें, तो सप्रत्यय हो ही कैसे सकते है? समान गुणधर्मो के बिना कोई सप्रत्यय—कुत्तापन, नीलत्व या सीधापन—नही हो सकते। जब भी हम एक अनेकव्यापी शब्द का प्रयोग करते है तब उसका आधार कुछ गुणधर्म होते है जो उन्हे धारण करनेवाले विशेषो मे समान होते है, और ज्योही हम यह मान लेते है त्योही हमें अपने विवरण मे सप्रत्यय मात्र

से अधिक को शामिल कर देना होगा—हमे उसे शामिल कर देना होगा जिसके वे सप्रत्यय है : वह या वे गुणधर्म जो इस सप्रत्यय को इस प्रकार की चीज का सप्रत्यय बनाते है।

सादृश्य-सिद्धात—तो क्या हम वापस जाकर अरस्तू की व्याख्या को सही मान लें—यह मान ले कि सामान्य विशेषो से अलग नही होते, कि वे समान गुणधर्म होते है और कि ये समान गुणधर्म वास्तविक जगत् मे अस्तित्व रखते है ? इन तीन प्रतिज्ञप्तियो को हम आसानी से स्वीकार कर सकते है, परतु शायद हमे अरस्तू के मत की इस विलक्षणता को लेकर हिचकिचाहट होगी कि कुछ गुणधर्म प्रत्येक विशेष के अदर बिल्कुल एक या अभिन्न रूप मे उपस्थित रहते है। हम पूछ सकते है कि उसी एक गुणधर्म के सभी दृष्टातो मे अभिन्न रूप मे विद्यमान होने की क्या आवश्यकता है ? इसके बजाय हम यह क्यो न कहे कि वास्तविक जगत् मे केवल सदृश चीजें ही होती है—समान गुणधर्मो वाले असख्य विशेष होते है, परतु समान इस अर्थ मे नही कि सभी विशेषो मे कोई एक बात अभिन्न रूप मे रहती है, बल्कि सादृश्य रखनेवाली या मिलती-जुलती कुछ बाते होती है जो उन सब विशेषो को एक ही सप्रत्यय के अतर्गत शामिल करने के लिए पर्याप्त होती है। इस प्रकार हमारा एक सप्रत्यय नीलत्व है। परतु नीली चीजें अभिन्न नही होती, यहाँ तक कि रग मे भी अभिन्न नही नीले की असख्य छटाएँ, रगते होती है , शायद कोई दो रगते बिल्कुल एकसमान नही होती , शायद कोई भी दो विशेष नीली चीजे नीले रग की हूबहू एक ही छटा वाली नही होती—पर फिर भी रग मे सब नीली चीजे सदृश होती है, और इस सादृश्य की वजह से हम उन सबको "नीली" कहते हैं। हम नीली चीजो को सभी अन्य रगो वाली चीजो से अलग पहचान सकते हैं (हालाँकि कुछ उदहरण सीमास्पर्शी हो सकते हैं), परतु जिस वजह से वे सब नीली है वह यह है कि वे रग मे एक-दूसरी के सदृश है, न कि यह कि उन सबमे एक ही सामान्य, नीलत्व, अभिन्न रूप से विद्यमान है।

अब तक जितने भी सिद्धात हमारे सामने आए है उनमे से यही शायद हमे सबसे अधिक समीचीन लगेगा। परतु यह पूछा जा सकता है कि इनका इस मान्यता पर क्या असर पडता है कि जैसे व्यक्तिवाचक नाम विशेषो के नाम होते है वैसे ही अनेकव्यापी शब्द गुणधर्मों के नाम होते हैं ? यदि एक प्रकार के सभी विशेषो मे कोई एक गुणधर्म अभिन्न रूप से विद्यमान नही

होता, तो "नीला" नाम किसका है ? इसका एक उत्तर दिया जा सकता है जो हमे बहुत-सी भ्रांतियो से बचा सकता है। दार्शनिको की प्रवृत्ति यह मान लेने की रही है—और प्लेटो और अरस्तू ने निश्चित रूप से यह माना है—कि जैसे "राम" जैसे व्यक्तिवाचक नाम दुनिया की विशेष चीजो के नाम हैं वैसे ही "कुत्ता" और "नीला" जैसे अनेकव्यापी शब्द (जो अनेक चीजो पर लागू होते है) गुणधर्मों के नाम हैं। परतु प्रस्तुत मत के अनुसार कोई अकेला ऐसा गुणधर्म नही है जिसका एक अनेकव्यापी शब्द नाम हो ; और न यही बात सही है कि चूँकि एक अनेकव्यापी शब्द अनेक विशेषो पर लागू होता है, इसलिए उन विशेषो मे से प्रत्येक किसी तरह से इस एक चीज या गुणधर्म को मूर्त रूप में व्यक्त करता है।

"अमूर्त शब्द समान गुणधर्म के बोधक होते हैं" एक इस तरह का वाक्य है जो व्यक्तिवाचक नाम और अनेकव्यापी शब्दो के बीच एक सादृश्य के होने पर बल देता है। इस वाक्य का "अमूर्त-शब्द समान गुणधर्म के नाम होते है," इस वाक्य के तुल्यार्थक के रूप मे प्रयोग करना बहुत ही आसान और स्वाभाविक होता है। व्यक्तिवाचक नाम और अनेकव्यापी शब्द के कामो मे कुछ सादृश्य होते हैं। इन दो प्रकार के शब्दो मे जो अतर हैं उनकी अपेक्षा ये सादृश्य वास्तववादियो को अधिक महत्व के लगते है। इस प्रकार, "सामान्य अस्तित्व रखते हैं और अनेकव्यापी शब्दो के बोध्य होते हैं" कहकर वास्तववादी का तात्पर्य उसी बात को बताना है जिसे इस रूप मे कहना अधिक उचित और कम भ्रामक होगा कि "हम अनेकव्यापी शब्दो को व्यक्तिवाचक नामो के साथ एक ही वर्ग मे रखना चाहेंगे।" ......बात को कहने का वास्तववादी ढग अनेकव्यापी शब्दो के कार्य को नामो के कार्य के सदृश बनाने की कोशिश है।[1]

परतु तथ्य यह है कि अनेकव्यापी शब्द नाम बिलकुल होते ही नही। हमे यह कहकर जाल मे नही फँसना चाहिए कि व्यक्तिवाचक नाम विशेषो के नाम होते हैं (जो कि सही है), जबकि अनेकव्यापी शब्द गुणधर्मों के नाम होते है (जो कि गलत है, क्योकि उन्हे नाम तो बिलकुल सोचना ही नही चाहिए)।

---

१. डी० जे० ओ' कोनर, "नेम्स ऐंड यूनिवर्सल्स," प्रोसीडिंग्स ऑफ दि अरिस्टोटेलियन सोसाइटी, १९५२-५३, पृ० १७८-७६।

हम यह कहने के लिए बाध्य नही है कि "नीला" एक गुणधर्म नीलत्व का नाम है जो सभी नीली चीजो मे अभिन्न रूप से उपस्थित होता है। इसके बजाय हम कह सकते है कि जितनी भी चीजो को हम "नीली" कहते है वे सब रग मे इतनी काफी सदृश होती हैं कि हम उन सबके लिए एक ही शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, परतु यह नही कि एक गुणधर्म होता है जो प्रत्येक उदाहरण मे बिल्कुल वही बना रहता है।

लेकिन यहाँ पहुँचकर एक आपत्ति का हमे सामना करना पडता है। "आपने कहा कि हम रग की विभिन्न छटाओ को एकसाथ मिला देते है और सबको 'नीला' परस्पर सदृश होने की वजह से कह देते है। बहुत अच्छा : पर सादृश्य स्वय ही एक सामान्य है। हम मान लेते है कि यह एक सबध-मूलक सामान्य है; परतु एक सबधमूलक सामान्य एक सामान्य ही तो होता है। बृहत्त्व और मध्यवर्तित्व सामान्य हैं, हालाँकि ये सबधमूलक है, और सादृश्य भी ऐसा ही तो है : एक विशेष, क, केवल सदृश नही होता, बल्कि किसी और विशेष, ख, के सदृश होता है। और एक अन्य विशेष, ग, एक चौथे, घ, के सदृश होगा। क का ख से सादृश्य का सबध है और ग का घ से सबध भी सादृश्य का है। इस प्रकार सामान्य, सादृश्य, के हमारे पास दो उदाहरण है। सादृश्य सचमुच एक सामान्य है जिसके असख्य उदाहरण हैं। इस तरह हम अत मे सामान्यो मे ही वापस पहुँच गए है। भले ही सभी विशेषो मे एक ऐसा गुणधर्म समान न हो जो उनमे अभिन्न रूप से विद्यमान रहता हो (यहाँ, नीलत्व), एक अन्य गुणधर्म, सादृश्य, अवश्य ऐसा है जो उनमे समान है (क्योकि वे सब एक दूसरे के सदृश हैं)। इस तरह एक सामान्य, सादृश्य, फिर भी बना रहता है।" अथवा जैसा कि बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है,

"यदि हम श्वेतत्व और त्रिभुजत्व नामक सामान्यो से बचना चाहते हैं तो हम सफेद का कोई अश या कोई विशेष त्रिभुज चुन लेंगे और कहेंगे कि कोई भी चीज सफेद या त्रिभुज है यदि उसका हमारे चुने हुए विशेष से सही तरह का सादृश्य है। परतु तब अपेक्षित सादृश्य को एक सामान्य मानना होगा। चूंकि सफेद चीजें बहुत होती हैं, इसलिए सादृश्य का सबध विशेष सफेद चीजो के अनेक जोडो के मध्य होगा; और यही सामान्य का लक्षण है। यह कहना व्यर्थ होगा कि हर जोडे मे भिन्न सादृश्य होता है, क्योकि तब हम यह कहना

पडेगा कि ये सादृश्य एक-दूसरे के सदृश है, और इस प्रकार अत मे हमे मजबूर होकर सादृश्य को एक सामान्य मानना पडेगा। अतः सादृश्य के सबध को सचमुच एक सामान्य होना चाहिए, और बाध्य होकर इस सामान्य को मान लेने के बाद हम देखते है कि श्वेतत्व और त्रिभुजत्व जैसे सामान्यो को मानने से बचने के लिए कठिन और अविश्वसनीय सिद्धातो की रचना करने का कोई उपयोग नही रहता।"[1]

परतु इस आपत्ति मे ठीक कितना बल है? हम 'सामान्यो से बचने की कोशिश" नही कर रहे है: वास्तविक जगत् मे विशेष और वे गुणधर्म जो उन विशेषो मे रहते है बने रहेगे—यह बात नामवाद के प्रसग मे पहले ही बताई जा चुकी है। हम कोशिश यह बताने की कर रहे है कि इस अर्थ मे किसी समान गुणधर्म का होना जरूरी नही है कि कोई चीज सभी उदाहरणो मे अभिन्न रूप से मौजूद हो। इसके बजाय होता यह है कि हम चीजो को किसी एक ऐसे गुणधर्म के आधार पर नही, बल्कि उन चीजो मे पाए जानेवाले एक या अधिक सादृश्यो के आधार पर एक वर्ग मे रख सकते है। नीलत्व एक सामान्य है, इस अर्थ मे कि विभिन्न चीजे परस्पर इतनी अधिक सदृश होती है कि उन्हे "नीली" कहा जा सकता है; और सादृश्य भी एक सामान्य है इस अर्थ मे कि अनेक चीजे विभिन्न तरीको से परस्पर सदृश होती है। कोई भी ऐसा विश्लेपण सही नही हो सकता जो हमे इन तथ्यो से छुटकारा दिला सके।

परतु इस आपत्ति मे इससे भी बडी एक बात है। हम विभिन्न चीजो को 'नीली" उन रगतो मे जिन्हे हम "नीली" कहते है कोई सादृश्य होने के आधार पर कहते है। लेकिन पूछा जा सकता है कि स्वय सादृश्य के बारे मे हमे क्या कहना है? दो विशेषो, क और ख, के मध्य सादृश्य का एक सबध है, और दो अन्य विशेषो, ग और घ, के मध्य भी है: क और ख परस्पर सदृश है और ग और घ भी परस्पर सदृश है, दोनो ही सादृश्य के उदाहरण है। परतु अब यह पूछा जाता है कि सादृश्य के इन दोनो उदाहरणो के बीच क्या सबध है? क्या ये दो सादृश्य स्वय भी सदृश नही है? और क्या यह दूसरा सादृश्य अपने सभी उदाहरणो मे विद्यमान कोई अभिन्न चीज नही है? क्या सादृश्य

---

१. दि प्रोब्लम्स ऑफ फिलोसफी, पृ० १५०-५१।

एक विचित्र सामान्य नहीं है, जिसके सभी सादृश्य-संबंध समान रूप से उदाहरण हैं ? क का ख से सादृश्य शायद हूबहू वह सादृश्य न हो जो ग का घ से है (पहला रंग का सादृश्य हो सकता है और दूसरा आकृति का सादृश्य)। परंतु क्या क-ख संबंध तथा ग-घ संबंध के सादृश्य स्वय बिल्कुल एक ही सामान्य, सादृश्य, के उदाहरण नहीं हैं ? और यदि हम यह कहकर कि यह दूसरा सादृश्य सभी सदृश युग्मो में अभिन्न रूप से विद्यमान रहने-वाला एक सबंध है, एक प्रसंग मे एक अभिन्न संबध का होना स्वीकार कर लेते हैं, तो यही क्यो न कहा जाए कि नीलत्व एक गुणधर्म है जो सब नीली वस्तुओं में अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है ?

परंतु इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि इस आलोचना मे एक द्व्यर्थकता छिपी हुई है।

इस आलोचना में यह सिद्धांत मान लिया गया प्रतीत होता है कि यदि अ ब के सदृश है और ब स के सदृश है तो दोनों सादृश्यो को वही होना चाहिए, और फलतः यह कि दोनों ही एक सादृश्य-सामान्य के उदाहरण है। लेकिन यह तो "वही" की द्व्यर्थकता का लाभ उठाना हुआ। मान लीजिए कि अ एक नीली वस्तु है, ब एक नीली वस्तु है और स एक नीली वस्तु है, और मान लीजिए कि हमें यह पूछा जाता है कि क्या अ और ब का सादृश्य वही है जो ब और स का है। उत्तर यह है कि "वही" के एक प्रयोग के अनुसार है और दूसरे प्रयोग के अनुसार हो भी सकता है और नहीं भी। प्रयोग (१) के अनुसार हम किन्ही भी नीली वस्तुओं के बारे में यह कहते है कि वे सब रंग में वही हैं, और यह कहने में कि वे सब रंग मे वही है, हम केवल यह कह रहे होते है कि वे सब नीली हैं ; और इस प्रयोग के अनुसार हम कहेंगे कि अ और ब का सादृश्य वही है जो ब और स का है। प्रयोग (२) इस तरह के मामलो मे होता है जैसे अ जामुनी नीला है, ब गहरा नीला है और स आसमानी नीला है ; इस मामले मे इस प्रयोग के अनुसार हम यह नहीं कहते कि अ और ब का सादृश्य वही है जो ब और स का है।

वास्तव में यह सामान्य प्रश्न कि क्या दो सादृश्य वही हैं, उत्तर देना तो अलग, तब तक समझा ही नहीं जा सकता जब तक उस प्रयोग को स्पष्ट न कर दिया जाए जिसके अनुसार हम "वही" को ले रहे हैं। यदि हम प्रयोग (१) को अपना रहे है तो अ और ब का सादृश्य वही होना चाहिए जो ब और

स का है ; परंतु वे वही है, यह कहने का मतलव केवल यह है कि अ और ब और स नीले होने मे परस्पर सदृश है ; और इसलिए इस बात से कि ये सादृश्य वही है, यह बात अनुलग्न नही है कि वे किसी सादृश्य-सामान्य के उदाहरण हैं। यदि हम प्रयोग (२) को अपना रहे हैं, तो ये सादृश्य वही नही है ; और इस बात से भी कि वे वही नही हे, यह बात अनुलग्न नही है कि वे एक सादृश्य-सामान्य के उदाहरण हे।

निश्चय ही हमारे लिए सादृश्य-सामान्य महासामान्य है, और इसका मतलब यह है कि यदि हम उन सादृश्यो का पता लगाने मे जिनका हमे पता लगता है, काफी चतुर न होते तो हमारे पास अनेकव्यापी शब्द हुए ही न होते। कहने का मतलब यह है कि तार्किक दृष्टि से "सादृश्य", "समानता," "तादात्म्य" इत्यादि शब्द इस तरह के शब्दो से पहले आते हे जैसे 'मेज," "टाइपराइटर," 'कगारू" इत्यादि, परतु पहलेवाले उतने ही अनेकव्यापी हे जितने बाद वाले। यदि दुनिया हूबहू वैसी ही होती जैसी अब है, और सिर्फ उसमे सोचनेवाली बुद्धियाँ न होती, तो उसमे वस्तुएँ होती और वस्तुओ के बीच सादृश्य और असादृश्य के विविध सबध भी होते। यह कहने का हमारे पास क्या हेतु है कि बुद्धि की उपस्थिति सादृश्य सामान्य को उससे भिन्न प्रकार का सामान्य बना देती है जो यह उसकी अनुपस्थिति मे होता ?[1]

तो फिर सामान्यो की समस्या की इस चर्चा की समाप्ति हम सादृश्य-सिद्धात से करते हैं, जो यह है कि वास्तविक जगत् मे विशेष चीजे है और उनके गुणधर्म हैं (इस अर्थ मे हम सामान्यो की बात कर सकते हैं), परतु जब हम भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे एक समान गुणधर्म के होने की बात करते है तब इससे अनिवार्यत: यह मतलब नही निकलता कि कोई एक ही गुणधर्म उन सब वस्तुओं मे अभिन्न रूप से विद्यमान होता है जिनके लिए हम एक ही शब्द का प्रयोग करते हैं। इसके बजाय होता यह है कि उनमें इतने पर्याप्त सादृश्य होते है कि उन सबके लिए एक ही शब्द का प्रयोग करना हमारे लिए उचित हो जाता है। ये सादृश्य वस्तुत: "बाहर वहाँ" होते हैं—वे हमारे मन की उपज नही होते। निस्सदेह गुणधर्मों का जो भी समुच्चय हमे मिलता है उसका बोध

---

१. ए० डी० वुजली, थियरी ऑफ नोलेज (हिंदी अनु०—ज्ञानमीमांसा-परिचय, पृ० १०३-४)।

कराने के लिए हम सदैव एक शब्द का निर्माण नही करते। गुणधर्मों का हमारा वर्गीकरण (जैसाकि हमने पहले बताया था) प्रकृति का और हमारा एक मिला-जुला काम होता है : हमारा चीजो को एक ही संप्रत्यय के अंतर्गत रखना इसपर आश्रित होता है कि प्रकृति के तथ्य क्या हैं, चीजों के क्या गुणधर्म है और जो चीजें दुनिया में है उनमें कितना सादृश्य है ; पर साथ ही इसपर भी आश्रित होता है कि हमारी रुचियाँ क्या है, कि कुछ सादृश्यों को हम एक समूह में रखना चाहते है या नही, और यदि हम चाहते हैं तो हम एक गुणधर्म और दूसरे गुणधर्म के बीच कहाँ सीमा खीचना चाहेगे (जैसे नीले और हरे के बीच)। सादृश्य प्रकृति में अस्तित्व रखते है, परतु संप्रत्ययों का ढाँचा खड़ा करने में हम उनका क्या उपयोग करते है, यह बात हमारे ऊपर निर्भर करती है।

१९. भौतिक द्रव्य और जीवन

पृथ्वी और अन्य ग्रहों, तारों और आकाशगंगाओं का निर्माण करनेवाले जड़ पदार्थों के विशाल ढेर के मध्य कुछ पदार्थ ऐसे है जिनका शेष से भेद सुस्पष्ट है। ये है जीवित प्राणी। जहाँ तक हम जानते हैं, वे केवल पृथ्वी पर ही अस्तित्व रखते हैं, और यहाँ भी वे केवल उसकी सतह के ऊपर या सतह के निकट ही निवास करते है। सतह से कुछ ही मील की गहराई तक या उससे कुछ ही मील ऊपर तक वे पाए जाते हैं। उससे अधिक गहराई मे या ऊपर वे नही पाए जाते। वह कुल स्थान जिसमें वे रहते है पृथ्वी के पूरे आयतन की तुलना में उतना ही अल्प है जितनी पृथ्वी पूरे सौर-परिवार की तुलना मे है। फिर भी, जो चीजें उनके चारों ओर रहती है उनसे वे अनेक उल्लेखनीय बातों मे बिल्कुल भिन्न हैं : (१) जिस द्रव्य से वे निर्मित है वह निरंतर बदलता रहता है ; वे नए द्रव्य को आत्मसात् कर देती है और पुराने का उत्सर्ग कर देती है। परिवर्तन के इस सतत प्रक्रम में स्थायी केवल जीव का आकार बना रहता है, और अंत में जीव की मृत्यु हो जाती है तथा उसका विशिष्ट आकार समाप्त हो जाता है। (२) आकार भी कुछ-कुछ बदलता रहता है, हालांकि ऐसा एक नियमित रूप मे होता है। परिपक्वता प्राप्त होने तक जीव बढ़ता रहता है। (३) इसके अलावा जीव प्रजननशील भी होता है। वह अपने ही प्रकार और अपनी ही जाति के अन्य जीवो को उत्पन्न करता है। यह एक ऐसी बात है जो जड़ जगत में नहीं होती। (४) जीव

(वनस्पतियाँ नही वल्कि जतु) विभिन्न मात्राओ मे सवेदनो की प्रतिक्रियाएँ प्रकट करते ह। वे उद्दीपनो की अनुक्रियाएँ प्रकट करते है जो कि मात्र उस तरह की नही होती जो कुछ रसायनो मे अन्य रसायनो की उपस्थिति मे होती हैं। हर वार वे एक ही तरीके से अनुक्रिया नही करते वल्कि अनुभव से नई अनुक्रियाएँ सीखते हे। यह वात "उच्च" कोटि के और अधिक जटिल सरचना वाले जतुओ मे कहीं वडी मात्रा मे दृष्टिगाचर होती है, परतु कुछ मात्रा मे निम्नतम स्तर के जतुओ मे भी पाई जाती है। एक लघु जतु पर पानी की बौछार पडती है और वह सिकुडकर अपनी टहनी से चिपक जाता है, एक मिनट के वाद वह अपने सामान्य आकार मे आ जाता है; जव पानी की बौछार दुवारा ठीक पहले की तरह पडती है तब वह उसपर कोई ध्यान नही देता—वह पहले ही इस अहानिकारक उद्दीपन से अनुकूलन कर चुका होता है। लकडियाँ और पत्थर ऐसा नही करते।

सजीव और निर्जीव के वीच सीमा सदैव स्पष्ट और सुनिश्चित नही होती। (उदाहरणार्थ, कुछ क्रिस्टल जीवो के व्यवहार की इस वात मे अशत: आवृत्ति करते है कि वे कम से कम कुछ अर्थ मे वढते है।) जड द्रव्य की सवसे अधिक जटिल क्रिया और जैव जगत् की सरलतम घटना के मध्य कोई सुनिश्चित सीमा नही है। परतु जिस तरह लाल धीरे-धीरे नारगी मे परिणत हो जाता है और इस वात से लाल और नारगी का भेद नही मिट जाता, उसी तरह इस वात से भी वास्तव मे सजीव और निर्जीव का भेद नही मिटता।

शायद सजीव चीजो के व्यवहार की सवसे उल्लेखनीय विशेपता, जो ऊपर वताई हुई चारो विशेपताओ का मिला-जुला परिणाम है, उसकी सहेतुकता या प्रयोजनवत्ता है, जो पत्थरो और नदियो के व्यवहार मे नही होती। उनका व्यवहार किमी लक्ष्य की ओर उन्मुख, किसी प्रयोजन से युक्त, प्रतीत होता है। विशेप तौर से जीव अपने को जीवित रखने के प्रयोजन से, और यदि यह असभव हुआ तो अपनी सतति को जीवित रखने तथा इस प्रकार अपनी जाति का अस्तित्व वनाए रखने के प्रयोजन से व्यवहार करते है। उनकी अधिकाश क्रियाएँ इस लक्ष्य से प्रेरित दिखाई देती हैं।

परतु यदि, जैसा कि हमने व्याख्या की चर्चा म (पृ० ३६४-६६) कहा था, यह सत्य है कि "जब प्रयोजन होता है तब प्रयोजन वाला भी कोई

होना चाहिए," तो क्या हमें यह मान लेना होगा कि सबसे कम जटिल संरचनावाले जीव भी प्रयोजन वाले होते है और अपने को तथा अपनी जाति को जीवित बनाए रखने के चेतन अभिप्राय से काम करते है ? क्या हमें यह मान लेना होगा कि मुर्गी का अपने अंडों के ऊपर धैर्य के साथ उनसे चूजों के निकलने तक बैठे रहना एक जान-बूझकर किया जानेवाला उद्देश्यपूर्ण व्यवहार है ? क्या उसे मातृत्व की और बाद मे अंडो से जो चूजे निकलेंगे उनकी कल्पना है ? जो गिलहरी जाड़ों के लिए गरियो का सचय करती है वह क्या इस उद्देश्य को ध्यान मे रखती है कि वे वर्फ गिरने पर उसके खाने के काम आएँगी ? शायद कुछ लोग इन सवालो का "हाँ" मे जवाब देंगे। परतु फिर ऐसे उदाहरणो के बारे मे क्या कहा जाएगा जैसे भ्रूणावस्था मे होनेवाली जीव के विकास की जटिल और पेचीदी क्रिया, जिसमे भविष्य के उपयोग के लिए अग विकसित होते हैं, हालाँकि उनका अभी उपयोग नही हुआ है ?

उदाहरणार्थ, आदमी की आँख को लीजिए। उसके काम करने के योग्य होने से पहले और इसके लिए कि उसका काम करना संभव हो सके, बारह करोड़ शलाकाओं, दस लाख से अधिक शंकुओं तथा चार लाख गुच्छिका-कोशिकाओं का विकसित हो जाना और समेकित क्रिया के लिए तैयार हो जाना आवश्यक होता है। इन कोशिकाओं को व्यवस्थित करने का काम बाह्य उद्दीपनो का प्रभाव नही कर सकता। वह उनके श्रम-विभाजन के काम मे सहायक नहीं हो सकता या उनके समेकन का कारण नही बन सकता। इन कोशिकाओं की उत्पत्ति, इनमे समन्वय लाने और मस्तिष्क के सवेदन-केंद्रो से इन्हें जोड़ने के काम को पूरा का पूरा विकासमान भ्रूण के अंदर से ही होना होता है और वह भी उनकी सतुलित क्रिया के शुरू होने से पहले तथा उसीको लक्ष्य बनाकर।[1]

निश्चय ही इस उदाहरण मे भ्रूण का इस प्रकार विकसित होने मे कोई चेतन प्रयोजन नही होता ; फिर भी उसका व्यवहार ठीक वैसा होता है जैसा कि मानो बाह्य जगत् जब उसके सामने होगा तब वह उसे देख सके, इस प्रयोजन को जान-बूझकर सामने रखकर वह काम कर रहा हो। अथवा, जीवविषों का शरीर मे प्रवेश होने पर आदमी के रक्त-प्रवाह मे प्रतिजीवविषों

१. डब्ल्यू० एच० वर्कमीस्टर, द फिलासफी ऑफ साइन्स (न्यूयार्क: हार्पर एंड रो, १९४०, पृ० ११२।

का जो विकास होता है उसपर विचार कीजिए—प्रत्येक जीवविष के लिए एक विशिष्ट प्रतिजीवविष होता है, जैसे कि मानो शरीर को मालूम हो कि उसे जीवित रहने और पुनः स्वास्थ्यलाभ के लिए ठीक इस प्रतिजीवविष की ही आवश्यकता है। पाचन की क्रिया एक और उपयुक्त उदाहरण है। बहुत जटिल संरचना वाले कार्बोहाइड्रेट आमाशय में पहुँच जाते हैं, जहाँ अग्न्याशय से निकले हुए जटिल कार्बनिक यौगिकों के द्वारा उनका विघटन हो जाता है और वे ग्लूकोज में बदल दिए जाते हैं। इस शक्ल में भोजन रक्त-प्रवाह में मिल जाता है और कोशिकाओं में, खास तौर से यकृत और पेशियों की कोशिकाओं में, पहुँच जाता है जहाँ वह संचित रहता है। संचय की यह क्रिया बहुत ही जटिल होती है, जिसके लिए अनेक अलग-अलग कामों के लिए उपयुक्त अलग-अलग कोशिकाओं की जरूरत होती है। शरीर के अलग-अलग भागों में उत्पन्न विशिष्ट रासायनिक कारक तब उस स्थल पर पहुँचाए जाते हैं जो उस ग्लूकोज से एक अधिक जटिल यौगिक, ग्लाइकोजन, का निर्माण करते हैं और उसका संचय करते हैं। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर वह ग्लाइकोजन पुनः ग्लूकोज में बदल दिया जाता है और रक्त-प्रवाह में छोड़ दिया जाता है। "आवश्यकता पड़ने पर ?"—बात ऐसी है जैसे कि मानो प्रत्येक कोशिका जानती हो कि वह क्या कर रही है, जैसे कि प्रत्येक को करने के लिए कोई विशेष काम सौंप दिया गया हो, और किसी सुसंगठित राज्य के लोगों की तरह सब इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मिल-जुलकर काम कर रही हों।

दर्शन की इस पुस्तक का लक्ष्य पाठक का जीवविज्ञान के इन अत्यधिक रोचक तथ्यों से मनोरंजन करना नहीं है। यदि कोई इनमें दिलचस्पी रखता हो तो उसके लिए ये तथ्य सैकड़ों पुस्तकों में भरे पड़े हैं। यहाँ हमारा मतलब यह पूछने से है कि इन तथ्यों का क्या करना है, या इनकी कैसे व्याख्या करनी है। जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है, क्या सजीव चीजों में एक विशेष जीवन-शक्ति, या एलान विटाल, रहती है जो उनके व्यवहार को निर्जीव चीजों के व्यवहार से भिन्न बना देती है ? क्या सजीव चीजें जटिल मशीनें मात्र हैं ? क्या सजीव चीजें किसी तरह अस्तित्व के किसी ऊँचे "स्तर" से संबंधित हैं, और क्या जितना भौतिकीविद् तथा रसायनज्ञ के लिए उनके बारे में खोज पाना कभी भी संभव है, उससे अधिक उनमें छिपा हुआ है ? क्या जीवविज्ञान

की बातो की भौतिकी और रसायन की बातो के आधार पर व्याख्या की जा सकती है ? ये सवाल परस्पर सबधित होते हुए भी बिल्कुल एक नही हैं। असल मे, इनमे से कम-से-कम कुछ तो बिल्कुल भी स्पष्ट नही है, और पहले जिस बात को हमे स्पष्ट करना है वह यह है कि इनका अर्थ क्या है।

इन सब प्रश्नो को लेकर दो विरोधी दृष्टिकोण अपनाए गए है, जो यान्त्रिकवाद और प्राणतत्ववाद के नाम से प्रसिद्ध है। यान्त्रिकवाद सजीव और निर्जीव वस्तुओ के मध्य अविच्छिन्नता और समानता के होने पर बल देता है तथा प्राणतत्ववाद उनकी विच्छिन्नता और असमानता पर। परतु चूंकि ये दोनो नाम कभी एक सिद्धात के लिए और कभी एक भिन्न सिद्धात के लिए प्रयुक्त होते है और चूंकि उन सिद्धातो मे अनेक स्वय भी स्पष्ट नही हैं, इसलिए ये दोनो ही नाम अस्पष्ट और अनेकार्थक हैं।

यान्त्रिकवाद और प्राणतत्ववाद का विवाद अनेक रूप ग्रहण करता है। नीचे उनपर विचार किया जाता है।

१. अभौतिक जीवन-शक्ति—यान्त्रिकवाद और प्राणतत्ववाद मे एक बहुत ही सामान्य अतर यह है : प्राणतत्ववाद के अनुसार एक विशेष जीवन-शक्ति है जो अभौतिक है और जीवित चीजो मे रहती है पर निर्जीव चीजो मे नही रहती। सजीव चीजो के अदर उसके विद्यमान होने से ही उनका व्यवहार निर्जीव चीजो के व्यवहार से भिन्न होता है।

यदि कोई पूछे कि यह शक्ति कहाँ रहती है तो उत्तर यह है कि कहीं भी नहीं, क्योंकि उसका दिक् मे कही भी निश्चित स्थान नही बताया जा सकता, यहाँ तक कि जीव के शरीर के अदर भी नही—प्रेक्षण से वहाँ किसी भी ऐसी चीज का पता नही चल सका है, और न पता चलने की आशा ही है। जैसे सख्याओ या विचारो का कोई निश्चित स्थान नही है वैसे ही इसका भी नही है। यह एक ऐसी चीज है जिसका इद्रियानुभविक विज्ञान की प्रणालियो से कभी पता चल ही नही सकता, परतु फिर भी इसका अस्तित्व है और इसके अस्तित्व से ही उन महत्वपूर्ण अतरो की व्याख्या होती है जो सजीव और निर्जीव चीजो मे देखे जा सकते हैं। यान्त्रिकवादी इस बात से इन्कार करता है।

यदि विवाद को इस रूप मे रखा जाता है तो प्राणतत्ववाद के विरुद्ध बहुत ही प्रबल युक्तियो का प्रयोग किया जा सकता है। यदि सजीव चीजो का या

व्यवहार देखा जाता है उसकी व्याख्या के लिए अभौतिक जीवन-शक्ति का आश्रय लिया जाता है, तो यह जवाब दिया जा सकता है कि यह किसी भी ऐसे अर्थ मे कतई व्याख्या नही है जो वैज्ञानिक को स्वीकार्य हो। कोई निस्सदेह यह युक्ति देगा :

जब भी जीवन-शक्ति विद्यमान होती है, तब चीजें
जीवन के गुणधर्मों को प्रदर्शित करती है।

इस चीज में जीवन-शक्ति विद्यमान है।

अत, यह चीज जीवन के गुणधर्मों को प्रदर्शित करती है।

परंतु कोई यह कैसे जानेगा कि पहली आधारिका सत्य है? जीवन-शक्ति प्रेक्षणगम्य तो है नही। ऐसा भी नही है कि इसे एक सैद्धातिक संप्रत्यय के रूप में ग्रहण करने से हमे एक भी प्रेक्षणगम्य घटना की भविष्यवाणी करने मे सहायता मिले। यह किसी भी रूप मे हमारे ज्ञान मे वृद्धि नही करता और इस तरह यह परमाणु-सिद्धात से भिन्न है। हमसे कहा जाता है कि सजीव चीजो के व्यवहार के निर्जीव चीजों के व्यवहार के विपरीत होने का कारण उनमे एक अभौतिक जीवन-शक्ति का विद्यमान होना है। परंतु यह बताए जाने के बाद भी सवाल हमारे सामने वही पहले वाले फिर आ जाते है। किसी विशेष तथ्य पर विचार कीजिए, जैसे कुछ कबूतरो की सैकडो मील दूर हवाई जहाज से किसी अपरिचित प्रदेश मे छोड़ दिए जाने पर भी वापस घर पहुँच जाने की योग्यता। यह बता दिए जाने पर भी कि इसका कारण कबूतरो मे एक जीवन-शक्ति का विद्यमान होना है, वैज्ञानिक यह जानना चाहता है कि वे उपाय ठीक-ठीक क्या है जिनसे कबूतर ऐसा कर सकते है जबकि अन्य पक्षी नही कर सकते : क्या कबूतर पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुवो से विकीर्ण होनेवाले चुम्बकीय उद्दीपनो के प्रति सवेदनशील होते है—क्या उनके शरीर मे कोई अग कुतुबनुमा का काम करता है? संक्षेप मे, यदि वैज्ञानिक प्राणतत्ववादी की व्याख्या को मान ले तो भी वह उसे व्यर्थ बताएगा : प्राणतत्ववादी का दावा यदि सही भी हो तो भी वह खोखला होगा। प्रत्येक नए प्रकट होनेवाले उल्लेखनीय जैविक व्यवहार की व्याख्या के लिए प्राणतत्ववादी अवश्य ही इसी बात को दोहरा सकता है, और उसकी "व्याख्या" हर बार उतनी ही सत्य हो सकती है, पर होगी वह व्यर्थ भी उतनी ही। (असतोषजनक व्याख्या के जो उदाहरण पहले पृ० ३६१-६३ मे दिए गए थे उन्हे याद कीजिए।)

यान्त्रिकवादी की जीवन-शक्ति के विरुद्ध आपत्ति यह नही है कि वह प्रेक्षणगम्य नही है—वास्तव मे यह तक नही कि उसका प्रेक्षण तर्कत. असभव है। (जिसे भी कोई देखेगा वह भौतिक द्रव्य का अश ही होगा, जीवन-शक्ति नही ।) जैसा कि हम पहले ही (पृ० ३५०-५६) देख चुके है, बहुत-सी चीजे ऐसी है जिन्हे वैज्ञानिक मानता है पर जो प्रेक्षणगम्य नही है, जैसे इलेक्ट्रोन और चुम्बकीय क्षेत्र । परतु ऐसी प्रत्येक चीज के अस्तित्व का इद्रियानुभविक प्रमाण होता है, क्योकि सबधित प्राक्कल्पनाओ से निश्चित इद्रियानुभविक परिणाम निकलते है, और यदि प्रेक्षण से यह प्रकट होता है कि अपेक्षित परिणाम वास्तव मे निकले नही तो प्राक्कल्पना को छोड देना होगा या उसमे परिवर्तन करना होगा । जो व्यक्ति वर्तमान इलेक्ट्रोन-प्राक्कल्पना से असहमत है और उसके स्थान पर कोई और प्राक्कल्पना प्रस्तुत करता है वह प्रेक्षण से बात को जाँच सकता है : जिन परिणामो की वह भविष्यवाणी करता है वे क्या वस्तुत: निकलते है ? परतु प्राणतत्ववादी इस तरह की कोई भी चीज प्रस्तुत नही कर सकता । अपनी प्राक्कल्पना के पक्ष मे प्रमाण के रूप मे जिन बातो की ओर वह इशारा कर सकता है वे केवल जैविक व्यवहार के वही तथ्य है जिनसे यान्त्रिकवादी पहल से ही परिचित है और जिनका अस्तित्व वह तुरत मान लेता है ।

परतु प्राणतत्ववादी अपने बचाव का एक और तरीका अपना सकता है । वह कह सकता है, "शायद जीवन-शक्ति या प्राणतत्व से वैज्ञानिक के मतलब की व्याख्या प्राप्त नही होती, पर अस्तित्व उसका फिर भी हो सकता है । प्राण-शक्ति एक वास्तविक चीज है, पर उस तरह की वास्तविक चीज नहीं जो वैज्ञानिक प्रणाली से खोजी जा सके । ऐंद्रिय प्रेक्षण से उसका न पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योकि वह ऐसी चीजो मे से एक है ही नहीं । आप ऐसा मान ही क्यो बैठते हैं कि सब वास्तविक चीजें ऐसी होती है जिन्हे वैज्ञानिक खोज सकता है ?"

इस आरोप के उत्तर मे यान्त्रिकवादी क्या कह सकता है ? पहली बात, वह लाघव-न्याय का सहारा ले सकता है . "चीजो की सख्या को जरूरत से अधिक मत बढाओ ।" वह कहेगा, "यदि सजीव चीजो का व्यवहार या उनकी कोई बात रहस्यात्मक है तो प्राण शक्ति को मानने से हमारे पास एक के बजाय दो रहस्य हो जाते है । इससे निश्चय ही बात सुलझती नहीं ।" परतु प्राण-

तत्ववादी इस न्याय का विरोध कर सकता है। वह जवाब देगा, "आपके लिए यह एक बहुत ही सुविधाजनक प्रणालीतंत्रीय प्रक्रिया हो सकती है। परंतु यदि चीजें दो ही हैं न कि एक, चाहे वे रहस्यात्मक हों या नहीं, तो बातचीत से दूसरी को अस्तित्व से बाहर कर देने की कोशिश में कोई तुक नहीं है। और आपने अब तक यह सिद्ध नहीं किया है कि दूसरी—अभौतिक जीवन-शक्ति—का अस्तित्व नहीं है।"

तब यांत्रिकवादी इस तरह का जवाब देगा: "कृपया मुझे बताइए कि जब आप कहते हैं कि प्राण-शक्ति का अस्तित्व है तब वह चीज ठीक-ठीक क्या होती है जिसके अस्तित्व में आप विश्वास करते हैं? पहले मेरी आपत्ति यह थी कि इस संप्रत्यय में व्याख्या की शक्ति नहीं है, और फलतः इस मत का किसी प्रमाण से समर्थन नहीं होता कि ऐसी कोई रहस्यमय चीज अस्तित्व रखती है। परंतु यह आपत्ति काफी गहराई तक नहीं गई थी। असल में वह भ्रामक थी: उसमें यह मान लिया गया था कि प्राणशक्ति की संकल्पना तो हमें है ही, पर एकमात्र कठिनाई यह है कि इस तरह की किसी चीज का सचमुच अस्तित्व होने के पक्ष में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। मेरी असली आपत्ति यह है कि प्राण-शक्ति एक खोखला शब्द मात्र है जिसके अनुरूप कोई चीज नहीं होती। आपने मुझे एक शब्द मात्र दिया है, ऐसी चीज कोई नहीं जिसके लिए इसका प्रयोग हो सके। अतः मैं अब जो कह रहा हूँ वह यह नहीं कि प्राणशक्ति का अस्तित्व नहीं है, बल्कि यह है कि आपने मुझे नहीं बताया है कि वह अस्तित्व रखती है अथवा नहीं रखती, यह कहने का अर्थ ही क्या है। बताइए, इस कथन का क्या अर्थ है? यदि वह केवल जैव व्यवहार के प्रेक्षित तथ्यों का ही बोधक है जिनके बारे में सभी सहमत हैं, और व्यवहार के इन अंशों का एकसाथ बोध कराने तथा उनके बारे में बात करने का एक सुविधाजनक संक्षिप्त तरीका मात्र है, तो हमारे बीच कोई मतभेद नहीं है: हम सब मानते हैं कि जीव इन तरीकों से व्यवहार करते हैं। परंतु यदि, जैसा कि आप प्राणतत्ववादी लोग कहते हैं, इसका मतलब कुछ अधिक है, तो कृपया बताइए कि वह अधिक क्या है। आप ऐसे व्यक्ति को क्या कहेंगे जो यह तो मानता है कि ऐसा जैव व्यवहार होता है, पर इससे इन्कार करता है कि कोई प्राण-शक्ति है? उस जैव व्यवहार के अतिरिक्त जिसका अस्तित्व आपके विरोधी भी मानते हैं, आप किसका अस्तित्व होने की बात कह रहे हैं?

यान्त्रिकवादी अंत मे कहता है, "असली बात यह है कि प्राणतत्ववादी की युक्ति अज्ञानमूलक युक्ति है। आप कहते हैं कि 'यह रहा सजीव चीजो का पूरा व्यवहार जिसकी आप व्याख्या नही कर सकते ?' मैं उत्तर देता हूँ कि उसके कुछ अंश की हम व्याख्या कर सकते हैं और वह अंश उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। परंतु इस बात को छोडिए ; जिसकी मैं व्याख्या नही कर सकता उसके बारे मे आपकी भी कोई अच्छी स्थिति नही है ; व्याख्या के बजाय आपने एक शब्द मात्र दिया है। परतु एक शब्द बढाकर आप उसके अनुरूप किसी चीज का अस्तित्व होने का उसी तरह विश्वास नही दिला सकते जिस तरह आप अपने मकान को विविध प्रकार के फर्नीचर के नामो से नही सजा सकते।" जैसा कि एक लेखक ने लिखा है, प्राणतत्ववाद "यान्त्रिकवादी वर्णन मे रिक्त स्थानो को केवल कोलम्बस के मानचित्रकार की तरह भरता है : जो अज्ञात है वहाँ भयानक नाम लिख दो।"[1]

परंतु यान्त्रिकवाद और प्राणतत्ववाद का विवाद इसके अलावा और रूप भी ले सकता है।

२. उन्मज्जन—ऐसा कहा जाता है कि प्राणतत्ववाद के अनुसार सजीव चीजो की विशेषताएँ उन्मज्जी होती है जबकि यान्त्रिकवाद इसका निषेध करता है।

इसके पक्ष-विपक्ष पर विचार करने से पहले यह बात साफ हो जानी चाहिए कि किसी विशेषता को उन्मज्जी कहने का क्या अर्थ है। एक उदाहरण प्रारंभिक जानकारी कराने के लिए सर्वोत्तम होगा—ऐसा उदाहरण जो जीव-विज्ञानो से नही बल्कि रसायन से लिया गया है : पानी हाइड्रोजन और आक्सीजन के अशो से बना होता है। हाइड्रोजन साधारण तापमान पर गैस की शक्ल मे होता है और अत्यधिक दाह्य होता है ; आक्सीजन भी साधारण तापमान पर गैस की शक्ल मे होता है पर अदाह्य होता है, दाह्य होने के बजाय वह दहन की एक आवश्यक उपाधि होता है। इन दोनों के मेल से पानी बनता है, जो कि साधारण तापमान पर गैस की शक्ल मे नही बल्कि द्रव की शक्ल मे होता है, तथा न दाह्य होता है और न दहन की एक आवश्यक

१. जे० नीडहम, साइन्स, रिलीजन ऐंड रीयलिटी (न्यूयार्क : द मैकमिलन कंपनी, १९२५), पृ० २४८।

उपाधि होता है ; इसके विपरीत आग को बुझाने के लिए उसका उपयोग होता है। क्या यह एक विचित्र बात नही है कि दो तत्वो के संयोग से बिल्कुल ही भिन्न रासायनिक गुणधर्मों वाली एक चीज बन जाए ? रसायन मे इस तरह के अनेक उदाहरण है : जैसे, सोडियम, जो कि हवा या पानी के संपर्क से बहुत ही सक्षारी हो जाता है, और क्लोरीन, जो कि अर्धविपाक्त हरी जैसी गैस होती है, के सयोग से साधारण खाने का नमक बनना। सवाल यह पैदा होता है : यदि हमे पानी या नमक का कोई अनुभव न हुआ होता तो क्या हम हाइड्रोजन और आक्सीजन के अलग-अलग जो गुणधर्म है अथवा सोडियम और क्लोरीन के अलग-अलग जो गुणधर्म है उनकी जानकारी मात्र के आधार पर इस बात की भविष्यवाणी कर सके होते कि इनके क्या गुणधर्म होगे ? यदि हम इन गुणधर्मो के अस्तित्व की भविष्यवाणी न कर सके होते, तो वे उन्मज्जी हैं ; परतु यदि हम उनकी भविष्यवाणी कर सके होते, तो वे उन्मज्जी नही हैं। (यहाँ "उन्मज्जी" शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। इसके चल पड़ने का आधार यह तथ्य है कि यौगिक के ये गुणधर्म स्वय उसके तत्वो मे दिखाई दिए बिना उनसे सहसा निकल पड़ते प्रतीत होते है।)

यहाँ ऐसा लगेगा कि उत्तर हाँ है या नही है, इस बात का निर्णय प्रेक्षण से ही हो जाएगा। यदि ऐसा होता तो दर्शन का इससे कोई संबंध न हुआ होता और बात प्राकृतिक विज्ञानो के लिए छोड़ दी जाती, जो ऐसे प्रश्नो का निर्णय इद्रियानुभविक प्रमाण के आधार पर करते हैं। परंतु यह बात नही है। यहाँ तक स्पष्टीकरण के जिस स्तर पर हम पहुँच गए हैं कम-से-कम उसे देखते हुए हम कहेगे कि ऐसी बात नही है। हम पूछ सकते है : ठीक किस आधार पर पानी और नमक के गुणो की भविष्यवाणी की जा सकती है या नहीं की जा सकती ? जिन तत्वो के सयोग से वे बने है उनके गुणधर्मो के ज्ञान के आधार पर। परतु इन गुणधर्मों के कितने ज्ञान के आधार पर ? अनुमानतः पूर्ण ज्ञान के आधार पर। परतु पूर्ण ज्ञान क्या होगा ? क्या हम यह नही कहेगे कि हमारा ज्ञान तब तक अपूर्ण होगा जब तक उसके आधार पर हम पानी या नमक के गुणधर्मों की भविष्यवाणी न कर सकें ? पर इस तरह हमारा कथन विश्लेषी हो जायगा। 'पूर्ण ज्ञान (अर्थात् वह ज्ञान जिससे हम क की भविष्यवाणी कर सकें) से हम क की भविष्यवाणी कर सकेंगे।" कोई भी, वह चाहे प्राणतत्ववादी हो या न हो, जो इससे इंकार करेगा अवश्य ही मूर्ख होगा।

तो फिर स्पष्ट है कि यदि हम हाइड्रोजन के गुणधर्मों मे आक्सीजन के साथ मिलकर पानी का निर्माण करने के गुणधर्म को शामिल करते हैं (और इससे इन्कार नही किया जा सकता कि यह उसके गुणधर्मो मे से एक है), तो हम यह भविष्यवाणी कर सकते है कि वह आक्सीजन से सयुक्त होकर पानी का निर्माण करेगा, और हेतु केवल यह है कि यह कथन विश्लेषी है। परतु निस्सदेह वह यह बात नही है जिसे यान्त्रिकवादी कहना चहता है या प्राणतत्ववादी जिससे इन्कार करना चाहता है। अब हम यह सशोधन कर देते है : "हाइड्रोजन के इस गुणधर्म को छोडकर कि उसके आक्सीजन के साथ सयुक्त होने से पानी बनता है, शेष गुणधर्मों के पूर्ण ज्ञान से हम पानी के निर्माण और उसके गुणो की भविष्यवाणी कर सकेंगे।" अथवा इससे मिलते-जुलते पर कुछ भिन्न रूप मे ऐसा कहेंगे (जैसा कि अधिकतर कहा जाता है) · "हाइड्रोजन और आक्सीजन के अकेले मे जो गुणधर्म है, अर्थात् उनके सबधज गुणधर्मों को (जिनके साथ उनके सयुक्त होने से यौगिको का निर्माण होता है उनके मेल से जो गुणधर्म पैदा होते हे उन्हे) छोडकर जो शेष बचते है, उनके पूर्ण ज्ञान से हम पानी के गुणधर्मो की भविष्यवाणी कर सकेंगे।"

यदि हम इस बात को सजीव चीजो के प्रसग मे लागू करें तो प्रश्न यह बन जाता है . "यदि उन सबधज गुणधर्मो को छोडकर जो कोशिकाओ और अणुओ के जीवो के निर्माण के लिए परस्पर सयुक्त होने से पैदा होते है, हम किसी जीवित प्राणी के अदर की प्रत्येक कोशिका (तथा ऐसी कोशिकाओ का निर्माण करनेवाले प्रत्येक अणु) के भौतिक और रासायनिक गुणधर्मो का पूर्ण ज्ञान हो, तो क्या हम भविष्यवाणी कर सकेंगे कि प्राणी के सब गुणधर्म क्या होंगे ?" कुछ गुणधर्मों की भविष्यवाणी तो हम कर ही सकते हैं। जैसे, प्राणी का भार उसको बनानेवाली कोशिकाओ का ही भार है और उनका भार भी उनको बनानेवाले अणुओ का ही कुल भार है। इसी प्रकार, जीवो का पाचन-सबधी व्यवहार अधिकाशत· ऐसा होता है कि पाचन-क्रिया म शामिल अत्यधिक जटिल यौगिको के रासायनिक गुणो के ज्ञान के आधार पर उसकी भविष्यवाणी की जा सकती है। भौतिकी और रसायन के हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर जिसकी भविष्यवाणी नही की जा सकती वह है जीवो का प्रयोजनमूलक व्यवहार—जैसे "आपात-स्थिति" मे रक्त की कोशिकाओ का शरीर के उन भागो की ओर दौडना जहाँ जीव को बचाने के लिए उनकी आवश्यकता होती

है। कोई यह पूछ सकता है कि लाखों साल कोशिश करके भी वर्रों और मधु-मक्खियों के जटिल और पेचीदे सामूहिक व्यवहार-जैसी किसी घटना की—जैसे किसी भूभाग से परिचित होने के लिए उनका आस-पास घूमना ताकि वे अपने घोंसले या छत्ते की स्थिति को न भूल सकें—इन जीवों के भौतिक और रासायनिक गुणधर्मो के पूर्ण ज्ञान के आधार पर कैसे भविष्यवाणी की जा सकेगी ?

वर्तमान स्थिति में भी हमें हाँ या नही में निश्चित उत्तर देकर संतोष नही कर लेना चाहिए, इसलिए नहीं कि जीवों के गुणधर्मो के बारे में अपने खोज-कार्य को पूरा कर लेने की स्थिति से इंद्रियानुभविक विज्ञान अभी बहुत पीछे है (और यह बात है भी काफी सही), बल्कि इसलिए कि अस्पष्टता के एक और कारण को हटाने का काम अभी रहता है : "भविष्यवाणी की जा सकती है" का क्या मतलब है ?

जब हम यह कहते है कि अमुक गुणधर्म की, जैसे पानी के या एक जीवित प्राणी के अमुक गुणधर्म की, संघटकों के गुणधर्मो के ज्ञान के आधार पर भविष्यवाणी की जा सकती है, तब हमारा क्या मतलब होता है ? जब हम ऐसा कहते हैं तब हमारा निश्चय ही केवल यह मतलब नही होता कि कोई भी उनकी भविष्यवाणी कर सकेगा ; हमारा मतलब कम-से-कम यह होता हैं कि वह ऐसी भविष्यवाणी करने की स्थिति में है जो सत्य निकलेगी। प्रसंभाव्यतः सत्य या निश्चत रूप से सत्य ? निस्सदेह हमारा मतलब कुछ भी हो सकता है, परंतु प्रायः इस प्रश्न से संबंधित चर्चाओं में अभिप्राय प्रसंभाव्यता से नहीं होता। उदाहरणार्थ, यदि हम सोडियम क्लोराइड (नमक), सोडियम आयो-डाइड, और सोडियम ब्रोमाइड के गुणधर्मों को जानते है (क्लोरीन, ब्रोमीन और आयोडीन सब तत्वो के हैलोजेन-परिवार के सदस्य है), तो क्या हम प्रेक्षण किए बिना यह भविष्यवाणी कर सकेंगे कि सोडियम फ्लुओराइड (फ्लुओरीन भी उसी परिवार का एक सदस्य है) के गुणधर्म क्या होंगे ? हम एक भविष्यवाणी कर देंगे और इन तत्वो से निर्मित यौगिको के गुणधर्मो मे पहले देखे हुए सादृश्यों के आधार पर उसे प्रसभाव्य कह देंगे। परन्तु यह हमारी भूल भी हो सकती है : ऐसी बातों में हम कभी-कभी भूल करते ही हैं। हम कहेंगे, "फ्लओरीन के अन्य यौगिक क्लोरीन के यौगिको के सदृश निकले हैं, इत्यादि, और इसलिए शायद यह वैसा ही होगा।" परंतु यदि ऐसी भविष्यवाणी सत्य

भी निकल आए तो भी यान्त्रिकवाद बनाम प्राणतत्ववाद के विवाद मे भाग लेनेवाले यह नही कहना चाहेंगे कि भविष्यवाणी कर सकने का यह मतलब है, क्योकि ऐसा कहने से तो यान्त्रिकवादी का पक्ष सही सिद्ध होगा। जरूरत है निश्चयात्मकता की, विशेषत तार्किक निश्चयात्मकता की : प्रश्न यह है कि सघटको के बारे मे जो प्रतिज्ञप्तियाँ हे उनके आधार पर हम उनसे निर्मित वस्तु (अवयवी) के बारे मे प्रतिज्ञप्तियाँ तर्कत. निगमित कर सकते ह या नहीं। यदि अमुक भौतिक और रासायनिक गुणधर्म है तो अमुक व्यवहार होता है।[1] यदि अवयवी के बारे मे प्रतिज्ञप्तियाँ इस तरह निगमित नही हो सकती तो अवयवी के गुणधर्म उन्मज्जी है, यदि वे निगमित हो सकती है तो वे गुणधर्म उन्मज्जी नही है।

३. **अपचेयता**—परतु यदि ऐसी बात है तो उन्मज्जन से सबधित विवाद अपचेयता से सबधित विवाद से एक हो जाता है, जो कि यान्त्रिकवाद बनाम प्राणतत्ववाद के झगडे का एक और रूप है।

एक विज्ञान का दूसरे मे, अथवा विज्ञान के एक भाग का दूसरे मे, अपचयन हो सकने की बात तब कही जाती है जब एक के सब कथन दूसरे के कथनो से तार्किक निगमन द्वारा प्राप्त किए जा सकते है। इस रूप मे यान्त्रिकवाद बनाम प्राणतत्ववाद का प्रश्न यह होगा : "क्या जीवविज्ञान का भौतिकी और रसायन मे अपचयन हो सकता है?" यदि हाँ, तो यान्त्रिकवाद सत्य है और यदि नही, तो प्राणतत्ववाद सत्य है।

यह तो एक सीधे इद्रियानुभविक प्रश्न की तरह लगता है, परतु प्रस्तुत रूप मे यह पूणत. सही नही बना। यदि प्रस्तुत रूप मे ही इसे लिया जाए तो उत्तर निश्चित रूप से प्राणतत्ववाद के पक्ष मे होगा, और इसका सीधा-सा हेतु यह है कि जीवविज्ञान मे इस समय जो नियम हैं वे सभवत. भौतिकी और रसायन के नियमो से निगमित नही हो सकते ; और वे उनसे निगमित इसलिए नही हो सकते कि जीवविज्ञान के नियमो मे कोशिका जैसी उन चीजो

१. अध्याय २ में चर्चित निश्चयात्मकता और इद्रियानुभविक कथनों के प्रश्न पर इसका बिल्कुल भी असर नहीं पड़ता। "यदि यह नमक है तो इसमें सोडियम है" निश्चयात्मक है क्योंकि यह विश्लेषी है, हालांकि "यह पदार्थ नमक है" कदापि निश्चयात्मक नहीं है।

का निर्देश रहता है जिनका भौतिकी और रसायन मे कोई उल्लेख नही होता, और निश्चय ही कोशिकाओ से सबधित कोई कथन ऐसे कथनो की किसी भी सख्या से तर्कतः निगमित नही हो सकता जिनमे कोशिकाओ का कोई निर्देश नही होता। यह बात न केवल जीवविज्ञान के अन्य भौतिक विज्ञानो से संबंध पर लागू होती है, बल्कि स्वयं भौतिकी के अंदर भी लागू होती है। उदाहरणार्थ, ऊष्मागतिकी के नियमो का यात्रिकी के नियमो मे अपचयन नही हो सकता, क्योकि ऊष्मागतिकीय नियमो मे ऊष्मा जैसे संप्रत्ययो का उपयोग शामिल रहता है, जबकि यात्रिकी मे ऊष्मा का कोई निर्देश नही रहता। तो इतने कडे अर्थ मे न विज्ञानों का एक-दूसरे मे और न विज्ञानो की विभिन्न शाखाओ का एक-दूसरी मे अपचयन किया जा सकता है ; ऐसी बात नही है कि केवल सजीव चीजो से सबधित कथन ही अनपचेय हो।

फिर भी, भौतिकीविद् प्रायः इस बात मे सहमत होते है कि ऊष्मागतिकी का यान्त्रिकी मे अपचयन किया जा सकता हे, और वस्तुतः उसका इस तरह पहले ही अपचयन किया भी जा चुका है। परंतु यह निश्चित नहीं है कि जीवविज्ञान का भौतिकी और रसायन मे अपचयन हो सकता है या नही। तो मतलब क्या है ? यह कि ऐसी प्राक्कल्पनाओ को आधारिकाओ के रूप मे लेकर जिनमे ऊष्मा से सबधित बातो को हटाकर उनकी जगह केवल उन चीजो से सबधित बातो को रखा जा सकता है जो यात्रिकी की विषयवस्तु के भाग है (जैसे अणुओ की गति), हम ऊष्मागतिकी के सब कथनो को यान्त्रिकी के कथनो से निगमित कर सकते हैं। इस उदाहरण मे प्राक्कल्पना ऊष्मा का अणुगति-सिद्धात है। जब निगमन मे इसका एक आधारिका के रूप मे प्रयोग कर दिया जाता है तब ऊष्मागतिकी के नियम यान्त्रिका के नियमो से निगमित हो जाते हैं और इस प्रकार ऊष्मागतिकी का यान्त्रिकी मे अपचयन हो जाता है।

इसी तरह यह कहने के लिए भी समुचित आधार मौजूद है कि सपूर्ण रसायन का भौतिकी मे अपचयन हो सकता है, और कालातर मे उसका उसमे पूरा ही अपचयन हो चुका होगा। तत्वो और यौगिको के रग, भार, गलनाक तथा अन्य रासायनिक गुणधर्मों के बारे मे जो प्रतिज्ञप्तियां है उनका उन तत्वो और यौगिको के अंतरअणुक गुणधर्मो के बारे मे जो प्रतिज्ञप्तियां है

उनसे (तथा कुछ प्राक्कल्पनाओं से भी जो प्रायः आणविक संरचना के बारे में होंगी) निगमन किया जा सकता है।

इस अर्थ मे क्या जीवविज्ञान का भौतिकी और रसायन मे अपचयन हो सकता है ? यदि इसका मतलब यह पूछना है कि इस समय, वर्तमान मे, उसका उनमे अपचयन हो चुका है या नही, तो उत्तर "नही" है। यदि इसका मतलब यह पूछना है कि कभी उसका उनमे अपचयन हो जाएगा या नही, तो उत्तर निश्चय ही यह होगा कि हम नही जानते, पर काफी संभव है कि ऐसा हो जाएगा। उसके काफी अधिक भाग का पहले ही अपचयन हो चुका है। जिस भाग का अपचयन नही हो पा रहा है वह मुख्यतः वह भाग है जो जीवों के प्रयोजनमूलक व्यवहार से संबंधित है। जीवविज्ञान की उन्नति के साथ किस-किस भाग का आगे अपचयन हो सकेगा, यह एक ऐसी बात है जिसे समय ही बता सकता है। तो फिर यहाँ पर हम बात को इंद्रियानुभविक विज्ञानो के लिए छोड़ देते हैं।

इस विवाद का जो भी परिणाम हो, प्राणतत्ववाद एक विशेष अभौतिक जीवन-शक्ति की दृष्टि से जिसपर हमने शुरू मे विचार किया था एक अलग चीज है और अनपचेयत्व की दृष्टि से उससे कही भिन्न चीज है। अनपचेयत्व मे कोई भी अवैज्ञानिक बात नहीं है। ऐसा बिल्कुल हो सकता है कि कुछ विज्ञानों के नियमो का एक "निचले" स्तर के विज्ञान के नियमो मे अपचयन कदापि न हो सके; फिर भी प्रत्येक भली भाँति और व्यवस्थित ढग से काम जारी रखेगा। अनपचेयत्व से केवल वे ही व्यक्ति निराश होंगे जो स्वभाव से एकत्ववादी है और हर चीज को घटाकर एक मे ले आने की उत्कट इच्छा रखते है। वे ऐसे ही व्यक्ति है जो कहते हैं कि केवल एक ही विज्ञान है, भौतिकी, और शेष सब इस एक आधारभूत विज्ञान के ही अधिक जटिल विशेष रूप मात्र हैं। दूसरे शब्दो मे, आधारभूत नियम (पृ० ३६७-६८), केवल भौतिकी मे ही पाए जाते हैं, न कि रसायन या जीवविज्ञान मे। ऐसे लोगों की आशाएँ समय आने पर जीवविज्ञान को इस साफ-सुथरी योजना मे बैठाने मे हमे लगातार मिलनेवाली असफलता से धुंधली पड़ सकती हैं ; और यदि वे जीवविज्ञान की वजह से धुंधली पड जाती हैं तो अस्तित्व के एक और भी ऊँचे स्तर की बात सोचते समय यानी मन पर विचार करते समय तो वे बिल्कुल ही चूर-चूर हो जाएँगी। अब हम इसीपर विचार करते हैं।

२० मन और शरीर

अ. मानसिक और भौतिक घटनाएं

ऐतिहासिक क्रम मे मन का उद्भव जीवन के बाद हुआ। जैसे पृथ्वी पर जीवन का तब तक उद्भव नही हुआ जब तक अजैव द्रव्य ने अत्यधिक जटिल आकार ग्रहण नही कर लिए, वैसे ही मन का भी तब तक उद्भव नही हुआ जब तक जैव द्रव्य ने ज्ञानेंद्रियो, तन्त्रिकाओ और मस्तिष्को के रूप मे जटिलता की और भी ऊँची मात्रा प्राप्त नही कर ली।

प्रायः यह कहा जाता है कि इद्रियानुभव के क्षेत्र मे हम तीन स्तर पाते है भौतिक द्रव्य, जीवन और मन। सजीव चीजो के निर्जीव चीजो से अत्यधिक भिन्न होने के बावजूद होती वे भौतिक चीजे ही है: वे भौतिक द्रव्य से निर्मित होती है, हालाँकि वह जैव द्रव्य होता है। परतु अब हम एक ऐसी चीज पर आते है जो अधिकतर दार्शनिको के मत से बिल्कुल भी भौतिक नही है जैव शरीर, जो मन के उद्भव के लिए अनिवार्य आधार प्रतीत होता है, भौतिक है, परतु स्वय मन भौतिक नही है। यदि ऐसी बात है तो जीवन और मन के बीच का "व्यवधान" उससे बडा है जो अजैव भौतिक द्रव्य और जीवन के बीच है।

हमारा पहला काम यह दिखाना होगा कि भौतिक के विपरीत मानसिक भी कुछ होता है। जो भेद हम करनेवाले है उनसे हर आदमी सहमत नही होगा, पर प्रत्येक विद्यार्थी को उनसे पूरी तरह से परिचित हो जाना चाहिए, और यह केवल इसलिए नही कि इस विषय पर जिन लोगो ने काफी समय तक विचार किया है वे अधिकतर उन्हे स्वीकार करेंगे बल्कि इसलिए कि उनके बिना कोई भी ऐसी गलतियाँ कर सकता है जो आसानी से पकडी जा सकती है।

मानसिक घटनाएँ— जब आप एक आवाज सुनते है तब क्या होता है? यदि आप मात्र "सुननेवाली चीजें" होते तो श्रवण-सवेदन आपके मस्तिष्क के अदर से ही पैदा होते। पर आप ऐसी चीजें नही है और इसलिए आपके शरीर के बाहर पहले किसी घटना का होना जरूरी है। यह है ध्वनि तरगो (वायु का एकातर क्रम से सघनन और विरलन) के कारण वायु के कणो का बार-बार हमारे कर्ण-पटह से टकराना और फलत. उसमे कपन होना। कर्णपटह

तीन अस्थिकाओं के द्वारा एक झिल्ली से जुड़ा होता है जो आंतरिक कर्ण के अंदर स्थित एक सर्पिल नली के एक सिरे को ढके होती है। आपके कर्णपटह का कंपन इन तीन अस्थिकाओं की शृंखला के द्वारा उस नली के सिरे पर स्थित झिल्ली में पहुचता है। नली के अंदर एक द्रव, परिलसीका, भरा होता है जिससे अस्थिकाओं से जुड़ी हुई झिल्ली का कंपन इस द्रव में कंपन पैदा करता है। पहली नली के अंदर एक और नली होती है जिसमें अंतर्लसीका नामक द्रव भरा रहता है। परिलसीका के कंपन आंतरिक नली की झिल्लीमय दीवार में कंपन पैदा कर देते हैं और अंतर्लसीका में लहरें पैदा कर देते हैं। झिल्लीमय दीवारों से छोटे छोटे बाल अंतर्लसीका में निकले होते हैं जो अंतर्लसीका के कंपनों से हिलते हैं। श्रवण-तंत्रिका इन बालों की जड़ों से जुड़ी होती है। बालों के कंपनों से इस तंत्रिका में आवेग पैदा होते हैं जिन्हें यह तंत्रिका मस्तिष्क के उस भाग में पहुँचाती है जिसे श्रवण-केंद्र कहते हैं। जब तक यह श्रवण-केंद्र उद्दीप्त नहीं होता तब तक आप ध्वनि को नहीं सुनते।

यहाँ तक जितनी भी घटनाएँ बताई गई है वे सब भौतिक हैं ; वे आपके सिर के अंदर होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तन है। उनका प्रेक्षण बहुत ही कुशलता के साथ निर्मित उपकरणों के द्वारा करना भी अत्यधिक कठिन होता है, क्योंकि आदमी का सिर पारदर्शी नही होता और आदमी की जीवित अवस्था में उसके मस्तिष्क की सामान्य क्रिया मे बाधा पहुँचाए बिना उसके सिर को खोलना मुश्किल होता है। इसके बावजूद अनेक ऐसे सूक्ष्म भौतिक परिवर्तनों का प्रेक्षण किया जा चुका है और उन्हें मापा जा चुका है। (यदि ऐसा न भी हुआ होता तो भी उनका प्रेक्षण तर्कतः संभव हुआ होता ; असंभव वह केवल तकनीकी दृष्टि से ही हुआ होता।)

अभी जो प्रक्रिया बताई गई है वह पूरी-की-पूरी एक सेकंड के अल्पांश में ही हो जाती है ; परंतु अब श्रवण-तंत्रिका के द्वारा उद्दीपन के मस्तिष्क के उपयुक्त भाग में पहुँचा दिए जाने पर एक नई और भिन्न प्रकार की बात होती है : आप एक आवाज का सुनते है, आपको एक श्रवण-संवेदन होता है। यह दुनिया में घटनेवाली एक नई ही बात है। इस संक्षिप्त होते हुए भी पेचीदी प्रक्रिया में पहले जो कुछ हुआ था उससे यह एक बिल्कुल ही अलग तरह की एक भौतिक घटना। वह एक बोध है, चेतना की एक अवस्था है। बात है। श्रवण-संवेदन एक मानसिक घटना है, न कि पिछली घटनाओं की

यही बात दृष्टि-संवेदनों पर और संवेदन के अन्य सभी प्रकारों पर लागू होती है, जैसे, गति-संवेदन, घ्राण-संवेदन, स्वाद, स्पर्श, गर्मी, सर्दी, पीड़ा इत्यादि ; तथा चेतना की उन अवस्थाओं पर भी, जो इंद्रियों के साथ सीधा संबंध नहीं रखतां, जैसे विचार, स्मृतियाँ, बिंब, संवेग । अब हम देखते हैं कि भौतिक घटनाओं से इनका किन बातों में अंतर है ।

१. हम भौतिक वस्तुओं, घटनाओं और प्रक्रियाओं का सदैव स्थान निर्धारण कर सकते हैं। वे कहीं होती हैं। संवेदन से संबंधित ऐंद्रिय और तंत्रिकीय प्रक्रियाएँ व्यक्ति के सिर के अंदर होती है। परंतु संवेदन कहाँ होता है ? मान लीजिए कि आप एक घंटी का बजना सुनते हे । तो आपका श्रवण-संवेदन कहाँ है ? वह भौतिक ध्वनि-तरंगों में नही है—ये आपके शरीर के बाहर के स्थान में घंटी और आपके कानों के बीच में है। घंटी में तो वह और भी नही है । घंटी तो एक भौतिक चीज है जिसका आप स्थान बता सकते है । परंतु श्रवण-संवेदन— वह कहाँ है ? आपके सिर के अंदर कही ? क्या आपके सिर को खोलकर देखने वाला सर्जन कहीं उसे पा सकेगा ? यदि आपकी खोपड़ी पारदर्शी हो और एक सर्जन एक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक के द्वारा उसके अंदर चलनेवाली क्रियाओं को देख सके, तो वह श्रवण-तंत्रिका के उद्दीपन को देख सकेगा, परंतु क्या वह आपके संवेदन को देख या सुन सकेगा ? (यदि हाँ, तो क्या वह आपके संवेदन के बजाय उसका ही संवेदन न होगा ?)

अथवा दृष्टि का उदाहरण लीजिए । प्रकाश तरंगें आपकी आँख के रेटिना से टकराती हैं और वहाँ दृश्य वस्तु की उल्टी प्रतिमा बनाती हे । यह एक भौतिक घटना है । उल्टी प्रतिमा को देखा जा सकता है (हालांकि वह वह नही है जो आप देख रहे हैं) । दृष्टि-तंत्रिका उद्दीप्त होती है, एक रासायनिक-वैद्युत आवेग उसमें से होकर गुजरता है, और अंत में एक सेकंड के बहुत ही अल्प भाग में मस्तिष्क की अनुकपाल पालि उद्दीप्त हो जाती है ; तब एक दृष्टि-संवेदन पैदा होता है । इस संवेदन के पैदा होने तक प्रक्रिया के प्रत्येक चरण का स्थान बताया जा सकता है जो कि आपके सिर के अंदर कहीं है। परंतु मान लीजिए कि आप एक ठोस हरे रंग की दीवार को देख रहे हैं । तब आपका हरे का संवेदन कहाँ है ? क्या आपके सिर के अंदर मस्तिष्क में कहीं ? यदि हाँ, तो कहाँ ? क्या कोई आपके सिर को खोलकर या एक्स-रे से भी

श्रेष्ठ किसी सूक्ष्मदर्शक से देखकर उस हरे को पा सकेगा जिसे आप देख रहे है ? क्या यह कहने का कोई अर्थ होगा कि वह हरा आपकी आँखो के चार इच पीछे स्थित है ? किसी तनिकीय प्रक्रिया के बारे मे यह कहना तो सार्थक होगा कि वह आपकी आँखो के चार इच पीछे चल रही है।

यही बातें तब भी लागू होती हैं जब सवेदन आपके शरीर के बाहर स्थित वस्तुओ से उत्पन्न नही होता। मान लीजिए कि आप अपनी आँखो के आगे लाल धब्बे देख रहे है। वे धब्बे कहाँ है ? आपकी आँखो के आगे, अक्षरश. ? शायद आपकी आँखो के छ इच आगे ? आप उन्हे वहाँ नही पा सकते, और न कोई दूसरा व्यक्ति ही पा सकता है। ये धब्बे किसी भी स्थान मे अस्तित्व नही रखते। आप कह सकते है कि वे सत्य नही है ; वे वास्तव मे अस्तित्व हीं नही रखते। पर क्या नही रखते ? भौतिक धब्बो के रूप मे, जैसे कुत्ते के शरीर के धब्बे होते है, उनका अस्तित्व नही है, परतु धब्ब तो आप अवश्य ही देखते है और यह आपके अनुभव का एक अपरिहार्य तथ्य है, उतना ही अपरिहार्य जितना कुत्ते के धब्बो का आपका दृष्टि-सवेदन। आपका इस कथन से कि वे सच्चे नही है, यह तात्पर्य हो सकता है कि वे भौतिक जगत् के अश नही है, परंतु अस्तित्व उनका अवश्य ही है—आप उन्हे ठीक इस समय देख रहे हैं। शायद उनका केवल मानसिक घटनाओ के रूप मे अस्तित्व है, पर अस्तित्व फिर भी है। पर चूंकि वे भौतिक नही हैं, इसलिए आप उनका भौतिक जगत् मे, अपनी आँखो के सामने, या आँखो के पीछे, या अन्यत्र कही स्थान नही बता सकते। मानसिक घटनाएँ दिक्निरपेक्ष होती है ; भौतिक घटनाएँ दिक् मे स्थित होती हैं। "यह मानसिक घटना कहाँ (दिक् मे) घट रही है ? यह पूछना उतना ही अर्थहीन है जितना यह पूछना कि सख्या ४ कहाँ है ?" (इसके विपरीत ४ का अक कही है, जैसे वहाँ श्यामपट्ट पर जहाँ मैंने अभी उसे लिखा है, और इसलिए वह दिक् मे स्थित है।) यह न मान लीजिए कि चूंकि यह बात गलत है कि एक मानसिक घटना मेरे सिर के बाहर घट रही है, इसलिए वह मेरे सिर के अदर घट रही है। एक भौतिक घटना या प्रक्रिया अवश्य ही इस या उस स्थान मे घटेगी, परतु मानसिक घटनाएँ नही : दिक् या देशिकता का प्रत्यय उनपर लागू होता ही नही। यह एक बात है जिसमे वे भौतिक घटनाओ या प्रक्रियाओ से भिन्न होती हैं।

तब, यदि मानसिक घटनाओ (चेतना की अवस्थाओ) का दिक् मे स्थान

नही बताया जा सकता तो वे दिक् में विस्तृत भी नही हैं। आपका यह पूछना सार्थक नही हो सकता कि वे कितना स्थान घेरती है? आपकी आँखों के आगे दीखने वाले धब्बे कितनी जगह घेरते है? दो इंच? तीन फुट? (और यदि आप इस तरह की बात कह ही डालें तो आप उसकी जाँच कैसे करेंगे?) मान लीजिए कि आप ताजमहल की एक कल्पना करते हें अथवा अधिक ठीक यह कहना होगा कि एक बिंब बनाते है जो ताजमहल का प्रतिनिधित्व करता है। वह कितना ऊँचा है, स्वयं ताजमहल नही बल्कि आपके मन मे उसका बिंब? स्वयं ताजमहल की तुलना मे उसकी कितनी ऊँचाई है? शायद उसकी ऊँचाई की एक बटे दस? यदि हाँ, तो वह आपके मस्तिष्क मे कैसे समा सकेगा जो कि केवल कुछ ही इंच है? यदि आपने ताजमहल का एक माडल बनाया होता तो आपका यह कहना सार्थक होता कि वह माडल मूल इमारत का एक बटे दस या एक बटे एक हजार ऊँचा है, क्योकि आपका माडल एक भौतिक वस्तु है जो कि भौतिक जगत् मे एक निश्चित स्थान पर है। परंतु जो बिंब आपके मन में है वह उस माडल की तरह नही है जो आपके सामने मेज के ऊपर रखा है: बिंब आपके सिर के अदर नही है (कोई भी आपके सिर को खोलकर या बाहर से उसके अदर देखकर कभी उसे वहाँ नही पाएगा), पर वह आपके सिर के बाहर, जैसे मेज के ऊपर, भी नही है। वह दिक् में बिल्कुल है ही नही, और फलतः उसका दिक् मे विस्तार भी नही है।

२. भौतिक वस्तुओं, भौतिक घटनाओ और भौतिक प्रक्रियाओ को सब देख सकते हैं; परतु मानसिक घटनाओ (चेतना की अवस्थाओं) का केवल एक ही व्यक्ति अनुभव कर सकता है।

इस समय मेरे लिए उसे देखना जो आपके सिर के अंदर, जैसे आपके दोनो कानो को जोडनेवाली सीधी रेखा के मध्यबिंदु पर, हो रहा है प्रविधितः असभव है (हालाँकि अबसे संभवतः पचास वर्ष बाद नही)। परंतु वह जो भी है, है आपके मस्तिष्क के अदर चलनेवाली एक भौतिक प्रक्रिया।

असल मे हम एक ऐसी मशीन की कल्पना कर सकते है (उसे "स्वमस्तिष्कदर्शी" कह सकते हैं) जिसके द्वारा आप स्वयं ही अपने मस्तिष्क मे होनेवाली बातों को देख सकते है। दर्पणो की एक कुशलतापूर्वक व्यवस्थित शृंखला के द्वारा आप आंशिक निश्चेतनता की अवस्था मे रहते हुए सर्जन को

स्वयं अपने प्रमस्तिष्क के वल्कुट को काटते हुए देख सकते है। आप यह देख सकते है कि प्रत्येक अनुभव के होने पर ठीक कौन-सी तन्त्रिका उद्दीप्त होती है, उदाहरणार्थ, जब आपने पेड़ के हरे रग का अनुभव किया था तब आपके प्रमस्तिष्क की अनुकपाल पालि मे ठीक क्या हुआ था। इस बात मे कोई भी बेतुकापन नही है और किसी दिन सचमुच ही ऐसा हो जाएगा। इस उदाहरण से यह पता चलता है कि जिस हरे रग को आप देखते हे वह तथा उसे देखते समय जो कुछ आपके मस्तिष्क मे घटित हो रहा है वह, दो भिन्न चीजे है। आपके मस्तिष्क का सर्जन निरीक्षण कर सकता है और स्वमस्तिष्कदर्शी के द्वारा आप स्वयं भी निरीक्षण कर सकते है। परतु हरे का अनुभव आपका अपना है। जब भी आपको हरे का अनुभव होता है तब आपके मस्तिष्क मे जो कुछ घटता है, इस बारे मे यदि मनोदैहिक सहसंबध का कोई नियम स्थापित किया जा सके तो सर्जन यह कह सकेगा कि "अहो! तुम्हे हरा दिखाई दे रहा होगा क्योकि वह छोटी-सी गुच्छिका फिर उस विचित्र ढग से हिल-डुल रही है," पर आपको हरे का जो अनुभव होता है वह उसे कदापि न हो सकेगा। निस्सदेह स्वय ही किसी हरी चीज को देखकर उसे हरे का अनुभव हो सकेगा, परतु वह हरा उसकी ही मस्तिष्कीय अवस्था से सहसंबधित होगा, न कि आपकी। आप और सर्जन एक दूसरे के मस्तिष्क की अवस्थाओं का प्रेक्षण कर सकते हैं, परतु एक का अनुभव दूसरे का नही बन सकता।

क्या मेरे लिए आपके दर्द को महसूस करना या आपके लिए मेरे दर्द को महसूस करना तर्कतः सभव है? साधारण जीवन मे हम कभी-कभी कहते हैं कि "मै तुम्हारे दर्द को महसूस कर रहा हूँ", जिससे हमारा केवल यह मतलब होता है कि हमे बहुत प्रबल समानुभूति हो रही है, इतनी अधिक कि कभी-कभी हमे भी दर्द होने लगता है, परंतु तब निश्चय ही हमारा दर्द और दूसरे आदमी का दर्द दो अलग दर्द हैं। परतु यहाँ हम यह नहीं पूछ रहे हैं कि एक व्यक्ति को दूसरे के साथ प्रबल समानुभूति हो सकती है या नही ; हम यह पूछ रहे हैं कि दो व्यक्ति अक्षरशः उसी दर्द को उस तरह महसूस कर सकते हैं या नहीं जिस तरह वे उसी पेड़ को या उसी मकान को देख सकते है। क्या यह तर्कतः असंभव है, या तर्कतः सभव तो है पर वास्तव में होता नहीं है ?

मान लीजिए कि दुनिया को जैसी हम इस समय पाते है उससे वह भिन्न होती और इस समय जो जीवविज्ञानीय नियम हे उनसे वे बिल्कुल भिन्न होते। विशेष रूप से, मान लीजिए कि जब भी आपकी उगली मे पिन चुभाई जाए तब मुझे दर्द महसूस हो और आपको न हो ; और जब भी मुझे चोट लगे तब चोट आपको महसूस हो ; इत्यादि । यह एक ऐसी वस्तुस्थिति है जो तर्कतः सभव है । वास्तविक यह नही है, क्योकि वास्तव में मेरा दर्द मेरे शरीर की अवस्था पर निर्भर होता है ; आपका दर्द आपके शरीर की अवस्था पर निर्भर होता है । जहाँ तक हम जानते है, वहाँ तक जो परिस्थिति हमने अभी बताई है उसका होना अनुभवतः असभव है ; परतु तर्कतः वह सभव है और आसानी से उसकी कल्पना की जा सकती है । मान लीजिए कि वस्तुस्थिति ऐसी होती है ; तो क्या हम यह कहेगे कि मैं आपके दर्द को महसूस करता हूँ और आप मेरे दर्द को महसूस करते हैं ?

बात इसपर निर्भर करेगी कि "आपका दर्द" और "मेरा दर्द" से हमारा क्या मतलब है। "आपका दर्द" का मतलब वह दर्द हो सकता है जो आपके शरीर को क्षति पहुँचने से पैदा होता है ; और "मेरा दर्द" का मतलब वह दर्द जो मेरे शरीर को क्षति पहुँचने से पैदा होता है । ("क्षति" के साथ क्षति की अनुभूति का कोई अर्थ नही जुडा हुआ है । यह तो शरीर की एक भौतिक अवस्था मात्र का नाम है, जैसे "क्षतिग्रस्त सामान" कहने मे ।) इस अर्थ मे उत्तर हाँ है । मैं आपके दर्द को जरूर महसूस करता हूँ . मैं उस दर्द को महसूस करता हूँ जो आपके शरीर को क्षति पहुँचने से होता है ।

हम "आपका दर्द" और "मेरा दर्द" का प्रयोग इस रूप मे कर सकते थे । परतु यदि हम करते, तो एक अन्य अधिक मौलिक अर्थ फिर भी बना रहता जिसमे यह नही कहा जा सकता कि मैं आपका दर्द महसूस करता हूँ या आप मेरा दर्द महसूस करते हैं । यदि मैं उसे महसूस करता, तो, भले ही आपके शरीर के क्षतिग्रस्त होने पर वह हुआ होता, दर्द वह फिर भी मेरा होता । इस समय हम सदैव इसी रूप मे बात को कहते हैं, क्योकि जिस दर्द को मैं महसूस करता हूँ वह कारण के रूप मे मेरे शरीर की क्षति पर आश्रित है न कि आपके शरीर की, और अभी कार्य-कारणो की दृष्टि से जिस भिन्न विश्व की कल्पना की गई थी उसमे हम बात को तब इसी रूप मे कहते जब हम यह पहचान करना चाहते कि दर्द किसका है, न कि उन कारणात्मक स्थितियों की जिनमे उसकी अनुभूति होती है । यदि दर्द को मैं महसूस करता हूँ तो वह मेरा

दर्द है, चाहे क्षति कही भी हुई हो। इस अर्थ में मेरा आपके दर्द को महसूस करना तर्कतः असंभव है। यदि मैं उसे महसूस करता हूँ तो तथ्यतः वह मेरा दर्द है, और यदि आप उसे महसूस करते है तो वह आपका है। यदि हम दोनों दर्द को महसूस करते हैं तो जिसे हम महसूस करते हैं वह एकही दर्द नही है: आप अपने दर्द को महसूस करते है और मैं अपने दर्द को। यदि दर्द के दो अनुभव है तो दर्द दो है, क्योंकि "दर्द" शब्द एक अनुभव का नाम है, और अनुभव से अलग उसका कोई अस्तित्व नही है।

संक्षेप में, जिस अर्थ की चर्चा हो रही है उसमें "मेरा दर्द" वही चीज है जो *"मुझे महसूस होने वाला दर्द" है, और यह कथन अनिवार्यतः सत्य है।* यह एक अनिवार्य सत्य नही है कि मैं दर्द महसूस करता हूँ, परंतु यह एक अनिवार्य सत्य है कि जो भी दर्द मैं महसूस करता हूँ वह मेरा दर्द है। यह विश्लेषी भी अवश्य है: यह "जो दर्द मैं महसूस करता हूँ वह वह दर्द है जो मैं महसूस करता हूँ" के तुल्य है। यह विश्लेषी कथन वास्तविकता की एक आधारभूत विशेषता को प्रकट करता है या नही, इस विवाद का निपटारा हम तर्कबुद्धिवादी और इंद्रियानुभववादी के लिए छोड़ देते हैं (पृ० २९४-३०८)।

अन्य मनों का हमारा ज्ञान— मैं आपके सिर के बाहरी हिस्से को देख सकता हूँ, और किसी दिन ऐसा हो सकेगा कि आप जीवित रहेंगे और अनुभव करते रहेंगे और साथ ही मैं आपके सिर के अंदर होनेवाली बातों को देख भी लूंगा। परंतु तब भी आपके अनुभव मुझे नही हो सकेंगे—जैसे आपका हरे का संवेदन, आपका दर्द, आपके विचार इत्यादि। मुझे ऐसे अनुभव हो सकते है जो *किन्ही बातों मे आपके अनुभवों के समान हों, परंतु यह नहीं हो सकता कि* आपके अनुभव अक्षरशः मुझे हो जाएँ। आपके अनुभवो के बारे में मेरा ज्ञान सदैव अनुमान पर आधारित होता है: मैं आपके दर्द को महसूस नही कर सकता, मैं आपके व्यवहार को देखकर आपकी मुख-मुद्राओं को देखकर और आपके शब्दो को सुनकर यह अनुमान मात्र कर सकता हूँ कि आपको दर्द है। परंतु स्वयं अपने बारे मे मुझे यह अनुमान करने की जरूरत नही है कि मुझे दर्द हो रहा है: मैं इस बात को अपरोक्ष रूप से जानता हूँ और इससे अधिक अपरोक्ष रूप से मैं कभी कोई चीज नही जान सकता— मैं दर्द को महसूस करता हूँ, और इतने से ही मुझे यह कहने का अधिकार मिल जाता है कि मुझे दर्द है (देखिए पृ० १८२-८८)। मुझे दर्पण मे नहीं देखना होगा और

यह नही कहना होगा कि "मेरे माथे पर बल पडे हुए हैं, मेरी मुख-मुद्रा ऐसी-ऐसी है, इसलिए मुझे दर्द है ।" (यह निदान करने के लिए कि मुझे अमुक बीमारी है, मुझे ऐसी प्रक्रिया से गुजरना होगा जैसे कोई चिकित्सक करता है वैसे ही मुझे भी रोग-निदान करने के लिए अपनी आँखो की, त्वचा की, जीभ इत्यादि की जाँच करनी होगी । परतु किसी बीमारी का होना दर्द की तरह चेतना की एक अवस्था नही है । बीमार होने मे प्राय "बीमार महसूस करना" शामिल होता है, पर बीमार होना बीमार महसूस करने से कही अधिक होता है . उसमे यह कहना भी शामिल होता है कि मेरे अदर कुछ कीटाणु हैं, अमुक लक्षणो के बाद अमुक लक्षण और फिर अमुक लक्षण प्रकट होगे, इत्यादि ।) इस प्रकार, मेरे यह जानने के तरीके मे कि मुझे दर्द है और यह जानने के तरीके मे कि आपको दर्द है, बहुत बडा अतर होता है । यह अनुमान करने के लिए कि मुझे दर्द है, मुझे अपनी सावधानी से जाच करने की जरूरत नही होती , मुझे अनुमान करने की ही बिल्कुल जरूरत नही होती ।

परतु यह अनुमान मुझे करना ही होता है कि आपको दर्द हो रहा है, और यह एक विचित्र प्रकार का अनुमान होता है । अनुमान के साधारण उदाहरणो मे इस बात की कि अनुमान सही है या नही, सीधी जाँच करना तर्कत सभव होता है (और प्राय अनुभवत तथा प्रविधित. भी सभव होता है) । यदि मैं धुएँ को देखता हूँ तो मैं आग के होने का अनुमान करता हूँ, परतु मैं इमारत के अदर जाकर सीधे आग को देख भी सकता हूँ । यदि शहर मे आनेवाली सभी कारो पर कीचड लगी है तो मैं यह अनुमान करता हू कि शहर को आनेवाली सडक कीचड से भरी है, परतु कीचड को देखने के लिए मैं स्वय भी उस सडक पर जा सकता हूँ । लेकिन जब मैं आपके लक्षणो से यह अनुमान करता हूँ कि आपको दद है, तब इस अनुमान की सत्यता की जाँच करने का कोई तरीका तर्कतः सभव नही है . मैं केवल यही कर सकता हूँ कि और अधिक लक्षणो को देखूँ—आपके दर्द को मैं कभी महसूस नही कर सकता । मैं एक लक्षण की दूसरे से तुलना करके जाँच कर सकता हूँ : मैं यह देख सकता हूँ कि दर्द की मुख-मुद्रा बनाने के अतिरिक्त क्या आप दर्द पैदा करनेवाली आग से अपने हाथ को खीचते भी हैं । परतु जो प्रतिज्ञप्ति हमारा लक्ष्य है ("आपको दर्द है") उसका सत्यापन मैं लक्षणो के प्रेक्षण के अलावा किसी भी तरह से उस प्रकार अनुभव करके नही कर सकता जिस प्रकार मैं स्वय अपने प्रसग मे करता हूँ ।

वास्तव मे हम एक कदम और आगे जा सकते है : मैं जानता ही कैसे हूँ कि आपको दर्द है ? मैं कैसे जानता हूँ कि आपको सुख या दुख की अनुभूति होती है या किसी तरह के संवेदन होते है या आपके मन मे कोई विचार आते हैं या किसी तरह के भावो का अनुभव होता है ? क्या आप कौशलपूर्वक निर्मित एक मशीन नही हो सकते जिसमे रोज सुबह कुछ जटिल गतियाँ करने के लिए लट्टू की तरह चावी भर दी जाती हो, पर वह सब करते हुए जिसे कोई भी अनुभूति न होती हो ? यह सही है कि आप गणित के प्रश्नो को मुझसे जल्दी हल कर देते है ; पर ऐसा तो इस काम के लिए बने हुए कम्प्यूटर भी कर लेते हे । मैं कैसे जानता हूँ कि आप एक विचित्र कम्प्यूटर नही है और हमारे द्वारा निर्मित कम्प्यूटर जिस तरह अनुभूति और विचार से शून्य होते है उस तरह नही है ? यदि आप ऐसे होते और जो गतियाँ आप करते हैं ठीक उन्हे ही करने के लिए योजनानुसार बने होते, तो मुझे इस अतर का पता कभी चलता ही कैसे ? आप वही काम करते, वही बातें कहते, आपके व्यवहार का प्रत्येक अश वही होता—तब मैं कैसे बता पाता ? मैं केवल उन लक्षणो से ही, जिनके आधार पर मैं अनुमान करता हूँ, यह बता सकता हूँ कि आपको दर्द है—परतु यदि लक्षण वही होते तो ? यदि मैं यह विश्वास नही करता कि कम्प्यूटर को अनुभूतियाँ होती हैं और यदि आप वैसा ही व्यवहार करें जैसा एक कम्प्यूटर करता है (कम्प्यूटर भी दर्द का व्यवहार प्रकट कर सकता है और यह कह सकता है कि उसे दर्द है), तो यह कहने का मेरे पास क्या हेतु होगा कि आपको दर्द का अनुभव होता है पर कम्प्यूटर को नही होता ?

समकालीन दर्शन-साहित्य मे इस प्रश्न को लेकर इतना व्यापक विवाद उठा है कि उसके साराश मात्र को बताने के लिए कई सौ पृष्ठो की जरूरत होगी। लेकिन यहाँ थोडी-सी महत्व की बातें बताई जा सकती हैं।

१. एक समाधान है जिससे पूरा ही विवाद टल सकता है, परतु वह पर्याप्त नही होगा : यह कहा जा सकता है कि जब मैं अपने दर्द की बात करता हूँ तब मैं अपने दर्द की बात कर रहा होता हूँ, परतु जब मैं आपके दर्द की बात करता हूँ तब मैं केवल आपके व्यवहार की बात कर रहा होता हूँ। लेकिन जैसा कि हमने सत्यापनीयता की चर्चा मे देखा था (पृ० ३९१-९४) यह पर्याप्त नही है। यह सत्य है कि सत्यापन मैं केवल आपके व्यवहार का ही कर सकता हूँ, पर मेरा तात्पर्य केवल इतना ही नहीं

होता। जब मै कहता हूँ कि आपके दाँत में दर्द है तब मेरा तात्पर्य यह होता है कि आप उसमे दर्द महसूस कर रहे है, न केवल यह कि आपका एक दाँत सड गया है (जो कि दर्द का कारण है, स्वयं दर्द नही) अथवा आपका चेहरा विकृत हो गया है (जो आपके दर्द का परिणाम है, स्वयं दर्द नही)। यदि इस तथ्य की परीक्षणीयता की कसौटी से संगति नही बैठाई जा सकती तो हानि इस कसौटी की है : यह एक सीधा-सादा तथ्य है कि जब मैं आपके दर्द की बात करता हूँ तब मेरा तात्पर्य आपके अंदर उसी तरह की एक अनुभूति मानने का होता है जो मैं स्वयं अपने अंदर तब मानता हूँ जब मैं कहता हूँ कि मुझे दर्द है।

२. "जानना" शब्द की द्व्यर्थकता जितनी भ्रामक यहाँ है उतनी कही नही। यह जानना कि आपको दर्द है, आपके दर्द का अनुभव करना नही है। यह सत्य है कि आपके दर्द को मैं केवल अनुमान से ही जान सकता हूँ, पर इससे फिर भी यह सिद्ध नही होता कि मै उसे जानता नही हूँ। मैं गाइगेर काउन्टर के प्रयोग से जान सकता हूँ कि आस-पास के क्षेत्र में रेडियो-ऐक्टिविटी है, हालांकि मुझे उसका अनुभव नही हो रहा है। इसी प्रकार, कोई दलील देगा कि मैं आपके व्यवहार से आपको दर्द है, यह जान सकता हूं, हालांकि मेरे लिए आपके दर्द का अनुभव करना तर्कतः असभव है।

इस तरह, जो संशयवादी यह कहता है कि "मैं कभी यह नही जान सकता कि आपको दर्द है, क्योंकि मैं कभी आपके दर्द का अनुभव नही कर सकता," वह एक घटिया दलील दे रहा होता है ; वह किसी चीज को जानने को उसका अनुभव करने से एक मान रहा होता है। उसे "जानना" शब्द के अर्थ के बारे मे भ्रम है। परतु यद्यपि उसकी दलील घटिया है तथापि प्रश्न यह बना ही रहता है : चूंकि मैं आपके दर्द का अनुभव नही कर सकता, इसलिए मैं कैसे जान सकता हूँ कि आपको दर्द है ? क्या यह तर्कतः सभव नही है कि आप सब तरह का दर्द-सूचक व्यवहार प्रदर्शित करें और फिर भी दर्द का अनुभव न करें ? शायद आप एक कुशल अभिनेता हों। यह प्रश्न फिर भी बना रहता है : मुझे अतर का पता कैसे चलेगा ?

३. यदि आपके व्यवहार से मतलब आपकी शारीरिक गतियां, आपकी मुखाभिव्यक्तियां और आपकी चेष्टाएं हैं तो अत मे मेरे पास आपके व्यवहार से अधिक प्रमाण होता है। हमारे पास तंत्रिकीय-शरीरक्रियात्मक प्रमाण भी

होता है—जैसे आपकी तंत्रिकाओं के सिरों का उद्दीपन, आपके मस्तिष्क की अवस्था (जिसका पता लगाना अनुभवतः संभव है, परंतु वर्तमान काल में हर उदाहरण में प्रविधितः संभव नहीं है)। यह तंत्रिकीय-शरीरक्रियात्मक प्रमाण यह बता देगा कि आप अभिनय कर रहे हैं या नही। परंतु सशयवादी फिर भी यह तर्क दे सकता है : "इससे कुछ सिद्ध नही होता। आपको यह जानकारी हो सकती है कि जब आप दर्द महसूस करते है तब आपकी तंत्रिकाओं के सिरे उद्दीप्त होते है, परंतु आप कैसे जानते है कि जब अन्य व्यक्तियों की तंत्रिकाओं के सिरे उसी तरह उद्दीप्त होते है तब वे दर्द महसूस करते है ? आप कैसे जानते है कि शरीरक्रियात्मक और मानसिक अवस्थाओं के मध्य आपके अलावा किसी और के प्रसंग में भी कोई सहसंबंध है ?"

क्या संशयवादी की बात का कोई उत्तर है ? यदि उसका आग्रह है कि किसी दूसरे व्यक्ति को दर्द है, यह जानने का एकमात्र उपाय उस अन्य व्यक्ति के दर्द का अनुभव करना है, तो हमे स्वीकार करना होगा कि हम इस शत को पूरा नहीं कर सकते : असल मे इसकी पूर्ति तर्कतः असभव है क्योकि इसे पूरा करने के लिए हमें अक्षरशः दूसरा व्यक्ति बनना होगा (स्वयं नहीं रहना होगा)। परंतु हम सशयवादी को यह भी बता सकते हैं कि मानवीय ज्ञान की उसकी धारणा बहुत ही सकीर्ण है। हम इलेक्ट्रोन को प्रत्यक्ष नही देख सकते, फिर भी कोई भौतिकीविद् नही कहेगा कि हम इलेक्ट्रोन के बारे मे कुछ नही जानते। यह ज्ञान निश्चय ही अनुमानात्मक है, पर अनुमानात्मक ज्ञान ज्ञान ही तो है। हम यह भी मान सकते है कि यह ज्ञान से कुछ कम है : शायद यह एक विश्वास है जिसका समुचित आधार है, जिसके पक्ष मे बहुत अधिक प्रमाण है पर पूरा प्रमाण नही है। वैज्ञानिक सिद्धान्त आते-जाते रहे है और शायद इलेक्ट्रोन के अस्तित्व मे हमारा उतना दृढ विश्वास नही है जितना इस मेज के अस्तित्व मे। मुझे इसका पूरा विश्वास हो सकता है कि मुझे दर्द महसूस हो रहा है, परतु शायद किसी अन्य व्यक्ति के दर्द के बारे मे मेरे उतने ही आश्वस्त होने का मेरे पास वह आधार नही हो सकता। पर फिर भी इस विश्वास का मेरे पास बहुत दृढ आधार है : मैं आपके हाथ को आग से लगते देखता हूँ, मैं उसे जलते देखता हूँ, मैं आपका चिल्लाना सुनता हूँ और मैं आपकी तंत्रिकाओं के सिरों के उद्दीपन तथा आपके मस्तिष्क की अवस्था को मापकर शरीरक्रियात्मक प्रमाण भी प्राप्त कर सकता हूँ।

यदि हम इस बात को स्वीकार नही करते कि ये सब सम्मिलित रूप में आपके दर्द महसूस करने का समुचित प्रमाण है, तो हमें उसको जो प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं के होने मे एक एकरूपता प्रतीत होती है एकरूपता मानने से इन्कार करना होगा : हमें कहना होगा कि मेरे प्रसग में तो तन्त्रिकाओं के सिरों का उद्दीपन इत्यादि दर्द से संबद्ध है, पर आपके प्रसग में वह उससे संबद्ध नही है। तब हम संशयवादी के तर्क का प्रयोग उसीके विरुद्ध करते हुए उससे पूछ सकते है कि इस सारे प्रमाण के बावजूद यह मानने का उसके पास क्या हेतु है कि अन्य व्यक्तियो को दर्द के होने के सब लक्षणों के प्रकट होने पर भी दर्द नही होता ?

परंतु यह मानते हुए कि अन्य लोगों को अनुभव होते है, मैं कैसे जानता हूँ कि उनके अनुभव प्रकार की दृष्टि से मेरे अनुभवो के जैसे है ?

हम कैसे जानते हैं कि हम वही रंग देख रहे है ?— जब मैं घास को देखता हूँ तब मै उसे हरी पाता हूँ। मैं कैसे जानता हूँ कि जब आप घास को देखते है तब आप उसे हरी पाते है ? मैं पूछता हूँ कि आप क्या रग देखते है और आप निश्चित रूप से "हरा" कहते हैं; और मैं पूछता हूँ कि क्या आपको वही रंग दिखाई देता है जो आप पेड़ का देखते हैं, और आप हां कहते है। परतु मैं कैसे यह जानता हूँ ? मैं आपके अदर नहीं जा सकता और यह पता नही कर सकता कि आप क्या देखते है। शायद जहाँ मैं हरा देखता हूँ वहाँ आप वस्तुतः लाल देखते है; परंतु उसे आप हमेशा से "हरा" कहते आए है क्योकि आपको यही बात सिखाई गई है। शायद आपको "उलटे स्पेक्ट्रम" की बीमारी है : शायद जहाँ मैं हरा देखता हूँ वहाँ आप लाल देखते है और जहाँ मैं लाल देखता हूँ वहाँ आप हरा देखते है, अर्थात् जब मैं एक रंग देखता हूँ तब आप सदैव उसका पूरक रंग देखते है। यदि ऐसी बात है तो इसका पता ही कभी कैसे चल पाएगा ? शायद आप की सदा से उलटे स्पेक्ट्रम की दृष्टि रही है और आपको इसकी जानकारी तक नही है। हम कभी भी कैसे जान पाएँगे ?

साधारण वर्णांधता की बीमारी का आसानी से पता चल सकता है। वर्णांधता मे आदमी कुछ रंगो मे अंतर नही कर सकता। जो व्यक्ति लाल-हरा के मामले मे वर्णांध है वह एक लाल टाई और एक हरी टाई मे अतर नही कर पाता, बशर्ते वे समान रूप मे हल्के या गहरे रंग की हों। उसके दूसरों से

भिन्न होने का पता हमें ऐसे ही चलता है । जो व्यक्ति पूर्णतः वर्णांध है उसे हर चीज उसी तरह दिखाई देगी जैसे हमें वर्णहीन चलचित्र दिखाई देता है। इसके अलावा, हमारे पास यह जानने के तरीके है कि वह वर्णांध है, क्योंकि, उसे चाहे कितने ही बड़े पुरस्कार का प्रलोभन दिया जाए, वह अपेक्षित अंतर नहीं कर सकता। न केवल हम ही जानते है कि वह वर्णांध है, अपितु वह स्वयं भी इस बात को आसानी से जान सकता है। जिन रंगों को वह नहीं देख सकता उनकी वह कल्पना भी नही कर सकता, पर वह आसानी से यह जान सकता है कि कुछ अंतरों को अन्य लोग कर सकते है जबकि वह नही कर सकता। मान लीजिए कि हम उसे कार्डों की एक गड्डी देते है जिसमें आधे हरे और आधे लाल हे। वह कहता है कि वे सब उसे समान दिखाई देते हं, और कि हम यह झूठ बोल रहे है कि वे सब समान नही हे। तब हम कार्डों को लाल और हरी गड्डियों मे अलग कर देते है और वापस उसे दे देते हे। वह उनकी किसी ऐसी तरीके से पहचान कर लेता है जो केवल वही जानता है। तब वह उन्हें मिला देता है और एक और व्यक्ति को दे देता है जो उन्हें ठीक उसी तरह से दो गड्डियों में अलग कर देता है जिस तरह से हमने किया था। इस प्रक्रिया की कुछ ही आवृत्तियों के बाद और यह पाकर कि "लाल" और "हरी" गड्डियों मे सदैव वही कार्ड आते है, हमारा आदमी अवश्य ही समझ जाएगा कि कोई बात ऐसी है जिसे हम देख रहे हं और वह नही देख रहा है।

संक्षेप मे, यह पता लगाने के तरीके है कि एक व्यक्ति वर्णांध है या नहीं है। वर्णांधता रंगो मे अंतर करने की अक्षमता है, और हम बता सकते है कि कोई आदमी ऐसे अंतर कर सकता है या नही। परंतु हमारे सामने जो समस्या है उसमें ऐसे इंद्रियानुभविक समाधान की गुंजाइश नही है। जो आदमी पूरे स्पेक्ट्रम के अंदर उसे हरा देखता है जिसे आप लाल देखते हैं और उसे लाल देखता है जिसे आप हरा देखते हे, वह रंगों में वे सब अंतर करेगा जो आप करते है: जब भी आप दो रंग देखें वह दो रंग देखेगा; केवल यह फर्क होगा कि जिन रंगो को आप देखते होंगे उनसे भिन्न रंगो को वह देखता होगा। तो आप कभी कैसे यह जान पाएँगे कि वह भिन्न रंग देख रहा है? क्या यह भिन्नता सदैव अज्ञात नही रहेगी ?

"ठीक है। तो इससे फर्क क्या पड़ेगा ? यह वर्णांधता के सभी परीक्षणों

में पास हो जाएगा। वह वही उत्तर देगा जो आप देते हैं, जैसे घास की ओर इशारा करने पर 'हरी'। तो फिर चिंता की क्या बात है ?" यह सच है कि इससे व्यवहार में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। परंतु इससे समस्या का दार्शनिक महत्व समाप्त नही हो जाता : क्या यह सच हो सकता है कि एक अंतर ऐसा हो जिसे ढूंढ़ पाना सदैव असंभव होता हो ?

"परंतु क्या अंतर उस आदमी के द्वारा किए जानेवाले चीजों के वर्णन में नही प्रकट होगा ? उदाहरणार्थ, वह आग की लपटों को हमारी तरह पीली और नारंगी रंग की बताएगा; परंतु यदि वह वस्तुत: उन्हें नीली और बैंगनी देखता है तो क्या वह यह नहीं कहेगा कि आग शीतल रंग की है जबकि घास, जिसे वह लाल देखेगा, उष्ण रंग की है ?" नहीं, क्योंकि यदि वह लपटों को नीली देखता है तो उसके लिए नीला उष्णता से संबद्ध होगा और इसलिए उसके लिए यह कहना बिल्कुल स्वाभाविक होगा कि नीला (जिसे वह पीला कहेगा) एक उष्ण रंग है। अंतर जब तक संगतिपूर्ण बना रहता है तब तक उसका पता नही चलेगा।

"यदि आप और वह परस्पर आँखें बदल दें, तो फिर भी क्या अंतर का पता नही चलेगा ?" यह बात अभी प्रविधित: संभव नहीं है, परतु मान लीजिए कि ऐसा संभव हो जाता है, जैसा कि शायद किसी दिन हो भी जाएगा, और हम उसी तरह आँखों को बदल सकते हों जिस तरह चश्मों को। मान लीजिए कि आपकी आँखों का उसकी दृष्टि-तंत्रिका पर और उसकी आँखों का आपकी दृष्टि तंत्रिका पर प्रतिरोपण कर दिया जाता है। तब यदि आप घास को देखें और उसे हरी के बजाय लाल पाएँ, तो आप कहेंगे, "अहा ! उसका स्पेक्ट्रम आखिर उलटा ही निकला, क्योंकि उसकी आँखो से मैं जो देख रहा हूँ वह उस रंग का पूरक है जो मैं अपनी आँखो से देखता था।" परंतु मान लीजिए कि आप हरे को अब भी पूर्ववत् देखते हैं : क्या इससे उलटे स्पेक्ट्रम की प्राक्कल्पना खंडित हो जाएगी ? शायद वर्ण-दृष्टि मे अंतर आँख की संरचना, जैसे रेटिना की शलाकाओं और शंकुओं, मे अंतर होने का परिणाम नही होता, बल्कि दो मस्तिष्को मे कोई अंतर होने का परिणाम होता है।

तो मान लीजिए कि दोनों अपने मस्तिष्क आपस में बदल लेते है। परंतु यदि आपको उसका मस्तिष्क मिल जाता है तो उसकी स्मृतियां, उसका स्वभाव, उसका व्यक्तित्व सब आपके हो जाएँगे—तब देखनेवाला आप कैसे

बने रह सकते है ? ऐसा लगता है कि प्रयोग को निर्णायक बनाने के लिए आपको वह और उसे आप बन जाना होगा।

कठिनाई समस्या को ऐसा रूप देने की है कि कोई प्रयोग (जब तक वह तर्कत. सभव हो तब तक) उसका समाधान कर सके और प्राक्कल्पना का मूल अर्थ भी बना रहे। अथवा क्या यह प्राक्कल्पना ऐसी है कि सत्यापन-प्रक्रिया के निश्चित कर दिए जाने पर ही उसे अर्थ प्राप्त होता हो ? (देखिए पृ० ४०२-०६)।

अपचयन-दोष—तो फिर ऐसा लगेगा कि चेतना की अवस्थाएँ मस्तिष्क की अवस्थाओ के साथ चाहे कितना ही घनिष्ठ सहसबध क्यो न रखती हो, उनसे अभिन्न वे नही है। जब कोई दो चीजे (या प्रक्रियाएँ या घटनाएँ) अ और ब सदैव एक साथ होती है तब "एक का दूसरी मे अपचयन करने का"—यह कहने का कि उनमे से एक "दूसरी के अलावा कुछ भी नहीं" है, बडा प्रलोभन होता है। ऐसा करना अपचयन-दोष है।

"विचार तन्त्रिकाओ के पथ से मस्तिष्क मे पहुँचने वाले विद्युत्-रासायनिक आवेगो के अलावा कुछ भी नही है।" "दर्द तन्त्रिकाओ के सिरो के (एक प्रकार के) उद्दीपन के अलावा कुछ नही है।" "ध्वनि वायु के (या किसी और माध्यम के) एकातर क्रम मे होनेवाले सघनन और बिरलन के अलावा कुछ नही है।" "रग प्रकाश के तरग-दैर्घ्य के अलावा कुछ नही है।" "ताप अणुओ की गतियो के अलावा कुछ नही है।" थोडी देर हम इस तरह के कथनो पर विचार करते है।

जब विचार पैदा होते है तब मस्तिष्क के अदर तन्त्रिकीय प्रक्रियाएँ चलती है। यह सचमुच एक तथ्य लगता है कि विचार कभी तन्त्रिकीय प्रक्रियाओ के अभाव मे नही होते। दूसरे शब्दो मे, मस्तिष्क की तन्त्रिकीय प्रक्रियाएँ विचारो के होने के लिए अनिवार्य हैं। परतु यदि अ ब के लिए अनिवार्य है, तो अ और ब एक और अभिन्न नही है। अ स्वय अपने लिए अनिवार्य कैसे हो सकता है ? यदि ब का होना अ के ऊपर आश्रित है, तो तथ्यत: दो चीजें हैं, एक अ और दूसरी ब। सामान्य रूप से यह एक इद्रियानुभविक तथ्य लगता है कि मानसिक जीवन बिल्कुल ही मस्तिष्क की सक्रियता पर आश्रित है। यदि मस्तिष्क के कुछ भाग क्षतिग्रस्त हो जाएँ या निकाल दिए जाएँ तो चेतना के

कुछ अंश सदा के लिए समाप्त हो जाएँगे। परंतु यह कहना कि चेतना पूर्णतः मस्तिष्क की क्रिया पर आश्रित है इस कथन से बहुत दूर की बात है कि चेतना मस्तिष्क की क्रिया है। उदाहरणार्थ, यह हो सकता है कि दर्द का संवेदन तंत्रिकाओं के सिरों के उद्दीपन के साथ कार्य-कारण-संबंध रखता हो, परंतु फिर इसका भी यह मतलब नहीं है कि वह यह उद्दीपन मात्र है। अपनी तंत्रिकाओं के सिरो के बारे में कुछ भी जाने बिना, यहाँ तक कि अपने अंदर किसी ऐसी चीज का होना जाने बिना ही, आप जान सकते हे कि आपको दर्द का अनुभव होता है। यह जानने के लिए कि आपको दर्द महसूस होता है आपको शरीरक्रियाविज्ञान पढने की जरूरत नही होती, हालांकि दर्द के कारणों की जानकारी के लिए यह जरूरी है।

प्रकाश के तरग-दैर्घ्यों और हमे रंग के जो सवेदन होते है उनके बीच पूरा सहसबंध तक नही है। सामान्यतः हम लाल तब देखते हे जब प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य ५५० और ७०० ऐंग्स्ट्रम मात्रको के बीच होते हे। परंतु यदि आप अंधे है, या आपकी आँखे बंद हे, या आप वर्णांध है तो आपको इस तरग-दैर्घ्य वाले प्रकाश की उपस्थिति मे भी लाल बिल्कुल नही दिखाई देगा। और यदि आपको लाल ड्रैगन का अपभ्रम हो रहा है, या आप अपनी आँखो के आगे लाल धब्बे देख रहे है, अथवा सपने मे लाल चीजें देख रहे है, तो आपको अपेक्षित तरंग-दैर्घ्य वाले प्रकाश के अभाव मे ही (कम-से-कम उस क्षण मे) लाल का अनुभव हो रहा है। यदि लाल को देखने और किसी भौतिक अवस्था के मध्य कोई सहसंबंध है, तो वह उसके संवेदन के और मस्तिष्क की एक विशिष्ट अवस्था (अभी हमें नही पता कि वह अवस्था क्या है) के मध्य है—उस अवस्था के जो सामान्यतः (पर सदैव नहीं, जैसा कि हम देख चुके हैं) अपेक्षित तरग-दैर्घ्य वाले प्रकाश के द्वारा आँख के रेटिना के उद्दीपन के अनतर होती है।

भौतिकीविद् अवश्य ही रंगबोधक शब्दो की परिभाषा तरग-दैर्घ्यों के रूप मे देता है। ऐसा करने का उसे पूरा अधिकार है, क्योकि उसे इच्छानुसार शब्दो के प्रयोग की आजादी प्राप्त है (पृ० १२-३)। परतु एक क्षण के लिए भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि लाल का अनुभव होता ही नही है। कोई भी परिभाषा जो अस्तित्व रखता है उसमे से रत्ती भर भी कम नहीं कर सकती (पृ० ४८-९)। भौतिकीविद् संवेदन की उपेक्षा मात्र कर रहा

है। उसका काम भौतिक स्थितियों का अध्ययन करना होता है, न कि अनुभवों का। इसलिए वह "लाल" की परिभाषा उन भौतिक स्थितियों के द्वारा देता है जिनमें हम सामान्यतः लाल को देखते है। निश्चय ही, हम तरंग-दैर्घ्यों को नही देखते ; हम लाल को देखते है, और भौतिकीविद् यह बताकर हमे एक उपयोगी सूचना दे रहा है कि हम सामान्यतः उसे अमुक परिस्थितियो मे देखते हैं। वह परिभाषा संबंधित अनुभव का बोध करानेवाले शब्द को नही दे रहा है, वल्कि उन स्थित्तियों का बोध करानेवाले शब्द को दे रहा है जिनमें वह अनुभव सामान्यतः होता है। (सवेदन का बोध करानेवाला शब्द अन्य शब्दों के द्वारा अपरिभाष्य हो सकता है— देखिए पृ० ९२-७)। यह जानने से पहले कि यह अनुभव प्रायः इन विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों मे होता है, हम जानते थे कि वह कैसा होता है और लोग शताब्दियो से यह जानकारी रखते थे। ठीक यही विश्लेषण ध्वनियों के प्रसंग में भी लागू होता है।

यदि हम ताप के संप्रत्यय को उदाहरण बनाते है तो वहाँ भी यही विश्लेषण लागू होगा। "ताप अणुओं की गति है।" यदि मतलब ताप के अनुभव से है तो यह बिल्कुल पक्की बात है कि वह अणुओ की गति नही है। सच्ची बात यह है कि सामान्यतः जब अणुओं की गति अधिक तेज हो जाती है तब हमें अधिक तीव्र ताप का अनुभव होता है, और (एक सीमा तक) जितना एक बढ़ता है उतना दूसरा भी बढ़ता है। परतु यह यह कहने के बराबर नही है कि ताप का अनुभव वही चीज है जो अणुओं की गति है।

मामले को कुछ और जटिल बनाने के लिए अब मान लीजिए कि कोई ताप को एक नलिका के अंदर भरे हुए पारे के फैलने की मात्रा बताता है। यहाँ भी, वह "ताप" की यह परिभाषा देने के लिए आजाद है। परंतु इससे न तो अणुओ की गति का और न ताप के संवेदन का ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है। चूँकि हम अणुओं की प्रत्यक्ष जाँच नही कर सकते, इसलिए हम थर्मामीटर के अंदर भरे हुए पारे की ऊँचाई को अणुओं की गति की तीव्रता की मात्रा मान लेते है। हम ऐसा इसलिए करते है कि समुचित इंद्रियानुभविक हेतुओ के आधार पर हम यह विश्वास करते हैं कि इस आणविक गति की तीव्रता तथा पारे की ऊँचाई के मध्य एक घनिष्ठ और विश्वसनीय संबंध है। वहुत ही ऊँचे तापमानो पर पारे की नली का आणविक गति के सूचक के रूप मे उपयोग हम इसलिए बंद कर देते हैं कि यह संबंध वहाँ भंग हो

जाता है (ऐसा हमारा विश्वास है)। दूसरे शब्दों में, विचार करने पर कोई भी ताप का नलिका में भरे पारे की ऊँचाई से अभेद नहीं करेगा ; वह पारे को ताप का सूचक ही मानेगा। ये दोनों निश्चित रूप से भौतिक हैं और ताप के अनुभव से भिन्न हैं। आणविक गति और उस अनुभव के मध्य तथा पारे की ऊँचाई और उस अनुभव के मध्य भी सहसंबंध बहुत कम विश्वसनीय होता है : उदाहरणार्थ, यदि आपको ज्वर है तो कमरे के अंदर थर्मामीटर के अनुसार तापमान ६०° फा० होने पर भी आपको पानी को खौला देनेवाली गर्मी महसूस होगी।

"ताप का असली अर्थ क्या है ? ताप स्वयं क्या है ? भाषा और अर्थ के अध्ययन के बाद ऐसे सवाल स्पष्टतः मूर्खतापूर्ण लगेंगे। किसी भी अन्य शब्द की तरह "ताप" शब्द भी केवल उतना ही अर्थ रखता है जितना इसका प्रयोग करनेवालों ने इसे दिया है ; और कालक्रम के अनुसार पहला अर्थ इसका उस प्रकार का विशेष अनुभव है जिससे हम सभी परिचित हैं। इसी अर्थ में हम अब भी दैनिक व्यवहार में इसका सबसे अधिक प्रयोग करते हैं और थर्मामीटरों या आणविक गति की कोई जानकारी होने से पहले हम इसी अर्थ को जानते हैं। आणविक गति के अर्थ में "ताप" का प्रयोग केवल सत्रहवीं शताब्दी में आधुनिक विज्ञान के उद्भव के बाद ही चला। इनमें से कोई भी "असली अर्थ" नहीं है। दोनों ही वैध अर्थ है, और जब तक हम इस शब्द का प्रयोग दुनिया में किसी चीज के अस्तित्व का निषेध करने के लिए नहीं करते तब तक दोनों ही हानिरहित हैं। अपचयन-दोष में ठीक यही बात होती है, विशेष रूप से तब जब लोग भौतिकी के बारे में थोड़ा-सा जानते हैं और शब्दार्थविज्ञान के बारे में कुछ भी नही। "ताप केवल आणविक गति है ; बस केवल इतनी ही बात है, इससे अधिक वह कुछ नहीं है।" जैसे कि मानो अणुओं के बारे में सुनने से पहले शताब्दियों तक लोग ताप के बारे में बकवास ही करते रहे हों। कोई इस बात से इन्कार नहीं करता कि अणु नाम की चीजें हैं ; कोई इस बात से इन्कार नहीं करता (अथवा इससे इन्कार नहीं होना चाहिए) कि ताप के अनुभव होते हैं। दोनों ही का अस्तित्व है और ऐसा लगता है कि दोनों के मध्य कारण-कार्य-संबंध है। कोई भी परिभाषा इनमें से किसी बात के अस्तित्व को नही मिटा सकती।

फिर भी, कम-से-कम हमारी शताब्दी में अपचयन-दोष उतना ही अधिक

व्यापक है जितना यह सरल है। यह भौतिकवाद के नाम से प्रसिद्ध मत मे फिर प्रकट होता है।

भौतिकवाद—"भौतिकवाद" शब्द का प्रयोग प्राय: इस मत का बोध कराने के लिए होता है कि हर चीज भौतिक है और कोई भी चीज मानसिक नही है : "सब भौतिक है, मन या आत्मा कही नही है।" यहाँ भी फिर वही हमारा जाना-पहिचाना प्रश्न उत्पन्न होता है · इसका ठीक-ठीक क्या अर्थ है ?

१. यदि "मन" की कोई ऐसी परिभाषा दी जाती है जिसके अनुसार वह मानसिक घटनाओ के सघात से कुछ अधिक, जैसे कोई द्रव्य, जिसमे मानसिक घटनाएँ समवेत रहती है, माना जाता है, तो कुछ दार्शनिक इस बात से सहमत होगे कि ऐसी कोई चीज नही है। (इस प्रश्न पर हम इस अध्याय मे ही बाद मे विचार करेंगे।) फिर भी, ऐसे लोग भौतिकवादी नही होगे, क्योकि तब भी मानसिक घटनाओ मे उनका विश्वास होगा। तो हम एक और अर्थ पर ध्यान देते है।

२. यह अर्थ भी हो सकता है कि मानसिक घटनाएँ वास्तव मे है ही नही : न विचार हैं, न सवेदन है, न सवेग हैं—चेतना की कोई भी अवस्थाएँ नही है। परतु यह मत इतना मूर्खतापूर्ण है कि यह विश्वास करने का मन नही होता कि किसीने कभी इसे माना होगा। एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो यह सोचता हो कि विचार होते ही नही है : क्या वह यह नही सोचता कि उसका मत सही है ? पर तब कम-से-कम एक विचार तो है, और वह यह कि यह मत सत्य है। यदि यही "भौतिकवाद" का अर्थ है तो वह स्वय ही अपना खडन कर देता है।

३ तो फिर अधिक प्रसभाव्य अर्थ यह है। विचार, सवेदन इत्यादि होते अवश्य है, परतुर वे स्वरूपत भौतिक है, न कि मानसिक। निश्चय ही, यहां बात पूरी तरह इसपर निर्भर करती है कि कोई "भौतिक" शब्द का प्रयोग कितने विस्तार के साथ करने के लिए तैयार है : यदि वह इसका प्रयोग इतने अधिक विस्तार के साथ करता है कि हर चीज, वह चाहे जैसी हो, इसके अतर्गत आ जाती है, तो यह निष्कर्ष निकालने मे कि हर चीज भौतिक है, उसे आसानी से विजय मिल जाती है, हालांकि यह विजय खोखली है—यह उसी तरह की विजय है जैसी यह कहनेवाले व्यक्ति की कि हर चीज रग म नीली है, जिसमे "नीली" शब्द का प्रयोग इतने विस्तृत अर्थ मे किया जा रहा है कि

उपयोगी है। परतु इस सबके अतिरिक्त मुझे लाल का सवेदन भी होना है। व्यवहारवादी जो मेरी प्रतिक्रियाओ का अध्ययन कर रहा है, मेरे अदर कहीं भी लाल के उस सवेदन को नही पाता। यदि झडा उसके दृष्टि-क्षेत्र के अंदर है तो स्वय उसके अदर भी लाल का यह सवेदन होगा ; परंतु हम बात उसके सवेदन की नही बल्कि मेरे सवेदन की कर रहे है। मेरी शारीरिक प्रतिक्रियाओं के अधिक-से-अधिक पूर्ण वर्णन मे भी जो मैं देखता हूँ वह, यानी मेरे ऐंद्रिय दत्त, नही आ पाते, तथा इसी तरह जो मैं देखता इत्यादि हूँ वह नही शामिल होता। व्यवहारवादी मेरे भावो और सवेगो को, मेरे विचारो और स्वप्नो को भी नही पा सकता। वह मेरी प्रतिक्रियाओ का अध्ययन करके उनके बारे मे अटकल ही लगा सकता है ; परतु मेरी अनुभूति का रूप उसकी पकड़ मे नही आ पाता। वह मेरा तडपना देख सकता है, परतु मेरे दर्द को महसूस नही कर सकता। वह मेरा मुस्कराना देख सकता है, मेरी पेशियो के तनाव को माप सकता है, मेरे हृदय-स्पदो को गिन सकता है, यह पता लगा सकता है कि मेरी ग्रथियाँ क्या कर रही है, पर वह मेरी प्रसन्नता को महसूस नही कर सकता। यह तथा मेरे चेतन अनुभव के शेष सभी अश मेरे निजी हैं (केवल मुझे ही ज्ञात हैं)।[1]

ब. मानसिक और भौतिक का संबंध

भौतिक घटनाएँ और प्रक्रियाएँ होती है, तथा मानसिक घटनाएँ और प्रक्रियाएं होती हैं और इस बात का उनपर कोई प्रभाव नही होता कि हम भौतिक और मानसिक के द्रव्यबोधक शब्दो की क्या व्याख्या करते हैं। तो, इन घटनाओ और प्रक्रियाओ का परस्पर क्या सबध है ? क्या वे एक-दूसरी को प्रभावित करती हैं, और यदि करती हैं तो कैसे ? इस बात के बारे मे जो मुख्य परपरागत सिद्धात हैं उनपर हम विचार करते हैं :

१. अन्योन्यक्रियावाद— अन्योन्यक्रियावाद एक सीधे-सादे "सामान्य बुद्धि को सहज लगनेवाले" मत के रूप मे शुरू होता है। इससे अधिक स्पष्ट क्या होगा कि भौतिक घटनाएँ मानसिक घटनाओ को पैदा करती हैं और मानसिक घटनाएँ भी भौतिक घटनाओ को पैदा करती हैं ? आपके सिर पर मुक्का पड़ता है (भौतिक घटना) और आपको दर्द महसूस होता है (मानसिक

---

१. ह्यूस्टन स्मिथ, एक्सिटिंग द फिलॉसफी, पृ० १२९-३० ।

घटना); प्रकाश की किरणें आपके रेटिना से टकराती है (भौतिक घटना) और आपको एक दृष्टि-सवेदन होता है (मानसिक घटना)। जब भी कोई भौतिक उद्दीपन हमारी चेतना मे कुछ अकित करता है तब हमे इस बात का पक्का प्रमाण मिल जाता है कि भौतिक घटनाएँ मानसिक घटनाओ को उत्पन्न करती है। यह भी इतना ही स्पष्ट है कि मानसिक घटनाएं भौतिक घटनाओ को उत्पन्न करती है : आपको डर महसूस होता है (मानसिक घटना) और आपका दिल जोर से धडकने लगता है (भौतिक घटना); आप बाहर निकलने का निश्चय करते है (मानसिक घटना) और आपके पैर बाहर की ओर पडते हैं (भौतिक घटना)। जब भी आप किसी काम का सकल्प करते हैं और उसके फलस्वरूप वह काम कर डालते हे तब वह सदैव इस बात का पक्का प्रमाण होता है कि मानसिक घटनाएँ भौतिक घटनाओ को उत्पन्न करती हे। दूसरे शब्दो मे, मन और शरीर परस्परक्रियाशील होते है। यह सत्य है कि जहाँ तक हमे जानकारी है, शरीर मन के ऊपर मस्तिष्क के अलावा किसी माध्यम से क्रिया नही करता, और मन भी शरीर को मस्तिष्क की मध्यस्थता के अलावा किसी भी तरह प्रभावित नही करता ; मस्तिष्क, जो कि स्वय भौतिक है, अन्य भौतिक अवस्थाओ और मानसिक अवस्थाओ को जोडनेवाली कड़ी है। इस प्रकार दोनो के बीच परस्परक्रिया केवल अत्यधिक विशिष्टीकृत स्थितियो मे ही होती है; पर होती वह अवश्य है।

परस्परक्रियावाद मे जो मुख्य दोष परपरानुसार पाया गया है उसे इस रूप मे बताया जा सकता है - शरीर मन को या मन शरीर को कैसे प्रभावित करता है ? जब हमे रोशनी के चमकने का बोध होता है तब क्या होता है ? अधिकाश बातें काफी साफ हैं, हालाँकि उनका ब्यौरा अत्यत जटिल है - वही रेटिना, दृष्टि तत्रिका, मस्तिष्क इत्यादि की पुरानी कहानी है। हम भौतिक आवेगो की एक अविच्छिन्न शृखला को ढूंढ सकते हैं। परतु तब क्या होता है जब हम मस्तिष्क मे पहुँचते हें ? जब तक हम मस्तिष्क मे रहते हैं तब तक कोई कठिनाई नही होती : मस्तिष्क मे जो कुछ होता है, उसका पता लगाना अवश्य ही अत्यधिक कठिन होता है, परतु यह कठिनाई केवल तकनीकी है। लेकिन उस मानसिक घटना के बारे मे क्या कहना है जिसका एक मस्तिष्कीय घटना के फलस्वरूप होना माना गया है, यानी मस्तिष्क की उस अतिम घटना के बाद होना जो मानसिक घटना के होने के ठीक पहले होती है ?

उसका तो स्थान भी निर्धारित नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क की वह अवस्था उसे कैसे उत्पन्न करती है ?

जब हम किसी मानसिक घटना (जैसे एक संकल्प) के द्वारा एक भौतिक घटना (जैसे एक शारीरिक गति) के उत्पन्न होने की बात पर विचार करते है तब तो यह कठिनाई और भी अधिक महसूस होती है। मस्तिष्क से तंत्रिका-पथों को उद्दीपन मिलता है; पर संकल्प से मस्तिष्कस्थ केंद्र कैसे उद्दीप्त होते है ? संकल्प एक मानसिक घटना होता है और इसलिए वह मस्तिष्क के किसी भी भौतिक कण को उपयुक्त उद्दीपन प्रदान करने के लिए शायद ही छू सकेगा; परंतु फिर उनमें गति पैदा करने का उपाय ही अन्यथा क्या है ? अन्योन्यक्रियावादी कहता है कि उनमें गति मानसिक घटना के द्वारा पैदा की जाती है, परंतु आलोचक इस वस्तुस्थिति की कल्पना करने में (दिक्‌निरपेक्ष संकल्प के द्वारा मस्तिष्क के दिक् में स्थिति रखनेवाले एक अंश को प्रभावित करने की बात की) स्वयं को असमर्थ पाता है। अन्योन्यक्रियावादी कहेगा, "निश्चय ही आप इसकी कल्पना नही कर सकते क्योंकि मानसिक घटनाएँ देशिक नही होती, विस्तारयुक्त नही होती, और इसलिए कल्पना में उनका चित्र बनाया ही नही जा सकता।" परंतु आलोचक को इससे भी संतोष नही होता। वह इस संबध के बारे में और अधिक जानना चाहता है : मन एक भौतिक घटना को पैदा करने के लिए शरीर के ऊपर क्रिया कर ही कैसे सकता है ?

निस्संदेह यह कठिनाई अधिकांशत इस बात से पैदा होती है कि कारणता की हमारी धारणा अवांछित रूप से संकीर्ण है। यदि आप यह मानकर चलते है कि जब तक क ख के ऊपर क्रिया नही करता तब तक क और ख के बीच कारण-कार्य-संबंध नही हो सकता, तो मन और शरीर तथा शरीर और मन के कारण-कार्य-संबंध को लेकर आपको अवश्य परेशानी महसूस होगी, क्योंकि एक चीज दूसरी के ऊपर शाब्दिक अर्थ में क्रिया तब तक नही कर सकती जब [illegible] भौतिक चीजें न हों। परंतु सब कारण-कार्य-संबंध क्रियारूप क्यों [illegible] कि भौतिक भौतिक जगत् तक में कारण-कार्य-संबध के ऐसे उदाहरण हैं जिनमें [illegible] भी भो यह समझ पाना कठिन या असंभव होता है कि एक वस्तु दूसरी के [illegible] कैसे क्रिया करती है। गुरुत्वाकर्पण में सूर्य ग्रहों के ऊपर कैसे क्रिया करता है [illegible] यह उदाहरण पुराने बिलियर्ड की गेंदों के उदाहरण से,

जिसमे पहली गेद दूसरी से टकराती है और उसमे गति पैदा करती है, बहुत दूर की बात बताता है। दूसरे शब्दो मे, दूरी पर क्रिया का होना सही लगता है (जैसे गुरुत्वाकर्षण, चुम्बकत्व, कास्मिक किरण इत्यादि मे): अर्थात् एक पिंड के दूसरे पर क्रिया किए बिना उनमे कारण-कार्य-संबध हो सकता है। हम जानते है कि पहला दूसरे का कारण है, पर हम दोनो के बीच किसी प्रकार का सपर्क नही दिखा सकते (बशर्ते हम सपर्क करानेवाले किसी द्रव्य की प्राक्कल्पना न कर लें, (देखिए पृ० ४६८-७०)। (२) अनेक उदाहरण ऐसे है जिनमे हम केवल यही कह सकते है कि कारण कार्य-सबध अवश्य है—कि क ख के होने की पर्याप्त उपाधि है—पर हम यह नही बता सकते कि कैसे या किस तरीके से कारण-कार्य-सबध बनता है। लेकिन यह जानना अलग बात है कि क ख का कारण है और यह जानना अलग कि कैसे वह उसका कारण है। हम पहली बात को दूसरी को जाने बिना जान सकते है। जैसे सूर्य के अन्य ग्रहो के ऊपर होनेवाले गुरुत्वाकर्षणात्मक प्रभाव के प्रसग मे वैसे ही इन उदाहरणो मे भी हम केवल इतना ही कह सकते है कि "ऐसा होता ही है, बस"। मन और शरीर के संबध के बारे मे भी यह बात सच हो सकती है।

शायद इस बात को लेकर हमे बेचैनी महसूस होती है। हम कहेंगे, "भौतिक और मानसिक के सबध की व्याख्या आखिर नही हो पाई—उसे हवा मे लटकता ही छोड़ दिया गया है और कोई बात ऐसी नही बताई गई है जिससे उसका स्पष्टीकरण हो।" पर व्याख्या का क्या अर्थ होता है (पृ० ३५६-६०)? किसी घटना की तब व्याख्या होती है जब वह किसी नियम (या नियमो के समुच्चय) के अतर्गत आ जाती है और किसी नियम की व्याख्या तब होती है जब वह किसी अन्य अधिक आधारभूत नियम (या सिद्धात) का परिणाम सिद्ध हो जाता है। परतु जब हम प्रकृति के एक अतिम अथवा "वस्तुतः आधारभूत" नियम मे पहुँच जाते हैं तब हम और व्याख्या नही कर सकते (आधारभूत नियम की व्याख्या का क्या अर्थ होगा? उसकी व्याख्या हम किससे करेंगे?); हम उस एकरूपता का केवल कथन ही कर सकते है। मानसिक और भौतिक के सबधो मे विचित्र बात यह लगती है कि उनसे सबधित सभी नियम आधारभूत है। उदाहरणार्थ, हम नहीं कह सकते कि अमुक भौतिक अवस्था किसी और सवेदन (जिसे हम "पीला',

"दर्द" या "तीखी गंध" कहते है) को छोड़कर क्यों इसी विशेष संवेदन (जिसे हम "लाल" कहते हैं) से सदैव संबद्ध रहती है। हम कोई ऐसा अन्य नियम नही जानते जिससे इस नियम को व्युत्पन्न किया जा सके। हम इस एकरूपता का केवल कथन ही कर सकते हे।[1]

पर चिंता का एक और भी कारण हो सकता है। क्या अन्योन्यक्रियावाद का भौतिकी के एक सुस्थापित सिद्धात, ऊर्जा-सरक्षण-सिद्धांत, से विरोध नही होता ? इस सिद्धात के अनुसार विश्व मे ऊर्जा की मात्रा सदैव समान वनी रहती है। जव मेरा पैर एक कील के ऊपर पडता है और मेरी पेशियों, तन्त्रिकाओं और मस्तिष्क में भी इस (भौतिक घटना) के साथ-साथ कुछ अन्य घटनाएँ होती हैं तथा इनके फलस्वरूप मुझे दर्द महसूस होता है (मानसिक घटना) तव क्या भौतिक ऊर्जा नष्ट होती है ? और जव मैं कमरे से वाहर जाने का निश्चय करता हूँ और इसके परिणामस्वरूप मेरा शरीर चलने लगता है, तव क्या भौतिक ऊर्जा पैदा होती है ? परंतु ऊर्जा के इस तरह अकस्मात् आने या नष्ट होने का कोई प्रमाण अभी तक नही मिला है। यदि अन्योन्यक्रियावाद भौतिकी के एक ऐसे नियम के विरुद्ध है जो निश्चित रूप से उसकी अपेक्षा अधिक सुस्थापित है तो वह सत्य कैसे हो सकता है ?

पहले हम देखते है कि ऊर्जा-सरक्षण-सिद्धात क्या कहता है।

ऐसा पाया जाता है कि यदि हम कुछ भौतिक तंत्रो को लें, जैसे एक वदूक, एक कारतूस और एक गोली को, तो एक परिमाण होता है जो उनके सभी परिवर्तनो के दौरान लगभग स्थिर वना रहता है। उसे "ऊर्जा" कहते है। जव वदूक चली नही होती है तव वह और गोली गतिहीन होते हैं, परंतु कारतूस के अदर भरा हुआ विस्फोटक अत्यधिक रासायनिक ऊर्जा से युक्त होता है। जब वदूक चल जाती है तव गोली वहुत तेज गति से जा रही होती है और उसमें गति की अत्यधिक ऊर्जा होती है। वदूक यद्यपि पीछे की ओर वहुत तेजी से नही जाती होती, तथापि उसके अदर भी गति की अत्यधिक

---

१. देखिए जॉन स्टुअर्ट मिल, ए सिस्टम ऑफ लॉजिक, खंड ३, अध्याय १८, परिच्छेद २। मिल के विचार में भौतिक अवस्थाओं और मानसिक अवस्थाओं के संबंधों को बतानेवाले सभी नियम आधारभूत नियम हैं।

ऊर्जा होती है, क्योंकि वह बहुत स्थूल होती है। विस्फोट से उत्पन्न गैसें कुछ तो गति की ऊर्जा रखती हैं और कुछ ऊष्मा की ऊर्जा, परंतु जितनी रासायनिक ऊर्जा चार्ज में विस्फोट से पहले थी उसकी तुलना में बहुत कम रासायनिक ऊर्जा रखती हैं।" ऊर्जा के इन विभिन्न प्रकारों को कुछ परिपाटियों के अनुसार समान मात्रकों में मापा जा सकता है। इस अवस्था में अबोध लोगों को बहुत "गोलमाल" लगता है, अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि ऊर्जा-संरक्षण-सिद्धात को अंत में सही निकालने के लिए अनेक परिपाटियाँ अपना ली गई है और छिपी हुई ऊर्जा के अनेक प्रकारों तथा मात्राओं को मान लिया गया है।...... इसके बाद ऐसा पाया जाता है कि इस तंत्र में रहनेवाली ऊर्जा के सभी प्रकारों का योग इन परिपाटियों के अनुसार मापे जाने पर विस्फोट के बाद मात्रा में लगभग उतना ही निकलता है जितना उसके पहले, हालांकि तब उसका वितरण बहुत ही भिन्न होता है।[1]

दूसरे शब्दों में, गोली, बंदूक और चार्ज सम्मिलित रूप में एक "संरक्षी तंत्र" है जिसमें ऊर्जा की कुल मात्रा स्थिर बनी रहती है (इन तीन चीजों में प्रत्येक अकेली एक संरक्षी तंत्र नहीं है)। मानव-शरीर भी एक संरक्षी तंत्र हो सकता है, हालांकि इसका निश्चायक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। परंतु यह मानते हुए कि वह ऐसा है, यह पूछा जा सकता है कि जब भौतिक द्रव्य मन को प्रभावित करता है तब भौतिक ऊर्जा का क्या होता है और जब मन भौतिक द्रव्य को प्रभावित करता है तब भौतिक ऊर्जा कहां से आ जाती है ? ऊर्जा के इस प्रकार विनष्ट होने या एकाएक प्रकट होने का अभी तक कोई प्रमाण नही मिला है।

परंतु ऐसा हो ही क्यों? यह निष्कर्ष कि मन भौतिक द्रव्य को प्रभावित नहीं करता और भौतिक द्रव्य कभी मन को प्रभावित नही करता—

.... ऊर्जा के संरक्षण तथा प्रायोगिक तथ्यों से अकेले निगमित नही होता। असली आधारिका तो कार्यकारणभाव के बारे में अव्यक्त रूप से मान ली गई यह प्रतिज्ञप्ति है : यदि अ मे होनेवाले एक परिवर्तन का ब में होनेवाले किसी परिवर्तन से कोई संबंध है तो ऊर्जा को अ से निकलकर ब मे प्रवाहित होना

---

१. सी० डी० ब्रॉड, दि माइन्ड ऐंड इट्स प्लेस इन नेचर, पृ० १०३-४।

चाहिए। यह न तो ऊर्जा-सरक्षण-सिद्धात स्वयं कहता है और न उससे अनुलग्न ही है। वह केवल यह कहता है कि यदि अ से ऊर्जा का निष्क्रमण होता है तो उसे किसी और चीज मे, जैसे ब मे, प्रकट होना चाहिए, जिससे अ और ब के मेल से एक संरक्षी तंत्र बन जाता है।"[१]

चूंकि ऊर्जा संरक्षण-नियम ऊर्जा के किसी "स्थानातरण" के बारे मे कुछ नही कहता, इसलिए उसमे ऐसी कोई बात नहीं है जो अन्योन्यक्रियावाद से असगति रखती हो।

पर एक और मत है जिसके अनुसार भौतिक और मानसिक के मध्य कोई कारण-कार्य सबध नही है :

२. **मनोदैहिक समांतरवाद** —समातरवादी यह मानते है कि मन और भौतिक द्रव्य के मध्य कोई कारणात्मक सबध नही है : बात ऐसी है जैसे कि मानो ये दो प्रकार की घटनाएँ एक-दूसरी को छुए बिना ही दो समातर पथो पर चलती हो। प्रत्येक मानसिक घटना के समातर मस्तिष्क मे एक भौतिक घटना होती है (उसकी "भौतिक सहसबधी")। परतु इसका विलोम ठीक नही है : अनेक भौतिक घटनाएँ, जैसे खाने का पचना, ऐसी होती है जिनका कोई भी मानसिक सहसबधी नही होता।

कोई भी सिद्धात इससे कैसे इन्कार कर सकता है कि भौतिक उद्दीपनो के मानसिक प्रभाव होते है और विलोमतः मानसिक के भौतिक प्रभाव होते है ? क्या यह उन प्रत्यक्ष तथ्यो के एकदम विपरीत नही है जिनका हमे रोज ही हजारो बार अनुभव होता है ? नही : समातरवाद अनुभव के किसी तथ्य का निषेध नहीं कर रहा है। वह किसी ऐसे कथन की सत्यता से इन्कार नही कर रहा है जैसे यह कि तेज रोशनी के कारण आपको सरदर्द हो गया है। वह केवल यह कहता है कि यथार्थत. यहाँ सबध कारणात्मक नही है और कि इस तरह बोलना जैसे कि यह सबध कारणात्मक हो, भाषा का शिथिल प्रयोग है। समातरवाद के अनुसार किसी भौतिक घटना का कारण सदैव कोई और भौतिक घटना होता है और इस अन्य भौतिक घटना का भी कारण अन्य भौतिक घटना होता है, और इसी तरह भौतिक घटनाओं की शृंखला बिना टूटे चलती रहती है। पर जब एक बहुत ही विशिष्ट स्वरूप वाली भौतिक घटनाएँ होती

१. वही, पृ० १०७।

हैं (अर्थात मस्तिष्क के अंदर के प्रमस्तिष्कीय वल्कुट मे होनेवाली घटनाएँ), तब उनके साथ-साथ एक तरह से मानो सगत देने के लिए मानसिक घटनाएँ भी होती है । परतु भौतिक घटनाएँ मानसिक घटनाओ को पैदा नही करती । इसके बजाय उनमे कोई एकैक-सहसबध होता है । मस्तिष्क की कुछ भौतिक अवस्थाओ तथा मानसिक अवस्थाओ के बीच कोई इस तरह का एकैक सबध होता है कि यदि एक मस्तिष्कीय अवस्था की सही-सही आवृत्ति हो तो तत्सबधित मानसिक घटना की भी सही-सही आवृत्ति हो जाएगी , और मस्तिष्क की भौतिक घटना तथा उसकी सहसबधी मानसिक घटना सदैव एकसाथ होती है ।

तो फिर समातरवाद के अनुसार सवेदन की प्रक्रिया मे जो कुछ होता है उसकी सही व्याख्या क्या है ? (दृष्टि के उदाहरण मे) प्रकाश की तरगें रेटिना से टकराती है , एक आवेग दृष्टि-तत्रिका के सहारे मस्तिष्क तक पहुँचता है । यह सब भौतिक है । क्या यह एक मानसिक घटना को पैदा नही करता ? नही । पैदा सदैव एक और भौतिक घटना होती है । इस उदाहरण मे पैदा एक मस्तिष्कीय घटना होती है, जो स्वय एक और मस्तिष्कीय घटना को पैदा करती है और इसी तरह आगे भी । परतु इन मस्तिष्कीय घटनाओ के साथ-साथ अब चेतना मे भी घटनाएँ (मानसिक घटनाएँ) होती हैं और सदैव होती है , पर वे उनके कारण नही होती ।

और न कोई मानसिक घटना ही कभी किसी भौतिक घटना का कारण बनती है । मान लीजिए कि पिछले पैरे मे उल्लिखित दृष्टि-सवेदन एक व्यजनो की किताब मे छपे हुए इन शब्दो को देखने का है "दालचीनी की एक चुटकी भी डाल दीजिए । ' तब क्या आपका मसालदानी तक जाने का इरादा नही होता ? और क्या इसके फलस्वरूप, अर्थात् उस इरादे के प्रभाव से आपके पैर उस दिशा मे नही चल पडते ? यहाँ भी समातरवादी का उत्तर "नही ' है । आपके पैर चलते हैं—यह मान लिया । पर यह गति पैदा किसी मानसिक घटना के प्रभाव से नही होती, बल्कि मस्तिष्कीय घटनाओ की एक शृंखला से होती है (पिछले पैरे मे बताई हुई शृखला की अतिम घटनाओ से), जो मस्तिष्क से निकलकर मेरुरज्जु मे से होती हुई पैरो तक जानेवाली कुछ (अपवाही) तत्रिकाओ को उद्दीप्त करती है, व पेशियो को प्रभावित करती है और आप चलने हैं । कारणो और कार्यों की पूरी शृखला को भौतिक

क्षेत्र में ही ढूंढ लिया जा सकता है। रेटिना के उद्दीप्त होने से लेकर चलने तक के पूरे समय (शायद एक सेकंड का एक अल्प अंश) मे जो कुछ हुआ उसके पूरे कारणात्मक विवरण के लिए आप कारणो और कार्यो की एक अटूट शृंखला को भौतिक क्षेत्र मे ही ढूंढ सकते हैं। इस कारणात्मक वर्णन मे और कुछ भी शामिल करने की जरूरत नही है। जो कुछ हुआ है उसके पूरे वर्णन मे निस्सदेह कुछ और भी शामिल होगा। उसमे मानसिक घटनाओ को भी लेना होगा, क्योकि समातरवाद निश्चय ही उनसे इन्कार नही करता। समातरवाद को इन्कार केवल उनको कारण और कार्य मानने से है।

समातरवाद के अनुसार क्या मन भौतिक जगत् मे कुछ भी करने मे असमर्थ एक निष्क्रिय द्रष्टा मात्र की हैसियत नही रखता ? नही। समातरवादी का कहना यह है कि यदि परिस्थिति को ठीक तरह से समझ लिया जाए तो नही। मान लीजिए कि पिछले पैरे मे भौतिक घटनाओ की जो शृंखला बताई गई है वह भ-१, भ-२, भ-३ इत्यादि है। भौतिक घटनाओ की यह शृंखला अविच्छिन्न है। अब एक स्थिति ऐसी आती है कि जब एक विशेष प्रकार की मस्तिष्कीय घटनाएँ होती है तब उनके साथ मानसिक घटनाएँ भी होती है। मान लीजिए कि यह भ-१२ पर शुरू होती है। तब भ-१२ के साथ-साथ म-१२ भी होती है; भ-१३ से सहसबधित म-१३ है; इत्यादि। म-१२ और भ-१२ के मध्य नियत सबध है : यदि भ-१२ की पुनरावृत्ति होती है तो उसके साथ ही म-१२ की भी पुनरावृत्ति होगी। (शायद ऐसी पूरी पुनरावृत्ति कभी न होगी, क्योंकि मस्तिष्क मे अकित स्मृति-सस्कार दूसरी मस्तिष्कीय अवस्था को बाह्य उद्दीपन के हूबहू वही रहने पर भी भिन्न बना देंगे, और उसी तरह की घटना के पहले हो चुकी होने की चेतना—स्मृति—उस मानसिक घटना को दूसरी बार भिन्न बना देगी।) अब हम यह मान लेते है कि भ-२५ पैरो का चलना अथवा, अधिक सही यह कहा होगा कि, उस प्रक्रिया की एक घटना है; और कि म-१५ वह इरादा (सकल्प) है तथा भ-१५ तत्सबधी मस्तिष्कीय घटना है जिसके बारे मे इस समय हम वास्तव मे कुछ भी नही जानते। अब भ-१५ घटनाओ की उस कारण कार्य शृंखला की एक मस्तिष्कीय घटना है जो आगे भ-२५ मे पहुँचती है, और इसके बिना भ-२५ कभी होगी ही नहा। म-१५ इस कारण-कार्य-शृंखला मे नही है; इस कारण-कार्य शृंखला मे म-१५ मानो भ-१५ की प्रतिनिधि है; केवल भ-१५ के द्वारा ही जगत् मे कोई प्रभाव

उत्पन्न होता है । जो भी हो, म-१५ इस प्रक्रिया के लिए आवश्यक है भ २५ वैसे ही म-१५ के बिना न हुई होती जैसे वह भ-१५ के बिना न हुई होती। दूसरे शब्दो मे, भ-१५ भ-२५ के लिए उतनी ही अनिवार्य उपाधि (तथा पर्याप्त उपाधि का अश) है जितनी भ-१५ है ।

मानसिक घटनाओ के बिना कभी कोई मकान नही बना और कभी कोई किताब नही लिखी गई । समातरवादी इसका निषेध नही करता । उसका केवल यह आग्रह है कि भौतिक जगत मे वास्तविक काम करनेवाली कभी मानसिक घटना अकेली नही रही बल्कि भौतिक क्षेत्र मे उसकी प्रतिनिधि रही —म-१५ नही बल्कि भ-१५ रही ।

यदि ऐसा है तो, जैसा कि समातरवादी कहता है, वैसे यह कहने मे कि म-१५ भ-२५ की एक अनिवार्य उपाधि तो है पर कारण नही है और, जैसा कि अन्योन्यक्रियावादी स्पष्टत कहता है, वैसे यह कहने मे कि वह उसका कारण है, कम-से-कम उसके होने के कारण का एक घटक है, क्या अतर है ? अतर कोई नही लगता । यदि म १५ सदैव भ-२५ के पहले होती है और भ २५ कदापि म-१५ के बिना नही होती, तो क्या म-१५ भ २५ का कारण उतना ही नही है जितना भ-१५ है ? क्या समातरवाद और अन्योन्यक्रियावाद का अतर भाषा मात्र का अतर नही है ? दूसरे शब्दो मे, एक शाब्दिक अतर मात्र नही है एक 'कारण" शब्द का प्रयोग करता है जबकि दूसरा उसी परिस्थिति मे इस प्रयोग से इन्कार करता है ? दोनो ही मतो के अनुसार भौतिक उद्दीपन मानसिक प्रभाव की पर्याप्त उपाधि का एक भाग होता है (और यदि सबमे नही तो अधिकतर प्रसगो मे एक अनिवाय उपाधि भी होता है), और दोनो ही मतो के अनुसार मानसिक घटना, जैसे एक सकल्प, भौतिक प्रभाव की, या भौतिक प्रभावो की एक शृ खला की, जैसे एक भवन के निमाण की, पर्याप्त उपाधि का एक भाग होती है (और कम-से-कम अधिकतर प्रसगो मे एक अनिवाय उपाधि भी), अन्योन्यक्रियावादी इसे एक कारणात्मक सबध कहता है, जैसा कि साधारण जीवन म हम भी वस्तुत कहते हैं । तो क्या समातरवादी उसे कारणात्मक कहने से इन्कार करके केवल हठ ही नही कर रहा है ? लाल को देखना भौतिक जगत्, जिसम मस्तिष्क भी शामिल है, की बहुत-सी बातो पर निभर करता है । यह कहने म क्या तुक है कि वह निर्भर तो उनपर करता है पर उनका काम नही है ? शायद समातरवादी के "मन न

किसी कोने में" अब भी यह धारणा बैठी हुई है कि कारणात्मक संबध में एक भौतिक वस्तु की दूसरी के ऊपर क्रिया अनिवार्य रूप से शामिल होती है—और चूँकि यह बात भौतिक-मानसिक के प्रसग में मौजूद नही होती, इसलिए वह इस संबंध को कारणात्मक कहने से इन्कार करता है। परंतु हम पहले ही देख चुके हैं कि यह आलोचना अनुचित है: अनेक घटनाएँ और प्रक्रियाएँ भौतिक जगत् तक में ऐसी है जिनमें कारण-कार्य-संबंध में एक चीज का दूसरी के ऊपर क्रिया करना शामिल नहीं होता। तो यहाँ इस बात का आग्रह क्यों किया जाए? मन और शरीर के सबध की बीसवी शताब्दी की चर्चाओं में समातरवाद के नाम के छँट-से जाने का मुख्य हेतु यह है कि "कारण" शब्द के अर्थ को लेकर झगड़ के मिट जाने के बाद उसमे और अन्योन्यक्रियावाद में कोई भी अतर नजर नही आता। मानसिक और भौतिक के मध्य जिस प्रकार का सबंध है उसे किसी भी अन्य सदर्भ में कारणात्मक कहा जाएगा और यहाँ उसे कारणात्मक कहने से इन्कार करने का कोई समुचित हेतु नहीं दिखाई देता।

परंतु अभी मानसिक-भौतिक के सबंध के बारे में एक और मत है जो हमारी प्रतीक्षा कर रहा है:

३. उपोत्पादवाद—इस मत के अनुसार मन शरीर के एक "उपोत्पाद" (गौण उपज) के अलावा कुछ भी नही है। उसका शरीर से संबंध धुएँ का इंजन से या परछाईं का आदमी से जो संबंध है उसकी तरह है। आदमी के चलने से उसकी परछाईं भी चलती है, पर परछाईं के चलने से आदमी नहीं चलता। इसी प्रकार शारीरिक मानसिक का कारण होता है, परंतु मानसिक कभी शारीरिक का कारण नही होता। यहाँ कारण-सबंध बिल्कुल एकतरफा है।

चित्रात्मक कल्पना के रोचक अंशों को इससे निकाल देने के बाद एक बड़ा दोष इस मत में यह दिखाई देता है कि पिछले दो मतों में जो कठिनाइयाँ पाई जा सकती हैं वे सब इसमें हैं। यह कहने के लिए कि भौतिक मानसिक का कारण है (भौतिक कारण और मानसिक कार्य), जो भी हेतु मिल सकता हो, वह यह कहने का भी आधार बन सकता है कि मानसिक भौतिक का कारण है, जैसा कि संकल्प के द्वारा शारीरिक गतियों की उत्पत्ति में स्पष्ट है। और जो भी हेतु यह कहने के विरुद्ध पाए जा सकते हों कि मानसिक भौतिक का कारण है, जैसा कि समातरवादी को कारणता में संपर्क को

आवश्यक मानने से मिल जाता है, वे यह कहने के भी विरुद्ध होगे कि भौतिक मानसिक का कारण है, जैसा 'भौतिक द्रव्य के कणो की गतियाँ मानसिक घटनाएँ कैसे पैदा करती है ?" पूछने मे प्रकट है। इस प्रकार दो अन्य मतो के बीच मे फंसकर (यदि समातरवादी को सपर्क इष्ट है तो ये दो मत अवश्य ही भिन्न है) उपोत्पादवाद स्वय ही छँट जाता है।

उपोत्पादवाद की जो विशेषता उसको स्वीकार करने मे सबसे अधिक बाधक है वह यह है कि चूकि मन कभी शरीर को प्रभावित नही करता इसलिए इसे मानने से आदमी इस बात से बँध जाता है कि भौतिक जगत् की घटनाओ का पूरा क्रम तब भी हूबहू वैसा ही हुआ होता जैसा अब है जब किसी भी मन का अस्तित्व न हुआ होता। परतु यह पूछा जा सकता है कि तब नगरो का निर्माण कैसे हुआ होता, किताबे कैसे लिखी जाती और धुनें कैसे बनाई जाती, कालेजो मे लोग पढने कैसे जाते और पढ़ाई कैसे होती, जब मानवीय मन दुनिया मे कोई प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता न रखते ? निश्चय ही, यदि दुनिया मे कोई बात सुस्पष्ट है तो वह यह कि मनो के अस्तित्व के कारण दुनिया भिन्न हो गई है। परतु उपोत्पादवादी इस निष्कर्ष को धैर्य के साथ स्वीकार करता है। जिस प्रकार आपका शरीर उन दिनो भी अस्तित्व रखता है जब आकाश मेघाच्छन्न रहता है और उसकी परछाईं नही बनती, ठीक उसी प्रकार (वह कहता है) मस्तिष्क तब भी सक्रिय रह सकता है जब उसकी क्रिया के साथ कोई मानसिक क्रिया न हो। आदमी के मस्तिष्क की कोशिकाओ की अत्यधिक जटिल क्रिया के बिना नगरो का निर्माण न हो सका होता और किताबे न लिखी जा सकती। परतु यह बात यह कहने से कही अधिक भिन्न है कि यदि चेतना का अस्तित्व न होता तो ये काम न किए जा सके होते। केवल चेतना के अस्तित्व को उनके कारण के रूप मे अनिवार्य मानने से ही वह इन्कार करता है। अब, यदि ठीक-ठीक कहा जाए, तो इस बात को सिद्ध करने के लिए हमे विश्व के पूरे इतिहास को दुबारा प्रदर्शित करना होगा जिसमे मानवीय मस्तिष्क हो और मानवीय चेतना न हो ताकि हम देख ले कि ऐसी परिस्थिति मे क्या होता है। लेकिन ऐसे प्रयोग को सफलतापूर्वक करने के लिए हमे यह जो प्रकृति का एक नियम (या नियमो की एक शृंखला) प्रतीत होता है कि जब भी एक भौतिक मस्तिष्कीय घटना भ होती है तब उसके अनुरूप एक मानसिक घटना म भी होती है और

विलोमतः जब भी एक मानसिक घटना म होती है तब उसके अनुरूप एक भौतिक मस्तिष्कीय घटना भ भी होती है, उसे हमे रोक देना होगा। यह बादवाला तथ्य (यदि उसे एक तथ्य माना जाए तो) हमारे प्रयोग को न केवल तकनीकी दृष्टि से अपितु इद्रियानुभविक रूप मे भी असंभव कर देगा।

४. **द्विपक्ष-सिद्धांत**—इस मत के अनुसार मानसिक और भौतिक घटनाएँ एकही अतर्निहित द्रव्य के दो पक्ष मात्र है। स्वय उस द्रव्य के बारे मे आम धारणा यह है कि उसे मनुष्य जान ही नही सकते, परतु उसके दो पक्ष, मानसिक और भौतिक, ज्ञात है। बात ऐसी है जैसे कि मानो आप एक गलियारे मे से जा रहे है जिसमे दाहिनी और बाईं, दोनो ओर एक-एक शीशा लगा है और दोनो ही शीशो मे आपका प्रतिबिंब पडता है। एक शीशा भौतिक है और दूसरा मानसिक और वे एक साथ एकही द्रव्य को यानी आपके विभिन्न पक्षो को प्रतिबिंबित करते है। शीशे के उदाहरण मे तो बात काफी आसानी से समझ मे आ जाती है, परतु मानसिक और भौतिक के सबंध के प्रसग में बात का समझ मे आना उतना आसान नही है। "एकही चीज के दो पहलू", "एकही सिक्के की दो सतहे" इत्यादि की बात करना बहुत आसान है ; परतु वह चीज ठीक ठीक क्या है जिसके मानसिक और भौतिक दो पक्ष ह ? ऐसा प्रतीत होगा कि एक रहस्य से (अथवा कम-से कम एक चरम तथ्य से) छुटकारा पाने की कोशिश मे हम एक और रहस्य मे उलझ गए है। यह कहने के बजाय कि मानसिक और भौतिक के सहसबध प्रकृति के अतिम नियम है, हम यह कहकर उनकी व्याख्या करने की चेष्टा करते है कि वे किसी अंतर्निहित द्रव्य के दो पक्ष है—ऐसे द्रव्य के जिससे कोई भी परिचित नही है और जिसका किसीको कोई भी ज्ञान नही है।

शायद द्विपक्ष-सिद्धात का सुझाव देनेवाली भाषा का जो लोग प्रयोग करते हैं वे अधिकतर वस्तुतः यही कहना चाहते हैं कि किसी रूप मे मानसिक और भौतिक अभिन्न हैं। परतु यह हमे अतिम मत मे पहुंचा देता है।

५. **अभेद-सिद्धात**—इस सिद्धात के अनुसार मानसिक अवस्थाएँ मस्तिष्क की किन्ही भौतिक अवस्थाओ से अभिन्न है। यह कहना कि आप अमुक मानसिक अवस्था मे हैं यह कहने के बराबर है कि आपके प्रमस्तिष्कीय वल्कुट म एक घटना हो रही है। आप शायद यह न जानें कि यह घटना क्या है, परतु दोनों फिर भी अभिन्न हैं। न केवल भौतिक मस्तिष्कीय अवस्थाएँ और

मानसिक अवस्थाएँ परस्पर सहसबधित है ("जब भी भ होती है तब म भी होती है") बल्कि वे हैं भी अक्षरश: एक ही घटना।

"अभिन्न" का यहाँ क्या अर्थ है ? (१) जब आप कहते हैं कि यह गोली उस गोली से अभिन्न है, तब आपका मतलब यह होता है कि उन दो गोलियो की हूबहू एकही विशेषताएँ हैं। दुनिया मे शायद दो अभिन्न गोलियाँ न हो, परंतु यदि होती तो उनकी विशेषताएँ बिल्कुल एकही होती : "अभिन्न" का यहाँ मतलब है "बिल्कुल एकही"। यदि दिक् के उसी भाग मे और काल के उसी खड मे अस्तित्व होने को एक विशेषता मानना है तो निश्चित रूप से दो गोलियों का अभिन्न होना तर्कतः असंभव होगा, क्योकि यदि वे एकही स्थान मे और एक ही काल मे है तो वे एक होगी न कि दो गोलियाँ। जब हम कहते हैं कि दो चीजें अभिन्न है तब हमारा मतलब प्राय: यह होता है कि देशिक और कालिक गुणों को छोडकर उनके शेष गुण बिल्कुल वही है। परतु "अभिन्न" का एक और भी अर्थ है। (२) जब आप कहते हैं कि अ ब से अभिन्न है, तब आपका मतलब साख्यिक अभेद से हो सकता है—यह कि वे अक्षरश: एकही चीज है। पुराने लोग यह सोचते थे कि प्रभात का तारा और साध्य तारा—दो तारे है, पर अब हम लोग जानते हे कि वे एक है—यानी शुक्र ग्रह। प्रभात का तारा और सध्या का तारा अभिन्न है : ये बिल्कुल एकही चीज है। इसी प्रकार हो सकता है कि दो खोजी एकही अज्ञात प्रदेश का मानचित्र बना रहे हो। ऐसा हो सकता है कि प्रत्येक विपरीत दिशा से आते हुए एक पवत को एक भिन्न नाम दे दे और बाद मे (मानचित्रो की तुलना करने के बाद) उन्हे पता चले कि पर्वत एकही है। जिन्हे दो पर्वत मान लिया गया था, वे सख्यात: अभिन्न है : वे बिल्कुल एकही पर्वत हैं। मन और शरीर के अभेद-सिद्धात के अनुसार भौतिक प्रमस्तिष्कीय अवस्थाएँ और मानसिक अवस्थाएँ सख्यात: अभिन्न है : वे अक्षरश. एकही हैं।

जब मैं कहता हूँ कि सवेदन एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया है या तड़ित् (बादलों मे चमकनेवाली बिजली) विद्युत्-विसर्जन है, तब मैं "है" का प्रयोग बिल्कुल अभिन्न होने के अर्थ मे कर रहा हूँ। (ठीक वैसे ही जैसे इस—अनिवार्य—प्रतिज्ञप्ति मे : "७ उस लघुतम अभाज्य सख्या से अभिन्न है जो ५ से बडी है।") जब मैं कहता हूँ कि सवेदन एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया है या तड़ित् विद्युत्-विसर्जन है, तब मेरा मतलब सिर्फ यह नही होता कि सवेदन किसी

तरह देशिक या कालिक रूप से मस्तिष्कीय प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ है या तड़ित् विद्युत्-विसर्जन के साथ देशिक या कालिक रूप से जुड़ी हुई है।[1]

परतु यह कैसे हो सकता है ? यदि हम ऐसा कोई अभेद स्वीकार करते है तो क्या हम मानसिक और भौतिक के उस अंतर से नही मुकर रहे है जिसे हमने परिश्रम से पृ० ५५८-६५ मे प्रस्तुत किया था ? इन बातो को देखते हुए अभेद-सिद्धात के विरुद्ध यह आक्षेप किया जा सकता है कि मानसिक और भौतिक घटनाएँ एक नही हो सकती :

किसी शरीर का व्यवहार व्यवहारवादी के बुद्धि-परीक्षणो के चाहे कितनी ही पूरी तरह अनुरूप क्यो न हो, यह सवाल पूछना सदैव उचित होगा कि "क्या उसके अंदर वस्तुत: कोई मन या बुद्धि है, या कही वह एक निरा यंत्र तो नही है ?" यह बात बिल्कुल सच है कि ऐसे प्रश्नो का निश्चायक उत्तर देने के लिए हमे साधन उपलब्ध नहो है। यह भी सच है कि कोई शरीर व्यवहारवादी के बुद्धि-परीक्षणो के जितना ही अधिक अनुरूप होगा उतना ही हमारे लिए यह सोचना अधिक कठिन होगा कि शायद उसके अदर मन या बुद्धि नही है। फिर भी, "क्या उसके अदर मन या बुद्धि है ?" पूछना बेवकूफी की बात कभी नही होता, यानी अर्थहीन नही है। बेवकूफी की बात वह अधिक से-अधिक केवल इस अर्थ मे हो सकता है कि उससे सामान्यत: सच्चा सशय प्रकट नही होता, और हमारे पास इसका उत्तर देने का कोई उपाय नही है। वह यह पूछने के जैसा हो सकता है कि कही चंद्रमा हरे पनीर से तो नही बना ; परतु यह पूछने के जैसा वह नही है कि एक धनी व्यक्ति के पास कही धन का अभाव तो नही है।......

हम तर्क की खातिर यह मान लेते है कि जब भी यह कहना सत्य होता है कि मुझे एक लाल धब्बे का सवेदन हो रहा है तब यह कहना भी सत्य होता है कि मेरे मस्तिष्क के किसी एक भाग मे किसी विशेष प्रकार की एक आणविक गति हो रही है। एक दृष्टि से इनमे से एक कथन का दूसरे मे अपचयन करने का प्रयत्न स्पष्टत: निरर्थक है। कोई चीज ऐसी है जिसमे एक लाल धब्बे की चेतना होने की विशेषता है। कोई चीज ऐसी है जिसमे

---

१. जे० जे० सी० स्मार्ट, "सेन्सेशन्स ऐंड ब्रेन प्रोसेसेज" फिलॉसॉफिकल रिव्यू, १९५९, पृ० १४५। परंतु यह ध्यान देने की बात है कि "तड़ित्" और "विद्युत्-विसर्जन" बिल्कुल अभिन्न नहीं है : तड़ित् केवल एक प्रकार का विद्युत्-विसर्जन है।

आणविक गति होने की विशेषता है। यह बात किसी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में काम करने का कुछ भी अनुभव रखनेवाले सबसे अधिक "प्रगतिशील विचारक" के लिए भी सुगम होनी चाहिए कि ये दो "कोई चीजें" चाहे एक ही हों या भिन्न हों, ये दो विशेषताएँ अवश्य ही भिन्न हैं। इसका विकल्प यह है कि ये दो शब्द-समुच्चय एक ही विशेषता के दो नाम मात्र है, जैसे "सपन्न" और "धनी" एक ही चीज़ के दो नाम हे ; और यह निश्चय ही स्पष्ट है कि वे ऐसे नही है। यदि पहली दृष्टि मे यह स्पष्ट न हो तो नीचे दी हुई बातों पर विचार करके बहुत ही आसानी से उसे स्पष्ट बनाया जा सकता है। आणविक गति के बारे में कुछ प्रश्न पूछे जा सकते है जिन्हें एक लाल धब्बे की चेतना के बारे में पूछना मूर्खतापूर्ण होगा ; तथा विलोमतः दूसरी के बारे में कुछ प्रश्नों को पहली के बारे में पूछना व्यर्थ होगा। आणविक गति के बारे मे यह प्रश्न पूछना बिल्कुल संगत है : "वह क्षिप्र है या मंद, सीधी है या वृत्ताकार, इत्यादि ?" लाल धब्बे की चेतना के बारे में यह पूछना मूर्खतापूर्ण है कि वह क्षिप्र चेतना है या मंद, सीधी चेतना है या वृत्ताकार इत्यादि। विलोमतः, लाल धब्बे की चेतना के बारे मे यह पूछना सगत है कि वह स्पष्ट चेतना है या धुँधली ; परंतु आणविक गति के बारे मे यह पूछना मूर्खतापूर्ण है कि वह स्पष्ट गति है या धुँधली। इस प्रकार तर्क से यह सिद्ध करने की कोशिश करना स्पष्ट रूप से निराशाजनक है कि "अमुक चीज का सवेदन होना" तथा "अमुक प्रकार के शारीरिक व्यवहार का एक अग होना" एक ही विशेषता के केवल दो नाम है।[1]

यह युक्ति यद्यपि सबल प्रतीत होती है तथापि अभेदवादी इसको वैध नही मानता। चूँकि वे अभिन्न हैं इसलिए मानसिक घटना तथा भौतिक घटना दो भिन्न घटनाएँ नहीं हैं ; परंतु यह विश्वास करना कि वे शब्द-समुच्चय "एकही चीज के दो नाम मात्र" हैं—जो कि असत्य है—एकमात्र विकल्प नही है। पहले हम इस आपत्ति पर तथा उसका अभेदवादी क्या उत्तर देता है, इसपर विचार करेंगे। (पहली चार आपत्तियाँ बहुत मिलती-जुलती है, और उन्हे वस्तुतः एक ही मूल आपत्ति के अलग-अलग रूप माना जा सकता है।)

१. "मानसिक घटनाओं को बतानेवाले शब्द तथा भौतिक घटनाओं को

१. सी० डी० ब्रॉड, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ६१४, ६२२-२३।

बतानेवाले शब्द एकही अर्थ के बोधक कैसे हो सकते हैं ? स्पष्ट है कि उनके बहुत ही भिन्न अर्थ होते हैं। जब मैं कहता हूँ कि मुझे एक उत्तरप्रतिमा दिखाई दे रही है, तब मेरा अभिप्राय यह कहने से अलग होता है कि मेरा मस्तिष्क अमुक अवस्था में है। और यदि इनका एक ही अर्थ नहीं है, तो ये अभिन्न कैसे हो सकते है ?"

परंतु अभेद-सिद्धांत यह नहीं कहता कि मानसिक शब्दों का वही अर्थ होता है जो भौतिक शब्दों का होता है। "मनुष्य" शब्द का वही अर्थ नहीं है जो "परविहीन द्विपद" का है। फिर भी ये दोनों एकही वस्तु का बोध कराते हैं या उसके बोधक बनाए जा सकते हैं। "संयुक्तराज्य के उपराष्ट्रपति" और "संयुक्तराज्य सीनेट के अध्यक्ष" का एक ही अर्थ नहीं है, पर ये शब्द-समुच्चय एक ही व्यक्ति के बोधक हैं। "तड़ित्" शब्द का वही अर्थ नहीं है जो "विद्युत्-विसर्जन" का है, हालाँकि तड़ित् की प्रत्येक चमक वास्तव में एक विद्युत्-विसर्जन होती है। यह असल में एक प्रेक्षणमूलक खोज है जिसके बारे में आधुनिक भौतिकी के उदय के पहले कोई ज्ञान नहीं था। परंतु इसी तरह अभेद-सिद्धांत भी, यदि वह सत्य हो तो, एक खोज है—यह प्रेक्षणमूलक खोज कि पहले जिन्हें हम दो घटनाएँ सोचते थे वे असल में एक हैं।

"मैं तड़ित् की चमक को देखता हूँ" का अर्थ यह नहीं है कि "मैं एक विद्युत्-विसर्जन को देखता हूँ।" वस्तुतः यह भी तर्कतः संभव है (हालांकि ऐसी बात बहुत कम प्रसंभाव्य है) कि एक दिन तड़ित् का विद्युत्-विसर्जन-सिद्धांत त्याग दिया जाए। इसी तरह "मैं सांध्य तारे को देखता हूँ" का अर्थ वही नही है जो "मैं प्रभात के तारे को देखता हूँ" का है, और फिर भी "सांध्य तारा और प्रभात का तारा बिल्कुल एक-ही चीज है" एक अनुभवाश्रित प्रतिज्ञप्ति है।.........[1]

और न "वह" तथा "डाक्टर" का एक ही अर्थ है, पर वह जिसके दवाखाने में मैं आज सुबह गया था डाक्टर से तादात्म्य रखता है। इसी प्रकार, जब मैं कहता हूँ "मैं एक उत्तरप्रतिमा को देखता हूँ" तब मेरा अभिप्राय वही नही होता जो "मेरे मस्तिष्क में अमुक क्रिया हो रही है" कहने का है। साधारण आदमी जब किसी अनुभव की सूचना देता है तब वह कहता है कि एक चीज

---

१. जे० जे० सी० स्मार्ट, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ १४७-४८।

हो रही है, परंतु वह इस बात को अनिर्णीत छोड़ देता है कि किस प्रकार की चीज हो रही है। फिर भी जो चीज हो रही होती है वह मस्तिष्कीय प्रक्रिया ही होती है।

२. *"परंतु यदि आप अ के बारे में ऐसी बातें जान सकते है जिन्हें आप ब के बारे में नहीं जानते या ब के बारे में ऐसी बातें जान सकते है जिन्हें आप अ के बारे में नहीं जानते, तो अ संख्यात्मक रूप से ब से अभिन्न नहीं हो सकता।"*

लेकिन अभेदवादी कहता है कि यह बात सत्य नहीं है। हम यह मानते हैं कि तड़ित् की चमक एक विद्युत्-विसर्जन है, और फिर भी हम यह जाने बिना कि वह एक विद्युत्-विसर्जन है, यह जान सकते हैं कि वह तड़ित् की चमक है। हम यह जाने बिना कि कोई संयुक्तराज्य के सीनेट का अध्यक्ष भी है यह जान सकते हैं कि वह संयुक्तराज्य का उपराष्ट्रपति है ; फिर भी जो व्यक्ति उपराष्ट्रपति है वह वही है जो सीनेट का अध्यक्ष है। मैं यह जान सकता हूँ कि जिस चीज को मै देख रहा हूँ वह लाल है, पर हो सकता है कि मै न जानूं कि वह एक गुब्बारा है ; फिर भी यह एक तथ्य है कि जिस लाल वस्तु को मैं देख रहा हूँ वह एक गुब्बारा है : जिस चीज को मैं देख रहा हूँ वह और गुब्बारा एक-ही चीज हैं। शायद आपको पता हो कि क में एक विशेषता अ है और ख में विशेषता ब है, पर यह पता न हो कि क और ख एक-ही चीज हैं। परंतु यदि वे एक-ही चीज है तो हमें पता चल गया कि अ विशेषता वाली वस्तु क वही है जो ब विशेषता वाली वस्तु ख है। इस प्रकार कोई आदमी अपनी मस्तिष्कीय प्रक्रियाओं के बारे में कुछ भी जाने बिना अपने विचारों, भावों और इंद्रियानुभवों के बारे में बात कर सकता है, ठीक वैसे ही जैसे वह विद्युत्-विसर्जन के बारे में कुछ भी जाने बिना तड़ित् के बारे में बात कर सकता है। क ख से अभिन्न हो सकता है, हालांकि शायद हम यह न जानते हों, और फलतः यह न जानते हों कि क के हम जो गुण बताते हैं वे ख के भी गुण है।

३. *"मानसिक घटनाएँ शायद कभी भौतिक घटनाओं के बिना न हों, परंतु क्या उनका उनके बिना होना तर्कतः संभव नही है ? और अभेद-सिद्धांत के अनुसार यह तर्कतः संभव कैसे हो सकता है ?"*

हो सकता है, और है। यदि चेतन अवस्थाएँ शरीर के बिना हों—अगले

परिच्छेद में इस संभावना की जाँच की जाएगी—तो इससे अभेद-सिद्धांत तुरंत खंडित हो जाएगा, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार चेतना की प्रत्येक अवस्था संख्या में मस्तिष्कीय अवस्था से अभिन्न होती है, और यदि एक कभी भी दूसरी के बिना हो तो स्पष्ट है कि यह बात गलत हो जाएगी। मानसिक अवस्थाओं का शारीरिक अवस्थाओं के बिना होना अभेद-सिद्धांत को उसी तरह अप्रमाणित कर देगा जिस तरह तड़ित् की ऐसी चमक का होना जो विद्युत्-विसर्जन न हो इस अनुभवाश्रित प्राक्कल्पना को अप्रमाणित कर देगा कि तड़ित् की चमक और विद्युत्-विसर्जन एक ही बात है। परंतु हमें यह याद रखना चाहिए कि जिस अभेद का दावा किया जाता है वह संख्यात्मक अभेद होने पर भी एक अनुभवाश्रित चीज ही है और ऐसे अभेद की खोज एक अनुभवाश्रित खोज होगी—यह कोई तार्किक अभेद या अर्थ का अभेद नहीं है। मानसिक घटनाओं का शारीरिक घटनाओं के बिना होना फिर भी तर्कतः संभव होगा। स्वतोव्याघाती होने से केवल यह बात तर्कतः संभव नहीं है कि मानसिक अवस्थाएँ शारीरिक अवस्थाओं के बिना हो जाएँ और अभेद-सिद्धांत इसके बावजूद सही हो।

४. "यदि क और ख अभिन्न है तो हम क के बारे में ऐसा कोई सही कथन नही कर सकते जो ख के बारे में भी सही न हो। और प्रस्तुत प्रसंग में हम ऐसा कर सकते हैं। मैं कह सकता हूँ कि परदे के ऊपर एक तीव्र रंग के धब्बे को देखने के बाद मै एक उत्तर-प्रतिमा के अनुभव की प्रतीक्षा करता हूँ, परंतु यह ऐसा कहने के बराबर नहीं है कि मै अपने मस्तिष्क के किसी एक अवस्था मे होने की प्रतीक्षा करता हूँ: उसका मुझे कोई ज्ञान नहीं है और इसलिए कोई प्रतीक्षा मुझे उसकी नहीं है।"

यह बात पूर्णतः सत्य है; परंतु अभेद-सिद्धांत यह दावा नहीं करता कि जब हम एक मानसिक शब्द "उत्तर-प्रतिमा" का प्रयोग करते है तब हम अर्थ में कोई परिवर्तन किए बिना एक मस्तिष्कीय अवस्था का बोध करानेवाले शब्द को उसके स्थान पर रख सकते हैं। दोनों के अवश्य ही भिन्न अर्थ है। दावा इस बात का नहीं किया जा रहा है कि दो प्रकार के शब्दों में अर्थ का अभेद है बल्कि इस बात का किया जा रहा है कि दो चीजों में अनुभवात्मक अभेद है। यदि मैं विद्युत्-विसर्जन के बारे में कुछ नहीं जानता तो विद्युत्-विसर्जन की प्रतीक्षा किए बिना मैं तड़ित् के चमकने की प्रतीक्षा कर सकता

हूँ ; परंतु जब तडित् की चमक होती है तब वह होता विद्युत्-विसर्जन ही है। मैं एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना ही एक उत्तर-प्रतिमा की प्रतीक्षा कर सकता हूँ, क्योंकि मस्तिष्कीय प्रक्रियाओं के बारे में मैं कुछ नहीं जानता ; परंतु इससे इस सचाई में कोई फर्क नहीं आता कि जो हो रहा है वह एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया है। यह संभव है कि दो चीजें अ और ब संख्या में अभिन्न हों और इसके बावजूद एक आदमी ब की प्रतीक्षा किए बिना अ की प्रतीक्षा करता हो। इस विचित्रता का कारण यह है कि शब्द "अ" और "ब" वस्त्वर्थ के एक होने के बावजूद भिन्न अर्थ रखते हैं, जबकि हमारी प्रतीक्षा का विषय एक अर्थ होता है (मैं सीनेट के अध्यक्ष की प्रतीक्षा किए बिना संयुक्तराज्य के उपराष्ट्रपति की प्रतीक्षा कर सकता हूँ)। इस प्रकार यह तथ्य कि मैं एक मस्तिष्कीय प्रक्रिया की प्रतीक्षा किए बिना एक अनुभव की प्रतीक्षा कर सकता हूँ, इस बात को सिद्ध नहीं करता कि ये दोनों भिन्न चीजें हैं, बल्कि केवल यह (जो कि पहले ही माना जा चुका है) सिद्ध करता है कि "अनुभव" और "मस्तिष्कीय प्रक्रिया" ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ एक नहीं है।

पर इससे एक और आपत्ति पैदा होती है जिसका उत्तर देना अभेदवादी के लिए अधिक कठिन है :

५. "हम मानते हैं कि 'प्रभात का तारा' और 'संध्या का तारा' का एकही अर्थ नहीं है, हालांकि दोनों एकही वस्तु के बोधक हैं। परंतु अब मैं आपको याद दिलाऊँगा कि यदि प्रभात के तारे में कोई ऐसी विशेषताएँ हैं जो संध्या के तारे में नहीं हैं या संध्या के तारे में कोई ऐसी विशेषताएँ हैं जो प्रभात के तारे में नहीं हैं, तो वे संख्या में अभिन्न नहीं हो सकते (एक ही चीज नहीं हो सकते)। निस्संदेह हम बिना यह जाने कि प्रभात के तारे में वे विशेषताएँ हैं (शायद हम यह तक न जानते हों कि प्रभात के तारे का अस्तित्व है) यह विश्वास कर सकते हैं अथवा जान तक सकते हैं कि संध्या के तारे में वे हैं। परंतु यदि वे वस्तुतः संख्या में अभिन्न हैं तो इस बात को अवश्य ही सत्य होना चाहिए कि पहले की प्रत्येक विशेषता दूसरे की भी विशेषता है, और दूसरे की प्रत्येक विशेषता पहले की भी विशेषता है। अब हम देखते हैं कि मानसिक की ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो भौतिक की नहीं होतीं और भौतिक की ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो मानसिक की नहीं होतीं ; और यदि ऐसा या

है तो वे संख्या में अभिन्न नही हो सकते।"

इस प्रकार :

(अ) 'कोई भी मस्तिष्कीय प्रक्रिया सदैव एक निश्चित स्थान पर—मस्तिष्क के अदर—होती है। क्या मानसिक घटना भी वहाँ होती है ?"

नही। मस्तिष्कीय प्रक्रियाएँ वहाँ होती हैं जहाँ मस्तिष्क है, यानी भौतिक दिक् के एक विशेष भाग मे होती है, जो कि एक बिल्कुल साफ और समझ मे आनेवाली बात है। परंतु यह बात बिल्कुल भी सत्य नही है कि चेतन अवस्थाएँ मस्तिष्क के अदर या शरीर के अंदर कही भी स्थिति रखती है। निश्चय ही मेरी टाँग मे या सिर मे दर्द हो सकता है ; हम सचमुच ही सवेदनो को शरीर के किसी भाग से सवद्ध बताते है। परतु इसका यह मतलब नही है कि किसी सवेदन के होते समय मेरी चेतना की जो अवस्था होती है उसकी हम स्थिति निर्धारित करते है। दर्द मेरी टाँग मे है, परतु यह सच नही है कि अपनी टाँग मे दर्द होने की जो चेतना मुझे होती है वह भी मेरी टाँग मे है। वह मेरे सिर के अदर भी नही है। विचारो का तो स्थान बताने की हमे चाह ही नही होती और न विचार के बोध की मानसिक अवस्था का स्थान बताने की ही होती है। वास्तव मे, यह कहना कोई अर्थ ही नही रखता कि चेतन अवस्थाएँ शरीर के अदर कहाँ स्थित होती है। यदि कोई अपने शरीर के किसी स्थान की ओर इशारा करके यह दावा करे कि जो बात वह सोच रहा है या जिस उत्तर-प्रतिमा का वह अनुभव कर रहा है वह वहाँ है, तो उसकी बात हमारी समझ मे ही नही आएगी। उसका वैसे ही कोई अर्थ न होगा जैसे इस बात का कि मेरा विचार एक घन की आकृति का है या उसका व्यास एक मीटर का एक सूक्ष्म अश है।

इस तथ्य का कि मस्तिष्क जितना स्थान घेरता है उसके अंदर चेतन अवस्थाओ के होने की बात कहना कोई अर्थ नही रखता, यह मतलब है कि अभेद-सिद्धात सही हो ही नही सकता। वजह यह है कि किसी चीज को किसी विशेष भौतिक वस्तु, अवस्था या प्रक्रिया से अभिन्न बताने के लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि वह चीज उस स्थान मे रहती हो जहाँ वह विशेष भौतिक वस्तु, अवस्था या प्रक्रिया है। यदि वह वहाँ न हो तो वहाँ जो है उससे वह अभिन्न नहीं हो सकती। यहाँ हमे एक ऐसी बात मिल गई है जो मन और शरीर के सबंध को अभेद के इस तरह के उदाहरणो से अलग करती

है जैसे *मनुष्य का पंखहीन* द्विपद से अभेद, प्रभात के तारे का संध्या के तारे से अभेद, पानी का एच$_2$ओ से अभेद, तड़ित् का विद्युत्-विसर्जन से अभेद इत्यादि।[1]

(ब) "मस्तिष्कीय प्रक्रिया एक ऐसी घटना होती है जिसका सब प्रेक्षण कर सकते हे ; तकनीकी वजहों से उसे देख पाना कठिन होते हुए भी अनेक सर्जनों के द्वारा उसका प्रेक्षण संभव है। परंतु पीड़ा का अनुभव या विचार *एक निजी यानी एकगोचर घटना होता है : आपको छोड़कर कोई भी आपकी* पीड़ा या आपके विचार का अनुभव नही कर सकता। (आपका और मेरा इस अर्थ में एकही विचार हो सकता है कि हम एकही चीज के बारे में सोच सकते है, परंतु जब हम ऐसा करते है तब दो घटनाएँ होती है, सोचने की दो क्रियाएँ होती है, एक आपकी और एक मेरी।)"

इसका यह उत्तर दिया जा सकता है : यह तो केवल थोडे समय की ही बात है और तभी तक है जब तक मस्तिष्कीय प्रक्रियाओ के बारे में हमारी जानकारी अधूरी है; और यदि तंत्रिकाविज्ञान की मुझे पूरी जानकारी हो जाए तो आपके मस्तिष्क के अंदर झाँककर मैं जान सकूँगा कि आपको पीडा *का अनुभव हो रहा है, यह तक कि आप किस चीज के बारे में सोच रहे है।* उत्तर का यह बादवाला अंश सत्य है, परंतु आपत्ति इससे वास्तव में दूर नही होती : *यह बात फिर भी बनी रहती है कि यदि मै यह जान भी लूँ कि आप* क्या सोच रहे हे तो भी मै आपके विचार का अनुभव नही कर सकता, और मेरा यह जानना कि आपको पीडा है आपकी पीड़ा के अनुभव से भिन्न है। (मन.पर्यय मे जिन लोगो का विश्वास है वे तक यह दावा नही करते कि मुझे आपकी पीड़ा का अनुभव हो सकता है, बल्कि केवल यही करते हैं कि आपको देखे बिना ही मैं जान सकता हूँ कि आपको पीडा है।) मानसिक घटना का अनुभव फिर भी निजी या एकगत होता है, हालांकि यह ज्ञान सर्वगत हो सकता है कि आपको पीड़ा है। *तन्त्रिकाविज्ञान की पूरी जानकारी रखने-* वाले को इस बात का कि आपको पीड़ा का अनुभव हो रहा है उतना ही

---

१. जेरोम शेफर, "कुड मेन्टल स्टेट्स बी मेन प्रोसेसेज ?" जर्नल ऑफ फिलासफी, viii (१९६१), पृ० ८१५-१६।

पक्का यकीन हो सकता है जितना आपको, पर फिर भी उसको उसका अनुभव नही होगा।

अभेदवादी यह उत्तर दे सकता है : "जब तक कि मस्तिष्कीय प्रक्रिया-सिद्धांत में काफी अधिक सुधार नही कर लिया जाता और उसे व्यापक स्वीकृति नही प्राप्त हो जाती, तब तक 'राम को अमुक प्रकार का अनुभव हो रहा है' कहने के लिए स्वयं राम के अंतर्निरीक्षण पर आधारित सूचना के अलावा कोई कसौटी नही हो सकती। इस प्रकार हमने भाषा का एक यह नियम स्वीकार कर लिया है कि (सामान्यतः) जो कुछ राम कहता है वह ठीक है।"[1] परतु यदि राम के अतर्निरीक्षण पर आधारित सूचना के अलावा अन्य कसौटियाँ हों भी, जैसे उस क्षण राम के मस्तिष्क की जाँच करना, तथा यदि राम के मस्तिष्क के अंदर झांककर हर आदमी यह ठीक-ठीक बता भी सके कि राम क्या सोच रहा है, तो भी तथ्य यही बना रहेगा कि अकेला राम वह अनुभव कर रहा है ; और अनुभव करना ही निजी बात है, न कि राम को वह अनुभव होने का ज्ञान।

यह बात आसानी से समझ में नहीं आएगी कि अभेद-सिद्धांत कैसे इस आपत्ति का ऐसा समुचित उत्तर दे सकेगा जिसपर विश्वास हो जाए। जब तक वह ऐसा उत्तर नही देता, तब तक निष्कर्ष यही रहेगा कि उसके पास मन और शरीर के सबंध की कोई सतोषप्रद व्याख्या नही है।

जब हम यह कहते है कि प्रभात का तारा और संध्या का तारा अभिन्न हैं, तब हमारा मतलब यह होता है कि ये दोनो नाम भिन्न स्थानो पर भिन्न समयो में एकही भौतिक वस्तु के होने की ओर इशारा करते हैं। जब हम कहते है कि राष्ट्रपति तथा सशस्त्र सेनाओ का कमांडर-इन-चीफ अभिन्न हैं, तब हमारा मतलब यह होता है कि कानून के अनुसार इन दोनों पदों को धारण करनेवाला एकही व्यक्ति होता है। अभेद-सिद्धांत के प्रसग में हमारा क्या मतलब होता है ? क्या मतलब (१) यह होता है कि कुछ मस्तिष्कीय प्रक्रियाएँ मानसिक होती हैं, कि उनका अंतर्निरीक्षण से अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है, कि तंत्रिकाविज्ञान की थोड़ी भी जानकारी न रखनेवाला कोई भी व्यक्ति प्रेक्षण के बिना ही यह जान सकता है कि उसके प्रमस्तिष्कीय वल्कुट की शंखपालि

[1] जे० जे० सी० स्मार्ट, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १५२।

के नीचे के भाग में कुछ अविश्वसनीय रूप से जटिल घटनाएँ हो रही है ? क्या हमारा मतलब (२) यह होता है कि मानसिक घटनाएँ भौतिक हैं, कि मेरा यह विचार कि आज छुट्टी का दिन है कोई आकृति रखता है, उसकी कोई लंबाई-चौड़ाई है, या उसका कोई रंग है, कि उसका फोटो उतारा जा सकता है या उसे शायद सूँघा भी जा सकता है ? ये दोनो ही व्याख्याएँ अत्यधिक विरोधाभासी लगती है।[1]

स. आत्मा, व्यक्तिगत अनन्यता तथा अमरत्व

हम मानसिक और भौतिक के अंतर की चर्चा कर चुके हैं और इन दोनो के सबध के बारे में कुछ सिद्धात भी बता चुके है। अब "मानसिक" और "भौतिक", इन दो शब्दो से हम भली भाति परिचित हो चुके हैं, परतु अब तक इनसे सबद्ध सज्ञा-शब्दो, "शरीर" और "मन" के बारे मे कम ही कहा गया है।

शरीर—सामान्य रूप से भौतिक घटनाएँ भौतिक वस्तुओ के साथ घटती हैं : जब आप मेज के ऊपर दुबारा रग करते है तब इस चीज, मेज, के साथ विभिन्न घटनाएँ घटती है ; इन घटनाओ का वर्णन इस मेज के इतिहास मे होनेवाले परिवर्तनो का वर्णन है। आणविक परिवर्तन निरतर होते रहते है, और वे उन चीजो के इतिहास में होते है जो उन अणुओं के संयोग से बनी होती हैं। कभी-कभी परिवर्तन सही अर्थ मे वस्तु के अंदर नही होते : प्रकाश और ध्वनि की तरंगे वस्तुओ से निकलती है जिनके फलस्वरूप हम उन्हे देख और सुन सकते है, परतु तब भी निकलती वे भौतिक वस्तुओ से ही हैं। लेकिन फिर भी कुछ भौतिक घटनाएँ ऐसी होती है जो भौतिक वस्तुओं के इतिहास के अश बिल्कुल नही लगती : उदाहरणार्थ, तड़ित् की चमक, मेघ की गड़गड़ाहट, इद्रधनुष, चुम्बकीय क्षेत्र मे होनेवाले विक्षोभ, कास्मिक किरणें इत्यादि। जो भी हो, है ये भौतिक घटनाएँ ही, क्योकि इनका स्थान निश्चित होता है और इनका अस्तित्व सर्वगोचर होता है अर्थात् सबके द्वारा देखा जा सकता है। परतु यदि आप पूछे कि "वह कौन-सी वस्तु है जिसके इतिहास मे

१. जेरोम शेफर, "रिसेन्ट वर्क ऑन दि माइन्डबॉडी प्रोब्लेम," अमेरिकन फिलॉसोफिकल क्वार्टरली, II (१६६५), पृ० ६४।

तड़ित् के चमकने की घटना होती है?" तो उत्तर "कोई नही" प्रतीत होता है।

लेकिन मन और शरीर की समस्या को लेकर जिन भौतिक घटनाओं से हमारा संबंध होता है वे सब शरीर नाम की एक भौतिक वस्तु के इतिहास के अंग होती है। शरीर वैसी ही एक भौतिक वस्तु है जैसी कुर्सियाँ और पेड़ हैं तथा जैसी स्थान घेरनेवाली और द्रव्यमान इत्यादि से युक्त प्रत्येक अन्य भौतिक वस्तु होती है। भौतिक वस्तुएँ अणुओं के संघात होती है और शरीर भी वैसा ही होता है, हालाँकि उसके अणु मूलतः जैव अणु होते है।[1]

वह कौन-सी बात है जो उस शरीर को दुनिया के अन्य शरीरों से अलग करती है जिसे मैं अपना कहता हूँ? कम-से-कम ये बातें तो है ही : (१) केवल वही शरीर ऐसा है जिससे मैं दूर नही हो सकता—जब भी मुझे चेतना होती है तब मैं सदैव उसे मौजूद पाता हूँ, और मै उसे अपने से दूर चलते हुए कभी नही देख सकता। (२) मै उसके केवल कुछ ही भागो को देख सकता हू जबकि अन्य शरीरो को मै सब तरफ से देख सकता हूँ : मैं उसके चेहरे को एक शीशे मे ही देख सकता हूँ, अन्यथा नहीं ; उसकी पीठ को भी दो या अधिक शीशों की मदद से ही देख सकता हूँ, अन्यथा नही ; और उसका वक्ष और उसके कधे सदैव मेरे दृष्टि-क्षेत्र मे लगभग उसी जगह दिखाई देते है और लगभग उसी दूरी पर। (३) केवल वही एक ऐसा शरीर है जिसके मुझे गतिसबधी तथा अन्य आतरिक अनुभव होते है ; अन्य शरीरों का मुझे दृष्टिगत और स्पर्शगत सवेदन ही हो सकता है, पर गत्यात्मक सवेदन कभी नही होता। (४) सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि एकमात्र वही ऐसा शरीर है जिसके ऊपर मैं सीधे नियत्रण रख सकता हूँ। मैं उसकी भुजा को (जिसे मै अपनी भुजा कहता हूँ) उठाने का निश्चय करता हूँ और वह ऊपर उठ जाती है ; निश्चय के अनतर ही यह काम हो जाता है। मै किसी अन्य शरीर को इस प्रकार नियन्त्रित नही कर सकता ; केवल परोक्ष रूप से आज्ञा देकर या शारीरिक बल के द्वारा ही मैं ऐसा कर सकता हूँ। मैं भौतिक जगत् को वस्तुओं की स्थिति भी बदल सकता हूँ, जैसे शतरज मे एक मोहरे को एक खाने से हटाकर ; परंतु इन अन्य चीजो को मै

१. शरीर को लेकर भी समस्याएँ उठती हैं : देखिए डगलस सी० लॉग, "दि फिलॉसोफिकल कन्सेप्ट ऑफ ए ह्यूमन बॉडी," फिलॉसोफिकल रिव्यू; १९६४, पृ० ३२१-३७।

केवल इस शरीर को हिला-डुलाकर ही हिला-डुला सकता हूँ : बाहरी दुनिया को मैं सदैव इस शरीर के माध्यम से ही प्रभावित कर सकता हूँ।

मन—अब मानसिक घटनाओ की बात को लीजिए। ऐंद्रिय अनुभवो (दृष्टि, श्रवण, गध इत्यादि), भावो, विचारो, स्वप्नो इत्यादि के बारे मे क्या कहा जाएगा ? मानसिक होने की जो शर्तें पहले बताई जा चुकी हे उन्हे ये सब पूरी करते है। परतु ये है किसके ? इसका पुराना उत्तर तो काफी स्पष्ट है। जिस तरह भौतिक घटनाएँ भौतिक वस्तुओ (जिनमे मनुष्य-शरीर भी शामिल है) के इतिहास मे होती हैं, उसी तरह मानसिक घटनाएँ मन के इतिहास मे होती हैं। मन वह है जिसमे मानसिक घटनाएँ होती हैं, वैसे ही जैसे शरीर वह है जिसमे भौतिक घटनाएँ होती है। भौतिक घटनाएँ भौतिक पिडो के इतिहास के अग होती है, और मानसिक घटनाएँ मन के इतिहास के अग होती है।

परतु मन है *क्या* ? इस प्रश्न को लेकर मतभेद कभी समाप्त ही नही हुआ। हम "मन" शब्द को सज्ञा के रूप मे इस्तेमाल करते हैं और हमारी प्रवृत्ति यह मान बैठने की होती है कि "प्रत्येक द्रव्यार्थिक शब्द के अनुरूप कोई एक द्रव्य होता है।" इस प्रकार यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि प्लेटो से लेकर अब तक के दर्शन के इतिहास मे मन को प्रधानत. किसी प्रकार का द्रव्य माना जाता रहा। मन विचारो, अनुभूतियो, इद्रियानुभवो का अधिष्ठान, केंद्र या स्वामी है, वैसे ही जैसे शरीर शरीरक्रियाओ मे होनेवाले परिवर्तनो का अधिष्ठान है। आदमी के अदर दो भिन्न द्रव्य होते है, एक मन और दूसरा शरीर, जो कि किसी भी तरह का सबध रखने के बावजूद मौलिक रूप से उतने ही भिन्न हैं जितने प्रत्येक मे होनेवाली घटनाओ के प्रकार। इस मत को मनोद्रव्य-सिद्धात कहते हैं।

आत्मा—मनोद्रव्य-सिद्धात के अनुसार आदमी दो भिन्न प्रकार की चीजो या द्व्यो से बना है, एक मन और दूसरा शरीर ; परतु जिसे मैं "मैं" (आत्मा) कहता हूँ उससे अधिक निकट का सबध मन का है। मेरा एक शरीर है—ऐसा शरीर जिसकी चेष्टाओ पर मेरा एक सीमा तक नियत्रण रहता है, परतु जो "मैं" नियत्रण करता है वह शरीर नही बल्कि मन है। यह सत्य है कि कभी-कभी हम 'मेरा एक शरीर है' की तरह ही "मेरा एक मन है" भी कह देते है ; परतु इस मत के अनुसार "मैं एक मन हूँ" कहना अधिक

सही होगा, जबकि "मैं एक शरीर हूँ" कहना गलत होगा।

यह सही है कि कभी-कभी, जब मे केवल शारीरिक विशेषताओ की चर्चा करता होता हूँ, मै स्वयं को अपने शरीर से अनन्य मानता हूँ : "मै छह फुट ऊँचा हूँ" कहने का वही अर्थ है जो "मेरा शरीर छह फुट ऊँचा है" कहने का है। यह कहना स्वतोव्याघाती होगा कि "में छह फुट ऊँचा हूँ पर मेरा शरीर छह फुट ऊँचा नही है," तथा यह कहना भी कि "मेरा वजन १५० पौड है, पर मेरे शरीर का वजन १५० पौड नही है।" लेकिन जब मै कहता हूँ कि "मे विचार कर रहा हूँ," तब सकेत मन की ओर होता है जो विचार करता है, न कि मेरे शरीर की ओर जो विचार नही कर सकता, हालाँकि यदि मुझे कोई विचार का काम करना है तो निस्सदेह एक शरीर की (विशेषत: मस्तिष्क की) जरूरत होगी। शरीर विचार की एक अनिवार्य उपाधि है, परतु विचार करनेवाला वह नही है। इसी प्रकार जब मै विश्वास करता हूँ, आश्चर्य करता हूँ, स्वप्न देखता हूँ, प्रत्यक्ष करता हूँ, सुख दु:ख का अनुभव करता हूँ, तब इन सभी कामो को करनेवाला शरीर नही होता बल्कि मन होता है। मन ही मेरा वास्तविक आत्मा है। शरीर अधिक-से-अधिक मन का अनुषगी है। प्लेटो के मतानुसार तथा उसका अनुसरण करनेवाले सत ऑगस्टाइन और प्राचीन ईसाई धर्मगुरुओ के अनुसार भी शरीर वह कारागार है जहाँ मन निवास करता है और जिसके साथ ऐहिक जीवन मे वह बँधा रहता है। कुछ लोगो के अनुसार शरीर के बिना मन का अस्तित्व केवल तार्किक रूप से ही सभव है, जबकि कुछ और लोगो के अनुसार यह एक वास्तविकता है—पर इसकी अधिक चर्चा अमरत्व के प्रसंग मे की जाएगी।

मन किस तरह का द्रव्य है ? चूँकि वह सीसे या नमक की तरह का एक भौतिक द्रव्य नही है, इसलिए उसे देखा या छुआ नही जा सकता, यहाँ तक कि उसकी कोई साकार कल्पना भी नही की जा सकती। वह कुहरे या धुएँ की तरह कोई वायवीय या सूक्ष्म द्रव्य भी नही है, क्योकि ये भी आखिर सीसे के समान ही भौतिक हैं। नही, वह अभौतिक है और इसलिए वह कोई देशिक स्थिति नही रखता। मन शरीर के अदर नही हो सकता, और न वह मस्तिष्क मे रह सकता है (मस्तिष्क को खोलने पर वह वहाँ मिल ही नही सकता)। मन के इतिहास की घटनाएँ कार्य-कारणो के रूप मे मस्तिष्क के इतिहास की घटनाओ के साथ जुडी हुई है, परन्तु इसका यह मतलब नही है कि मन मस्तिष्क

के अदर रहता है। निस्सदेह इससे यह अर्थ नही निकलता कि वह मस्तिष्क के बाहर रहता है। असल मे उसकी कोई देशिक स्थिति है ही नही। उसकी मस्तिष्क के अदर या बाहर स्थिति बताना कोटि-दोष है, ठीक वैसे ही जैसे सख्या २ की कोई देशिक स्थिति बताना।

तो फिर इस मानसिक द्रव्य की प्रकृति उत्तरोत्तर अधिक रहस्यमय प्रतीत होती जा रही है। उसके अस्तित्व की जानकारी कैसे हो सकती है? उससे हम क्या कहेगे जो इसके अस्तित्व को मानने से इन्कार करता हो? मनोद्रव्य-सिद्धात वास्तव मे एक तरह का अधिष्ठान-सिद्धात लगता है। हम पहले ही भौतिक अधिष्ठान के सदेहास्पद होने की वजह बता चुके है (पृ० ५१६-२२), और मानसिक अधिष्ठान की संकल्पना के विरुद्ध भी वैसे ही आक्षेप किए जा सकते है। असल मे कुछ लोग तो यह कहेगे कि ऐसी कोई सकल्पना है ही नही, बल्कि जिसे हम ऐसी सकल्पना समझते है वह एक निरर्थक शब्दावली मात्र है।

फिर भी हम स्वेच्छा से इस जमी हुई धारणा को त्यागना नही चाहते कि मन का अस्तित्व होना ही चाहिए, जो कि अनुभवकर्ता है। हम किसी भी प्रकार के अधिष्ठान-सिद्धात के बारे मे सदेहशील हो सकते है, पर फिर भी हमे इस बात का पक्का विश्वास बना रहता है कि जो भी मानसिक घटनाएँ होती है उन सबका कोई स्वामी होना ही चाहिए। मेरे विचार, मेरे विस्मय, मेरे ऐद्रिय अनुभव सब सबद्ध है, इस रूप मे कि वे सब मेरे इतिहास के अश हैं और मैं उनका स्वामी हूं। अनुभवो का स्वतः कोई अस्तित्व नही हो सकता—उन्हे परस्पर जोड़नेवाला उनका कोई स्वामी होना चाहिए। चूंकि शरीर अनुभवो का कर्ता नही हो सकता (हालांकि अनुभव शरीर के हो सकते है), इसलिए उनका कर्ता मन को होना चाहिए, और मनो की सख्या उतनी होनी चाहिए जितने अनुभवो के स्वामी है। शायद हम मन को "मनोद्रव्य" के रूप मे न लेना चाहे, परंतु फिर भी हम यह कहना चाहेगे कि मन नाम की चीजें है अवश्य, और उनका जो भी स्वरूप हो वे कम से कम अनुभवों के स्वामी तो है ही। स्कॉटिश दार्शनिक टॉमस रीड (१७१०-१७९६) के अनुसार,

मेरी व्यक्तिगत अनन्यता का अर्थ यह है कि जिसे मैं "मैं" कहता हूँ उस अविभाज्य वस्तु का निरतर अस्तित्व बना रहता है। यह मैं जो भी हो, है यह

कोई ऐसी चीज जो सोचती है, विमर्श करती है, निश्चय करती है, कर्म करती है और सुख-दु ख का अनुभव करती है। मैं विचार नही हूँ, कर्म नही हूँ, अनुभूति नही हूँ ; मै वह हूँ जो विचार करता हे, कर्म करता है और सुख-दु ख का अनुभव करता है। मेरे विचार, मेरे कर्म, और मेरी अनुभूतियाँ प्रत्येक क्षण बदलते रहते है , उनका अस्तित्व नित्य नही रहता वल्कि क्षणस्थायी होना है , परतु वह आत्मा या में जिसके ये है नित्य है, और उन सभी अनुक्रमिक विचारो, कर्मो और अनुभूतियो के साथ जिन्हे मैं अपने कहता हूँ, उसका वही सबध रहता है। मेरी अपने व्यक्तिगत अनन्यत्व के वारे मे इस तरह की धारणा होती है।[1]

"मनोद्रव्य" के बारे मे हम चाहे जो सोचे, उपर्युक्त शब्द अत्यधिक महत्व-पूर्ण अर्थ रखते है अनुभवो का अनुभवकर्ता से, मानसिक घटनाओ का जिसकी वे है उस मन से भेद करना ही होगा।

लेकिन इस मत का भी विरोध करनेवाले हुए है। भौतिक अधिष्ठान के सिद्धात के आलोचको मे से एक, डैविड ह्यूम, मानसिक अधिष्ठान का भी आलोचक था। वास्तव मे वह स्वामित्व को माननेवाले मत के प्रत्येक रूप का विरोधी था :

कुछ दार्शनिक ऐसे है जो यह कल्पना कर बैठे है कि हमे प्रत्येक क्षण मे उसकी अव्यवहित चेतना रहती है जिसे हम अपनी आत्मा कहते है, कि हम उसके अस्तित्व को और उसके अविच्छिन्न रूप से वने रहने को महसूस करते हैं। मेरा तो अपना मत यह है कि जिसे मैं आत्मा कहता हूँ उसके अतस्तम मे जव मैं प्रवेश करता हूँ तव मैं सदैव किसी इस या उस प्रत्यक्ष पर, शीत या उष्ण के, प्रकाश या छाया के, प्रेम या घृणा के, दु ख या सुख के किसी विशेष प्रत्यक्ष पर अटक जाता हूँ। मैं कभी किसी भी क्षण मे किसी प्रत्यक्ष के विना अपनी आत्मा को नही पकड पाता, और कभी प्रत्यक्ष को छोडकर कोई अन्य चीज नही देख पाता।[2]

इस प्रकार ह्यूम मानसिक अधिष्ठान से मुक्ति पा जाता है, जो कि अनेक उलझे हुए प्रश्नो को जन्म देता है, और केवल चेतना की अनुक्रमिक अवस्थाएँ

---

१. टॉमस रीड, एसेज ऑन दि इन्टलेक्चुअल पावर्स ऑफ मैन (१७८५), एसे III, अध्याय ४।

२. डेविड ह्यूम, ट्रीटीज आफ ह्यूमन नेचर, खड १, भाग ४, अध्याय ६।

नहीं मान सका है। इस मत के अनुसार आत्मा अनुभवों का एक पुलिंदा मात्र है : जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत अनुभव कालानुक्रम से होते जाते हैं और यह पूरी शृंखला ही वह पुलिंदा है। अनुभवों के इस पुलिंदे के अलावा कोई आत्मा नहीं है और यह पुलिंदा केवल अनुभवों की पूरी शृंखला ही है। इसे हम आत्मा का पुलिंदा-सिद्धांत या पोटलिका-सिद्धांत कह सकते हैं।

परंतु ऐसा लगता है कि प्रेक्षणातीत वस्तुओं से छुटकारा पाने के लिए ह्यूम ने मानो एक ऐसी कहानी कही है जिसका नायक (मुख्य पात्र) ही गायब है। उसके मत के बारे में कुछ ये सवाल पूछे जा सकते हैं :

१. ऐसा कैसे हो सकता है कि विचार और अनुभूतियाँ हों, पर उनका कोई स्वामी न हो, वह व्यक्ति या आत्मा न हो जिसके वे हैं ? कोई भी विचार विचारक के बिना नहीं हो सकता, और कोई भी अनुभव अनुभविता के बिना नहीं हो सकता। ऐसे विचार और अनुभव नहीं होते जो स्वच्छंद विचरण कर रहे हों। परंतु तब क्या मैं-जैसा कुछ होना जरूरी नहीं हो जाता जिसके साथ ये घटनाएँ होती हों ? प्रत्येक मानसिक घटना का किसी न किसी रूप में किसी व्यक्ति से, चेतना के किसी केंद्र से, संबद्ध होना आवश्यक है। परंतु फिर तो "मैं" को स्वयं मानसिक घटनाओं के समूह से अधिक होना होगा।

ह्यूम का यह जवाब हो सकता है कि वह आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं कर रहा है बल्कि आत्मा क्या है, इसका विश्लेषण करने की ही कोशिश कर रहा है (वैसे ही जैसे वह कारणता से इन्कार न करते हुए इस संबंध का विश्लेषण मात्र कर रहा था, जैसा कि हम अध्याय ५ में देख चुके हैं)। परंतु क्या आत्मा का कोई ऐसा विश्लेषण संतोषजनक होगा जिसमें अनुभव के स्वामित्व का विशेष रूप से उल्लेख न हो ?

२. निश्चय ही मेरे अनुभवों और आपके अनुभवों में अंतर है। परंतु यदि आत्मा अनुभवों का एक पुलिंदा मात्र है, तो एक पुलिंदे के अनुभवों को दूसरे पुलिंदे के अनुभवों से हम कैसे अलग पहचानेंगे ? मुझे इस समय जो अनुभव हो रहा है उसे मेरा बनानेवाली कौन-सी बात है और जो आपको हो रहा है उसे आपका बनानेवाली क्या बात है ? यदि विभिन्न पुलिंदों के तिनकों की तरह अनुभवों को मिला दिया जा सके, तो उन्हें छाँटकर रखने के लिए आप कैसे बता पाएँगे कि कौन-सा अनुभव किस पुलिंदे का है ? यदि स्वामित्व की बात को छोड़ दिया जाए तो वह व्यष्टीकरण-तत्त्व क्या होगा जिसके द्वारा यह बताया

जा सके कि कौन-से अनुभव किस पुलिंदे से संबद्ध हैं ?

३. ह्यूम ने स्वयं जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह स्वतोव्याघाती लगता है। वह लिखता है : "मैं कभी स्वयं को नहीं पकड़ पाता······", पर वह क्या या कौन है जिसकी ओर "मैं" शब्द इशारा करता है ? अनुभवों का स्वामी ? पर ह्यूम ने इसका तो पहले ही निषेध कर दिया है। उसे तो केवल चेतना की कुछ अवस्थाओं का ही बोध होता है (जिन्हें प्रत्यक्ष कहा गया है), जिस आत्मा की वे अवस्थाएँ हैं उसका नहीं। परंतु तब उन्हें उसकी बनानेवाली बात क्या है ? यह कि वे एक विशेष कालिक अनुक्रम में होती हैं ? पर ऐसा तो आपकी और मेरी अवस्थाओं के साथ भी होता है। उसे मिलती किसकी चेतना की अवस्थाएं हैं ? शायद किसीकी भी नहीं····वे सिर्फ चेतना की अवस्थाएँ हैं। पर यह कैसे संभव है ? निश्चय ही उसे मिलते स्वयं अपने ही अनुभव हैं। परंतु उस दशा में हमें मजबूर होकर वही पुरानी बात माननी पड़ेगी कि "मैं" चेतना की अवस्थाओं की शृंखला से अधिक कुछ हूँ।

४. आगे हम पूछ सकते हैं कि यह सत्य है भी या नहीं कि मुझे अनुभवों की शृंखला के अलावा किसी अविच्छिन्न सत्ता के रूप में अपनी चेतना नहीं होती। जब मुझे कोई अनुभव होता है तब क्या मुझे उस अनुभव मात्र की चेतना होती है अथवा उस अनुभव के स्वामी के रूप में अपनी भी चेतना होती है ? ह्यूम के खिलाफ यह कहा जा सकता है कि मुझे अनुभव का मात्र एक अनुभव के रूप में अनुभव नहीं होता बल्कि मेरे अनुभव के रूप में होता है। क्या किसी अनुभव का स्वामित्व पूरे अनुभव का भाग नहीं हो सकता ? और, इस प्रकार ऐसा लगता है कि हम लौटकर पिछले उद्धरण में रीड ने आत्मत्व की जो शर्तें बताई है उन्हें मानने के लिए मजबूर हैं।

फिर भी हम अशांत ही बने रहते हैं। यदि मन एक द्रव्य नहीं है (और मनोद्रव्य क्या है ?), तो वह है क्या ? यदि उसका मतलब केवल अनुभवों का स्वामित्व या स्वत्व है, तो इसका क्या अर्थ हुआ ?

स्वत्व अनिवार्यतः एक सामाजिक संप्रत्यय है, और कभी-कभी तो असल में एक वैधिक संप्रत्यय ही होता है। कोई चीज मेरी संपत्ति उसपर मेरा स्वत्वाधिकार होने से मानी जाती है और यह कुछ ऐसा होता है जो लोगों के द्वारा उन रूढ़ियों और कानूनों के अनुसार मुझे प्रदान किया जाता है जिन्हें स्वयं उन्होंने ही बनाया है। इस प्रकार एक खेत या मकान मेरी संपत्ति माना

जाता है।[1] परंतु अपने अनुभवों का स्वामित्व मुझे इस तरह से प्राप्त नही होता, क्योंकि यह स्वामित्व मानवीय रूढियो या कानूनों से नही मिलता और रूढियो या कानूनों के द्वारा नही बदला जा सकता। शायद "स्वामित्व" या "संपत्ति" शब्द एक लाक्षणिक असत्प्रयोग मात्र है, और इसे छोड़ देना चाहिए। पर तब मेरा अपने अनुभवों से क्या संबंध है ? कोई कह सकता है कि यह किसी अन्य संबंध की तरह है ही नही। परतु यदि यह सही है तो इससे कोई मदद नही मिलती, क्योंकि इससे उत्पन्न प्रश्न तब ज्यो-के-त्यो रह जाते है। वास्तव मे आत्मा का तथा आत्मा और उसके अनुभवों के संबंध का प्रश्न दर्शन मे एक सबसे अधिक जटिल प्रश्न है। "मैं क्या हूँ ?" तब तक तो काफी सरल प्रश्न लगता है जब तक हम इसका उत्तर देने की कोशिश नही करते ; पर जब हम कोशिश करते है तब हमे कठिनाइयों और उलझनो के अलावा कुछ भी हाथ नही लगता।

व्यक्तिगत अनन्यता---यदि "आत्मा क्या है ?" का उत्तर देने के प्रयत्न मे हर कदम पर हमे असफलता मिलती है, तो शायद तब हम कुछ अधिक प्रगति कर सकें जब हम प्रश्न के केंद्रबिंदु को कुछ बदल दें और उसकी जगह यह पूछे कि "किन स्थितियों मे क वही आत्मा या वही व्यक्ति है जो पहले था ?" अर्थात् क नामक आदमी मे ऐसे क्या मानसिक या शारीरिक परिवर्तन हो सकते हैं जिनके होने पर ऐसा न हो कि वह क न रहे ? हम पहले ही एक मेज या कार जैसी भौतिक वस्तुओं के प्रसंग मे इस प्रश्न पर विचार कर चुके हैं (पृ० ५९-६०)। अब जब क एक भौतिक वस्तु नही बल्कि एक आदमी है, प्रश्न कही अधिक जटिल हो गया है और इस रूप मे इसकी छानबीन की जाती है।

पहले हम एक बहुत ही सीधी भौतिक कसौटी को लेते हैं जो कि शरीर का एकही होना है। एक आदमी का शरीर बहुत-कुछ बदल जाने पर भी वही शरीर बना रह सकता है : आपका शरीर वही है जो तब था जब आप बच्चे थे, पर अब वह बहुत लंबा-चौडा हो गया है और उसकी सामान्य आकृति इतनी बदल गई है कि जिसने आपको तीन वर्ष की आयु के बाद नहीं देखा वह शायद आपको आज पहचान ही न सके। फिर भी हम कहते हैं कि "व्यक्ति वास्तव मे वही है" और इससे हमारा जो मतलब होता है उसका

कम-से-कम एक अंश यह प्रतीत होता है कि आपका भौतिक शरीर चाहे जितना भी बड़ा हो गया हो या बदल गया हो, है वही जो तब था। इस पूरी अवधि में इस मानवीय शरीर का अस्तित्व अविच्छिन्न रूप से बना रहा। यदि कोई एक मूवी कैमरा लेकर रात-दिन आपके पीछे लगा रहता, तो जो फिल्म निकलती वह लगातार अस्तित्व रखनेवाले एक शरीर की फिल्म होती। उस पूरी कालावधि में एक सेकंड का एक अंश भी ऐसा न होगा जिसमें इस शरीर का अस्तित्व न रहे, हालाँकि उसमें प्रतिक्षण असंदिग्ध रूप से कुछ परिवर्तन होते रहेंगे। और इसलिए कोई कह सकता है : "जब तक शरीर वही बना रहता है तब तक व्यक्ति वही है। चाहे जो मानसिक विशेषताएँ बदल गई हों, है आप तब तक वही जब तक लगातार अस्तित्व रखनेवाला यह भौतिक शरीर वही बना रहता है। हो सकता है कि आपकी स्मृति पूर्णतः लुप्त हो गई हो और आप कभी किसीको नहीं पहचान सकेंगे या अपना नाम तक न जानते हों, पर फिर भी आप वही है, क्योंकि आपका वही शरीर लगातार बना हुआ है। यदि एकाएक आपका व्यक्तित्व-परिवर्तन भी हो जाए और आप किसी प्रकट कारण के बिना ही चोर से संत बन जाएँ तो भी हम कहेंगे कि आप वही व्यक्ति है : हम कहेंगे "वह कितना बदल गया है।" पर फिर भी बदलनेवाला वह वही है, क्योंकि शरीर लगातार वही बना हुआ है। (हम वास्तव में उसे अस्पताल की चारपाई पर पड़े देखकर दुःखी होंगे और कहेंगे कि "वह अब वही नहीं रहा," परंतु यह कथन स्पष्टतः लाक्षणिक मात्र है। हम यह कहकर कि वह वही व्यक्ति न रहा, पहले ही मान बैठते है कि वह वही व्यक्ति है। वह वह व्यक्ति नहीं रहा जो था ? हमारा मतलब सीधा यह है कि वह बहुत बदल गया है—जो कि व्यक्ति के वही होने के साथ बिल्कुल संगति रखता है।)

अब हम वास्तविक को छोड़कर उस बात को लेते है जो तर्कतः संभव है। ये हैं श्रीमान् फकीरचंद जिन्हें हम सब जानते है। हमारी आँखों के सामने-सामने एकाएक उनके अंदर रहस्यमय परिवर्तन होने लगते है; और इस बात का प्रमाण जुटाने के लिए कि वे वास्तव में हो रहे है, हम फिर अपने मूवी कैमरे को इस्तेमाल करते है। फकीरचंद के हाथ-पैरों का आकार और उनके आपेक्षिक देशिक संबंध बदलने लगते है, उसकी शक्ल, सूरत तेजी से बदलने लगती है, उसके सारे शरीर में बाल उग आते हैं, और एकही मिनट

में हम अपने सामने कोई मानव-शरीर नही वल्कि एक कच-कच करनेवाला वदर देखते हं। पर अन्य वातो में कोई परिवर्तन नही है : वह पहले की तरह ही हमसे वात करता है, हमें बताता है कि कैसे इस आकस्मिक रूपांतर से उसे वड़ा झटका लगा है, तथा हमे केवल यह बताने के लिए कि वह अव भी वही फकीरचंद है, हमे इस रूपातर से पहले की अपने जीवन की बातें याद करके वताता है, और यह प्रकट करता है कि उसे वंदर वनने से पहले की अवस्था की वहुत अच्छी स्मृति है। असल मे, यदि एकाएक आकृति के बदल जाने से उसे स्वभावतः जो झटका लगा है उसे छोड दिया जाए तो उसके व्यक्तित्व के लक्षण पूर्ववत् बने रहते है। क्या हम यह नही कहेंगे कि फकीरचंद का अब भी अस्तित्व है, हालाँकि अव वह एक वंदर है (*अधिक सही यह कहना होगा : हालाकि अव उसका शरीर एक वंदर का हो गया है*) *और उसकी शक्ल बदल चुकी है ? ठीक इसी तरह की वात फ्रेन्ज काफ्का की कहानी "दि मेटामॉर्फोसिस" (कायातरण) मे होती है जिसमे एक आदमी मृग बन जाता है और इसके बावजूद वही पहले का व्यक्ति बना रहता है,* उसकी पिछली अवस्था की स्मृतियाँ अक्षुण्ण वनी रहती है तथा उसकी आदतें और व्यक्तित्व की विशेषताएँ अपरिवर्तित वनी रहती है। (यदि एक आदमी केवल एक मृग वन गया होता, तो उसकी दशा उतनी भयानक न होती : वह मर गया होता और अंतर का उसे कभी पता न चला होता। भयानक वात यह है कि वह अव भी वही व्यक्ति है, हालाँकि अव वह एक मृग के शरीर मे है या निवास कर रहा है।) जहाँ तक हम जानते है, वह रूपातर जिसका *वर्णन किया गया है, अनुभवतः असंभव है और सव जीवविज्ञानीय नियमों के* विपरीत है ; परतु वह तर्कतः सभव है और वास्तव मे आसानी से उसकी कल्पना की जा सकती है। सवाल यह फिर भी वना रहता है : *यदि ऐसा* हो, तो क्या हम फिर भी यह न कहेंगे कि *"यह वही व्यक्ति है' ?*

पर हम नही कह सकते कि शरीर वही है : पहले वह एक मानव-शरीर था, और अव वह वदर (या मृग) का शरीर है। इस प्रकार हमारी पहली कसौटी, शरीर का वही होना, पूरी नही होती। फिर भी पहले की और वाद की अवस्था मे एक भौतिक सातत्य है : मूवी कैमरा की फ़िल्म में पूरा जैव रूपातरण आ जाएगा और एक क्षण भी ऐसा नही आएगा जिसमें किसी भी शरीर का अस्तित्व न हो। ऐसा कुछ भी नही हुआ कि अचानक एक

चीज का अस्तित्व से लोप हो गया हो और उसकी जगह अगले ही क्षण कोई और चीज प्रकट हो गई हो। तो हमारी पहली कसौटी को कुछ इस तरह उदार बनना होगा : भौतिक सातत्य (या अविच्छेद) होना चाहिए परंतु यह जरूरी नहीं है कि शरीर लगातार वही बना रहे। जैसे "वही मेज" और "वही गाड़ी" के प्रसंग में (पृ० ५९-६०) वैसे ही यहाँ भी यह निश्चित नहीं है कि हम कहाँ पर "यह अब वही शरीर नहीं रहा" कहेंगे। यहाँ अंतर की मात्रा तथा रूपांतर की आकस्मिकता दोनों ही हमारी कसौटियाँ होंगी।

अब हम एक और तार्किक संभवता पर विचार करते हैं। क्या कोई व्यक्ति क्रमशः अलग-अलग शरीरों में वास नहीं कर सकता, जैसे "हियर काम्स मि० जॉर्डन" नामक अंग्रेजी फिल्म का नायक जो शुरू में इनाम जीतने के लिए घूँसेबाजी करनेवाला एक योद्धा होता है, स्वर्ग की फाइलों में कुछ गड़बड़ हो जाने से निश्चित समय से पहले ही मर जाता है और तब एक उद्योगपति के शरीर में पहुँच जाता है तथा उसकी स्मृति और व्यक्तित्व की विशेषताएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं ? अथवा इस तार्किक संभवता को लीजिए :[१] प्रोफेसर स्मिथ न्यूयार्क में एक सम्मेलन में भाग लेता है और वहाँ एकाएक हर आदमी की नजर से गायब हो जाता है ; ठीक उसी क्षण वह आस्ट्रेलिया के एक सम्मेलन में प्रकट होता है। न्यूयार्क के लोग उसके अकस्मात् लोप से जितने चकित हैं उतने ही आस्ट्रेलिया के लोग उसके वहाँ पर आकस्मिक आविर्भाव से चकित हैं। हमारी पहली प्राक्कल्पना शायद यह होगी कि न्यूयार्क में एक आदमी रहस्यमय ढंग से लुप्त हो जाता है और एक अन्य आदमी आस्ट्रेलिया में रहस्यमय ढंग से प्रकट हो जाता है। परंतु परस्पर तिथियों का मिलान करने पर न्यूयार्कवासी तथा आस्ट्रेलियावासी इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि जो गायब हुआ और जो प्रकट हुआ वे असल में एक ही व्यक्ति हैं : दोनों वही कपड़े पहने हुए थे, दोनों के शारीरिक चिह्न वही थे, दोनों की उँगलियों के निशान वही थे, दोनों के हाथ में वही लेख था, दोनों की जेबों में जो कागज थे उनमें वही टिप्पणियाँ थीं और वही अक्षर थे,

---

१. एन्टोनी फ्ल्यू द्वारा संपादित बॉडी, माइन्ड ऐंड डेथ में जान हिक के "थियोलोजी टुडे" शीर्षक लेख, पृ० २७१-७२ से (न्यूयार्क : मैकमिलन कं०, १९६४)।

इत्यादि। निर्णायक बात यह होगी कि यद्यपि स्मिथ को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचने की स्मृति नहीं है और वह एकाएक स्थान बदल जाने से उतना ही चकित है *जितना कोई और, तथापि न्यूयार्क से गायब होने से पहले न्यूयार्क* में होने की उसे स्पष्ट स्मृति है और वह अपने पूरे जीवन-वृत्त का वर्णन कर सकता है। ऐसे प्रमाण के आधार पर हम असंदिग्ध रूप से यह कहेंगे कि जो आदमी न्यूयार्क से गायब हुआ वह वही था जो आस्ट्रेलिया में प्रकट हुआ।

परंतु इस प्रसग मे भौतिक सातत्य टूट गया है : मूवी कैमरे की फिल्म में थोड़ा-सा व्यवधान आ गया है। यदि वह न्यूयार्क में गायब होने के एक सेकड बाद आस्ट्रेलिया मे प्रकट हुआ, तो आस्ट्रेलिया में उपयुक्त जगह पर मूवी कैमरे के मौजूद होने *तथा* प्रयुक्त होने के बावजूद तस्वीरों के बीच एक सेकड का अंतराल आ जाएगा। यदि वह आस्ट्रेलिया मे ठीक उसी क्षण प्रकट होता है जिस क्षण न्यूयार्क से गायब होता है, तो सातत्य भग इस तथ्य से होगा कि किसी भी ज्ञात भौतिक पिंड के व्यवहार के विपरीत वह एक स्थान से दूसरे *स्थान में बीच की दूरी को तय किए बिना ही पहुँच गया।* फिर भी इसके बावजूद हम शायद यही कहेंगे कि वह वही व्यक्ति था। यदि वह न्यूयार्क वापस आ जाता है, अपने परिवार से मिल जाता है और पूर्ववत् रहने लगता है, तो क्या हमे कोई संदेह बाकी रहेगा? वह क्या बात है जो हमारे अंदर *इतना विश्वास पैदा करती है? वह अंशतः शरीर का सादृश्य है, परंतु यह* निर्णायक नही है क्योंकि यदि अनेक शारीरिक विशेषताएँ बदल जाएँ तो भी अन्य साक्ष्य के आधार पर हम उसे वही व्यक्ति बताएँगे। मुख्य बात उसकी चेतना की अवस्थाओं की अविच्छिन्नता है जिसका निश्चय हमे उसकी बातों को सुनकर, उसकी *स्मृति पर आधारित* वर्णनों से और सावधानी के साथ उसके *व्यवहार* को देखकर—*वही आवाज,* वही आह और वही ऊह, आत्म-केंद्रितता को छिपाने की वही असफल चेष्टा और वही कही-कही उदारता दिखाने की प्रवृत्ति, इत्यादि—होता है। इस बात को छोड़कर *कहीं भी कोई* फर्क *नही है कि* उसका शरीर एकाएक एक जगह से दूसरी जगह मे पहुँच *गया है।*

अब हम एक और उदाहरण को लेते हैं। प्रो० स्मिथ की न्यूयार्क मे मृत्यु हो जाती है, अनेक लोग अत्येष्टि मे शामिल होते हैं और मृतक के शरीर को शवपेटिका के अदर देखते हैं, और शव दफना दिया जाता है। परन्तु, उसकी

मृत्यु के क्षण ठीक उसी तरह का एक शरीर जो मृत्यु से पहले मृतक का था,-एकाएक आस्ट्रेलिया मे प्रकट होता है—वह न्यूयार्क वाले शरीर से इतना अधिक साम्य रखता है कि जो उसे वहाँ जानता था वह आस्ट्रेलिया में उसे पहचान लेगा और कहेगा कि "यह तो वही व्यक्ति है।" व्यक्तित्व की विशेषताएँ और स्मृतियाँ वही हे जैसी पिछले उदाहरण में। यह उदाहरण हमारी धारणाओं को पिछले की अपेक्षा अधिक झटका देता है, क्योकि अब एक के बजाय दो शरीर है—मृत शरीर न्यूयार्क में और जीवित शरीर आस्ट्रेलिया में—और हम आश्चर्य के साथ पूछ सकते है कि "स्मिथ का कौन-सा शरीर है ?" अथवा "क्या उसके दो शरीर है ?" परंतु इस झटके के वावजूद हम जल्दी ही आस्ट्रेलिया के इस जीवित व्यक्ति को उसी व्यक्ति के रूप में पहचान लेंगे जो न्यूयार्क मे मर चुका है और इस जीवित शरीर को "प्रो० स्मिथ का नया शरीर" कहने लगेगे। चूंकि वे जो उसे पहले जानते थे अव उसे नए शरीर मे देखते है और ठीक उसी तरह उससे बात करते है जैसे न्यूयार्क में करते थे, इसलिए उन्हें उसके सचमुच प्रो० स्मिथ होने में कोई सदेह नहीं होगा। और यदि मामले की विचित्रता के कारण उन्हें सदेह हो भी, तो प्रो० स्मिथ स्वयं तो जानेगा ही। क्या नही ? यदि उसे अपना न्यूयार्क मे होना और दिल का दौरा पड़ना याद हो तो क्या वह यह नही जानेगा कि न्यूयार्क मे उसके शरीर का मृत्यु हो जाने पर भी वह जीवित है ?

यहाँ तक की चर्चा से प्रकट हो गया है कि यद्यपि साधारण जीवन मे हम शरीर के सातत्य को व्यक्तिगत अनन्यता की कसौटी मानते है तथापि यह एकमात्र कसौटी नही है। अमरत्व मे विश्वास रखनेवाला हर आदमी इस बात से इन्कार करेगा कि यही एकमात्र कसौटी है, क्योकि वह जानता है कि शरीर तो कब्र के अदर सड-गल जाता है और फिर भी यह मानता है कि व्यक्ति का अस्तित्व एक नए शरीर मे या किसी भी शरीर के बिना बना रहता है। अमरत्व मे विश्वास करनेवाला मानता है कि चेतना शरीर के मरने के वाद भी बनी रहती है। अमरत्व मे जिनका विश्वास नही है वे तक इस बात से इन्कार नही करते कि चेतना का शरीर की मृत्यु के बाद बना रहना तर्कतः सभव है। इस बात को कहने का अधिक आम तरीका यह है कि आत्मा बना रहता है—परतु इसके अलावा कि चेतना बनी रहती है, इसका क्या अर्थ समझा जाता है ? क्या आत्मा किसी प्रकार का अभौतिक द्रव्य है ?

हम भ्रांतियों के इस दलदल से केवल इतना कहकर बच सकते है कि चेतना बनी रहती है (जो कि कम से कम तर्कतः संभव है)।

परंतु इसका क्या प्रमाण है कि जो चेतना बनी रहती है वह उसी व्यक्ति की चेतना है ? सिर्फ यही क्यों न कहा जाए कि जब शरीर की मृत्यु हुई तब चेतना का एक टुकडा लुप्त हो गया और उसके बाद चेतना का एक और टुकड़ा एकाएक प्रकट हो गया जो कि उसी व्यक्ति की चेतना नही है ? स्वयं यह तथ्य कि चेतना है, दोनों को जोड़नेवाली कडी नही बनता, क्योकि दोनों बिल्कुल भिन्न हो सकती है और इस बात का कोई प्रमाण नही होता कि दोनों चेतन अवस्थाएँ उसी व्यक्ति की हैं। तो फिर कडी क्या है ? इसका एक स्पष्ट उत्तर है स्मृति । यदि एक व्यक्ति मृत्यु के बाद भी रहता है, तो उसे मृत्यु के पहले की अपनी अवस्था की कुछ स्मृति रहनी चाहिए। यह जरूरी नही है कि स्मृति पूरी-पूरी हो, परंतु यदि पिछली अवस्था की उसे बिल्कुल भी कोई स्मृति न हो तो जिसके बने रहने का दावा किया जाता है स्वयं उसके सहित किसीका भी यह कहने का क्या आधार होगा कि जिस व्यक्ति का इस समय अस्तित्व है और जो पहले मर चुका है वे एक ही व्यक्ति हैं ? ऐसा प्रतीत होता है कि पिछली अवस्था की कोई स्मृति हुए बिना उसे वही व्यक्ति कहने का कोई हेतु नही होगा।

जो व्यक्ति किसीका अवतार होने का दावा करते है वे प्रायः इस कठिनाई में पड़ जाते हैं और उन्हें इसका पता नही होता। "पिछले जन्म में मैं जोहन सेबास्टियन बाक था।" यह संगीत के एक विद्यार्थी का कथन है। वह खूब अच्छी तरह जानता है कि बाक का शरीर अब नही है, और वह यह दावा नही करता कि उसे बाक की कोई स्मृति है। उसे संगीत के अन्य विद्यार्थियों के साथ सुस्वरता और सहचलन की शिक्षा लेनी पड़ती है और बाक के रूप में उसे जो महान् संगीत-कला आती थी उसका अब उसके लिए कोई उपयोग नही है। हम पूछ सकते हैं कि अब उसे इस बात से क्या लाभ है कि वह कभी बाक था ? यह कहने मे (१) कि वह कभी बाक था और (२) कि बाक मर चुका है और वह, यानी एक विद्यार्थी, इस समय जीवित है, क्या अंतर होगा। दूसरे कथन का ही हम सब उपयोग करेंगे ; पहले से लोग यह सोचने की गलती कर बैठेंगे कि बाक की प्रतिभा उसके अंदर अविच्छिन्न रूप से चली आई है और कि उसमे बाक का रचनात्मक कौशल इत्यादि है (बाक के जैसा कौशल नहीं

बल्कि बिल्कुल वही कौशल)। चूंकि ऐसी कोई नई और आश्चर्यजनक घटना नही हुई है, इसलिए परिस्थिति को साधारण जाने-पहचाने तरीके से बताना अधिक अच्छा है, क्योकि इसी तरीके से पहले हमने जो परिस्थिति बताई थी उससे इसमें कोई अतर नही है। पुनर्जन्म की ऐसी प्राक्कल्पनाओं मे "ऐसा कोई अंतर नहीं होता जिससे कोई फर्क पड़े।"

व्यक्तिगत अनन्यता की कसौटियों की खोज में अब तक हमने क्या प्रगति की है ? (१) दैनिक जीवन में हम शारीरिक अविच्छिन्नता को कसौटी बनाते है। इसमें इस बात का कोई महत्व नही होता कि स्मृतियां पूरी तरह से नष्ट तो नही हो गई है या एकाएक कितने व्यक्तित्व-परिवर्तन हो चुके है। शारीरिक अविच्छिन्नता रहे, और जब तक यह शर्त पूरी होती है तब तक हम कह सकते है कि सारे परिवर्तन उसी व्यक्ति में हो रहे है। (२) परंतु जब हम मरणोत्तर अस्तित्व के बारे में सोचने लगते है, तब अविच्छिन्नता बनाए रखने के लिए शरीर कोई होता ही नही : शरीर कब्र के अदर मृत पड़ा होता है, या जलकर राख हो जाता है, या शार्क का भोजन बन गया होता है। तब बाकी क्या रहा ? हम यह सुझाव दे चुके है कि शरीर की मृत्यु के बाद यदि चेतना किसी तरह बनी भी रहे तो भी स्मृति के अभाव मे उसे उसी व्यक्ति की चेतना नही कहा जा सकेगा। ऐसा लगेगा कि यहाँ बात खत्म की जा सकती है। परतु यदि स्मृति ही एकमात्र कसोटी हो तो इससे परेशानी हो सकती है। शरीर के अभाव में स्मृति आवश्यक है, पर क्या वह पर्याप्त है ? बात सदेहास्पद है :

१. यदि स्मृति आवश्यक ही नही बल्कि पर्याप्त भी है तो यह विचित्र निष्कर्ष निकलता है

…… कि एक आदमी वह व्यक्ति जिसने एक विशेष काम किया है, हो सकता है और साथ ही नही भी हो सकता। मान लो कि एक वीर अफसर ने, जब वह बचपन मे स्कूल मे पढ़ता था तब एक फलोद्यान मे चोरी करने के कारण कोडे खाए थे, पहली लडाई मे उसने शत्रु से झडा छीन लिया था और बाद मे वह एक जनरल बना दिया गया। यह भी मान लो कि (ऐसा अवश्य ही संभव है) जब उसने झडा छीना था तब उसे इस बात का बोध था कि स्कूल मे उसे कोडे पडे थे और कि जब उसे जनरल बनाया गया तब उसे झडा छीनने का तो बोध था पर कोडे खाने की बात वह बिल्कुल भूल गया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ……जिसने स्कूल मे कोड़े खाए थे वह वही

व्यक्ति है जिसने झडा छीना था और कि जिसने झडा छीना था वह वही व्यक्ति है जिसे जनरल बनाया गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि तर्कशास्त्र मे कोई सचाई है तो जनरल वही व्यक्ति है जिसने स्कूल मे कोडे खाए थे। परंतु जनरल की चेतना उसके कोडे खाने तक नही पहुँचती ; इसलिए····वह वह व्यक्ति नही है जिसने कोडे खाए थे। अत. जनरल वही व्यक्ति, जिसे स्कूल मे कोडे पडे थे है और साथ ही नही भी है।[1]

जब तक किसी तरह से शारीरिक अविच्छिन्नता रहती है तब तक रीड के द्वारा बताई हुई परिस्थिति हमे परेशान नही करती : शारीरिक अविच्छिन्नता स्मृति-लोप के बावजूद व्यक्ति के वही बने रहने का पक्का विश्वास दिलाती है। परंतु परिस्थिति तब अत्यधिक परेशान करनेवाली बन जाती है जब हर चीज को केवल स्मृति पर ही आश्रित बना दिया जाता है। यदि व्यक्तिगत अनन्यता का प्रमाण अकेली स्मृति हो तो ऐसा लगता है कि स्मृति को लगातार रहना होगा और कभी गलत नही होना होगा—यह एक ऐसी चीज है जिस पर जोर देना शारीरिक जीवन मे अनावश्यक है क्योकि वहाँ फिर भी एक कसौटी और है, परतु जिसके बिना उस अवस्था मे हमारा काम नही चल सकता जब स्मृति ही वह नाजुक तार हो जिससे व्यक्तिगत अनन्यता बँधी हुई हो।

२. स्मृति अकेली नही रह सकती। कोई ऐसा होना चाहिए जो स्मरण करता हो—यानी एक स्थायी आत्मा होना चाहिए। स्मृति के अनुभवो को किसी के अनुभव होने चाहिए। इस प्रकार हम लौटकर इसी प्रश्न मे आ जाते हैं कि "आत्मा क्या है ?" स्मृति-अनुभवो का उसी आत्मा के इतिहास की पिछली घटनाओ की ओर सकेत होना चाहिए—और इस प्रकार व्यक्तिगत अनन्यता की एक कसौटी के रूप मे स्मृति एक आत्मा या अनुभविता के अस्तित्व पर आश्रित है। आत्मा की समस्या फिर अपनी तमाम जटिलताओं को लेकर हमारे सामने आ जाती है।

३. "स्मृति स्वय ही वर्तमान अनुभवो को अतीत अनुभवो के साथ जोड़कर व्यक्तिगत अनन्यता का अनुभव बन जाती है," ऐसा कहा जा सकता है। जो

---

१. टॉमस रीड, एसेज ऑन दि इन्टेलेक्चुअल पावर्स आफ मैन (१७८५), एसे ३। अध्याय ५।

भी हो, उसके बिना ऐसा अनुभव होगा ही नही। परंतु यहाँ एक बात है जो इतनी सरल है कि हमें आश्चर्य होता है : क्या व्यक्तिगत अनन्यता के अनुभव के पहले व्यक्तिगत अनन्यता का होना जरूरी नही है ?

परंतु यद्यपि जो बीत चुका है उसकी चेतना स्वयं हमे हमारी व्यक्तिगत अनन्यता का विश्वास जरूर दिलाती है, तथापि यह कहना कि वह व्यक्तिगत अनन्यता को बनाती है या हमारे वही व्यक्ति होने के लिए आवश्यक है, यह अर्थ रखता है कि एक व्यक्ति जिसका स्मरण कर सकता है उसे छोड़कर एक क्षण भी अस्तित्व मे नही रहा और न उसके अलावा उसने कोई काम ही किया; असल मे जिसका वह अनुचिंतन कर सकता हे उसे छोड़कर उसने कुछ किया ही नही है। और इस बात को वस्तुतः स्वत. प्रमाण समझना चाहिए कि व्यक्तिगत अनन्यता की चेतना व्यक्ति के पहले से अनन्य होने पर आश्रित है और इसलिए वह व्यक्ति को अनन्य बनानेवाली नही हो सकती, वैसे ही जैसे ज्ञान सत्य के पहले से होने पर आश्रित है और इसलिए वह सत्य को बनानेवाला नही हो सकता।[1]

ये सब कठिनाइयाँ हमारे सामने तब से आई है जब हमने मृत्यु के बाद की अवधि मे व्यक्तिगत अनन्यता के बारे मे सवाल पूछने शुरू किए। तो अब मरणोत्तर अस्तित्व के बारे मे थोड़े-से प्रश्न पूछ लेने का उपयुक्त समय है।

अमरत्व — क्या मन का शरीर के बिना अस्तित्व संभव है ? यदि मतलब "तर्कतः संभव" होने से है तो अधिकतर दार्शनिक निस्सदेह "हाँ" मे उत्तर देंगे। पर कुछ नही देंगे और हम इसके हेतु इसी परिच्छेद मे बाद मे बताएँगे। लेकिन पहले हम इसे तर्कतः सभव मान लेते है और देखते है कि यह हमे कहाँ ले जाता है। हम कल्पना कर लेते है कि हम मर रहे हैं और उसके बाद एक बिल्कुल भिन्न परिवेश मे जागते है जहाँ हम वीणा बजाते हुए फरिश्तो से घिरे हुए हैं। यदि आप मर जाएँ और फिर जाग पड़ें तो आप जान लेंगे कि शरीर की मृत्यु के बाद भी आप जीवित है। (यदि आप फिर न जागें तो आप कभी न जान पाएँगे कि आप जीवित नही रहे। परीक्षणीयता

१. बिशप जोज़फ बटलर, "ऑफ पर्सनल आइडेंटिटी" से एन्टोनी फ्ल्यू द्वारा संपादित बॉडी, माइन्ड एंड डेथ, पृ० १६७ पर उद्धृत।

को कसौटी के प्रसग मे यही हमारी एक समस्या थी : यदि प्रतिज्ञप्ति सत्य है तो उसका सत्यापन हो सकता है, पर यदि वह असत्य है तो उसका सत्यापन नही हो सकता ।)

क्या यह जानने के लिए हमे मरने का इतजार करना पडेगा ? निश्चय ही यह निर्णायक परीक्षा होगी, परन्तु अब भी हमे कोई परोक्ष प्रमाण मिल सकता है जो इस मत को कुछ प्रसभाव्यता प्रदान करनेवाला सिद्ध हो कि अन्य लोग शरीर की मृत्यु के बाद भी अस्तित्व रखते हे । मान लीजिए कि मरने के पहले आपके दादा ने आपसे कहा था, "मरने के बाद यदि मेरी चेतना बनी रहे तो मैं तुमसे सपर्क करने की चेष्टा करूँगा । अत्येष्टि के बाद अगले दिन में बैठक मे रखे पियानो पर मध्यम 'सी' को तीन बार बजाऊँगा और यदि हो सका तो मै कुछ शब्द भी बोलूँगा ।" आपको सदेह है, पर अत्येष्टि के बाद के दिन आप बैठक मे अन्य प्रेक्षको और टेपरिकार्डरो के साथ तैयार बैठ जाते है । एकाएक आप पियानो पर मध्यम सी का तीन बार बजना सुनते है ; और लोग भी उसे सुनते हैं और वह टेप के ऊपर अकित हो जाता है । तब आप एक आवाज सुनते है जिसके आपके दादा की आवाज होने मे कोई सदेह ही नही है : यदि वह उसकी आवाज नही है तो उससे हूबहू मिलती-जुलती अवश्य है । इसके अतिरिक्त वे ऐसी बातें भी आपसे कहते हे जो आपने कुछ महीने पहले उनसे कही थी और जो आपने कभी किसी को नही बताई । यदि ऐसा होता है—साथ ही और भी अनेक प्रमाण—तो क्या यह प्राक्कल्पना कम-से-कम सत्य जैसी नही लगेगी कि आपके दादा अभी जीवित है, हालाँकि आप अब उन्हे देख या छू नही सकते ? यदि वे पहले से बता देते है कि अगली बार कब वे आपसे बात करेंगे और वे (या आवाज) सदैव उस भविष्यवाणी को पूरा करते हैं, तो क्या आप फिर भी यह कहेगे कि घटनाओ की यह शृखला आकस्मिक सपातो की शृखला मात्र है या आपके दादा के अस्तित्व के बने रहने का थोडा-सा भी प्रमाण प्रस्तुत नही करती ? इस प्रकार का कुछ प्रमाण सचमुच प्रस्तुत किया गया है, और यद्यपि उसके निष्कर्ष अतिम नही है तथा अनेक उसे बिल्कुल सदेह की दृष्टि से देखते है, तथापि वह विचारणीय अवश्य है ।[1] जो भी

---

१. द्रष्टव्य : सी० डी० ब्रॉड, ह्यूमन पर्सनल्टी ऐंट दि पॉसिबिलिटी ऑफ इट्स सर्वाइवल (१९५५) तथा लेक्चर्स ऑन साइकिकल रिसर्च (न्यूयार्क : ह्यूमैनिटीज

हो, ऐसी घटनाओं के न होने से—जैसे, आपके दादा के अपनी भविष्य-वाणियों को पूरा न करने से—अमरत्व का खंडन नहीं होगा। अस्तित्व उनका फिर भी हो सकता है, हालाँकि वे आपसे संपर्क करने में असमर्थ या उसके अनिच्छुक हो सकते हैं।

व्यक्ति शरीर की मृत्यु के बाद किस रूप में बना रह सकेगा ? वह किसी अन्य शरीर में जा सकता है या नितांत विदेह अवस्था में रह सकता है। यहाँ हम इन दोनों विकल्पों की जाँच करते हैं।

१. अन्य शरीर में जाना— व्यक्ति के मरणोत्तर अस्तित्व का वर्णन करते समय अधिकतर धर्म यह कल्पना करते है कि उसे एक नया और पुनर्जीवित शरीर मिल जाता है। इस बारे में मतैक्य नहीं है कि इस प्रसंग में सबसे उपयुक्त शब्दावली क्या होगी : अन्य शरीर धारण करना ? एक और शरीर में निवास ? एक अन्य शरीर को अनुप्राणित करना ? अथवा क्या मृत व्यक्ति की मानसिक अवस्थाएँ कारणात्मक रूप से किसी अन्य शरीर की भौतिक अवस्थाओं से जुड़ मात्र जाती हैं ? जो भी हो, जो लोग मर चुके हैं उनके अस्तित्व के बने रहने की जब हम कल्पना करते हैं, तब हम प्रायः यह सोचते है कि पहले उनके शरीर जैसे थे वैसे ही अब भी हैं तथा उनकी स्मृति, बुद्धि और अन्य विशेषताएँ उनसे जो उनमें ऐहिक जीवन में थीं इतनी काफी मिलती-जुलती है कि अन्य उन्हें उन्ही व्यक्तियों के रूप में पहचान सकते हैं। जो विधवा अपने मृत पति से पुनर्मिलन की कामना करती है वह उसके बहुत-कुछ वैसे ही होने की कल्पना करती है जैसा वह मृत्यु से पहले था : उसी तरह के काम करनेवाला, उसी तरह की शक्ल-सूरतवाला (यदि उसका चेहरा-मोहरा बहुत बदल जाए तो फिर शायद वह उसकी चिंता नहीं करेगी), उसकी बात माननेवाला और उससे प्रेम करनेवाला, खाने की मेज पर बैठा

प्रेस, १९६२) ; सी० जे० डुकेस, नेचर, माइण्ड ऐंड डेथ, अध्याय २०, २१, तथा ए क्रिटिकल इक्जामिनेशन आफ दि बिलीफ इन ए लाइफ आफ्टर डेथ (स्प्रिंगफील्ड III : प्रकाशक, चार्ल्स सी० टॉमस, १९६०) ; गार्डनर मर्फी, "ऐन आउटलाइन ऑफ सर्वाइवल एविडेन्स," जर्नल ऑफ दि अमेरिकन सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च, १९४५ ; आर० एच० दाउलेस, "दि एम्पिरिकल एविडेन्स फॉर सर्वाइवल", उपर्युक्त पत्रिका, १९६० ; एन० एच० प्राइस "सर्वाइवल ऐंड दि आइडिया ऑफ 'अनदर वर्ल्ड'," प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च, १९५३।

हुआ, इत्यादि। इसी रूप मे वह उससे पुनः मिलना चाहती है, शरीररहित आत्मा के रूप मे नही और न परिचित शरीर से इतने भिन्न शरीर के साथ कि वह उसे पहचान ही न सके। निश्चय ही, समस्याएँ कुछ रहेंगी : यदि इस लोक में वह विकलाग था तो क्या इससे अच्छे लोक में भी वह विकलाग ही होगा ? यदि वह चिड़चिड़ा या शराबी था, तो क्या अब वह इन प्रवृत्तियो से हीन होगा ? क्या वह सभी दोषों से मुक्त होगा, उन दोषो से भी जिनका उसमे होना उसे बहुत पसंद था ? क्या वह अब भी पुरुष होगा ? जिस पुरुष को वह प्यार करती थी वह किस सीमा तक अभी ज्यो-का-त्यो होगा ? इस बात से उसके प्रति उसके रवैय्ये मे कुछ अतर आएगा। यह माना जा सकता है कि परिवार के लिए कमानेवाला तो वह अब नही होगा, क्योकि इस काम की अब कोई आवश्यकता नही रही। परंतु इस बात से भी उसके प्रति उसके रवैय्ये मे बहुत अंतर आ सकता है : उसकी एक बात के लिए अब आवश्यकता नही रही। यदि उसकी काफी विशेषताएँ बदल दी जाएँ, तो शायद उसे उसके साथ पुनर्मिलन की इच्छा ही न रहे : वह चाहती यह है कि उसका उसके साथ वर्तमान अस्तित्व—निश्चय ही, कुछ सुधारों के साथ—बना रहे। यदि इसमे बच्चे पैदा करना और उनका पालन करना भी शामिल हो तो और भी समस्याएं पैदा होगी। यदि बच्चे इस जीवन मे प्रौढ हो जाएं तो शायद मरणोत्तर जीवन मे वे बच्चो के जैसे लगेगे भी नही।

इसके अतिरिक्त यदि उसको कोई नया शरीर मिल जाता है तो उस शरीर का एक मस्तिष्क भी होगा और इस नए रूप मे उसका व्यक्तित्व एक बडी सीमा तक इस मस्तिष्क की प्रकृति पर निर्भर करेगा—यह कि वह प्रत्युत्पन्नमति है या नही, सुस्त है या तेज, इत्यादि। क्या उसके गाल पर वही तिल अब भी होगा ? क्या उसे खीर अब भी पसंद होगी ? क्या उसके पेट में अब भी वह तकलीफ होगी जिसकी वजह से उसे उसके लिए एक विशेष खाना बनाना पडता था ? क्या वह अब भी खुशमिजाज, पर कभी-कभी उदास, होगा ? (यह इस तरह की बातों पर निर्भर करेगा जैसे आक्सीजन का उसके मस्तिष्क की कोशिकाओं को पर्याप्त मात्रा मे मिलना।) क्या उसका शरीर एक निश्चित आयु के, जैसे उस आयु के जिसमे उसकी मृत्यु हुई थी, व्यक्ति का होगा और उसी आयु का सदैव बना रहेगा ? अथवा क्या उसका नया शरीर भी बूढ़ा होकर मर जाएगा और शायद एक और नया शरीर उसे मिल

जाएगा ? अधिकतर लोगों के इस संबंध मे कि उनके मन मे किस प्रकार का अमरत्व है, स्पष्ट विचार नही होते, तव भी नही जव उनकी सारी आशाएँ इस प्राक्कल्पना के सत्य होने पर टिकी होती हैं।

२. **विदेह अवस्था**—अब हम ऐसे अस्तित्व की कल्पना करते है जिसमें शरीर विल्कुल नही होता—शरीर के विना ही चेतना वनी रहती है। आपका भौतिक शरीर नही रहा, पर फिर भी आपके विचार है, आपको अनुभूतियाँ होती है, स्मृतियाँ होती हे, यहाँ तक कि (यदि आप चाहे तो) आपको देखने, सुनने इत्यादि के ऐंद्रिय अनुभव भी होते हैं, पर वे ज्ञानेन्द्रियाँ आपकी नही है जो ऐहिक जीवन मे ऐसे अनुभवो के अनिवार्य साधन होती है। हम यह कल्पना करने की चेष्टा करते है कि इस जीवन मे भी यदि किसी दिन सोकर उठने पर आप देखे कि आपका शरीर ही नही रहा तो कैसा लगेगा। एक रात आप सोने जाते हैं, वत्ती वुझा देते हे, सो जाते है और कुछ घटो के वाद उठकर देखते है कि खिड़की से सूर्य का प्रकाश आ रहा है, घडी की सुई आठ वजा रही है, शीशा पलग के पावो की ओर रखा है। आप पलग को देखते हैं पर उसपर आपको अपना शरीर नही दिखाई देता—असल मे आप वहाँ, जहाँ आपके हाथ-पैर होने चाहिए थे, सीधे चादर को देखते है। चौककर आप शीशे मे देखते है, पर वहाँ आपका चेहरा और शरीर दृष्टिगोचर नही होता। वहाँ आपको विना रुकावट के अपने सिर के पीछेवाली पलग की पूरी पट्टी दिखाई देती है। आप वुदवुदाते है, "क्या मैं अदृश्य हो गया हूँ ?" और एच० जी० वेल्स के अदृश्य आदमी की वात सोचते हुए जो दिखाई तो नही देता था पर छुआ जा सकता था, आप अपने शरीर को छूने की कोशिश करते है, परतु जैसे देखने को कुछ नही है वैसे ही छूने को भी वहाँ कुछ नहीं है। कमरे मे आनेवाले किसी भी व्यक्ति को आप नही दिखाई देगे और न वह आपको छू सकेगा : वह तव तक आपके अस्तित्व को नही जानेगा जव तक आप कुछ वोलें नही (हालांकि वोलनेवाले अग आपके नही है) या किसी अन्य तरह से उसे न वताएँ। वह अपने हाथ पूरे पलग के ऊपर फेरकर देखेगा, पर आपके दृश्य या अदृश्य शरीर के संपर्क मे नही आ पाएगा। अब आप यह सोचकर वुरी तरह डर गए हैं कि कोई आपके अस्तित्व को नही जान पाएगा। आप शीशे की ओर जाना चाहते है, पर पैर तो आपके हैं ही नहीं। फिर भी शीशे के पास की वस्तुओं को आप आकार मे वढ़ते हुए पाते

है और अपने पीछे स्थित वस्तुओ को उत्तरोत्तर छोटी होती हुई पाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे आपके शीशे की ओर चलते जाने मे हुआ होता : अपने शरीर को देखने और छूने के अनुभवो को छोड़कर शेष सारे अनुभव वही हैं। ऐसा भी हो सकता है कि आपको शारीरिक श्रम और थकान का अनुभव हो, सतुलन और सीधे खडे होने इत्यादि के गत्यात्मक अनुभव हो, और ऐसा वास्तव मे कोई शरीर हुए बिना ही, जो कि (जिस दुनिया को हम इस समय जानते है उसमे) इन अनुभवो के होने के लिए पहले चाहिए।

यह सोचा जाएगा कि हमने देहहीन अस्तित्व के एक स्पष्ट उदाहरण की कल्पना कर ली है। पर क्या सचमुच ? इस सक्षिप्त वर्णन मे भी शरीर की ओर कुछ छिपा हुआ इशारा है। आप देखते है—आँखो से ? नही, आपकी आँखें ही नही है क्योकि आपका शरीर ही नही है। परंतु छोडिए। बस आपको ऐसे अनुभव होते है जो साधारणत' आँखो के द्वारा ही आपको हुए होते। लेकिन यदि आप एक दिशा मे देखते है और तब दूसरी दिशा मे, तो आप यह कैसे कर पाते है ? अपने सिर को घुमाकर ? लेकिन घुमाने के लिए आपका सिर ही नही है। हम कह लेते है कि आपको ऐसा अनुभव होता है जो साधारणत आपको सिर को घुमाने से ही होता। यह शायद पर्याप्त न हो, पर अगली कोशिश करके देखते है। आप पाते है कि आप अपने शरीर को नही छू सकते क्योकि कोई शरीर है ही नही, केवल पलग है और चादरें है। इसका पता आपको कैसे चलता है ? क्या आप पलग को छूने के लिए अपनी उँगलियो को फैलाते है ? पर आपकी उँगलियाँ तो है ही नही, क्योकि आपका शरीर नही है। आप छुएँगे किससे ? आप शीशे की ओर चलते है या चलते प्रतीत होते है—पर कौन चलता है ? आपका शरीर नही, क्योकि शरीर आपका है ही नही। फिर भी आपके सामने की चीजें उत्तरोत्तर बडी प्रतीत होती है और पीछे की चीजें उत्तरोत्तर छोटी, जैसे कि मानो आप चल रहे हो। किसके सामने की और किसके पीछे की ? आपके शरीर के ? पर फिर कह दिया जाए कि वह तो आपका है ही नही। तो चलने के इस आभास को कैसे समझा जाए ?

हर कदम पर दिक्कते हैं। ऐसा नही है कि हम केवल लोगो को सशरीर सोचने के आदी बन गए हो और इस आदत से अपने को न बचा पा रहे हो। इससे कठिनाइयाँ बढ जाती हैं, पर पूरी बात का यह तो एक अल्पाश ही है।

तथ्य यह है कि आप अपने सिर को घुमाए बगैर अन्य दिशा में देखने इत्यादि की कल्पना कर ही नही सकते, और सिर को घुमाना प्रायः ऐसा करने का निश्चय करने का फल होता है—और निस्संदेह आप अपने सिर को तव घुमा ही नही सकते जव घुमाने के लिए आपका सिर ही नहीं है। और यदि आप अपने सिर को घुमाने का निश्चय करते हैं तो सिर के न होने की अवस्था में इस निश्चय के अनुसार आप काम ही नही कर सकते। तो फिर यह वात आपके निश्चय का परिणाम कैसे हो सकती है कि आप अव शीशे को देखते हैं और अव खिड़की को ? बात का वर्णन करने की कोशिश में अनेक कठिनाइयाँ वाधक लगती है जो कि मात्र तकनीकी नही है वल्कि तार्किक है।

जिस अनुभव को हम "देखना" कहते है उसके तथा आँख और मस्तिष्क के अंदर जिन प्रक्रियाओं का होना शरीरक्रियाविज्ञानी हमें वताते है उनके बीच कोई अनिवार्य, संप्रत्ययात्मक, संवध नही है। "राम अव भी देख सकता है, हालांकि उसके मस्तिष्क के दृष्टि-केंद्र नष्ट हो चुके है।" यह कथन आगमनात्मक आधार पर बहुत ही असंभाव्य है पर है बिल्कुल बोधगम्य—आखिर, लोग "देखना" शब्द का प्रयोग तबसे बहुत पहले से करते आए है जवसे वे मस्तिष्क के दृष्टि-केंद्रों में होनेवाली घटनाओं को समझने लगे है। अतः यह वात स्पष्टतः समझ मे आनेवाली लगती है कि देखना और अन्य "ऐंद्रिय" अनुभव उस शरीर की मृत्यु के बाद भी, जिसके साथ वे इस समय संवद्ध है, लगातार चलते रह सकते है, और यह संदेह कि शायद ऐसा कभी नही हो सकेगा, जिन आगमनात्मक हेतुओं पर आधारित है वे परामानसिकीय अनुसंधान से प्राप्त साक्ष्य की तुलना में नितांत महत्वहीन सिद्ध हो सकते है।

मैं समझता हूँ कि देहहीन अवस्था मे असली देखना, सुनना, पीड़ा की अनुभूति, भूख, संवेग इत्यादि उतने ही स्पष्ट रूप से समझ में आनेवाली वातें है या नही जितने इस सामान्य दार्शनिक मत में माने जाते है, यह खोज का एक महत्वपूर्ण विपय है।.........

"'देखना' क्रिया का मेरे लिए अर्थ इसलिए है कि मैं सचमुच देखता हूँ—मुझे ऐसा अनुभव होता है।" वेकार की वात है। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे यह मानना कि मैं वजन का घटाना शुरू करके यह जान सकता हूँ कि एक ऋण सख्या क्या होती है। यह कि एक आदमी देखने का मतलव समझता है, इतने मात्र से नही प्रकट होता कि वह देखता है, वल्कि इससे होता है कि

"देखना" शब्द के हमारे दैनिक प्रयोग मे वह बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से भाग लेता है। दृष्टि का हमारा संप्रत्यय जीवत केवल अन्य सप्रत्ययो के एक पूरे समुच्चय से सबद्ध होकर ही रहता है, जिनमे से कुछ दृश्य वस्तुओ की भौतिक विशेषताओ से सबध रखते हे और अन्य वस्तुओ को देखनेवाले लोगो के व्यवहार से। (मैं इस सप्रत्यय का उपयोग इस तरह के वाक्यो मे करता हूँ जैसे, "मैं नही देख पा रहा हूँ, वह बहुत ही दूर है—अब वह नजर आने लगा है।" "वह मुझे नही देख सका, उसने घूमकर देखा ही नहीं," "मैं आपकी नजर मे पड गया," इत्यादि।) व्यवहारवाद के हौवे के कारण इसे स्वीकार करने से डरना महज बेवकूफी होगी ; आप इसे यह सोचे बिना कि 'देखना" किसी प्रकार के व्यवहार का नाम है, बखूबी स्वीकार कर सकते हे।......

देखने *का अर्थ समझना मूलतः यह योग्यता रखना तक नही है कि हम* अपने (आतरिक सवेदन से प्राप्त) अनुभवो मे बार-बार आनेवाली एक विशेषता के उदाहरणो को पहचान सकते हो। कोई सप्रत्यय मूलतः प्रत्यभिज्ञान की क्षमता नही होता। और एक सप्रत्यय का उपयोग अन्यो के उपयोग के साथ घुला-मिला होता है। जैसा कि मकडी के जाले मे होता है, कुछ तार बगैर नुकसान के तोड़े जा सकते ह ; परतु यदि बहुत तार टूट जाएँ तो पूरा जाला ढेर हो जाता है—सप्रत्यय उपयोग के अयोग्य हो जाता है। मैं समझता हूँ कि जब हम देखने, सुनने, दर्द, सवेग इत्यादि के शरीर के बिना होने की कल्पना करने की कोई कोशिश करते है तब ठीक ऐसा ही हो जाता है।[१]

यदि यह बात सच है—और यहां मामले को काफी जोरदार रूप में प्रस्तुत किया गया है—तो मन का शरीर के बिना अस्तित्व रखना तर्कतः असभव है। निस्सदेह, इससे अभेद-सिद्धात का उन आक्षेपो से छुटकारा नहीं होता जो उसके विरुद्ध उठाए गए है : जैसे इस तथ्य से कि रग और आकृति एक-दूसरे के बिना कभी नही होते, इनका एक-दूसरे मे अपचयन नहीं हो सकता, वैसे ही इस बात से मानसिक घटनाओ का भौतिक मे अपचयन नहीं हो सकता। यदि यह आक्षेप सही है तो अभेद-सिद्धात फिर भी गलत हो सकता है, परतु देहहीन अस्तित्व की बात नही मानी जा सकती।

---

१. पी० टी० गीच, मेन्टल ऐक्ट्स : देयर कन्टेन्ट्स ऐंड देयर आब्जेक्ट्स (लदन : रूटलेज ऐंड केगन पॉल), पृ० ११२-१३।

अध्याय ७

धर्ममीमांसा

२१. ईश्वर का अस्तित्व

धर्ममीमांसा के क्षेत्र में अनेक समस्याएँ हैं : ईश्वर-संबंधी विश्वास किस प्रकार का विश्वास है ? ईश्वर में विश्वास करने के लिए प्रमाण क्या है ? ऐसे विश्वास के विरुद्ध क्या प्रमाण है ? ईश्वर के बजाय किस-किस चीज में विश्वास किया जा सकता है ? ईश्वर के अस्तित्व के अतिरिक्त उसकी प्रकृति के बारे में—ईश्वर की शक्ति, अच्छाई, बुद्धिमत्ता, उसका प्रयोजन, विश्व का शासन, इत्यादि के बारे में—क्या कहा जा सकता है ? क्या ऐसे विश्वासों की सत्यता या असत्यता मालूम की जा सकती है ? और यदि "हाँ" तो कैसे ? क्या जिस भाषा का प्रयोग हम ईश्वर का वर्णन करने के लिए करते हैं उसे शाब्दिक अर्थ में लेना चाहिए ? ईश्वर के अस्तित्व या नास्तित्व से हम मानवीय व्यवहार के बारे में क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं ? इस परिच्छेद में हम मुख्य रूप से ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष में प्रमाणों की चर्चा करेंगे ।

धर्म के अनेक पहलू हमारी चर्चा से बाहर रहेंगे । धर्म में न केवल ईश्वर में विश्वास आता है बल्कि प्रार्थना, कर्मकाण्ड, धार्मिक संगठन इत्यादि अनेक ऐसी बातें भी शामिल हैं जिनमें दार्शनिकों के बजाय पादरी-पुरोहितों की अधिक दिलचस्पी रहती है । धर्म के क्षेत्र में दर्शन का काम सदा की तरह विश्वास का तर्क से समर्थन करना होता है ।

स्वयं "धर्म" शब्द की भी व्याख्या की जरूरत है । अकेले ईश्वर में विश्वास से धर्म नहीं बनता । इस विश्वास का एक संस्था का रूप ग्रहण करना आवश्यक होता है और उसे चर्च, सिनेगॉग (आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज) जैसे किसी धार्मिक निकाय के सिद्धांतों का अंग होना चाहिए । इसके अलावा, कुछ परिभाषाओं के अनुसार, धर्म के लिए ईश्वर में विश्वास आवश्यक नहीं होता । बौद्धधर्म प्रायः एक धर्म माना जाता है, पर ईश्वर में विश्वास वहाँ नहीं है, हालांकि यहूदी और ईसाई धर्मों में वह स्पष्टतः देखा जाता है । "धर्म" शब्द का जगत में इतना अधिक खींचा-ताना गया है कि उसे पहचानना मुश्किल हो

जाता है : कुछ लोगों ने कहा है कि मनुष्य की आधारभूत अच्छाई में विश्वास करना ही धर्म है, और कि साम्यवाद-जैसी एक विचारधारा एक धर्म है (या बन सकता है), क्योंकि यह इसे माननेवालों के लिए सर्वोच्च मूल्य है। इस अर्थ में किसी का धर्म वह है जिसे वह जीवन में सर्वोच्च मूल्य मानता है या जिसे वह अपना चरम ध्येय समझता है। यहाँ तक कहा गया है कि धर्म वह है "जो कोई भी अपने फ़ुरसत के समय में करता है।" इन मनमाने अर्थों में हरेक का कोई धर्म होता है क्योंकि हरेक किसी-न-किसी चीज को अत्यधिक महत्व देता है और हरेक अपने फ़ुरसत के समय में कुछ-न-कुछ करता है। परंतु यदि इस शब्द का अर्थ इतना फैला दिया जाए तो इसकी उपयोगिता संदिग्ध हो जाती है और वह निश्चित रूप से भ्रामक हो जाता है। कोई कह सकता है कि "हरेक का एक धर्म होता है," परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि हरेक ईश्वर में विश्वास करता है बल्कि सिर्फ़ यह है कि हरेक के कुछ आदर्श होते हैं। यह कहने के बजाय कि साम्यवाद एक धर्म है, अधिक अच्छा यह कहना होगा कि साम्यवाद में कुछ विशेषताएँ धर्म की जैसी हैं : उसमें बहुत-सी चीजों के बारे में विश्वास होते हैं जो मिलकर एक व्यापक विश्व-दृष्टि का निर्माण करते हैं; वह भीषण निष्ठा पैदा करता है, जिसके लिए (और जिसके विरुद्ध) लोग मर-मिट जाते हैं, इत्यादि। "धर्म" की ऐसी ढीली-ढाली परिभाषा देना व्यर्थ ही नहीं बल्कि भ्रामक भी होगा जिससे "हरेक का एक धर्म होता है," यह कथन परिभाषातः सत्य बन जाय।

धर्म के लिए ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास आवश्यक हो या न हो, अगला प्रश्न यह पूछा जाता है : "ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किस प्रकार का विश्वास है ?" "ईश्वर" शब्द का क्या अर्थ है ? लोगों ने इस शब्द का प्रयोग नाना प्रकार की असंख्य चीजों के लिए किया है। कम-से-कम हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर में विश्वास करना किसी तरह की अलौकिक सत्ता में विश्वास करना है : ऐसी सत्ता जो भौतिक जगत् (जिसमें मानवीय मन भी शामिल है) में पाई जानेवाली चीजों और प्रक्रियाओं के पूरे समुच्चय से भिन्न और अधिक है। कभी-कभी ऐसा माना जाता है कि ईश्वर और प्रकृति अभिन्न हैं; परंतु यदि ऐसा होता तो 'ईश्वर" शब्द व्यर्थ होता और अकेला "प्रकृति" शब्द ही पर्याप्त होता। जिसे भी ईश्वर कहा जाए, प्रकृति वह नहीं है; उसे प्राकृतिक प्रक्रियाओं की समष्टि से परे कुछ होना चाहिए।

परतु "अलौकिक" शब्द की भी व्याख्या की जरूरत है। ईश्वर को कम-से-कम ऐसी बुद्धि तो समझा ही जाता है जो प्रयोजनपूर्वक काम करती है। ईश्वर की बुद्धि का अपरिमित होना भी आवश्यक नही है, जैसा कि ईसाई धर्म मे माना गया है : ऐसा भी हो सकता है कि वह बहुत ही परिमित हो, जैसी अनेक यूनानी देवताओ की मानी गई है। परतु बुद्धि के अतिरिक्त ईश्वर के अदर किसी शक्ति का होना भी जरूरी है। शक्ति का अनत होना जरूरी नही है, जैसा कि ईसाई धर्म मे माना गया है ; परतु इतनी पर्याप्त तो उसे होना ही चाहिए कि कम-से-कम उसके प्रयोजनो को वह पूरा कर सके। आम तौर पर उसकी शक्ति को मानवीय शक्ति से बडी होना चाहिए—उसमे पुद्गल (भौतिक द्रव्य) को उत्पन्न करने की (प्राचीन यूनानी धर्म के अनुसार नही) शक्ति, प्रकृति के नियमो के प्रभाव को रोकने की शक्ति, घटनाओ के क्रम मे हस्तक्षेप करने की शक्ति (भले ही इसके प्रयोग की सदा जरूरत न पडे), और कभी-कभी विश्व को रचने की शक्ति—अतिमानवीय काम करने की शक्ति (अर्थात् ऐसे काम करने की जिन्हे कोई मनुष्य न कर सके)—शामिल है। वह दयालु या हितकारी हो भी सकता है और नही भी : अपने कोप की शाति के लिए नर बलि की माँग करनेवाला या सपूर्ण देशो की लूटमार चाहनेवाला ईश्वर (या देवता), अत्यधिक क्रूर होगा। कुछ धर्मो मे ईश्वर को न केवल बुद्धि अपितु एक भौतिक शरीर से युक्त भी माना गया है, जैसे ओलिम्पस पर्वत के ऊपर निवास करनेवाले ज्यूस को, हालाँकि अन्य धर्मो मे ईश्वर को किसी भी भौतिक शरीर से मुक्त माना गया है—वह भौतिक द्रव्य के लेश से रहित "शुद्ध आत्मा" है।

अनेक देवताओ (बहुदेववाद) मे विश्वास किया जा सकता है और एक (एकदेववाद) मे भी। एक ऐसे ईश्वर मे विश्वास किया जा सकता है जिसने इस दुनिया की रचना की और तब इसे स्वय चलने के लिए बिल्कुल अकेली छोड दिया (तटस्थ ईश्वरवाद) अथवा जो विश्व के मामलो मे उसके इतिहास के प्रत्येक चरण मे अपना प्रभाव डालता है (सक्रिय ईश्वरवाद)। कोई यह विश्वास कर सकता है कि कोई ईश्वर है ही नही (निरीश्वरवाद), या यह मान सकता है कि प्रमाण के आधार पर हमे न तो यह कहने का अधिकार है कि ईश्वर है और न यह कहने का कि ईश्वर नही है (अज्ञेयवाद)।

यहूदी-ईसाई परपरा मे ईश्वर को (एकेश्वरवाद), मानवीय जीवन मे

सक्रिय भाग लेनेवाला, जैसे प्रार्थना को सुननेवाला और उसका उत्तर देनेवाला (ईश्वरवाद) तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और कल्याणकारी माना गया है। इस धार्मिक परंपरा के शुरू के इतिहास में ईश्वर के एक भौतिक शरीर की कल्पना की गई है : वह शीतल संध्या के समय में आदम के साथ घूमता है, साइनाइ पर्वत में मूसा को दर्शन देता है, इत्यादि। परंतु बाद में ईश्वर को भौतिक शरीर के बंधनों से मुक्त एक देहहीन आत्मा मान लिया गया : वह हर चीज देखता है, हर बात सुनता है, हर चीज जानता है, जो कि सिर्फ दो आँखें होने पर और एक बार में सिर्फ एक ही दिशा में देखने में समर्थ होने पर असंभव हुआ होता। संक्षेप में, वह एक देहहीन मन है : शरीर से विच्छिन्न एक चेतना है पर सोचने, महसूस करने और योजना बनाने में समर्थ है और अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने की शक्ति भी रखता है : यद्यपि वह स्वयं एक देह नहीं है, तथापि वह आदेश देकर देहों को चलाने में, अपनी इच्छा से चीजों को अस्तित्व में लाने में तथा "एवमस्तु" कहने मात्र से (जैसे, "प्रकाश हो") वस्तुओं की सृष्टि करने में समर्थ है। मुख्यतः ईश्वर की इस धारणा को ही ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी जानेवाली प्रमुख युक्तियाँ ध्यान में रखती हैं।

अ. प्रत्यय-सत्ता-युक्ति

ईश्वर के अस्तित्व की साधक अधिकतर युक्तियाँ यह दिखाने की कोशिश करती हैं कि जगत् या मानवीय अनुभव की कुछ बातों से ईश्वर के पक्ष में कुछ प्रमाण अवश्य उपलब्ध होता है। केवल प्रत्यय-सत्ता-युक्ति ही ईश्वर के अस्तित्व को अकेले "शुद्ध तर्क" से—इस प्रतिज्ञप्ति को कि ईश्वर का अस्तित्व है, ऐसी आधारिकाओं से निगमित करके जिन्हें (ऐसा विश्वास किया जाता है कि) हमें मानना ही चाहिए—सिद्ध करने की कोशिश करती है। इस युक्ति को वैध माननेवाले दार्शनिक या धर्मशास्त्री अधिक नहीं हैं; फिर भी, प्रत्यय-सत्ता-युक्ति ऐसी है कि उसका सामना हमें करना ही चाहिए, अन्यथा ईश्वर-साधक युक्तियों की हमारी जाँच अधूरी रहेगी।

युक्ति यह है : ईश्वर एक ऐसी चीज है जिससे बड़ी किसी की संकल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी चीज का प्रत्यय हमें है (हम समझते हैं कि ऐसी चीज का होना क्या होता है)। परन्तु ऐसी चीज के प्रत्यय के लिए अस्तित्व आवश्यक है : यदि उसका अस्तित्व न हो तो वह उतनी बड़ी नहीं होगी

जितनी तव जव उसका अस्तित्व हो, और परिभापा के अनुसार वह ऐसी सवसे वड़ी चीज हे जिसकी हम संकल्पना कर सकते हैं। अतः ऐसी चीज अस्तित्व रखती है।

१. इस युक्ति की आलोचना के रूप मे हमारे दिमाग में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से यह वात आएगी कि आप परिभापा के द्वारा किसी चीज को अस्तित्व मे नही ला सकते। आप "ईश्वर" की यह परिभापा दे सकते है कि वह "हमारी सकल्पना की सवसे वडी (सवसे पूर्ण) चीज है," परंतु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि ऐसी चीज अस्तित्व रखती है। आप एक पूर्ण द्वीप की यह परिभापा दे सकते है कि वह एक आदर्श तापमान, जलवायु, प्राकृतिक सपदा वाला द्वीप है, अथवा कोई भी मनचाही परिभाषा दे सकते है, परतु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि ऐसा द्वीप सचमुच अस्तित्व रखता है। यदि ऐसा निष्कर्ष निकल सकता तो आप एक पूर्ण द्वीप, एक पूर्ण विश्वविद्यालय , एक पूर्ण हजामत की ब्लेड और असख्य अन्य चीजों की परिभापा देकर यह सिद्ध कर लेते कि वे सव अस्तित्व रखती है। परंतु दुर्भाग्य की वात यह है कि उनका अस्तित्व है नही, क्योंकि मात्र परिभापा देने से आप किसी चीज का अस्तित्व सिद्ध नही कर सकते। परिभापा के द्वारा किसी चीज को अस्तित्व में नही लाया जा सकता। क की परिभापा से क के अस्तित्व के वारे मे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता (देखिए पृ० ४५-४६)।

वात तो ठीक है, परंतु प्रत्यय-सत्ता-युक्ति का समर्थक सामान्य रूप से इसे स्वीकार करने के वावजूद ईश्वर के विशेप प्रसग मे इसे स्वीकार नही करेगा। वह यह वताएगा कि पूर्ण द्वीप तथा अन्य वस्तुएँ ऐसी चीजें नही हैं जिनसे अधिक वड़ी चीज की कल्पना न की जा सके : वे केवल अपने प्रकार की सवसे वड़ी (या सवसे पूर्ण) चीजें है। परंतु ईश्वर न केवल सवसे वड़ा क (क वस्तुओं का कोई भी वर्ग है) है, अपितु किसी भी प्रकार की वड़ी-से-वड़ी जिस चीज की कल्पना की जा सकती है वह है। और सवसे वड़ी कल्पनागम्य चीज वह तव तक नही होगा जव तक उसका अस्तित्व न हो। अस्तित्व के विना पूर्ण रूप से महान् होने (पूर्णता) के लिए आवश्यक गुणों मे से एक का उसमे अभाव हो जाएगा। मान लीजिए कि आप एक ऐसी पूर्ण सत्ता की कल्पना करते हैं (वैसे ही जैसे आप एक एकशृंग की

कल्पना कर सकते हैं), और उसका अस्तित्व नही है। तब आप एक ऐसी पूर्ण सत्ता की कल्पना कर सकते है जिसका अवश्य अस्तित्व भी है। आपकी दूसरी कल्पना किसी ऐसी चीज की होगी जो आपकी पहली कल्पना की चीज से बडी है, क्योकि दूसरी का अस्तित्व है और पहली का अस्तित्व नही है। अस्तित्व के बिना वह सत्ता उतनी पूर्ण नही होगी जितनी अस्तित्व रखनेवाली सत्ता—और परिभाषा के अनुसार हम, जिसकी कल्पना की जा सके, ऐसी सबसे पूर्ण सत्ता के बारे मे बात कर रहे है। जिसकी कल्पना की जा सके ऐसी सबसे पूर्ण सत्ता की पूर्णता के लिए उसका अस्तित्व होना आवश्यक है—यदि उसका अस्तित्व न हो तो वह वास्तव मे पूर्ण न होगी। यदि उसका अस्तित्व न हो तो वह हमारी कल्पना की सबसे पूर्ण वस्तु न होगी।

परतु अब हम सीधे एक दूसरी आपत्ति मे पहुँच गए है :

२. अस्तित्व किसी चीज का गुणधर्म नही है। मान लीजिए कि हमारे मन मे सचमुच एक ऐसी सत्ता का प्रत्यय है जिससे बडी कोई चीज नही हो सकती। (बडी किस बात मे ? यहाँ "बडी" का क्या मतलब है ? इस पर काफी लबी-चौडी बहस की जा सकती है।) यह मानते हुए कि हमारे मन मे ऐसी एक सत्ता का प्रत्यय है, ऐसी एक सत्ता के अस्तित्व का प्रत्यय स्वय उस सत्ता के प्रत्यय मे कोई नई बात नही जोडता। जिसका हमे प्रत्यय है वह वही बनी रहती है, चाहे हम उसे अस्तित्व रखनेवाली सोचे या बिना अस्तित्व के सोचे। यदि म एक घोडे की कल्पना करूँ और तब यह कल्पना करूँ कि वह अस्तित्व रखता है, तो मेरी कल्पना की चीज मे कोई भिन्नता नही आएगी। *यदि उसमे अतर आ जाए, यदि दूसरी बार मे कोई नई बात* जुड जाए, तो मैं जिसके अस्तित्व की कल्पना करता हूँ वह वही चीज नही होगी जिसकी मने पहले कल्पना की थी।

हम किसी चीज के चाहे जो और जैसे विधेय सोचे—आगे यह बताकर कि वह चीज अस्तित्व रखती है, हम उस चीज मे कोई भी वृद्धि नही करते। अन्यथा, वह जो अस्तित्व रखती है ठीक वही चीज नही होगी बल्कि उससे अधिक कुछ होगी जिसे हमने पहले सोचा था। और इसलिए हम यह न कह सकेगे कि मेरी कल्पना की ठीक वही वस्तु अस्तित्व रखती है। यदि हम किसी चीज मे वास्तविकता की एक को छोडकर सभी विशेषताओ की कल्पना करें, तो मे यह कहने से कि वह न्यून चीज अस्तित्व रखती है वह लुप्त विशेषता

उसमें नही जुड़ जाती। इसके विपरीत, उसका अस्तित्व उस न्यूनता के सहित ही होगा जिस न्यूनता के साथ मैंने उसकी कल्पना की थी, क्योकि अन्यथा वह जिसका अस्तित्व है उस चीज से कुछ भिन्न होगी जिसकी मैने कल्पना की थी। अतः जब मै किसी सत्ता को किसी भी न्यूनता से रहित सर्वोच्च सत्ता के रूप में सोचता हूँ तब यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि उसका अस्तित्व है या नहीं।[१]

यदि हम कहें कि घोड़े की एक अयाल होती है, एक पूछ होती है, चार टाँगें होती है और चार खूर होते है, तो हम उसके कुछ गुणधर्म बता रहे है। परन्तु यदि हम आगे यह भी कहे कि घोड़ा अस्तित्व रखता है, तो हम उसका एक और गुणधर्म नही बता रहे हे। हम यह कह रहे है कि जिस चीज को हम गुणधर्मो से युक्त सोचते है वह अस्तित्व भी रखती है। हम उस चीज के अपने प्रत्यय मे कुछ जोडते नही है : हम उस प्रत्यय और जगत् के मध्य एक संबंध बताते है।

यह कथन कि क के कुछ गुणधर्म है, इस कथन से कि क का अस्तित्व है, जो अंतर रखता है उसे इस प्रकार समझाया जा सकता है : "एकशृंग एक सीग वाले होते हैं" का अर्थ है "यदि किसी ऐसी चीज का अस्तित्व है जिसे एकशृंग कहते है, तो उसका एक सीग होता है।" इसी प्रकार एकशृंगो के किसी भी अन्य गुणधर्म का अर्थ बताया जा सकता है। "एकशृंगो का अस्तित्व है" का ऐसा ही विश्लेषण करने पर अर्थ होगा "यदि किसी ऐसी चीज का अस्तित्व है जिसे एकशृंग कहते हैं तो उसका अस्तित्व है"—और निश्चय ही यह कहने से कि एकशृंगो का अस्तित्व है, हमारा मतलब यह नीरस पुनरुक्ति नही है। "एकशृंगों का अस्तित्व नहीं है" की इससे भी बुरी गत होगी, क्योकि इसका अर्थ होगा "यदि एकशृंगो का अस्तित्व है तो उनका अस्तित्व नही है"---जो कि स्वतोव्याघाती है। परन्तु यह प्रतिज्ञप्ति कि एकशृंगो का अस्तित्व नहीं है, निश्चय ही स्वतोव्याघाती नही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि "एकशृंग एक सीग वाले होते हैं" और "एकशृंग अस्तित्ववान् है" यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से समान है तथापि प्रकार की दृष्टि से बहुत भिन्न है : जो

१. इमानुएल कान्ट, क्रिटीक आफ प्योर रीजन, नार्मन केम्प स्मिथ का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ५०५-६।

विश्लेषण पहले में काम देता है वह दूसरे में काम नहीं देता। एक सींग वाला होना एक गुणधर्म है, चार टाँगों वाला होना एक गुणधर्म है, सफेद होना एक गुणधर्म है इत्यादि; परंतु अस्तित्व होना कोई गुणधर्म नहीं है। यह कहना कि कोई चीज अस्तित्व रखती है यह कहना है कि एक ऐसी चीज है जो इन गुणधर्मों से युक्त है।

इस प्रकार प्रत्यय-सत्ता-युक्ति यह सिद्ध नहीं कर पाती कि एक ऐसी सत्ता है जो हमारी कल्पना में सबसे महान् है। हम निश्शक होकर कह सकते है कि यदि कोई सबसे महान् कल्पनागम्य सत्ता है तो उसका अस्तित्व है—परंतु. यह एक पुनरुक्ति है, और इससे बिल्कुल भी यह सिद्ध नहीं होता कि ऐसी कोई सत्ता है ही।

आ. कारणमूलक युक्ति

विश्व-कारण-युक्ति इस तथ्य को लेकर चलती है कि विश्व या जगत् का अस्तित्व है। इस प्रारंभिक आधारिका से युक्ति दो मे से किसी एक दिशा को पकड़ सकती है। पहली कारणमूलक युक्ति है जिसे उत्पत्तिमूलक युक्ति भी कहा जाता है। आप अपने चारों ओर के जगत् को देखिए। लाखों तारे हे, आकाशगंगाएँ है, जीवो का विशाल समूह है, मानवीय जीवन का विशाल दृश्य है। यह सब कहीं से जरूर आया होगा। किसी सत्ता ने इस सबकी सृष्टि की होगी—और सृष्टि ईश्वर के अलावा कौन कर सका होगा? संक्षिप्त रूप में युक्ति यह है : हर चीज का कोई कारण होता है। *यदि ऐसी बात है तो स्वयं विश्व का भी अवश्य कोई कारण होना चाहिए। वही कारण ईश्वर है।* अतः ईश्वर का अस्तित्व है।

१. "हर चीज का एक कारण होता है," इस अस्पष्ट कथन का अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग अर्थ लगाया है। अध्याय ५ मे हमने इसकी विस्तार से जाँच की थी और इस विवाद में दुबारा उलझने की हमें जरूरत नहीं है। परंतु तर्क के लिए मान लीजिए कि यह कथन सत्य है (यह निश्चय करने के लिए कि यह प्रागनुभविक रूप से सत्य है या नहीं, हमें यहाँ रुकने की जरूरत नहीं है)। लेकिन सत्य होने पर भी यह केवल घटनाओं या होनेवाली बातों पर ही लागू होता है। क्या घटनाओं के साथ-साथ वस्तुओं का भी कोई कारण होता है? निस्संदेह यह कहने की अपेक्षा कि स्वयं वस्तु का कोई कारण होता है यह कहना अधिक अच्छा होगा कि अस्तित्व में आनेवाली वस्तु का कोई

कारण होता है : चीजों के इतिहास में होनेवाली किसी कालिक घटना या प्रक्रिया का ही सदैव कारण हुआ करता है। जब हम किसी वस्तु, जैसे एक अंडा, का कारण पूछते हैं तब हमारा मतलब उसकी उत्पत्ति के कारण से होता है जो कि एक घटना या प्रक्रिया है। पर निश्चय ही यही प्रश्न हम विश्व के बारे में पूछ सकते हैं।

लेकिन क्या विश्व एक वस्तु है ? हम यह कहना अधिक उचित समझेंगे कि "विश्व" शब्द एक समूहवाचक संज्ञा है और कि विश्व वस्तुओं का—जितनी भी वस्तुएँ है उन सबका—एक समूह है। क्या किसी पूरे समूह का एक ही कारण होना जरूरी है, अथवा क्या समूह की प्रत्येक वस्तु का एक अलग कारण नहीं हो सकता ? जैसा कि ह्यूम ने कहा था, "यदि भौतिक द्रव्य के बीस कणों के एक समूह में से प्रत्येक कण का मैं आपका विशेष कारण बता दूँ और तब बाद में आप मुझसे बीसों के पूरे समूह का कारण पूछने लगें, तो मैं इसे बहुत ही अनुचित मानूँगा। भागों के कारण बता दिए जाने पर वह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है।"[1]

बात को निम्नलिखित नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

मान लीजिए कि मैं पाँच एस्किमो लोगों के एक समूह को छठे एवेन्यू और पचासवीं स्ट्रीट के एक कोने में खड़ा देखता हूँ और मैं यह समझना चाहता हूँ कि यह समूह न्यूयार्क क्यों आया। छानबीन से ये बातें प्रकाश में आती है : एस्किमो न० १ को ध्रुव-प्रदेश का अत्यधिक शीत पसंद नहीं आया और उसने कुछ गरम जलवायु में जाने का निश्चय कर लिया। एस्किमो नं० २ न० १ का पति है ; वह उससे बहुत प्रेम करता है और इसलिए वह उसके बिना नही रह सकता था। नं० ३ एस्किमो नं० १ और नं० २ का लड़का है ; वह इतना छोटा और इतना दुर्बल है कि अपने माँ-बाप का विरोध नहीं कर सकता। नं० ४ ने न्यूयार्क टाइम्स में यह विज्ञापन देखा था कि टेलीविजन के लिए एक एस्किमो की जरूरत है। नं० ५ एक निजी जासूस है जिसे पिंकर्टन एजेन्सी ने एस्किमो नं० ४ पर नजर रखने के लिए लगाया हुआ है।

अब हम यह मान लेते हैं कि पांच एस्किमो लोगों के समूह के प्रत्येक सदस्य के बारे में हमने बता दिया है कि वह न्यूयार्क में क्यों है।　　८८ क

---

१. डेविड ह्यूम, डायलॉग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजन, भाग IX।

पूछता है : "ठीक है, परतु पूरे समूह के वारे मे तो आपने वताया ही नही कि वह न्यूयार्क मे क्यो है ?" स्पष्ट है कि यह एक वेतुका सवाल है। उक्त पाँच सदस्यो के अतिरिक्त कोई समूह नही है और जव हमने बता दिया है कि उन पाँच मे प्रत्येक न्यूयार्क मे क्यो है तव स्वत. ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वह समूह वहाँ क्यो है। विश्व-कारण-युक्ति का आलोचक यह दावा करेगा कि जितना वेतुका यह सवाल है उतना ही अलग-अलग चीजो के कारण पूछने के वाद पृथक् रूप से यह पूछना है कि पूरी शृ खला का क्या कारण है।[1]

२. पर हम मान लेते है कि 'क्या पूरे विश्व का कोई कारण है," यह प्रश्न पूछना उचित है। अव मान लीजिए कि इसका उत्तर 'ईश्वर" है। तव अगला प्रश्न अनिवार्य रूप से यह उठता है : "पर ईश्वर किस कारण से पैदा हुआ ?" वहुत-से वच्चे इस सवाल को पूछकर अपने माँ वाप को वडी परेशानी मे डाल देते हैं। पर सवाल है बिल्कुल ही उचित . आखिर हमे बताया ही गया है कि हर चीज का एक कारण होता है, और यदि यह बात सच है तो ईश्वर का भी कोई कारण होना चाहिए। और यदि ईश्वर का कोई कारण नही है तो यह सच नही है कि हर चीज का कोई कारण होता है। पर यह कि हर चीज का एक कारण होता है, हमारी युक्ति की पहली आधारिका थी।

तो फिर ऐसा प्रतीत होगा कि कारणमूलक युक्ति केवल अवैध ही नही है वल्कि स्वतोव्याघाती भी है : निष्कर्ष यह कहता है कि एक चीज (ईश्वर) का कोई कारण नही है, और इस प्रकार वह यह कहनेवाली आधारिका का व्याघाती है कि हर चीज का कोई कारण होता है। यदि यह आधारिका सत्य है तो निष्कर्ष सत्य नही हो सकता, और यदि निष्कर्ष सत्य है तो यह आधारिका सत्य नही हो सकती। वहुत-से लोग इस चीज को एकाएक नहीं समझ पाते, क्योकि वे इस युक्ति का उपयोग ईश्वर मे पहुँचने के लिए करते हैं और तव अपनी इष्ट वस्तु मे पहुँच लेने के वाद वे इस युक्ति के वारे मे विल्कुल भूल जाते हैं। जैसा कि शोपेनहावर ने सकेत किया था, वे इस युक्ति को वैसे ही इस्तेमाल करते हैं जैसे एक टैक्सी गाडी को। वे इसका प्रयोग अपने गतव्य स्थान तक पहुँचने के लिए करते हैं और तव उसका क्या होता है, इस बात को विल्कुल भी चिंता किए बिना उसे विल्कुल दिमाग से निकाल देते हैं। परतु

---

१. एडवर्ड्स तथा पेप, ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसफी, पृ० ३८० ।

संगति बनाए रखने के लिए हमे आगे भी सोचना पडेगा : यदि निष्कर्ष स्वयं अपनी ही आधारिका के विरुद्ध है तो यह एक युक्ति के खिलाफ संभवतः सबसे घातक अभियोग होगा : यह कि वह स्वतोव्याघाती है।

लेकिन कोई यह आपत्ति कर सकता है : "मेरा मतलब यह नही है कि हर चीज का कारण होता है—मेरा मतलब यह है कि ईश्वर को छोड़कर हर चीज का एक कारण होता है।" परतु आप यहीं क्यो रुके ? यदि कही रुकना ही है तो स्वयं विश्व पर ही क्यो न रुका जाए ? कम-से-कम वह ऐसी चीज तो है जिसका हमे कुछ अनुभव और कुछ ज्ञान है।

यदि हमे रुकना है और आगे नही जाना है तो वहाँ तक क्यो जाएँ ? क्यो न भौतिक जगत् पर ही रुक जाएँ ? हम अनत तक चलते चले बिना कैसे सतोष कर ले ? और इस अनत प्रक्रम मे भी सतोष की क्या बात है ? हाथी वाले दार्शनिक की कहानी को याद रखिए। प्रस्तुत प्रसग मे वह जितनी लागू होती है उतनी कही नही। यदि भौतिक जगत् एक मिलते-जुलते प्रत्ययात्मक जगत पर आश्रित है तो इस प्रत्ययात्मक को भी किसी अन्य जगत् पर आश्रित होना चाहिए, और इसी प्रकार आगे भी अनत तक। अतः अच्छा यह होगा कि वर्तमान भौतिक जगत् के परे कही देखा ही न जाए। यह मानने से कि इसकी व्यवस्था का कारण इसके अदर ही है, हम वास्तव मे उसे ईश्वर बना देते है, और जितनी जल्दी हम उस दिव्य सत्ता तक पहुँच जाएँ उतना ही अच्छा है। जब आप इस लोक से एक कदम बाहर की ओर बढ जाते है तब आप केवल एक परिहासपूर्ण कुतूहल को जन्म देते हैं, जिसे शात करना सदैव असभव होता है।[1]

३. जो भी हो, कारणता का कोई सबूत हमे केवल इंद्रियानुभव के जगत् मे ही मिलता है और ऐसा प्रतीत होगा कि कारणो की खोज को इस जगत् के परे भी जारी रखना उचित नही है। कारणो का हमारा ज्ञान केवल दिक्कालमय वस्तुओं, प्रक्रियाओ और घटनाओ के क्षेत्र के अंदर ही सीमित है। उसके परे हमारा कारणो की बात करना बिल्कुल निराधार है, क्योकि अनुभव हमे किसी ऐसी कारणता के बारे मे कुछ भी नही बताता। इस सिद्धात को अनुभवातीत जगत् मे लागू करना उस इंद्रियानुभविक प्रमाण को छोड़ देना है

१. डेविड ह्यूम, डायलॉग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजन, भाग IV।

जो इस सिद्धात का आधार है। वास्तव मे यह पूछा जा सकता है कि इस विश्व मे चलनेवाली घटनाओ और प्रक्रियाओ के दायरे के बाहर "कारण' शब्द का कोई अर्थ है भी। जैसा कि कान्ट ने कहा था, "कारणता का सिद्धात केवल हमारे इंद्रियगोचर जगत् मे ही लागू होता है; उसके बाहर न वह कोई अर्थ रखता है और न लागू ही होता है। परतु विश्व-कारण-युक्ति मे उसका उपयोग ठीक इसी प्रयोजन से किया गया है कि हम इस ऐंद्रिय जगत् से परे जा सके।"[१]

४. फिर भी बहुत-से व्यक्तियो के मन मे यह विचार घर किए हुए है कि चेतन कर्ताओ के कर्म, जो कि उनके संकल्पो को व्यक्त करते है, कारणता के क्षेत्र मे एक विलक्षण स्थान रखते है। हम कभी ऐसा नही देखते कि लकड़ियाँ और पत्थर स्वयं एक-दूसरे से मिलकर यात्रिक वस्तुओ का निर्माण कर डाले: हम यत्रो की कल्पना करते है, उनकी योजना बनाते हैं और तब उन चीज़ो को जिनसे उनका निर्माण किया जाता है कुछ जटिल रचनाओ की शक्ल (मकान, घडियाँ इत्यादि बनाने मे) दे देते है। ये वस्तुएँ इन शक्लो मे अस्तित्व केवल हमारी मानसिक क्रियाओ के कारण ही रखती है। इस तरह हम तर्क करते है कि विश्व के प्रसग मे भी यही बात लागू होती है।

विश्व एक योजना, आयोजन या अभिकल्प का परिणाम है, इस *धारणा* की चर्चा प्रयोजनमूलक युक्ति के अंतर्गत की जाएगी। परतु कारणमूलक युक्ति की चर्चा के दौरान थोडा रुककर यह पूछ लेना उपयोगी होगा : केवल इंद्रियानुभविक साक्ष्य को आधार मानते हुए क्या हमे यह कहने का अधिकार मिल जाता है कि सकल्प अतिम कारण है ? ऐसा प्रतीत होगा कि वे अतिम कारण नही है : (१) जड पदार्थों की अनेक गतियाँ, जैसे लकडी के टुकडो के मेल से एक मकान तैयार हो जाना, सचमुच सकल्प के परिणाम होती है, और सकल्प के बिना वे कभी हो ही न सकी होती। (२) परंतु ऐसा हम कदापि नही कह सकेगे कि सकल्प भौतिक द्रव्य को उत्पन्न करता है। वह तो केवल पहले से ही अस्तित्व रखनेवाले भौतिक द्रव्य के कणो की स्थितियो मे परिवर्तन करता है। (३) सकल्प शक्ति या ऊर्जा को भी उत्पन्न नही करता। सकल्प गति को अवश्य उत्पन्न करता है, जैसे तब जब सकल्प से शरीर मे गति आती

१. क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन, पृ० १११।

है। परतु ऐसा वह केवल असख्य मस्तिष्कीय घटनाओ के द्वारा ही कर पाता है, जिनमे ऊर्जा एक रूप से दूसरे रूप मे (गति की ऊर्जा मे) बदल जाती है। स्वय ऊर्जा को सकल्प उत्पन्न नही करता। ऊर्जा को उत्पन्न करने की बात तो बहुत दूर है, मस्तिष्क के कणो का व्यवहार (जिसका होना चेतना के होने के लिए अनिवार्य है) स्वय ही ऊर्जा-सरक्षण सिद्धात का एक उदाहरण है और उसपर आश्रित है। जितने भी अनुभव हमे हुए है उनमे ऊर्जा सकल्प से पहले अस्तित्व रखती है न कि सकल्प ऊर्जा से पहले। सकल्प (अथवा शरीर के स्तर पर जिसे भी कोई मन के बारे मे अपनी धारणा के अनुसार उसका सहवर्ती माने) ऊर्जा की हजारो अभिव्यक्तियो मे से केवल एक है। इस प्रकार किसी अनुभवमूलक युक्ति मे सकल्प एक अतिम कारण बन सकने के योग्य है ही नही। (४) यह बात बिल्कुल निश्चित लगती है कि सकल्प असख्य युगो तक अस्तित्व मे था ही नही—जबकि उस पूरी अवधि मे ऊर्जा-सरक्षण का नियम अवश्य ही सक्रिय रहा। विकास के एक लबे क्रम के अत मे सकल्प का उदय हुआ। जहाँ तक हम जानते हैं, भौतिक द्रव्य और ऊर्जा नित्य है, सकल्प नित्य नही है, क्योकि हम काल मे उनका प्रारभ कहाँ हुआ, यह बता सकते है।

काल की दृष्टि से प्रथम कारण—प्राय यह मान लिया जाता है कि कारणो और कार्यो का क्रम पीछे की ओर अनत तक नही चल सकता, बल्कि कही न कही उसे रुकना होगा। तीन अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी का निर्माण हुआ था, पर सूर्य पहले से मौजूद था। और उससे पहले ? सूर्य धीरे-धीरे ठडी पडती जानेवाली आकाशगगा की सर्पिल भुजाओ के द्वारा अलग फेंक दिया गया था और लाखो अन्य तारे भी। और उससे पहले ? स्वय हमारी आकाशगगा का निर्माण हुआ था—और यही इतिहास धुँधला पड जाता है। ब्रह्माड-विज्ञानियो मे इस बात को लेकर जबर्दस्त विवाद है कि ठीक क्या हुआ और कब हुआ, परतु इस बात मे उन्हे कोई सदेह नहीं है कि उसके पहले कुछ हुआ था। लेकिन कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि अत मे बात को कहीं न कहीं रुकना होगा। कोई समय ऐसा था जब घटना क्रम शुरू हुआ था, अर्थात् घटनाओ का कोई प्रथम कारण होना चाहिए।

शायद इसका मतलब यह है कि कोई प्रथम घटना थी। यदि ऐसा है तो बात समझ मे आसानी नहीं है और कठिनाइयो से भरी हुई है। यह पहली

घटना कब हुई थी ? चूंकि हम काल की बात केवल घटनाओ के अनुक्रम के संदर्भ मे ही कर सकते है, इसलिए क्या यह प्रश्न अर्थहीन नही है ? पहली घटना जब हुई तब क्यो हुई और जो रूप उसका था वह क्यो था ? प्रकटतः किसी कारण से नहीं, क्योकि यह पहली घटना थी और उसका कोई कारण नही हो सकता था ; उसका कोई पूर्ववर्ती था ही नही, कोई उसे उत्पन्न करनेवाला था ही नही—वह किसी भी कारण के बिना एकाएक अस्तित्व मे आ गई (यदि उसका कोई कारण था तो वह पहली घटना नही थी)। जो भी हो, ईश्वर पहली घटना नही हो सकता, क्योकि ईश्वर घटना नही है।

तो शायद ईश्वर ने उस तथाकथित पहली घटना को उत्पन्न किया : इतिहास का प्रारंभ किसी मन—ईश्वर—के अदर हुआ, और तब ईश्वर ने विश्व की शून्य से रचना कर डाली और इस प्रकार वह पहली घटना (या घटनाक्रम) का कारण बना। केवल उसका सकल्प ही इस बात का हेतु है कि पहली घटना और बाद की सब घटनाएँ भी जब हुई तब और जिस रूप मे हुई उस रूप मे क्यो हुई। घटनाओ का क्रम पीछे की ओर अतीत मे ईश्वर तक चलकर रुक जाता है।

परतु इसके बाद अवश्य ही यह सवाल पैदा होता है कि ईश्वर का क्या कारण था। यह कहने से काम नही चलेगा कि ईश्वर स्वय अपना कारण है। यदि ईश्वर पहले से मौजूद था तो उसके स्वयं को उत्पन्न करने की जरूरत ही नही थी क्योकि वह तो पहले से ही था। यदि ईश्वर पहले से मौजूद नही था तो किसी की उत्पत्ति का कारण बनने के लिए वह था ही नही : असत् किसी चीज का कारण नही बन सकता। इस प्रकार हर तरह से ईश्वर के अस्तित्व की व्याख्या देनी ही पड़ेगी। निस्सदेह हम ईश्वर के अस्तित्व को शाश्वत मान सकते हैं, यानी एक ऐसा तथ्य, जो व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता—परंतु तब तो स्वय विश्व को भी ऐसा माना जा सकता है।

कारणो की असीम शृ खला—परतु किसी प्रथम कारण की जरूरत ही क्या है, अथवा यह मानने की क्या आवश्यकता है कि "प्रथम कारण" से पहले कोई ईश्वर था जिसने प्राचीन काल मे कभी घटनाओ के अनुक्रम को शुरू किया था ? क्यो न घटनाओ के अनुक्रम को पीछे की ओर असीम माना जाए ? ऐसा प्रायः माना भी गया है :

किसी घटना के प्रथम होने की जरूरत ही नहीं थी। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक घटना के पहले कोई और घटना हुई और काल अनादि है। इस वात को समझने में कोई कठिनाई नहीं है कि काल दोनों ही दिशाओं में असीम है। हम जानते हैं कि संख्याओं की शृंखला का कोई अंत नहीं है, कि प्रत्येक संख्या से वड़ी एक संख्या होती है। यदि उसमें ऋण-संख्याओं को भी शामिल कर लें, तो संख्याओं की शृंखला अनादि भी हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक संख्या से छोटी कोई संख्या मिल जाएगी। गणित में ऐसी असीम शृंखला की कल्पना में कोई कठिनाई नही होती जिसका न आदि हो और न अंत हो। इस कल्पना में कोई विरोधाभास है ही नही। यह आपत्ति करना कि पहले-पहल कोई घटना हुई होगी, काल का कहीं प्रारंभ हुआ होगा, अशिक्षित बुद्धि की उपज है। तर्कशास्त्र काल की संरचना के वारे में कुछ भी हमें नहीं बताता। वह हमें आदिहीन असीम शृंखलाओं से व्यवहार करने का तरीका बताता है और उन शृंखलाओ से व्यवहार करने का भी जो सादि हैं। यदि वैज्ञानिक प्रमाण एक असीम काल का समर्थन करता है जो अनादि से आया है और अनंत तक चलता रहेगा, तो तर्कशास्त्र को कोई आपत्ति नहीं है।[१]

फिर भी, कारणों की एक असीम शृंखला को लेकर हमें कुछ कठिनाई महसूस हो सकती है, जो कि संख्याओ के प्रसंग में नही होती। जव हम कहते है कि पूर्ण संख्याओं की शृंखला असीम है, तव हमारा मतलव यह होता है कि आप चाहे कितनी ही बड़ी संख्या की कल्पना करें उसमें एक जोड़कर आप सदैव उससे भी वड़ी सख्या प्राप्त कर सकते है और कि संख्याओ की शृंखला में कोई भी अतिम संख्या नही है। जव हम कहते है कि विश्व के इतिहास में घटनाओं की शृंखला असीम है तव हमे यह मानना होगा कि वह शृंखला अनादि है (केवल यह नही कि हम उसके आदि को नही खोज सकते)। चूंकि घटनाओं की शृंखला असीम है, इसलिए उसके पूरे होने में असीम काल लगेगा। यह इस कथन से क्या अंतर रखता है कि वह कभी पूरी नहीं होगी ? यदि घटनाओं की असीम शृंखला इस क्षण से पहले से चली आ रही है तो इस क्षण तक हम कैसे पहुँचे ? यदि वर्तमान क्षण से पहले घटनाओं की एक असीम शृंखला हो चुकी है तो हम वर्तमान क्षण में—जिसमें कि हमारा इस समय होना स्पष्ट ही है—आ कैसे सके ?

---

१. हन्स राइशेनबाक, दि राइज ऑफ साइन्टिफिक फिलॉसफी, पृ० २०७-८।

हम मान लेते हैं कि यह कठिनाई दूर हो गई है (बात अभी विवादाधीन है) ; हाथ क्या लगा ? घटनाओं की एक असीम शृंखला अतीत के अंदर असीम दूरी तक फैली हुई ; परंतु ईश्वर इस तस्वीर में कहाँ बैठता है ? ऐसी एक सत्ता के रूप में नहीं जो प्रथम घटना से भी पहले अस्तित्व रखती हो, क्योंकि प्रथम घटना कोई है ही नहीं। चूँकि विश्व का सदा अस्तित्व रहा है, इसलिए ईश्वर ने उसे किसी काल में रचा भी नहीं। जो भी इस मत के पक्ष में कहा जाए, कारणमूलक युक्ति के अंतर्गत वह बिल्कुल नहीं आता, क्योंकि वह काल में विश्व के प्रारंभ को लेकर पूछे जानेवाले प्रश्न का उत्तर नहीं है।

विश्व कहां से आया ? अब हम उन सवालों के अर्थ पर विचार करते हैं जो विश्व की उत्पत्ति के संबंध में पूछे जाते हैं। हम प्रायः इस प्रकार के प्रश्न पूछते है : "क कहां से आया ?" यदि हम यह पता कर सकें कि इस प्रश्न का दैनिक जीवन में क्या अर्थ हो सकता है, तो हम इस बात पर कुछ रोशनी डाल सकते हैं कि विश्व के विशेष प्रसंग में (यदि यह कोई मतलब रखता है तो) इसका क्या अर्थ है।

"क कहाँ से आया ?" (१) कभी-कभी जब हम इस सवाल को पूछते हैं तब हमारा मतलब यह होता है : यह पहले किस जगह पर था ? और जवाब यह काफी होगा जैसे "यह अफ्रीका से आया" या "यह मेरी जेब से आया"। (२) अथवा इसका मतलब यह हो सकता है : यह अपनी पहली जगह से मौजूदा जगह पर कैसे पहुँचा ? वह पोटली यहाँ कैसे आई ? डाकिया उसे यहाँ लाया। इसे इस सवाल का संतोषजनक जवाब माना जाता है और आगे यह पूछने की जरूरत नहीं होती कि जब वह यहाँ लाई गई तबसे पहले वह कहाँ थी। (३) कभी-कभी हमें कोई और ही सूचना इष्ट होती है : उस काम का करनेवाला कौन था जिसका यह परिणाम हुआ ? उदाहरणार्थ, (अ) "यह चित्र कहाँ से आया ?" "मेरे भाई ने उसे बनाया है।" (ब) "वह यंत्र कहाँ से आया ?" "बच्चे ने उसे वहाँ रख दिया।" "कहाँ से आया" का यह अर्थ निश्चय ही चीज का निर्माण करनेवाले या उसे वहाँ रखनेवाले चेतन प्राणी के पहले से अस्तित्व की अपेक्षा रखता है। (४) कभी-कभी हम यह जानना चाहते हैं कि क पहले किस अवस्था में था। यदि उष्ण प्रदेश का कोई निवासी हवाई जहाज से किसी शीत प्रदेश में पहुँच जाए और कैंटीन में एक विचित्र

ठोस पदार्थ को देखे (उसने पहले कभी बर्फ नही देखी), तो वह पूछ सकता है : "यह कहाँ से आया ?" और इसका जवाब यह नही होगा कि "यह अफ्रीका से आया" (हालाँकि एच₂ ओ के जो अणु इस समय जम गए हैं ठीक वे ही २४ घंटे पहले अफ्रीका मे थे) बल्कि यह होगा कि प्रश्नाधीन पदार्थ का अवस्था-परिवर्तन हो गया है । (५) कभी-कभी सूचना यह वाछित होती है कि चीज अपनी पूर्व अवस्था से वर्तमान अवस्था में कैसे पहुँची : उदाहरणार्थ, "वह ठंडी हो गई और जम गई"—यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे हम उस व्यक्ति के सामने प्रदर्शित कर सकते है, जैसे फ्रिज की आइस-ट्रे मे पानी डालकर तथा यह कहकर कि वह व्यक्ति उसे बर्फ मे परिणत होने की विभिन्न अवस्थाओ में से गुजरते हुए देखता रहे ।

परतु "क कहाँ से आया ?" के इन अर्थो मे से कोई भी समग्र विश्व पर लागू नही होता । "विश्व" मे सभी स्थान और काल तथा दिक्काल मे अस्तित्व रखनेवाली सभी चीजे शामिल हे । इस प्रकार इस प्रश्न का पहला अर्थ लागू नही होता : विश्व जहाँ इस समय है उससे भिन्न किसी स्थान में पहले हो ही नही सकता था ; सभी स्थान उसके अदर आ जाते है । चूंकि समग्र विश्व पर पहला अर्थ लागू नही होता, इसलिए दूसरा भी नहीं होता : जब विश्व पहले किसी और स्थान मे हो ही नही सकता तब उस स्थान से इस स्थान मे वह आएगा ही कैसे । तीसरा अर्थ प्रस्तुत सदर्भ में आत्माश्रय-दोष वाला बन जाता है : वह यह मान लेता है कि कोई चेतन सत्ता थी जिसने "उसे वहाँ रखा है" जबकि विवाद का विषय ही यह है । और "उसे वहाँ रखा है" मे भी यह मान्यता छिपी हुई है कि अन्य स्थान भी हैं—कम-से-कम एक वह जहाँ क को रखा गया है और दूसरा वह जहाँ से उसे रखा गया है, और यह बात भी समग्र विश्व पर लागू नही होती । चौथा अर्थ भी समग्र विश्व पर लागू नही होता : चूंकि विश्व के अदर सब स्थान और सब काल समाविष्ट हैं, इसलिए यह नही हो सकता कि वह किसी पहले की अवस्था से जो कि विश्व के इतिहास का अंग नहीं थी, वर्तमान अवस्था मे आया हो । और न पाचवाँ अर्थ ही लागू हो सकता है (वह अपनी पिछली अवस्था से कैसे आया), क्योकि उसमे भी पूर्वावस्था अपेक्षित है ।

निश्चय ही यह सही है कि विश्व (या उसके किसी अश) की

करना है उसमे ईश्वर को कारण के रूप मे नही, वल्कि व्याख्या के रूप में लिया गया है। युक्ति यह है कि ईश्वर को काल मे घटनेवाली घटनाओ के कारण के रूप मे नही मानना चाहिए, क्योकि कारण काल मे होते है, वल्कि इस तथ्य की व्याख्या के रूप मे लेना चाहिए कि कारण-शृंखला का, वह चाहे असीम हो या ससीम हो, अस्तित्व है। ईश्वर कारण-शृंखला का प्रथम कारण नही है वल्कि इस वात का हेतु है कि इस शृंखला का अस्तित्व ही क्यो है।

इस मत के अनुसार ईश्वर कालातीत है। हम उसे "शाश्वत" कह सकते है, पर यह ध्यान देने की वात है कि यह शब्द अनेकार्थक है : इसका अर्थ नित्य हो सकता है (काल मे अस्तित्व रखनेवाला, पर पूरे समय तक वना रहनेवाला—जैसे ऊर्जा, या, शायद, पुद्गल भी, है); परतु इसका मतलव कालनिरपेक्ष (अ-कालिक, काल से बिल्कुल असवद्ध) भी हो सकता है। गणितीय वस्तुएँ, जैसे सख्या २, तथा सामान्य, जैसे नीलत्व और त्रिभुजत्व, कालातीत है इनका कोई इतिहास, कोई पहले और पीछे नही होता, और "सख्या २ का अस्तित्व कल से प्रारभ हुआ" कहना न सत्य होगा और न असत्य वल्कि अर्थहीन होगा। कालातीत वह है जिसपर कालबोधक विशेपणो को लागू करना निरर्थक होता है। इस मत के अनुसार ईश्वर कारण नही है, क्योकि कारण तो काल सापेक्ष होते है। इसके बजाय यह मानना चाहिए कि ईश्वर हर चीज के, नियमो और काल मे घटनेवाली विशेप घटनाओ दोनो ही के, अस्तित्व की अकालिक (कालनिरपेक्ष) व्याख्या है। यदि ऐसी बात है तो युक्ति अव कारणमूलक नही रही · ईश्वर को यहाँ कारण नही माना गया है वल्कि घटनाओ की पूरी शृंखला के अस्तित्व की व्याख्या के रूप मे वताया गया है। इस तरह अव हम विश्व-कारण-युक्ति के दूसरे रूप मे पहुँच गए है।

इ. आपातिता पर आश्रित युक्ति

इस युक्ति को इस तरह सूत्रवद्ध किया जा सकता है : विश्व मे प्रत्येक चीज और प्रत्येक घटना आपाती है ; वह व्याख्या के लिए अपने से भिन्न किसी चीज पर आश्रित है। परतु हर चीज आपाती नही हो सकती : चूँकि प्रत्येक आपाती सत्ता व्याख्या के लिए अपने से वाहर की किसी चीज पर आश्रित होती है, इसलिए ऐसी कोई चीज अवश्य होनी चाहिए जो आपाती न हो वल्कि स्वयं ही अपने अस्तित्व का हेतु हो, और वही चीज ईश्वर है।

सबसे पहले हम जानते हैं कि दुनिया मे कम-से-कम कुछ सत्ताएँ ऐसी हैं

जिनके अस्तित्व का हेतु स्वय उनके अंदर नही होता। उदाहरणार्थ, मैं अपने माता-पिता पर आश्रित था और अब हवा, भोजन इत्यादि पर आश्रित हूँ। दूसरी बात यह है कि विश्व ऐसी अलग-अलग वस्तुओ का वास्तविक या कल्पित सघात मात्र है जिनमे से कोई भी अपने अस्तित्व का हेतु स्वय नही है। जो वस्तुएँ दुनिया मे हैं उनसे अलग कोई दुनिया नही है, वैसे ही जैसे मनुष्यो से अलग मनुष्य-जाति कोई नही है। अत मुझे यह कहना चाहिए कि चूंकि वस्तुओ या घटनाओ का अस्तित्व है और चूंकि अनुभव की कोई भी वस्तु ऐसी नही है जिसके अदर ही उसके अस्तित्व का हेतु मौजूद हो, इसलिए वस्तुओ की समष्टि के बाहर ही उसका हेतु होना चाहिए। वह हेतु कोई अस्तित्ववान् सत्ता होना चाहिए। अब, वह सत्ता या तो स्वय ही अपने अस्तित्व का हेतु है या नही है। यदि है तो बहुत अच्छी बात है। यदि नही है तो हमे और आगे चलना होगा। परतु यदि हम अनत तक चलते रहे तो अस्तित्व की कोई व्याख्या मिलेगी ही नही। अतएव मुझे कहना चाहिए कि अस्तित्व की व्याख्या के लिए हमे एक ऐसी सत्ता मे पहुँचना होगा जिसके अपने अस्तित्व का हेतु स्वय अपने ही अदर मौजूद हो, अर्थात् जिसका अनस्तित्व असभव हो।[1]

इस युक्ति के अनुसार, ईश्वर के अस्तित्व की क्या व्याख्या देनी होगी? (कारण नही, क्योकि कारण पूर्ववर्ती उपाधियाँ होते है, बल्कि व्याख्या या स्पष्टीकरण।) ईश्वर की कोई व्याख्या नही चाहिए। इस युक्ति का प्रस्तावक कहता है : ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है और जो अनिवार्य है उसके अस्तित्व की व्याख्या स्वय उसी के अदर मौजूद होती है। ईश्वर इस अर्थ मे स्वय अपना कारण नही है कि वह स्वय को अस्तित्व मे लाता है (इसकी पहले ही आलोचना की जा चुकी है)। वह स्वकारण या स्वयभू केवल इस अर्थ मे है कि वह "स्वय अपनी प्रकृति से ही" अस्तित्व रखता है, आपातिक रूप से नही : किसी अन्य वस्तु पर उसका अस्तित्व आश्रित नही है। और ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है : ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है।

जो सत्ता अपने अस्तित्व के लिए अपने अलावा किसी भी चीज पर आश्रित

---

१. पी० एडवर्ड्स और ए० पैप के ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसफी में संकलित बर्ट्रेंड रसेल तथा एफ० सी० कॉपलस्टन के लेख "दि एक्जिस्टेंस ऑफ गॉड—ए डिबेट" में कॉपलस्टन का कथन, पृ० ४७४।

नहीं होती और इस अर्थ में स्वकारण है, उसे एक अनिवार्य सत्ता कहना इतना ही सही होगा। अर्थात् वह एक ऐसी सत्ता है जो आपाती नहीं है और इसलिए नश्वर नही है, क्योंकि जो भी चीज अपनी प्रकृति से ही अस्तित्व रखती है और किसी अन्य चीज पर आश्रित नहीं होती उसका अस्तित्व न हो, यह बात असंभव होती है, और यह यह कहने के बरावर है कि वह अनिवार्य है।[1]

और यदि ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है तो हम यह तक कह सकते है कि ईश्वर विश्व की सृष्टि करता है, हालाँकि किसी कारणपरक अर्थ में नही। यहाँ सृष्टि का अर्थ काल में सृष्टि नही है ; चूँकि विश्व अनादि है, इसलिए ईश्वर के द्वारा उसकी सृष्टि कोई ऐसी घटना नही है जो काल में घटी हो। उसकी सृष्टि हुई, यह "सृष्टि" के केवल एक बिल्कुल भिन्न अर्थ में ही कहा जा सकता है :

यदि एक चीज दूसरी की सृष्टि है तो अस्तित्व के लिए वह उस दूसरी पर आश्रित है, और यह बात इस कथन से पूरी-पूरी सगति रखती है कि दोनों ही नित्य है, कि कोई भी कभी अस्तित्व में नही आई, और इसलिए किसी की भी काल में कभी सृष्टि नही हुई। शायद एक उपमा से बात समझ में आ जाएगी। एक ज्योति को लीजिए जो प्रकाश की किरणें फेंक रही है। एक अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है जिसमें प्रकाश की किरणें अपने अस्तित्व के लिए उस ज्योति पर आश्रित है जो कि उनका स्रोत है, जबकि ज्योति अपने अस्तित्व के लिए उसी तरह उनपर आश्रित नहीं है। प्रकाश की किरणें ज्योति से उत्पन्न होती हैं, पर ज्योति उनसे उत्पन्न नही होती। इस अर्थ में वे ज्योति की सृष्टि हैं ; वे उससे अस्तित्व प्राप्त करती हैं। और इसमें कहीं भी काल की ओर संकेत नही है। ऐसे मामले में आश्रितत्व का संबंध यह मानने पर किंचित् भी नही बदलेगा कि उस ज्योति का और साथ ही प्रकाश की किरणों का सदा से अस्तित्व रहा है तथा कोई भी कभी अस्तित्व में नहीं आई।[2]

इस प्रकार की युक्ति के बारे में हम क्या कहेंगे ?

---

१. रिचर्ड टेलर, मेटाफिजिक्स, पृ० ६३।

२. वही, पृ० ८६।

अ. मैं समझता हूँ कि सारी युक्ति एक गोलमाल है। पहली बात, मैं नहीं जानता कि "अनिवार्य सत्ता" का क्या अर्थ है। दर्शन मे हम अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियो की बहुत बात करते है। मै जानता हूँ कि अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति क्या होती है, परतु मैं नही जानता कि अनिवार्य सत्ता क्या होती है।

ब. अनिवार्य सत्ता वह है जो अपने अस्तित्व के लिए अपने अलावा किसी भी चीज पर आश्रित न हो। चूँकि वह आपाती नही होती, इसलिए उसके अस्तित्व की व्याख्या उसके बाहर कही नही होती बल्कि केवल उसके अदर ही होती है।

अ. शब्द, शब्द, शब्द, ! मैं अब भी नही समझा कि एक "अनिवार्य सत्ता" क्या हो सकती है। मै यह समझता हूँ कि किसी चीज की किसी अन्य चीज के द्वारा व्याख्या क्या होती है : उदाहरणार्थ, लोहे पर जग लगने की व्याख्या हवा मे मौजूद आक्सीजन के द्वारा होती है जो कि लोहे के साथ संयुक्त होकर लौह-आक्साइड का निर्माण करता है। परतु यह कहना कि किसी चीज की केवल उसी के द्वारा व्याख्या की जा सकती है मुझे वदतोव्याघात अथवा बिल्कुल बकवास लगता है। व्याख्या सदैव किसी अन्य चीज के द्वारा होनी है। व्याख्या इसके अलावा क्या होगी ?

ब. हाँ, ईश्वर के अलावा हर चीज की व्याख्या ऐसी ही होती है। जो अनिवार्य सत्ता है उसकी व्याख्या केवल उसके अदर ही मिलेगी—उसे अनिवार्य सत्ता कहने के अर्थ के ही एक अग के रूप मे यह बात शामिल है।

अ. हम वापस वही आ गए। मै अब भी नही समझा कि आपका "अनिवार्य सत्ता" से क्या मतलब है। यह समझ मे आ सकनेवाला इसलिए लगता है कि हम "अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति" से पहले से परिचित है, परतु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आप "अनिवार्य सत्ता" को अर्थ प्रदान करने के लिए "अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति' की सार्थकता का अनुचित लाभ उठा रहे है।

ब. बिल्कुल नही। यदि वस्तुओं की समष्टि की कोई व्याख्या है तो एक अनिवार्य सत्ता का होना जरूरी है। देखो : पूरे भौतिक जगत् मे, मनुष्यो के मन भी जिसमे शामिल है, कोई भी अनिवार्य वस्तु नही है, केवल आपाती वस्तुएँ ही है। उनमे से प्रत्येक के बारे मे हम कह सकते है कि उसका अस्तित्व नही भी हो सकता था। असल मे यदि कुछ स्थितियाँ भिन्न हुई होती तो उनका

अस्तित्व न हुआ होता। यदि आपके माता-पिता का संयोग न हुआ होता तो आप यहाँ न हुए होते। यदि कुछ बातें भिन्न हुई होतीं—हमारी आकाशगंगा में भौतिक द्रव्य की संस्थिति भिन्न हुई होती—तो पृथ्वी का अस्तित्व न हुआ होता; इत्यादि। हम कुछ आपाती वस्तुओं के अस्तित्व और स्वरूप की अन्य आपाती वस्तुओं के द्वारा व्याख्या कर सकते है और करते ही हैं। परंतु किसी की भी वास्तविक व्याख्या तब तक नही होगी जब तक हम खोज करते-करते पीछे किसी अनिवार्य सत्ता में न पहुँच जाएँ, जो कि इस बात की व्याख्या होगी कि उनमें से हरेक का क्यों अस्तित्व है और हरेक जैसी है वैसी क्यों है।

अ. मैं ऐसा नही समझता। प्रकृति की प्रत्येक घटना की अन्यों के द्वारा व्याख्या की जा सकती है—नियमों, और परिस्थितियों की सहायता से (देखिए पृ० ३५८-५९)। यदि कोई ईश्वर होता जिसने विश्व की हर चीज को बनाया होता, तो आप उत्पन्न चीजो के अस्तित्व की व्याख्या यह कहकर देते कि ईश्वर ने उन्हे रचने का निश्चय किया था। परंतु तब भी ईश्वर के अस्तित्व की व्याख्या न होती।

ब. लेकिन ईश्वर की व्याख्या की जरूरत ही नही है। सब चीजो में केवल ईश्वर ही ऐसा है जिसके अस्तित्व की व्याख्या स्वयं उसके अंदर ही मौजूद होती है। अर्थात् ईश्वर बाकी हर चीज की तरह आपाती नही है।

अ. फिर वही बात : मै नही समझता कि किसी चीज की व्याख्या स्वयं उसके ही द्वारा कैसे की जा सकती है। व्याख्या सदैव किसी दूसरी चीज के द्वारा दी जाती है। यही "व्याख्या" का अर्थ है। आप कहते है कि "अनिवार्य सत्ता के प्रसग मे यह नही चलता" ; परतु इससे मेरा समाधान नही होता, क्योंकि मैं नहीं जानता कि अनिवार्य सत्ता क्या होती है—अर्थात् मैं इन रहस्यमय शब्दो के साथ कोई अर्थ नही जोड पा रहा हूँ।

ब. मुझे इसमें कतई कोई कठिनाई नही दिखाई देती। हम सब समझते हैं कि असभव सत्ता से क्या मतलब है—यह वह है जिसकी प्रकृति ही ऐसी है कि उसका अस्तित्व नही हो सकता, जैसे एक वर्गाकार वृत्त। तो फिर अनिवार्य सत्ता—वह जिसकी प्रकृति ही ऐसी है कि उसका अस्तित्व होना ही चाहिए—का अर्थ समझने मे क्या कठिनाई है ?

अ. वर्गाकार वृत्त तर्कतः असंभव वस्तुएँ नही हैं। "वर्गाकार वृत्त" में

शामिल "वर्ग" और वृत्त" शब्द असगत परिभाषाओ वाले है और इसलिए यह स्वतोव्याघाती है : तदनुसार यह प्रतिज्ञप्ति स्वतोव्याघाती है कि वर्गाकार वृत्तो का अस्तित्व है। और इसके विपरीत, "वर्ग चार भुजाओ वाले होते है" विश्लेषी है तथा यह प्रतिज्ञप्ति तर्कत. अनिवार्य है कि वर्ग चार भुजाओ वाले होते हैं। कृपया इस बात पर ध्यान दीजिए कि मैं वृत्त को एक अनिवार्य वस्तु नही बता रहा हूँ, यानी यह नही कह रहा हूँ कि वृत्तो का होना तर्कत: अनिवार्य है। वाक्य का अर्थ केवल यह है के यदि वृत्त ह तो (अनिवार्यत.) वे चार भुजाओ वाले होते है। ऐसे सब अनिवार्य कथन हेतुफलात्मक (यदि ...... तो ...) होते है। उनमे से कोई भी अस्तित्व का दावा नही करता। वे यह नही कहते कि कोई चीज अस्तित्व रखती है, यह तो और भी नही कि वह अनिवार्यत अस्तित्व रखती है। असल मे मेरी समझ मे बिल्कुल भी यह नही आ रहा है कि आपका किसी चीज के अस्तित्व को अनिवार्य कहना क्या अर्थ रखता है। निश्चय ही कोई क ऐसा नही है जिसको लेकर यह कहा जा सके कि वाक्य "क का अस्तित्व है" एक अनिवार्य सत्य है।

ब. परतु ठीक यही तो बात है जिसका दावा मैं ईश्वर के बारे मे करता हूँ : अस्तित्व रखनेवाली हर चीज की व्याख्या होने से ईश्वर स्वयं अनिवार्यत: अस्तित्व रखता है। यदि उसका अस्तित्व अनिवार्य न हो तो वह विश्व की हर अन्य चीज के अस्तित्व की तरह आपाती होगा, और तब हमे फिर इस बात की व्याख्या करनी होगी कि वह क्यो है।

अ यदि "आपाती अस्तित्व" से आपका मतलब सिर्फ यह है कि वह जो है उससे (तर्कत:) भिन्न (अस्तित्वहीन) हो सकता था और यदि कुछ स्थितियाँ भिन्न हुई होती तो वह भिन्न हुआ होता, तो मैं पूर्ण संतोष के साथ यह कहूँगा कि विश्व मे अस्तित्व रखनेवाली हर चीज आपाती है। मैं यह मानने के लिए तैयार नही हूँ कि अनिवार्य रूप से अस्तित्व रखनेवाली कोई चीज (यदि इन शब्दो का कोई अर्थ हो तो) है।

ब. परतु यदि आप यह नही मानते कि अनिवार्य रूप से अस्तित्ववान् कोई चीज है तो आपके सामने एक समस्या आ जाती है। मैं समझता हूँ कि आप अनेक संभव विश्वो को मानते ही होंगे। उदाहरणार्थ, यह बात तर्कत. संभव है कि आपके माता-पिता का संयोग न हुआ होता और फलत:

आपका अस्तित्व न होता, पर शेष विश्व हूबहू ऐसा ही होता। यह एक संभव विश्व है। एक और संभव विश्व वह है जिसमें आकाशगंगाएँ होतीं और सूर्य होता पर ग्रहो का समूह न होता; पृथ्वी न होती और इसलिए पृथ्वी पर कोई जीवन भी न होता। एक और भी संभव जगत्—वर्तमान जगत् से कहीं अधिक भिन्न—वह है जिसमें प्रकृति के कुछ नियम इस समय के नियमों के जैसे न होते : उदाहरणार्थ, ऐसा जिसमें भौतिक द्रव्य के कण अपनी मध्यवर्ती दूरी के वर्ग के विलोम अनुपात में एक दूसरे को न आकर्षित करते हों (जैसे वर्तमान मे) बल्कि उसके घन के विलोम अनुपात में ऐसा करते हों। हम सभव विश्वो की अनंत कल्पनाएँ कर सकते है। अब सवाल यह पैदा होता है : सभव विश्वो की अनंत सख्या में से ठीक यही विश्व जो इस समय है क्यों अस्तित्व रखता है ? तर्कतः संभव तो अनेक विश्व हे ; तो फिर अस्तित्व इसी का क्यो है ? कोई भी विश्व क्यों अस्तित्व रखता है—कुछ भी न होने के बजाय यह विश्व क्यों है ? इस बात की कोई भी व्याख्या आपके पास नही है। परंतु मेरे पास है। मेरा मत यह है कि एक अनिवार्य सत्ता, ईश्वर, है और चूंकि उसका अस्तित्व अनिवार्य है इसलिए सभी आपाती वस्तुओं का (यानी विश्व की हर चीज का) इसी अनिवार्य सत्ता की वजह से अस्तित्व है तथा इस अनिवार्य सत्ता के अस्तित्व से ही उनकी व्याख्या हो जाती है।

अ. मेरी समझ मे नही आता कि आपकी तथाकथित व्याख्या व्याख्या है ही कैसे। मैं यह दावा नही करता कि मेरे पास हर चीज की व्याख्या है, पर मैं यह भी नही करता कि जब मुझे कोई व्याख्या न सूझे तब मैं ईश्वर—स्पिनोजा जिसे "अज्ञान की शरणस्थली" बताता है—का सहारा लूं। एक क्षण के लिए मान लीजिए कि विश्व जैसा है वैसा क्यों है या उसके नियम जो है वे क्यों है, इस बात की मैं व्याख्या नही कर सकता। पर मै यह भी नही समझ पा रहा हूँ कि आप कैसे इसकी व्याख्या करते हैं। आप कहते है कि "ईश्वर इसकी व्याख्या है"। परन्तु इसमे तो काम नही चलेगा। इससे इस बात की व्याख्या नही होती कि विश्व मे अन्यो के बजाय यही नियम क्यो है और यही विशेष वस्तुएँ क्यो अस्तित्व रखती है। और यदि व्याख्या होती भी हो तो ये सवाल फिर भी बने रहते है कि ईश्वर के अस्तित्व की क्या व्याख्या है, वह है ही क्यों, उसकी प्रकृति जो है वह क्यों है और वह जो निश्चय करता है (जैसे ठीक इसी विश्व को बनाने का) वह क्यों करता है। यदि आप मुझे

इस समय यह बता रहे हैं कि ईश्वर की जो प्रकृति है वह अनिवार्यत वैसी है, तो इससे भी कोई अर्थ मैं नही निकाल पा रहा हूँ और मैं नही समझता कि कोई भी ऐसा कर सकेगा।

ब इसके विपरीत, मेरा विश्वास है कि चीजे जैसी है वैसी क्यो है और किसी भी चीज का अस्तित्व ही क्यो है, इस बात की यह एकमात्र व्याख्या है।

अ ईश्वर के सहित ?

ब नही, ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है और उसकी व्याख्या केवल उसके अदर ही मिलेगी। परतु ईश्वर के अस्तित्व से अवश्य ही इस बात की व्याख्या हो जाती है कि हर अन्य चीज जैसी है वैसी क्यो है तथा भौतिक विश्व का क्यो अस्तित्व हैं।

अ ईश्वर के अस्तित्व से इसकी व्याख्या कैसे हो पाती है ? क्या आप यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर ने इस विशेष विश्व को ही चुना और चूंकि वह शक्तिमान् है इसलिए वह इसे अस्तित्व मे भी ले आया ?

ब. हां, मैं अवश्य ही यह मानता हूँ कि ईश्वर की इच्छा इसकी व्याख्या है। मैं अपनी बात को स्पष्ट करता हूँ यान्त्रिक व्याख्याएँ (जो व्याख्यापेक्षी घटना की पूर्ववर्ती घटनाओ और प्रक्रियाओ के द्वारा व्याख्या करती है) होती हैं और प्रयोजनमूलक व्याख्याएँ भी होती है। दैनिक जीवन मे हम दोना ही प्रकार की व्याख्याओ से परिचित हैं और दोनो का निरतर उपयोग करते है। फ्रिज के अदर आइसक्रीम पिघल क्यो गई ? क्योकि रात मे कुछ घटो तक बिजली बद रही (यान्त्रिक)। शहर के उस भाग मे मकान क्यो नही हैं ? क्योंकि भवन निर्माण विभाग ने एक सार्वजनिक उपवन के निर्माण के लिए वहां मकान बनाना निषिद्ध कर दिया है और मकानो को गिरा दिया है (प्रयोजनमूलक)। अब, मै इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि समूचे विश्व की कोई यान्त्रिक व्याख्या नही हो सकती, क्योकि इस तरह की व्याख्या सदैव नियमो तथा पूर्ववर्ती घटनाओ के द्वारा होनी है। इसके अलावा, यान्त्रिक व्याख्या हमे यह नही बताएगी कि जितने विश्व सर्वत सभव हैं उन सबम से यही विश्व अपने नियमा के सहित क्या अस्तित्व रखता है यान्त्रिक व्याख्या केवल उन नियमो के आधार पर, जिन्हें हम जानते हैं, यही बताएगी कि उन

नियमो के होते हुए कुछ चीजें जैसी है वैसी क्यो है। परतु ऐसी व्याख्या यह नही बता सकती कि विश्व जैसा है वैसा क्यो है, उसके जो नियम है ठीक वे ही क्यो हैं, या उसका अस्तित्व ही क्यो है।

अ. और आप समझते हैं कि यह बताने के लिए प्रयोजनमूलक व्याख्या की जरूरत है ?

ब बिल्कुल। आखिर इस बात का तो कोई हेतु होना ही चाहिए कि यह विश्व क्यो है और उसके ये नियम क्यो है। और यदि यान्त्रिक व्याख्या यह नही बता सकती तो हमे प्रयोजनमूलक व्याख्या का सहारा लेना होगा। ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है और उसने तर्कत सभव सभी अनतसख्यक विश्वो मे से इस विशेष विश्व को ही पसद किया है। उसने ऐसा क्यो किया ? शायद इसलिए कि सभी सभव विश्वो मे से यही उत्तम है।[1] अथवा शायद उसके प्रयोजन मनुष्य की बुद्धि के लिए अगम्य हैं। परतु मुझे पक्का विश्वास है कि "ठीक यही विश्व क्यो, या कोई भी विश्व क्यो ?" एक ऐसा सवाल है जिसका उत्तर जरूरी है, और चूकि यान्त्रिक व्याख्याओ से यहाँ काम नही चलेगा इसलिए हमे कोई प्रयोजनमूलक व्याख्या देनी होगी। और यह तभी हो सकता है जब हम सर्वोच्च सत्ता, ईश्वर, के चुनाव की बात को मानें।

अ बहुत बढिया। परतु इसमे कई कठिनाइयाँ है। सबसे पहली मैं नही समझता कि प्रयोजनमूलक व्याख्या यहाँ अर्थ ही क्या रखेगी, क्योकि यह याद रखिए कि ईश्वर को अब प्रथम कारण अथवा विश्व के इतिहास की कारण शृखला की पूर्ववर्ती किसी प्रकार की कालिक सत्ता नही माना जा रहा है। प्रस्तुत सदर्भ मे ईश्वर (सख्या २ की तरह) एक कालातीत सत्ता है और इस प्रकार कोई ऐसी चीज कतई नही है जिसके काम कालाधीन हो। अतएव, मैं नही समझता कि ऐसे ईश्वर का कोई व्यक्तित्व ही कैसे हो सकता है। उसके लिए तो आगे पीछे कुछ नही है, जगत् की काल मे सृष्टि कुछ नही है, "रोशनी हो जाए" के अनतर काल मे रोशनी के अस्तित्व मे आने इत्यादि का कोई मतलब नही है। इस व्याख्या के अनुसार ईश्वर उस

---

१ इसकी विस्तृत चर्चा हम "प्रयोजनमूलक युक्ति" के अतर्गत बुराई की समस्या के प्रसग में करेंगे।

तरह की चीज नही हो सकती जिसे अधिकतर धर्म मानते है, क्योकि वे तो
ऐसे ईश्वर को मानते है जिसने किसी समय इस विश्व की सृष्टि की थी, जो
प्रार्थना को सुनता है और उसका उत्तर देता है, जो भविष्य मे हमे दिए हुए
वचन को पूरा करेगा तथा विश्व के अत मे हमारे पाप-पुण्य का निर्णय करेगा,
इत्यादि। जब आप ईश्वर को एक कालनिरपेक्ष सत्ता मान लेते है तब ये
सब धारणाएँ समाप्त हो जाती है। ऐसी सत्ता व्यक्तित्व से सपन्न नहीं हो
सकती, मनुष्यो से उसका कोई भी सादृश्य नही हो सकता। वास्तव मे,
मेरी समझ मे नही आता कि ऐसी सत्ता ईश्वर कहलाएगी ही क्यो। मुझे यह
ईमानदारी की बात नही लगती कि लोगो ने "ईश्वर" शब्द के साथ हमेशा
से जो विशेषताएँ जोड रखी है उन सबको निकाल दिया जाए और फिर
भी उसे "ईश्वर" ही कहा जाए। जो भी हो, ऐसी सत्ता इस या उस या
किसी भी विश्व का चुनाव करने मे असमर्थ होगी, क्योकि चुनाव करना एक
कालिक क्रिया है : वह केवल काल मे ही हो सकती है। आप क या ख को
इस या उस काल-विशेष मे चुनते हैं। क या ख को न इस या उस काल-
विशेष मे, न किसी भी काल मे बल्कि किसी तरह कालनिरपेक्ष रूप से चुनने
का क्या अर्थ होगा ? क्या कालनिरपेक्ष चुनाव का तथाकथित सप्रत्यय
सचमुच कोई समझ मे आ सकनेवाली बात है ? मुझे ऐसा लगता है कि इस
तरह के अवसरो पर धर्मों को तत्काल अन्यो को छोडकर किसी एक ही
विकल्प को पूरी तरह से अपनाना होगा ; पर वे ऐसा करते नही है।
सोमवार, बुधवार और शुक्रवार को वे कहते है कि ईश्वर कालातीत है, उसके
लिए पहले और पीछे कुछ नही है, परिवर्तन इत्यादि कुछ नही है ; पर मगल,
बृहस्पति और शनि को वे कहते हैं कि ईश्वर ने हमको रचा है, एक दिन वह
हमारे कर्मों का निर्णय करेगा, वह हमे दिए हुए अपने वचन निभाएगा
इत्यादि—और यह सब ईश्वर के कामो को कालाधीन बना देता है। परन्तु
यह तो केवल दुहरी बातें करना हुआ। धर्मशास्त्र परस्पर विरोधी बातें करते
हैं : एक तरह की दार्शनिको की युक्तियो का उत्तर देने के लिए और दूसरी
तरह की अपने अनुयायियो को सात्वना देने के लिए। अगर आप उन्हें काफी
छूट दे दें तो वे अपना ही खडन कर डालेंगे। यदि आप थोडी देर तक उनकी
बातें सुनते रहे तो आप उन्हें बिल्कुल ही परस्पर असगत बातें करते पाएँगे।
तो फिर एक आपत्ति यह है : कालनिरपेक्ष चुनाव, कालनिरपेक्ष 'सृष्टिकर्म' [illegible]
किसी भी अन्य कालनिरपेक्ष क्रिया का तथाकथित सप्रत्यय [illegible]

वाहर है ; उसके अंदर स्पष्टतः व्याघात है ।

ब. "सब संभव विश्वों मे से यही विश्व क्यों अस्तित्व रखता है, अथवा सब कुछ असत् क्यों नही है, कोई भी विश्व क्यों है ?" इस प्रश्न का स्वयं आप क्या उत्तर देंगे, यह आपने मुझे अभी तक नही वताया ।

अ. यह दूसरी वात है । मेरी पहली इच्छा यह कहने की होती है कि "मैं नहीं जानता" ; यह एक "कठोर तथ्य" है—विश्व में अमुक-अमुक नियम है, और यदि ये अंतिम (अव्युत्पन्न) है तो हम किन्ही अन्य नियमों से उन्हें व्युत्पन्न नहीं कर सकते ; वस इतनी वात है और इतना ही हम अधिक से-अधिक कह सकते है । शायद यह संतोषप्रद होगा, परंतु मैं एक कदम और आगे जाना चाहता हूँ : मैं आपको यह वता देना चाहता हूँ कि यह सवाल है निरर्थक, अथवा अधिक ठीक यह कहना होगा कि यह स्वतोव्याघाती है । यदि एक बार हम एक आधारभूत या अव्युत्पन्न नियम मे पहुँच जाते है (ऐसा नही है कि हमे उसमे पहुँच चुके होंने की जानकारी हो जाय), तो उसकी व्याख्या पूछना स्वतोव्याघाती है । यदि वह हमारी समझ में नही आता तो इसकी वजह यह है कि हम साधारणतः "क्यो" पूछनेवाले ऐसे प्रश्नो के स्तर पर होते है जिनका उत्तर दिया जा सकता है और होता है, क्योकि अभी हम आधारभूत नियमों के स्तर पर नही पहुँचे होते । परंतु हमे यह याद रखना चाहिए कि जब हम व्याख्या करते है तव हम सदैव किसी चीज के द्वारा (व्याख्यापेक्षी चीज से भिन्न किसी चीज के द्वारा, अन्यथा वह व्याख्या होगी ही नही) व्याख्या करते है । और यदि प्राक्कल्पनातः कोई ऐसी चीज वची ही नही जिसके द्वारा व्याख्या करनी है, तो व्याख्या पूछना एक स्वतोव्याघाती वात हो जाती है । एक ओर तो माँग यह होती है कि आप क की ख के द्वारा व्याख्या दे और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि ख है ही नही ।

तो फिर मेरा निष्कर्ष यह है (१) कि यदि व्याख्या जिसके द्वारा दी जा सकती हो ऐसी कोई चीज वची ही नही है तो यह प्रश्न कि "विश्व जैसा है वैसा क्यो है ?" ("इसके आधारभूत नियम जो है वे क्यों हैं ?" के सहित) स्वतोव्याघाती है । (यह सार्थक इसलिए लगता है कि यह ऐसे प्रश्नो से बहुत मिलते जुलते रूप मे पूछा गया है जो सार्थक हैं ।) (२) परंतु यदि ईश्वर नाम की कोई सत्ता है—मैं उसे अनिवार्य सत्ता नही कहता, क्योकि

मैं अब भी नही जान पाया कि वह क्या होती है—जो प्रयोजन रखता है और उनकी पूर्ति के लिए ऐसे काम करता है जैसे विश्व की सृष्टि करना (जो कि सभी अवश्य ही कालाधीन होगे, क्योकि कालातीत चुनाव या सृष्टिकर्म की धारणा स्वतोव्याघाती है), तो इस सवाल का कि "विश्व जैसा है वैसा क्यो है ?" यह जवाब दिया जा सकता है कि "क्योकि कोई ईश्वर है जिसने इसे ऐसा बनाने का विचार किया।" इस तरह हमने उस सवाल का तो जवाब दे दिया, परंतु एक और सवाल पैदा करके, जो यह है : "ईश्वर के अस्तित्व की, और उसकी जो प्रकृति है उसकी तथा उसके अभिप्रेरको और उसकी इच्छाओ की क्या व्याख्या है ?" इस प्रकार हमने धर्मशास्त्रो की भाषा मे एक प्रश्न का उत्तर दे दिया, पर केवल एक ऐसा दूसरा प्रश्न खडा करने के लिए जो पहले से भी बडी कठिनाइयो से भरा हुआ है। "परतु ईश्वर के प्रसग मे विशेष रूप से हमे किसी व्याख्या की जरूरत नही है, क्योकि ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है और अनिवार्य सत्ता वह होती है जिसे अपने से बाहर की किसी चीज के द्वारा व्याख्या की जरूरत नही होती।" यदि ऐसा आप कहते हो तो मेरा निवेदन है कि इससे कतई कोई उत्तर नही मिलता, क्योकि (अ) व्याख्या सदैव किसी अन्य चीज के द्वारा दी जाती है और (ब) वह चीज कभी एक "अनिवार्य सत्ता" नही होती।

ब. "व्याख्या" का यह जो अर्थ दैनिक जीवन और विज्ञान मे साधारणतः लिया जाता है उसपर आपका जोर देना आत्माश्रय-दोष से युक्त है। इस अर्थ मे निश्चय ही कोई भी चीज स्वय अपनी व्याख्या नही है। परतु एक अनिवार्य सत्ता, विशेष रूप से, अपनी व्याख्या स्वय होती है।

अ. ऐसी बात नही है कि "व्याख्या" का कोई और अर्थ होते हुए भी मैं मनमाने तौर से साधारण अर्थ पर ही जोर दे रहा हूँ। जहाँ तक मेरी बुद्धि जाती है, कोई और अर्थ है नही। यहाँ इस शब्द का जिस तरह प्रयोग किया जा रहा है, वह अर्थहीन है। "उसकी पूरी व्याख्या उसके अदर ही मौजूद है।" इसका क्या मतलब हुआ ? इसके अलावा, यदि आप मुझे यह विश्वास भी दिला सकें कि आपके मन मे एक भिन्न और समझ मे आनेवाला अर्थ है, तो भी एकही शब्द "व्याख्या" का ऐसी दो बिल्कुल भिन्न चीजो के लिए प्रयोग करके आप श्लेष का प्रयोग करने के दोषी होगे। "विश्व की एक व्याख्या की

जरूरत है, है न ?" ऐसा आप कहते हैं और आपका प्रश्न धोखे से सच्चा-जैसा लगता है क्योंकि आप उसी शब्द का प्रयोग कर रहे हैं जिसका हम सब इस तरह के प्रश्न पूछने में प्रयोग करते हैं जैसे, "टूटी हुई खिड़कियों की व्याख्या की जरूरत है, है न ?" इस दूसरे प्रश्न का हम सब स्वीकृति-सूचक उत्तर देते हैं, और पहले का भी हम ऐसा ही उत्तर इसलिए देना चाहते हैं कि वही "व्याख्या" शब्द प्रयुक्त हुआ है—परंतु जैसा कि आप मानते हैं, दोनों प्रसंगों में एक ही अर्थ में उसका प्रयोग नहीं हुआ है। अतः मैं नहीं समझता कि आपका तथाकथित विशेष अर्थ कोई मायने रखता है।

ब. यह खेद की बात है—मुझे तो इसमें बिल्कुल कोई कठिनाई नहीं लगती।

अ. और मैं एक बात और कह दूं : यदि मैं यह स्वीकार भी कर लूं कि यहां आपका "व्याख्या" का अर्थ सही है, तो भी यह जरूरी नहीं है कि मैं किसी अनिवार्य सत्ता का अस्तित्व मान ही लूं। मुझे यह केवल तब मानना पड़ेगा जब मैं आपकी युक्ति की इस अप्रकट आधारिका को भी मानूं कि "व्याख्या" शब्द के आपके विशिष्ट अर्थ में सचमुच व्याख्याएँ होती है। भले ही आप मुझे यह विश्वास दिलाने में सफल हो जाएँ कि आप एक विशेष अर्थ ले रहे है, लेकिन फिर भी मेरे लिए यह स्वीकार कर लेना जरूरी नहीं हो जाता कि किसी चीज की इस अर्थ में व्याख्या है। मै यह कह सकता हूँ कि शायद विश्व की कोई व्याख्या नहीं है। आपकी युक्ति में ये तीन प्रतिज्ञप्तियाँ प्रतीत होती हैं :

किसी अनिवार्य सत्ता से संबंध दिखाए बिना
    चीजों की असली व्याख्या नहीं हो पाई है।
इस अर्थ में व्याख्याएँ होती हैं।
अतः कोई अनिवार्य सत्ता है।

यदि मैं पहली आधारिका को मान भी लूं (पर मैं मानता नहीं, क्योंकि मैं नहीं जानता कि "अनिवार्य सत्ता" का क्या अर्थ है, और न मैं "व्याख्या" शब्द के आपके अर्थ को ही समझता हूँ), तो भी यह जरूरी नहीं है कि मुझे दूसरी आधारिका भी माननी होगी ; और फलतः मुझे निष्कर्ष को नहीं मानना पड़ेगा।

ई. दिव्य अनुभव पर आश्रित युक्ति

दिव्य अनुभव पर आश्रित युक्ति को सदैव स्पष्ट शब्दो मे नही बताया जाता, और अधिकतर ऐसा होता है कि उसका कथन ही नही किया जाता बल्कि एक प्रकार के अनुक्त प्रमाण के रूप मे उसे अप्रकट रूप से मान लिया जाता है, जिससे स्पष्ट शाब्दिक अभिव्यक्ति के स्तर पर वह कभी आती ही नही। उसे कुछ इस रूप मे बताया जा सकता है मुझे (और अन्य लोगो को) एक विचित्र प्रकार के अनुभव होते है जो इतने गहन, इतने अर्थपूर्ण और इतने महत्वपूर्ण हैं कि किसी भी लौकिक प्राक्कल्पना के आधार पर उनकी व्याख्या नही हो सकती, इसलिए उनका हेतु कोई आलौकिक सत्ता—ईश्वर—होना चाहिए जो ऐसे अनुभवो का प्रेरक है।

पहले हम 'ईश्वर" और "दिव्य अनुभव" पर विचार करते हैं। "ईश्वर" शब्द का "दिव्य अनुभव" के पर्याय के रूप मे प्रयोग हो सकता है जिससे यह शब्द स्वय उस अनुभव का बोधक मात्र रह जाता है। ऐसे लोग हैं जो "ईश्वर" शब्द के इस अर्थ को मानेंगे, और इस प्रकार इस अर्थ मे यह कहना निश्चय ही एक पुनरुक्ति मात्र हो जाता है कि "यदि दिव्य अनुभव होते हैं तो ईश्वर का अस्तित्व है," क्योकि यह यह कहने के बराबर ही है कि "यदि दिव्य अनुभव होते हैं तो दिव्य अनुभव होते है।" इस अर्थ मे यह कहना स्वतो-व्याघाती होगा कि ईश्वर का अस्तित्व है पर दिव्य अनुभवो का अस्तित्व नही है, ठीक वैसे ही जैसे यह कहना स्वतोव्याघाती होगा कि दर्द है पर उसकी अनुभूति नही है। दर्द का होना केवल उसका अनुभूत होना ही है और ईश्वर का होना (इस अर्थ मे) केवल दिव्य अनुभवो का होना ही है।

परतु अधिकतर लोग "ईश्वर" शब्द को यह अर्थ नहीं देंगे। वे नहीं कहेंगे कि जब वे ईश्वर के अस्तित्व की बात कहते हैं तब उनका अभिप्राय सिर्फ यह होता है कि दिव्य अनुभव होते हैं। इसके बजाय वे कहेंगे कि ये अनुभव किसी और ही चीज के अस्तित्व के सूचक हैं जो उतनी ही वास्तविक है जितना वह सामने खडा पेड। दिव्य अनुभव एक ईश्वर की ओर सकेत करता है, पर वह और ईश्वर एक ही बात नही है।

'दिव्य अनुभव" क्या है। क्यों न सिर्फ यह कहा जाए कि यह "ईश्वर का अनुभव" है? ऐसी परिभाषा देने से दिव्य अनुभवो का होना ईश्वर के

अस्तित्व को सिद्ध करेगा, क्योंकि परिभाषातः दिव्य ईश्वर का अनुभव है। असल में यह एक विश्लेषी कथन बन जाता है। परंतु जैसे पिछले प्रसंगों में, जिन-पर हम विचार कर चुके हैं, वैसे ही यहाँ भी इससे वह बात सिद्ध नहीं हो पाती जिसे लोग सिद्ध करना चाहते होंगे। इससे तो केवल प्रश्न बदल जाता है। मूल प्रश्न था : "दिव्य अनुभव होते हैं; क्या ईश्वर है ?" और अब प्रश्न यह हो जाता है : 'दिव्य अनुभव' की इस परिभाषा के अनुसार (जिसके अनुसार अनुभव के दिव्य होने के लिए ईश्वर का अवश्य अस्तित्व होना चाहिए), क्या दिव्य अनुभव होते हैं ?" परिभाषा के द्वारा हम किसी चीज को अस्तित्व में तो ला नहीं सकते (देखिए पृ० ४५-६)।

प्रायः जब हम दिव्य अनुभवों की बात करते हैं तब हमारा मतलब ऐसे अनुभवों से होता है (उनका सही स्वरूप बताया नहीं जा सकता और इसकी वजह अंशतः यह है कि उनके वर्णन के लिए उपयुक्त शब्दों का हमारे पास अभाव है तथा अंशतः यह कि इस तरह के अनुभव का स्वरूप स्वयं ही एक व्यक्ति से दूसरे में बहुत भिन्न हो जाता है) जिन्हें अनुभवकर्ता ईश्वर का अनुभव बताते हैं और जो अनुभव में जिस ईश्वर का प्रकट होना बताया जाता है उसके प्रति व्यक्ति की श्रद्धा, भक्ति, भय या पूजा के भाव में वृद्धि करते हैं। इस रूप में समझे जाने पर दिव्य अनुभव, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, केवल एक विशेष प्रकार के अनुभव हैं (जिनका कभी-कभी अन्य प्रकार के अनुभवों से भेद करना कठिन होता है, और सभी इस बात को मानते हैं)। और तब प्रश्न यह होता है : "क्या हम इन अनुभवों के होने से यह अनुमान कर सकते है कि इन अनुभवों को करानेवाले किसी ईश्वर, देवता या देवताओं का अस्तित्व है ?"

हम देख लें कि यदि इस अनुमान को स्वीकार कर लिया जाए तो क्या होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि यह युक्ति किसी बात को सिद्ध करती है तो वह जितना हमें चाहिए उससे बहुत अधिक है। दिव्य अनुभवों की संख्या बहुत विशाल होती है और यदि एक उदाहरण में हम दिव्य अनुभव से एक देवता का जिसका कि वह अनुभव है, अनुमान कर सकते हैं, तो दूसरे उदाहरण में भी हम ऐसा कर सकते हैं। यदि एक ईसाई अ का दिव्य अनुभव ईसाइयों के ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है तो ऐसा प्रतीत होगा कि एक मुसलमान ब का दिव्य अनुभव मुसलमानों के ईश्वर—अल्लाह—के अस्तित्व को सिद्ध करेगा।

लोग दिव्य अनुभव पर आधारित युक्ति का उपयोग अपने ही दिव्य अनुभवों के समर्थन के लिए करते है और ऐसा करते हुए शायद इस बात से अनभिज्ञ होते है कि यदि उनकी युक्ति को स्वीकार कर लिया जाए तो उसी युक्ति से अलग-अलग धर्मों के अनुयायियों के दिव्य अनुभवों के समर्थन में उसी अनुमान का उपयोग किया जा सकेगा । यदि हम एक को स्वीकार करते हैं तो हमें सभी को स्वीकार करना पड़ेगा ।

तो क्यों न सभी को स्वीकार कर लें ? क्योंकि वे परस्पर व्याघाती हैं और सभी सत्य नही हो सकते । प्रत्येक धर्म यह दावा करता है कि एकमात्र वही सच्चा है, और ऐसे अनेक धर्मों का होना तर्कत: असंभव है जिनमें से प्रत्येक एकमात्र सच्चा धर्म हो ।

इस परिस्थिति में सुधार करने के लिए कभी-कभी नीचे की युक्ति का उपयोग किया जाता है : *सभी दिव्य अनुभव उसी सत्ता के अनुभव होते हैं । लोगों में मतभेद केवल इन अनुभवो के विषय के वर्णन मे होता है, क्योंकि वह उनके विशेष पर्यावरण और शिक्षा दीक्षा पर निर्भर होता है । जब वे उसके बारे में बात करते हैं तब उन्हें शब्द ही नही मिलते और वे ऐसी भाषा इस्तेमाल करते हैं जो अनिश्चित, भ्रामक और व्याघातों से पूर्ण तक होती है । जिस ईश्वर का अनुभव होता है वह हमेशा एकही होता है । केवल ऐतिहासिक अनुषंगी बातों मे ही भेद होता है । धर्मों की, जैसे ईसाई और मुस्लिम धर्म की, वे ऐतिहासिक बातें निकाल दीजिए जो एक-दूसरी के विरुद्ध हैं, और उन सबमे जो सारभूत समान बात है केवल उसे ही ग्रहण कीजिए । फिर आप देखेंगे कि वे एक-दूसरे से कोई विरोध नही रखते, क्योंकि वे एकही हैं ।*

यह कठिनाई से बचने का एक आसान तरीका लगेगा ; परंतु इसे अपनाने से पहले अनेक बातें है जिनपर विचार कर लेना चाहिए । (१) इस प्रक्रिया में आपने प्रत्येक धर्म-विशेष के ईश्वर को छीन लिया है । उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म यह घोषणा करता है कि ईश्वर पवित्र बाइबिल मे प्रकट हुआ है और ईसा के रूप मे अवतरित हुआ, और कि जो मत इसे नहीं मानता वह मिथ्या है । इन विश्वासों को हटाकर ईसाई-धर्म का सार ही कुछ नही रहता । जो कुछ बचता है उसे शायद ही ईसाई धर्म कहा जा सकेगा । ईसाई धर्म मे से उसकी "ऐतिहासिक विशेषताएँ" निकाल देने से करीब-करीब पूरा ही ईसाई धर्म निकल जाएगा । कोई इस बात को अच्छी मानेगा, परंतु तब यह न कहा जाए

अस्तित्व को सिद्ध करेगा, क्योंकि परिभाषातः दिव्य ईश्वर का अनुभव है। असल में यह एक विश्लेषी कथन बन जाता है। परंतु जैसे पिछले प्रसंगों में, जिनपर हम विचार कर चुके हैं, वैसे ही यहाँ भी इससे वह बात सिद्ध नहीं हो पाती जिसे लोग सिद्ध करना चाहते होंगे। इससे तो केवल प्रश्न बदल जाता है। मूल प्रश्न था : "दिव्य अनुभव होते हैं; क्या ईश्वर है ?" और अब प्रश्न यह हो जाता है : 'दिव्य अनुभव' की इस परिभाषा के अनुसार (जिसके अनुसार अनुभव के दिव्य होने के लिए ईश्वर का अवश्य अस्तित्व होना चाहिए), क्या दिव्य अनुभव होते हैं ?" परिभाषा के द्वारा हम किसी चीज को अस्तित्व में तो ला नहीं सकते (देखिए पृ० ४५-६)।

प्रायः जब हम दिव्य अनुभवों की बात करते हैं तब हमारा मतलब ऐसे अनुभवों से होता है (उनका सही स्वरूप बताया नहीं जा सकता और इसकी वजह अंशतः यह है कि उनके वर्णन के लिए उपयुक्त शब्दों का हमारे पास अभाव है तथा अंशतः यह कि इस तरह के अनुभव का स्वरूप स्वयं ही एक व्यक्ति से दूसरे में बहुत भिन्न हो जाता है) जिन्हें अनुभवकर्ता ईश्वर का अनुभव बताते है और जो अनुभव में जिस ईश्वर का प्रकट होना बताया जाता है उसके प्रति व्यक्ति की श्रद्धा, भक्ति, भय या पूजा के भाव में वृद्धि करते हैं। इस रूप में समझे जाने पर दिव्य अनुभव, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, केवल एक विशेष प्रकार के अनुभव है (जिनका कभी-कभी अन्य प्रकार के अनुभवों से भेद करना कठिन होता है, और सभी इस बात को मानते है)। और तब प्रश्न यह होता है : "क्या हम इन अनुभवों के होने से यह अनुमान कर सकते है कि इन अनुभवों को करानेवाले किसी ईश्वर, देवता या देवताओं का अस्तित्व है ?"

हम देख लें कि यदि इस अनुमान को स्वीकार कर लिया जाए तो क्या होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि यह युक्ति किसी बात को सिद्ध करती है तो वह जितना हमें चाहिए उससे बहुत अधिक है। दिव्य अनुभवों की संख्या बहुत विशाल होती है और यदि एक उदाहरण में हम दिव्य अनुभव से एक देवता का जिसका कि वह अनुभव है, अनुमान कर सकते हैं, तो दूसरे उदाहरण में भी हम ऐसा कर सकते हैं। यदि एक ईसाई अ का दिव्य अनुभव ईसाइयों के ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है तो ऐसा प्रतीत होगा कि एक मुसलमान ब का दिव्य अनुभव मुसलमानों के ईश्वर—अल्लाह—के अस्तित्व को सिद्ध करेगा।

लोग दिव्य अनुभव पर आधारित युक्ति का उपयोग अपने ही दिव्य अनुभवों के समर्थन के लिए करते है और ऐसा करते हुए शायद इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि यदि उनकी युक्ति को स्वीकार कर लिया जाए तो उसी युक्ति से अलग-अलग धर्मों के अनुयायियों के दिव्य अनुभवों के समर्थन में उसी अनुमान का उपयोग किया जा सकेगा। यदि हम एक को स्वीकार करते हैं तो हमें सभी को स्वीकार करना पड़ेगा।

तो क्यों न सभी को स्वीकार कर लें ? क्योकि वे परस्पर व्याघाती है और सभी सत्य नही हो सकते। प्रत्येक धर्म यह दावा करता है कि एकमात्र वही सच्चा है, और ऐसे अनेक धर्मों का होना तर्कतः असंभव है जिनमें से प्रत्येक एकमात्र सच्चा धर्म हो।

इस परिस्थिति में सुधार करने के लिए कभी-कभी नीचे की युक्ति का उपयोग किया जाता है : सभी दिव्य अनुभव उसी सत्ता के अनुभव होते है। लोगों मे मतभेद केवल इन अनुभवो के विषय के वर्णन में होता है, क्योंकि वह उनके विशेष पर्यावरण और शिक्षा दीक्षा पर निर्भर होता है। जब वे उसके बारे में बात करते है तब उन्हे शब्द ही नही मिलते और वे ऐसी भाषा इस्तेमाल करते हैं जो अनिश्चित, भ्रामक और व्याघातों से पूर्ण तक होती है। जिस ईश्वर का अनुभव होता है वह हमेशा एकही होता है। केवल ऐतिहासिक अनुषंगी बातो में ही भेद होता है। धर्मो की, जैसे ईसाई और मुस्लिम धर्म की, वे ऐतिहासिक बातें निकाल दीजिए जो एक-दूसरी के विरुद्ध है, और उन सबमें जो सारभूत समान बात है केवल उसे ही ग्रहण कीजिए। फिर आप देखेंगे कि वे एक-दूसरे से कोई विरोध नही रखते, क्योकि वे एकही हैं।

यह कठिनाई से बचने का एक आसान तरीका लगेगा ; परंतु इसे अपनाने से पहले अनेक बाते है जिनपर विचार कर लेना चाहिए। (१) इस प्रक्रिया मे आपने प्रत्येक धर्म-विशेष के ईश्वर को छीन लिया है। उदाहरणार्थ, ईसाई धर्म यह घोषणा करता है कि ईश्वर पवित्र बाइबिल मे प्रकट हुआ है और ईसा के रूप मे अवतरित हुआ, और कि जो मत इसे नही मानता वह मिथ्या है। इन विश्वासो को हटाकर ईसाई-धर्म का सार ही कुछ नहीं रहता। जो कुछ बचता है उसे शायद ही ईसाई धर्म कहा जा सकेगा। ईसाई धर्म मे से उसकी "ऐतिहासिक विशेषताएँ" निकाल देने से करीब-करीब पूरा ही ईसाई धर्म निकल जाएगा। कोई इस बात को अच्छी मानेगा, परंतु तब यह न कहा जाए

कि ऐसा करने के बाद "सच्चा ईसाई धर्म" बच रहता है। (२) हम एक ऐसी सत्ता को ईश्वर के रूप में कल्पित करने की चेष्टा कर लें जिसमें केवल वही विशेषताएँ हों जिन्हें सभी धर्म मानते हैं और ऐसी कोई विशेषता न हो जिसे कोई विशेष धर्म अकेला ही मानता हो। ऐसा ईश्वर प्यार करनेवाला नहीं होगा (क्योंकि कुछ धर्म ऐसा नहीं मानते), वह क्रूर नहीं होगा (क्योंकि कुछ धर्म ऐसा नहीं मानते), इत्यादि। विश्व के सभी धर्मों में, यहाँ तक कि थोड़े से धर्मों में भी, ईश्वर की जो विशेषताएँ समान रूप से मानी जाती है उनकी संख्या इतनी अल्प है कि ऐसे ईश्वर के लिए कठिनाई से कोई विशेषताएँ बच पाएँगी। ऐसे ईश्वर में केवल शक्ति ही बचेगी। यदि सही-सही कहा जाए तो वह एक तक नहीं होगा, क्योंकि अनेक धर्म बहुदेववादी है—परंतु साथ ही वह अनेक भी नहीं होगा, क्योंकि कुछ धर्म एकेश्वरवादी हैं। वह ईश्वर किस प्रकार का होगा जो न एक हो और न अनेक हो? (३) ऐसे ईश्वर को कुछ विशेषताओं की वृद्धि करके "अधिक गुणोंवाला" भी नहीं बनाया जा सकता—जैसा कि किसीने सुझाव दिया है, वह सारे विशेष धर्मों के ईश्वरों का संयुक्त रूप भी नहीं हो सकता, क्योंकि तब वह ईसाइयों के ईश्वर की तरह प्यार करनेवाला होगा, यावे (जेहोवा) की तरह बदला लेनेवाला, बेअल की तरह मनुष्य-बलि चाहनेवाला, ईसाइयों के ईश्वर की तरह उसे निषिद्ध करनेवाला इत्यादि। ये विशेषताएँ तर्कतः परस्पर विरुद्ध है। स्पष्ट है कि इनमें से कुछ विश्वास मिथ्या है। इस प्रकार ऐसा लगेगा कि अकेले दिव्य अनुभव के आधार पर किसी भी धर्म के ईश्वर की सत्यता का निश्चय नहीं हो सकता।

"परंतु कुछ धर्मों को तो छोड़ ही देना होगा—जैसे बेअलपूजा इत्यादि बर्बर धर्मों को, जिनके बारे में कोई संदेह ही नहीं है।" पर यहाँ विभाजन रेखा कहाँ खींची जाएगी? किस प्रकार के दिव्य अनुभव वांछित ईश्वर को सिद्ध करेंगे और किस प्रकार के नहीं? कसौटी क्या है? और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उस कसौटी की अन्यों से श्रेष्ठता कैसे सिद्ध की जाएगी? यदि एक दिव्य अनुभव के होने से सचमुच अनुभवकर्ता जिस ईश्वर को मानता है उसका अस्तित्व सिद्ध होता है, तो दूसरे अनुभव को ऐसा सिद्ध करने से कौन रोकनेवाला है? कोई "दिव्य अनुभव" का प्रयोग ऐसे मनमाने अर्थ में कर सकता है कि किसी एक ही धर्म या संप्रदाय के अनुभव "असली दिव्य" बन

जाएँ और अन्यों के "केवल धोखा" मान लिए जाएँ। परंतु ऐसा करनेवाले को उसका कोई विरोधी समुचित उत्तर दे सकता है। तर्कत ऐसा कोई *आधार नही है जिससे एक की बात को मान लिया जाए और दूसरे की बात* को छोड दिया जाए। दोनों ही पक्ष "दिव्य" की अपनी-अपनी प्रभावी परिभाषाएँ दे सकते हैं (देखिए पृ० ८३४) ; और शायद तब तर्क समाप्त हो जाता है और झगडा शुरू हो जाता है।

तो फिर ऐसा प्रतीत होगा कि किसी प्रकार का अनुभव होने मात्र से यह सिद्ध नही होता कि उसमे प्रकट होनेवाली वस्तु का सचमुच ही अस्तित्व है। हम थोडी देर के लिए वर्तमान स्थिति की तुलना प्रत्यक्ष की स्थिति से कर लेते हैं। मान लीजिए कि एक आदमी यह कहता है . "निस्सदेह भूत होते हैं ; *अन्यथा* वह कल रात मुझे कैसे दिखाई देता ?" इस बात से इन्कार करने *की जरूरत नही है कि उस आदमी को आँखो से किसी प्रकार का अनुभव* हुआ जिसके आधार पर उसने यह घोषणा कर दी कि भूतो का अस्तित्व है। परतु भूत का अनुभव इस बात से भी पूरी सगति रखता है कि उसे एक अपभ्रम हुआ हो। रेगिस्तान मे यात्रा करनेवाला कोई व्यक्ति कह सकता है, "देखो, नखलिस्तान," अर्थात् उसे ऐसा दृष्टि-अनुभव हो सकता है जिसके आधार पर वह निकट ही किसी नखलिस्तान के होने का विश्वास करे , परतु उसका विश्वास मिथ्या हो सकता है। अनुभव के अस्तित्व से इन्कार नही है—सबधित *व्यक्ति* जान-बूझकर दूसरो को धोखा देने के लिए *नही* ये बातें कर रहे है, परतु इस बात से *अवश्य* इन्कार *किया जा सकता है* कि इन अनुभवो का विषय, भूत या नखलिस्तान, सचमुच *अस्तित्व* रखता है। *यदि* इन अनुभवो की तथाकथित वस्तुओ के अस्तित्व का पक्का विश्वास कराने के लिए इन अनुभवो का होना ही पर्याप्त होता, तो हमे यह कहना पड जाता कि किसी को भी कभी स्वप्न या अपभ्रम मे दिखाई देनेवाली प्रत्येक वस्तु सचमुच अस्तित्व रखती है।

निस्सदेह *दिव्य अनुभव* भूत और *नखलिस्तान* के इन अनुभवो से बहुत भिन्न होते है। वे *कही अधिक तीव्र होते हैं, गहन होते हैं, अधिक महत्व के* होते है और अनुभवकर्ता के लिए उनका अर्थ अधिक होता है। परतु अनुभव से वस्तु के अस्तित्व के अनुमान का जहाँ तक सबध है, बात वही यहाँ भी लागू होती है : सिर्फ इस आधार पर कि यह अनुभव होता है, कोई यह नही

मान सकता कि इस अनुभव की तथाकथित वस्तुओ मे से एक का तो अस्तित्व है पर अन्यो का नही है। मात्र यह तथ्य कि दिव्य अनुभव होता है, ईश्वर मे विश्वास के सत्य होने की गारटी नही हो सकता। जब हम यह कहते हैं कि किसी चीज का सचमुच अस्तित्व है, तब केवल इतना ही पर्याप्त नही होता कि हमे एक (आतरिक) अनुभव हुआ है ; जिसका सचमुच अस्तित्व है (अर्थात् जो उपर्युक्त दृष्टि-भ्रम के नखलिस्तान की तरह अनुभव मात्र मे अस्तित्व नही रखता) उसे उसमे जिसका सचमुच अस्तित्व नही होता, अलग पहचानने के लिए कुछ कसौटियाँ (वस्तुतत्र अस्तित्व की) होनी चाहिए।

भौतिक वस्तुओ के प्रत्यक्ष का जहाँ तक सबध है, हमारे पास सचमुच ऐसी कसौटियाँ है। यहाँ हमने मनस्तत्र और वस्तुतत्र के बीच के अतर को जान लिया है। यहाँ न केवल हमे अनुभव होते है अपितु हम उनके द्वारा यह भी बता सकते है (सदैव तुरत नही) कि एक नखलिस्तान, एक एकशृंग इत्यादि असली है या नही। हम ऐसा कैसे कर पाते है ? जिन कसौटियो के द्वारा हम सही प्रत्यक्ष को गलत प्रत्यक्ष से अलग पहचानते है उनकी चर्चा आगे परिच्छेद २४ मे की जाएगी। यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि ऐसी कसौटियाँ हैं और असल मे हम उनका प्रयोग अपने जीवन मे प्रतिदिन करते हैं। जो भी हो, अधिकतर ऐसा होता है कि कोई अपभ्रम हमे बहुत देर तक धोखा नही दे पाता। सामान्यतः हम जानते हैं कि एक सच्चे नखलिस्तान को नखलिस्तान के अपभ्रम से कैसे अलग पहचानना है। एक अकेला अनुभव इसके लिए पर्याप्त नही होता, परतु एक विशेष प्रकार के और एक विशेष क्रम मे होनेवाले कई अनुभव अवश्य पर्याप्त होते है।

दिव्य अनुभवो के प्रसग मे हम ऐसा क्यो नही कर सकते ? सिद्धाततः ऐसा कोई हेतु नही है जो इसमे बाधक हो। परतु असल मे कसौटियो का कोई ऐसा समुच्चय इस क्षेत्र मे कभी निर्धारित नही किया गया जो हमे सच्चे दिव्य अनुभवो को झूठे दिव्य अनुभवो से अलग पहचानने मे समर्थ बना सके। जो भी कसौटियाँ सुझाई गई हैं—जैसे जिन लोगो को वे अनुभव होते हैं उनकी सख्या, उन अनुभवो की आवृत्ति होना, उनकी तीव्रता, अवधि—उनसे विभिन्न परस्पर विरोधी धार्मिक मतो को स्वीकृति प्राप्त हुई है। ऐसा कोई उपाय नही है, कम से कम दिव्य अनुभव पर आधारित युक्ति अकेली ऐसी नही है, जिससे कोई एक धार्मिक प्राक्कल्पना स्वीकार की जा सके और शेष अस्वीकार।

"देखना" शब्द के एक अर्थ मे, यह कहना कि हम एक नखलिस्तान देख रहे हैं इससे अधिक कुछ नही बताता कि हमे एक प्रकार का दृष्टि-अनुभव हो रहा है। परंतु इस शब्द के एक और अर्थ मे यह कथन इसके अतिरिक्त यह भी बताता है कि एक नखलिस्तान का सचमुच अस्तित्व है, लेकिन इस दूसरे अर्थ मे इस *दृष्टि-अनुभव का होना इस बात का पक्का प्रमाण नही है कि* नखलिस्तान का *अस्तित्व है ही*। जब हम कहते है कि हमे ईश्वर *का अनुभव* होता है, तब "अनुभव" शब्द के एक अर्थ मे हम केवल यह कह रहे है कि हमे एक विशेष प्रकार की (अवर्णनीय) अनुभूति हो रही है ; एक और अर्थ मे हम इसके अतिरिक्त यह भी कह रहे है कि एक स्वतत्र सत्ता—ईश्वर—सचमुच अस्तित्व रखता है, पर इस दूसरे अर्थ मे अनुभूति का होना इस बात का प्रमाण नही है कि ऐसी चीज का अस्तित्व है ही। इन दो अर्थो को हमे एक नही समझना चाहिए ; अन्यथा हम अनुभव से वस्तु का ऐसा अनुमान करने की भूल कर बैठेगे जिसे करने का औचित्य ही नही है। जब एक कथन, जो कि केवल एक अनुभव के बारे मे प्रतीत होता है, अप्रकट रूप से भी, उस अनुभव के बाहर की किसी चीज का अस्तित्व बताता है, तब उस अनुभव का होना मात्र इस बात की गारटी कभी नही दे सकता कि उसके बाहर उस चीज का अस्तित्व है ही।

३. उपयोगिता पर आधारित युक्ति

"उपयोगिता पर आधारित युक्ति" के नाम से प्राय जो युक्ति दी जाती है वह असल मे इस चर्चा मे ठीक नही बैठती और दार्शनिक चिंतन मे उसका अधिक इस्तेमाल भी नही होता। परतु चूंकि सामान्य जनता मे वह अत्यधिक पसद की जाती है, इसलिए शायद उसका यहाँ उल्लेख कर देना चाहिए। युक्ति कुछ कुछ इस प्रकार है : ईश्वर मे विश्वास नैतिक प्रभाव रखनेवाली एक बडी और अपरिहार्य चीज है। इसके बिना लोगो का जीवन नैतिक दृष्टि से अच्छा नही बन पाएगा। अत इसे सत्य होना चाहिए। (इस युक्ति को प्राय इतने सुस्पष्ट तरीके से नही प्रस्तुत *किया जाता, लेकिन जनसाधारण* का तर्क प्राय इसे *वैध मानकर चलता है।*)

यदि इसे गभीरतापूर्वक एक युक्ति के रूप मे लिया जाए तो कई बातें स्पष्टतः विचारणीय लगती हैं :

१. यह युक्ति किस धार्मिक विश्वास की सत्यता को सिद्ध करने के इरादे से दी जाती है ? सभी धार्मिक विश्वासो की ? पर वे तो परस्पर व्याघाती होते है और सब सत्य नही हो सकते । यदि यह युक्ति उनमे से केवल एक ही को सिद्ध करती है तो अन्यो को क्यों नही ?

२. क्या वास्तव मे ऐसी बात है कि धर्म सदाचार के लिए अपरिहार्य हो ? निस्संदेह यह निश्चित करने के लिए हमे सभी कबीलो और राष्ट्रो के आचार-विचार का विस्तृत सर्वेक्षण करना पडेगा और तभी हम जान सकेगे कि धार्मिक विश्वास के होने पर उसके अभाव की तुलना में हत्याएँ, छल कपट इत्यादि के काम कम हुए या नही और दयालुता, ईमानदारी, न्याय (अथवा "सदाचार" मे हम जिस बात को भी शामिल करते हो) के कामो मे वृद्धि हुई या नही । हमे पक्के तौर से यह पता कर लेना होगा कि धर्म के नाम पर जितने भी नैतिक काम किए गए वे सब धर्म की ही वजह से किए गए ; कि अल्प आयु मे धार्मिक शिक्षा देने के प्रभाव अल्प आयु मात्र का परिणाम न होकर धार्मिक होने का परिणाम थे ; कि नैतिक जीवन के निर्माण मे धर्म का ही प्रभाव अधिक शक्तिशाली रहा, न कि माता-पिता या लोकमत का प्रभाव—तब भी जब ये धर्म से दूर रहे ।[1] परंतु ऐसी छानबीन चाहे कितनी ही दिलचस्प क्यो न हो, दर्शन के क्षेत्र मे वह नही आती । यह खोज करना तो शुद्ध रूप से प्रेक्षण का विषय है कि धार्मिक विश्वास कानून और लोकमत जैसे अन्य सभव प्रभावो से अलग ही सदाचार मे उल्लेखनीय वृद्धि तथा कदाचार मे अत्यधिक ह्रास से सहसबधित रहा है या नही ।

३. परतु यहाँ अधिक उपयुक्त प्रश्न यह है : 'उपयोगिता पर आधारित युक्ति सिद्ध क्या करती है ?" हम एक क्षण के लिए यह मान लेते है कि यदि लोग धार्मिक विश्वास रखते हैं तो वे सदाचारी होते हैं और यदि वे धार्मिक विश्वास नही रखते तो वे कदाचारी होते है । क्या इसने यह सिद्ध होगा कि ये विश्वास सत्य हैं ? यदि लोग केवल भूतो मे विश्वास करने से सदाचारी बन सकें तो क्या इससे भूतो मे विश्वास सत्य हो जाएगा ? इसके जवाब के बारे मे कोई सदेह ही नही लगता । विश्वास इस बात से सत्य या मिथ्या नही होते

---

१ थ्री एसेज ऑन रिलीजन में "दि यूटिलिटी ऑफ रिलीजन" के अंतर्गत जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस प्रश्न को लेकर जो चर्चा की है वह प्रसिद्ध है ।

कि लोग उन्हें मानना चाहते है या उन्हें उनकी आवश्यकता है। सान्टा क्लाउज में विश्वास कर लेने से या "सौभाग्य का समय बस आने ही वाला है", यह मान लेने से ऐसे विश्वास सत्य नही हो जाते, भले ही इससे हमारा उत्साह और उल्लास बढ जाए ; और किसी अप्रिय तथ्य मे विश्वास करने से इन्कार करने से उसका तथ्यत्व घट नही जाता। हो सकता है कि यदि एक बात में विश्वास करने से बहुत ही वांछनीय परिणाम निकलते हों तो, वह चाहे सत्य हो या न हो, हर हालत में उसे मानने का आपका 'नैतिक अधिकार" हो (यह एक नैतिक प्रश्न है), परंतु इसके बावजूद यह कहना कि एक विश्वास सत्य है तथा यह कहना कि उसे मानकर आपका जीवन सुधर जाएगा, दो अलग-अलग चीजे है। यदि एक विशेष धार्मिक विश्वास का एक अच्छा नैतिक प्रभाव होता है, तो इससे वह सत्य सिद्ध नहीं हो जाता ; और यदि उसका बुरा नैतिक प्रभाव होता है तो इससे वह मिथ्या सिद्ध नही होता ; दोनों ही तरह से वह उससे असंबद्ध है, । "चाहे कितना ही विवादास्पद यह हो, अच्छा होगा यदि लोग इसपर विश्वास कर लें", यह कहना यह कहने से बिल्कुल भिन्न बात है कि "यह विश्वास सत्य है।" और दैनिक जीवन मे साधारणत. यह बात मानी जाती है—हम सभी अपने मन के अंदर अनेक सही पर व्यर्थ की सूचनाएं जमा करके रखते हैं, जैसे पुराने टेलीफोन नम्बर। जब किसी विश्वास को व्यापक रूप से सत्य माना जाता है तब साधारणतः इस बारे में कोई सवाल ही नही उठता कि वह उपयोगी भी है या नही, और यह तो निश्चित रूप से नही उठता कि कही उसकी उपयोगिता ही तो उसके सत्य माने जाने का हेतु नही है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा था :

धर्म की उपयोगिता के समर्थन मे तर्क देना नास्तिको को ऐसा ढोंग करने के लिए प्रेरित करना है जिसके पीछे नीयत नेक है, या अर्ध-आस्तिकों को उससे अपनी आँखें फेर लेने के लिए प्रेरित करना है जिससे उनके अस्थिर विश्वास के डिग जाने का खतरा हो, अथवा, अंत मे, सामान्य जनो को कोई संदेह जो उनके मन में हो प्रकट न करने के लिए प्रेरित करना है, क्योंकि मनुष्य-जाति के लिए अत्यधिक महत्व रखनेवाला एक ढाँचा ऐसी कमजोर बुनियाद पर खड़ा है कि उसके निकट जाते समय लोगो को इस डर से कि कही वह ढह पड़े, अपनी सांस रोक देनी होगी।[1]

---

१. वही, पृ० ७०।

और हमारे ही समय में बर्ट्रेंड रसेल ने कहा है :

मैं उनलोगों का सम्मान कर सकता हूँ जो कहते हैं कि धर्म सत्य है और इसलिए उसमें विश्वास करना चाहिए, परंतु उन लोगों के प्रति मेरे हृदय में घोर निंदा का भाव ही पैदा हो सकता है जो यह कहते हैं कि धर्म में इसलिए विश्वास करना चाहिए कि वह उपयोगी है, और कि वह सत्य है भी कि नहीं, यह पूछना समय बर्बाद करना है।[1]

वास्तव में, बहुत-से लोग इस बात के लिए बहुत प्रयत्नशील रहे हैं कि नैतिकता को धर्म पर किसी भी रूप में आश्रित रहने से बचाया जाए। उन्होंने महसूस किया है कि जनता के मन में धर्म और नीति का घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहना, जो कि नैतिकता के बने रहने को धर्म के बने रहने पर निर्भर बना देता है, एक खतरनाक बात है, क्योंकि उस दशा में यदि धार्मिक विश्वास कभी समाप्त हो जाए तो नैतिकता भी जो कि उसके ऊपर निर्भर बना दी गई है, उसके साथ ही समाप्त हो सकती है।

ऊ. चमत्कारों पर आधारित युक्ति

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में एक युक्ति जो सदैव सबसे अधिक लोकप्रिय युक्तियों में से एक रही है चमत्कारों का होना है। युक्ति इस प्रकार है : मानवीय इतिहास में विभिन्न समयों में चमत्कार हुए है। (लेकिन इस बात को लेकर बहुत मतभेद रहा है कि कौन-सी घटनाएँ चमत्कारिक हैं और कौन-सी नहीं हैं।) और किसी चमत्कार की आप इसके अलावा व्याख्या ही क्या दे सकेंगे कि ईश्वर ने घटनाओं के प्राकृतिक क्रम में हस्तक्षेप किया और चमत्कारिक घटना को पैदा किया ? अतः, चमत्कारों का होना ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

परंतु चमत्कार होता क्या है ? मान लीजिए कि इस क्षण में एक लोहे की ठोस सलाख पानी में फेंक दी जाती है और वह तैरने लगती है। अनेक लोग इस घटना को देखते हैं और इसकी फोटो उतार ली जाती है। क्या यह एक चमत्कार है ? चमत्कारिक होने के लिए किसी घटना को किस तरह की होना चाहिए ?

---

१. व्हाइ आई एम नॉट ए क्रिश्चियन (लंदन : जॉर्ज अलेन ऐंड अनविन, १६५७), पृ० १७२।

१. शायद हर आदमी इस बात से सहमत होगा कि चमत्कार को एक असाधारण घटना होना चाहिए। जो बात सदैव होती है या साल मे एक बार भी होती है उसे चमत्कार नही माना जाएगा, बशर्ते इस शब्द का विस्तार करके "ध्वनि का चमत्कार," "नई क्राइस्लर गाडी का चमत्कार" इत्यादि प्रयोगो को चमत्कार मे शामिल न कर लिया जाए। चमत्कार कोई असाधारण घटना मात्र नही हो सकता। पृथ्वी का एक धूमकेतु मे से गुजरना एक असाधारण घटना होगा, परतु जब तक प्रकृति के ज्ञात नियमो के द्वारा इसकी व्याख्या की जा सकती है तब तक इसको चमत्कारिक नही माना जाएगा। शायद एक चीज किसी हवाई जहाज से गिरती है और गिरते गिरते आपकी खिडकी के बाहर वाले टेलीफोन के तार से टकरा जाती है ; उसके टकराने से तार के दो टुकडे हो जाते हैं और एक टुकडा जमीन की ओर गिरते समय उधर से गुजरनेवाली एक बिल्ली से छू जाता है और वह बिजली लगने से मर जाती है। यह निश्चित रूप से एक असाधारण बात है—"यह बात लाखो बातो के होने पर भी दुबारा नही होगी"— परतु इसे चमत्कारिक नही माना जाएगा, क्योकि घटनाओ के इस असाधारण क्रम मे होनेवाली हर बात की ज्ञात नियमो से व्याख्या की जा सकती है।

२. तो ऐसा प्रतीत होगा कि कोई घटना तब तक चमत्कारिक नही मानी जाएगी जब तक वह प्रकृति के किसी ज्ञात नियम या किन्ही ज्ञात नियमो के अनुसार होती है। पर क्या इतना काफी है ? मान लीजिए कि एक ऐसी घटना होती है जिसकी व्याख्या प्रकृति के किन्ही भी ज्ञात नियमो के आधार पर नही की जा सकती है। तब क्या वह एक चमत्कार होगी ? शायद उससे हमे ऐसा सदेह होने लगे कि प्रकृति के कुछ नियम है जिन्हे हम अभी तक नही जानते अथवा यह कि जिनसे हम पहले से परिचित हैं उनमे कुछ ऐसे है जिन्हे सही ढग से सूत्रबद्ध नही किया गया है और जिनमे इस तरह से सशोधन करना जरूरी है कि वह नई घटना उनके क्षेत्र मे आ जाए। जब पहले-पहल यह बात ध्यान मे आई थी कि फोटो प्लेटें निरतर पूर्ण अधकार मे रहने के बावजूद उद्भासित हो जाती है, तब प्रकृति के किसी भी ज्ञात नियम के आधार पर इस बात की व्याख्या नही हो पाई थी ; परतु शीघ्र ही लोगो की समझ मे आ गया कि कुछ और नियम भी हैं जिनकी उन्होंने कभी कल्पना नही की थी और जिनसे इस विचित्र बात की व्याख्या हो जाती

है ; और इस तरह रेडियोएक्टिविटी के विज्ञान का जन्म हुआ। जब धूमकेतु की पूंछ सूर्य से दूर हटती पाई गई, तब यह नहीं मान लिया गया कि गुरुत्वाकर्पण के नियम में भौतिक द्रव्य की जो आकर्पण-शक्ति सर्वव्यापी बताई गई है वह रुक गई है ; ऐसे नए नियमों की खोज हुई जिनसे इस तरह की घटनाओं की व्याख्या होती है।

३ किन परिस्थितियों में एक घटना को चमत्कारिक माना जाएगा ? हम अब यह नहीं कह सकते कि "जब उसपर कोई ज्ञात नियम लागू न हो"। क्या हम यह कहेंगे कि "जब उसपर कोई भी ज्ञात या अज्ञात नियम लागू न हो ?" यह ज्यादा संतोषजनक लगेगा। कम-से-कम पिछले मत के विरुद्ध जो आपत्ति है उससे यह बच जाता है। निस्संदेह चमत्कार की इस धारणा के अनुसार किसी घटना को चमत्कारिक हम कभी निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकेंगे। हम कभी ऐसा कैसे जान सकते हैं कि प्रश्नाधीन घटना की वैज्ञानिक खोज के लाखों वर्ष बाद भी भविष्य में किसी प्राकृतिक नियम के आधार पर चाहे वह कितना ही जटिल और दुर्ज्ञेय क्यों न हो, कदापि व्याख्या नहीं हो सकेगी ? हम नहीं जान सकते, और इसलिए हम कभी किसी घटना के बारे में यह नहीं जान सकते कि वह चमत्कारिक है। यदि लोहे की सलाख एकाएक तैरने लगे तो हमें अवश्य ही आश्चर्य होगा ; परंतु कौन जानता है कि परिस्थितियों का आखिर वह जटिल समुच्चय ठीक कौन-सा है जो भौतिक द्रव्य के उस व्यवहार का जिसे वह करता है, कारण बनता है ? प्रकृति ने भूतकाल में जैसा व्यवहार प्रदर्शित किया उसके आधार पर ही हम यह निर्णय करते हैं कि क्या प्रसंभाव्य है और क्या असंभाव्य है। परंतु प्रकृति की गहराइयों में ऐसे अनेक सोते हो सकते हे जो केवल कभी-कभी ही या बहुत ही विशेप परिस्थितियों में फूटकर सतह पर आते हैं। हो सकता है कि लोहे की सलाख का चकित करनेवाला व्यवहार हवा की नमी से या रेडियोऐक्टिविटी के अब तक अज्ञात किसी नियम से या प्रेक्षकों की ही मानसिक अवस्था से संबंधित निकल आए। ऐसी बातें अप्रत्याशित इसलिए होंगी कि प्रकृति सामान्यतः (जहाँ तक हमारा अब तक का ज्ञान बताता है) जिस तरह काम करती है उससे वे सामंजस्य नहीं रखतीं, परंतु यह निश्चित है कि विज्ञान के पिछले इतिहास में उनकी जैसी बातों का अभाव नहीं पाया जाएगा। यह जानकारी आश्चर्यजनक रही कि अत्यधिक मात्रा में

रक्तस्राव एक मानसिक अवस्था के परिणामस्वरूप हो सकता है, न कि किसी शारीरिक कारण से, जिसकी कि उतने जोर-शोर से तलाश की जाती रही, अथवा हाथो का हर समय कॉपते रहना प्रारभिक बाल्यावस्था मे जबकि शरीर के आतरिक अगो को कोई क्षति नही पहुँची थी, किए गए किसी आक्रामक कर्म का, जो कि अब भूला जा चुका है, परिणाम हो सकता है। बहुत-से लोग अब भी ऐसी बातो को शक की निगाह से देखते हैं क्योकि वे ऐसा महसूस करते है कि "प्रकृति उस तरह से काम नही करती"। परतु अब तक हमे वैज्ञानिक अनुभव की कठोर पाठशाला मे सीखकर इतनी जानकारी तो हो ही चुकी होनी चाहिए कि प्रकृति अपने तरकस मे थोडे-से तीर छिपाए हुए है जिनकी हमे कभी कल्पना तक नही रही, और जो तब तक अवश्य ही विचित्र प्रतीत होते रहेगे जब तक हम उन नियमो के द्वारा जिनसे हम पहले परिचित हो चुके है यह निर्णय करते रहेगे कि "प्रकृति को किस तरह व्यवहार करना चाहिए"।

यहाँ महत्व की बात यह है कि "चमत्कार" की इस परिभाषा के अनुसार हमे इसका कभी पक्का यकीन नही हो सकेगा कि एक घटना, चाहे वह कितनी ही विचित्र, असाधारण या हमारे सामान्य अनुभव के विरुद्ध ही क्यो न हो, चमत्कार थी। हम कभी यह नही जान सकेंगे कि वह घटना किन्ही नियमो के अतर्गत शामिल नही की जा सकती। फिर भी, हम मान लेते है कि ऐसी एक घटना के बारे मे हमे बिल्कुल पक्का विश्वास हो सकता है कि उसपर कोई भी ज्ञात या अज्ञात नियम लागू नही होता। क्या इससे यह सिद्ध होगा कि उसकी व्याख्या के लिए ईश्वर का सहारा लेना पडेगा ? उत्तर लगभग निश्चित लगता है : यह सिद्ध अवश्य ही नही होगा ; केवल यह सिद्ध होगा कि कुछ घटनाओ पर नियम लागू नही होते। परतु यह सिद्ध करना तथा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना निश्चित रूप से दो बिल्कुल भिन्न बाते हैं।

४. अन्य लोगो के अनुसार—जैसे, जॉन स्टुअर्ट मिल के—कोई घटना चाहे कितनी ही विचित्र हो, वह चमत्कार उस दशा मे नही मानी जा सकती जब वह उपाधियो के उसी समुच्चय के दुबारा होने पर दुबारा होनेवाली हो। (यह पिछले अर्थ के बराबर ही है।) चमत्कार होने के लिए घटना को ऐसी उपाधियो के समुच्चय के अनतर नही होना चाहिए जो उसे दुबारा पैदा करने के लिए

पर्याप्त हों। चमत्कार की कसौटी यह है : क्या उपाधियाँ ऐसी मौजूद थीं कि जब भी वे दुबारा होंगी तब वह घटना भी दुबारा हो जाएगी ? यदि ऐसी थी तो घटना चमत्कार नहीं है। निस्संदेह यहाँ भी हमें इस बात का पक्का विश्वास कदापि नही हो सकेगा कि कोई घटना इस अर्थ में चमत्कार है—हम पक्की तरह से कभी न जान सकेंगे कि यदि उन्हीं उपाधियों की आवृत्ति हो तो "चमत्कार" की आवृत्ति नही होगी। अधिक-से-अधिक हम यही जान सकेंगे कि जब हमारी अच्छी-से-अच्छी जानकारी के अनुसार उपाधियाँ वही थीं (और विचार केवल उन्हीं उपाधियों का करते हुए जिन्हे हम घटना से कारण के रूप में संबंधित समझते है, हमें यह शर्त जोड़नी पड़ेगी, अन्यथा जिन उपाधियों को शामिल करना है उनका इतना विस्तार किया जा सकता है कि विश्व की समूची अवस्था उनमे आ जाए, जिसकी कि निश्चय ही कभी आवृत्ति नही हो सकती), तब तथाकथित चमत्कारी घटना नही हुई। परंतु ऐसी अन्य उपाधियों की आशंका सदैव बनी रहेगी जो कभी हमारे ध्यान में नही आईं, पर जो फिर भी कारणरूप मे संबधित रही होंगी, और जिनके आवर्ती उपाधियों मे जोड़ दिए जाने पर घटना की आवृत्ति हो जाती।

इसके अतिरिक्त, जैसे "चमत्कार" की पिछली परिभाषा को मानने पर वैसे ही यहाँ भी, यदि किसी तरह हम जान भी सकें कि हमारे पास सभी संबंधित उपाधियाँ है और वे सब वही है पर घटना की आवृत्ति नही हुई, तो भी इससे सिद्ध क्या होगा ? केवल अनियततत्ववाद—अर्थात् यह कि उपाधियों के दो अभिन्न समुच्चयों के अनंतर भी भिन्न घटनाएँ हो सकती है। इससे हमे आश्चर्य तो होगा, पर क्या जैसे घटनाओं को पूर्णतः नियत मानने पर होता वैसे ही इससे भी व्याख्या के लिए हमें ईश्वर का सहारा लेना पड़ेगा ? आखिर कोई यह भी तो पूछ सकता है कि विश्व को नियत मानने के बजाय अनियत क्यों न माना जाए ?

५. "चमत्कार" शब्द का एक और भी अर्थ है जिसके अनुसार चमत्कार की परिभाषा यह होगी कि वह घटनाओं के प्राकृतिक क्रम में ईश्वर का हस्तक्षेप करना है। अब अगर यह पूछा जाए कि क्या इस अर्थ मे चमत्कार से ईश्वर का अस्तित्व तार्किक रूप में अनुलग्न होगा, तो उत्तर अवश्य ही हाँ मे होगा—ईश्वर का हस्तक्षेप तर्कतः तभी हो सकेगा जब हस्तक्षेप करने के

लिए ईश्वर का अस्तित्व हो। परतु इसमे कोई सदेह नही है कि इस परिभाषा मे आत्माश्रय-दोष है। अव प्रश्न यह हो जाएगा कि "क्या इस अर्थ मे कोई चमत्कार होते है? क्या वस्तुत इस परिभाषा के अनुरूप कुछ होता है?" यदि इस अर्थ मे चमत्कार है तो अवश्य ही ईश्वर का अस्तित्व है, परतु ऐसा कहना एक भोडी सी पुनरुक्ति मात्र है। यह केवल यह कहना है कि "यदि ईश्वर हस्तक्षेप करता है तो ईश्वर है।" पर यह कैसे सिद्ध होगा कि ईश्वर हस्तक्षेप करता है? जैसा कि हम अभी देख चुके है, असाधारण घटनाओ का होना इस बात को सिद्ध नही करेगा।

इस प्रकार चमत्कारो पर आधारित युक्ति के सामने यह उभयत पाश है यदि चमत्कारो की, अतिम रूप को छोडकर, किसी तरीके से परिभाषा दी जाती है तो उनका होना अधिक से अधिक अनियतत्ववाद को ही सिद्ध कर सकता है, ईश्वर को नही, पर यदि चमत्कारो की अतिम रूप मे परिभाषा दी जाती है तो उन्हे पैदा करने के लिए अवश्य ही ईश्वर की जरूरत होगी (यह असल मे एक विश्लेषी कथन है), लेकिन यह सिद्ध करने का कोई उपाय नही है कि इस परिभाषा के अनुरूप किसी घटना का अस्तित्व है।

असाधारण घटनाओ का अस्तित्व उन्हे चमत्कार सिद्ध नही करेगा? परतु क्या ऐसी घटनाओं का अस्तित्व उनके चमत्कार होने की बात को अत्यधिक विश्वसनीय, अत्यधिक प्रसभाव्य नही बना देगा? दूसरे शब्दो मे, क्या इस बात का कोई प्रमाण है कि ऐसी घटनाएँ होती है जिनका तर्कसगत रूप से यह अर्थ लगाया जा सके कि घटनाओ के क्रम मे दैवी हस्तक्षेप होता है?

अनेक ऐसी घटनाएँ बताई गई है। कहा जाता है कि प्राचीन इस्राइल मे जोशुआ के लिए सूर्य स्थिर खडा रह गया था और कि एक बार पुनः १९१७ मे पुर्तगाल के फतिमा नामक गाँव के लोगो के सामने वह स्थिर खडा रह गया था। कहा जाता है कि पानी शराव बन गया, थोडी-सी रोटियाँ और मछलियाँ इतनी अधिक बढ गई कि हजारो लोग उन्हे खाकर तृप्त हो गए, कि मुरदे जीवित हो गए, लोगो की बीमारियाँ जाती रही, इत्यादि—और यह सब चमत्कार दैवी हस्तक्षेप से हुआ। निस्सदेह, यदि इन घटनाओ की प्राकृतिक उपायो से व्याख्या की जा सकती है तो चमत्कार का सहारा लेना अनावश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए, बीमारियो के ठीक होने के

मामले मे प्रायः ऐसा होता है, क्योकि रोगी की एक विशेष मानसिक अवस्था मे सम्मोहन इत्यादि मनोवैज्ञानिक साधनो के प्रयोग से रोगमुक्ति प्रायः संभव होती है। परंतु रोटियो की वृद्धि तथा सूर्य का स्थिर खडा रहना जैसी घटनाएँ ऐसी है कि प्राकृतिक उपायो से उनकी व्याख्या करने का कोई तरीका मालूम नही है। अतः यह तर्क दिया जाता है कि यदि ये घटनाएँ हुई हैं तो यह चमत्कार ही है : ईश्वर के हस्तक्षेप से वे हुई है।

परंतु क्या वे हुई थी ? ह्यूम ने चमत्कार-विषयक अपने प्रसिद्ध निबध मे कहा था कि इन तथाकथित घटनाओं की प्रसंभाव्यता को आँकने में हमे मार्ग दिखानेवाला केवल प्रकृति की वर्तमान व्यवस्था का हमारा संपूर्ण अनुभव ही होता है। 'कोई भी साक्ष्य किसी चमत्कार को सिद्ध करने के लिए तब तक पर्याप्त नही है जब तक साक्ष्य इस प्रकार का न हो कि जिस तथ्य को सिद्ध करने का वह प्रयत्न करता है उससे अधिक चमत्कारिक उसका मिथ्या होना हुआ होता।" और असल मे हर ऐसे चमत्कार मे, जिसका कि कही उल्लेख है, हमारे अनुभव के घटना-क्रम से अधिक सामजस्य इस विश्वास का रहता है कि वह चमत्कार हुआ ही नही था। लोग भ्रांतियो के शिकार होते हैं (वे झूठ तक बोल देते है), अफवाहे जल्दी फैलती है और अपने स्रोत से जरा सी दूर वे पहुँची नही कि बेहिसाब बढा-चढा दी जाती हैं, जब कोई बात ऐसी होती है जिसपर लोग विश्वास करना चाहते है और विश्वास करने के लिए पहले से ही पूरे तैयार बैठे रहते है तब वह कुछ भी हो, लोग उसपर विश्वास कर लेते हैं तथा एक सत्य घटना के रूप मे उसका प्रचार करते हैं—इन सारे तथ्यो से हम सब सुपरिचित हैं और इनपर विश्वास करने के लिए चमत्कार की जरूरत नही है। ये सब हमारे दैनिक अनुभव की जानी-पहचानी बातें हैं। अधिकतर तथाकथित चमत्कार ऐसे लोगो के द्वारा बताए गए थे और इतने प्राचीन है कि अब हम उनकी कहानियो की जाँच नही कर सकते। इसके अलावा लोग भी वे ऐसे थे कि उन्होंने देखी हुई घटनाओं का यथार्थ विवरण देना नहीं सीखा था और प्रायः वे चमत्कारों का होना चाहनेवाले थे, तथा उनका चाहना ही उनके विश्वास का जनक था। जब चमत्कार के साक्षी कई लोग थे, जैसे फातिमा के प्रसंग मे, तब भी हमारे इनकार का करने का हेतु उसपर विश्वास करने के हेतु से कहीं बड़ा है, क्योंकि हम जानते हैं कि उस कहानी के सच होने के लिए प्रकृति के भिन्न-भिन्न

बातो को होना पडेगा। आकाश मे सूर्य का स्थिर खडे रहना—अर्थात् पृथ्वी का सूर्य की परिक्रमा करना बद कर देना—प्रकृति के पूरे प्रक्रम के, जैसाकि हम उसे जानते है, विपरीत होगा, और इसके अनेक अन्य परिणाम होगे, जैसे चीजो का उडकर अतरिक्ष मे पहुँच जाना, जो कि हुआ नही। अतः अधिक प्रसंभाव्य यह है कि इसके बजाय कि यह चमत्कारी घटना सचमुच घटी हो, लोगो ने भ्रातिवश यह कहानी गढ ली।

लेकिन इससे यह सिद्ध नही होता कि जो घटनाएँ बताई गई है वे घटी नही। शायद हमारे पास इस बात का निश्चायक प्रमाण नही है कि वे घटी थी, परंतु हमारे पास इस बात का भी निश्चायक प्रमाण नही है कि (कम-से-कम ज्यादातर मामलो मे) वे नही घटी थी। हमारी स्थिति कुछ शर्लाक होम्स की जैसी होती है जिसे वर्षो पहले किए गए एक ऐसे अपराध का पता लगाना है जिसके अधिकतर सुराग अब मिट चुके है। तथ्य यह है कि जो पहले ही ईश्वर मे अन्य हेतुओ से विश्वास करते हैं उनकी प्रवृत्ति चमत्कारो को ईश्वर के एक अतिरिक्त प्रमाण के रूप मे मानने की होती है, परतु जिन्हे ईश्वर मे विश्वास करने का कोई हेतु नही दिखाई देता उन्हे चमत्कारो के बारे मे ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता जो अकेले उन्हे विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त हो। चमत्कारो पर आधारित युक्ति अपने-आप मे पर्याप्त शक्ति नही रखती, परतु यदि कोई अन्य युक्तियो मे से एक या दूसरी के आधार पर पहले ही ईश्वर के अस्तित्व मे पक्का विश्वास करता है तो इसे वह एक सहायक युक्ति के रूप मे स्वीकार कर सकता है।

चमत्कारो मे—ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप मे घटने वाली घटनाओ मे—विश्वास या अविश्वास प्रसग-विशेष मे उपलब्ध प्रमाण पर उतना निर्भर नही करता (अधिकतर प्रसगो मे समर्थक या विरोधी कोई भी प्रमाण नही होता) जितना ईश्वर के स्वरूप के बारे मे पहले से हमारे मन मे मौजूद विश्वासो या अविश्वासो पर। हम यह विश्वास करते है कि तथाकथित चमत्कार अधिकाशत ऐसे है कि वे ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के साथ मेल नही खाते। यदि ईश्वर यह चाहता है कि लोग उसमे विश्वास करें तो वह क्यो एक दूरवर्ती स्थान मे थोडे-से चमत्कार करता है जहाँ थोडे ही लोग उन्हे देख सकें ? क्या एक सर्वशक्तिमान् सत्ता के लिए आकाश से ऊँची आवाजो मे और एकसाथ सब लोगो को समझ मे आनेवाली सभी भाषाओ मे

घोषणाएँ करना उतना ही आसान नही है ? यदि ऐसा हुआ होता तो वर्तमान वर्णनो की अपेक्षा जिनमे अधिकतर लोगो को जनश्रुति पर आश्रित रहना पडता है, कही अधिक लोगो को ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास हो गया होता। थोडे-से रोगियो के बजाय क्यो नही सभी रोगी रोगमुक्त हो जाते ? १९१७ मे फतिमा मे एक चमत्कार कर देने के बजाय क्यो नही प्रथम महायुद्ध का व्यापक नरसहार जो कि उसी समय मे चल रहा था बद कर दिया गया या शुरू होते ही रोक दिया गया ? अथवा, यदि इससे मानवीय स्वतन्त्रता मे बाधा पडने का डर था तो क्यो नही एक और चमत्कार हो गया जिससे जाने भी बचती, जैसे लिजबन मे हुए भूकप का रोक दिया जाना, जिसमे उपासना के लिए गिरजाघरो मे एकत्रित ३०,००० लोगो की जाने गई थी (वाल्टेअर ने इस उदाहरण को "काडीड" मे बार-बार दोहराया है) ? एक छोटी सी विपत्ति के बजाय एक महाविपत्ति को क्यो नही रोका गया ? पानी को शराब मे बदल देना उसी काल और उसी स्थान मे जनता को त्रस्त करनेवाले व्यापक दैन्य की तुलना मे, जो कि दूर नही हुआ, एक तुच्छ-सी बात थी।

यह भी एक रोचक बात है कि लोग किसी भी असाधारण घटना को या प्राकृतिक सभावनाओ के विपरीत होनेवाली घटना को, जब तक कि वह उनके हित मे काम करती हो, चमत्कार मानने के लिए तैयार बैठे रहते हैं। एक हवाई दुर्घटना मे सौ आदमी मर जाते है पर एक जीवित बच जाता है। जीवित व्यक्ति और उसके परिवार वाले कहते है : "यह एक चमत्कार हुआ।" जो मर गए उनके परिवार वालो ने क्या कहा, इसका प्राय. उल्लेख नही किया जाता। अब मान लीजिए कि एक हवाई दुर्घटना ऐसी होती है जिसमे एक आदमी मर जाता है पर सौ आदमी बचे रहते हैं। जो मर गया उसके परिवार वाले नही कहते कि "एक चमत्कार हुआ," हालांकि सौ का जीवित रहना और एक का मरना एक के जीवित रहने और सौ के मरने के सदृश ही है। सामान्य रूप से, जो लोग पहले से ही ईश्वर मे किसी तरह का विश्वास रखते है उनकी किसी भी ऐसी घटना को चमत्कार मानने की प्रवृत्ति रहती है जो असाधारण हो, जिसके कारणो को वे पूरी तरह से न जानते हो, और जो उनके लिए हितकारी हो। जो इस तथ्य पर विचार करेंगे वे शायद चमत्कारो पर आधारित युक्ति मे अधिक दिलचस्पी नही लेंगे—इसलिए नही कि उनके पास सबधित घटना की कोई वैकल्पिक व्याख्या है (हालांकि कभी-कभी

होती है) बल्कि इसलिए कि वे समझते हैं कि किसे लोग चमत्कार कहते हैं, यह बात तथ्यों से अधिक इस बात पर निर्भर करती है कि वे क्या विश्वास करना चाहते है। कोई अपने सारे दोस्तों की एकाएक मृत्यु हो जाने को, इसकी प्राकृतिक व्याख्या के कितनी ही कठिन होने के बावजूद चमत्कार नहीं कहेगा, हालांकि कोई अपने शत्रुओं की ऐसी मृत्यु को चमत्कार कह सकता है। शत्रु निश्चय ही वर्गीकरण को उलट देंगे। इसके अलावा, प्रत्येक धर्म के अपने अलग ही चमत्कार है ; एक धर्म के अनुयायी जिन घटनाओं को चमत्कारों के वर्ग में रखते हैं उन्हें दूसरे चमत्कार नही मानते।

ए. प्रयोजनमूलक युक्ति (आयोजन-युक्ति)

ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में जितनी युक्तियां है उनमे से सबसे अधिक लोकप्रिय प्रयोजनमूलक युक्ति अथवा आयोजन-युक्ति है। यह युक्ति इंद्रियानुभविक साधनों से, विश्व की जांच करके तथा यह दिखाने की कोशिश करके कि वह ईश्वर के अस्तित्व की ओर सकेत करता है, ईश्वर के अस्तित्व को निष्कर्ष के रूप मे प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। यह युक्ति कहती है कि आँखें खोलकर जगत् को देखो और आप पाएँगे कि इसमें व्यवस्था और आयोजन (या अभिकल्प) के प्रचुर प्रमाण मौजूद हैं। यदि आप विश्व की व्यवस्था पर विचार करें तो आपको इस निष्कर्ष से बच पाना कठिन लगेगा कि उसमें कोई प्रयोजन है, कि एक कुशल शिल्पी ने उसका निर्माण किया है। विश्व एक अंधे संयोग से नही हुआ बल्कि प्रयोजन से उसका निर्माण हुआ है। और जहां प्रयोजन है वहाँ प्रयोजनवाले का होना अनिवार्य है, जहां आयोजन है वहाँ आयोजक का होना जरूरी है।

परंतु किस तरह का आयोजक ? विश्व के आयोजक को किस प्रकार की सत्ता होना चाहिए ? क्या वह एक व्यक्ति या व्यक्तित्व है ? क्या उसमें बुद्धि या प्रज्ञा है ? क्या उसकी शक्ति असीम है ? क्या अपनी सृष्टि के प्रति वह अनुकूल भाव रखता है, या प्रतिकूल, या उपेक्षा का भाव रखता है ?

और हम जानेंगे कैसे ? चूंकि वह साक्षात् प्रकट कभी नही होता, इसलिए उसके अस्तित्व का हम कैसे अनुमान करें ? यदि यह हम मान भी लें कि हम उसके अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं तो भी हम उसकी प्रकृति को कैसे जानेंगे ? हम किन प्रमाणो का अनुसरण करें ?

प्रयोजनमूलक युक्ति ब्रह्मांड की विशेषताओ को पिछली युक्तियों मे से किसीकी भी अपेक्षा अपना आधार अधिक बनाती है। विश्व मे अमुक-अमुक विशेषताएँ है, इसलिए एक दैवी आयोजक का अस्तित्व है : यह युक्ति का आकार है। जैसे भूविज्ञानीय साक्ष्य के आधार पर हम पिछले लाखों वर्षो के दौरान पृथ्वी की सतह मे जो परिवर्तन हुए है उनके स्वरूप का अनुमान कर सकते है, ठीक वैसे ही हम पूरे विश्व की कुछ विशेषताओ के आधार पर एक अभिकल्पक या आयोजक के अस्तित्व और स्वरूप का अनुमान कर सकते है। यह मानना होगा कि यदि प्रकृति मे उपलब्ध प्रमाण भिन्न हो तो अभिकल्पक के स्वरूप तथा अस्तित्व तक के बारे मे हमारे निष्कर्ष भिन्न होगे।

यहाँ युक्तियाँ केवल विश्व के आयोजक के पक्ष मे है। प्रयोजनमूलक युक्ति यदि सफल हो तो वह एक अनिवार्य सत्ता, एक आदि कारण या शून्य से विश्व की सृष्टि करनेवाले तक के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती। अधिक-से-अधिक इससे यही प्रमाणित हो सकेगा कि विश्व एक अभिकल्प या आयोजन के अनुसार रचा गया है, जिसके लिए एक ऐसी सत्ता चाहिए जिसमे बुद्धि हो और विश्व के उपादान को एक योजना के अनुसार आकृति प्रदान करने की पर्याप्त शक्ति हो। इस प्रकार यदि कोई आयोजक अस्तित्व रखता है तो क्या उसे "ईश्वर" कहना चाहिए, यह बात विवादास्पद है। आदि-कारण युक्ति यदि सफल हुई होती तो केवल एक आदि कारण ही प्रदान करती ; विश्व की आपातिता पर आश्रित युक्ति यदि सफल हुई होती तो केवल एक अनिवार्य सता ही प्रदान करती ; प्रयोजनमूलक युक्ति यदि सफल होती है तो केवल विश्व के एक आयोजक (विश्वकर्मा) को ही प्रदान करेगी। परंपरा के अनुसार हम "ईश्वर" नाम इन सब चीजो को दे देते है, परंतु यह एक घपला है। जो आदि कारण है वह आयोजक भी हो, दिव्य अनुभव का स्रोत भी हो, और नैतिक नियमो का स्रोत भी हो, यह आवश्यक नही है। हमे यह नही कहना चाहिए कि चूँकि हम इन सबके लिए एक ही शब्द "ईश्वर" का प्रयोग करते है इसलिए इन सबको एकही चीज होना चाहिए। जो भी हो, यदि हम फिर भी यह कहते हैं कि इन सब युक्तियो के फलस्वरूप जो कुछ हम प्राप्त करते है वह वस्तुत. बिल्कुल एकही सत्ता है और उसका नाम भी एकही है, तो इस बात को सिद्ध करने के लिए हमे और युक्तियो की जरूरत पड़ेगी। जब प्लेटो ने अपनी वार्ता "टाइमीअस" मे एक अभिकल्पक या शिल्पी की

प्राक्कल्पना की चर्चा की थी तब वह यह मानकर बिल्कुल भी नही चला (और न किसी यूनानी विचारक ने यह माना) कि विश्व का आयोजक आदि कारण था या उसने ब्रह्मांड की शून्य से सृष्टि की थी : जिस तरह एक भवन-निर्माता पहले से ही मौजूद सामग्री को लेता है और उसका उपयोग एक मकान के निर्माण के लिए करता है, बहुत-कुछ वैसे ही विश्व के आयोजक ने पहले से मौजूद उपादान को लिया और एक योजना के अनुसार उसे आकृति प्रदान की।

तो फिर हम देखते है कि प्रयोजनमूलक युक्ति क्या रूप ग्रहण कर सकती है, किस प्रकार के आयोजक को सिद्ध कर सकती है, और क्या प्रमाण प्रस्तुत कर सकती है। यह करने के बाद हम इस युक्ति का सभी विविध रूपो मे जो सामान्य ढाँचा है उसकी जाँच करेगे।

युक्ति की शुरुआत इस बात से होती है कि विश्व व्यवस्था से युक्त है और यह व्यवस्था आयोजन का परिणाम है। आकाश मे जो लाखो-करोडों तारे है वे एक व्यवस्थित तरीके से व्यवहार करते है, वे कुछ भौतिक नियमों का अनुसरण करते है जो समान रूप से सभी पर लागू होते है; और पृथ्वी पर जो लाखो प्रकार के जीव हैं वे भी इसी तरह नियमो का अनुसरण करते हैं। ये सब चीजें किसी आयोजन के बिना अस्तित्व मे आ ही कैसे सकती थी ? मिट्टी के टुकडे अपने आप ही सयुक्त होकर ईंटे नही बनाते या ईंटें स्वतः मिलकर मकान का निर्माण नही कर देती। इसके लिए आदमी की आयोजन-शीलता जरूरी होती है। इसी प्रकार, भौतिक द्रव्य के कण स्वतः मिलकर जीवित कोशिकाओ का निर्माण नही कर सकते अथवा कोशिकाएँ पृथ्वी पर निवास करनेवाले जटिल जीवित शरीरो का निर्माण नही कर सकती। ऐसा केवल किसी आयोजक के काम का ही परिणाम हो सकता है जो उपादान को उपयुक्त आकृति देकर उन्हे बनाता है।

परंतु ऐसी युक्तियो के विरुद्ध कई आपत्तियाँ की जा सकती हैं : (१) "व्यवस्था" शब्द बहुत स्पष्ट नही है : जो एक को व्यवस्थित लगता है वह दूसरे को व्यवस्थित नही लगेगा। जो चित्र एक प्रेक्षक को व्यवस्थाबद्ध लगता है वही दूसरे को अव्यवस्थित लगेगा। (२) यह भी स्पष्ट नहीं है कि विश्व किसी विशिष्ट अर्थ मे व्यवस्थाबद्ध है। यदि आकाशगगाएँ व्यवस्थाबद्ध हैं

पर ब्रह्मांड में घूमनेवाली नीहारिकाएँ वैसी नहीं हैं, तो यह बात ध्यान देने की है कि ब्रह्मांड में अनेक नीहारिकाएँ हैं ; और जिसे भी व्यवस्थाहीन माना जाए वे अनेक हैं। फिर भी, यदि विश्व में कोई भी चीज व्यवस्थित है (जो भी वह भी), तो "व्यवस्था" शब्द की आप क्या सीमाएँ रखेंगे ? कौन-सी बात किसी चीज के व्यवस्थायुक्त होने के विरुद्ध गिनी जाएगी ? यदि आप गोलियों से भरे हुए एक थैले को फर्श पर फेंक दें तो वे किसी न-किसी विन्यास में फैल जाएँगी। इस अर्थ में, चीजों का प्रत्येक विन्यास व्यवस्थायुक्त होगा, और तदनुसार यह कथन कि यह विश्व व्यवस्थायुक्त है, उसके बारे में हमें कोई विशेष बात नहीं बताएगा। (३) सबसे महत्व की बात यह है कि इस बात की क्या गारन्टी है कि व्यवस्था सदैव अभिकल्प या आयोजन का परिणाम होती है ? व्यवस्था कुछ उदाहरणों में तो सचमुच ही आयोजन से उत्पन्न पाई गई है, जैसे मशीनी चीजों में (घड़ियाँ, रिन्च, इंजनवाली गाड़ियाँ); यह हम इसलिए जानते है कि स्वयं हमने ही (या अन्य आदमियों ने) चीजों को संयुक्त करके अपने उपयोग और आनंद की वस्तुओं का निर्माण किया है। उनमें व्यवस्था आयोजन करनेवाली (हमारी) बुद्धियों के फलस्वरूप आई है। परंतु जैसा कि ह्यूम ने कहा था, व्यवस्था आयोजन का प्रमाण केवल वहीं तक है जहाँ तक आयोजन के फलस्वरूप व्यवस्था का आना देखा गया है। और पेड़-पौधों तथा पशुओं के अंदर जो व्यवस्था हम पाते हैं उसका आयोजन के फलस्वरूप पैदा होना नहीं देखा गया है। हमने कभी कोई ऐसी सत्ताएँ नही देखी है जो पेड़-पौधों या पशुओं की रचना या तारों तक का निर्माण आयोजनपूर्वक करती हों और इसलिए हमें यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार नही है कि ये वस्तुएँ आयोजन के फलस्वरूप ही अस्तित्व रखती है।

पर प्रयोजनमूलक युक्ति का समर्थक इसका यह जवाब देगा : "यही तो मुख्य बात है। हमने कभी पेड़-पौधों और जानवरों का उस तरह निर्माण होते नही देखा जिस तरह वास्तुशिल्पी भवनों को और घड़ीसाज घड़ियों को बनाता है ; परंतु हमें यह अनुमान करना ही पड़ेगा कि उनका आयोजनपूर्वक निर्माण किया गया था, क्योंकि अन्यथा कैसे हम उनके अस्तित्व की व्याख्या करेंगे ? एक बार फिर यह दिया जाए कि पत्थर कभी अपनी इच्छा से इकट्ठे होकर महलों का निर्माण नही करते और न जड़ द्रव्य के कण स्वतः संयुक्त होकर जीवित देहों का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए बुद्धि चाहिए, और चूंकि

जीवित देहों के निर्माण के पीछे मानवीय बुद्धि नही है, इसलिए उसे दैवी बुद्धि होना चाहिए।"

परंतु इस टिप्पणी से एक और आपत्ति के लिए गुंजाइश हो जाती है। तब क्या होगा जब विचाराधीन बातो की ब्रह्माड के आयोजक किसी विराट् शिल्पी का अस्तित्व माने बिना ही व्याख्या कर दी जा सके? इसका सही उत्तर यह होगा कि तब यह प्राक्कल्पना खंडित तो नही हो जाएगी, पर यह सिद्ध हो जाएगा कि उन तथ्यों की व्याख्या के लिए उसकी जरूरत नही है। क्या ऐसा हो सकता है, विशेषतः जीवो के प्रसग मे, जो कि आयोजन की *प्राक्कल्पना की मांग करनेवाली व्यवस्था के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है?*

मुख्य रूप से अजैव द्रव्य से निर्मित इस ब्रह्मांड मे जीवन और मन का अस्तित्व एक ऐसा रहस्य प्रतीत होता है जिसकी व्याख्या केवल एक विराट् आयोजक की प्राक्कल्पना के आधार पर ही हो सकती है। परतु हजारो वर्षो से जैव विकास के ऐसे सिद्धात चले आ रहे है जो जीवो के अस्तित्व की किसी आयोजक की प्राक्कल्पना का आश्रय लिए बिना ही व्याख्या करने का प्रयत्न करते है। उदाहरण के लिए, प्राचीन यूनानी दार्शनिक अनेक्सीमैन्डर (६११-५४७ ई० पू०) ने यह दलील दी थी कि जीव पहले-पहल सागर से उत्पन्न हुए और स्थल के जंतुओ मे विकसित हो गए। परतु इस सबध मे कोई ऐसा व्यापक सिद्धात, जो पूरी बारीकियो और पूरे परिश्रम के साथ किए गए प्रेक्षणो की पक्की नीव पर जमा हो, १८५९ मे चार्ल्स डार्विन की पुस्तक "दि ओरिजिन ऑफ स्पीशीज" के प्रकाशन से पहले सामने नही आया। डार्विन ने यह प्राक्कल्पना प्रस्तुत की कि जीवो का धीरे धीरे सबसे सरल रचनावाले अमीबाओं से लेकर सबसे जटिल नरवानरगण तक अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा योग्यतम के बने रहने की प्रक्रिया से विकास हुआ। उसके पथप्रदर्शन के तथा उसके बाद के अनेक जीवविज्ञानियो के कार्य के फलस्वरूप जैव विकास की प्राक्कल्पना इतनी अच्छी तरह संपुष्ट हो चुकी है कि उसे जीवविज्ञानियो ने सर्वत्र स्वीकार कर लिया है। निश्चय ही, इससे हर बात की व्याख्या नही हो गई। इससे केवल जीवो के अस्तित्व के बने रहने की व्याख्या होती है न कि उनके आगमन की। परतु यह कमी भी अब लगभग पूरी हो गई है: एक शताब्दी से अधिक समय पूर्व प्रयोगशाला मे कृत्रिम रूप से यूरिक एसिड (अजैविक यौगिकों से निर्मित प्रथम जैविक यौगिक) के

ग्रह जीवन से युक्त है), परिस्थितियों का यह योग नहीं पाया जाता—क्या इसे आयोजन के विरुद्ध एक प्रमाण माना जाए ? इसके अतिरिक्त, इस ग्रह के ऊपर जीवन के लिए जो नाना प्रकार की बातें जरूरी हैं वे हमारे विरुद्ध ही काम करती हैं ; जब ऐसी एक बात, जैसे पर्याप्त नमी, नहीं होती, तब प्राणी प्यासा मर जाता है। जीवित शरीर एक बहुत ही जटिल रचना है जिसे देखकर प्रशंसा का भाव मन में पैदा होता है और जो आपके अनुसार आयोजन का प्रमाण है। परंतु इस जटिलता का मतलब यह है कि जब कोई गडबडी हो जाती है तब शरीर रुग्ण हो जाता है और प्रायः उसकी मृत्यु ही हो जाती है ; हृदय-रोग, कैन्सर, यकृत की ततुमयता—ये बहुत-सी बीमारियाँ उसके जीवन को समाप्त कर सकती हैं ; यदि जीवन परिस्थितियों के ऐसे नाजुक संतुलन पर निर्भर न होता तो वह चारों ओर से अपने अस्तित्व को मिटानेवाले खतरों से न घिरा होता।" (२) "जीवित देहों में कितना आश्चर्यजनक आयोजन दिखाई देता है : एक उछलते-कूदते और खेलते हुए बिल्ली के छोटे-से बच्चे को देखिए ; उसका शरीर जो कि सूक्ष्म तंत्रिकाओं, पेशियों अस्थियों का एक विशाल जाल है, बडी सफाई और कुशलता के साथ विकसित होता है। निश्चय ही ऐसा जटिल तंत्र आयोजनपूर्वक ही निर्मित हुआ होगा।" परंतु इसके विपरीत, "पिट वाइपर के निर्माण में कितनी आश्चर्यजनक कारीगरी है : वह अंधेरे में अपने शिकार से निकलनेवाली गर्मी के द्वारा उसको देख लेता है और उसके आने की दिशा को जान लेता है ; उसकी जीभ बाहर निकल पडती है और बिजली की फुर्ती से उसके विषदंत शिकार के शरीर में घुस जाते हैं और शिकार फूल जाता है, अंधा हो जाता है, वर्णनातीत पीडा का अनुभव करता है और आधे घंटे के अंदर मर जाता है।" (यदि शिकार मच्छर चूहे तथा अन्य ऐसे प्राणी होते जिन्हें हम पसंद नहीं करते तो शायद हम शिकायत न करते, परंतु आदमी भी समान रूप से उसके शिकार बन जाते हैं। लोग आयोजन को न केवल सामान्य रूप से अपितु अपने लिए कल्याणकारी चाहते हैं। एक ऐसा आयोजन लोगों को शायद पसंद नहीं आएगा जिसमें लोगों का, यहाँ तक कि कुत्तों का भी, अहित हो।) (३) "मानव-शरीर में कैसी आश्चर्यजनक शक्तियाँ काम कर रही हैं। यह इतना जटिल है कि डॉक्टरों को वैज्ञानिक [illegible] के बाद अब तक भी इस उसकी कार्य-प्रणाली को पूरी तरह से नहीं समझ पाए हैं। हर अंग हर अन्य अंग के ऊपर आश्रित है। जब शरीर का [illegible] होता है तब हर अंग दूसरे की [illegible]

करता है। प्रत्येक अग पूरे शरीर के स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए अन्यो के साथ मिल जुलकर काम करता है।" "अहा! परतु सदैव नही। इसी अन्योन्याश्रितता की वजह से बराबर गडबडियाँ हो रही है और प्राय कोई इलाज सभव नही होता। इसके अलावा, सर्जनो को (ये प्रकृति ने नही दिए है बल्कि मनुष्य के ही कौशल से पैदा होते है) हमारे आतरिक अगो को उसी तरह खोलकर देखना पडता है जिस तरह सार्डीनो के एक डिब्बे को खोला जाता है, क्योकि यदि कोई इस शरीर का निर्माता है तो उसने न जटिल और नाजुक अगो को खोलकर देखने के लिए जिपर के तरह की कोई सुविधा प्रदान किए बिना हमारे अदर भर देना ही उचित समझा है। क्या उस आयोजक के लिए टिकाऊ और लचीली ट्यूबो से हमारी धमनियो का निर्माण करना अधिक कठिन था जिससे कि हमे आयु वृद्धि के साथ धमनी काठिन्य रोग न होता? यदि मस्तिष्क की शक्ति और शरीर की ऊर्जा चालीस की आयु मे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचने और तत्पश्चात् उत्तरोत्तर घटते जाने के बजाय जीवन-पर्यंत बनी रहती तो क्या लोग अधिक अच्छे न रहते? क्यो इतने सारे लोग जीवन शुरू करने से भी पहले आरभिक दौर्बल्य और जन्मजात रोगो के दुष्प्रभाव से शारीरिक यत्रणा, असाध्य बीमारी या जडबुद्धिता के कारण बेकार हो जाते है? अग जब प्राकृतिक रूप मे काम करते-करते बिगड जाते है तब उनके स्थान पर स्वस्थ अग पैदा करने की भी कोई व्यवस्था नही है। आप उस कार-निर्माता के बारे मे क्या सोचेंगे जिसकी कारो को निरतर नए पुर्जो की जरूरत हो रही हो और जो उन्हे न दे पा रहा हो? यह भी ध्यान देने की बात है कि कैसे कैन्सर चुपचाप किसी मार्मिक अग को लग जाता है, जैसे कि मानो उसकी नजर से बच रहा हो जो बहुत देर हो जाने से पहले उसे ढूँढ निकालना चाहता है, और अपने शिकार को हफ्तो या महीनो तक निरतर असह्य कष्ट पहुँचाता रहता है जिससे अत मे मृत्यु ही उसे मुक्ति दिला पाती है।"

बुराई की समस्या— यदि प्रयोजनमूलक युक्ति या लक्ष्य एव कल्याणकारी आयोजक के अस्तित्व को सिद्ध करना है तो उसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति बुराई, पाप या अनिष्ट की समस्या है। प्राचीन काल मे एपिक्यूरस (३४२-२७० ई० पू०) ने इस समस्या को इस रूप मे रखा था : "क्या ईश्वर बुराई को रोकने की इच्छा रखते हुए भी उसे रोकने मे समर्थ नहीं है? तब वह सर्वशक्ति-

मान् नही है । क्या वह समर्थ तो है पर चाहता नही है ? तव वह कल्याण चाहनेवाला नही है । क्या वह चाहता भी है और समर्थ भी है ? तव बुराई कहाँ से आई ?" ह्यूम ने इस आपत्ति को एक उभयतःपाश के रूप मे इस प्रकार रखा था : "यदि संसार मे बुराई जान बूझकर ईश्वर ने पैदा की है तो वह उपकारी नही है । यदि संसार मे बुराई उसकी इच्छा के विरुद्ध आई है तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं है । पर आई वह या तो उसकी इच्छा के अनुसार है या उसकी इच्छा के विरुद्ध । अतः ईश्वर या तो उपकारी नही है या सर्वशक्तिमान् नही है ।"

सबसे पहले ध्यान देने की वात यह है कि समस्या केवल तब पैदा होती है जब प्राक्कल्पित आयोजक सर्वशक्तिमान् और कल्याणकारी दोनो हो । यदि वह सर्वशक्तिमान् नही है तो ससार मे पाई जानेवाली बुराई का कारण इस तथ्य को माना जा सकता है कि वह बुराई को चाहता तो नही है पर उसे रोकने मे असमर्थ है । यदि वह कल्याणकारी नही है तो बुराई की उत्पत्ति का कारण इस बात को माना जा सकता है कि वह उसे रोक तो सकता है पर ऐसा चाहता नही है । परतु यदि वह कल्याणकारी और सर्वशक्तिमान् दोनों ही है (अधिकतर धर्म कहते हे कि है) तो समस्या अपने पूरे जोर मे पैदा होती है : बुराई क्यो है ?

ह्यूम का उभयत.पाश, जैसा कि प्रारंभिक तर्कशास्त्र का कोई भी विद्यार्थी स्वय जान लेगा, वैध है । पर क्या इसकी आधारिकाएँ सत्य है ? इसकी एक या दोनो आधारिकाओ को एक या दूसरे रूप मे चुनौती देकर अनेक प्रयत्न इससे बचने के किए गए है ।

१. **दुनिया में बुराई है ही नहीं**—इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि बुराई है और इस तरह समस्या की जड ही कट जाएगी । परंतु यह समाधान इतना अविश्वसनीय लगना है कि इसका सुझाव देना बड़ी धृष्टता होगी । ऐसा हो सकता है कि क्या चीजें बुरी है, इस बात को लेकर लोग पूरी तरह सहमत न हों (इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए नीतिशास्त्र में जरा गहरा उतरना पडेगा और इस तरह विषयातर हो जाएगा), परतु वे इस बात मे अवश्य ही सहमत हैं कि कुछ चीजें बुरी हैं । कौन नही मानता कि कुछ चीजें बुरी हैं और उनसे बचना चाहिए ? उदाहरणार्थ, साधारणतः हम मानते है कि दुःख और पीड़ा बुरे हैं, और व्यवहार मे हमारा यह विश्वास

तब प्रकट होता है जब हम यथाशक्ति इनसे बचने की या इन्हे घटाने की कोशिश करते है, जैसे तब जब हम मरणासन्न रोगियो के कष्ट को कम करने की कोशिश करते हैं। और इसमे कोई सदेह नही है कि यह कष्ट होता अवश्य है—जरा किसी अस्पताल के वार्डो मे घूमकर देखिए। और न यह कष्ट कोई भ्रम ही है लोग महज सोचते नही है कि उन्हे कष्ट है, वे सचमुच कष्ट भोगते हैं। वास्तव मे *इस कष्ट का होना ही उन प्रमुख हेतुओ मे से एक* है जिनसे लोगो को एक ऐसे ईश्वर मे विश्वास करना कठिन लगता है जो सर्वशक्तिमान् और हितकारी दोनो हो। यदि हमसे हो सकता तो हम इन कष्टो और दु खो को जरूर कम कर देते। पर ईश्वर, जिसे सर्वशक्तिमान् और उपकारी माना जाता है, ऐसा करने मे असफल रहता है।

२. **बुराई एक अभावात्मक चीज है**—सत ऑगस्टाइन का विचार था कि बुराई कोई भावात्मक चीज नही है, वल्कि एक अभाव, एक राहित्य, एक निषेध है। बुराई कुछ नही है, केवल अच्छाई का अपेक्षाकृत अभाव है। बुराई असत् मात्र है। कभी-कभी सत ऑगस्टाइन की तरह यह भी कहा जाता है कि सत्य होना *पूर्ण* होना है, और इस प्रकार केवल ईश्वर ही *पूरी तरह* से सत्य हो सकता है, उसकी सृष्टि अनिवार्यत परिच्छिन्न और ससीम है और इसलिए उसमे जो अच्छाई है उसे अनिवार्य रूप से अधूरी होना चाहिए, अर्थात् उसमे थोडी बहुत मात्रा मे अवश्य ही बुराई होगी।

परतु यह कहना कि बुराई अभावात्मक है मुख्यत शब्दो का हेरफेर ही मालूम पडता है। क्या युद्ध अभावात्मक है, यानी शाति का अभाव है, अथवा शाति अभावात्मक यानी युद्ध का अभाव है ? जिस रूप मे भी हम कहें, प्रत्येक उतना ही सच है *जितना दूसरा—युद्ध भी होता है और शाति भी है*, सुख भी है और दु ख भी है, अच्छाई भी है और बुराई भी है। भावात्मक या अभावात्मक कहने से ये तथ्य नही बदलते। दु ख-दर्द अस्तित्व रखता है और इस विचार से कि "वह अभावात्मक मात्र है" उसमे थोडी भी कमी नही आती।

शायद पक्षाघात के रोगी को यह कहने से सात्वना मिले कि पक्षाघात अगो को हिलाने की क्षमता का अभाव मात्र है, कोई भावात्मक चीज नही। पर यह स्पष्ट नही है कि इस प्रकार की सात्वना मलेरिया के रोगी को भी दी जा सकती है। वह यह जवाब देगा कि उसकी परेशानी किसी चीज के अभाव की

नही है बल्कि यह है कि कोई चीज, अर्थात् प्लैज्मोडियम वंश के प्रोटोजोअन, प्रचुर माना मे उसके अदर आ गए है ।[1]

३. बुराई अधिकतम अच्छाई के लिए आवश्यक है—"हम मान लेते है कि दुनिया मे बुराई है । पर उसका तो होना जरूरी है, क्योकि केवल तभी अच्छाई प्राप्त हो सकती है । हम इस बात के उदाहरणो को भली भाँति जानते है : पीडाप्रद सर्जरी के बिना आप पूर्ण स्वास्थ-लाभ नही कर सकते । सर्जरी आपको एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए करानी पडती है (सर्जरी अपने-आप मे देखे जाने पर अच्छी चीज नही है—अर्थात् उसमे कोई लक्ष्य प्राप्त करने के लिए ही आप उसका सहारा लेगे) । जो पीडा और कष्ट आप झेलते हें वह जरूरी है, क्योकि केवल उससे आप ठीक हो सकते है । ऐसा ही असख्य मामलो मे होता है । कभी-कभी युद्ध तक एकमात्र ऐसा तरीका बन जाता है जिससे दुनिया अच्छी बन सकती है (या एक बुरी दुनिया को रोका जा सकता है) । इस प्रकार, दुनिया मे बुराई तो है, पर ईश्वर की अच्छाई के साथ उसकी सगति है, क्योकि जो बुराई है वह अधिकतम संभव अच्छाई की प्राप्ति के लिए आवश्यक अल्पतम सभव बुराई है । यह एक पूर्ण जगत् नही है, बल्कि जितने भी जगत् सभव है उनमे से उत्तम है ।"

हमारा चिकित्सा-सबधी ज्ञान जिस स्थिति मे है और प्राकृतिक नियम (विशेषत यहाँ जीवविज्ञानीय नियम) जिस तरह के है, उन्हे देखते हुए हमे इस बात को सत्य मानना पडेगा कि लोगो को स्वास्थ्य को पुन. प्राप्त करने के लिए प्राय दर्द सहना पडना है । परतु यह बात, जो कि रोगी को ठीक करने के लिए डाक्टर के उसे पीडा पहुँचाने को उचित सिद्ध करती है, केवल थोडे-से लोगो पर ही लागू होती है जो किसी भी अन्य तरीके से स्वस्थ नही हो सकते । परतु यदि हमे यह पता हो जाता है कि डाक्टर रोगी को पीडा पहुँचाए बिना उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और फिर भी वह उसे पीडा पहुँचा रहा है, तो हम उसे क्रूर और दूसरे के कष्ट मे आनद प्राप्त करनेवाला राक्षस कहते हैं । और ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, जबकि डाक्टर नही है ; वह रोगो को मर्मभेदक पीडा पहुँचाए बिना ठीक कर सकता था । तो फिर वह ऐसा करता क्यो नही ? यदि यह आपत्ति की जाती है कि इसके लिए चमत्कार करना

---

१. वालेस आई० मैट्सन, दि एक्जिस्टेंस ऑफ गॉड, पृ० १४२-४३ ।

पडेगा और लगातार चमत्कारो को करते जाने से प्रकृति की व्यवस्था मे बाधा पड़ेगी, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि प्रकृति के नियमो को इस प्रकार बनाया जा सकता था कि प्रत्येक उदाहरण मे चमत्कार की जरूरत ही न रहती। आखिरकार, प्रकृति के नियमो का निर्माता है कौन ? ईश्वर ने कार्य-कारण-व्यवस्था को ऐसा बनाया ही क्यो है कि उसके जीवो को कष्ट और यत्रणा भोगते हुए मरना पडे ? सर्जन तो अपने रोगी को केवल पीडा पहुँचाकर ही ठीक कर सकता है, पर ईश्वर के साथ यह बहाना नही चलेगा, क्योकि वह तो सर्वशक्तिमान् है और उपकारी भी और इसलिए ऐसे उपाय के बिना रोगी को ठीक करना उसके लिए आसान हुआ होना। असल मे वह रोगी को बीमार पडने से ही बचा सकता था। हम एक ऐसे सर्जन के बारे मे क्या सोचेगे जो पहले अपने बच्चे की टाग को बीमारी लगा देता है और तब उसे काटने का निश्चय करता है, हालाँकि उसे ठीक करना उसके वश की बात है और बीमारी लगाई ही पहले-पहल उसने हे ? पर ठीक यही स्थिति एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर की होगी। जो डाक्टर परोपकारी है पर सर्वशक्तिमान् नही है। उसे रोगी को पीडा पहुँचाने के लिए केवल इसलिए क्षमा किया जा सकता है कि रोगी को ठीक करने का कोई दूसरा उपाय नही है। परतु यह बात सर्वशक्तिमान् ईश्वर पर लागू नही होती, क्योकि सर्वशक्तिमान् होने से उसे एक अच्छे उद्देश्य के लिए बुरे उपायो का सहारा लेने की जरूरत नही है। वास्तव मे सर्वशक्तिमत्ता के सदर्भ मे साध्य-साधन की भाषा मे बात करना ही गलत है : सर्वशक्तिमान् साध्य को किसी भी साधन का सहारा लिए बिना ही प्राप्त कर सकता है। साधनो का आश्रय केवल उनको लेना पडता है जो सर्वशक्तिमान् नही हैं।

जब मैं भारत मे था, तब एक दिन मैं एक ऐसे घर के बरामदे मे खडा था जहाँ एक मृत्यु हो चुकी थी। मेरे एक भारतीय मित्र का छोटा-सा लडका, उसकी आँखो की रोशनी, हैजे की महामारी मे मर गया था। बरामदे के दूसरे कोने मे उसकी छोटी लडकी, जो कि अब उसकी एकमात्र बची हुई सतान थी, एक चारपाई पर मसहरी के अदर सो रही थी। हम टहल रहे थे और मैं अपने भोडे तरीके से अपने मित्र को सात्वना देने की कोशिश कर रहा था। परतु वह बोला, "ठीक है पादरी साहब, यही ईश्वर की इच्छा है। किया ही क्या जा सकता है ? यही ईश्वर की इच्छा है।"

सौभाग्य से मैं उसे भली-भाँति जानता था और बिना गलतफहमी पैदा

किए मैं उसे यह जवाब दे सका : "आज रात को जब आप सब सो रहे हों तब मान लीजिए कि कोई चुपचाप बरामदे में चढ़ आता है और जानबूझकर हैजे के कीटाणुओं से भरी हुई एक रुई की गद्दी को बरामदे में अपनी खाट के ऊपर सोती हुई आपकी लड़की के मुँह के ऊपर रख देता है। तब आप क्या सोचेंगे ?"

वह बोला : "हे ईश्वर ! मैं क्या सोचूँगा ? कोई ऐसा निंदनीय काम नहीं करेगा। यदि कोई ऐसा करे और मैं उसे पकड़ लूँ तो मैं उसे बिना संकोच किए वैसे ही मार डालूँगा जैसे एक साँप को और मारकर उसे बरामदे से नीचे फेंक दूँगा। आपने ऐसी बात कही ही क्यों ?"

मैंने शांति से कहा : "परंतु, जॉन, जब तुमने कहा कि यही ईश्वर की इच्छा है तब क्या तुमने ठीक यही आरोप उसपर नहीं लगाया है ? अपने छोटे बालक की मृत्यु को सामूहिक अज्ञान का परिणाम कह लो, सामूहिक बेवकूफी कह लो, सामूहिक पाप कह लो, यदि चाहो तो उसे नालियों की गंदगी या सांप्रदायिक लापरवाही तक कह सकते हो, परंतु उसे ईश्वर की इच्छा मत कहो। निश्चय ही, किसी ऐसे काम को हम ईश्वर की इच्छा नहीं बता सकते जिसके लिए एक आदमी को जेल में बंद कर दिया जाय या अपराधियों के पागलखाने में डाल दिया जाए।[1]

निस्संदेह यदि ईश्वर भी डाक्टर की तरह ही सीमित शक्ति वाला है तो जो होता है वह उसके अच्छे इरादे के बावजूद अच्छा करने में असमर्थ होने का परिणाम हो सकता है। परंतु यह बहाना उस ईश्वर के संबंध में नहीं चलेगा जो परोपकारी है और सर्वशक्तिमान् भी है।

"यदि मैं आपको एक ऐसा मकान या महल बताऊँ जिसमें एक भी कमरा सुविधाजनक या आराम देनेवाला न हो, जिसमें खिड़कियाँ, दरवाजे, रसोईघर, रास्ते, सीढ़ियाँ तथा इमारत की पूरी व्यवस्था ही शोरगुल, अस्तव्यस्तता, थकावट, अंधकार और अत्यधिक शीत और अत्यधिक ताप वाली हो, तो आप अवश्य ही और कुछ देखे बिना उसकी योजना को दोष देने लगेंगे। निर्माता भले ही आपको अनेक बारीकियाँ दिखाए और यह

---

१. लेसली डी० वेदरहेड, दि विल ऑफ गॉड (नैशविले : एबिंगडन प्रेस, १९४४) से हेरल्ड टाइटस, एथिक्स फॉर टुडे, तृतीय संस्करण, पृ० ५३६ पर उद्धृत।

सिद्ध करने की कोशिश करे कि यदि दरवाजे या खिडकी को बदल दिया जाय तो नतीजा और भी खराब होगा, पर सब व्यर्थ होगा। जो वह कहता है वह शायद बिल्कुल ठीक हो : इमारत की अन्य चीजो को यथावत् रखते हुए एक चीज को बदलने से केवल असुविधाएँ बढेंगी ही। परतु फिर भी आप सामान्य रूप से यही कहेंगे कि यदि निर्माता निपुण होता और उसके इरादे अच्छे होते तो उसने पूरे भवन की योजना ऐसी बनाई होती और उसके विभिन्न भागो को इस तरह परस्पर समायोजित किया होता कि ये असुविधाएँ सारी ही या अधिकाश मे न हुई होती।[1]

एक अच्छे शिल्पी ने मकान को इस तरह बनाया होता कि उसमे ये असुविधाएँ न रहती और फलत. कम बुरे तथा ज्यादा बुरे निर्माण मे से एक का चुनाव करने की मजबूरी पैदा ही न हुई होती। और यदि शिल्पी इतना अयोग्य हो कि वह ऐसे मकान का निर्माण कर ही न सके तो शायद भविष्य मे उसे मकानो के निर्माण का काम छोड ही देना चाहिए। यदि ईश्वर का बनाया हुआ सर्वोत्तम जगत् दु ख और कष्ट से उतना ही परिपूर्ण होता है जितना यह है तो शायद उसे जगत् निर्माण का काम छोड देना चाहिए था और उसके बजाय कोई ऐसा काम चुनना चाहिए था जिसमे वह अधिक निपुण होता।

"पर क्या प्राय: बुराई से अच्छाई नही पैदा होती? मुसीबतो और विपत्ति से ही उपलब्धियाँ आती हैं। दु ख-दर्द से दूसरो की भावनाओ को समझने की क्षमता आती है। गरीबी से मितव्ययिता आती है। इत्यादि। और क्या चीज है जिससे ये बातें आ सकें?"

"*पहली बात यह है कि यदि ईश्वर कोई अन्य चीज पैदा नही कर* सकता तो वह सर्वशक्तिमान् नही है। हम तो शायद कोई अन्य चीज पैदा नही कर सकते क्योकि इस समय जैसी स्थितियाँ हैं और प्रकृति के जैसे नियम हैं उनसे हम बँधे हुए हैं। परतु सर्वशक्तिमान् ईश्वर तो कर सकता है। दूसरी बात यह है कि जो अच्छाई बुराई से पैदा होती है वह प्राय इतनी अधिक नही होती कि उससे बुराई का औचित्य सिद्ध हो सके। कार्य-कारण-व्यवस्था इतनी जटिल है कि शायद एक व्यक्ति पर आनेवाली कोई आपदा

---

१. डैविड ह्यूम, डायलॉग्स कंसर्निंग नेचुरल रिलीजन, भाग XI, नॉर्मन केम्प स्मिथ का संस्करण (एडिनबर्ग : नेल्सन ऐंड सन्ज, १९३५), पृ० २०४।

ऐसी नही है जिससे किसी और को लाभ न हो। तूफान सैकडो लोगो की हत्या कर डालता है और सैकडो इमारतो को धराशायी कर देता है, पर मकान बनानेवाले उससे काम पा जाते है। क्या इसके लिए उतनी हानि उचित है ? यदि आप ईश्वर होते तो क्या उन्हें काम देने के लिए आपके द्वारा इतने लोगो की मृत्यु और इतना विनाश किया जाना उचित होता ? क्या आप शहरो के ऊपर बम गिराना इसके बावजूद भी बुरा नही समझते कि कुछ पुरानी इमारतें उससे गिर जाती हे और उनकी जगह नई और अच्छी इमारते बनाने का मौका मिल जाता है ? क्या यह परिणाम उत्पन्न करने के लिए किसी नगर को बमबारी से नष्ट करना आप उचित समझेंगे ? और तीसरी बात यह है कि यदि कभी-कभी अच्छाई बुराई से पैदा होती है—तो कभी-कभी बुराई भी अच्छाई से पैदा होती है—शायद उतने ही अधिक बार। ऐसी प्रत्येक बात की बराबरी मे जिसे हमने जब वह हुई थी तब बुरी सोचा था और बाद मे होनेवाले परिणमो की रोशनी मे जिसके बारे मे हमारा विचार बदल गया था, शायद एक अन्य बात ऐसी होती है जिसे हमने उस समय अच्छी या हितकारी सोचा था और बाद की घटनाओ की रोशनी मे जिसे हम अब अनर्थकारी या खेदजनक समझते हैं। तथ्य यह है कि अधिकाशत अच्छाई की प्रवत्ति अधिक अच्छाई को पैदा करने की और बुराई की प्रवृत्ति और अधिक बुराई को पैदा करने की होती है।''

स्वास्थ्य, बल, धन, ज्ञान, सद्गुण न केवल स्वत अच्छी बातें है बल्कि अपने प्रकार की तथा अन्य प्रकारो की अच्छी बातो की प्राप्ति मे सहायक भी है। जो व्यक्ति आसानी से सीख सकता है वह पहले से ही अधिक जाननेवाला होता है, वह दुर्बल नही बल्कि बलवान् व्यक्ति होता है जो स्वास्थ्य के लिए उत्तम हर काम कर सकता है, धन-लाभ आसान निर्धनो को नही बल्कि धनवानो को लगता है, स्वास्थ्य, बल, ज्ञान, प्रतिभा सब धन लाभ के साधन है और धन प्राय इनकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य होता है। पुन, बुराई के अच्छाई मे बदल जाने के बारे मे चाहे जो कहा जाए, बुराई की सामान्य प्रवृत्ति और अधिक बुराई की ही ओर होती है। शारीरिक व्याधि शरीर को और व्याधिप्रवण बना देती है, वह परिश्रम करने मे असमर्थ कर देती है कभी कभी बुद्धि को दुर्बल बना देती है और प्राय जीविका के साधना को समाप्त कर देती है। घोर पीडा, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक हो,

सदैव के लिए पीडा के प्रति सवेदनशीलता को बढा दिया करती है। गरीबी हजारो मानसिक और नैतिक बुराइयो की जड है। इससे भी बुरी बात यह है कि जब आदमी चोट या उत्पीडन का आदी हो जाता है तब चरित्र का पूरा स्तर ही गिर जाता है। एक बुरा काम कर्ता, द्रष्टा और भोक्ता सबमे अन्य बुराइयाँ पैदा करता है। सभी बुरे गुण आदत से पक्के होते है और सभी दोष और मूर्खता के काम बढने और फैलने की प्रवृत्ति रखते है। बौद्धिक दोष नैतिक दोष पैदा करते है और नैतिक दोष बौद्धिक दोष पैदा करते है, और प्रत्येक बौद्धिक या नैतिक दोष अन्य प्रकार के दोषो को पैदा करता है तथा यह प्रक्रिया अनत तक चलती रहती है।[1]

"पर बुराई का प्रयोजन हमे सुखी करना नही है बल्कि अच्छा या सद्गुणी बनाना है। ससार चरित्र के निर्माण के लिए नैतिक प्रशिक्षणशाला है। बुराइया वहा हमे अनुशासन मे रखने और हमारा सुधार करने के लिए है, न कि हमे दड देने के लिए।"

"परतु प्रकृति की व्यवस्था ऐसी है कि वह जितनी बाधक लोगो को सुखी बनाने के लक्ष्य की पूर्ति मे है उतनी ही या उससे भी अधिक बाधक उन्हें सुद्गुणी बनाने के लक्ष्य की पूर्ति मे है। यहाँ एक आदमी है। हमारा विश्वास है कि उसे यह जान लेने की जरूरत है कि पीडा क्या होती है ताकि उसे पता चले कि जब दूसरो को पीडा पहुँचती है तब उन्हें कैसा महसूस होता है। और होता क्या है ? उसे कभी पीडा का अनुभव प्राप्त नही होता; इसके बजाय जो व्यक्ति पहले ही पीडा के बोझ के नीचे दबा पडा है उसके ऊपर वही बोझ और भी लाद दिया जाता है—जिसके अदर पहले से ही एक बीमारी है उसे एक और बीमारी लग जाती है। वास्तविक ससार मे यही हुआ करता है। क्लेश मनमाने ढग से दिया जाता है . जिसे क्लेश मिलना चाहिए (यदि किसीको मिलना चाहिए तो) वह तो उससे बचा रहता है और जो पहले से ही अपनी सहनशक्ति से अधिक क्लेश झेल रहे हैं उन्हें निरतर क्लेश मिलता है, जिससे उनकी दशा दयनीय बन जाती है और उनका शायद पूरा जीवन नष्ट हो जाता है। यह उस सत्ता के व्यवहार के एकदम विरुद्ध है जो सर्वशक्तिमान् है और करुणामय भी। अथवा एक विशेष उदाहरण यह लीजिए : एक आदमी

---

[1] स्टुअर्ट मिल, "नेचर", थ्री एसेज ऑन रिलीजन, पृ० ३५-३६।

है जो लापरवाही से कार चलाता है, जिससे सड़क पर चलने वालों की जान को खतरा रहता है। यदि उसकी प्रकृति न बदली जा सके तो उसे अधिक सावधानी बरतनेवाला बनाने का सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि उसे किसी दुर्घटना का शिकार बना दिया जाए जिसमें वह इतना थोड़ा घायल हो जाए जो उसे डरा-भर देने के लिए काफी हो। परंतु अधिकतर वस्तुतः होता यह है कि वह तो सही-सलामत बच जाता है जबकि अन्य घायल हो जाते हैं या मर जाते हैं और अंत में ऐसा समय आता है कि वह स्वयं भी दुर्घटना में मारा जाता है जबकि उसे सुधारने का कोई अवसर नहीं रहता। यदि नैतिक सुधार उसका लक्ष्य होता तो परोपकारी मनोवृत्ति रखनेवाला तथा समुचित शक्ति से युक्त कोई भी औसत बुद्धिवाला १५ वर्षीय बालक संसार में अच्छाई का वर्तमान की अपेक्षा अधिक अच्छा वितरण कर सका होता।"

यदि मानव-जाति को रचनेवाला यह चाहता है कि सब मनुष्य सद्गुणी हों तो उसका प्रयोजन पूरी तरह वैसे ही विफल है जैसे तब जब उसने सबको सुखी करना चाहा होता। और प्रकृति की व्यवस्था इस तरह की बनी हुई है कि उपकार की जितनी उपेक्षा उसमें है उससे भी अधिक उपेक्षा न्याय के प्रति बरती गई है। यदि पूरी सृष्टि न्याय के सिद्धांत पर आधारित होती और स्रष्टा सर्वशक्तिमान् होता तो दुःख और सुख की जो भी मात्रा संसार के लिए नियत होती उसमें प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा उसके अच्छे या बुरे कर्मों के सही अनुपात में होता; कोई आदमी ऐसा न होता जो दूसरे से अधिक का पात्र होता पर जिसे मिलता कम; ऐसे संसार में दैवयोग या पक्षपात के लिए कोई जगह न होती और प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक नाटक का अभिनय होता जो कि एक 'पूर्ण नैतिक कहानी' के आधार पर निर्मित होता·····। जिस दुनिया में हम रहते हैं वह इससे एकदम भिन्न है, यहाँ तक भिन्न कि जो बकाया है उसकी प्रतिपूर्ति की आवश्यकता को मृत्यु के बाद एक और जीवन के समर्थन में दी जाने वाली सबसे प्रबल युक्तियों में से एक माना गया है, जो इस बात की स्वीकृति के बराबर है कि वर्तमान जीवन की व्यवस्था अधिकांशतः अन्याय का ही उदाहरण है न कि न्याय का·····। जन्म के साथ अनिवार्य रूप से हर तरह की नैतिक भ्रष्टता लोगों में आ जाती है : निस्संदेह अपने किसी दोष की वजह से नहीं बल्कि माता-पिता के, समाज के, अथवा अपने नियंत्रण से बाहर की परिस्थितियों के दोषों की वजह से। धार्मिक या दार्शनिक जोश में आकर—

अच्छाई के बारे में कभी भी जो सबसे अधिक विकृत और संकीर्ण सिद्धांत रचा जा सकता है उसके आधार पर भी प्रकृति की व्यवस्था को एक ऐसी सत्ता के काम के तुल्य नहीं बनाया जा सकता जो अच्छी और सर्वशक्तिमान् दोनों हीं हो।[1]

४. **बुराई का कारण मनुष्य की स्वतंत्रता है**—"दुनिया मे बुराई मनुष्य की दुष्टता के कारण पैदा होती है। आदमी स्वतंत्र है, जिसका मतलब यह है कि वह भले और बुरे दोनो कामो को करने के लिए आजाद है। एक सर्वशक्तिमान् सत्ता तक आदमी को ऐसा नही बना सकती कि वह स्वतंत्र हो और फिर भी बुरा काम करने के लिए स्वतंत्र न हो। इस प्रकार बुराई मनुष्य की स्वतंत्रता का एक अपरिहार्य परिणाम है।"

यह शायद बुराई की समस्या से निबटने का सबसे गंभीर प्रयत्न है। परंतु इसकी पहली बात तथ्यतः गलत है : प्राकृतिक और नैतिक बुराई मे एक अंतर होता है। प्राकृतिक बुराई वह है जो प्रकृति के घटना-क्रम मे आदमी के हस्तक्षेप के बिना ही पैदा होती है : जैसे भूकंप, ज्वालामुखी का विस्फोट, बाढ, तूफान, महामारी इत्यादि : ये आपदाएँ आदमी के कामों से पैदा नही होतीं। पर नैतिक बुराई वह है जो आदमी आदमी के साथ करता है, जैसे मानसिक और शारीरिक यंत्रणा देना, लूट-पाट, हत्या, युद्ध इत्यादि। केवल इस तरह की बुराई को ही आदमी की दुष्टता का परिणाम कहा जा सकता है। यदि प्रस्तुत तर्क इस प्रकार की बुराई के संबंध मे वैध हो, तो भी प्राकृतिक बुराई की इससे व्याख्या नहीं होती।

लेकिन अब हम नैतिक बुराई पर ही विचार करते है।

अ. आप अवश्य ही यह मानेंगे कि आदमी को स्वतंत्र बनाया गया है, जिसका मतलब यह है कि वह अच्छाई या बुराई को चुनने के लिए स्वतंत्र है। तो फिर उसका प्रायः बुराई को चुनना उसकी स्वतंत्रता का परिणाम है। आदमी के लिए स्वतंत्र होने का इसके अलावा कोई तरीका नही है कि उसके आगे विकल्प हों, और जब उसे विकल्पों मे से चुनाव करना होता है तब अच्छे विकल्प के बजाय वह बुरे विकल्प को चुन सकता है। इस बात का नतीजा यह हो सकता है कि बहुत ही बड़ी बुराइयाँ पैदा हो जाएँ : एक आदमी जो

१. वही, पृ० ३७-३८।

शक्तिशाली बन गया है नजरबंदी-शिविरों में लाखों अन्य आदमियों की हत्या का आदेश दे सकता है। पर है यह सब इंसान की आजादी का ही एक हिस्सा : एक बार आप यह मान लीजिए कि आदमी स्वतंत्र है, और फिर तो आपको पूरे आगे तक जाना ही होगा। यदि आदमी स्वतंत्र है तो वह अन्य लोगों के ऊपर भयानक से भयानक जुल्म ढाने के लिए स्वतंत्र है।

ब. परंतु यदि ऐसा है तो क्या मनुष्य की स्वतंत्रता इतनी अधिक कीमत के योग्य है? यदि एक आदमी की स्वतंत्रता का मतलब लाखों अन्य लोगों का सफाया करने की शक्ति पा जाना है, तो मुझे पक्का यकीन है कि लोग ऐसे तानाशाह की स्वतंत्रता के कुछ सीमित कर दिए जाने की कामना करेंगे। उसे स्वतंत्रता देने के लिए उनका सामूहिक वध होना जरूरी है। क्या यह उसकी स्वतंत्रता की बहुत ही ज्यादा कीमत चुकाना नहीं है? उसकी स्वतंत्रता के लिए न केवल यह जरूरी है कि वे अपनी स्वतंत्रता को त्याग दें बल्कि यह भी कि वे अपनी जान को भी गंवा दें। जिस समय गैसघर में गैस खोल दी जाएगी उस समय यह सोचने से उन्हें क्या कोई शांति मिलेगी कि इस तरह वे तानाशाह की निश्चय करने की स्वतंत्रता की कीमत चुका रहे है? क्या वह स्वतंत्रता कुछ कम कीमत पर संभव नहीं है?

अ. नही, ऐसा नहीं हो सकता। यदि आदमी स्वतंत्र है तो वह घोर दुष्कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। अन्यथा स्वतंत्रता एक भ्रांति है।

ब : परंतु अनेक बातें हैं जिन्हें करने के लिए इस समय मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, जैसे चिड़ियों की तरह उड़ना या लकड़ियां और पत्थर खाना। मैं नहीं समझता कि थोड़े-से और प्रतिबंधों से क्यों फायदा नही होगा। उदाहरणार्थ, आदमी एक रक्षा करनेवाले खोल के अंदर बंद हो सकता था जिससे वह अन्य लोगों के आक्रमण से बचा रहता और हत्या असंभव हो गई होती। आदमी तब भी असंख्य निश्चयों को करने के लिए स्वतंत्र हुआ होता और फिर भी उसके सामने चुनने के लिए अनेक विकल्प हुए होते, परंतु कम-से-कम वह अन्य लोगों की जान लेने (और साथ ही उनकी स्वतंत्रता को छीनने) के लिए स्वतंत्र न रहता। तब भी उसके सामने अनेक ऐसे विकल्प होंगे जिनमें अन्य स्वतंत्र मनुष्यों का विनाश करना शामिल न हो। जिन क्षेत्रों में आदमी चुनाव की अपनी आजादी का प्रयोग कर सकता है उनमें से एक सबसे बड़ा क्षेत्र वैज्ञानिक या कलासंबंधी सृष्टि का है। स्वतंत्र चुनाव के

इस बड़े क्षेत्र में हत्या की नौबत नहीं आएगी। मैं समझता हूँ कि यह चुनाव की आजादी के प्रयोग का इस समय की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा आधार होगा, क्योंकि वर्तमान स्थिति में तो एक आदमी के चुनाव का परिणाम दूसरे का विनाश हो सकता है। और मैं आपको याद दिला दूँ कि यदि ईश्वर कोई ऐसा उपाय नही निकाल सकता जिससे बिना कोई बुरा काम किए आदमी स्वतंत्र हो सके तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं है।

अ : मैं यह नहीं मानता। हम देखते हैं कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानने का क्या परिणाम होता है : मै नहीं समझता कि ऐसा कहने में कोई संगति है कि ईश्वर एक ऐसा काम कर सकता है जो तर्कतः असंभव हो। उदाहरणार्थ, ईश्वर एक वर्ग को वृत्त नही बना सकता, क्योंकि यदि वह एक वृत्त होगा तो वर्ग नही होगा। ईश्वर अतीत को नही बदल सकेगा, क्योंकि इसमें स्वतोव्याघात है : अतीत तो पहले ही हो चुका है, और सर्वशक्तिमत्ता के होने पर भी जो हो चुका है उसे अनहुआ नहीं किया जा सकता। ईश्वर अतीत के अस्तित्व को नहीं मिटा सकेगा। जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तब हमारा मतलब यह होना चाहिए कि वह कोई भी काम जो तर्कतः असंभव नहीं है, कर सकता है।

ब : मैं मानता हूँ कि सर्वशक्तिमत्ता का यह अर्थ नही है कि ईश्वर कोई ऐसा काम कर सकता है जो तर्कतः असंभव हो। परंतु ईश्वर के लिए ऐसे इंसान को पैदा करना क्यों तर्कतः संभव नही है जो स्वतंत्र हो और फिर भी अन्य इंसानों को मारने के लिए स्वतंत्र न हो? इंसान बहुत-सी अन्य बातों में स्वतंत्र नहीं है, और फिर भी आप नहीं कहते कि इंसान स्वतंत्र नही है क्योंकि वह अमुक काम नहीं कर सकता।

अ : परंतु ईश्वर ने मनुष्यों को रचा तो है ही, और यदि मनुष्य कुछ महत्व की बातों में स्वतंत्र न होते—जिनमें एक-दूसरे को नुकसान पहुँचाने की संभावना भी शामिल है—तो वे मनुष्य न होते बल्कि स्वचालित यंत्र होते।

ब : तब मैं कहूँगा कि आपके अर्थ में मनुष्य होने के लिए जो कीमत चुकाई जाती है वह बहुत बड़ी है। परिणाम उस कीमत के अनुरूप नहीं है। पर मैं फिर इतना और कहूँगा कि इस समय जो बुराई है उसे दा किए बिना ही आदमी असंख्य बातों में स्वतंत्र हो सकता था—अनेक

तरीकों से चुनाव की अपनी शक्ति का प्रयोग करने में स्वतंत्र हो सकता था। असल में, यदि ईश्वर ने दुनिया को कुछ भिन्न बनाया होता तो आदमी चुनाव की अपनी शक्ति का कहीं अधिक उपयोगी और रचनात्मक तरीकों से प्रयोग करने में स्वतंत्र हुआ होता और उसके चुनावों के जो दुष्परिणाम इस समय हो सकते हैं—जैसे कुछ आदमियों के स्वतंत्र चुनाव की एक आदमी (या लाखों आदमियों) की जान के रूप में कीमत चुकाया जाना—वे न होते। यह बात कि ऐसा संभव है, चीजों की वर्तमान व्यवस्था के ऊपर एक बहुत बडा कलंक प्रतीत होती है। वह कुछ लोगों का अस्तित्व इसलिए मिटा देता है कि अन्यों को स्वतंत्रता प्राप्त हो। मान लीजिए कि मैं आपसे यह कहता हूँ : "ईश्वर ने मुझे स्वतंत्र बनाया है, इसलिए मैं अभी तुम्हारी हत्या कर डालूंगा ; यह काम मुझे ईश्वर से प्राप्त स्वतंत्रता का एक हिस्सा है।" मैं समझता हूँ कि आपको मेरा तर्क अधिक प्रभावित नहीं करेगा।

अ : वर्तमान जगत् जैसा है केवल उसके संदर्भ में ही आदमी के चरित्र और उसके उदात्त गुणों का निर्माण हो सकता है :

मान लीजिए कि असलियत के विपरीत यह संसार एक स्वर्ग होता जिसमें दु.ख और क्लेश की संभावना बिल्कुल न होती। तब परिणाम बहुत ही दूरगामी होते। उदाहरणार्थ, कोई भी कभी किसी को भी हानि न पहुँचा सकता : हत्यारे का चाकू कागज बन जाता या उसकी गोली हवा बनकर गायब हो जाती ; बैंक की तिजोरी से लाखों की चोरी होने पर वह चमत्कारिक ढंग से लाखों के और नोटों से भर जाती (और राशि चाहे कितनी ही बडी क्यों न हो, यह तरीका मुद्रास्फीति पैदा करनेवाला भी न होता) ; धोखा, छल-कपट, षड्यन्त्र और देशद्रोह सदैव समाज के ढांचे को किसी तरह कोई हानि न पहुँचा पाते। फिर दुर्घटना से कोई कभी घायल न होता : पर्वतारोही, मीनार की मरमत करनेवाला कारीगर या खेलता हुआ बालक ऊँचाई से गिरने पर तैरता हुआ सुरक्षित जमीन पर उतर आता ; दुस्साहसी मोटर-चालक कभी दुर्घटना मे न मारा जाता। तब काम करने की कोई जरूरत न होती, क्योंकि काम न करने से कोई हानि न होती : आवश्यकता या खतरे के समय अन्यों के लिए चिंतित होने की कोई जरूरत न पडती, क्योंकि ऐसे संसार मे वास्तविक आवश्यकताएँ या खतरे होते ही नहीं।

····ऐसे संसार मे······हमारी वर्तमान नैतिक धारणाएँ कोई अर्थ न रखती··। उदाहरणार्थ, यदि किसी को नुकसान पहुँचाने की बात हमारी असत्कर्म की धारणा का आवश्यक अग है, तो हमारे *सुखमय स्वर्ग* में कोई असत्कर्म होता ही नही—और न असत् के विपरीत कोई सत् कर्म ही होता। जिस पर्यावरण मे हमारी परिभाषा के अनुसार कोई खतरा या कठिनाई है ही नहीं वहाँ साहस और धैर्य का कोई मूल्य न होता। उदारता, दया, प्रीति, दूरदर्शिता, निस्स्वार्थता और ऐसी सभी नैतिक धारणाएँ जो एक स्थिर पर्यावरण मे व्यतीत किए जानेवाले जीवन पर निर्भर होती है बन तक न सकी होती। फलतः ऐसा ससार, चाहे वह सुख की किननी ही वृद्धि करनेवाला क्यों न हो, मानवीय व्यक्तित्व के नैतिक गुणो के विकास के अनुकूल बहुत ही कम होता। इस प्रयोजन की दृष्टि से वह सभी सभव जगतों मे से सबसे अधिक निकृष्ट होता।[1]

ब : एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर तब भी मनुष्य की इस प्रकार सृष्टि कर सकेगा कि एक-दूसरे का सहार किए बिना ही उनमे नैतिक गुणो का विकास हो जाए। यह सच है कि ससार इस समय जिस अवस्था मे है उसे देखते हुए ये नैतिक गुण बहुत ही मूल्यवान् है : साहस युद्ध के समय मूल्यवान् होता है, पर क्या युद्ध से रहित ससार और अच्छी न होगा? और क्या मानवीय सद्‌गुणो का अन्य तरह से उपयोग नही किया जा सकता, जैसे किसी उपयोगी सर्जनात्मक क्रिया को पूरा करने के लिए जरूरी आत्मानुशासन मे? इसके अतिरिक्त, हम पहले ही देख चुके है (पृ० ६९६-९७) कि ससार नैतिक सद्‌गुणो के लिए एक बहुत अच्छा प्रशिक्षणशाला नही है—कि यदि यही ईश्वर का प्रयोजन है तो वह *उतना ही विफल हो जाता है जितना* तब जब वह मनुष्यो को सुखी बनाने का हुआ होता। इस समय जिन्हे हम सद्‌गुण कहते है उनमे से बहुत-से केवल इसलिए सद्‌गुण है कि जिस दुनिया मे हम रह रहे है वह बुरी है, और यदि दुनिया इससे अच्छी होती तो मैं प्रसनतापूर्वक उनके बिना काम चला लेता—तब हमे उनकी जरूरत ही न होती। यदि दुनिया आगे बुरी न रहे तो उसकी बुराई के ऊपर जो सद्‌गुण आश्रित हैं उनके बिना हम अच्छे रहेगे। इसके *अलावा—और यह बात* बहुत महत्वपूर्ण है—इन बुराइयों का बँटवारा भी जैसा न्याय के अनुसार होना

१. जॉन हिक, फिलॉसफी ऑफ *रिलीजन*, पृ० ४४-४५।

चाहिए था उससे बहुत भिन्न है। यदि दुनिया की नैतिक बुराइयाँ मनुष्य की दुष्टता का दंड हैं तो जो निरपराध हैं उन्हें यह दंड क्यों मिलता है? हमलावर कभी-कभी उससे बच जाते हैं जो वे करते हैं, परंतु उनके शिकार उससे कभी नहीं बचते। जब एक बालक कमरे में अकेला छोड़ दिया जाता है और वह स्टोव की आग से जीवित जल जाता है या उसे पोलियो या तानिकाशोथ हो जाता है, तब उसे किस अपराध के लिए दंड दिया जा रहा होता है? जब किसी देश पर एक शक्तिशाली विदेशी सेना का आक्रमण होता है और वहाँ के लोगों को अपने हजारों-लाखों सबसे अच्छे आदमी आक्रमणकारी से जूझने के लिए देने पड़ते हैं तब उस देश की जनता को किस बात के लिए दंड दिया जाता है? क्या इसी को आप न्यायानुसार शासित विश्व कहते हैं?

अ. ये सब अन्याय दूसरी दुनिया में, परलोक में, दूर हो जाएँगे।

ब. निश्चय ही यह बात तब मानी जाएगी जब आप इसे अलग से सिद्ध कर देंगे। और मैं नहीं समझता कि आप कैसे यह सिद्ध करेंगे। इस बात से कि वर्तमान जगत् बुरा है यह सिद्ध नहीं होता कि एक और जगत् इससे अच्छा है—वैसे ही जैसे लोगों के भूखे होने से यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें बराबर खाना मिलेगा। परंतु यदि मैं आपकी यह बात मान भी लूँ कि परलोक है, तो भी इससे इस दुनिया की बुराइयाँ दूर नहीं होंगी। मनुष्यों के द्वारा एक-दूसरे के प्रति किए जानेवाले दुष्ट व्यवहार के डोस्टोयेव्स्की ने जो उदाहरण प्रस्तुत किए है उनमें से एक-दूसरे के कष्ट से मजा लेनेवाले एक फौजी अफसर का है जो एक बच्चे को भेड़ियों से टुकड़े-टुकड़े करवा देता है। पर आपके मत से सब ठीक है और उस अफसर को नरक में इसका फल भोगना होगा। परंतु नरक से क्या फायदा? बालक तो पहले ही यंत्रणा भोग चुका है। वह अनिष्ट तो हो ही चुका है और कोई सर्वशक्तिमान् भी उसे जो हो चुका है अनहुआ नही कर सकता। भविष्य में होनेवाली कोई भी चीज इस बीभत्स कर्म का समुचित बदला नहीं हो सकती। दुनिया के इतिहास के ऊपर यह कलंक बना रहेगा और कुछ भी, यहाँ तक कि इसके लिए जिम्मेदार व्यक्ति को शाश्वत नरक-दंड भी, इसे नही हटा सकेगा। दुनिया इस तरह से बनी हुई है कि यह चीज न केवल हो सकती है बल्कि हुई है। और कभी कोई चीज ऐसी नहीं होगी जो इसे अन्यथा कर दे।

५. ईश्वर की अच्छाई हमसे भिन्न है—परतु अब एक और समाधान प्रस्तुत किया जाता है : "शायद जिसे हम बुराई कहते है वह असल मे अच्छाई है। जो हमे बुराई लगती है वह सर्वज्ञता के ऊंचे दृष्टिकोण से वास्तव मे अच्छाई है। हर चीज की अच्छाई केवल ईश्वर ही प्रत्यक्षत. देखता है। वह हर चीज को देखता है जबकि हम बहुत ही थोडा देख पाते है उसकी असीम बुद्धि को यह ज्ञान है कि हर चीज अच्छी है, पर वह हमारी छोटी समझ के बाहर है।"

लेकिन दुनिया को जैसी हम पाते है उसे देखते हुए ऐसा कोई निर्णय नही है जिसे हम इससे अधिक निश्चित समझते हो कि यह दुनिया पूरी तरह अच्छी नही है। यदि इस निर्णय पर हम अविश्वास करते हो तो कोई भी ऐसा नैतिक निर्णय नही है जिसपर विश्वास करने का हमारे पास कोई हेतु हो और ऐसे निर्णयो मे यह भी शामिल है कि जो हमारे लिए बुराई है वह ईश्वर के लिए अच्छाई है। यदि हर चीज जिसे हम बुरी सोचते है वास्तव मे भली हो भी, तो भी तथ्य यह है कि हम फिर भी उसे बुरी ही सोचते है—और यह एक गलती होगी, एक ऐसी गलती जो हमसे विश्व के पूर्ण शुभत्व को छिपाए हुए है। और चूंकि यह निश्चित रूप से अधिक अच्छा हुआ होता कि हम यह गलती न करते, इसलिए इस गलती का होना एक बुराई होगा।

परतु वास्तव मे यह मानने से कि जो हमे बुराई लगती है वह ईश्वर की दृष्टि मे सब अच्छाई है, हमे ईश्वर के बारे मे एक बहुत ही विचित्र मत अपनाना पडेगा। यह दुनिया दु ख और क्लेश से, अत्याचार और मृत्यु से, युद्धो से, महामारियो से, बाढ और सूखे से, तथा इनके होने पर यातना भोगने और मरनेवाले इसानो से भरी हुई है। यदि कोई शक्तिमान् सत्ता है जो इस सबको अच्छा समझती है तो हमे ऐसी सत्ता के नैतिक स्तर के बारे मे क्या सोचना होगा ? क्या ऐसी सत्ता पूजा के योग्य है ? क्या वह एक तानाशाह की तरह नही होगी जिसकी आज्ञाओ का पालन हम उसकी शक्ति के डर से करेंगे परतु जिसे हम एक क्षण के लिए भी अच्छा नही समझेंगे ? हम किसी ऐसे चिकित्सक को अच्छा नही समझेंगे जिसके अदर अपने रोगी के क्लेश को दूर करने की शक्ति हो और फिर भी जो इस काम मे असफल रहे। एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर की भी ठीक यही स्थिति होगी : जब हम ऐसे चिकित्सक को दूसरे के दु ख से आनद लेनेवाला राक्षस कह सकते हैं तब हम ऐसे ईश्वर को अच्छा

क्यों कहेंगे ? इसके वावजूद भी हमसे यह आशा की जाती है कि जो ईश्वर अनावश्यक पीड़ा को रोक सकता है पर ऐसा करता नही है उसे हम अच्छा समझें । परंतु जैसा कि मिल ने कहा था :

जब मुझसे इसपर विश्वास करने के लिए कहा जाता है और साथ ही उस सत्ता को ऐसे नामों से पुकारने को कहा जाता है जो मनुष्य की सर्वोच्च नैतिकता के अभिव्यंजक है, तब मैं साफ-साफ वता देता हूँ कि मैं ऐसा नहीं करूँगा । ऐसी सत्ता मुझसे जो कुछ भी करवाने की शक्ति रखती हो, एक वात ऐसी है जिसे वह नही करवा पाएगी : वह मुझे अपनी पूजा करने के लिए वाध्य नही कर सकेगी । मैं किसी भी ऐसी सत्ता को अच्छी नही कहूँगा जो वह न हो जो अपने साथियों को अच्छा कहने में मेरा अभिप्राय होता है ; और यदि ऐसी सत्ता उसे अच्छी न कहने के लिए मुझे नरक का दंड दे सकती है तो मैं नरक जाने के लिए तैयार हूँ ।[1]

मिल ने यह भी कहा है कि जितने गुणो को हमें ईश्वर के अंदर मानने को कहा जाता है उनमें से जो हमारी अच्छाई की धारणा के विपरीत हैं उनकी संख्या इतनी अधिक है कि हम इस विसंगति के लिए गुंजाइश रखने के लिए "अच्छा" का अर्थ बदल देने की कोशिश करते है । हमे कहा जाता है कि ईश्वर अच्छा है, बल्कि असीम अच्छाई वाला है, परंतु असीम अच्छाई हमारी समझ से वास्तव में परे है । लेकिन निश्चय ही यही तर्क इस मत का भी समर्थक हो सकता है कि ईश्वर या यह विश्व असीम वुराई से युक्त है : यदि कुछ चीजें हमे ऐसी दिखाई देती है जैसे कि वे अच्छी हों, तो कोई डर की वात नही है, क्योंकि असीम ज्ञान की रोशनी मे हम देख सकेंगे कि वे सब आखिर वुरी ही हैं—विश्व वुराई का पूरा प्रतिरूप है । यह तर्क ठीक इस मत की वरावरी का है कि हर चीज कभी-कभी वुरी दिखाई देने के वावजूद वास्तव में अच्छी है ।

इसके अलावा, यदि ईश्वर असीम अच्छाई से युक्त है तो असीम अच्छाई अच्छाई ही तो है, जैसे कि असीम दिक् दिक् ही तो है ।

जितने भी लोगों ने यह कहा है कि असीम दिक् हमारी समझ के वाहर है उनमें से क्या किसी एक ने भी यह माना है कि वह दिक् नही है, कि दिक्

---

१. जॉन स्टुअर्ट मिल, ऐन इक्जामिनेशन ऑफ सर विलियम हैमिल्टन्स फिलॉसफी, पृ० १३१ ।

की जो विशेषताएं हैं वे सब उसमें नही है? असीम दिक् घनाकार या गोलाकार नही हो सकता, क्योंकि ये उसके रूप हैं जो सीमित है। पर क्या कोई यह कल्पना करता है कि उसमे विचरते हुए हम किसी ऐसे क्षेत्र मे पहुँच जाएँगे जो विस्तारयुक्त न हो, जिसका एक भाग दूसरे के बाहर न हो, जिसमे किसी बाधक पिंड के न होने पर भी गति असंभव हो, अथवा जिसमे एक त्रिभुज की दो भुजाओ का योग तीसरी से कम हो ? असीम अच्छाई के बारे मे भी इसी तरह की बात कही जा सकती है। असीम होने मे उसमें क्या नई बात आ जाती है, यह जानने का मैं दावा नही करता ; परंतु मैं जानता हूँ कि असीम अच्छाई अवश्य ही अच्छाई है और कि जो बात अच्छाई से संगति नही रखती वह असीम अच्छाई से भी संगति नही रखती।

यदि ईश्वर मे अच्छाई का आरोप करने से मेरा मतलब वह नही है जो किसी को अच्छा कहने से मेरा मतलब होता है, यदि मेरा मतलब उस अच्छाई से नही है जिसका मुझे कुछ ज्ञान है, बल्कि एक अबोधगम्य द्रव्य के एक अबोधगम्य गुण से है जिसे अगर किसी तरह से मैं जान लूँ तो वह उस गुण से बिल्कुल ही भिन्न निकले जिसकी मैं पूजा करता हूँ और जिसके प्रति मैं श्रद्धा रखता हूँ······, तो उसे अच्छाई कहने से मेरा क्या मतलब है और उसके प्रति श्रद्धा रखने का मेरे पास क्या हेतु है ? यदि मैं बिल्कुल भी नही जानता कि वह गुण क्या है तो मैं नही बता सकता कि वह श्रद्धा के योग्य है। यह कहना कि ईश्वर की अच्छाई मनुष्य की अच्छाई से प्रकारतः भिन्न हो सकती है शब्दो मे थोडा-सा हेर-फेर करके यह कहने के अलावा क्या है कि ईश्वर संभवतः अच्छा न हो ? नैतिक असत्य की इससे अधिक उपयुक्त परिभाषा क्या संभव है कि शब्दो मे ऐसी बात कह दी जाए जो हमे अभिप्रेत न हो ?[1]

इसके विपरीत, ईश्वर की शक्ति का पूर्णतः मानवीय तरीके से अर्थ लगाया जाता है : उसका अर्थ कभी यह नही सोचा जाता कि ईश्वर की शक्ति के हमारी शक्ति से कही अधिक होने के बावजूद वह हमे न मार सकता हो या नरक की आग मे न फेंक सकता हो। अधिक शक्ति का मतलब उसी चीज का आधिक्य है जिसका हमे अनुभव है और जिसे हम "शक्ति" कहते हैं। क्या यही बात "अच्छा" पर भी लागू नही होती ? लेकिन शक्ति के विपरीत उसे प्रायः

१. वही पृ० १०१।

अवित्य शायद इसलिए कहा जाता है कि उसकी अनेक अभिव्यक्तियाँ जिसे हम हमेशा अच्छाई कहते है उसके बहुत ही विपरीत होती हैं।

प्रयोजनमूलक युक्ति के अन्य रूप—तो फिर ऐसा प्रतीत होगा कि प्रयोजन-मूलक युक्ति उस रूप में जिसमें वह एक सर्वशक्तिमान् और कल्याणकारी सत्ता का अस्तित्व मानती है, बुराई की समस्या को न सुलझा पाने से खंडित हो जाती है। परंतु ऐसी बात नही है कि विश्व के बारे में यही एकमात्र प्राक्कल्पना हो। कुछ और भी प्राक्कल्पनाएँ है :

१. एक सर्वशक्तिमान् सत्ता जो दुष्ट या अपकारी है—यह मत उतना लोकप्रिय नही रहा जितना एक उपकारी सत्ता में विश्वास और इसका कारण शायद यह रहा कि परलोक में न्याय पाने की हमारी कामना एक अपकारी सत्ता में विश्वास करने से पूरी नही होती। ऐसी सत्ता एक शक्तिशाली पर अत्याचारी तानाशाह के समान होगी और उससे सिर्फ इस बात में भिन्न होगी कि वह सर्वशक्तिमान् है और आदमी सदा पूरी तरह से उसकी पकड़ में रहेगा : कोई काम और कोई विचार ऐसा नही होगा जो उसकी जानकारी से बच सके और उसकी आज्ञा का, चाहे वह कितनी ही बुरी हो, पालन न करने का फल अनंत यातना होगा। ईसाई रूढ़िवाद के कई आलोचकों ने यह माना है कि ईसाइयों का ईश्वर कुछ ऐसा ही है जिसने नरक को बनाया ताकि उसमें विश्वास न करनेवाले अनंत काल तक वहाँ यातना भोगते रहें। हमारी दुनिया के कारागार में थोड़ी सजा भुगतने के बाद एक बिल्कुल पक्का कैदी भी अच्छे व्यवहार के आधार पर मुक्त हो सकता है या पैरोल पर छोड़ा जा सकता है, परंतु ईश्वर के यहाँ यह नही चलेगा—वह जिसे दंड देता है शाश्वत दंड देता है और उसके यहाँ सुधार, क्षमा या पैरोल की कोई आशा नही होती। ऐसा दंड बिल्कुल ही निरर्थक लगेगा, क्योकि उसका कभी अच्छा परिणाम नही होगा, और हमें यह जिज्ञासा भी होगी कि कौन-सा अपराध संभवत: शाश्वत दंड के योग्य हो सकता है, विशेष रूप से इसलिए कि मुख्य अपराध यानी ईश्वर और उसकी अच्छाई में अविश्वास प्राय: बहुत ही सूक्ष्म विवेक वाले लोगों के द्वारा और बहुत ही सशक्त हेतुओं के आधार पर अपनाया जा सकता है।

या शायद ईसाइयों का शैतान सर्वशक्तिमान् और अपकारी की कल्पना के अधिक निकट है। यह कहा जा सकता है कि शैतान के अंदर कुछ

सद्गुण है, जैसे लगन और धैर्य, परतु यदि उसमे कोई सद्गुण न भी हो तो भी कम-से कम सर्वशक्तिमान् वह नही है। लेकिन यदि वह दुष्टता का पूर्ण प्रतिरूप होता और यदि वह सर्वशक्तिमान् होता तो प्रयोजनमूलक युक्ति अपने प्रस्तुत रूप मे जिस तरह की सत्ता का सुझाव देती है वही वह होता। इस प्राक्कल्पना का उन्ही तथ्यो से समर्थन होगा जो पिछले मत को मानने मे बाधक थे दु ख और क्लेश का बाहुल्य, अनेक लोगो को जिन बाधाओ का सामना करना पडता है उनका सामना करने मे उनकी दुर्बलता, मृत्यु की अवश्यभाविता, जीव का जीव का भक्षण करके ही जीवित रह सकना इत्यादि। इन सब बातो की आसानी से इस प्राक्कल्पना के आधार पर व्याख्या की जा सकती है कि एक परपीडा से आनद लेनेवाली सत्ता है जिसने चीजो की पूरी योजना ऐसी बनाई है कि उसके जीवो को अधिकतम यत्रणा मिले।

इस मत को मानने से बुराई की समस्या नही रहेगी, क्योकि इस दुनिया की रचना ऐसी सत्ता के द्वारा की गई है जिसकी रुचि केवल बुराई को पैदा करने और उसकी वृद्धि मे ही है। इसके बजाय "अच्छाई की समस्या" पैदा होगी : जब ईश्वर दुष्ट और सर्वशक्तिमान् दोनो ही है तो कोई अच्छाई है ही क्यो ? तब अच्छाई की समस्या से छुटकारा पाने के लिए अनेक सिद्धात प्रस्तुत किए जाएँग जो सब असफल रहेगे अच्छाई वास्तव मे अभाव है , अच्छाई निषेधात्मक है , हर चीज वस्तुत बुरी है परतु बुरे प्रयोजनो की सिद्धि के लिए थोडी-सी अच्छाई चाहिए , इत्यादि।

२. **सृष्टिकर्ता उपकारी है पर सर्वशक्तिमान् नहीं है**—ऐसा हो सकता है कि ब्रह्माड को रचनेवाला उपकारी पर सीमित शक्तिवाला रहा हो, जैसे कि मनुष्य कुछ कम मात्रा मे होते हैं। इस मत को मानने पर बुराई की समस्या नही रहती बुराई है, क्योकि ईश्वर की शक्ति सीमित है और जो कुछ बुराई है उसे दूर करने मे वह असमर्थ है—उसे ऐसे उपादान से काम करना होता है जिसके ऊपर उसका पूरा नियत्रण नही है। किसी किसी ने यह सुझाव दिया है कि दुनिया की बुराई को कम करने के प्रयत्न मे ईश्वर मनुष्यो का सहकर्मी मात्र है। इस मत को मानने पर बुराई की समस्या नहीं रहती और इतना ही नही अपितु इसने बहुत से लोगो को बुराई को दूर करने के काम के लिए प्रेरित भी किया है, क्योकि अब बात उन्ही के ऊपर निर्भर है उनके प्रयत्न से अतर पड सकता है। फिर भी, यह मत अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया है,

और इसकी वजह असंदिग्ध रूप से यह है कि लोग ऐसा ईश्वर चाहते हैं जो उन्हें कुछ पक्के आश्वासन दे सकता हो : विशेषतः इस बात का कि यदि वे किसी पुरस्कार के पात्र हैं तो वह उन्हें उसे देने में समर्थ हो सकेगा, और इस बात का कि उसकी योजना में कोई रुकावटें नहीं होंगी। वे प्रोत्साहन की अपेक्षा सुरक्षा के अधिक इच्छुक होते हैं। (इस मत में एक कठिनाई यह है : यदि ईश्वर केवल एक ही है तो उसकी शक्ति को सीमित करनेवाली कौन-सी चीज होगी ? प्रतिस्पर्धा कहाँ से आएगी ?)

३. **द्विदेववाद, द्वि-ईश्वरवाद या देवासुरवाद**—प्राचीन काल से ही प्रायः यह कहा जाता रहा है कि दो विराट् बुद्धियां हैं, जो विश्व में अपनी-अपनी योजना के अनुसार काम कर रही हैं परंतु जिनकी योजनाएँ परस्पर विरोधी है। स्पष्ट है कि दोनो में से कोई भी सर्वशक्तिमान् नहीं है (यदि एक ऐसी हो तो दूसरी ईश्वर नही होगी), पर एक उपकारी है और दूसरी नहीं है। इस प्रकार प्राचीन पारसियों और मैनिकियनों का मत यह था कि संसार विरोधी देवताओं की युद्धभूमि है, किसी अकेले स्रष्टा का काम नहीं है, और यही वजह है कि दुनिया में कुछ चीजें सचमुच अच्छी है और कुछ सचमुच बुरी (न कि सिर्फ देखने में बुरी)। बुराई की भी कोई समस्या नहीं है : बुराई की आसान व्याख्या यह है कि यहां एक दुष्ट देवता का अस्तित्व है। (एक मत के अनुसार भौतिक जगत् की रचना अच्छे देवता ने की थी और आदमी की रचना दुष्ट देवता ने की थी—यह मत शायद अनुभव के तथ्यों के साथ अब तक सामने आए किसी भी मत की अपेक्षा अधिक संगति रखता है।)

कभी-कभी ईसाई धर्मशास्त्र मे ऐसा लगता है कि मानो दो ईश्वर हों, एक जेहोवा और दूसरा शैतान। परंतु ईसाई धर्म दो ईश्वरों को नहीं मानता, क्योंकि इन दो में से एक ही सर्वशक्तिमान् है। अतः दोनों का युद्ध एक छद्मयुद्ध है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि जेहोवा ने शैतान को पैदा किया, उसकी अंत में विजय अवश्यंभावी है, और वह जब भी चाहे तब उसे नष्ट कर सकता है (जिससे यह सवाल पैदा होता है कि ऐसा अब तक हुआ क्यों नहीं)। यदि द्विदेववाद सच्चा है तो दोनों ही देवताओं को शक्ति में समान होना चाहिए और उनके युद्ध के परिणाम को सचमुच संदिग्ध होना चाहिए।

४. **बहुदेववाद**—यदि दो माने जा सकते हैं तो दो से अधिक क्यों नहीं ? क्यों न यूनानियों के बहुदेववाद को ही अपनाया जाए ? वे अनेक देवताओं में

विश्वास करते थे जिनमें से प्रत्येक का अपना अलग प्रभाव-क्षेत्र था और प्रत्येक का शेष सबसे संबंध रहता था। ज्यूस निश्चय ही प्रमुख देवता था; परंतु सर्वशक्तिमान् वह कतई नहीं था, क्योंकि उसकी सर्वोत्तम योजनाएँ अन्य देवताओं के द्वारा, विशेषतः उसकी पत्नी हीरा के द्वारा विफल कर दी जा सकती थीं। चूंकि प्रकृति के नियम एकरूपता और पक्षपातहीनता के साथ काम करते हैं, इसलिए देवताओं में किसी मात्रा में सहयोग होना चाहिए, अथवा शायद ज्यूस एक विभाग का सर्वोच्च शासक है। परंतु प्रभावों की विभिन्नता के लिए फिर भी बहुत गुंजाइश बनी रहती है, यहां तक कि देवताओं के काम परस्पर विरुद्ध भी हो सकते हैं। असल में, विश्व का आयोजक एक ही क्यों हो? आदमियों को आयोजन के जो उदाहरण ज्ञात हैं उनमें प्रायः एक योजना कुछ कच्चे रूप में एक आदमी के द्वारा बनाई गई थी, तब किसी और ने उसमें थोड़ा परिष्कार किया था और एक तीसरे व्यक्ति ने कुछ और सुधार उसमें किया था और इसी प्रकार आगे कई पीढ़ियों तक यह होता रहा, जैसे पोत-निर्माण में :

यदि हम एक पोत का सर्वेक्षण करें तो हमारी उस शिल्पी की कुशलता के बारे में कितनी ऊँची धारणा बनेगी जिसने इतनी जटिल, उपयोगी और सुंदर मशीन का निर्माण किया? और तब हमें कितना आश्चर्य होगा जब हम उसे एक मूर्ख-सा मिस्त्री पाएँगे जिसने अन्यों की नकल की, और एक कला का अनुकरण किया जो युगों के एक लंबे अनुक्रम में से होती हुई अनेक प्रयत्नों, त्रुटियों, संशोधनों, विचार-विमर्शों और विवादों के बाद धीरे-धीरे सुधरती चली गई? युगों तक कई दुनियाएँ बनी-बिगड़ी होंगी और तब कहीं यह ब्रह्मांड बन पाया होगा? बहुत-सा परिश्रम व्यर्थ गया होगा; अनेक प्रयत्न विफल हुए होंगे; और अनंत युगों के दौरान ब्रह्मांड-निर्माण की कला में धीरे-धीरे परंतु लगातार सुधार होता चला गया होगा।[1]

और इतना और कहा जा सकता है कि इस क्षण भी विश्व-निर्माण की कला के पूर्णता प्राप्त करने में बहुत कसर है। शायद यदि विराट् विश्व-निर्माता मिलकर प्रयत्न करें और अधिक निष्ठा से काम करें तो एक ऐसे विश्व का निर्माण हो सकता है जो वर्तमान विश्व की तुलना में अत्यधिक उन्नत हो।

५. *एक विराट् जीव*—यहाँ तक हमने प्रयोजन को केवल आयोजक के मन में स्थित एक आयोजन या योजना के रूप में ही सोचा है। बुद्धि से युक्त

१. डेविड ह्यूम, डायलॉग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजन, भाग V।

कोई चीज योजना बनाती है और उसे कार्यान्वित करती है। यह प्रयोजन का हमारे लिए सबसे अधिक जाना-पहचाना रूप है, क्योंकि स्वयं हमारे अंदर ऐसा ही होता है : हम किसी चीज की योजना बनाते है और हमारी योजना के फलस्वरूप वह अस्तित्व में आ जाती है। परंतु जीव भी प्रयोजनमूलक व्यवहार प्रदर्शित करते है : सूरजमुखी अपनी जड़ें जीवनदायी मिट्टी के अंदर गहरी उतार देता है और अपना मुख सूर्य की ओर रखता है जिससे उसके अस्तित्व का बना रहना संभव होता है। यह सत्य है कि सूरजमुखी अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जान-बूझकर ऐसा नहीं करता, परतु (पृ० ३६३-६६) फिर भी उसका व्यवहार होता प्रयोजनमूलक ही है : वह अमुक तरीके से क्रिया करता है जिससे एक लक्ष्य की प्राप्ति संभव हो जाती है—जो लक्ष्य कि उस क्रिया के बिना प्राप्त न हो सका होता। तब यह कहने के बजाय कि विश्व एक बुद्धि के अदर स्थित एक योजना का परिणाम है (जिसे मानने के लिए हमें शरीर के बिना मनों या बुद्धियों के अस्तित्व में विश्वास करना पड़ेगा), ऐसा क्यों न कहा जाए कि विश्व एक विराट् जीव की प्रयोजनमूलक क्रिया का परिणाम है ?

जिस तरह वृक्ष अपने बीजों को आस-पास के खेतों में छोड़ देता है और अन्य वृक्षों को उत्पन्न करता है, उसी तरह यह महावृक्ष, विश्व, अथवा यह ग्रह-तंत्र, अपने अंदर कुछ बीज पैदा करता है जो आसपास के शून्य में बिखरकर नए विश्वो के रूप मे उग आते हैं।[1]

अथवा क्यों न इस प्राचीन प्राक्कल्पना पर विचार किया जाए :

…ब्रह्मांड एक विराट् मकड़े से पैदा हुआ जो इस सारी जटिल सामग्री को अपने पेट से निकालता है और बाद मे इसे पूर्णतः या अंशतः अपने अंदर खींचकर और अपने ही शरीर मे लीन करके समाप्त कर देता है। यह एक ऐसा सृष्टिविज्ञान है जो हमें हास्यास्पद लगता है, क्योंकि मकड़ा एक छोटा-सा घृणास्पद जतु है जिसके कार्यों को हम शायद कभी इस पूरे ब्रह्मांड के मॉडल के रूप में लेना पसंद नही करेंगे।…… परंतु यदि एक ऐसा ग्रह हो जिसमें मकड़े ही मकड़े रहते हों (जो कि बहुत संभव है) तो वहाँ यह अनुमान उतना ही स्वाभाविक और अकाट्य लगेगा जितना हमारी पृथ्वी पर सब चीजों की उत्पत्ति को

१. वही, भाग VII (नॉर्मन केम्प स्मिथ के संस्करण में पृ० १७७)।

आयोजन और बुद्धि से माननेवाला अनुमान।......इसका कोई संतोषजनक हेतु बताना कठिन हो जाएगा कि एक व्यवस्थाबद्ध तंत्र जितना मस्तिष्क से निकलता है उतना ही पेट से क्यों नही निकल सकता।[1]

"पर यह तो हास्यास्पद बात है।" ऐसा हम कहेंगे। क्या ये प्राक्कल्पनाएँ बेतुकी नही है? क्या ये सभी बिल्कुल ही असंभाव्य है? क्या हमें इन सबको और इनके समान हजारों अन्य प्राक्कल्पनाओं को संभव मान लेना चाहिए? "ये क्या ही ऊटपटांग, मनमानी कल्पनाएँ है? ऐसे असाधारण निष्कर्षो के लिए आपके पास तथ्य क्या है? और क्या ब्रह्मांड का जो थोड़ा-सा काल्पनिक सादृश्य एक पेड़ या जंतु के साथ है वह दोनों के बारे में एकही निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिए काफी है।"[2] परंतु ह्यूम के कथनानुसार महत्व की बात केवल यह है: ये सब बहुत ही असंभाव्य है; प्रयोजनमूलक युक्ति को किसी भी रूप में मानने का कोई औचित्य नही है।

ब्रह्मांड की उत्पत्ति के बारे में किसी भी सिद्धांत को स्थापित करने के लिए हमारे पास कोई भी आधारभूत सामग्री नही है। हमारा अनुभव स्वयं इतना अपूर्ण है और विस्तार तथा अवधि की दृष्टि से इतना सीमित है कि उससे हम सब वस्तुओं के समूह के बारे में कोई ऐसी अटकल भी नहीं लगा सकते जो प्रसंभाव्य हो। परंतु यदि हमें कोई प्राक्कल्पना अपनानी ही है तो कृपया बताइए कि अपने चुनाव में हम किस नियम का अनुसरण करें? क्या तुलना की वस्तुओं में अधिक सादृश्य के होने के अलावा कोई नियम है? और क्या बुद्धि और आयोजन से उत्पन्न किसी कृत्रिम मशीन की अपेक्षा बीज से या जनन-क्रिया से उत्पन्न वृक्ष या जंतु ब्रह्मांड से अधिक सादृश्य नहीं रखता?[3]

साम्य या सादृश्य पर आधारित युक्ति—इस समूह की सभी युक्तियां साम्य पर आश्रित हैं, और हमारा इस प्रकार की युक्ति की संरचना के बारे मे जान लेना आवश्यक है। साम्य एक तुलना मात्र होता है और साम्य पर आधारिक युक्ति तुलना पर आश्रित युक्ति होती है। साम्य पर आधारित युक्ति दो चीजो क और ख के बीच तुलना से प्रारंभ होती है। आगे वह यह बताती है

---

१. वही, पृ० १८०-८१।
२. वही पृ० १७७।
३. वही।

कि वे दो चीजें कुछ बातों, अ, आ, इ, में समानता रखती हैं, और फिर यह निष्कर्ष निकालती है कि वे एक और बात, ई, में भी, जिसका उन दोनों के अंदर समान रूप से होना प्रेक्षण से ज्ञात नहीं है, समान हैं। उदाहरणार्थ, एक आदमी (क) और एक कुत्ता (ख) कई बातों में समान हैं : दोनों में रुधिर का संचार करने वाला हृदय होता है, दोनों खाना खाते हैं और उससे पोषण प्राप्त करते हैं, इत्यादि (अ, आ, इ)। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि चूंकि आदमी के अंदर यकृत् होता है इसलिए कुत्ते के अंदर भी यकृत् होगा। (यह मान लीजिए कि यह युक्ति कुत्तों की चीरफाड़ करके उनके अंदर यकृत् होने का पता लगने से पहले प्रस्तुत की जाती है।) युक्ति यह है कि चूंकि आदमी और कुत्ता कई बातों में साम्य रखते हैं इसलिए शायद उनका एक अन्य ऐसी बात में भी साम्य होगा जिसमें अब तक उनमें साम्य होने का पता नहीं चला है।

यह बात फौरन ही साफ समझ में आ जाएगी कि साम्य पर आधारित युक्ति कभी निश्चायक नहीं होती। यह बात कि दो चीजें अनेक बातों में समान हैं स्वतः कभी यह सिद्ध नहीं कर सकती कि वे कुछ और बातों में भी, जिनकी अभी जाँच नहीं की गई है, समान होंगी। ऐसा हो सकता है, पर यदि वे हों भी तो भी साम्यानुमान इसे सिद्ध नहीं करता। दो चीजों की छानबीन से ही हमें यह पता चलेगा कि वे एक नई बात में समान हैं या नहीं। निस्संदेह यदि ये दो चीजें बहुत ही ज्यादा बातों में बहुत अधिक साम्य रखती हैं, तो आम तौर पर इस बात की प्रसंभाव्यता अधिक होगी कि वे उस नई बात में समान हैं। इस प्रकार, चूंकि सिंह और चीते अधिकतर बातों में बहुत ही समान होते हैं, इसलिए सिंहों की एक विशेषता का चीतों में भी होना अत्यधिक प्रसंभाव्य है—पर सब विशेषताओं का नहीं : यदि सब वही हों तो सिंह और चीते में कोई अंतर ही नहीं रहेगा। इसलिए जब दो चीजें अत्यधिक समान होती हैं तब भी साम्य पर आधारित युक्ति अनिश्चायक ही होती है।

प्रयोजनाश्रित युक्ति अपने विविध रूपों में प्रायः एक साम्यानुमान के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार, एक ओर घड़ी है और दूसरी ओर आदमी की आँख। ये कुछ बातों में समान हैं : विशेषतः दोनों ही में साधन साध्यों के अनुकूल दिखाई देते हैं। यदि हमें कोई घड़ी मिल जाए और हम न जानें कि उसका प्रयोजन क्या है तो हम यह निष्कर्ष निकालेंगे कि उसका किसी ने किसी

उद्देश्य से निर्माण किया है, क्योंकि उसका प्रत्येक भाग प्रत्येक अन्य भाग से इस तरह जुड़ा है कि उससे एक कार्य पूरा होता है, जो समय बताने का है। इसी प्रकार आदमी की आँख में भी भागों का वही जटिल पारस्परिक संबंध है, जो एक ही कार्य को, यानी देखने के कार्य को, पूरा करता है। चूंकि घड़ी आयोजन का परिणाम है, इसलिए हम यह अनुमान करते है कि आँख भी आयोजन का परिणाम है। (और चूंकि आयोजन एक आयोजक के होने पर निर्भर है, इसलिए एक आयोजक का अवश्य अस्तित्व है।)

इस बात का कि आंख देखने के लिए बनाई गई थी, ठीक वही प्रमाण है जो इसका है कि दूरबीन उसकी सहायता के लिए बनाई गई थी। वे एकही सिद्धांतों पर बनाए गए हैं : दोनों उन नियमों का अनुसरण करते हैं जिनसे प्रकाश की किरणों का संचरण और परावर्तन नियंत्रित होता है। ..... इन नियमों के अनुसार प्रभाव वही उत्पन्न करने के लिए यह जरूरी है कि प्रकाश की किरणें पानी से आंख में पहुँचने में तब की अपेक्षा अधिक उत्तल पृष्ठ के द्वारा अपवर्तित हों जब वे वायु से निकलकर आंख के अंदर प्रवेश करती है। तद्नुसार हम पाते है कि मछली की आँख उस भाग में जिसे क्रिस्टलीय लेन्स कहते हैं भूमि पर रहनेवाले जंतुओं की आंख की अपेक्षा अधिक गोल होती है। आयोजन की इस अंतर से अधिक स्पष्ट क्या अभिव्यक्ति होगी ? [1]

आंख और एक घड़ी या दूरबीन जैसी कृत्रिम वस्तु के मध्य बहुत ही अधिक सादृश्य प्रतीत होगा। दोनों में एक कार्य को संपन्न करनेवाली एक जटिल संरचना होती है। (हम "कार्य" कहेंगे न कि "प्रयोजन", क्योंकि आंख के एक प्रयोजन को पूरा करनेवाली होने की बात कहने में साध्य को सिद्ध मान लेने का दोष हो जाएगा। प्रयोजनमूलक युक्ति के विरोधी कहेंगे कि आंख एक कार्य को, देखने के कार्य को, पूरा तो करती है पर वह आयोजन का परिणाम नही है और फलत: किसी आयोजक के प्रयोजन की पूर्ति करनेवाली नही है।) लेकिन आंख के संबंध में और साथ ही सामान्य रूप से जीवो के संबंध मे भी कभी कोई आयोजनपरक क्रिया नहीं देखी गई है, जबकि कृत्रिम वस्तुओं के

---

१. बिशप विलियम पेली, एविडेन्सेज ऑफ दि एग्जिस्टेन्स एंड ऐट्रिब्यूट्स ऑफ दि डीटी (१८०२)। यह अंश पी० एड्वर्ड्स और ए० पैप के ए मॉडर्न इंट्रोडक्शन टु फिलॉसफी, पृ० ४१२ में उद्धृत है।

सबंध मे देखी गई है। और इसके अतिरिक्त इस बात का और भी काफी अधिक प्रमाण उपलब्ध है कि आँख तथा साथ ही वह पूरा जंतु जिसका कि वह अग है विकास की एक धीमी और क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम है।

यह खोज कि कुछ आकृतियाँ और सरचनाएँ किसी कार्य के लिए समायोजित है आयोजन से कोई सबध नही रखती। ये कोई अग निर्दोप या लगभग निर्दोप भी नही हैं। आँख सहित वे सब भोडे है, जिन्हे बनाकर कोई भी अच्छा मिस्त्री शर्म महसूस करेगा। उन सबको बार-बार ठीक करते रहने की जरूरत होती है, वे सदैव बिगडे रहते है और वे इतने अधिक जटिल है कि उनसे स्थायी रूप से काम करते रहने की आशा नही की जा सकती। वे किसी प्रयोजन से नही बनाए गए; वे तो आवश्यकता और अनुकूलन की वजह से यो ही निकल आए है। दूसरे शब्दो मे, वे बस हो गए है।[1]

इस प्रयोजनमूलक युक्ति से वह सिद्ध नही होता जिसे सिद्ध करना इसका उद्देश्य है, क्योकि घडी और आँख (अथवा किसी भी कृत्रिम चीज और किसी प्राकृतिक चीज) मे साम्य पूरे से बहुत कम होता है। पर यदि वह पूरा भी होता तो उससे आवश्यकता से अधिक सिद्ध होता, क्योकि, जैसा कि हम देख चुके है, ठीक उसी युक्ति को दो आयोजको, अनेक आयोजको, एक विराट् जीव इत्यादि के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। यदि हम घडियो के बजाय पोतो से शुरू करें तो हम इस प्राक्कल्पना पर पहुँचते है कि ब्रह्माड विश्व-निर्माण की कला मे अनेक शताब्दियो के सचित अनुभव का परिणाम है। यदि हम रेगिस्तान से शुरू करें तो प्राक्कल्पना यह प्राप्त होती है कि आयोजक अनाडी और अकुशल होने के साथ-साथ मनुष्य के कल्याण को ध्यान मे न रखनेवाला भी था। सब इसपर निर्भर करता है कि विश्व की किन विशेषताओ को लेकर हम चलते हैं। ब्रह्माड के अदर इतनी अधिक विशेषताओ वाली इतनी अधिक चीजें है कि असल मे किन्ही भी विशेषताओ का शुरू मे चुनाव करके उनके आधार पर हम कोई भी साम्ययुक्ति प्रस्तुत कर सकते हैं। पर प्रत्येक ऐसी युक्ति से हमे एक अलग ही प्रकार का आयोजक प्राप्त होगा। यदि एक युक्ति वैध है तो और भी वैध हैं—फिर भी एक का निष्कर्ष अन्यो के निष्कर्षों का व्याघाती होगा। इस प्रकार,

---

१. क्लेरेन्स डैरो, दि स्टोरी ऑफ माइ लाइफ (न्यूयार्क : चार्ल्स स्क्रिब्नर्स संज, १९३२) में "दि इल्यूजन ऑफ डिजाइन एँड पर्पज", पृ० ४१३।

प्रयोजनमूलक युक्ति का अंत व्याघात-प्रदर्शन मे होता है। जैसा कि ह्यूम ने कहा था, इस युक्ति से किसी आयोजक की प्राक्कल्पना के लिए कोई आधार नही बनता।

क्या प्रयोजनमूलक युक्ति दोषपूर्ण होने पर भी इंद्रियानुभव पर आधारित एक प्राक्कल्पना है ही? मान लिया कि वह अनिश्चायक है, यहाँ तक कि बिल्कुल ही असफल हम उसे मान लेते है। फिर भी वह एक ऐसी प्राक्कल्पना लगती है जो इंद्रियानुभव के क्षेत्र के अदर ही है। पर क्या सचमुच ऐसा है? शुरू में वह इस रूप में प्रस्तुत की गई थी जैसे कि मानो वह एक वैज्ञानिक प्राक्कल्पना हो जिसे भौतिक जगत् के तथ्यो के द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता हो। परंतु अधिकाधिक तथ्य ऐसे सामने आते गए जो इसके विपरीत प्रतीत हुए और फिर भी एक विराट् आयोजक की प्राक्कल्पना को त्यागा नही गया, जिससे यह धारणा उत्तरोत्तर बढ़ती गई कि यह एक ऐसी प्राक्कल्पना है जिसे कोई भी तथ्य अप्रमाणित नही कर सकते। परंतु तब तो कोई तथ्य उसे प्रमाणित भी कैसे कर सकेंगे? यह किस प्रकार की प्राक्कल्पना है जिसके कोई बात न पक्ष में गिनी जा सकती है और न विपक्ष में? ऐसी प्राक्कल्पना का क्या कोई अर्थ हो भी सकता है? अच्छा होगा कि हम ईश्वर की प्राक्कल्पना का क्या अर्थ है, इस बात की और बारीकी से जाँच कर लें।

२२. धार्मिक संप्रत्यय और उनके अर्थ

मानवत्वारोप— लोग कहते हैं कि ईश्वर बुद्धिमान्, ज्ञानवान्, दयावान् और शक्तिमान् है; वह आज्ञा देता है, हमारी प्रार्थनाओं को सुनता है, हमारा कल्याण चाहता है, हमारे दोपो को क्षमा करता है, इत्यादि। पर ईश्वर मे जिन गुणो का आरोप लोग करते हैं वे अक्षरश: कैसे सच हो सकते हैं? किसी तरह के शरीर के हुए विना इन सब गुणो के होने की कल्पना करना यदि असंभव नही तो कठिन तो है ही—और आजकल प्राय: कोई भी यह नहीं कहना चाहेगा कि ईश्वर का आँख, नाक, हाथ, पैर इत्यादि वाला कोई भौतिक शरीर है। सभी तरह की वैयक्तिक विशेषताओं का ईश्वर मे आरोप किया जाता है, पर ऐसा कैसे हो सकता है कि किसी मे ये सब विशेषताएँ हों और किसी तरह का कोई शरीर न हो? (पृ० ६२४-२७ देखिए।) एक मामूली उदाहरण को लीजिए: वस्तुत: सभी परपरागत धर्म ईश्वर के लिए

पुरुषवाचक "वह" शब्द का प्रयोग करते हैं। क्या उनका सचमुच यह मतलब होता है कि ईश्वर पुल्लिग है ? यदि वे मानते हैं कि ईश्वर शरीरवाला नहीं है और पुल्लिग केवल शरीर के होने पर ही पहचाना जा सकता है (उस संदर्भ के बाहर "पुल्लिग" का क्या अर्थ होगा ?), तो निष्कर्ष अनिवार्यतः यह निकलता है कि सर्वनाम-शब्द "वह" का अभिधा मे प्रयोग अभिप्रेत नही है। निस्संदेह कुछ उपासकों को अभिधा मे प्रयोग अभिप्रेत होता है: वे कहेंगे कि ईश्वर पुरुष है और वे उसे सिंहासन पर आसीन, राजदंड धारण किए, श्वेत लहराते हुए वस्त्र इत्यादि पहने कल्पित करेंगे। परंतु शीघ्र ही वे यह मान लेंगे कि यह तो अनुषंगी कल्पना मात्र है। शायद पुरुषवाचक "वह" शब्द का प्रयोग उन दिनों का अवशेष है जब पुरुष परिवार का निर्विवाद रूप से मुखिया होता था। जो भी हो, यदि ईश्वर शरीरवाला नहीं है तो वह पुरुष नहीं हो सकता। इसी तरह, ईश्वर नारी भी नहीं है। परंतु यदि ईश्वर फिर भी एक व्यक्तित्व है, हालांकि शरीर उसका नहीं है, तो ऐसा लगेगा कि वह नपुंसक भी नहीं है। उसे "वह वस्तु" कहना तो "वह पुरुष" या "वह नारी" से भी कम उपयुक्त है, क्योंकि इससे वह एक व्यक्तित्वहीन जड़ पदार्थ प्रतीत होगा। पर, यदि ये कोई भी लागू नही होते तो हम किस शब्द का प्रयोग करेंगे ? और यदि किसी शब्द का अवश्य ही प्रयोग करना है तो किस आधार पर हम उस शब्द का चुनाव करें, क्योंकि उचित तो कोई भी लिंगसूचक शब्द नहीं है ?

इस उदाहरण से तथा किसी भी अन्य उदाहरण से मानवत्वारोप यानी "ईश्वर को मनुष्य के रूप में कल्पित करने" से उत्पन्न समस्या का कुछ आभास मिल जाता है। हम ईश्वर को एक मनुष्य-जैसा समझते है—शायद एक अधिक बड़े और अधिक अच्छे मनुष्य के रूप में, शारीरिक गुणों की दृष्टि से न सही (क्योंकि ईश्वर शरीरवान् नही है) पर मानसिक गुणों की दृष्टि से। श्रद्धालु लोग यह मानते हैं कि ईश्वर अक्षरशः मनुष्य नही है। पर फिर भी वे सब ईश्वर के अनेक मानवोचित गुण बताते हैं। कोई पूछ सकता है : "भई, हम और कर ही क्या सकते हैं ?" ईश्वर के बारे में हम किस ढंग से सोचें ? शायद हम उसी तरह ईश्वर के गुणों को नही समझ सकते जिस तरह एक बच्चा स्त्री-पुरुष के परिपक्व प्रेम को नहीं समझ सकता। वे ईश्वर के स्वरूप को बताने के लिए कितने ही अपर्याप्त क्यों न हों, उनसे

अधिक अच्छे गुणो की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। ईश्वर की धारणा या तो हमे मानवीय गुणो के आधार पर बनानी होगी या हम बिल्कुल उसे बना ही नही पाएँगे। आदिम धर्मों की तरह भोडे तरीके से मानवीय गुणो का ईश्वर मे आरोप करने की जरूरत नही है—जैसे यह कि वह आसमान मे या सर्वोच्च पर्वत-शिखर पर बैठा हुआ वज्र फेंकनेवाला एक दीर्घाकार मानव है। परतु मानव के शारीरिक गुणो का ईश्वर मे आरोप करनेवाली आदिम अवस्था से हम भले ही आगे निकल आए हो, मानव के मानसिक गुणो का उसमे आरोप किए बिना हम नही रह सकते। यदि यह हम छोड दें तो ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर की धारणा बिल्कुल समाप्त ही हो जाएगी।

समस्या तब वास्तव मे कम नही होती जब हम ईश्वर की तथाकथित व्यक्तित्व वाली विशेषताओ पर विचार करते है। हम कहते हैं कि ईश्वर सोचता है, इच्छा करता है, सकल्प करता है, योजना बनाता है, और बहुत-से लोग इस बात को बिल्कुल अभिधा मे लेते हैं। ईश्वर आदमियो की तरह योजना बनाता है। परतु जब हम इन कामो पर विचार करते हैं तब हम असमजस मे पड जाते है उदाहरण के लिए, कोई किसी चीज की इच्छा तब तक कैसे कर सकता है जब तक उसके पास उस चीज का अभाव न हो? फिर भी, अगले ही क्षण हम कह बैठते हैं कि ईश्वर असीम है और इसलिए उसके पास हर चीज है या वह हर चीज है। अथवा जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए साधन जुटाने का प्रयत्न करने की उसे कभी जरूरत ही नही होनी चाहिए तब वह योजनाएँ क्यो बनाता है और दुनिया मे काम करने के लिए तरीके क्यो ढूँढता है? (देखिए पृ० ६९०-९७।) (लोग कहते है कि ईश्वर ने अपने नाम को ऊँचा करने के लिए जगत् की सृष्टि की है। परतु जैसाकि मिल ने बताया था, यह तो ईश्वर म एक बहुत ही निकृष्ट मानवीय गुण, प्रशसा पाने की भूख, का आरोप करना हुआ।) ईश्वर मे इन मानवोचित गुणा का आरोप करने के फलस्वरूप जिन कठिनाइयो मे हम फँस जाते हैं उनके अलावा एक कठिनाई तो सबम समान है सोचना, सकल्प करना, इच्छा करना, योजना बनाना इत्यादि सब काल मे होनेवाली प्रक्रियाएँ हैं। क्या सोचने का काम अनिवार्यत काल मे होनेवाला काम नही है? क्या यह कहना कोई अर्थ रखेगा कि मैं कोई बात

सोच रहा हूँ पर उसमे एक निश्चित समय नही लगा, अथवा बिल्कुल भी समय नही लगा ? क्या कोई योजना बनाना एक घटना नही है, और क्या सभी घटनाएँ अनिवार्यत: काल में नही घटती ? परंतु यदि, जैसाकि धर्मशास्त्री प्राय: कहते है, ईश्वर सचमुच कालातीत है (देखिए पृ० ६४६, ६५४-५) तो हम उस व्याघात से कैसे बच सकते है जो एक कालातीत सत्ता मे इन मानसिक गुणो का आरोप करने से पैदा होता है ?

परंतु मन या बुद्धि बनी ही ऐसी कालिक घटनाओं और प्रक्रियाओ से है।

जो मन ऐसा हो कि उसकी क्रियाएँ, भावनाएँ और धारणाएँ अलग-अलग और पौर्वापर्य के क्रम मे न हो, जो जटिलता से बिल्कुल ही शून्य हो तथा पूर्णत: परिवर्तनहीन हो, वह मन विचार, तर्क, संकल्प, भावना, घृणा, प्रेम इत्यादि से रहित होगा अर्थात्, मन होगा ही नही। उसे मन कहना शब्दो का दुरुपयोग होगा, और यदि उसे मन कहा जा सकता हो तो हम आकृति के बिना सीमित विस्तार की या रचना के बिना संख्या की बात भी कर सकते है।[1] इसके बावजूद भी यदि हम विचारो, भावनाओं, संकल्पो, और अन्य घटनाओ के बिना ही किसी मन के होने की बात करते है तो क्या यह एक हाथ से किसी चीज को देना और दूसरे हाथ से छीन लेना नही है ? यह कह देने से काम नही चलेगा कि है तो वह मन ही पर हमारे मन से बहुत ही भिन्न प्रकार का, जिससे कि हम असल मे उसे समझ ही नही सकते, क्योकि यदि हम उसे समझ ही नही सकते तो हमे उसे मन कहने का अधिकार ही क्या है ? हमे यह कहने का क्या अधिकार है कि वह मन है न कि कोई और चीज ? अथवा यह तक कहने का हमे क्या अधिकार है कि कोई "वह" है जिसे हम मन कह सकते है ? यह तो बहुत-कुछ वैसा ही हुआ जैसा यह कहना कि एक बहुत ही विशेप प्रकार की और असाधारण पुस्तक है जिसमे न पृष्ठ हैं, न जिल्द है, न छपाई है—जो असल मे एक लाल द्रव है। पर "पुस्तक" शब्द का प्रयोग हम जिस अर्थ मे करते है वह, चाहे जो हो, यह नही है। वह चीज पुस्तक नही हो सकती, क्योकि उसमे पुस्तकों की परिभाषक विशेषताओं का अभाव है। ठीक इतनी ही पक्की यह बात भी लगेगी कि "कालातीत मन"

---

१. डेविड ह्यूम, डायलॉग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजन, भाग IV (नॉर्मन केम्प स्मिथ के संस्करण में पृ० १५९)।

मे मन की परिभाषक विशेषताओ का अभाव है और उसकी धारणा स्वव्याघाती है। यदि किसी चीज मे क की परिभाषक विशेषताओ का अभाव है तो हमे उसे क कहने का अधिकार नही है। जैसा कि ह्यूम ने कहा है, "उसे उस नाम से पुकारना शब्दो का दुरुपयोग है।"

निस्सदेह इन अर्थसबधी कठिनाइयो से यह मानकर भी बचा जा सकता है कि ईश्वर ससीम है, परिच्छिन्न है, कालाधीन है—और अत मे शायद हमे यह भी मान लेना होगा कि यदि ईश्वर एक व्यक्तित्व है तो उसका शरीर भी होना चाहिए : परतु इस कदम को उठाने के लिए बहुत ही कम आस्तिक तैयार है।

रहस्यवाद—जब भी हम ईश्वर मे मानवोचित गुणो का आरोप करते है तब हमेशा हमारे आगे ऐसा ही गतिरोध आ जाता है। अब रहस्यवादी आता है और मानवत्वारोप की प्रवृत्ति का पूरा विरोध करता है। रहस्यवादी कहता है कि जब हम किसी भी गुण का ईश्वर मे आरोप करते है तब हम ईश्वर का सप्रत्ययीकरण कर देते है, क्योकि हमे किसी चीज का सप्रत्यय होता है और जिसका हमे सप्रत्यय होता है उसकी विशेषता का हम ईश्वर मे आरोप करते हैं। रहस्यवादी के मतानुसार यह बात हम कर नही सकते, क्योकि ईश्वर का सप्रत्ययीकरण नही हो सकता। ईश्वर को "वह पुरुष" कहना ईश्वर को एक सप्रत्यय के अतर्गत ले आना है, पर ईश्वर को एक मन कहना या ज्ञानवान्, शक्तिमान या मगलमय बताना इससे थोडा भी कम नही है। ये सब सप्रत्ययीकरण हैं और इस प्रकार सब समान रूप से अवैध है।

तो फिर नतीजा क्या हुआ ? ईश्वर के बारे मे सच क्या होगा ? रहस्यवादी के मतानुसार कुछ भी नही। वस्तुत ईश्वर के बारे मे कुछ भी कहना उसको परिच्छिन्न कर देना है। यह कहना कि ईश्वर मे विशेषता क है यह कहने के बराबर है कि उसमे विशेषता न क का अभाव है, और यह कहना ईश्वर को परिच्छिन्न कर देना है, जो कि इन सब भेदो से परे है। चूंकि ईश्वर असीम है, इसलिए कोई ऐसी बात कह देना जो ईश्वर के स्वरूप को सीमित कर देती है गलत है। और जिस किसी विशेषता का हम ईश्वर मे आरोप करते हैं वह बिल्कुल यही करती है।

परतु यदि ऐसी बात है तो क्यो न हम इस तर्क का आखिर तक अनुसरण करें ? क्या हमारा ईश्वर को असीम तक कहना ठीक होगा ? यह कहना भी

उसमें एक विशेषता का आरोप करना है। जो तर्क हमें ईश्वर को एक मन कहने से रोकता है वही हमें उसे असीम कहने से भी रोकेगा। क्या ईश्वर को अस्तित्ववान् तक कहना ठीक होगा ? क्या इससे भी वह उसी तरह सीमित नहीं हो जाएगा ? यदि अस्तित्व एक गुण न भी हो (देखिए पृ० ६३३-३५) तो भी यह कहना सच ही होगा कि ईश्वर को अस्तित्ववान् बताना उसके बारे में कुछ कहना है, उसके लिए एक संप्रत्यय का प्रयोग करना है, और इस प्रकार रहस्यवादी की आपत्ति के दायरे में आ जाना है। यदि ईश्वर सभी वर्णनों से परे है तो यह बात उसका अस्तित्ववान् के रूप में वर्णन करने पर भी लागू होगी। वास्तव में, पूरी-पूरी संगति बनाए रखने के लिए हमें यह अंतिम कदम उठा देना होगा : हमें "ईश्वर" शब्द तक का प्रयोग बंद कर देना होगा, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग करना और उसे कोई अर्थ देना संप्रत्ययीकरण ही तो है।

इस गतिरोध के आ जाने पर कोई पूछ सकता है : "रहस्यवाद का अज्ञेयवाद या संशयवाद से क्या अंतर है ? संगति बनाए रखने के लिए रहस्यवादी को चुप रहना पड़ेगा—वह कहता है कि ईश्वर वर्णनातीत है, कि उसके गुणों को बताने के लिए शब्दों का प्रयोग, यहाँ तक कि अंत में स्वयं 'ईश्वर' शब्द का भी प्रयोग नहीं किया जा सकता। क्या यह ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करनेवाले संशयवादी से या इस संबंध में अपना अज्ञान प्रकट करनेवाले अज्ञेयवादी से भी अधिक उग्र स्थिति नहीं है ?"

अब रहस्यवादी एक उत्तर देगा : वह कहेगा कि उसके ईश्वरविषयक कथन—जैसे, "ईश्वर सब चीजों की अंतिम एकता है," "ईश्वर का शिवत्व एक अनंत स्रोत से निकलनेवाली एक अजस्र धारा है", "ईश्वर सारे अस्तित्व में ओतप्रोत है, सारे भेदों से परे है, सब सीमाओं से मुक्त है"—अक्षरशः सत्य हैं ही नहीं और न उनके पीछे ऐसा अभिप्राय ही है। वे तो प्रतीकात्मक है। अभिधा में ये कथन (तथा अन्य परंपरागत और शास्त्रसंमत कथन भी, जैसे "ईश्वर करुणामय है," "ईश्वर शक्तिमान्, ज्ञानवान् इत्यादि है") संशयवादी के आक्षेपों से नहीं बच सकते और यह ठीक भी है : इन्हें अभिधार्थ में लेनेवाले का खंडन करना और इनके दोषों और व्याघातों को दिखाना बहुत आसान है। लेकिन यदि इन्हें अभिधा में न लेकर प्रतीकात्मक अर्थ में लिया जाए तो अनेक ईश्वरविषयक कथन सत्य हो सकते हैं।

इस दावे का क्या औचित्य है ? लाक्षणिक भाषा की हम पहले चर्चा कर चुके है (पृ० २६-७)। यह कहना कि "वह तो बस एक चलती फिरती छाया है," लाक्षणिक भाषा है, क्योकि हमारा यह मतलब नही होता कि वह अक्षरश एक छाया है। फिर भी, हम आवश्यकता पडने पर लक्षणा के स्थान पर अभिधा का भी प्रयोग कर सकते हैं हम कह सकते हैं 'मेरा मतलब यह है कि वह बहुत दुबली और पीली पड गई है और रक्तहीन दिखाई देती है।" साधारण जीवन मे हम जिन लाक्षणिक वाक्यो का प्रयोग करते हैं उनम से अधिकतर को अभिधा मे भी बताया जा सकता है। परतु "ईश्वर सब वस्तुओ की अतिम एकता है," "मै ईश्वर से अभिन्न हूँ," "ईश्वर सब बधनो से मुक्त है" इत्यादि कथन यदि अभिधा मे नही कहे गये हैं तो इनका अभिधार्थ क्या है ? अभिधार्थ वाले वे वाक्य ठीक ठीक क्या होगे जिनमे इनका अनुवाद किया जा सकता हो ? ऐसे कोई वाक्य नही बताए जा सकते। तब यह दखते हुए कि हम इनका अर्थ नही बता सकते, ऐसे वाक्यो के प्रयोग का औचित्य ही क्या है ? कोई और बात, या उल्टी बात, कहने के बजाय उसी बात को कहने मे क्या औचित्य है ?

सादृश्य—केवल एक ही उत्तर सभव लगता है प्रतीका के द्वारा जो बातें बताई गई हैं उनके तथा इन प्रतीको को जिस चीज का प्रतीक कहा गया है उस वर्णनातीत और सप्रत्ययातीत क के मध्य कोई सादृश्य प्रतीत होता है। यदि ऐसा न होता, तो यह कहने का कोई आधार न रहता कि 'ईश्वर घृणा है" या "ईश्वर गुलाबी धैर्य है' कहने के बजाय "ईश्वर प्रेम है" एक अनिर्वचनीय, सत्य की अधिक सही अभिव्यक्ति है।

लेकिन इतना भी कह देना रहस्यवादी के मत की सचाई के लिए जाखिम बन जाता है। एक वाक्य क का प्रयोग एक अनिर्वचनीय, सप्रत्ययातीत क' के बारे मे कहने का एक प्रतीकात्मक तरीका है और एक दूसर वाक्य ख का प्रयोग एक अनिर्वचनीय, सप्रत्ययातीत ख' के बारे म कहने का एक प्रतीकात्मक तरीका है। पर क क्यो—किस आधार पर—क' का ख की अपक्षा अधिक अच्छा प्रतीक है ? निश्चय ही इसलिए कि क का क' से कुछ सादृश्य है जो क का ख से नही है। यदि क और क' के मध्य कोई सादृश्य न होता, भले ही यह बहुत अल्प हो, तो अन्य शब्द या वाक्य के बजाय एक का प्रयाग, प्रतीकात्मक रूप मे भी, अनुचित होता। यदि कथन अक्षरश सत्य न भी हो और जो

अक्षरशः सत्य है उसे अभिव्यक्त न किया जा सकता हो तो भी जिसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता उसके प्रतीक के रूप में एक कथन को दूसरे की अपेक्षा अच्छा माना जाता है ; और यदि कोई इस बात को जानता हो तो क्या यह नहीं कहा जाएगा कि वह वर्णनातीत के बारे में पहले ही कुछ तो जानता है ? और यदि कोई उसके बारे में कुछ भी नहीं जानता, तो उसे उसके बारे में कुछ भी कहने का कोई अधिकार नहीं है, इतना तक कहने का नहीं कि क क' का ख से अच्छा प्रतीक है। ऐसा प्रतीत होगा कि सच्चे रहस्यवादी को मौन ही रहना पड़ेगा।

जो भी हो, अधिकतर धर्मशास्त्रियों ने मध्यम मार्ग अपनाया है : एक ओर तो उन्होंने मानवत्वारोप की कठिनाइयों को स्वीकार किया है और दूसरी ओर उन्होंने रहस्यवादी तरीके को उसके बिल्कुल ही मूक बना देनेवाले दुर्दम तर्क के सहित अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने इनके बजाय यह माना है कि ईश्वर के गुणों को बताने के लिए प्रयुक्त शब्द सादृश्यपरक हैं, और उनका मत "सादृश्यपरक विधेयन-सिद्धांत" कहलाता है।

......जब एक शब्द, जैसे, "अच्छा," ईश्वर और ईश्वर के द्वारा रचे हुए एक जीव दोनों के लिए प्रयुक्त होता है तब दोनों के लिए उसका बिल्कुल एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, आदमी जिस अर्थ में अच्छे हो सकते हैं ईश्वर ठीक उसी अर्थ में अच्छा नहीं है। दूसरी ओर, "अच्छा" शब्द का प्रयोग हम ईश्वर और आदमी के लिए इस तरह बिल्कुल भिन्न और असंबद्ध अर्थों में भी नहीं करते जिस तरह "कर" शब्द का टैक्स और हाथ दोनों के लिए करते हैं। ईश्वर की अच्छाई और मनुष्य की अच्छाई में निश्चित रूप से एक संबंध है जो इस तथ्य का सूचक है कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है। तो फिर अक्वाइनस के मतानुसार "अच्छा" का स्रष्टा और उसके द्वारा रचे हुए जीव के लिए प्रयोग न बिल्कुल एक अर्थ में किया जाता है और न बिल्कुल भिन्न अर्थों में, बल्कि सादृश्य के आधार पर किया जाता है। इसका क्या मतलब है, यह स्पष्ट हो जाएगा यदि हम पहले एक सादृश्यपरक प्रयोग पर विचार कर लें जो मनुष्य से चलता है और नीचे की ओर निम्न कोटि के जंतुओं में जाता है। हम कभी-कभी एक पालतू कुत्ते के बारे में कह देते हैं कि वह निष्ठावान् है और हम किसी आदमी को भी निष्ठावान् कह देते हैं। हम दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग एक

समानता की वजह से करते है जो कुत्ते के व्यवहार में प्रकट एक विशेषता की एक आदमी की किसी व्यक्ति या उद्देश्य के प्रति स्वेच्छा से अडिग निष्ठा रखने के साथ होती है जिसे हम आदमी की निष्ठावत्ता कहते है। इस समानता के कारण हम "निष्ठावान्" शब्द का प्रयोग बिल्कुल भिन्न अर्थों में नहीं कर रहे हैं। परंतु दूसरी ओर, कुत्ते की भावना और आदमी की भावना के बीच एक बहुत बड़ा प्रकारात्मक अंतर है। एक दूसरे से दायित्वपूर्ण और आत्म-चेतनापूर्ण विमर्श मे तथा भावनाओं को नतिक प्रयोजनों और लक्ष्यो के साथ जोड़ने की दृष्टि से बहुत ही श्रेष्ठ है। इसी अंतर के कारण हम "निष्ठावान्" शब्द का प्रयोग बिल्कुल एक अर्थ में नहीं कर रहे हैं। उसका प्रयोग सादृश्य-परक है जो यह प्रकट करने के लिए है कि कुत्ते की चेतना के स्तर पर एक विशेषता है जो उसके अनुरूप है जिसे मानवीय स्तर पर हम निष्ठावत्ता कहते हैं। अभिवृत्तियों या व्यवहारों के ढाचे में एक सादृश्य पहचाना जा सकता है जिसकी वजह से हम एक ही शब्द का पशु और मनुष्य दोनों के लिए प्रयोग करते है। फिर भी मानवीय निष्ठा कुत्ते की निष्ठा से उतना ही अधिक अंतर रखती है जितना मनुष्य कुत्ते से अंतर रखता है। इस प्रकार विषमता के अंदर समानता और समानता के अंदर विषमता दोनों ही है जिसके आधार पर अक्वाइनस को दो बहुत ही भिन्न संदर्भो में एक ही शब्द के सादृश्यपरक प्रयोग की बात कहनी पड़ी।[1]

जैसा कुत्ते के गुणों का मनुष्य के गुणों से संबंध है वैसा ही मनुष्य के गुणों का ईश्वर के गुणों से है, हालांकि हमारे और ईश्वर के गुणों के बीच उससे अधिक अंतर है जितना कुत्ते के और हमारे गुणों के बीच है। इस प्रकार, ईश्वर की अच्छाई हमारी अच्छाई से है तो कहीं अधिक बड़ी और बहुत भिन्न, पर सादृश्य दोनों में फिर भी इतना पर्याप्त है कि दोनों ही को हम "अच्छाई" कह सकते हैं। "अच्छाई" शब्द किसी भी अन्य शब्द से अधिक उपयुक्त है, हालांकि इससे ईश्वर के गुण के बारे में हमारी जो धारणा बनती है वह अपर्याप्त ही होती है।

ऐसा यह सिद्धांत कहता है। परंतु इसमें बहुत कठिनाइयां हैं। आदमियों के और ईश्वर के गुणों को सदृश किस तरह समझा गया है? इस प्रश्न पर पूरी समस्या का हल निर्भर है।

---

१. जॉन हिक, फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ० ७६-८०।

१. कभी-कभी यह कहा जाता है कि दोनों के मध्य एक प्रकार की आनुपातिकता है : ईश्वर के गुणों का ईश्वर की प्रकृति से वही अनुपात है जो मनुष्य के गुणों का मनुष्य की प्रकृति से है। परंतु ये दो अनुपात परस्पर कैसे जुड़े है ? क्या दोनों अभिन्न हैं ? जितना ही अधिक हम यह कहेंगे कि ईश्वर की अच्छाई ठीक मनुष्य की अच्छाई की तरह है उतनी ही अधिक यह बात संदिग्ध हो जाएगी कि ईश्वर मनुष्य से भिन्न है। परंतु यदि दोनों संबंधों में अभेद को छोड़कर कोई और संबंध माना जाता है—जैसे, यदि यह कहा जाता है कि ईश्वर के गुणों का उसकी प्रकृति से संबंध किसी अज्ञात या बिल्कुल ही अनिर्धारित रूप में उस संबंध के सदृश ही है जो मनुष्य के गुणों का उसकी प्रकृति से है—तो ईश्वर का "भिन्नत्व" बना रहता है, लेकिन ईश्वर का ज्ञान होना या उसकी प्रकृति का थोड़ा भी आभास मिलना असंभव लगता है : जैसे मिल ने कहा था, हम केवल यह कह सकते हैं कि वह "एक अगम्य सत्ता का एक अगम्य गुण है"।

२. यह भी माना गया है कि अच्छाई, ज्ञान इत्यादि गुणों का ईश्वर में किसी पूर्ण और अव्युत्पन्न अर्थ में आरोप करके फिर उनका मनुष्य इत्यादि अन्य चीजों के लिए एक व्युत्पन्न अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है जो मूल अर्थ के समान हो पर उससे अभिन्न नहीं। इस प्रकार हम एक शरीर को स्वस्थ कहते हैं (अव्युत्पन्न अर्थ में) पर किसी खाद्य पदार्थ को भी स्वस्थ (या स्वास्थ्यकर कहना अधिक सही होगा) कहते हैं : दूसरा अर्थ केवल यह है कि उसे खाने से पहले अर्थ में आप स्वस्थ हो जाएँगे। दूसरा अर्थ पहले से व्युत्पन्न है पर है स्पष्टतः उससे मिलता-जुलता। इसी प्रकार यह कहा गया है कि "अच्छाई" और "ज्ञान" मूल और अव्युत्पन्न अर्थ में केवल ईश्वर पर लागू होते हैं—पूर्ण अर्थ में केवल ईश्वर ही अच्छा और ज्ञानी है—और कि आदमियों के लिए इनका प्रयोग केवल व्युत्पन्न और मिलते-जुलते अर्थ में ही हो सकता है।

परंतु लोगों की ईश्वर के बारे में जो भी धारणा हो वह निश्चित रूप से आदमियों और उनके गुणों से परिचय होने के बाद ही बनती है तथा उस परिचय से व्युत्पन्न है। यदि ईश्वर को हमसे बिल्कुल ही भिन्न किसी गुण से युक्त माना जाता है तो हम कैसे जान सकते हैं कि उसमें यह गुण है या यह गुण है क्या ? हम उसे केवल तभी जान सकते हैं जब हम ईश्वर के गुणों को

अलग से देख सकें और मनुष्य के गुणों को उनसे अलग से, और केवल तभी हम दोनों के बीच किसी सादृश्य के होने की बात को स्वीकार या अस्वीकार कर सकेंगे। परंतु निश्चय ही यह एक ऐसी बात है जिसे हम कर नही सकते। ईश्वर के बारे मे ऐसी किसी बात का ज्ञान इस ज्ञानमीमांसीय तथ्य से असंभव हो जाता है कि हम किसी अज्ञात चीज के बारे में कोई सार्थक बात केवल वही तक कर सकते है जहाँ तक वह किसी ज्ञात चीज से मिलती-जुलती है। और निश्चय ही जानते हम केवल मनुष्य और उसके गुणों को ही है और उनके आधार पर ही हम ईश्वर तथा उसके गुणों के बारे में कोई सार्थक बात कहने की कोशिश करते है—न कि इसके विपरीत।

ये वे समस्याएँ हैं जो तब हमारे आगे आती हैं जब हम "ईश्वर के सादृश्यपरक ज्ञान" के पक्ष मे मामले को तैयार करने की कोशिश करते है।

ईश्वर में विश्वास अनुभव में क्या अंतर पैदा करता है? यदि ईश्वर है—आदि-कारण, आयोजक, अनिवार्य सत्ता, या दिव्य अनुभव के स्रोत के रूप में अथवा अन्य युक्तियों के अनुसार किसी भी अन्य रूप में—तो इससे इंद्रियानुभव मे क्या फर्क पडेगा? हम उसका सत्यापन कैसे कर पाएंगे? चूंकि ईश्वर पेडो और पत्थरों की तरह नही है और इंद्रियो के द्वारा उसका प्रेक्षण नही हो सकता, इसलिए यह मानते हुए कि उसका अस्तित्व है, हम उसका सत्यापन कैसे कर सकेंगे?

मान लीजिए कि कोई यह पूछता है: "आप कैसे जानते हैं कि इस इमारत के अंदर बहुत-से अदृश्य हाथी हैं? आप उन्हें देख तो सकते नही, क्योंकि वे अदृश्य हैं।" इसका हम यह उत्तर दे सकते हैं: "हम उन्हे छू सकते हैं या उनसे टकरा सकते है, जैसे अदृश्य शीशे से।" "नही, मान लो कि वे अस्पृश्य भी है—वे जैसे देखे नही जा सकते वैसे ही छुए भी नही जा सकते।" "और वे एक्स-रे मशीन तथा राडार जैसे उपकरणो को भी प्रभावित नही करते?" "नहीं, बिल्कुल भी नही।" हमे पहले यह पूछने का प्रलोभन होगा: अंतर क्या है? इमारत के अंदर ऐसे हाथियों के होने या न होने से क्या फर्क पडता है? परंतु कुछ विचार करने के बाद हम एक अधिक गहरा प्रश्न पूछ सकते हैं: इस कथन का अर्थ ही क्या है कि इमारत के अंदर ऐसे हाथी हैं—अथवा नही हैं? यह कहने का क्या अर्थ होगा कि वे अदृश्य घोड़े या पत्थर न होकर अदृश्य हाथी हैं? असल में, यह कहने में कि इमारत के अंदर केवल

अदृश्य हाथी हैं तथा यह कहने में कि इमारत के अंदर कुछ भी नहीं है, क्या अंतर होगा ? यह कहना कि इमारत के अंदर एक हाथी है निश्चय ही यह कहना है कि इमारत के अंदर एक प्रत्यक्षगम्य चीज है। यदि कोई प्रत्यक्षगम्य (दृश्य और स्पृश्य) चीज वहाँ है ही नहीं, तो वहाँ कोई हाथी नहीं है, क्योंकि इमारत के अंदर हाथियों के होने की बात कहने का अर्थ यह है कि वहाँ प्रत्यक्षगम्य चीजें हैं। हम "हाथी" का अर्थ केवल तभी समझ सकते हैं जब कोई एक प्रत्यक्षगम्य चीज को हमें इशारे से बताए या उसका वर्णन करे। एक ऐसा हाथी जो प्रत्यक्षगम्य न हो स्वतोव्याघाती है।

अब, ईश्वर (बिल्कुल ही मानवत्वारोपी वर्णनों को छोड़कर शेष सभी वर्णनों के अनुसार) इंद्रियों के द्वारा ज्ञेय नहीं है। यदि हम इसके बावजूद भी यह कहें कि ऐसी चीज का अस्तित्व है, तो क्या इससे हम अर्थहीन बात कहने के दोषी बनेंगे ? अकेले इससे नहीं। इंद्रियानुभविक विज्ञानों तक में हम इलेक्ट्रोन इत्यादि अप्रेक्षणीय चीजों के होने की बात करते हैं (पृ० ३५०-५४), और यद्यपि ऐसी विचित्र चीजों को लेकर अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं, तथापि वैज्ञानिक इस बात में सदेह नहीं करते कि किसी न किसी अर्थ में उनका अस्तित्व है। ईश्वर और इलेक्ट्रोन में निश्चित रूप से अंतर है : इलेक्ट्रोन-प्राक्कल्पना का समर्थन करनेवाला ढेर-सारा प्रमाण है जिसे हर भौतिकीविद् अच्छी तरह से जानता है, जबकि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी जानेवाली युक्तियों की चर्चा से प्रतीत होता है कि ऐसे प्रमाण का ईश्वर के प्रसंग में अभाव है। लेकिन प्रमाण हो या न हो, यह तो प्रतीत होता है कि हमे उसका संप्रत्यय है : शरीर के अभाव में वैयक्तिक गुणों के होने की बात को समझना चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो, अनेकों को ऐसा लगता है कि हम शरीर के बिना मन का अस्तित्व मान सकते हैं। कहा जाता है कि चूँकि मन और शरीर अलग पहचाने जा सकते हैं इसलिए उनका पृथक् अस्तित्व सोचा जा सकता है, भले ही अपने पूरे अनुभव में हमें एक दूसरे के बिना न मिला हो। और यदि ऐसी बात है तो हम मान सकते हैं कि मन का शरीर के बिना अस्तित्व हो सकता है, हालांकि बहुतों ने इस संबंध में बड़े गहरे प्रश्न पूछे है। जो भी हो, इस संबंध में समस्याएँ बनी हुई हैं कि ऐसा मन भौतिक जगत् को कैसे प्रभावित कर सकेगा, और हमें मन को कालातीत कहकर व्याघातों में फँसने से बचने की सावधानी भी रखनी होगी।

परंतु यदि ऐसे मन का अस्तित्व है—और अब तक जिन युक्तियों पर विचार किया गया है उनसे यह बात सिद्ध नही हुई है—तो हम उसे जान ही कैसे सकेंगे ? उसका अस्तित्व होने या न होने से हमारे अनुभव मे क्या फर्क पडेगा ? यदि प्रयोजनमूलक युक्ति सफल हो गई होती तो हम इस दृश्य जगत् के ऐसे मन के अस्तित्व के कारण भिन्न होने की आशा कर सके होते : यदि ईश्वर जगत् के प्रति करुणा का भाव रखनेवाला होता तो हम जगत् मे उसकी करुणा के स्पष्ट प्रमाण पाने की—विशेषत: चेतन जीवों के जीवन मे—आशा करते परंतु, जैसा कि हम देख चुके है, हम ऐसे प्रमाण पाने में असफल रहे हैं। निस्संदेह इससे यह प्रकट नही होता कि एक दुष्ट आयोजक का अस्तित्व है बल्कि केवल यह प्रकट होता है कि किसी भी आयोजक के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही है।

परंतु शायद इस बात के बावजूद भी कि हमारे पास मन के पृथक् अस्तित्व के प्रमाण का अभाव है, मन का अस्तित्व हो ही। प्राचीन एपिक्यूरसवादियों का विश्वास था कि अनेक देवता हैं पर उनका मानवीय जीवन से कोई संबंध नही है—वे उद्यानो में बैठे हुए बातें करते रहते हैं और अमृत पीते रहते है, पर इस दुनिया से उनका कोई सरोकार नही है, और उनके अस्तित्व से मानवीय अनुभव मे कोई अतर नही आता। यदि लोग ऐसी चीजो के अस्तित्व की प्राक्कल्पना करना चाहते होते और तब उन्होंने इस प्राक्कल्पना की संपुष्टि के लिए अनुभव की छानबीन की होती तो उन्हें कुछ भी न मिला होता, क्योंकि देवताओं ने दुनिया मे अपनी कोई निशानी ही नही छोड़ी है। फिर भी, कहा जा सकता है कि उनका अस्तित्व हो सकता है, भले ही उनके अस्तित्व का कोई चिह्न ढूंढने मे लोगों को असफलता ही मिली हो।

एक समकालीन दार्शनिक जॉन विजडम ने कहा है कि एक नास्तिक और एक आस्तिक के बीच अंतर इस बात मे शायद नही है कि वह "बाहर वहां" किस चीज का अस्तित्व मानता है, बल्कि इसमें है कि वह दुनिया को, जिसका हम सभी अनुभव करते हैं, किस दृष्टि से देखता है।

दो आदमी लंबे समय से उपेक्षित अपने उद्यान में जाते हैं और देखते है कि घास के अंदर थोड़े-से पुराने पौधे आश्चर्यजनक रूप से हरे-भरे हैं। एक दूसरे से

कहता है : "कोई माली जरूर यहाँ आता रहा है और इन पौधों की देखभाल करता रहा है।" पूछताछ करने पर उन्हें ज्ञात होता है कि किसी पड़ोसी ने कभी किसी को उनके उद्यान में काम करते नही देखा। पहला आदमी दूसरे से कहता है, "माली शायद तब आता रहा होगा जब सब सोए रहते होंगे।" दूसरा कहता है, "नहीं, किसी ने उसे काम करते सुना होता और इसके अलावा जिसने इन पौधों की देखभाल की होती वह इस घास को इतनी न बढ़ने देता।" पहला कहता है, "देखो, ये किस तरह संवारे गए है। यहाँ एक प्रयोजन और सौंदर्यबोध प्रकट होता है। मुझे यकीन है कि कोई आता जरूर है, ऐसा जो इन स्थूल आँखों को नहीं दिखाई देता। मैं समझता हूँ कि जितनी ही अधिक सावधानी से हम खोज करेंगे उतना ही अधिक हमें इसका प्रमाण मिलेगा।" वे बाग की बहुत ही बारीकी से जांच करते है। कभी उन्हें ऐसी नई बातें मिलती हैं जो माली के आने की सूचक हैं और कभी ऐसी बातें मिलती हैं जो इसकी उल्टी बात बताती हैं—कुछ बातें तो यह तक बतानेवाली मिलती हैं कि वहाँ कोई दुष्ट आदमी गड़बड़ करता रहा। बाग की सावधानी से जाँच करने के अलावा वे इस बात का भी अध्ययन करते है कि बगैर देखभाल के छोड़ देने पर बागों की क्या दशा होती है। प्रत्येक वह सब कुछ पता कर लेता है जिसका दूसरे को इसके बारे में और बाग के बारे में पता चलता है। फलतः जब यह सब करने के बाद एक यह कहता है कि "मैं अब भी यह मानता हूँ कि माली आता है" और दूसरा कहता है कि "मैं यह नहीं मानता," तब दोनों के कथनों का अंतर ऐसे किसी अंतर का द्योतक नहीं है जो उन्हें बाग में मिली हुई बातों में हो, जो उन्हें बाग की और अधिक जाँच करने पर प्राप्त तथ्यों में मिलेगा और जो इस बात में मिलेगा कि बगैर देखभाल के बाग कितनी तेजी से बिगड़ जाता है। यहाँ पहुँचकर माली की प्राक्कल्पना प्रयोगात्मक नही रही—अब उसे स्वीकार करनेवाले और उसे अस्वीकार करनेवाले में अंतर इस बात का नहीं रहा कि एक किसी चीज की आशा करता हो और दूसरा उसकी आशा न करता हो। उनमें अंतर क्या है? एक कहता है : "एक माली आता है जिसे न कोई देखता है और न सुनता है। वह केवल अपने कामों के द्वारा स्वयं को प्रकट करता है, जिनसे हम सब परिचित हैं।" दूसरा कहता है : "कोई माली नहीं आता।" और माली के बारे में उनके कथनों में जो अंतर है उसके साथ-साथ बाग के प्रति उनकी भावनाओं में भी अंतर है और

यह भी इस तथ्य के बावजूद कि उनमे से कोई भी उससे ऐसी कोई आशा नही करता जो दूसरा न करता हो।[1]

इस मत के अनुसार नास्तिक की कल्पना के विश्व और आस्तिक की कल्पना के विश्व मे कोई भी ऐसा अतर नही है जिसका इद्रियानुभव से पता चल सके। विश्व के बारे मे ऐसा कोई सत्यापित हो सकनेवाला तथ्य नही है जिसे एक स्वीकार करे और दूसरा अस्वीकार करे। (फिर भी, ऊपर के वर्णन से ऐसा जरूर लगता है जैसे कि मानो उनका एक बात मे मतभेद हो कि "कोई अदृश्य माली" है या नही है। उनके बीच कोई ऐसा अतर नही है जिसका सत्यापन किया जा सके, पर फिर भी, यह कहा जाएगा कि एक अतर है। "दुनिया को देखने के तरीके मे" शुद्ध रूप से वस्तुनिरपेक्ष ऐसा कोई अतर नही होगा जिसमे यह अतर तक शामिल रहे।)

कुछ लेखको[2] ने इससे भी आगे बढकर यह सुझाव दिया है कि ईश्वर मे विश्वास एक छिपा हुआ नैतिक विश्वास मात्र है, कि "ईश्वर अच्छा है" इत्यादि वाक्यो का प्रयोग किसी के एक जीवन-प्रणाली से बँधे हुए होने की बात मात्र का कथन है तथा साथ ही (शायद) ईसा मसीह के जीवन इत्यादि कुछ ऐतिहासिक घटनाओ मे विश्वास को भी प्रकट करता है। परतु यदि केवल यही विश्वास उसमे शामिल है तो उस पर विचार नीतिशास्त्र के शीर्षक के अतर्गत करना अधिक अच्छा होगा। ईश्वरपरक भाषा का प्रयोग अधिकतर लोग ईश्वर मे अपना सचमुच का विश्वास प्रकट करने के लिए करते हैं। यदि उसका प्रयोग किसी बिल्कुल ही भिन्न बात—नैतिक दृष्टिकोण—को प्रकट करने के लिए किया जाता है, विशेषत यदि इससे श्रोताओ के मन मे यह धारणा बनी रहती है कि वक्ता को अब भी उन शब्दो का वही पुराना ईश्वरपरक अर्थ अभिप्रेत है, तो यह एक बौद्धिक बेईमानी लगेगी। हम पहले से इस तरीके को यह कहकर गौरवान्वित नही करेंगे कि वह ईश्वर मे विश्वास को प्रकट करता है।

---

१. "गॉड्स," प्रोसीडिंग्स ऑफ दि अरिस्टोटेलियन सोसाइटी, १८४४-४५। ऐन्टोनी फ्ल्यू द्वारा सपादित लॉजिक ऐंड लैंग्वेज, प्रथम शृखला, पृ० १९१-२१ मे पुनर्मुद्रित। जॉन विजडम-कृत फिलॉसफी ऐंड साइकोअनैलिसिस मे भी यह छपा है।

२ उदाहरणार्थ, आर० बी० ब्रेथवेट, ऐन एम्पीरिसिस्ट्स व्यू ऑफ दि नेचर ऑफ रिलीजस बिलीफ (लदन : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५५)।

फिर भी, एक और मत यह संभव है कि यद्यपि नास्तिक के विश्वास और आस्तिक के विश्वास मे इस लोक मे और इस जीवन मे कोई सत्यापनीय अतर नही है, तथापि वाद मे, मृत्यु के पश्चात्, एक अतर के होने की आशा की जाती है :

दो आदमी एक सडक पर चले जा रहे हैं। एक का विश्वास है कि सडक वैकुण्ठ को जाती है, दूसरे का यह कि वह कहीं नही जाती ; परंतु चूंकि सडक एकमात्र यही है इसलिए दोनो को चलना उसी पर है। दोनो मे से कोई भी पहले इधर नही आया ; इसलिए वे नही कह सकते कि मोड पर उन्हे क्या मिलेगा। अपनी यात्रा के दौरान उन्हें कभी ताजगी और आनंद प्राप्त होना है और कभी कठिनाई और खतरे का अनुभव होता है। उनमे से एक हर समय यह सोचता है कि वह वैकुण्ठ की यात्रा कर रहा है। यात्रा के सुखद अंश को वह प्रोत्साहन मानता है और बाधाओ को वैकुंठ के राजा के द्वारा ली जानेवाली उसके ध्येय की परीक्षा तथा सहनशीलता के उसे सिखाए जानेवाले पाठ, ताकि जब अत मे वह वैकुंठ मे पहुँचे तब वह वहाँ का एक योग्य नागरिक बनकर रहे। लेकिन दूसरा ऐसा कुछ नही मानता और इस यात्रा को एक अपरिहार्य और निरुद्देश्य मटरगश्ती समझता है। चूंकि उसके वश की बात ही नही है, इसलिए अच्छी बात से वह आनद लेता है और बुरी बात को सह लेता है। उसके लिए पहुँचना किसी वैकुंठ मे नही है, उनकी यात्रा का कोई महान् उद्देश्य नही है ; केवल वह सडक है और उसके सुहावने मौसम के मजे तथा खराब मौसम की कठिनाइयाँ।

यात्रा के दौरान दोनो के मध्य विवाद किसी ऐसी बात को लेकर नही हैं जिसका प्रयोग से निर्णय हो सके। सडक पर आगे क्या मिलेगा, इस बार मे उनकी प्रत्याशाएँ भिन्न नही हैं, भिन्न केवल इस बारे मे है कि अत मे उन्हें कहाँ पहुँचना है। फिर भी, जब वे अतिम मोड पर मुडेंगे तब यह प्रकट हो जाएगा कि उनमे से एक की बात बराबर सही रही और दूसरे की गलत। इस प्रकार उनका विवाद प्रयोगापेक्षी तो नही था पर था वह एक सच्चा विवाद। सडक के बारे मे केवल उनकी भावनाओ मे अतर नही था, क्योकि वस्तुस्थितियो को देखते हुए एक की भावना उचित थी और दूसरे की अनुचित। परिस्थिति की उनकी परस्पर विरोधी व्याख्याएँ एक-दूसरे को चुनौती देनेवाले सचमुच मे दावे हैं जिन्हे अपनी पुष्टि के लिए भविष्य मे मिलनेवाले प्रमाण

की अपेक्षा है। ...ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी इस बात की आशा नहीं करते (और न यह आवश्यक है) कि काल-क्रम में एक के बाद एक जो घटनाएँ होंगी उनमें कोई भिन्नता होगी। इतिहास के आंतरिक घटनाक्रम के बारे में उनकी *भिन्न प्रत्याशाएँ* नहीं हैं (और न उनके भिन्न होने की जरूरत है)। फिर भी, ईश्वरवादी यह आशा करता है और अनीश्वरवादी यह आशा नहीं करता कि जब इतिहास पूरा हो जाएगा तब यह पता चलेगा कि उसकी एक विशेष चरम अवस्था में परिणति हुई है और उससे एक विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति हुई है, अर्थात् "ईश्वर के पुत्रों" की सृष्टि हुई है।[1]

यदि सचमुच ऐसा हुआ तो उससे निश्चय ही हमारी सब समस्याएँ हल नहीं होंगी, जैसा कि लेखक स्वयं भलीभाँति जानता है। यदि कोई शरीर की मृत्यु के बाद भी बना रहे, तो यह ईश्वरवाद का प्रमाण नहीं होगा ; वह जगत् का एक और तथ्य होगा, और शायद आश्चर्यजनक तथ्य होगा। वह अमरत्व का प्रमाण होगा, परंतु ईश्वर के *अस्तित्व* का प्रमाण क्या होगा ? अमरत्व में विश्वास करनेवाले अधिकतर लोगों का उत्तर है "ईश्वर के साक्षात् दर्शन"। परंतु यदि ईश्वर कोई प्रत्यक्षगम्य चीज नहीं है तो इसमें कठिनाई होगी। "लेकिन क्या मरणोत्तर जीवन में इंद्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा ?" पुनरूज्जीवित शरीर में हमारी ज्ञानेन्द्रियां होंगी और हम अनेक चीजों को देख सकेंगे, पर क्या उन चीजों में कोई ईश्वर होगा ? क्या वह एक और जीव मात्र नहीं होगा—शायद अन्य जीवों से अधिक बड़ा और अधिक अच्छा, पर फिर भी एक जीव ही, जीवों के सभी दोषों और उनकी सभी कमजोरियों से युक्त (जगत् को केवल एक विशेष स्थान और परिप्रेक्ष्य से देखनेवाला, सब बातों को जानने में असमर्थ इत्यादि) ? "तब शायद वह प्रत्यक्षगम्य जंतु ईश्वर नहीं होगा बल्कि ईश्वर की एक अभिव्यक्ति होगा।" पर आप किसी प्रत्यक्षगोचर जंतु के बारे में कभी यह *जान* ही कैसे सकेंगे कि वह एक अप्रत्यक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति है ? और यदि ईश्वर स्वयं प्रत्यक्षगम्य नहीं है तो मरणोत्तर जीवन में भी उसके अस्तित्व का प्रमाण किसे कहा जाएगा ? ऐसा लगेगा कि जो भी प्रमाण होगा वह परोक्ष ही हो सकेगा, जैसा कि इस समय इलेक्ट्रोन के अस्तित्व का प्रमाण है। परंतु ईश्वर के प्रसंग में परोक्ष प्रमाण क्या होगा ?

---

१. जॉन हिक, फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ० १०१-२।

फिर भी, एक और मत यह संभव है कि यद्यपि नास्तिक के विश्वास और आस्तिक के विश्वास मे इस लोक मे और इस जीवन मे कोई सत्यापनीय अतर नही है, तथापि बाद मे, मृत्यु के पश्चात्, एक अतर के होने की आशा की जाती है :

दो आदमी एक सडक पर चले जा रहे है। एक का विश्वास है कि सडक वैकुण्ठ को जाती है, दूसरे का यह कि वह कहीं नही जाती ; परंतु चूंकि सडक एकमात्र यही है इसलिए दोनो को चलना उसी पर है। दोनो मे से कोई भी पहले इधर नही आया ; इसलिए वे नही कह सकते कि मोड पर उन्हे क्या मिलेगा। अपनी यात्रा के दौरान उन्हें कभी ताजगी और आनंद प्राप्त होना है और कभी कठिनाई और खतरे का अनुभव होता है। उनमे से एक हर समय यह सोचता है कि वह वैकुण्ठ की यात्रा कर रहा है। यात्रा के सुखद अश को वह प्रोत्साहन मानता है और बाधाओ को वैकुठ के राजा के द्वारा ली जानेवाली उसके ध्येय की परीक्षा तथा सहनशीलता के उसे सिखाए जानेवाले पाठ, ताकि जब अत मे वह वैकुठ मे पहुंचे तब वह वहाँ का एक योग्य नागरिक बनकर रहे। लेकिन दूसरा ऐसा कुछ नही मानता और इस यात्रा को एक अपरिहार्य और निरुद्देश्य मटरगश्ती समझता है। चूंकि उसके वश की बात ही नही है, इसलिए अच्छी बात से वह आनद लेता है और बुरी बात को सह लेता है। उसके लिए पहुँचना किसी वैकुंठ मे नही है, उनकी यात्रा का कोई महान् उद्देश्य नहीं है , केवल वह सडक है और उसके सुहावने मौसम के मजे तथा खराब मौसम की कठिनाइयाँ।

यात्रा के दौरान दोनो के मध्य विवाद किसी ऐसी बात को लेकर नही है जिसका प्रयोग से निर्णय हो सके। सडक पर आगे क्या मिलेगा, इस बार मे उनकी प्रत्याशाएँ भिन्न नही हैं , भिन्न केवल इस बारे मे है कि अत मे उन्हें कहाँ पहुँचना है। फिर भी, जब वे अतिम मोड पर मुडेंगे तब यह प्रकट हो जाएगा कि उनमे से एक की बात बराबर सही रही और दूसरे की गलत। इस प्रकार उनका विवाद प्रयोगापेक्षी तो नही था पर था वह एक सच्चा विवाद। सडक के बारे मे केवल उनकी भावनाओ मे अतर नही था, क्योकि वस्तुस्थितियो को देखते हुए एक की भावना उचित थी और दूसरे की अनुचित। परिस्थिति की उनकी परस्पर विरोधी व्याख्याएं एक-दूसरे को चुनौती देनेवाले सचमुच ये दावे हैं जिन्हे अपनी पुष्टि के लिए भविष्य मे मिलनेवाले प्रमाण

की अपेक्षा है। ...ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी इस बात की आशा नहीं करते (और न यह आवश्यक है) कि काल-क्रम में एक के बाद एक जो घटनाएँ होंगी उनमें कोई भिन्नता होगी। इतिहास के आंतरिक घटनाक्रम के बारे में उनकी भिन्न प्रत्याशाएँ नहीं हैं (और न उनके भिन्न होने की जरूरत है)। फिर भी, ईश्वरवादी यह आशा करता है और अनीश्वरवादी यह आशा नहीं करता कि जब इतिहास पूरा हो जाएगा तब यह पता चलेगा कि उसकी एक विशेष चरम अवस्था में परिणति हुई है और उससे एक विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति हुई है, अर्थात् "ईश्वर के पुत्रों" की सृष्टि हुई है।[1]

यदि सचमुच ऐसा हुआ तो उससे निश्चय ही हमारी सब समस्याएँ हल नहीं होंगी, जैसा कि लेखक स्वयं भलीभाँति जानता है। यदि कोई शरीर की मृत्यु के बाद भी बना रहे, तो यह ईश्वरवाद का प्रमाण नहीं होगा ; वह जगत् का एक और तथ्य होगा, और शायद आश्चर्यजनक तथ्य होगा। वह अमरत्व का प्रमाण होगा, परंतु ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण क्या होगा ? अमरत्व में विश्वास करनेवाले अधिकतर लोगों का उत्तर है "ईश्वर के साक्षात् दर्शन"। परंतु यदि ईश्वर कोई प्रत्यक्षगम्य चीज नहीं है तो इसमें कठिनाई होगी। "लेकिन क्या मरणोत्तर जीवन में इंद्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा ?" पुनरुज्जीवित शरीर में हमारी ज्ञानेन्द्रियां होंगी और हम अनेक चीजों को देख सकेंगे, पर क्या उन चीजों में कोई ईश्वर होगा ? क्या वह एक और जीव मात्र नहीं होगा—शायद अन्य जीवों से अधिक बड़ा और अधिक अच्छा, पर फिर भी एक जीव ही, जीवों के सभी दोषों और उनकी सभी कमजोरियों से युक्त (जगत् को केवल एक विशेष स्थान और परिप्रेक्ष्य से देखनेवाला, सब बातों को जानने में असमर्थ इत्यादि) ? "तब शायद वह प्रत्यक्षगम्य जंतु ईश्वर नहीं होगा बल्कि ईश्वर की एक अभिव्यक्ति होगा।" पर आप किसी प्रत्यक्षगोचर जंतु के बारे में कभी यह जान ही कैसे सकेंगे कि वह एक अप्रत्यक्ष सत्ता की अभिव्यक्ति है ? और यदि ईश्वर स्वयं प्रत्यक्षगम्य नहीं है तो मरणोत्तर जीवन में भी उसके अस्तित्व का प्रमाण किसे कहा जाएगा ? ऐसा लगेगा कि जो भी प्रमाण होगा वह परोक्ष ही हो सकेगा, जैसा कि इस समय इलेक्ट्रोन के अस्तित्व का प्रमाण है। परंतु ईश्वर के प्रसंग में परोक्ष प्रमाण क्या होगा ?

---

१. जॉन हिक, फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ० १०१-२।

यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर ईश्वर में विश्वास करनेवालों ने जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया है। जब तक वे ऐसा नहीं करते तब तक के लिए हमें यह निष्कर्ष निकालना होगा कि किसी "प्रत्यक्षातीत दिव्य सत्ता" के पक्ष में उस तरह का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिस तरह का प्रत्यक्षातीत प्रोटोन और इलेक्ट्रोन के अस्तित्व का है—और कि अब तक उस तथाकथित प्राक्कल्पना का वस्तुतः कोई स्पष्ट अर्थ नहीं बताया गया है। बात न केवल यह है कि क का कोई प्रमाण नहीं है, बल्कि यह भी है कि जो ऐसे प्रमाण का होना बताते हैं उन्होंने इस बात का साफ साफ ब्यौरा नहीं दिया है कि वह क है क्या जिसका समर्थक उस प्रमाण को मान लिया गया है।

अध्याय ८

भौतिक जगत् का हमारा ज्ञान

यहाँ तक हम यह मानकर चले है कि इंद्रियानुभव से हमे भौतिक जगत् का ज्ञान हो जाता है। जब हमने यह पूछा था कि हम इंद्रियानुभविक कथनो की सत्यता के बारे मे कभी पूरी तरह आश्वस्त हो सकते है या नही, तब हमने यह कहा था कि यदि हम एक किताब को देखते है, छूते है, इत्यादि तो हम उसके अस्तित्व पर सदेह नही कर सकते—पर उस समय हमने इस बात के बारे मे सदेह नही प्रकट किया था कि हम दृष्टि और स्पर्श के द्वारा अपने आस-पास की वस्तुओ के अस्तित्व और स्वरूप को सचमुच जान सकते हैं। जब हमने यह पूछा था कि "पानी २१२° फा० पर खौलता है" इत्यादि प्राकृतिक नियमो का सत्यापन कैसे हो सकता है, तब हमने यह सुझाव दिया था कि उन्हे घटाकर ऐसे एकव्यापी कथनो का रूप दिया जा सकता है जैसे, "पानी का यह नमूना २१२° फा० पर खौलता है," "वह नमूना २१२° पर खौलता है" इत्यादि, पर हमने कभी इस बात मे सदेह नही किया कि हम इंद्रियानुभव के आधार पर इन एकव्यापी कथनो को सत्य जान सकते हैं। जब हमने इलेक्ट्रोन इत्यादि अप्रेक्षणीय चीजो के बारे मे जो कथन है उनके अर्थ का विश्लेषण किया था, तब हमने यह पूछा था कि ऐसे कथनो को घटाकर उन कथनो का रूप दिया जा सकता है या नही जो देखी और छुई जा सकने वाली चीजो के बारे मे हो, जैसे प्रयोगशाला के उपकरणो और सकेतको के पाठ्याको के बारे मे—यहाँ भी हमने कभी यह सदेह नही किया कि ये चीजें इंद्रियानुभव से जानी जा सकती हैं। परतु अब इन मान्यताओ को सदेह की दृष्टि से देखने का समय आ गया है।

लेकिन कोई पूछ सकता है कि इन्हे सदेह की दृष्टि से देखा ही क्यो जाए? यह ठीक है कि दर्शन का काम एक बडी सीमा तक हमारे विश्वासो में सदेह करना है, परतु क्या पेडो, पहाडो और तारो वाली इस दुनिया मे हमारा विश्वास सदेहातीत नहीं है? यदि इस विश्वास मे हम सदेह प्रकट करते हैं तो ऐसा रह ही क्या जाता है जिसमे सदेह प्रकट न किया जा सके? यदि हम

न केवल कारणता और आगमन मे सदेह करते है अपितु भौतिक जगत् मे अपने सीधे-सादे विश्वास को भी सदेह की दृष्टि से देखते है, तो क्या यह कोरा पागलपन नही है ? क्या हम सब अपने जीवन के हर क्षण मे भौतिक जगत् मे अडिग विश्वास नही रखते—और वह भी ऐसे ही नही वल्कि दृढ हेतुओ से, क्योकि हम भौतिक जगत् मे चीजो को बराबर देखते और छूते रहते हैं ? इससे अधिक निश्चयात्मक क्या होगा ? मेरे सामने एक दृश्य है । मैं कहूँगा कि मैं एक मेज देख रहा हूँ जिसके ऊपर कुछ कागज है, एक आलमारी मे किताबें रखी है, कई कुर्सियाँ है, दीवारें है और एक खिडकी है, और खिडकी के वाहर दूर मकान और पेड है । मैं इन चीजो को देखता हूँ और अगर चाहूँ तो उन्हे छू भी सकता हूँ । अत यदि आप पूछे कि "आप कैसे जानते है कि इन चीजो का अस्तित्व है ?" तो मैं यह जवाब दे सकता हूँ, "मैं उन्हे सचमुच देखता और छूता हूँ । यदि वे होती ही नही तो मैं उन्हे देख और छू कैसे पाता ।" इस सब मे ऐसा क्या है जो समस्याजनक हो ? जो भी हो, भौतिक जगत् की वास्तविकता के बारे मे हमारे अनेक विश्वासो मे अनेक लोगो ने काफी सोच-विचार के बाद सदेह प्रकट किया है ।

२३ वास्तववाद

प्रकृत वास्तववाद

साधारण आदमी जिसने प्रत्यक्ष और भौतिक जगत् की समस्याओ के बारे मे अधिक चिंतन नही किया है एक वास्तववादी होता है (इस अत्यधिक भिन्न अर्थों वाले शब्द के एक अर्थ मे) वह यह मानता है कि भौतिक जगत् अस्तित्व रखता है और, हम उसे देखें या न देखे, वह सदैव बना रहता है और कि हम उसके बारे मे अनेक बातें जान सकते है । नीचे के पाँच विश्वास ऐसे प्रतीत होते है जो लगभग सभी आदमियो मे समान है, और उनमे से पहले चार को मिलाकर जो मत बनता है उसे कभी-कभी "प्रकृत वास्तववाद" या "सहज वास्तववाद" कहा गया है

१. भौतिक वस्तुओ (पेडो, इमारतो, पर्वतो इत्यादि) की एक दुनिया का अस्तित्व है ।

२. इन वस्तुओ से सबधित कथनो का सत्य होना इद्रियानुभव से जाना जा सकता है ।

३. ये वस्तुएँ न केवल तब अस्तित्व रखती हैं जब उनका प्रत्यक्ष हो रहा होता है बल्कि तब भी जब उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। वे प्रत्यक्ष से स्वतंत्र हैं।

४. अपनी इंद्रियों के द्वारा हम भौतिक जगत् को बहुत-कुछ वैसा ही देखते है जैसा वह है। उसके ज्ञान के हमारे दावे मुख्य अंशों में उचित होते हैं।

५. भौतिक वस्तुओ के जो संवेदन हमें होते है उनके कारण वे भौतिक वस्तुएँ स्वयं ही होते हैं। उदाहरणार्थ, कुर्सी का मुझे जो अनुभव होता है उसका कारण कुर्सी स्वयं ही है।

फिर भी, इनमें से एक भी प्रतिज्ञप्ति ऐसी नहीं है जिसमें लोगों ने व्यवस्थित रूप से चिंतन-मनन करने के बाद संदेह प्रकट न किया हो। ऐसे संदेह का क्या आधार हो सकता है? यहाँ थोड़ी-सी वे बातें दी जा रही हैं जिनसे संदेह पैदा हुआ है :

१. जो हम देखते हैं वह कम-से-कम आंशिक रूप में क्या हमारी इंद्रियों के स्वरूप पर निर्भर नहीं होता? यदि हमारी आँखें भिन्न हुई होतीं तो जो हम देखते है वह भी भिन्न होता; यदि हमारी स्वाद-कलिकाएँ भिन्न हुई होती तो हमे जिन स्वादों का अनुभव होता है वे भी भिन्न होते। तब हमें यह मानने का क्या अधिकार है कि हम चीजों को वैसी ही देखते है जैसी वे सचमुच है और जो उनका सचमुच स्वाद है वही हमें लगता है? असल में, हमारे लिए यह जानना ही कैसे संभव है कि चीजें वास्तव में कैसी हैं या वे अपने आप में *वास्तव में किस तरह की हैं? मान लीजिए कि हमारी दो आँखें* एक वस्तु पर केंद्रित होकर एक बिंब प्रदान नहीं करतीं और फलतः हम हर चीज को दो देखते है। अथवा मान लीजिए कि घोड़ों की तरह हमारी प्रत्येक आँख सिर के एक तरफ होती, जिससे हम (शायद) गहराई न देख सकते। अथवा यदि रेटिना की शलाकाएँ और शंकु भिन्न होते या होते ही नहीं, तो इस समय हम जो रंग देखते हैं उन्हें हम न देख पाते—वास्तव में, अधिकतर स्तनधारी जंतु रंग-दृष्टि से हीन होते है और वे रंगों को एक-दूसरे से अलग नहीं पहचान सकते, ये केवल काले और सफेद की विभिन्न मात्राएँ ही देख सकते हैं (जैसे काली-सफेद फिल्म में)। इसके विपरीत मधुमक्खियाँ पराबैंगनी को देख सकती हैं जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अथवा मान लो कि हमारी एक

हजार आँखें होतीं, जैसी कुछ कीटों की होती हैं। क्या तब हमें दुनिया बहुत भिन्न न दिखाई देती ?

इसी प्रकार ऐसा हो सकता है कि हमारी सुनने, सूंघने, चखने और स्पर्श की इंद्रियां जैसी हैं उनसे बिल्कुल भिन्न हुई होतीं। हमारी अन्य ज्ञानेंद्रियां भी हो सकती थीं जिनकी प्रकृति की हम इस समय कल्पना तक नहीं कर सकते और जिनसे हमें ऐसी बातों की जानकारी मिलती जो स्वयं भी इस समय हमारे लिए कल्पनातीत हैं। तब यह दुनिया हमें क्या बहुत ही भिन्न न दिखाई देती ? (हम "दिखाई देती" भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रयोग में दृष्टि छिपी हुई है ; और इस समय हम जिन काल्पनिक ज्ञानेंद्रियों की बात कर रहे हैं उनके हम नाम नहीं बता सकते।) मंगल-ग्रह में, एच० जी० वेल्स की कल्पना के अनुसार, निवास करने वाले "अत्यधिक बुद्धिमान् कटलफिश" को चीजें कैसी दिखाई देंगी (अथवा "लगेंगी" कहना चाहिए) ? जब तक हमारे प्रत्यक्ष की वस्तुएँ प्रत्यक्ष करानेवाली ज्ञानेंद्रियों की प्रकृति पर इतनी अधिक निर्भर हैं तथा जब तक हम अपनी ज्ञानेंद्रियों को चश्मे की तरह हटा देने और अन्यों को आजमाने में असमर्थ हैं, तब तक हमें इस बात का कैसे पक्का यकीन हो सकता है कि हमें चीजों का प्रत्यक्ष वैसा ही हो रहा है जैसी वे है ? (सामान्य शब्द "प्रत्यक्ष" का प्रयोग हम सुनने, देखने, सूंघने इत्यादि के लिए करते हैं, और "इत्यादि" का ऐसी अन्य ज्ञानेंद्रियों को भी शामिल करने के लिए जो विश्व में अन्यत्र निवास करनेवाले जीवों को प्राप्त हों।) असल में, क्या हमें यह कहने का कोई अधिकार है भी कि भौतिक जगत् वस्तुतः कैसा है ?

२. ऐसे जाने-पहचाने उदाहरण हैं जिनमें अपनी वर्तमान ज्ञानेंद्रियों से भी हम चीजों को वैसी नहीं देखते जैसी वे हैं। इन्हें हम भ्रम कहते हैं। छड़ी जब आधी पानी के अंदर होती है तब वह टेढ़ी दिखाई देती है, हालांकि है वह वास्तव में सीधी। दूरवर्ती पहाड़ के ऊपर पेड़ धूसर-नीले दिखाई देते हैं, हालांकि साधारणतः हम कहेंगे कि वे गहरे हरे हैं। म्युलर-भ्रम में दो रेखाएं (एक वह जिसमें तीरों का मुंह अंदर की ओर है और दूसरी वह जिसमें उनका मुंह बाहर की ओर है) लंबाई में भिन्न लगती है, हालांकि उनकी लंबाई बराबर है। पीलापन लिए हुए कृत्रिम प्रकाश में नीली पोशाक काली दिखाई देती है। पास आती हुई रेलगाड़ी की सीटी ऊंची लगती है और दूर जाती हुई रेलगाड़ी की नीची, हालांकि उसका तारत्व बराबर वही रहता है

(ऐसा हमारा विश्वास है)। गुनगुने पानी का बर्तन एक हाथ को (जो अभी-अभी एक गरम तवे के पास था) ठंडा लगता है और दूसरे हाथ को (जो अभी-अभी बर्फ के पानी में था) गरम लगता है, हालाँकि बर्तन के पानी का तापमान बराबर एक ही है। इसमें कोई संदेह नही है और सभी इस बात को जानते है कि इंद्रियानुभव में हम कभी-कभी धोखा खा जाते हैं। हर आदमी इस अंतर को जानता है कि चीजे दिखाई कैसी देती हैं और वे वास्तव में कैसी हैं। हम प्रायः चीजों को "वैसी देखते है जैसी वे होती नही हैं।" (कभी-कभी इस बात का कारण हमारे अंदर होता है और कभी-कभी वाहर। पर ऐसी सब घटनाओं को भ्रम कहा जाता है।)

३. प्रायः ऐसा होता है कि वस्तु की प्रतीति होती है पर वस्तु होती बिल्कुल भी नही है। हम "ऐसी चीजें देखते है जो वहाँ होती ही नही है।" यह भ्रम का एक और भी उग्र रूप है। नशे में चूर पियक्कड़ को गुलाबी चूहे दीवार पर ऊपर-नीचे जाते दिखाई देते है, पर ऐसे कोई चूहे होते नही। अपनी आँख को जरा दबाइए और आप देखेंगे कि मोमबत्तियाँ दो है, पर है वहाँ एक ही। अगर आप बड़ी उत्सुकता से किसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं तो आप संध्या को दस बार दरवाजे पर दस्तक सुनेंगे, हालांकि असल मे दस्तक किसी ने नही दी। एक आदमी टाँग मे तेज दर्द महसूस कर सकता है, हालाँकि वह टाँग कुछ समय पहले काटकर अलग कर दी गई थी।

यह प्रत्यक्ष की एक ऐसी गलती है जो भ्रम से भी अधिक धोखा देनेवाली है। यहाँ तक हम यह मानकर चले है कि इस बात के बावजूद कि चीजो का हमारा प्रत्यक्ष गलत होता है और हमारे प्रत्यक्ष का स्वरूप प्रत्यक्ष कराने वाली ज्ञानेंद्रिय के स्वरूप पर आश्रित होता है, कोई वस्तु होती जरूर है जिसका प्रत्यक्ष करना होता है। परंतु अपभ्रम में ऐसा लगता है कि जिसे हम देखते है उसका अस्तित्व तक नही होता, कम-से-कम प्रत्यक्ष के काल और स्थान मे नही होता।

४. इस प्रकार आधार को तैयार कर लेने के बाद हम इससे भी कहीं अधिक संशयशील हो सकते हैं। हमारी इंद्रियाँ हमे कभी-कभी धोखा देती है। अच्छा; तो फिर हम कैसे जानते हैं कि वे हमेशा ही हमे धोखा नही देती ? अगर कभी-कभी देती हैं तो सदैव क्यों नही ? हो सकता है कि सारी दुनिया एक विराट् अपभ्रम हो ; शायद वह है ही बिल्कुल नही ; शायद हम बराबर

धोखे में पड़े हैं। वह निस्संदेह गुलाबी चूहों से या मृगमरीचिका से जो प्यासे होने पर मरुस्थल में दिखाई देती है और एकाएक लुप्त हो जाती है, कहीं अधिक कुशलता से रचा हुआ धोखा होगा। क्या यह संभव नही है ? हम कैसे जानते है कि नहीं है ?

देकार्त (१५९६-१६५०) ने स्वयं से कहा था कि शायद कोई दुष्ट शैतान काम कर रहा है जिसने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि हमें सचमुच की भौतिक वस्तुओं की दुनिया के अस्तित्व में विश्वास हो जाए, जबकि वास्तव में ऐसी वस्तुएँ हैं ही नहीं। ऐसा है जैसे कि मानो वे हों—इतनी अधिक वास्तविक-जैसी कि हम अंतर कभी जान ही नहीं पाएँगे। इस प्रकार देकार्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हम कभी नहीं जान सकते कि जो हमारे आगे है वह सचमुच एक मेज ही है, बाहर सचमुच के पेड़ है, इत्यादि। इन सबमें हम संदेह कर सकते हैं। किसमें हम संदेह नही कर सकते ? केवल इस बात में कि मेरा, संदेह करनेवाले का, कम-से-कम संदेह की अवधि में, अस्तित्व है।

तो फिर भौतिक जगत् के बारे में क्या तय रहा ? हम कैसे जानते हैं कि शैतान बराबर हमें धोखे में नही रखे हुए है ? देकार्त ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि ईश्वर धोखेबाज नहीं है और इसलिए वह इसके जैसी महत्वपूर्ण बात में हमारे साथ धोखा नहीं करेगा। परंतु बात को केवल अपने बारे में और अपने संदेह से शुरू करके वह ईश्वर तक पहुँचा ही कैसे ? और यह कैसे सिद्ध हो पाएगा कि ईश्वर धोखेबाज नहीं है ? भौतिक जगत् के बारे में संदेह इस आशंका के रूप में भी हो सकता है कि यह सब एक स्वप्न है—कि शायद अगले ही क्षण हम जाग पड़ेंगे और जान लेंगे कि हम स्वप्न देख रहे थे।

इस अध्याय में हम ऐसी संभावनाओं पर विचार करेंगे। पर प्रारंभ हम एक मामूली बात से करेंगे। अभी हम प्रतिज्ञप्ति १, २ और ३ को संदेह किए बिना छोड देते है और ४ तथा ५ को अधिक बारीकी से देखते है। इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों को संदेहास्पद बनाने के लिए हमें *अपनी सामान्य बुद्धि पर* अधिक जोर नही डालना पड़ेगा।

प्रतिनिधानात्मक वास्तववाद

प्रतिनिधानात्मक वास्तववाद के मुख्य प्रतिपादक जॉन लॉक (१६३२-१७०४) का विश्वास था कि भौतिक वस्तुएँ प्रत्यक्ष से स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं, पर ये

वस्तुएँ वास्तव मे जैसी है उससे अनेक बातों में भिन्न दिखाई देती हैं। दैनिक जीवन में हम कहते है कि पेड़ का एक आकार है, एक शक्ल है, एक भार है, एक रग है, वह छूने मे इतना सख्त है इत्यादि। परतु लॉक ने कहा है कि ये सब गुण एकही प्रकार के नही हैं। उसने चीजों के गुणो को मूल और गौण या प्राथमिक और द्वितीयक, इन दो वर्गों मे विभाजित किया है।

किसी वस्तु के मूल गुण वे है जो उसमें स्वतः होते है, उसके प्रत्यक्ष पर कतई आश्रित नही होते, अर्थात् जो उसमें तब भी बने रहेंगे जब कोई चेतन प्राणी उन्हे देखनेवाला न रहे। ये आम तौर पर वे गुण होते है जिनसे विज्ञान का संबंध होता है—जिन्हें मापा जा सकता है। वस्तु का प्रत्यक्ष हो या नहीं, उसमे लंबाई-चौड़ाई होती है, शक्ल होती है, भार होता है। ये गुण वस्तु मे सहज होते हैं। परंतु गौण गुण भी होते हैं, जैसे रंग, गंध, स्वाद, और स्पर्श जो कि असल मे वस्तु के गुण बिल्कुल नहीं हैं। उदाहरणार्थ, रंग को लीजिए : जो रंग किसी वस्तु मे दिखाई देता है उसमें बड़ी भिन्नता होती है—तेज रोशनी मे चीज एक रंग की लगती है, कम रोशनी में किसी और रंग की और अंधेरे में काली लगती है। वह रोशनी के ऊपर निर्भर होता है और प्रेक्षक की अवस्था पर भी : वर्णांध व्यक्ति को कुछ रंग बिल्कुल नही दिखाई देते (हालांकि शक्ल को वह देखता है), और पीलिया के रोगी को हर चीज पीली-सी दिखाई देती है। ये रंग भिन्न उपकरणों से देखने पर भी भिन्न दिखाई देंगे : साधारण प्रकाश मे रक्त लाल दिखाई देता है और हम कहते है कि वह लाल है, परंतु जरा सूक्ष्मदर्शी से देखिए। आप पाएँगे कि वह पारदर्शी है तथा उसमें थोडे-से लाल कण हैं। और भी शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी से देखने पर शायद वह और भिन्न दिखाई देगा। इन सब बातो को देखते हुए क्या हम सचमुच बता सकते हैं कि उसका यथार्थ रग क्या है या उसका कोई रग है भी ?

गंध, स्वाद और स्पर्शीय गुणों के बारे मे भी इसी तरह की बात कही जा सकती है। यदि आपने अभी-अभी मीठी टिकियाएँ नही बल्कि कोई खट्टी चीज खाई है तो केक का एक टुकड़ा आपको ज्यादा मीठा लगेगा। किसी चीज की गंध आपकी घ्राणेंद्रिय की प्रकृति पर तथा इस बात पर भी निर्भर होती है कि थोडी देर पहले आपने कोई चीज सूंघी है या नहीं और वह क्या थी। चीज की गंध या उसका स्वाद यथार्थत. क्या है ? क्या उसमे सचमुच कोई गंध या स्वाद है ? क्या चीज की यथार्थ गंध, उसका यथार्थ रग,

उसका यथार्थ स्वाद इत्यादि कोई होता है ?

लॉक का मत यह था कि रंग, गंध, स्वाद वस्तु के सहज गुण नहीं है। वे वस्तु के गौण गुणों से उत्पन्न हमारे "प्रत्यय" मात्र हैं। लॉक गौण गुण को वस्तु का यथार्थ गुण बिल्कुल भी नहीं मानता। वस्तु के अंदर तो प्रत्यक्षकर्ता के मन में कुछ ऐंद्रिय अनुभवों ("प्रत्ययों") को उत्पन्न करने की एक शक्ति मात्र होती है। स्वयं वस्तु में कोई रंग नहीं होता; कहीं उसके "असंवेद्य भागों" में—अर्थात् उसके अंदर के अणुओं के विन्यास में—प्रत्यक्षकर्ताओं के अंदर एक निश्चित प्रकार का इंद्रियानुभव उत्पन्न करने की शक्ति मात्र होती है। जिन चीजों को हम लाल कहते हैं वे स्वयं लाल नहीं होतीं: उनमें हमारे अंदर लाल कहलानेवाले इंद्रियानुभव को उत्पन्न करने की केवल शक्ति ही होती है; और जिन चीजों को हम नीली कहते हैं उनके "असंवेद्य भाग" कुछ भिन्न होते हैं और वे हमारे अंदर नीले कहलानेवाले इंद्रियानुभव को उत्पन्न करने की शक्ति रखती हैं। शक्ति वस्तु के अंदर होती है पर लाल और नीला हमारे मन के अंदर केवल प्रत्ययों के रूप में ही अस्तित्व रखते हैं। ये इंद्रियानुभव क्या हैं, यह बात परिस्थितियों पर निर्भर करेगी: जिस चीज को हम लाल कहते हैं वह अंधेरे में या एक वर्णांध व्यक्ति के अंदर या पीलिया के रोगियों में लाल इंद्रियानुभव को पैदा करने की शक्ति नहीं रखती।

तो हमारे अंदर गौण गुणों के द्वारा उत्पन्न अनुभव वस्तु के गुण केवल व्युत्पन्न अर्थ में ही होते है, क्योंकि वास्तव में वे वस्तु के अंदर नहीं होते: उसके अंदर तो हमारे मन में कुछ ऐंद्रिय अनुभवों को पैदा करने की केवल शक्ति ही होती है जिसे हम (लॉक के अनुसार गलती से) वस्तु के यथार्थ गुण मान बैठते हैं। वस्तु में वह गुण केवल इस अर्थ में होता है कि वह हमारे अंदर उस प्रत्यय को पैदा करने की शक्ति रखती है।

तो फिर मूल गुणों के बारे में क्या कहेंगे ? ऐंद्रिय अनुभव ("प्रत्यय") तो हमें इनके भी होते हैं। तब इनका इन्हें उत्पन्न करनेवाली वस्तु से क्या संबंध है ? लॉक के मत से यहाँ संबंध सादृश्य का है: एक वस्तु सचमुच ही वर्गाकार होती है और दिखाई भी वर्गाकार देती है; एक दूसरी गोल है और गोल ही दिखाई देती है; यह वस्तु उससे बड़ी है और ऐसी ही हमारी इंद्रियों को प्रतीत होती है। हमारे मूल गुणों के ऐंद्रिय अनुभव वस्तु के गुणों के सदृश होते हैं।

संक्षेप में यही लॉक का मूल और गौण गुणों के अंतर के बारे में तथा उनके द्वारा उत्पन्न ऐंद्रिय अनुभवों के बारे में मत था। ऐंद्रिय अनुभवों की उत्पत्ति के बारे में उसके मत की चर्चा करने से पहले हम यह देख लेते हैं कि लॉक ने जो अंतर किया है उसके बारे में और क्या कहा जा सकता है। क्लोयन का पादरी जॉर्ज बर्कली (१६८५-१७५३), जिसके मत की अधिक चर्चा शीघ्र ही की जाएगी, लॉक का सबसे कटु आलोचक था। वह मानता था कि मूल और गौण गुणों का अंतर बिल्कुल ही निराधार है। उसके मुख्य हेतु ये थे :

१. अवियोज्यता—बर्कली की दलील यह थी कि गौण गुण मूल गुणों से पृथक् नहीं रह सकते : यदि वस्तु में एक न हो तो दूसरा भी नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, *रंग और आकृति अवियोज्य हैं। आप जिसे चाहें उस* आकृति पर विचार करके देख लीजिए। आप श्यामपट्ट के ऊपर कोई आकृति बना लीजिए या कैन्वस के ऊपर कोई चित्र बना लीजिए। उसमें रंग के अलावा क्या भरा जा सकता है ? बर्कली के अनुसार आकृति केवल एक रंग की सीमारेखा है। आप रंग के बिना किसी शक्ल की कल्पना तक नहीं कर सकते। शक्ल चाहे चौकोर हो, गोल हो, या कोई भी हो, उसको भरनेवाला यह या वह रंग होना चाहिए। (काला और सफेद निस्सदेह रंग गिने जाएँगे। "काला कोई रंग नहीं है बल्कि रंग का अभाव है," इत्यादि हम केवल तभी कहते हैं जब हम रंगों की *भौतिक व्याख्या* पर विचार करते हैं।) परंतु यदि शक्ल वस्तुओं का एक मूल गुण है तो रंग भी मूल गुण है ; और यदि रंग मूल गुण नहीं है तो शक्ल भी नहीं है।

२. परिवर्तनशीलता—बर्कली ने कहा था कि *पर्यावरण की स्थितियों तथा प्रेक्षक की आंतरिक अवस्थाओं के अनुसार एकही वस्तु के सचमुच ही अलग-अलग रंग दिखाई दे सकते हैं।* परंतु यदि परिवर्तनशीलता विषयिनिष्ठता को सिद्ध करती है—अर्थात् यदि उससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु स्वयं इन गुणों से युक्त नहीं होती—तो लॉक का तर्क जरूरत से ज्यादा ही सिद्ध कर देता है, क्योंकि वह न केवल रंगों और गंधों पर लागू होता है अपितु आकृति, परिमाण तथा अन्य तथाकथित मूल गुणों पर भी लागू होता है। *अलग-अलग कोणों से देखने पर चीज की आकृति अलग-अलग लगेगी :* ऊपर से देखने पर रुपया वृत्ताकार दिखाई देता है और विभिन्न कोणों से दीर्घवृत्तीय—

दीर्घवृत्तीयता की मात्रा कोण की तिर्यक्ता पर निर्भर होती है। और चीजो का परिमाण भी प्रेक्षक की दूरी के अनुसार बदला हुआ प्रतीत होता है। आकृति और परिमाण रग और गंध से कम परिवर्तनशील नही होते।

यहाँ तक हम बर्कली के तर्क का एक और अंतर दिखाकर उत्तर दे सकते हैं : हम कह सकते हैं कि चीजो का अवश्य ही कोई आकार और कोई परिमाण होता है, परंतु चीज का कोई आकार और कोई परिमाण एक स्थान से होता है। एक रुपया वृत्ताकार एक लब से होता है और दीर्घवृत्ताकार एक कोण से ; कोई चीज दस फुट की दूरी के बजाय पाँच फुट की दूरी से देखने पर अधिक बडी होती है। परंतु इस बात का महत्व सदिग्ध है। क्यो न जनसाधारण की तरह यह कहते रहें कि वस्तु का आकार और परिमाण तो पूर्ववत् बना रहता है पर वस्तु भिन्न आकार और परिमाण वाली केवल प्रतीत होती है ? लेकिन यही बात रंग पर भी लागू होगी : वस्तु लाल बनी रहती है पर हरे रंग के चश्मे से देखने पर धूसर केवल प्रतीत होती है ; दूर पर्वत के ऊपर पेड हरे बने रहते हैं पर अत्यधिक दूरी से देखने पर उनका रग बैंगनी-सा धूसर दिखाई मात्र देता है। दोनो ही उदाहरणो मे प्रत्यक्ष की स्थितियो मे परिवर्तन के कारण होनेवाला प्रतीति का परिवर्तन नियमित है और पहले से बताया जा सकता है। इसके अलावा, यह कहना कि चीज का परिमाण दूरी के बदल जाने पर बदल जाना है तब गलत हो जाता है जब हम उसे निर्धारित कर देते हैं। चीज मान लीजिए चार फुट चौडी और छ फुट लबी है। तब इस कथन का क्या अर्थ होगा कि दूरी के बदल जाने पर उसका परिमाण बदल गया है (मात्र यह नही कि बदला दिखाई देता है) ? स्पष्ट है कि उसका या तो यह परिमाण है या नहो है। इससे बचने का एकमात्र उपाय यह कहना होगा कि वस्तु देखनेवाले की स्थिति के अनुसार अपना आकार बदल देती है। परंतु तब क्या होगा जब उसे अलग-अलग प्रेक्षक एक ही समय देखते हो ?

ऐसा प्रतीत होगा कि प्रतीयमान आकार और परिमाण तथा अन्य मूल गुण उतने ही परिवर्तनशील हैं जितने रग, गध और स्वाद। एक चीज हमे दूसरी से बडी दिखाई मात्र देती है, चाहे वह उससे बडी हो या नही, और इसका हेतु हम नही जानते। रग में भी यह बात हो सकती है, पर इसमे केवल यह सिद्ध होता है कि यही परिवर्तनशीलता दोनो मे होती है। पानी को एक

बाल्टी एक घंटे पहले जितनी भारी लगती थी उससे अब अधिक भारी लगती है क्योंकि हम थके हुए हैं। यदि हम पहले ही ठंडे हैं तो हवा और भी ठंडी लगती है। यदि आप गुनगुने पानी में अपने हाथ डाल दें तो जो हाथ अभी उबलती चाय से भरी हुई केतली की टोंटी के पास था उसे वह ठंडा लगेगा और दूसरे को गरम। आप एक मोमबत्ती को देखते है, पर यदि आप अपनी आंख को दबाएँ तो आपको दो मोमबत्तियां दिखाई देंगी। ये सब साधारण बातें हैं। हम बराबर यह अंतर करते हैं कि चीजें हैं कैसी और दिखाई कैसी देती है। हम निःसंकोच यह कहते हैं कि चीजें अलग-अलग लगती हैं, पर हम यह भी विश्वास करते है कि इन सब परिवर्तनों के बावजूद वे एक निश्चित परिमाण, आकार, भार, तापमान और रंग वाली हैं। हम जितना पक्का विश्वास इस बात में करते हैं कि वस्तु वास्तव में गोल है उतना ही इस बात में भी करते हैं कि वह वास्तव में लाल है। आगे हम बताएँगे कि हम वास्तविक और प्रतीयमान परिमाण या रंग में कैसे भेद करते है। परंतु भेद हम जरूर करते है (कसौटियाँ हमारी चाहे जो हों), और—इस समय जिस बात से हमारा संबंध है वह यह है—तथाकथित गौण गुणों के प्रसंग मे भी उतना ही करते हैं जितना तथाकथित मूल गुणों के प्रसंग में।

यदि प्रत्यक्ष की बदलती हुई स्थितियों में वस्तु की बदलती हुई प्रतीति यह सिद्ध करती है कि उस वस्तु मे वह गुण है नही, तो जितने भी गुणों का हमें प्रत्यक्ष होता है उन सबका हमें निषेध करना होगा, न कि केवल गौण गुणों का। फिर भी हम चीजों के वास्तविक और प्रतीयमान गुणों में भेद अवश्य ही करते है (इसके आधार जो भी हों)। इसलिए ऐसा लगता है कि ऐसा हमें परिवर्तनशीलता को छोड़कर किसी और आधार पर करना पड़ेगा, क्योंकि परिवर्तनशील तो सभी समान रूप से होते हैं।

इन सब बातों को देखते हुए हमें मूल और गौण गुणों के अंतर के बारे में क्या कहना है? अभी तक तो वह अच्छी तरह नही जम पाया है। यदि परिवर्तनशीलता के आधार पर यह सिद्ध होता है कि एक वस्तु का अमुक रंग नही हो सकता तो उससे यह भी उतना ही सिद्ध होता है कि उसका अमुक आकार नही हो सकता। लेकिन लॉक ने मूल का गौण से भेद करने के लिए जिस अन्य कसौटी का कभी-कभी प्रयोग किया है उसके बारे मे क्या कहना है? यह कसौटी है मूल गुणो का मापा जा सकना—मेयत्व। यदि अंतर सिर्फ इसी

दीर्घवृत्तीयता की मात्रा कोण की तिर्यक्ता पर निर्भर होती है। और चीजो का परिमाण भी प्रेक्षक की दूरी के अनुसार बदला हुआ प्रतीत होता है। आकृति और परिमाण रग और गध से कम परिवर्तनशील नही होते।

यहाँ तक हम वर्कली के तर्क का एक और अतर दिखाकर उत्तर दे सकते हैं हम कह सकते हैं कि चीजो का अवश्य ही कोई आकार और कोई परिमाण होता है, परतु चीज का कोई आकार और कोई परिमाण एक स्थान से होता है। एक रुपया वृत्ताकार एक लव से होता है और दीर्घवृत्ताकार एक कोण से , कोई चीज दस फुट की दूरी के वजाय पाँच फुट की दूरी से देखने पर अधिक बडी होती है। परतु इस वात का महत्व सदिग्ध है। क्यो न जनसाधारण की तरह यह कहते रहें कि वस्तु का आकार और परिमाण तो पूर्ववत् बना रहता है पर वस्तु भिन्न आकार और परिमाण वाली केवल प्रतीत होती है? लेकिन यही वात रंग पर भी लागू होगी . वस्तु लाल बनी रहती है पर हरे रग के चश्मे से देखने पर धूसर केवल प्रतीत होती है; दूर पर्वत के ऊपर पेड हरे बने रहते हैं पर अत्यधिक दूरी से देखने पर उनका रग बैंगनी-सा धूसर दिखाई मात्र देता है। दोनो ही उदाहरणों मे प्रत्यक्ष की स्थितियो मे परिवर्तन के कारण होनेवाला प्रतीति का परिवर्तन नियमित है और पहले से बताया जा सकता है। इसके अलावा, यह कहना कि चीज का परिमाण दूरी के बदल जाने पर बदल जाता है तब गलत हो जाता है जब हम उसे निर्धारित कर देते हैं। चीज मान लीजिए चार फुट चौडी और छ फुट लबी है। तब इस कथन का क्या अर्थ होगा कि दूरी के बदल जाने पर उसका परिमाण बदल गया है (मात्र यह नही कि बदला दिखाई देता है) ? स्पष्ट है कि उसका या तो यह परिमाण है या नहा है। इससे बचने का एकमात्र उपाय यह कहना होगा कि वस्तु देखनेवाले की स्थिति के अनुसार अपना आकार बदल देती है। परतु तब क्या होगा जब उसे अलग-अलग प्रेक्षक एक ही समय देखते हो ?

ऐसा प्रतीत होगा कि प्रतीयमान आकार और परिमाण तथा अन्य मूल गुण उतने ही परिवर्तनशील हैं जितने रग, गध और स्वाद। एक चीज हमे दूसरी से वडी दिखाई मात्र देती है, चाहे वह उससे वडी हो या नही, और इसका हेतु हम नही जानते। रग मे भी यह वात हो सकती है, पर इससे केवल यह सिद्ध होता है कि वही परिवर्तनशीलता दोनो मे होती है। पानी की एक

बाल्टी एक घंटे पहले जितनी भारी लगती थी उससे अब अधिक भारी लगती है क्योंकि हम थके हुए हैं। यदि हम पहले ही ठंडे हैं तो हवा और भी ठंडी लगती है। यदि आप गुनगुने पानी में अपने हाथ डाल दें तो जो हाथ अभी उबलती चाय से भरी हुई केतली की टोंटी के पास था उसे वह ठंडा लगेगा और दूसरे को गरम। आप एक मोमबत्ती को देखते हैं, पर यदि आप अपनी आँख को दबाएँ तो आपको दो मोमबत्तियाँ दिखाई देंगी। ये सब साधारण बातें हैं। हम बराबर यह अंतर करते हैं कि चीजें हैं कैसी और दिखाई कैसी देती हैं। हम निःसंकोच यह कहते हैं कि चीजें अलग-अलग लगती हैं, पर हम यह भी विश्वास करते है कि इन सब परिवर्तनों के बावजूद वे एक निश्चित परिमाण, आकार, भार, तापमान और रंग वाली हैं। हम जितना पक्का विश्वास इस बात में करते हैं कि वस्तु वास्तव में गोल है उतना ही इस बात में भी करते हैं कि वह वास्तव में लाल है। आगे हम बताएँगे कि हम वास्तविक और प्रतीयमान परिमाण या रंग में कैसे भेद करते हैं। परंतु भेद हम जरूर करते हैं (कसौटियाँ हमारी चाहे जो हों), और—इस समय जिस बात से हमारा संबंध है वह यह है—तथाकथित गौण गुणों के प्रसंग में भी उतना ही करते हैं जितना तथाकथित मूल गुणों के प्रसंग में।

यदि प्रत्यक्ष की बदलती हुई स्थितियों में वस्तु की बदलती हुई प्रतीति यह सिद्ध करती है कि उस वस्तु में वह गुण है नहीं, तो जितने भी गुणों का हमें प्रत्यक्ष होता है उन सबका हमें निषेध करना होगा, न कि केवल गौण गुणों का। फिर भी हम चाजों के वास्तविक और प्रतीयमान गुणों में भेद अवश्य ही करते हैं (इसके आधार जो भी हों)। इसलिए ऐसा लगता है कि ऐसा हमें परिवर्तनशीलता को छोड़कर किसी और आधार पर करना पड़ेगा, क्योंकि परिवर्तनशील तो सभी समान रूप से होते हैं।

इन सब बातों को देखते हुए हमें मूल और गौण गुणों के अंतर के बारे में क्या कहना है? अभी तक तो वह अच्छी तरह नहीं जम पाया है। यदि परिवर्तनशीलता के आधार पर यह सिद्ध होता है कि एक वस्तु का अमुक रंग नहीं हो सकता तो उससे यह भी उतना ही सिद्ध होता है कि उसका अमुक आकार नहीं हो सकता। लेकिन लॉक ने मूल का गौण से भेद करने के लिए जिस अन्य कसौटी का कभी-कभी प्रयोग किया है उसके बारे में क्या कहना है? यह कसौटी है मूल गुणों का मापा जा सकना—मेयत्व। यदि अंतर सिर्फ इसी

बात पर आधारित है तो लॉक के जमाने में इस अंतर को करने का अवश्य ही कुछ औचित्य था, क्योंकि भौतिकविज्ञान में तब तक प्रगति नहीं हुई थी। लॉक के समय में लंबाई-चौड़ाई और वजन मापे जा सकते थे, पर रंग नहीं। लेकिन अब यह बात नहीं रही। प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य रंगों को निर्धारित करते है और उन्हें अब उसी तरह मापा जा सकता है जिस तरह लंबाई-चौड़ाई को। गंधो में भी एक अनुक्रम होता है : यद्यपि आज भी इसके बारे में कम ही बातें ज्ञात है, तथापि गंधों के मध्य उसी तरह मापे जा सकनेवाले अंतर होते हैं जिस तरह रगों और आकारों के मध्य। अतः मूल और गौण गुणों में इस कसौटी के आधार पर अंतर उसी तरह नही किया जा सकता जिस तरह अन्य कसौटियों के आधार पर नहीं किया जा सकता।

इस मेयत्व वाली बात को ध्यान में रखते हुए अब हम एक बड़े महत्व की बात बना सकते है। "रंग" शब्द द्व्यर्थक है : इसका संकेत हमें होनेवाले रंग के अनुभव की ओर हो सकता है (इस अर्थ में "रंग" की केवल निदर्शनात्मक परिभाषा ही दी जा सकती है, अन्यथा वह अपरिभाष्य है), या रंग के हमारे अनुभव के भौतिक आधार की ओर (वस्तु से निकलकर हमारी आँखों तक आनेवाले प्रकाश के भिन्न तरंग-दैर्घ्यों की ओर, जो कि "रंग" का भौतिकीय अर्थ है)। रंग के अनुभवों के भौतिक सह-संबंधी होते हैं, और इसी तरह गंध के अनुभवों के भी। (पृ० ५७ पर हम पहले ही बता चुके हैं कि "ध्वनि" का अर्थ श्रवणानुभव भी हो सकता है और उसका भौतिक सहसंबधी वायु के कंपन, भी। "ध्वनि" की यह द्व्यर्थकता शब्दों की अनेकार्थकता का हमारा पहला उदाहरण था।) यही बात "पीड़ा" पर भी लागू होती है : दैनिक जीवन में इस शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार के अनुभव के लिए होता है, परंतु शरीरक्रियाविज्ञानी इसका प्रयोग तंत्रिकाओं के सिरो के उस उद्दीपन के लिए करता है जो पीड़ा के अनुभव का भौतिक सहसंबंधी होता है।

बिल्कुल यही चीज तथाकथित मूल गुणों के प्रसंग में भी होती है : अनुभूत (या 'संवेद्य") आकार या परिमाण अलग होता है और मापा जा सकने वाला भौतिक आकार या परिमाण अलग होता है। रुपए का एक भौतिक आकार (गोल) होता है जो कम्पास से मापा जा सकता है और एक भौतिक परिमाण होता है जो पटरी से मापा जा सकता है। इससे अलग उसका संवेद्य

या अनुभूत आकार होता है (लंब से देखने पर वृत्ताकार और अन्य कोणों से देखने पर दीर्घवृत्तीय) और संवेद्य या अनुभूत परिमाण होता है (चीज से दूर जाने पर उसका छोटी दिखाई देना)।

इस दृष्टि से मूल और गौण गुणों के मध्य कोई अंतर नहीं होता : हम कह सकते हैं कि दोनों ही प्रकार के गुणों का एक मूल पक्ष (भौतिक) होता है और एक गौण पक्ष (अनुभूत)। भौतिक आकार को "भ" और अनुभूत आकार को "अ" कह लीजिए। इस प्रकार आकार भ होता है और आकार अ होता है ; परिमाण भ और परिमाण अ भी होते है। और ध्यान देने की बात यह है कि $\text{रंग}_{\text{भ}}$ और $\text{रंग}_{\text{अ}}$ तथा $\text{गंध}_{\text{भ}}$ और $\text{गंध}_{\text{अ}}$ भी होते है। $\text{आकार}_{\text{भ}}$, $\text{परिमाण}_{\text{भ}}$, और $\text{रंग}_{\text{भ}}$, सब वस्तु के गुण है तथा $\text{आकार}_{\text{अ}}$, $\text{परिमाण}_{\text{अ}}$ और $\text{रंग}_{\text{अ}}$ सब हमारे ऐंद्रिय अनुभवों (लॉक के "प्रत्यय") की विशेषताएँ है। ये सारे शब्द व्यवस्थित अनेकार्थकता वाले है। इसलिए यदि आप उनमें से कुछ का (आकार, परिमाण का) केवल भौतिक अर्थ लेते हैं और शेष (रंग, गंध) का केवल अनुभव वाला अर्थ लेते हैं, तो स्वाभाविक रूप से अंत में आप $\text{आकार}_{\text{भ}}$ और $\text{रंग}_{\text{अ}}$ के बीच यानी वस्तु के गुण और जो वस्तु का गुण नहीं है उसके बीच अंतर कर बैठेंगे। बल्कि बात को उलटकर भी कहा जा सकता है : $\text{आकार}_{\text{अ}}$ वस्तु का गुण नहीं है जबकि $\text{रंग}_{\text{भ}}$ है। असल में शब्दों के दोनों समुच्चयों को दोनों तरीकों से इस्तेमाल किया जा सकता है। मूल गुणों (जैसे आकार) और गौण गुणों (जैसे रंग) के बजाय अंत में हम भौतिक गुणों और संवेद्य गुणो मे अंतर करते हैं जो कि लॉक के दोनों ही मूल और गौण गुणों के पूरे विचार में लागू होता है।

लॉक के मूल गुण बनाम गौण गुण से प्रारंभ करके अब हम एक और ही अंतर, भौतिक गुण और संवेद्य गुण के अंतर में पहुँच गए हैं। वास्तव में थोड़ी-सी भौतिकी जाननेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस अंतर से सहमत होगा। असल में इसे थोड़ी वैज्ञानिक जानकारी से संपुष्ट सामान्य बुद्धि की सीधी-सादी धारणा कहा जा सकता है। परंतु अब हम बिशप बर्कली की उन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युक्तियों को लेते हैं जो लॉक के मत के विरोध में दी गई थी।

३ सादृश्य—लॉक कहता है कि मूल गुणों के हमारे ऐंद्रिय अनुभव

("प्रत्यय") उन्हीं गुणों के सदृश होते हैं, क्योंकि वे बाह्य जगत् में सचमुच वस्तु के अंदर होते हैं। परंतु गौण गुणों के हमारे अनुभव वस्तु के किसी गुण के सदृश नहीं होते, क्योंकि वस्तु में ऐसा कोई गुण नहीं होता : वहाँ केवल रंग, ध्वनि, गंध इत्यादि के अनुभवों को उत्पन्न करने की कुछ शक्तियाँ ही होती हैं। परंतु बर्कली पूछता है कि हम कभी यह जान ही कैसे सकते हैं कि मूल गुणों के हमारे अनुभव वस्तु के उन गुणों के सदृश होते हैं ? इस जानकारी को प्राप्त करने के लिए हम दोनों की तुलना कर ही कैसे सकते हैं ? तुलना की बात हम तभी कर सकते हैं जब हम तुलना करने की स्थिति में हों : हम दो रंगों की तुलना कर सकते हैं—जैसे यह कहकर कि यह उससे हल्का है—क्योंकि हम दोनों को देख सकते हैं। परंतु हम आकार या परिमाण के अपने अनुभव की वस्तु के तथाकथित वास्तविक आकार या परिमाण से जो हमारे अनुभव से स्वतंत्र होता है, कैसे तुलना कर सकते हैं ? ऐसा करना संभव ही नहीं है—असल में यह तर्कतः असभव होगा—क्योंकि ऐसा करने के लिए हमें तुलना की दोनों बातों का अनुभव करने में समर्थ होना होगा। और यह हम कर नहीं सकते। हम केवल अपने अनुभवों से ही परिचित हैं और उनके अलावा किसी चीज का हम अनुभव नहीं कर सकते। इन दो चीजों की तुलना करने की कोशिश कीजिए : (१) डेस्क और (२) डेस्क का आपका अनुभव। यह करतब असभव है, क्योंकि तुलना करने के लिए दोनों चीजें आपको उपलब्ध नही हैं। डेस्क के बारे में जो कुछ आप जानते है वह आपके डेस्क के अनुभव हैं, यानी जिसे आप डेस्क समझते हैं उसके दृष्टि और स्पर्श से होनेवाले आपके अनुभवों का समुच्चय। आप नहीं बता सकते कि आपके डेस्क-अनुभव स्वयं डेस्क के सदृश हैं या नहीं, क्योंकि आप अपने डेस्क-अनुभव की डेस्क अनुभव से अलग जिस तरह का है उससे तुलना नही कर सकते। अत: यदि मूल गुणों के आपके अनुभव वस्तु में ये गुण जिस रूप में अस्तित्व रखते हैं उनके सदृश हों भी, तो भी न लॉक और न कोई और यह जान सकेगा कि वे उसके सदृश हैं।

बर्कली के कथनानुसार एक प्रत्यय एक अन्य प्रत्यय के अलावा किसी के भी सदृश नही हो सकता। बीसवीं शताब्दी की भाषा में हम कहेंगे कि ऐंद्रिय अनुभवों की अन्य ऐंद्रिय अनुभवों से तुलना की जा सकती है परंतु ऐंद्रिय अनुभवों के जो कारण माने गए हैं उनसे नहीं। यह कहने का अर्थ ही क्या होगा कि परिमाण का अनुभव वस्तु के वास्तविक परिमाण के सदृश है ? आप तुलना करके

उनका सादृश्य नहीं जान सकते, क्योंकि जिनकी तुलना करनी है उन दोनों
चीजों का आप अनुभव नहीं कर सकते। इतना ही नहीं बल्कि आप यह भी
पता नहीं लगा सकते कि उनमें सादृश्य के अलावा भी कोई संबंध है। ऐसी
कोई बात बिल्कुल है ही नहीं जिसे आप उनके बारे में कह सकें। अपने ऐंद्रिय
अनुभवों के बारे में हम कई बातें कह सकते हैं, पर ऐंद्रिय अनुभव को जिस
भौतिक जगत् से सादृश्य रखनेवाला माना जाता है 'वह जैसा स्वतः है"
उसके बारे में हम बिल्कुल कुछ नहीं कह सकते। इस प्रकार, इस प्रश्न
के संबंध में कि आकार और परिमाण के हमें जो ऐंद्रिय अनुभव होते हैं वे वस्तु
के असली आकार और परिमाण से सादृश्य (या कोई और सबंध) रखते हैं
या नहीं, लॉक को पूर्ण और असाध्य संशय की स्थिति में पहुँचने के लिए बाध्य
हो जाना पड़ता है।

४. **कारणता**—यह संशय ऐसे प्रत्येक गुण के बारे में पैदा होता है जिसका
वस्तु में स्वरूपतः होना माना जाता है, और उसके कारणात्मक गुण भी ऐसे
गुणों में शामिल हैं। चूंकि हम केवल अपने ही अनुभवों को जान सकते हैं—
और लॉक ने भी इस बात को यह कहकर स्वीकार किया था कि "मन का
परिचय केवल अपने ही प्रत्ययों से होता है"—इसलिए यह जानने का हमारे
पास कोई साधन नहीं है कि हमारे अनुभव स्वयं वस्तुओं के सदृश हैं या नहीं
अथवा वस्तुएँ उन अनुभवों की उत्पत्ति के कारण हैं या नहीं। ऐसी कौन-सी
बात संभव है जिसके आधार पर हम कह सकें कि "हमारे ऐंद्रिय अनुभव
भौतिक वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं"? यदि अ ब का कारण है तो
उनके बीच कारणात्मक संबंध को सिद्ध करने के लिए यह जरूरी है कि हमें
अ और ब का अनुभव हो सके और हम उनके मध्य कोई सहसंबंध या
नियमितता देख सकें। परंतु प्रस्तुत प्रसंग में ब (अनुभव) तक तो हमारी पहुँच
है लेकिन अ (अनुभव से अलग वस्तु का निजरूप) तक हमारी पहुँच सभव
नहीं है। वह हमेशा अनुभवातीत बना रहता है और कुछ भी उसके बारे में
नही जाना जा सकता।

यह जवाब देना आसान लगेगा कि "यदि हमसे बाहर सचमुच भौतिक
वस्तुओं का अस्तित्व न होता तो कारण का अभाव होने से हमें कोई संवेदन
होते ही नही।" अगर हम परिचित केवल अपने ही संवेदनों से हैं तो हम इस
बात को कैसे जान सकते हैं? भौतिक वस्तुओं से अर्थात् उन चीजों से जो

संवेदन नहीं हैं, परिचित होकर ? पर यह तो हमारी वर्तमान प्राक्कल्पना के अनुसार असंभव है। यदि आप केवल अपने ही संवेदनों से परिचित हैं तो यह सिद्ध करने के लिए कि संवेदनों को उत्पन्न करने के लिए संवेदनों से अलग कोई चीज अस्तित्व रखती है, आप चोरी से कोई संवेदनेतर चीज नहीं ला सकते।

टेलीफोन-केंद्र की उपमा—इस स्थिति को समझाने के लिए कभी-कभी नीचे दी हुई उपमा का सहारा लिया जाता है : मन एक टेलीफोन-केंद्र की तरह है ; आप टेलीफोन आपरेटर या क्लर्क है ; बाह्य जगत् से तारों (तंत्रिकाओं) के जरिए संदेश आप तक पहुँचते हैं। टेलीफोन करनेवालों को आप नहीं देखते ; आप उस तरह भी उनकी आवाज नहीं सुनते जिस तरह आप तब सुनते जब वे आपके कमरे में होते ; आप केवल उनकी आवाज को जब वह तार के आप वाले सिरे में पहुँचती है तब सुनते है। आप बाहर से आनेवाले तारों ("अभिवाही तंत्रिकाओं") के जरिए अंदर की ओर आनेवाली बातों को पकड़ते हैं और उनको अन्य तारों (अपवाही तंत्रिकाओं) के जरिए उपयुक्त व्यक्तियों को पहुँचाते हैं, परंतु आप स्वयं कभी टेलीफोन-केंद्र से बाहर कदम नहीं रखते।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रसिद्ध विज्ञान-लेखक कार्ल पियरसन् ने अपनी पुस्तक दि ग्रामर ऑफ सायन्स (विज्ञान का व्याकरण) में इस स्थिति को बहुत ही सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है :

"बाह्य जगत्" की, हमसे बाहर जो वास्तविकता है उसकी, बात करना हमारी आदत बन गया है। हम चीजों के बारे में कहते है कि उनका हमसे स्वतंत्र अस्तित्व है। अतीत ऐंद्रिय संस्कारों के भंडार को, अपने विचारों और अपनी स्मृतियों को, हम अपने अंदर बताते हैं, हालाँकि इस बात की अत्यधिक संभावना है कि उनका कोई भौतिक अंश होता है और उसके अलावा मस्तिष्क के किसी भौतिक परिवर्तन से घनिष्ठ सहसंबंध भी उनका होता है। दूसरी ओर, यदि एक संवेदी तंत्रिका मस्तिष्क में पहुँचने से पहले कहीं काट दी जाए तो उससे संबंधित संवेदनों का होना समाप्त हो जाता है, लेकिन फिर भी हम अनेक संवेदनों का, जैसे आकार और बनावट का, अपने से बाहर अस्तित्व बताते हैं। तो फिर अपने से बाहर हम जिस दुनिया का अस्तित्व बताते है उसके हम सचमुच कितने निकट पहुँच सकते हैं ? उतने ही निकट जितने संवेदी तंत्रिकाओं के मस्तिष्क में स्थित सिरे, पर उससे अधिक निकट नहीं।

हम मुख्य टेलीफोन-केंद्र के क्लर्क की तरह हैं जो अपने ग्राहकों के उतने ही निकट पहुँच सकता है जितने टेलीफोन के तारों के पास के सिरों के, उससे अधिक निकट नहीं। असल में हमारी स्थिति क्लर्क से भी खराब है, क्योंकि उपमा को पूरी बैठाने के लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि वह टेलीफोन-केंद्र से कभी बाहर नहीं निकला, उसने कभी किसी ग्राहक को या ग्राहक-जैसे किसी व्यक्ति को नहीं देखा—संक्षेप में, वह कभी टेलीफोन के तार के अलावा किसी भी प्रकार से बाह्य जगत् के संपर्क में नहीं आया। उसके बाहर जो "वास्तविक" जगत् है उसकी वह कोई सीधी धारणा नहीं बना पाएगा; वास्तविक जगत् उसके लिए उन संकल्पनाओं का समुच्चय होगा जिनका निर्माण वह अपने दफ्तर के टेलीफोन के तारों से प्राप्त संदेशों के आधार पर करता है। उन संदेशों और उनसे अपने मन में उत्पन्न प्रत्ययों के बारे में वह तर्क कर सकता है और निष्कर्ष निकाल सकता है; और उसके निष्कर्ष सही होंगे—किसके लिए? टेलीफोन-संदेशों की दुनिया के लिए, टेलीफोन से जिम प्रकार के संदेश गुजरते हैं उनके लिए। अपने ग्राहकों के कार्यों और विचारों के बारे में वह कोई निश्चित और महत्त्वपूर्ण बात जान सकेगा, परंतु इनके बाहर की बातों का उसे कोई अनुभव नहीं हो सकेगा। अपने दफ्तर के अंदर बंद रहते हुए उसने कभी अपने किसी ग्राहक को साक्षात् देखा या छुआ नहीं होगा। बहुत-कुछ यही टेलीफोन क्लर्क की जैसी ही स्थिति हममें से प्रत्येक के चेतन अहं की है जो संवेदी तंत्रिकाओं के मस्तिष्क के अंदर स्थित सिरों पर बैठा है। अहं बाहरी दुनिया के निकट उससे एक कदम भी अधिक नहीं जा सकता जितने वे सिरे हैं, और उसके तंत्रिका-केंद्र को संदेश भेजनेवाले अपने-आप में क्या हैं, यह निर्धारित करने का उसके पास कोई साधन नहीं है। "बाह्य जगत्" से संदेश ऐंद्रिय सवेदनों के रूप में निरंतर आते रहते हैं और इनका हम विश्लेषण करते हैं, संग्रह करते हैं तथा इनके बारे में तर्क-वितर्क करते हैं। परंतु हम इस बारे में बिल्कुल भी नहीं जानते कि वस्तुओं का स्वतः क्या रूप है, हमारे टेलीफोन-तारों के जाल के बाहर किसका अस्तित्व है।

लेकिन पाठक शायद कहेगा : "मैं न केवल एक वस्तु को देखता हूँ बल्कि छू भी सकता हूँ। मैं अपनी उंगली के सिरे से लेकर मस्तिष्क तक पहुँचने वाली तंत्रिका को खोज सकता हूँ। मैं टेलीफोन-क्लर्क की तरह नहीं हूँ। मैं अपने तारों के जाल का उनके सिरों तक अनुसरण कर सकता हूँ और यह पता

लगा सकता हूँ कि जहाँ वे समाप्त होते हैं वहाँ क्या है।" अच्छा, क्या ऐसा कर सकते हैं? थोड़ी देर के लिए सोचिए कि अपने मस्तिष्क-केंद्र से आपका अहं क्या एक क्षण के लिए बाहर निकल सका है। जिस संवेदन को आप स्पर्श कहते हैं वह ठीक दृष्टि की तरह एक संवेदी तंत्रिका के मस्तिष्क में स्थित सिरे पर महसूस होता है। आपका उंगली की नोक से आपके मस्तिष्क तक जो तंत्रिका गई हुई है उसके बारे में भी आपको किसने बताया? क्यों, ऐंद्रिय संवेदनों ने ही, यानी दृष्टि या स्पर्श की संवेदी तंत्रिकाओं के द्वारा पहुँचाए गए संदेशों ने। असल में, आप दूसरे ग्राहक तक जानेवाले तार के बारे में जानने के लिए सिर्फ अपने टेलीफोन-केंद्र के एक ग्राहक का ही उपयोग करते रहे हैं, परंतु आप एक-एक ग्राहक तक जानेवाले टेलीफोन के तारों का स्वतंत्र रूप से पता लगाने से तथा यह निश्चित करने से कि उसकी अपने-आप में क्या प्रकृति है, अब भी उतने ही दूर हैं जितने सदैव थे। जिसे आप "बाह्य जगत्" कहते हैं उसने आपके तात्कालिक ऐंद्रिय संवेदन उतनी ही दूर हैं जितना पिछले संवेदनों का आपका भंडार। यदि हमारे टेलीफोन-क्लर्क ने फोनोग्राफ की मदद से पिछले अवसरों पर बाह्य जगत् से आनेवाले कुछ संदेशों को रिकार्ड कर लिया होता और उसके बाद यदि किसी टेलीफोन-संदेश के पहुँचते ही कई फोनोग्राफ अतीत संदेशों को दोहराना शुरू कर दें, तो मस्तिष्क के अंदर जो कुछ चलता है उससे मिलती-जुलती एक तस्वीर बन जाती है। क्लर्क जिसे "वास्तविक बाह्य जगत्" कहेगा उससे टेलीफोन और फोनोग्राफ दोनों समान रूप से दूर हैं, पर अपनी आवाजों के द्वारा वे उसके मन में एक जगत् की रचना करने में मदद करते हैं। वह उन आवाजों को जो कि असल में उसके दफ्तर के अंदर ही हैं, बाहर प्रक्षिप्त करता है और उन्हें बाह्य जगत् बताता है। इस बाह्य जगत् का निर्माण वह अंदर की आवाजों से ज्ञात बातों से करता है जो वस्तुओं के निजरूपों से उतनी ही अधिक भिन्न होती है जितना भाषा-प्रतीक उस चीज से भिन्न होता है जिसका वह प्रतीक होता है। हमारे टेलीफोन-क्लर्क के लिए आवाजें ही असली दुनिया होंगे, और फिर भी हम समझ सकते हैं कि उसके विशेष ग्राहकों की संख्या तथा उनके संदेशों में निहित बातों के कारण वह कितनी सापेक्ष और सीमित होगी।

यही बात हमारे मस्तिष्क पर भी लागू होती है। टेलीफोन और फोनोग्राफ की आवाजें तात्कालिक और संगृहीत ऐंद्रिय संस्कारों के तुल्य हैं। इन

ऐंद्रिय संस्कारों को मानो हम बाहर प्रक्षिप्त करते है और अपने से बाहर स्थित वास्तविक जगत् कह देते है। परंतु ऐंद्रिय संस्कार वस्तुओं के जिन निजरूपों के प्रतीक होते हैं, अर्थात् तंत्रिका के दूसरे सिरे पर जो है, जिसे कि तत्वमीमांसक "वास्तविकता" कहना पसंद करता है, वह अज्ञात बना रहता है और अज्ञेय होता है। विज्ञान के लिए और हमारे लिए बाह्य जगत् की वास्तविकता आकार, रंग और स्पर्श के मिले-जुले रूप मे होती है—और ये ऐंद्रिय संवेदन "तंत्रिका के दूसरे छोर पर स्थित" वस्तु से उतने ही भिन्न होते है जितनी टेलीफोन की आवाज तार के दूसरे छोर पर स्थित ग्राहक से भिन्न होती है। जैसे टेलीफोन-केंद्र का क्लर्क आवाजों की अपनी दुनिया के अंदर बंद होता है वैसे ही हम भी ऐंद्रिय संस्कारों की इस दुनिया के अंदर बंद हैं और उसके बाहर एक कदम भी हम नही जा सकते। जैसे उसकी दुनिया उसके तारों के जाल पर निर्भर है और उसके द्वारा सीमित है, वैसे ही हमारी दुनिया हमारे तंत्रिका-तंत्र और हमारी इंद्रियों के द्वारा सीमित है और इनपर निर्भर है। जिस बाह्य जगत् की हम कल्पना करते हैं उसका स्वरूप इनकी विशेषताओं पर निर्भर होता है। सब सामान्य मनुष्यों की ज्ञानेंद्रियों में और प्रत्यक्ष-शक्ति में जो समानता पाई जाती है वही बाह्य जगत् को उन सबके लिए एक या लगभग एक-सी बनाती है। हमारी उपमा के अनुसार बात ऐसी है जैसे कि मानो दो टेलीफोन-केंद्रों के ग्राहक-समूह बहुत-कुछ एक-जैसे हों। यदि ऐसे दो केंद्रों के बीच कोई तार लगा दिया जाए तो अंदर बंद क्लर्कों को जल्दी ही विश्वास हो जाएगा कि उनमें कोई चीज समान है। यह विश्वास हमारे उपमेय में इस स्वीकृति के तुल्य है कि दूसरे में भी चेतना है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि पियर्सन के मतानुसार विज्ञान से हम विश्व का जो चित्र प्राप्त करते हैं वह एक संकट में फँस गया है। तदनुसार, भौतिक वस्तु से घटनाओं की एक लंबी शृंखला शुरू होती है जो आँख, दृष्टि-तंत्रिका और मस्तिष्क में से होती हुई ऐंद्रिय अनुभव मे पहुँचती है और वहाँ समाप्त हो जाती है। साथ ही यह भी कहा गया है कि अपने अनुभव में जिसे हम सचमुच जान सकते हैं वह केवल यही अंतिम घटना है—यानी जो ऐंद्रिय अनुभव हमें होते हैं उनके स्वरूप को ही हम जान सकते हैं। परंतु यदि हम केवल इन ऐंद्रिय अनुभवों (ठीक इंद्रियानुभवविषयक प्रतिज्ञप्तियाँ कहना

---

1. एवरीमैन लाइब्रेरी संस्करण, पृ० ५६-५८ से उद्धृत।

होगा) को ही जान सकते हैं, तो हम इन ऐंद्रिय अनुभवों के तथाकथित कारणों के बारे में कुछ भी कैसे जान सकते हैं, बल्कि यह तक कैसे जान सकते हैं कि उनके कोई कारण हैं भी। यदि उनका कोई कारण है तो हम कदापि नहीं जान सकते कि वह क्या है, क्योंकि हम अपने ही ऐंद्रिय अनुभवों के दायरे के अंदर कैद हैं और उसे तोड़कर बाहर नहीं निकल सकते ; और यदि हम ऐंद्रिय अनुभव से नहीं जान सकते कि ऐंद्रिय अनुभव से परे किसी चीज का अस्तित्व है तो हमारा यह कहना निराधार है कि उसका अस्तित्व है, और यह कहना तो और भी अयुक्तिक है कि वह हमारे ऐंद्रिय अनुभवों का कारण है। हम हर तरफ से अवरुद्ध लगते है। प्रत्यक्ष में जो कुछ होता है उसका हमने यह विज्ञान पर आश्रित विवरण दिया है, पर यदि यही विवरण सही है तो हम कभी नही जान सकेंगे कि यह सही है।

इस सिद्धांत में ज्ञानेंद्रियाँ, तंत्रिकाएँ और मस्तिष्क बाहर की भौतिक वस्तुओं और उन एंद्रिय अनुभवों को जोड़नेवाली कड़ियाँ है जो मस्तिष्क को ज्ञानेंद्रियों के द्वारा उद्दीपन प्राप्त होने से होते है। परंतु मस्तिष्क, ज्ञानेंद्रियाँ और तंत्रिकाएँ वैसी ही भौतिक वस्तुएँ है जैसी मेज, पेड़ और पत्थर है। यदि हम उनसे परिचित है तो उन्हें भी ऐंद्रिय अनुभव होना चाहिए। लेकिन एक ऐंद्रिय अनुभव भौतिक वस्तुओं और ऐंद्रिय अनुभवों को जोड़नेवाली कड़ी नही हो सकता। दूसरी ओर, यदि हम उनसे परिचित नही हैं तो हम कैसे जान सकते हैं कि ज्ञानेंद्रियाँ, तंत्रिकाएं और मस्तिष्क अस्तित्व रखते है? यहाँ पहुँचकर टेलीफोन-केंद्र की उपमा व्यर्थ हो जाती है। टेलीफोन आपरेटर तारों के द्वारा आनेवाली आवाजों को छोड़कर किसी भी चीज से परिचित नही हो सकता ; पर तब वह कैसे जान सकेगा कि तार है या वह टेलीफोन-केंद्र के अंदर है? ऐसा प्रतीत होगा कि अब पूरा ही टेलीफोन-केंद्र चकनाचूर हो गया है और केवल आपरेटर ही रह गया है।

क्या हो गया? टेलीफोन-केंद्र-सिद्धांत इस बात को मानकर चलता है कि वह स्वयं सत्य नहीं है। यह दिखाने के प्रयत्न में ही कि हमें किसी बाह्य जगत् का ज्ञान नही है बल्कि केवल अपने ही ऐंद्रिय अनुभवों (तार के सिरे पर आनेवाले संदेशों) का ज्ञान है वह यह मान बैठा है कि एक बाह्य जगत् है और हमें उसका ज्ञान है—जो कम-से-कम यह कह सकने के लिए पर्याप्त है कि बाह्य जगत् मे चीजें हैं जो ज्ञानेंद्रियों को उद्दीप्त करती हैं और ज्ञानेंद्रियाँ भी

तन्त्रिकाओ को उद्दीप्त करती तथा मस्तिष्क को सदेश भेजती है। जब हम इन चीजो को जानते हो केवल तभी हमारी उपमा चल सकती है, परतु यदि टेलीफोन-केंद्र-सिद्धात सही है तो हम कदापि इन चीजो को नही जान सकते। तार के सिरे पर हम जो आवाजें सुनते हैं उनका केंद्र से कारणात्मक सबध है; बाद मे इस ज्ञान के सभव होने की बात का ही निराकरण करना पडेगा कि टेलीफोन-केंद्र जैसी कोई चीज है, परतु तब तक इस उपमा मे वह एक अपरिहार्य भूमिका अदा कर चुका होता है। एक बार हम यह बात समझ लें, तो इस उपमा को हमे छोड देना होगा ये दोनो बातें नही चल सकती कि हम यह जान लें कि एक टेलीफोन-केंद्र है (जैसा कि यह सिद्धात भी चाहता है) और यह न भी जानें (जैसा कि फिर यह सिद्धात चाहता है, क्योकि हम तार के सिरे पर आवाजें मात्र जानते हैं)। कोई स्वव्याघाती वर्णन सही नही हो सकता। अत अब हम अन्यत्र देखते हैं—बर्कली की ओर लौटकर।

२४. प्रत्ययवाद

अभी तक हमने बर्कली क्या मानता है, यह बात नही बताई है। हमने केवल यही बताया है कि बर्कली के अनुसार लॉक के पास भौतिक जगत् के अस्तित्व को मानने का कोई तार्किक आधार नही है। बर्कली ने कहा था कि भौतिक जगत् को लेकर लॉक के लिए सशयवाद अपरिहार्य हो जाता है यदि उसका अस्तित्व हो भी, तो भी वह नही जान सकता कि वह है, और उनके कथन मे असगति भी है, क्योकि वह उसका अस्तित्व मान लेता है और इस बात का दावा भी करता है और फिर भी उसके ज्ञान को वह अपने लिए असभव बना देता है—जो भौतिक वस्तुओ और उनके गुणो के बारे मे उसके द्वारा अभी कुछ पहले प्रस्तुत युक्तियो को काट देता है।

अब बर्कली के सिद्धात का भावात्मक पक्ष शुरू होता है। हम उसके साथ वहाँ तक पहुँच चुके हैं जहाँ वह कहता है कि हमारे पास अपने मन से बाहर एक भौतिक जगत् का अस्तित्व मानने का कोई अच्छा हेतु न है और न हो सकता है। अब अगला कदम यह है. ऐसे किसी जगत् का अस्तित्व ही नहीं है।

पर यह आपत्ति की जा सकती है "यह तो पागलपन की हद है। कोई जगत् ही नही है। न पेड हैं, न सूर्य है, न चद्रमा है, न मेज और कुर्सियाँ है।

हमारे पास होते हैं। प्रतीयमान आकृति और परिमाण दृष्टिकोण के साथ-साथ व्यवस्थित ढंग से बदलते रहते हैं।

२. जब मैं चुपचाप खड़ा रहता हूँ तब वह पूर्ववत् दीखता रहता है; परंतु जब मैं चलता हूँ तब प्रतीयमान आकृति बदल जाती है और जब मैं पुनः पहले की स्थिति में आ जाता हूँ तब वह पहले की तरह प्रतीत होता है। प्रतीयमान आकृति जिस तरह बदलती है उसका थोड़ा अनुभव हो जाने के बाद मैं पहले ही बता सकता हूँ कि मेरी स्थिति के अगले परिवर्तन पर वह कैसा दिखाई देगा : इंद्रियानुभवों की पूरी शृंखला व्यवस्थित है और पूर्वानुमानगम्य है।

३. जब मैं चलता हूँ तब प्रतिक्षण होनेवाले मेरे दृष्टिसंबंधी अनुभव एक-दूसरे से सादृश्य रखते है : शक्ल अ शक्ल ब में बदल जाती है, ब स में, स द में इत्यादि, हालाँकि अ का द से शायद अधिक सादृश्य न हो। प्रतीयमान आकृति १ प्रतीयमान आकृति ५० के सदृश शायद न हो, पर दोनों प्रतीयमान आकृतियों की एक शृंखला के द्वारा जुड़ी हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने एकदम पहले और बाद की आकृतियों से गहरा सादृश्य रखती है। यहाँ भी परिवर्तन क्रमिक और नियमित है।

४. शृंखला में कहीं भी विच्छेद नहीं है। देखते समय या देखते हुए चलते समय एक भी क्षण ऐसा नहीं होता जब मुझे ऐंद्रिय अनुभव न हो रहा हो (सिर को दूसरी ओर मोड़ देने के या पलक झपकाते समय की बात अलग है)। आकृति कूदकर मेरे दृष्टि-क्षेत्र से कहीं बाहर नहीं निकल जाती और फिर कहीं से वापस आकर एकाएक प्रकट नहीं हो जाता।

५ प्रतीयमान आकृतियों की शृंखला का कोई केंद्र होता है जिसकी तुलना में अन्य आकृतियाँ उत्तरोत्तर अधिक विकृत होती जाती हैं। रुपये की गोल प्रतीयमान आकृति वह केंद्र है जिसके चारों ओर सारी दीर्घवृत्तीय आकृतियाँ एकत्रित रहती हैं।

६. मेरे दृष्टिसंबंधी अनुभव मेरे स्पर्शसंबंधी अनुभवों के लिए संकेतों का काम करते हैं : यदि मैं उस चीज़ तक जाता हूँ जिसे मैं मेज समझता हूँ (अपने दृष्टिसंबंधी अनुभवों के आधार पर) तो मुझे स्पर्शसंबंधी अनुभव होते हैं। मेरे दृष्टिसंबंधी अनुभव मेरे स्पर्शसंबंधी अनुभवों से घनिष्ठ सहसंबंध रखते है। कभी-कभी अवश्य ही ऐसा नहीं होता : यदि मुझे मालूम नहीं है कि मैं शीशे

में देख रहा हूँ तो जिसे मैं मेज समझता हूँ उसकी ओर जाने से नतीजा केवल यह होगा कि मैं शीशे से टकरा जाऊँगा—दृष्टिसंबंधी अनुभव के अनुरूप कोई स्पर्शसंबंधी अनुभव नहीं होगा : स्पर्श शीशे का होगा, मेज का नहीं ; शीशे के परे कोई मेज नहीं है।

संक्षेप में, मेज के फ़लक से संबंधित अनुभव एक व्यवस्थित शृंखला में होते हैं। आकृतियों की पूरी शृंखला मानो एक परिवार हो : वे सब एक सूत्र में बँधी हैं और उन आकृतियों की शृंखला से भिन्न रूप में जो आप एक रुपए की ओर देखने पर देखते हैं—इनसे एक और बहुत ही भिन्न परिवार बनता है। भौतिक वस्तु ऐंद्रिय अनुभवों का एक परिवार है, उससे कम या अधिक कुछ नहीं।

. .

अपभ्रम—हमारे असंख्य ऐंद्रिय अनुभवों में बहुत बड़ी संख्या परिवारों के सदस्यों की होती है। एक परिवार कुर्सी का है, एक मेज का है, एक रुपए का, एक मेरे सामने पड़ी इस किताब का, इत्यादि। पर जब हमें अपभ्रम होते हैं तब हमारे ऐंद्रिय अनुभव किसी भी परिवार के सदस्य नहीं होते : वे किसी से जुड़े नहीं होते, "बेलगाम" होते हैं। यदि नशे की हालत में मैं दीवार पर ऊपर-नीचे घूमते हुए गुलाबी चूहे देखता हूँ तो वे तरह-तरह के विचित्र व्यवहार कर सकते हैं : उनके प्रतीयमान आकार और परिमाण अभी बताए हुए नियमित तरीके से नहीं बदलते ; और यदि बदलते हों तो भी दृष्टिसंबंधी अनुभवों के बाद कोई स्पर्शसंबंधी अनुभव नहीं होते (अर्थात् यदि मैं अपना हाथ बढ़ाऊँ तो मैं उन्हें छू नहीं सकता)।

यह एक अच्छी बात है कि दुनिया में हमें जो ऐंद्रिय अनुभव होते हैं उनमें बहुत बड़ी संख्या उनकी होती है जो परिवारों के सदस्य होते हैं, जिससे वे बर्कली के विश्लेषण के अनुसार वास्तविक चीजें बन जाते हैं—जिन्हें हम "भौतिक वस्तुएँ" कहेंगे। हम आसानी से एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते है जिसमें ऐसी बात न हो। एक क्षण के लिए यह कल्पना कीजिए कि हमारे सब ऐंद्रिय अनुभव अव्यवस्थित ढंग से होते हैं, दृष्टिसंबंधी इंद्रिय-दत्त हमारे दृष्टि-क्षेत्र में सर्वत्र उछलते फिरते हैं, आकार और परिमाण उलटे-सीधे और समझ में न आनेवाले ढंग से बदलते रहते हैं, प्रत्येक दृष्टि-अनुभव अगले अनुभव से असंबद्ध है और प्रत्येक क्षण आता, जाता और अपने रूप को बदलता रहता है, दृष्टि-अनुभवों के बाद स्पर्श-अनुभव नहीं होते, तथा स्पर्श-अनुभव हमें सावधान करनेवाले दृष्टि-अनुभवों के पहले हुए बिना ही अप्रत्याशित

रूप से हो जाते हैं। आप आसानी से अपने अधिकांश या सभी इंद्रिय-दत्तों के अव्यवस्थित होने की कल्पना कर सकते हैं, और ऐसी दशा में भौतिक वस्तुएँ होंगी ही नहीं, क्योंकि ऐंद्रिय अनुभवों के परिवार तब नहीं होंगे। कोई कह सकता है कि तब कम-से-कम एक परिवार यानी स्वयं आपका शरीर तो होगा। परंतु उसमें भी अंतर हो सकता है : ऐसा हो सकता है कि आपको ऐंद्रिय अनुभवों की एक अव्यवस्थित शृंखला हो जिसमें ऐसा एक भी अनुभव न हो जिसे आप इस समय अपने शरीर का बताते हैं (जैसा कि हमने अध्याय ६ में देखा था)। परंतु यह एक अच्छी बात है कि हमारे अनुभव ऐसे नहीं होते : हमारे अधिकांश अनुभव परिवारों से संबद्ध होते हैं।

बर्कली का कथन है कि कोई चीज एक अपभ्रम है या नहीं, यह निश्चय करने के लिए हम वास्तव में जिस कसौटी का इस्तेमाल करते हैं वह यह देखना है कि प्रश्नाधीन अनुभव एक परिवार से संबद्ध है या नहीं। ऐसा करने में हम अपने ऐंद्रिय अनुभवों को एक-दूसरे से जोड़ते हैं। हम वह नहीं करते जो लॉक के मत के अनुसार अपेक्षित लगेगा : अर्थात् ऐंद्रिय अनुभवों का उनसे बाहर की किसी सत्ता से यह देखने के लिए मिलान करना कि वे उससे संवाद रखते हैं या नहीं। लॉक के अनुसार, यदि हमें कोई मेज वाला अनुभव होता है और वहाँ मेज है ही नहीं तो यह एक अपभ्रम है ; और यदि है तो वह अपभ्रम नहीं है (उस दशा में वह एक "यथार्थ" या "सत्य" प्रत्यक्ष है)। परंतु हम इस संवाद वाली कसौटी को कभी इस्तेमाल नहीं कर सकते, क्योंकि हम कदापि अपने ऐंद्रिय अनुभवों से बाहर निकलकर यह पता नहीं लगा सकते कि उनके अंदर की किसी चीज से संवाद रखने के लिए उनसे बाहर कोई चीज है भी या नहीं। असल में हम इस कसौटी को लागू करने की कभी कोशिश तक नहीं करते : हम अपने ऐंद्रिय अनुभवों की एक-दूसरे से तुलना करते हैं, किसी ऐसी चीज से नहीं जो ऐंद्रिय अनुभव न हो।[1] यह अवश्य ही

---

१. लॉक के अनुसार इस परिस्थिति में हम वास्तव में अधिक-से-अधिक "सजीवता" (वास्तविक चीज अपभ्रम से अधिक "सजीव" या "स्पष्ट" होती है) और संसक्तता (वास्तविक चीजें व्यवस्थित होती हैं, जैसा कि बर्कली ने माना है) की कसौटी को लागू करते हैं। परंतु स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाली वस्तुओं के लॉक के सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए हम जो कर सकते हैं और जो हमें करना पड़ेगा, वे दो भिन्न बातें हैं। -(लॉक, ऐन ऐसे कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग, खंड ४, अध्याय ४, परिच्छेद ३-४)।

सच है कि अपभ्रम में "वहाँ कोई मेज नहीं होती" ; परंतु वर्कली के अनुसार इसका मतलब केवल यह है कि अपभ्रम में मेज वाले अनुभवों का कोई परिवार नहीं होता। यह पता लगाने में कि हमे जो अनुभव हो रहा है वह "अव्यवस्थित" है या नहीं केवल थोड़ा ही समय लगता है। यथार्थ प्रत्यक्ष और अपभ्रम का अंतर सदैव ऐंद्रिय अनुभवो के पारस्परिक संबंधों में मिलेगा—विशेषत: इस बात में कि वे एक परिवार के हैं या नहीं हैं। जो एक परिवार के नहीं होते उन्हें हम अपभ्रम कहते है।

वर्कली की इस बात का बड़ा गलत अर्थ लगाया गया है। कुछ लोगों ने कहा है कि वर्कली हर चीज को काल्पनिक मानता है। पर असली मेज और काल्पनिक मेज के बीच बहुत अंतर होता है। मैं काल्पनिक मेज के ऊपर नहीं बैठ सकता, न मैं उसके ऊपर किताबें रख सकता हूँ, और न मेरे उसके ऊपर चढ़ने की कोशिश करने से वह मेरे भार को ही संभाल सकेगी : ये ऐंद्रिय अनुभव एक परिवार के रूप में संसक्त नहीं हैं। जब वर्कली के मत का खंडन करने के लिए सैमुअल जॉनसन से कहा गया तब जॉनसन ने एक पत्थर को ठोकर मारकर कहा, "मैं ऐसे उनका खंडन करता हूँ।" पर वर्कली ने कभी पत्थर के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया : उसने केवल इतना कहा होता कि पत्थर ऐंद्रिय अनुभवों का एक परिवार है (एक अपभ्रम बिल्कुल नही), और उसे ठोकर मारने से केवल उसकी बात ही संपुष्ट होती है : दृष्टिसंबंधी अनुभवों के पीछे स्पर्शसंबंधी अनुभव ठीक उसी तरह होते है जिस तरह ऐंद्रिय अनुभवों के किसी सुव्यवस्थित परिवार में उनके होने की आशा की जा सकती है।

"वास्तविक" चीजों के अस्तित्व की कसौटी के रूप में एकमात्र स्पर्श के ऊपर वर्कली ने जोर दिया था। यदि स्पर्श-अनुभव नही प्राप्त हो सकता, तो वर्कली के मतानुसार भौतिक वस्तु नही है, भले ही संबंधित परिवार का दृष्टि-संबंधी अंश बिल्कुल व्यवस्था-युक्त हो। इस प्रकार यदि आपको पेड के दृष्टि-संबंधी अनुभव होते हैं और आप उसे छूने के लिए आगे बढ़ते हैं पर आपको स्पर्शसंबंधी अनुभव नही होते, तो आपको मानना पड़ेगा कि जो पेड प्रतीत हुआ वह एक अपभ्रम था। इसके विपरीत, यदि आप किसी अदृश्य चीज से टकरा जाएँ, पर उसकी स्पर्श से ज्ञात आकृति पेड़ की तरह हो, तो आपको कहना पड़ेगा कि वह एक अदृश्य पेड़ है, न कि एक अपभ्रम। (यह परिस्थिति

अदृश्य शीशे वाली है।) अथवा, यदि आप सोचते हैं कि आपने अगल-वगल रखे हुए दो लोहे के छड़ देखे हैं, पर छूने से आपने पाया कि वहाँ अविच्छिन्न रूप से एक ही सतह है, तो आपको यह कहना पड़ेगा, "यह एक छड़ है, पर दिखाई दो-जैसी देती थी" (यह कभी नहीं कि "दो छड़ें हैं पर छूने में एक जैसी लगती थीं")। परंतु यदि आपने सोचा हो कि आपने एक छड़ देखी है और छूने से आपको स्पर्शों की दो अलग शृंखलाएँ मालूम हुई हों (आप उनके बीच में अपना हाथ रख सकते हैं), तो आपको मानना पड़ेगा कि दो छड़ें थीं जो एक जैसी दिखाई देती थीं (यह नहीं कि एक छड़ थी जो छूने में दो जैसी लगती थी)। यह निश्चय करने के लिए कि हमारे अनुभव यथार्थ हैं या अपभ्रांत, हमारी अंतिम कसौटी यह है कि परिवार में कोई "स्पर्श-सदस्य" है या नहीं। दृष्टिसंबंधी अनुभव स्पर्शसंबंधी अनुभवों के संकेत या अग्रदूत होते है।

भ्रम—कभी-कभी हमारे ऐंद्रिय अनुभव एक परिवार के भाग तो होते है—इसलिए अपभ्रांत नहीं होते—परंतु परिवार के कुछ भागों के गुण अन्य भागों के गुणों से मेल नही खाते। तब हम कहते हैं कि वस्तु "सचमुच गुण अ से युक्त है" पर "गुण ब से युक्त दिखाई मात्र देती है"। उदाहरणार्थ, एक सीधी छड़ी पानी के अंदर टेढ़ी दिखाई देती है : एक स्पर्श-अनुभव होता है, पर जब हम पानी के अंदर छड़ी को देखते हैं तब हम कहेंगे कि "वह टेढ़ी है" और ज्योंही वह पानी के बाहर निकाली जाती है हम कहेगे कि "वह सीधी है"। हम ऐसा क्यों कहते है कि छड़ी वास्तव में सदैव सीधी रहती है और पानी मे टेढ़ी दिखाई मात्र देती है? यह क्यों नही कहते कि पानी में वह टेढी हो जाती है और उस समय छूने से सीधी केवल लगती है! यहाँ भी स्पर्शानुभव को हम निर्णायक मानते हैं। परंतु स्थिति में एकमात्र यही महत्वपूर्ण बात नही है। यदि हम पानी के अंदर छड़ी के साथ-साथ एक मापदंड भी रख देते हैं तो हम पाते है कि वह भी टेढ़ा दिखाई देता है, और इसके बावजूद दोनो बराबर छूने में सीधे हैं। हम अपवर्तन के नियमो के द्वारा इस बात की व्याख्या कर सकते है कि छड़ी क्यो पानी में टेढ़ी दिखाई देती है; और इस वजह से हम यह कहने के बजाय कि छड़ी पानी के अंदर छूने में सीधी होने के बावजूद टेढ़ी हो जाती है यह भी कहते हैं कि वह वास्तव में बराबर सीधी बनी रहती है। इस प्रकार यह मानने के बजाय कि छड़ी टेढ़ी है पर छूने में सीधी

लगती है, यह मानने से कि वह सीधी है पर टेढी दिखाई देती है, सब बातो का परस्पर पूरा मेल बैठ जाता है और कोई बातें ऐसी नही बचती जिनकी व्याख्या न हो पाए।

रुपया अधिकतर कोणो से दीर्घवृत्तीय दिखाई देता है, फिर भी हम कहते हैं कि वह दीर्घवृत्तीय केवल दिखाई ही देता है पर असल मे है गोल। यह सच है कि वह छूने मे गोल है, परतु छुए बिना भी केवल दृष्टि के आधार पर हम कह सकते हैं (और निस्सदेह कहेंगे) कि वह गोल है। लब से देखने पर रुपए की जो गोल आकृति हमारे सामने होती है वह विरूपण शृंखला का मानो केंद्र है जिससे सब अन्य प्रतीयमान आकृतियां "विकीर्ण" होती हैं। और इस प्रकार हम कहते हैं, "रुपया वास्तव मे गोल है ; इस कोण से वह दीर्घवृत्तीय दिखाई मात्र देता है"— हम यह नही कहते, "वह एक कोण से देखने पर दीर्घवृत्तीय हो जाता है" (तब क्या होगा जब कोई उसे लगातार ऊपर से देखता रहे और कहता रहे, "वह दीर्घवृत्तीय बिल्कुल नही होता— मुझे तो अब भी वह गोल दिखाई देता है" ?) अथवा "वह बराबर दीर्घवृत्तीय है ; गोल तो वह ऊपर से देखने पर प्रतीत मात्र होता है" (पर छूने मे वह बराबर गोल है ; इसके अलावा, हम दीर्घवृत्तीय आकृतियो की प्रकाशीय नियमो के द्वारा व्याख्या कर सकते हैं, वैसे ही जैसे टेढी दिखाई देनेवाली सीधी छडी के उदाहरण मे)।

प्रत्येक प्रसग मे जिन कसौटियो का प्रयोग किया जाता है उनको लेकर हर आदमी सहमत नही होगा· कोई कहेगा कि हम गोल आकृति को "वास्तविक आकृति" मानते हैं और दीर्घवृत्तीय आकृति को "आभास मात्र", क्योकि हम गोल आकृति को भविष्यवाणी के आधार के रूप मे इस्तेमाल कर सकते हैं : यदि हम यह मानकर चलें कि वह गोल है तो हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि विभिन्न कोणो से वह कैसा दिखाई देगा (दीर्घवृत्तीयता की विभिन्न मात्राएँ)। परन्तु क्या हमें पक्का विश्वास है कि ऊपर से दीखनेवाली गोल आकृति की भविष्यवाणी हम बदलती हुई दीर्घवृत्तीय आकृतियो के आधार पर इतनी अच्छी तरह नही कर सकते ?

यह याद रखना जरूरी है कि हम "वास्तविकता" को "आभास" (प्रतीति) से अलग पहचानने के लिए सदैव इन्ही कसौटी का प्रयोग नही करते। आकृति के प्रसग मे हम दृष्टि और स्पर्श दोनो का सहारा लेते हैं,

पर रंग का निश्चय केवल दृष्टि से ही हो सकता है। किसी चीज के प्रकाश और दूरी की विभिन्न अवस्थाओं में जो रंग प्रतीत होते है उनसे अलग जिसे हम उसका "वास्तविक रंग" कहते है उसकी पहचान हम कैसे करते हैं ?

हम कहते है कि एक पोशाक गहरी नीली है, हालांकि अधिकांश समय (और प्रायः सभी कृत्रिम प्रकाशों में) वह काली प्रतीत होती है। यदि कोई यह कहे कि पोशाक वास्तव में काली है, तो हम कहेंगे कि यह गलत है, हालांकि हम इस बात से इन्कार नही करेगे कि वह इस समय उसे और हमें, दोनों को काली दिखाई देती है। तो फिर यहाँ हम कौन-सी कसौटी लागू कर रहे है ? स्पष्ट है कि लॉक जैसी चाहता है वैसी हम यहां पोशाक जैसी दिखाई देती है उसकी जैसी वह स्वयं है उससे तुलना नहीं कर सकते : हमें केवल बदलती हुई प्रतीतियो पर ही निर्भर रहना पड़ता है। परंतु हम सब प्रतीतियों में से किसी एक को "मानक" के रूप में चुन लेते है : हम कहते है कि पोशाक का असली रंग वह है जो कुछ मानक-परिस्थितियों मे दिखाई देता है। विशेषतः हम कहते है कि पोशाक का असली रंग वह है जो सूरज की रोशनी में दिखाई देता है। सूरज की रोशनी में वह गहरी नीली दिखाई देती है, और तदनुसार हम कहते है कि उसका रंग गहरा नीला है।

परतु यह कहने के बजाय कि पोशाक काली है क्योंकि कृत्रिम प्रकाश में वह वैसी दिखाई देती है, हम यह क्यों कहते है कि वह गहरी नीली है क्योंकि सूर्य के प्रकाश मे वह वैसी दिखाई देती है ? सूय के प्रकाश के पक्ष में यह पूर्वग्रह क्यो ? क्या इसलिए कि आदमियों ने पहले सूय के प्रकाश को मानक बनाया और इस आदत को वे कभी नही छोड़ सके ? अथवा क्या इसलिए कि सूर्य के प्रकाश से ही हमारा सामना सबसे अधिक होता है ? नहीं, इनमे से कोई भी बात इससे संबंध नही रखती। यदि सूर्य का प्रकाश वह चीज न भी हो जिससे हमारा सबसे अधिक सामना होता है—जो दिन मे सोते है और रात में जागते है उनके लिए तो वह है ही नहीं—तो भी उसे मानक माना जाएगा, क्योकि सूर्य के प्रकाश मे ही हमें रगों मे अधिकतम संभव भेद करने का अवसर मिलता है। दो पोशाकें कृत्रिम प्रकाश में एक ही रंग की दिखाई देती हैं (काली), पर जब हम उन्हें सूर्य के प्रकाश मे देखते हैं तब एक गहरी नीली दिखाई देती है और दूसरी काली, और फलतः हम एक को गहरे नीले रंग की और दूसरी को काले रंग की बताते हैं। यदि हम कृत्रिम प्रकाश को

अपना मानक बनाएँ (जिसमें दोनों ही पोशाकें काली लगती हैं) तो हम यह भविष्यवाणी नही कर पाएँगे कि सूर्य के प्रकाश में उनका कौन-सा रंग दिखाई देगा, जबकि दोनों को सूर्य के प्रकाश में देख चुकने के बाद हम आसानी से यह भविष्यवाणी कर सकते है कि कृत्रिम प्रकाश में दोनों काली लगेगी। इस प्रकार हम वापस अधिकतम पूर्वानुमानगम्यता में पहुँच जाते है : हम अधिकतम भेद बोध को एक कसौटी के रूप मे इसलिए लेते है कि अधिकतम भेद-बोध की स्थितियाँ वे स्थितियाँ भी है जिनमें रंग-प्रतीतियाँ अधिकतम पूर्वानुमानगम्य होती है।

वस्तु का असली रंग हम उसे कहते है जो उसमें अधिकतम भेद-बोध की सहायक स्थितियों में दिखाई देता है—अर्थात् सूर्य के प्रकाश में। असली रंग वह है जो सब प्रतीयमान रंगों में से एक कसौटी के अनुसार चुना जाता है। यह हो सकता है कि सूर्य के प्रकाश से हमारा अधिक सामना होता है, परंतु इस बात का उन रग-प्रतीतियों के चुनाव मे कोई हाथ नही होता जिन्हें हम "असली रंग" कहते है : असली रग वह है जो वस्तु में अमुक-अमुक स्थितियों में दिखाई देता है, चाहे उन स्थितियो से हमारा सामना कम हो या अधिक। यदि हमें प्रकाश का कोई ऐसा स्रोत मिल जाए जो उसमे भी जिसे हम एकसमान गहरी नीली समझते है अंतर प्रकट कर दे, तो हम कहेंगे, "यह सूर्य की रोशनी में एकसमान नीली दिखाई देती है, पर तब देखिए जब मैं यह अन्य रोशनी उस पर डालता हूँ—आप देखेंगे कि पोशाक असल में विभिन्न रंगों वाली है।"

सूर्य के प्रकाश (रंगों में अधिकतम भेद-बोध की स्थिति) और अन्य प्रकार के प्रकाशों के अंतर के बारे में हम इतना ही कहेंगे। जब रंग के अनुभव में अंतर प्रकाश के ऊपर निर्भर करता है तब हम अधिकतम भेद-बोध के सिद्धांत का आश्रय ले सकते हैं। परंतु ऐंद्रिय अनुभव के सभी प्रकार, रंग के प्रसंग में भी, इस अंतर पर निर्भर नही करते। तीन आदमी सूर्य के प्रकाश मे एक परदे को देख रहे हैं। पहला आदमी नीला रंग देखता है। दूसरा कुछ नील-लोहित सी छटा देख रहा है क्योंकि उसने लाल रंग का चश्मा पहना हुआ है। तीसरा आदमी जिसने पीला चश्मा पहना हुआ है हरा रंग देखता है। हम कहते हैं कि परदा वास्तव मे नीला है, अन्य रंगों का नहीं। क्यों ? प्रत्येक अन्य रंग नीले मे शुरू होनेवाली विचलन-शृंखला का एक सदस्य है।

नीला वह रंग है जो उन सबका केंद्र है। नीला मानो सामान्य विषय है और वे उसमें किए जा सकनेवाले विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हैं—परिवर्तनों की प्रत्येक शृंखला विचित्रता की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्राओं के अनुसार क्रमबद्ध है। और यदि चश्मा पहनने के बजाय हम रोशनी को विविध तरीकों से अधिकाधिक बदल सकें या विभिन्न औषधों का उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में सेवन कर सकें, तो हमें उत्तरोत्तर अधिक परिवर्तनों वाला एक और समूह प्राप्त हो जाएगा। और यहाँ भी नीला ही सामान्य विषय है।

इस प्रकार यद्यपि ये सब विभिन्न रंग समान रूप से दिखाई देते हैं और इसलिए समान रूप से वास्तविक हैं, तथापि उनमें नीले की मानो एक विशेष प्राधिकृत स्थिति है। यह कहना काफी नहीं है कि ये सब रंग समान रूप से वास्तविक या समान रूप से अवास्तविक हैं, समान रूप से "सही" या समान रूप से "गलत" हैं। यह तो ठीक है, परंतु यहाँ "सब" का क्या मतलब है? जब हम इस पर विचार करते हैं तब हम पाते हैं कि वह पत्थरों के एक ढेर की तरह एक समुच्चय मात्र नहीं है, बल्कि एक अनोखे प्रकार की व्यवस्था है : यह विभिन्न बढ़ती हुई विचित्रताओं का एक क्रमबद्ध समूह है जिसका केंद्र कोई एक अकेला रंग है।

यही वह बात है जिसे सामान्य बुद्धि यह कहकर बताने की कोशिश करता है कि परदे का वास्तविक रंग नीला है। परंतु यह कथन "वास्तविक" शब्द की द्व्यर्थकता के कारण दोषपूर्ण है। इससे यह धारणा बन सकती है कि नीला रंग वहाँ सचमुच है और अन्य रंग (जैसे लाल चश्मा पहने हुए आदमी को दिखाई देनेवाला नीललोहित) वहाँ नहीं है : यह बात कतई नहीं है, क्योंकि सभी रंग सचमुच वहाँ हैं। लेकिन यह व्याख्या गलत है। "वास्तविक" का अर्थ यहाँ उस तरह का अधिक है जो "इसे करने का वास्तविक तरीका यह है" या "इस विषय का वास्तविक अधिकारी विद्वान् स्मिथ है" में है। इसका मतलब कुछ "उसी प्रकार की अन्य चीजों से श्रेष्ठ" जैसा है। अब एक बात अवश्य ही ऐसी है कि जिसमें नीला उन बहुत-से अन्य रंगों से जो परदे को देखने पर हमें दिखाई देते हैं श्रेष्ठ या अधिक महत्वपूर्ण है। वे भी वहाँ इससे कम नहीं हैं, पर बात यह है कि परदे के प्रसंग में केवल इसीके आधार पर शेष सब रंगों में व्यवस्था आती है। यदि इससे उनका समान रूप से संबंध न हो तो पूरा समूह छिन्न-भिन्न हो जाएगा और उसमें वह व्यवस्था नहीं रहेगी

जो है। और यह न केवल अस्तित्व की दृष्टि से बल्कि ज्ञान की दृष्टि से भी अन्यो से अधिक महत्व रखता है यह मानो पूरे समूह की कुजी है, और यदि हम जान ले कि वह क्या है तो हम यह अनुमान कर सकते हैं कि अन्य सदस्य क्या होगे। सक्षेप मे हम कहेगे कि वह परदे का मानकीय रग है, और इस प्रकार "वास्तविक" शब्द की द्व्यर्थकता से हम बच जाते हैं। तो फिर सामान्य बुद्धि के अनुसार नीला उस विशेष परदे का मानकीय रग हुआ और प्रत्येक भौतिक चीज का अपना अलग ही मानकीय रग होता है। यदि ऐसा है तो स्पष्ट है कि सामान्य बुद्धि पर आश्रित धारणा बिल्कुल सही है। और हम कह सकते हैं कि न उसके विश्लेषण के लिए और न उसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए ही कभी कारण-सबंधी बातो का सहारा लेने की जरूरत है।[1]

इस तरह हम देखते हैं कि विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न कसौटियाँ लागू की जाती हैं। अनेक प्रतीत होनेवाले रगो मे से "वास्तविक रग" का पता लगाने के लिए हम तब एक कसौटी इस्तेमाल करते है जब अतर प्रदीप्ति के अतर पर आश्रित होता है, और तब दूसरी कसौटी का इस्तेमाल करते हैं जब वह परिप्रेक्ष्य के अतरो पर या दृष्टि के दोषो पर आश्रित होता है। बात तब और भी उलझ जाती है जब हमारा एक सदर्भ मे "वास्तविक गुण" से एक अभिप्राय होता है और दूसरे सदर्भ मे दूसरा· उदाहरणार्थ, रुधिर लाल होता है, ठीक वैसे ही जैसे परदा नीला है, और उसी वजह से जो ऊपर दी गई है लाल वह रग है जो सूर्य के प्रकाश मे रुधिर को देखने पर आपको दिखाई देगा, और वही किसी भी विस्पण-शृखला या यत्र होगा। इसके विपरीत, यदि हम प्रयोगशाला मे कार्यरत जीवविज्ञानी हैं तो हम कहेंगे कि रुधिर एकसमान लाल नही है (हालाँकि दिखाई वह वैसा ही देता है), क्योकि सूक्ष्मदर्शी से देखने पर उसमे रगो की विभिन्नता प्रकट होती है - इस "वैज्ञानिक" अर्थ मे वह लाल और स्वच्छ (पूरा लाल नही) है, क्योकि यही रग आपको सदैव सूक्ष्मदर्शी से देखने पर दिखाई देगा। हर हालत मे प्रतीति निर्णायक वह है जो हमे किन्ही प्राधिकृत अवस्थाओ मे होती है। इससे पहले विचारणीय बात केवल इसे बताया गया था कि प्राधिकृत

---

१. एच० एच० प्राइस, पर्सेप्शन, पृ० २११-२।

हम स्थितियो के जिस समूह को मानते है वह उस सदर्भ के अनुसार जिसमें हम बात करते है कुछ बदल जाता है ।

स्वप्न—हम अपभ्रमो और भ्रमो के बारे मे बता चुके है ; पर एक प्रकार का और भी अनुभव होता है जिस पर अभी हमने विचार नही किया है, और यह है स्वप्न । अपभ्रम और भ्रम कम-से-कम तब तो होते है जब हम जागते होते ह, पर स्वप्नो मे इतना भी नही होता । चूँकि ऐसी कोई चीज वास्तव मे नही है जिसे हम स्वप्न मे न देखते हो, इसलिए स्वप्नो मे दैनिक जीवन के नियमित अनुभवो की अपेक्षा उससे भी कही अधिक विचित्रता पाई जाती है जितनी इन अन्य दो मे होती है । स्वप्नो का जाग्रत् अवस्था के अनुभवो से क्या अतर बताया जाएगा ?

क्या जाग्रत् अवस्था के अनुभव स्वप्नो से अधिक स्पष्ट या सजीव होते है ? नही, यह आवश्यक नही है । कभी-कभी स्वप्न उतने ही सजीव होते हैं जितने जाग्रत् अवस्था के अनुभव हो सकते है । क्या स्वप्नो का विषय कम क्रमबद्ध होता है ? कभी कभी, पर यह जरूरी नही है—रग और शक्लें, ध्वनियाँ, गधें, स्वाद तथा अनुभूतियाँ सभी स्वप्न मे वैसे ही एक क्रमबद्ध तरीके से हो सकते है जैसे जाग्रत् अवस्था मे, और इसलिए "प्रकृति के नियमो का अनुसरण न कर पाना" स्वप्नो को अलग करनेवाली बात नही मानी जा सकती : स्वप्न मे जो मेज दिखाई देता है वह जाग्रत् अवस्था की मेज की तरह हो सकती है—वह एकाएक अदृश्य नही होगी या हवा मे नही तैरने लगेगी या एक स्थान से गायब होकर दूसरे स्थान पर प्रकट नही होगी । स्वप्नो को जाग्रत् अवस्था के अनुभवो से उनकी किसी भी गुणात्मक असमानता के आधार पर अलग करना असभव प्रतीत होता है ।

कोई यह सुझाव देगा : "अतर यह है कि यदि हम स्वप्न के अनुभवो से निष्कर्ष निकालें तो वे गलत होते हैं, पर यदि जाग्रत् अवस्था के अनुभवो से निष्कर्ष निकालें तो वे गलत नही होते । आप स्वप्न मे देखते हैं कि आपकी पत्नी का देहात हो गया है, परन्तु यदि आप यह निष्कर्ष निकाले कि वह सचमुच मर गई है तो यह गलत होगा क्योकि जब आप जागते हैं तब आप उसे जीवित पाते हैं ।" स्वप्न के अनुभवो पर आधारित निष्कर्ष का जाग्रत् अवस्था के अनुभवो पर आधारित निष्कर्ष से अवश्य ही यह अंतर होता है ; परन्तु अभी तक ऐसी कोई बात नही है जो हमे बताए कि कौन-सा अनुमान सही है ।

शायद स्वप्न मे आपको जो अनुभव हुआ हो वही सच्ची घटना हो और जाग्रत् अवस्था मे होनेवाला अनुभव ही भ्रामक हो। हम अवश्य ही यह मानते हैं कि जाग्रत् अवस्था का अनुभव ही हमें यह कहने का अधिकार देता है कि अमुक बात सचमुच हुई है और कि यदि स्वप्नो के आधार पर हम इसी तरह का अनुमान करें तो यह हमारी गलती होगी ; परंतु हम इसका उल्टा क्यो नही मानते ? ऐसा क्यो न कहा जाए कि जिसे मैं जाग्रत् अवस्था मे हुई समझता था स्वप्न यह सिद्ध करता है कि वह बात सचमुच हुई नही ? ('जाग्रत् अवस्था मे मैं चीजो को न केवल देखता हूँ वल्कि छूता भी हूँ।" परंतु छू तो आप स्वप्न मे भी सकते हैं।)

"जाग्रत् अवस्था के अनुभवो से संवाद रखने वाली सचमुच की भौतिक वस्तुएँ होती हैं, परतु स्वप्नावस्था के अनुभवो से संवाद रखनेवाली नही होती।" पर यह घिसापिटा तर्क नही चलेगा, क्योकि यदि आपकी पहुँच केवल अनुभवो तक ही है तो आप कैसे जानते हैं कि एक प्रसंग मे तो अनुभव और किसी और चीज के मध्य संवाद है पर दूसरे प्रसंग मे नही है ? यहाँ लॉक वाली समस्या फिर आ खडी होता है। स्वप्न के अनुभवो का हम जिस तरह से भी अन्य अनुभवों से अतर करते हो, इस तरीके से तो नही करते।

ऐसा प्रतीत होगा कि अंतर अकेले अनुभवो के स्वरूप पर नही वल्कि उस पूरे संदर्भ पर निर्भर होता है जिसमे वे होते हैं। स्वप्न की मेज ठीक उतनी ही सजीव, उतनी ही चमकदार, उतनी ही काली और उतनी ही ठोस हो सकती है जितनी जाग्रत् अवस्था की मेज ; परंतु जाग्रत् अवस्था की मेज परस्पर जुडे हुए अनुभवो के एक विशाल और व्यापक ढाँचे मे जडी होती है जब कि स्वप्न मे यह नहीं होता। आप जागते हैं ; स्वयं को पलंग पर लेटे हुए पाते हैं ; वहाँ वही फर्नीचर और वही खिडकियाँ हैं जो आप हजारों बार देख चुके हैं ; और आपको याद आता है कि आप सोने के लिए लेट गए थे, आपको झपकी आने लगी थी और आपने बत्ती बुझा दी थी। और एकाएक कड़ी मिल जाती है—दक्षिणी सागर मे होने का अनुभव अवश्य ही स्वप्नावस्था मे हुआ था, क्योकि वह सारे अन्य अनुभवों के संदर्भ मे कहीं भी ठीक नहीं बैठता।

इस बात पर विचार कीजिए कि हम स्वप्नो या भ्रमों की असलियत को कैसे पहचानते हैं। जब हम एक बिल्कुल साफ स्वप्न को देखते-देखते एकाएक

जाग पड़ते हैं तब क्षण भर के लिए भौचक्के रह जाते हैं और स्वप्न का वास्तविकता से अंतर नही जान पाते। यह हम कैसे निर्धारित करते हैं कि कौन क्या है ? मात्र सजीवता के आधार पर कोई निश्चय नहीं हो पाता। ऐसा हो सकता है कि स्वप्न की तीव्रता इतनी अधिक हो कि वह नीद से जगा दे और अपने जाने-पहचाने परिवेश का हमारा प्रत्यक्ष उसकी अपेक्षा हल्का हो। यहाँ निर्णायक तत्व है वास्तविकता का आकार और संघटन। हमारे जाने-पहचाने शयन-कक्ष की मेज और खिड़कियाँ और परिचित आवाजें असंख्य बातों से जुड़ी हुई होती है जो हमारी रोजाना की जानी-पहचानी दुनिया को हमारे इर्द-गिर्द अपने पूरे जोर के साथ ला खड़ी करती है। इस दुनिया के इतने विशाल आकार के मुकाबले में और उसके अंदर रहने का कोई स्थान पाए बिना हमारे स्वप्नों की वस्तुएँ असार और अस्थायी लगती हैं तथा किसी अवलंब के अभाव मे जल्दी ही लुप्त हो जाती हैं ; और ठीक इस बात का ही समझ में आ जाना कि जिसका हम अनुभव करते रहे उसका हमारे सामान्य बुद्धि के जगत् में कही मेल नही बैठता, हमारे इस कथन का अर्थ होता है कि हम स्वप्न से जाग पड़े हैं। ऐसी काल्पनिक चीजों को अनुभव के व्यवस्थित पुंज से अलग पहचानने की शक्ति ही मानसिक स्वास्थ्य का तर्कसंगत अर्थ है ; उसका लोप ही पागलपन है।[1]

यही स्वप्नावस्था के अनुभवों की विशेपता है— उनका मेल न बैठ पाना। हमारे जाग्रत् अवस्था के अनुभव एक व्यवस्थित ढांचे के अंग होते हैं जिसे अगले पृष्ठ पर चित्र में काली रेखाओं से दिखाया गया है : जाग्रत् अवस्था मे हम कुछ वस्तुओं और कुछ व्यक्तियों को देखते हैं; वे वस्तुएँ निश्चित तरीकों से (प्रकृति के नियमों के अनुसार) व्यवहार करती हैं ; और जब संवेदनों का परिवेश बदलता है तब हम उसका कोई कारण बता सकते हैं, जैसे यह कि "मैं यहाँ से वहाँ चला गया था।" नीद मे हमे और ही अनुभव होते हैं, स्वप्न—स्व$_1$. स्व$_2$ इत्यादि। तब हम फिर जाग जाते हैं और अनुभव स्वप्नों से पहले के अपने रूप मे ही पुनः आ जाता है, जैसे कि मानो स्वप्न के अनुभव कभी हुए ही न हों। स्व$_1$ की दुनिया का स्थिर और एकसमान दुनिया जा० अ० (जाग्रत् अवस्था) से मेल नही बैठना, और न स्व$_1$ का स्व$_2$ या स्व$_3$ से ही मेल बैठता है। हम

---

१. ब्लैंशार्ड, दि नेचर ऑफ थॉट, II, २७८-७६।

उन्हें स्वप्न कहते ही ठीक इसलिए हैं कि उनका मेल नहीं बैठता। और हम जाग्रत् अवस्था के अनुभवों को "वास्तविक" कहते है, इसलिए नहीं कि स्वप्नों के अनुभव वास्तविक नहीं हैं (स्पष्ट है कि दोनों ही प्रकार के अनुभव होते हैं) बल्कि इसलिए कि जैसे भ्रम में वैसे ही यहाँ भी हम "वास्तविक" शब्द का प्रयोग अनुभवों के एक प्राधिकृत वर्ग के लिए करते हैं—इस प्रसंग में उन अनुभवों के लिए जिनमें व्यापक क्रमबद्धता और संसक्तता होती है, जो जाग्रत् अवस्था के अनुभवों में अवश्य ही होती है।

परंतु हम कैसे जानते हैं कि यह सब स्वप्न नहीं है? शायद हमारा सारा ही अनुभव एक स्वप्न है। यह एक गंभीर सुझाव जैसा लगेगा, लेकिन असल में यह एक शाब्दिक पैंतरेबाजी मात्र है। "स्वप्न" शब्द का हमारी भाषा में प्रयोग अब अनुभवों के एक विशेष वर्ग—स्व१, स्व२ इत्यादि—के लिए और उन्हें सब अन्य अनुभवों से अलग करने के लिए किया जाता है। स्वप्नों के अनुभव वे होते हैं *जिनका हमारे अन्य दैनिक अनुभवों की नियमित* व्यवस्था के साथ मेल नहीं बैठता। अब यदि जो भी अनुभव हमें होता हो उसे हम स्वप्न कहें तो हमारा कथन असल में अर्थहीन होगा। उसका मेल किससे नहीं बैठता? *"मेल बैठना" केवल उन अन्य चीजों के संदर्भ में या* उनकी पृष्ठभूमि को देखते हुए ही अर्थ रखता है जिनसे मेल बैठता है। आप हर चीज के बारे में नहीं कह सकते कि उसका मेल नहीं बैठता। किससे मेल नहीं बैठता? इस तरह तो हम एक शब्द या शब्दसमूह का उस एकमात्र संदर्भ से बाहर प्रयोग करते होंगे जिसमें वह कोई अर्थ रखता है।

अथवा बात को इस रूप में रखा जा सकता है: यदि आप चाहें तो कह सकते हैं कि यह सब एक स्वप्न है। तब आप "स्वप्न" शब्द का प्रयोग न केवल स्व१, स्व२ इत्यादि के लिए बल्कि अनुभव के पूरे विस्तार (पूरे चित्र) के लिए करते होंगे। *बहुत अच्छा। यह सब एक बड़ा स्वप्न है।* परंतु इस एक बड़े स्वप्न के अंदर भी जिसमें कि हम सब निरंतर रह रहे हैं, हमें अनुभव के उन "द्वीपों" का जिनका अन्यों से मेल नहीं बैठता उस विशाल शेषांश में जो

एकरूप है अतर करना पडेगा। यह अतर अब भी वैध होगा। बात सिर्फ इतनी होगी कि हम "स्वप्न" शब्द का प्रयोग इन द्वीपो को शेप से अलग करने के लिए नही कर पाएँगे, क्योकि यह शब्द पहले ही सपूर्ण अनुभव के लिए तय हो चुका है। अत पहले हम जिस चीज के लिए "स्वप्न" शब्द का प्रयोग करते थे ठीक उसी चीज के बारे मे बात करने के लिए अब हमे एक नया शब्द गढना पडेगा। इससे कौन-सा लाभ सभव है ? ऐसा करने से हम अपने अनुभव की किसी भी विशेषता को नही बदल सकेंगे। केवल यह होगा कि जो शब्द पहले से एक अर्थ मे प्रचलित है और हर आदमी जिसे पहले से ही समझता है उसकी जगह पर एक नया शब्द आ जाएगा।

वास्तव मे स्वप्न के अनुभवो को जाग्रत् अवस्था के अनुभवो से अलग पहचानने मे बहुत कम कठिनाई होती है। जागने के बाद अधिक से अधिक कुछ ही क्षणो के बाद हम देख लेते है कि दक्षिणी सागर के द्वीप के अनुभवो का हमारे किन्ही भी अन्य अनुभवो से मेल नही बैठता। पर तर्कत ऐसा सभव है कि दोनो मे अतर करने मे जितनी कठिनाई इस समय होती है उससे कही अधिक कठिनाई हो। ऐसी तर्कत सभव स्थितियो की कल्पना की जा सकती है जिनमे हम न जान पाएँ कि क्या कहना है। मान लीजिए कि आपका सपूर्ण अनुभव दो बराबर भागो मे बाँट दिया जाता है एक प्रकार के अनुभव क$_1$ (मकान, पुस्तकें, कक्षाएं, लोगो का एक समूह) की एक अवधि के अनतर एक बिलकुल ही भिन्न प्रकार के अनुभव क$_2$ (उष्ण प्रदेश के नारियल के पेड, महासागर, आदिवासी कबीले) की एक तुल्य अवधि आती है, और अनुभवो के ये दो समुच्चय आपके पूरे जीवन-काल मे बारी-बारी से चलते रहते है। अनुभवो का कोई भी समुच्चय दूसरे से कोई सबध नही रखता, पर प्रत्येक अपने अदर पूरा और ससक्त है। आप स्वय से पूछ सकते है : "जब मैंने उष्णप्रदेशीय महासागर और नारियल के पेडो को देखा तब क्या मैं स्वप्न देख रहा था ?" पर अनुभव की अगली अवधि मे आप स्वय से यह पूछ सकते हैं . "जब मैंने शयन-कक्ष, चिचन, जाने-पहचाने लोग इत्यादि देखे थे तब क्या मैं स्वप्न देख रहा था ?' और चूंकि अनुभवो के दोनो ही समुच्चय समान रूप से व्यवस्थाबद्ध और ससक्त हैं, इसलिए आपके पास उनकी पहचान करने का कोई तरीका नही होगा। आपके अनुभव दो समूहो मे बटे होगे और एक समूह के कोई भी गुण दूसरे की अपेक्षा विशेषाधिकार-प्राप्त नही होंगे जिनके आधार

पर आप कह सके कि "यह सचाई है और वह एक लगातार चलनेवाला स्वप्न था।"

दृश्यते इति वर्तते—अब हमे प्रत्ययवाद के एक और पहलू पर विचार करना है। प्रत्ययवाद के अनुसार भौतिक वस्तुएँ ऐंद्रिय अनुभवो के परिवार है। परतु स्पष्ट है कि अनुभवो का अस्तित्व अननुभूत नही होता। अत भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व भी अननुभूत नही होता।

यह अतिम कथन हमारे सामान्यबुद्धिसुलभ विश्वासो के बिल्कुल विरुद्ध है। हम यह मानते है कि भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व बराबर बना रहता है, चाहे उनका हमे अनुभव हो या न हो। प्रत्ययवाद इसमे इन्कार करने के लिए प्रतिबद्ध है। प्रत्ययवाद के अनुसार भौतिक वस्तुओ का जहाँ तक सबध है वहाँ तक "होना और प्रत्यक्ष होना एक ही बात है" (दृश्यते इति वर्तते)। प्रत्ययवाद भौतिक वस्तुओ के बारे मे वही बात कहता है जो सामान्य बुद्धि सब तरह के अनुभवो के बारे मे कहती है : यह कि उनका अस्तित्व अनुभव के बिना नही होता और न हो सकता है ; और यदि अकेले उनका अस्तित्व वैसा नही हो सकता तो उनके सयोगो (प्रत्ययवाद भौतिक वस्तुओ को उनके सयोग मानता है) का भी नही हो सकता। प्रत्ययवाद कहता है कि अनुभव से पृथक् कुछ भी वास्तविक नही हो सकता। मेज, पेड और अन्य भौतिक वस्तुएँ अनुभवो के परिवार है। उनका केवल अनुभवो के रूप मे ही अस्तित्व होता है, अन्यथा नही ; और यदि अन्यथा होता भी तो हम न जान सकते कि उनका *अस्तित्व है, क्योकि हमारा ज्ञान हमारे अनुभवो तक ही सीमित होता है।*

पर मेज का अस्तित्व निश्चय ही तब समाप्त नही हो जाता जब मैं कमरे से बाहर चला जाता हूँ ? नही, तब नही जब आप कमरे मे रहते हैं और मेज को लगातार देख रहे होते हैं। पर मान लीजिए कि हम दोनो ही कमरे से बाहर चले जाते है। क्या तब मेज का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा ? हाँ, यदि किसी को भी मेज के अनुभव नही हो रहे हैं तो। यदि हम समझते हैं कि कमरे मे कोई नही है, और हम पद्रह मिनट तक बाहर रहकर वापस चले जाते है तो शायद हम अपने मित्र जोन्स को यह कहते पाएँगे "मेज का पूरे समय अस्तित्व बना रहा ; मैं दीवार के एक छेद मे से उसे देख रहा था, और मैं आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि जब आप चले गए थे तब मुझे मेज के ठीक वैसे ही अनुभव होते रहे जैसे आपके कमरे मे उपस्थित रहते हुए हुए थे।"

कोई प्रत्ययवादी इससे इन्कार नही करेगा। परंतु अब मान लीजिए कि कोई भी कमरे में नही है—कोई व्यक्ति नही, किसी तरह का कोई ऐसा जीव नही जिसे मेज का अनुभव हो सके। क्या मेज का उस अवधि मे अस्तित्व होगा? नही; अस्तित्व प्रत्यक्षगम्य होने से होता है, और चूंकि यहाँ प्रत्यक्ष हो ही नही रहा है इसलिए अस्तित्व नही है।

कोई पूछ सकता है : "तो इससे क्या फर्क पडता है? जब तक हमारे वापस कमरे मे जाने पर मेज हमे सदैव वहाँ मिलता रहेगा तब तक हमे चिंता किस बात की? इस सवाल से हमारे वास्तविक अनुभवो मे कोई भी अतर नही आता कि प्रत्यक्षो के बीच की अवधियो मे उसका अस्तित्व रहता है या नही।" प्रत्ययवादी अवश्य ही इस बात से इन्कार नही करेगा। यह सवाल व्यावहारिक हो या न हो, यह जानना फिर भी एक रोचक बात होगी कि इसका जवाब क्या है और उसकी सत्यता कैसे जानी जा सकती है।

कोई यह जवाब दे सकता है : "भौतिक वस्तुएँ प्रत्यक्षो के बीच की अवधियो मे अवश्य ही अस्तित्व रखती हैं, और मै आसानी से यह सिद्ध कर सकता हूँ। कमरे मे एक मूवी कैमरा लाकर रख दीजिए और उसे चालू करके कमरे से निकल जाइए। कुछ मिनटो के बाद वापस आइए और फिल्म को डेवलप कीजिए तथा उसे परदे के ऊपर दिखाइए। तब हम सब देखेंगे कि हमारी अनुपस्थिति मे मेज का अस्तित्व बना रहा।" परतु प्रत्ययवादी ऐसे किसी प्रयोग से आश्वस्त नही होगा। मूवी कैमरा स्वय एक भौतिक वस्तु है और प्रत्ययवादी के मतानुसार ऐंद्रिय अनुभवो का एक परिवार है, जिनका तब अस्तित्व समाप्त हो जाता है जब कोई उनका अनुभव नही करता। कैमरा, मेज, और असल मे स्वय कमरा तथा पूरी इमारत ही जिसका कि वह एक भाग है, सब एक जैसे हैं · सबके ऊपर "दृश्यते इति वर्तते" समान रूप से लागू होता है। इसके अतिरिक्त घटनाओ की पूरी शृखला का वर्णन अनुभव की शब्दावली मे किया जाता है : हमे मेज के अनुभव होते हैं, तब मेज और कैमरा के अनुभव, तब मेज के अन्य अनुभव, तब पुनः मेज और कैमरा के अनुभव और बाद मे परदे के ऊपर मेज के चित्रो के अनुभव। कोई भी, और प्रत्ययवादी तो बिल्कुल इस बात मे सदेह नही करता कि हमे अनुभव इस अनुक्रम मे होते हैं। और है ही बात इतनी—सिर्फ अनुभवो का यही अनुक्रम है। अनुभवो की इस शृखला के अलावा किसी चीज का अस्तित्व नही है, और यदि हो भी तो हमे उसका ज्ञान नही हो सकता।

अब हमें जो निराशा होती है वह उस लड़के की निराशा-जैसी होगी जिसे उसका भाई यह बताता है कि जब भी वह आँखें बंद करता है तब सड़क की रोशनी समाप्त हो जाती है। वह सड़क की रोशनी को एकाग्र होकर देखता है, अपनी आँखों को सावधानी के साथ बंद करता है, तब चुपके से उन्हें एक क्षण के लिए खोल देता है ; सड़क की बत्ती पहले की तरह चमक रही है। "पर तुमने तो कहा था कि वह नहीं रहती।" उसका भाई जवाब देता है : "हाँ, जब तुम्हारी आँखें बंद होती हैं तब, पर जब तुमने झांका था तब वे खुली थीं।" लड़का इसका खंडन कर ही कैसे सकता है ? जैसा कि अठारहवीं शताब्दी के एक आलोचक ने कहा था, "प्रत्ययवाद बिल्कुल ही बकवास है और उसका खंडन असंभव है।"

"हमें मानना पड़ेगा कि जब हम भौतिक वस्तुओं को देखते नहीं हैं तब भी उनका अस्तित्व रहता है क्योंकि तभी हम इस बात की व्याख्या कर सकते हैं कि वे दुबारा कैसे दिखाई देती हैं।" आप चुल्हे के अंदर आग जलाते है, कुछ देर तक उसे जलती देखते हैं, तब आधे घंटे के लिए कमरे से बाहर चले जाते हैं। जब आप वापस आते हैं तब चूल्हे के अंदर अंगारों के एक ढेर को छोड़कर कुछ नहीं बचता। निश्चय ही आग तब भी जलती रही होगी जब उसे देखनेवाला कोई नही था ; अन्यथा आप इस बात की कैसे व्याख्या कर पाएँगे कि जब आप बाहर निकले तब लकड़ियाँ जल रही थीं और जब आप लौटे तब केवल अंगारे बचे थे ? जब आप गए हुए थे तब अवश्य ही आग जलती रही होगी और जलते रहने के लिए यह जरूरी है कि आपकी अनुपस्थिति में उसका अस्तित्व रहा हो। अथवा : आपने कई बार एक मकान और उसकी छाया देखी है ; इस बार आप छाया तो देखते हैं पर मकान को देखने की स्थिति में नहीं हैं। परंतु मकान का इस समय अवश्य ही अस्तित्व है, हालांकि न आप उसे देख रहे हैं और न कोई और, अन्यथा छाया किस चीज की है ?

इन उदाहरणों में हम आग और छाया के व्यवहार के बारे में प्रकृति के सुप्रमाणित नियमों का सहारा ले रहे हैं। लेकिन प्रत्ययवादी हमें याद दिलाता है कि हमने इन नियमों की सचाई को केवल उन्हीं उदाहरणों में जाना है जिनका हम प्रेक्षण कर सकते हैं ; अप्रेक्षित उदाहरणों में हमारा उन्हें लागू करना कोई औचित्य नहीं रखता। "जब भी मैंने क को देखा है तब मैंने ख को भी देखा है। अतः आगमनात्मक आधार पर मैं आशा कर सकता हूँ कि

अभी जब मैं क को देख रहा हूँ, मैं ख को भी देखूंगा। "परंतु यह इस बारे में कुछ भी नही बताता कि जब मैं क को नही देखता तब क्या होगा। किसी भी प्रेक्षण के लिए यह बता सकना सभव नही है कि जब कोई देख नही रहा होता तब अस्तित्व किसका होता है। यदि ऐसा हो भी कि भौतिक वस्तुओ का तब भी अस्तित्व बना रहे जब उन्हे कोई नही देख रहा होता, तो भी उनके अस्तित्व मे विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई समुचित हेतु कैसे हो सकता है, क्योकि उनके अप्रेक्षित अस्तित्व का कोई भी प्रेक्षण नही कर सकता ?

यह सत्य है कि मैंने आग को जलकर राख बनते हुए अनेक बार देखा होगा और मैं आगमन से यह अनुमान कर सकता हूँ कि यदि अभी मैं आग जला दूं तो मैं फिर उसे जलकर राख बनते देख सकूंगा। परतु मैं वर्तमान या अतीत अनुभव से इस बारे मे कोई भी निष्कर्ष नही निकाल सकता कि तब क्या होता है या होगा जब न मैं और न कोई और उसे देख रहा होता, क्योकि ऐसा कुछ कहने के लिए मेरे पास कोई प्रेक्षणात्मक आधार नही होता। 'दृश्यते इति वर्तते" प्रकृति के नियमो पर भी वैसे ही लागू होता है जैसे भौतिक वस्तुओ पर। जिन नियमो को बताने की स्थिति मे हम हैं वे केवल वे हैं जो अनुभवो को एक-दूसरे से जोडते है। हम उसके बारे मे कुछ नही बता सकते जो अनुभव से पृथक् अस्तित्व रखता है।

हमारा यह जानना सभव ही कैसे है कि भौतिक वस्तुएं प्रत्यक्ष के अभाव मे अस्तित्व रखती हैं ? (१) अनुभव से हम यह जान नही सकते, क्योकि कोई उनके अप्रेक्षित अस्तित्व का प्रेक्षण नही कर सकता। (२) अत. हम केवल अनुमान से ही यह जान सकते हैं। परतु (अ) हम निगमनात्मक अनुमान से यह नही जान सकते। हम किसी भौतिक वस्तु की किसी अप्रेक्षित अवस्था के बारे मे ऐसी प्रेक्षणमूलक आधारिकाओ से कुछ भी निगमित नही कर सकते जो उस वस्तु की केवल प्रेक्षित अवस्थाओ से ही सबधित होती हैं। हम निगमन से प्रेक्षित बातो से सबधित आधारिकाओ से अप्रेक्षित के बारे मे निष्कर्ष नही निकाल सकते—ऐसा निष्कर्ष उन आधारिकाओ से तर्कत: नही निकल सकेगा। (ब) आगमनात्मक अनुमान मे भी हम यह नही जान सकते : आगमन से किसी निष्कर्ष को निकालने के लिए (जो कि अधिक से-अधिक प्रसभाव्य ही होगा, निश्चयात्मक नही) हमे प्रेक्षित दृष्टातो को आधार बनाना होता है। हम क के अनतर ख का होना एक बार, दो बार, हजार

बार देखते हैं और यह अनुमान करते हैं कि अगली बार जब हम क को देखेंगे तब हम ख को भी देखेंगे। परंतु हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि एक चीज, या घटना, या घटनाओं में कोई एकरूपता प्रेक्षण के समय में अस्तित्व रखने के अतिरिक्त तब भी अस्तित्व रखती है जब उसका प्रेक्षण नहीं होता। दो घटनाओं—पहली प्रेक्षित और दूसरी अप्रेक्षित—के किसी सहसबंध का हम एक भी दृष्टांत नहीं देख सकते, और इसलिए आगमनात्मक अनुमान को शुरू तक करने के लिए हमारे पास कोई प्रेक्षित आधार नहीं होता।

तो फिर अप्रेक्षित अस्तित्व वाली वस्तु के बारे में हमारा कुछ जानना कैसे संभव है ? हम उसे केवल प्रेक्षण से या अनुमान से ही जान सकते हैं। प्रेक्षण से हम उसे नही जान सकते। अनुमान या तो निगमनात्मक होता है या आगमनात्मक। निगमन से हम उसे नहीं जान सकते और आगमन से भी नहीं जान सकते। अतः अनुमान से हम उसे नहीं जान सकते। चूंकि हम उसे न प्रेक्षण से और न अनुमान से जान सकते हैं, इसलिए हम उसे बिल्कुल जान ही नहीं सकते। इति सिद्धम्।[१]

दुर्बल प्रत्ययवाद बनाम सबल प्रत्ययवाद—यह एक प्रकार के प्रत्ययवाद के अनुसार है जिसे हम दुर्बल प्रत्ययवाद कह सकते हैं, इस वजह से नही कि यह सही-जैसा कम लगता है बल्कि इसलिए कि इसका दावा सबल प्रत्ययवाद की तुलना में छोटा है। दुर्बल प्रत्ययवाद कहता है : यदि भौतिक वस्तुएँ प्रत्यक्ष हुए बिना भी अस्तित्व रखती हों तो भी यह विश्वास करने का कि उनका अस्तित्व है हमारे पास कोई हेतु नहीं होता—यदि उनका अस्तित्व हो तो भी हम जान नहीं सकते कि है, पर इसके बावजूद भी उनका अस्तित्व तर्कतः संभव है। सबल प्रत्ययवाद कहता है : उनका अस्तित्व तर्कतः संभव नहीं है ; प्रत्यक्ष के बिना अस्तित्व रखनेवाली भौतिक वस्तुओं की बात स्वतोव्याघाती है। यही बर्कली ने कहा था, पर उसकी शब्दावली कुछ भिन्न थी। (बर्कली के कथन का अर्थ यह था) ऐसी बात नहीं है कि भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष के बिना अस्तित्व होने का कोई प्रमाण न हो—जो बात है ही तर्कतः असंभव उसका प्रमाण हो ही कैसे सकता है ? बल्कि बात यह है कि यदि आप कहें कि एक भौतिक वस्तु है जो अस्तित्व

१. देखिए डब्ल्यू० टी० स्टेस, "दि फाउन्डेशन ऑफ रीयलिज्म," माइन्ड, LIII (१९३४)।

रखती है पर उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, तो आप स्वतोव्याघाती बात कर रहे है, यानी अपनी ही बात काट रहे हैं। ऐसा क्यों है ? हम इस तर्क की जांच करके देखते है।

१. हमारा भौतिक वस्तुओं से अवश्य ही परिचय है।

२. हमारा परिचय केवल अनुभवों से ही हो सकता है।

अतः ३. भौतिक वस्तुएँ अनुभव हैं (अर्थात् अनुभवों के परिवार हैं)।

यह पहला चरण है। कथन १ ऐसा है जिसमें हम सभी विश्वास करते हैं और यदि हमें पूर्ण संशयवाद से बचना है तो जिसमें हमें विश्वास करना ही होगा। इस कथन से छेड़छाड़ हम तब तक नहीं करना चाहेंगे जब तक हमें ऐसा बिल्कुल करना ही न पड़ जाए। कथन २ को न केवल बर्कली अपितु उसका विरोधी लॉक भी मानता है। और इन दोनों के मेल से जो निष्कर्ष निकलता है वह है कथन ३। अब कथन ३, यानी पहली युक्ति का निष्कर्ष, एक अन्य युक्ति की एक आधारिका बन जाता है :

३. भौतिक वस्तुएँ अनुभव है।

४. अनुभव किसी को अनुभूत हुए बिना अस्तित्व नही रख सकते (नही··· सकते = तर्कतः असंभव)।

अत ५. भौतिक वस्तुएँ किसी को अनुभूत हुए बिना अस्तित्व नही रख सकतीं (नही···सकती = तर्कतः असंभव)।

हम ३ को पहले ही प्राप्त कर चुके हैं ; ४ अवश्य ही सत्य है ; और इससे निष्कर्ष, कथन ५, ऐसा निकलता है जो, लगता है कि, इच्छा से या अनिच्छा से हमारे गले पड़ गया है। यदि हम कहते हैं कि भौतिक वस्तुएँ अनुभव के बिना अस्तित्व नही रखती तो यह एक विश्लेषी कथन है, और यदि हम इससे इन्कार करते हैं तो हम अपनी ही बात को काटते हैं।

तो फिर इस निष्कर्ष से हमें इतना आश्चर्य क्यों होता है ? कोई भी एक विश्लेषी कथन से इन्कार करना नही चाहेगा या एक स्वतोव्याघाती कथन नहीं करना चाहेगा। प्रत्ययवादी कहता है कि वह आश्चर्यजनक केवल इस वजह से लगता है कि हम कभी प्रत्ययवाद की प्रथम आधारिका को असल मे पचा नहीं पाए हैं, जो यह है कि भौतिक वस्तुएँ ऐंद्रिय अनुभवों के परिवार हैं। इस आधारिका को स्वीकार कर डालिए और तब इनमें से कोई भी आपत्ति पैदा नहीं होगी। हम इस निष्कर्ष से आश्चर्यचकित सिर्फ इसलिए हो जाते हैं कि

हमारे मन मे पीछे कही अब भी यह धारणा छिपी बैठी है कि दुनिया मे मेज, पेड इत्यादि ऐसी वस्तुएँ रहती हैं जो मन से स्वतन्त्र हैं और प्रत्यक्षकर्ताओ की कोई परवाह किए बिना अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं : दूसरे शब्दो मे, यह कि मेज, पेड इत्यादि ऐंद्रिय अनुभवो के परिवार बिल्कुल नही हैं। आप "भौतिक वस्तुएँ = ऐंद्रिय अनुभवो के परिवार," इस समीकरण को स्वीकार कर लीजिए, और आप देखेंगे कि भौतिक वस्तुओ की विच्छिन्नता (अननुभूत होने की अवस्था मे उनका अस्तित्व न रहना) को लेकर शिकायत करने का उसी तरह कोई आधार नही रहता जिस तरह सुख दु ख की विच्छिन्नता को लेकर, जिसे कि सब पहले से ही स्वीकार करते है, कोई शिकायत नही होती। हमने भौतिक वस्तुओ की इस धारणा को कि वे स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व रखती है, अगले दरवाजे से तो बाहर कर दिया है पर फिर चोरी से उसे पिछले दरवाजे से अदर कर दिया है। एक बार सचमुच इस तथ्य को हृदयगम कर लेने के बाद कि भौतिक वस्तुएँ ऐंद्रिय अनुभवो के परिवार हैं और इनके तादात्म्य को सचमुच मान लेने के बाद हम कभी उनके प्रत्यक्षनिरपेक्ष अस्तित्व के प्रश्न को उसी तरह नही उठाएँगे जिस तरह इस समय सुख दु ख, विचारो और प्रत्ययो के प्रसग मे नही उठाते।

"परतु जो तर्कत असभव है उसकी बात सोची तक नही जा सकती।" क्या हम हमेशा भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व को अनुभवनिरपक्ष रूप मे नही सोचते ? उनका उस रूप मे चाहे अस्तित्व हो या न हो, उनका उस रूप मे अस्तित्व हम सोच अवश्य ही सकते हैं। अत उनका अननुभूत अस्तित्व तर्कत असभव कैसे हो सकता है? पर बर्कली का उत्तर यह है

इससे अधिक आसान निस्सदेह कोई कल्पना नही है कि एक बाग मे पेड है या एक आलमारी के अदर किताबें रखी हैं और उनको देखने वाला कोई पास मे नही है। मेरा जबाब है कि आप ऐसी कल्पना कर सकते हैं और इसमे कोई कठिनाई नही है, पर मेरी प्रार्थना है कि यह सब इससे अधिक क्या है कि आप अपने मन मे कुछ प्रत्यय बनाते हैं जिन्हें आप किताबें और पेड कहते हैं और साथ ही उनका प्रत्यक्ष करनेवाले किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष को आप छोड देते हैं ? पर क्या आप स्वय ही पूरी अवधि मे उनका प्रत्यक्ष नही करते होते या उनकी बात नही सोचते होते ? इसलिए यह सब कोई मतलब की बात नही हुई। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि आप

अपने मन में कल्पना करने या प्रत्ययों के निर्माण की शक्ति रखते हैं। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आप अपने विचार की वस्तुओं के मन से स्वतंत्र अस्तित्व के संभव होने की कल्पना कर सकते हैं। यह सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि आप बिना कल्पना या विचार के उनका अस्तित्व सोचें, जो कि स्पष्टत: एक असंगत बात है।[1]

ऐंद्रिय अनुभवों की उत्पत्ति— लेकिन एक और समस्या खड़ी होती है : हमारे ऐंद्रिय अनुभवों का कारण क्या है? लॉक ने कहा था कि अनुभव स स्वतंत्र रूप से अस्तित्व रखनेवाली भौतिक वस्तुएँ उनके कारण हैं। परंतु बर्कली ने इस बात का खंडन करने का प्रयत्न किया। बर्कली ने यह माना कि यदि भौतिक वस्तुएँ ऐंद्रिय अनुभवों के परिवार हैं तो यह रास्ता लॉक के लिए खुला नहीं है, क्योंकि तब उसे भौतिक वस्तुओं की अपनी पूरी धारणा को छोड़ना होगा। पर क्या हमारे ऐंद्रिय अनुभवों का कोई कारण नहीं होना चाहिए?

किसी ने सोचा होगा कि यदि बर्कली को इंद्रियानुभविक विज्ञान को संभव मानना है तो उसे कहना पड़ेगा कि ऐंद्रिय अनुभवों को भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न करती हैं। परंतु बर्कली इस बात से सहमत नहीं है। उसने कहा कि विज्ञान संभव है, पर जब आप यह विचार करेंगे कि विज्ञान क्या है तब पाएँगे कि वह केवल ऐंद्रिय अनुभवों को ही एक-दूसरे से सहसंबंधित करता है। विज्ञान कहता है: "यदि आकाश में बिजली चमकती है तो कड़कने की आवाज होती है।" इसमें हमारे ऐंद्रिय अनुभवों की ओर कोई संकेत नहीं है। परंतु जैसा कि अभी हम कह चुके हैं, न विज्ञान और न कोई और यह कहने की स्थिति में होता है कि जब कोई नहीं देखता होता तब क्या होता है। वैज्ञानिक केवल उसी बात को बता सकता है जिसका वह प्रेक्षण करता है और इस प्रकार वह औरों की तरह ही उन घटनाओं के बारे में कुछ नहीं बता सकता जिनको कोई देख नहीं रहा होता। बर्कली के अनुसार सभी वैज्ञानिक कथन वास्तव में ऐंद्रिय अनुभवों की एकरूपताओं के कथन होते हैं: जैसे, "यदि आपको बिजली के चमकने का अनुभव होता है तो उसके अनंतर कड़क का अनुभव होता है।" निश्चय ही, वैज्ञानिक के कथन में प्रेक्षण का

१. जॉज बर्कली, प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज, पैरा २३।

स्पष्ट उल्लेख नही होता बल्कि केवल प्रेक्षित घटनाओ का उल्लेख होता है। परतु फिर भी, बर्कली के अनुसार केवल प्रेक्षित घटनाओ के बारे मे ही उसे बात करने का अधिकार है। वैज्ञानिक "यदि अ तो ब" के प्रकार के आगमनिक सामान्यीकरणो की रचना करते है ; लेकिन बात को बिल्कुल सही रूप मे बताने के लिए इसके बजाय उन्हे यह कहना चाहिए कि "यदि अनुभव अ तो (सदैव) अनुभव ब।" घटनाओ के बारे मे प्रत्येक कथन का अनुवाद अनुभवविषयक कथनो मे किया जा सकता है, और घटनाओ का प्रत्येक सहसबंध अनुभवो का एक सहसबंध होता है। यदि कारणो के बारे मे कुछ भी कहने मे हमे समर्थ होना है तो कारणो (और कार्यो) को अनुभूत होना चाहिए। हम कारणपरक सामान्यीकरण केवल उसी के बारे मे कर सकते हैं जिसका हम अनुभव करते है, अन्यथा उनका कोई आधार नही होगा। हम अपने अनुभव के कुछ अंशो, अ, को कुछ अन्य अशो, ब, के साथ जोडनेवाली कारणात्मक नियमितताओ का कथन करते हैं। इस प्रकार हम कारणात्मक कथन कर सकते हैं, पर होते वे केवल अनुभव के सहसबधो के ही (अनुभव के अदर के "नियत सयोगो" के) कथन हैं, उनसे अधिक कुछ नही। इस तरह हम कारणता के लिए किसी ऐसे सिद्धात का आश्रय लिए बिना स्थान बना सकते हैं जैसे यह कि भौतिक वस्तुएँ तब भी अस्तित्व रखती हैं जब कोई उनका प्रेक्षण नही करता होता।

फिर भी, हम सतुष्ट नही हैं। यदि ऐंद्रिय अनुभवो के मध्य कारणात्मक सबध हो (इसकी जाँच हम बाद मे करेंगे) भी, तो भी क्या हमारे ऐंद्रिय अनुभवो और जो भी उन्हे उत्पन्न करता हो उसके मध्य भी कारणात्मक संबंध नही होता ? और उन्हे भौतिक वस्तुओ को छोडकर उत्पन्न कर ही कौन सकता है (किसी अर्थ मे) ? इस बात की कि हमे मिलते-जुलते अनुभव होते हैं, व्याख्या करने का इसके अलावा उपाय ही क्या है कि भौतिक वस्तुएँ हैं जो उन्हे पैदा करती हैं ? इस तथ्य की कोई व्याख्या अवश्य ही हमे देनी होगी कि जब हम उसी दिशा मे देखते हैं तब हम दोनो को हाथी के अनुभव होने के बजाय मेज के ही अनुभव होते हैं। और हमारे अनुभवो के इस सादृश्य (जिसके बिना हमारे मध्य सभाषण या विचारो का आदान प्रदान असभव होगा) की व्याख्या करने का सबसे सीधा तरीका निश्चय ही यह है कि हम दोनो को उसी भौतिक वस्तु का अनुभव होता है और यही भौतिक वस्तु उन अनुभवो का कारण है। बर्कली ने यह जरूर कहा था कि "भौतिक-

वस्तुओ का अप्रेक्षित अस्तित्व" एक स्वव्याघाती वात है। परंतु यदि ऐंद्रिय अनुभवो के कारणो के रूप मे हमे भौतिक वस्तुएँ अवश्य ही चाहिए तो क्या इससे यह सिद्ध नही होता कि "भौतिक वस्तुओ के अप्रेक्षित अस्तित्व" का वर्कली द्वारा किया हुआ विश्लेषण कही पर गलत है ?

वर्कली केवल इतना कह सकता था : "जैसा कि मैं अपनी युक्तियो से वता चुका हूँ, भौतिक वस्तुएँ ऐंद्रिय अनुभवो के परिवार हैं। किसी और अर्थ मे उनका अ तत्व है ही नही ; यह कहना कि है वास्तव मे स्वतोव्याघाती होगा। कारणता ऐंद्रिय अनुभवो का एक सवध है, कारण के सप्रत्यय का प्रयोग ऐंद्रिय अनुभवो को अन्य ऐंद्रिय अनुभवो के अलावा किसी भी चीज से जोड़ने के लिए नही किया जा सकता। अतः उसका प्रयोग ऐंद्रिय अनुभवो को प्रेक्षणातीत अनुभव-कारणो से जोड़ने के लिए नही किया जा सकता। विराम।"

परतु वर्कली ने ऐसा कहा नही। चूंकि वह एक अच्छा पादरी था, इसलिए इसके बजाय उसने यह कहा कि हमारे सारे ऐंद्रिय अनुभवो की उत्पत्ति का कारण परमात्मा है। उन्हें भौतिक वस्तुएँ नही वल्कि ईश्वर उत्पन्न करता है। ऐंद्रिय अनुभवो के एक क्रमवद्ध तरीके से होने (अपभ्रम इत्यादि इसके अपवाद है) का हेतु यह है कि ईश्वर हमे ऐंद्रिय अनुभव प्रदान करता है, और ऐसा एक व्यवस्थित तरीके से करता है ताकि हम उनके आधार पर भविष्य-वाणियाँ कर सकें और तदनुसार अपने कार्यो को वना सकें। ईश्वर हमारे अनुभवो को इतना अस्तव्यस्त कर सकता है कि ऐंद्रिय अनुभवो के परिवार बिल्कुल वन ही न सकें और इसलिए अनुभव मे वे नियमितताएँ न हो सकें जिन्हें हम भौतिक वस्तुएँ कह सकें। परतु चूंकि ईश्वर अच्छा है इसलिए उनके वजाय उसने हमे ऐंद्रिय अनुभवो के व्यवस्थित समुच्चय देने का निश्चय किया है। वह सीधे उन्हें हमारे मन मे डाल देता है : उसे वास्तववादी की भौतिक वस्तुओ की मध्यस्थता की आवश्यकता नही पडती। (चूंकि इन भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व को हम किसी तरह जान भी नही सकते, इसलिए यदि वे अस्तित्व रखती हो तो भी उनसे हमारा कोई हित नही होगा।) वह किसी मध्यस्थ के बिना सीधे ही हमे अनुभव देता है। इस प्रकार वास्तविक केवल मन और उनके अनुभव ही हैं। ईश्वर एक असीम मन है और मैं और आप सीमित मन हैं। मन (ईश्वर का और हमारे) हैं और उनके अनुभव (ईश्वर

के और हमारे) हैं। अनुभव मन के इतिहास में घटने वाली घटनाएँ है। बस इतना ही सब है—इससे अधिक कुछ नहीं। ईश्वर हमारे अनुभवों को उस क्रम मे उत्पन्न करता है जिस क्रम में वे होते हैं। और किसी चीज की जरूरत नहीं है।

ऐसा क्यों होता है कि जब हम दोनों एकही दिशा में देखते है तव हमारे ऐंद्रिय अनुभव मिलते-जुलते होते है? क्योंकि ईश्वर हमें समान प्रसंगो में समान अनुभव देता है ताकि हम परस्पर बातचीत कर सकें। यदि जहाँ मैं एक हाथी देखता हूँ वहाँ आप एक पेड़ देखते और अगले क्षण आप वहाँ एक सोफा देखते और मैं वहाँ सेवों की एक पेटी देखता, तो हम आपस मे बातचीत न कर पाते। परंतु आपके अनुभवों की शृंखला को मेरे अनुभवों से सहसंबंधित करके ईश्वर भविष्यवाणी तथा हमारी बातचीत को संभव कर देता है। ईश्वर एक व्यवस्थित ढंग से काम करता है : इतने व्यवस्थित ढंग से कि वह न केवल विभिन्न मनों को परस्पर संपर्क करने में समर्थ बना देता है अपितु विभिन्न व्यक्तियों के ऐंद्रिय अनुभवों के अनुक्रम को भी नियमित कर देता है जिससे कि यह पता लगाकर कि उनके अनुभव में क्या नियमित रूप से किसके अनंतर होता है, वे पूरी शृंखला के अंदर सहसंबंध स्थापित कर सकते है। इस प्रकार विज्ञान संभव हो जाता है। प्रकृति के नियम हमें होनेवाले ऐंद्रिय अनुभवों की व्यवस्थित शृंखला में व्यक्त ईश्वर की इच्छा हैं।

आलोचना—ईश्वर को हमारे ऐंद्रिय अनुभवों के कारण और सहसंबंधक के रूप में ले आने के बाद बर्कली के मत के ऊपर आक्षेपों की जैसे वर्षा होने लगती है।

१. बर्कली ने शुरुआत लॉक से प्राप्त इस आधारिका से की कि "मन का परिचय केवल अपने ही अनुभवों से होता है।" बर्कली को अनुभवों से भिन्न किसी रूप में भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व से इसीलिए इन्कार करना पड़ा कि उनका ज्ञेयत्व बना रहे। परंतु अब बर्कली उनके कारण के रूप में अनुभवों से भिन्न एक चीज—ईश्वर—को ले आया है। लेकिन यदि हम जान केवल अपने ही अनुभवों को सकते हैं तो हम यह कैसे जान सकते हैं कि उनको उत्पन्न करनेवाला कोई ईश्वर है? यदि हमारा ज्ञान (कम-से-कम आनुभविक ज्ञान) केवल उसी तक सीमित है जो ऐंद्रिय अनुभव हमें बताता है और यदि ईश्वर एक ऐंद्रिय अनुभव (या ऐसे अनुभवों का परिवार) नहीं है, तो, स्वयं बर्कली की ही

मान्यता के अनुसार हम ईश्वर के बारे मे कुछ भी कैसे जान सकते हैं ? यदि हम कहते है कि ईश्वर का अस्तित्व है और हम इस बात को जानते हैं, तो फिर हम अपने ऐंद्रिय अनुभवो के अलावा भी कुछ अवश्य जानते है। और यदि हम अपने ऐंद्रिय अनुभवो से वाहर की एक चीज—ईश्वर—को जान सकते है, तो एक दूसरी चीज, भौतिक वस्तु, को भी क्यो नही जान सकते ? यदि बर्कली ऐंद्रिय अनुभवो से भिन्न किसी चीज को ला सकता है तो हम किसी और चीज को क्यो नही ला सकते ? बर्कली ईश्वर को ले आया ; और हममे से अधिकतर भौतिक वस्तुओ को लाना चाहेंगे। परतु तब बर्कली की यह दलील बाधक बन जाती है कि भौतिक वस्तुओ का सप्रत्यय स्वतोव्याघाती है। यदि यह आरोप सही है तो हमे भौतिक वस्तुओ को लाने का अधिकार नही है—पर उसे ईश्वर को लाने का अधिकार कहाँ से मिला ?

यहाँ तक जो लोग बर्कली की बात को समझ पाए हैं और उससे सहमत हैं या उसका खडन करने मे असमर्थ रहे हैं उनमे से अधिकतर यह मानते हैं कि उसका अनुभवो के कारण के रूप मे ईश्वर को ले आना एक बडी गलती थी। इससे वह ठीक उस तरह की आलोचना का पात्र बन जाता है जो स्वय उसने लॉक और वास्तववादियो की की थी। यह कहने मे कि हम केवल अपने ऐंद्रिय अनुभवो को ही जान सकते है और कि हम यह भी जान सकते है कि उनको उत्पन्न करने के लिए ईश्वर का अस्तित्व है, दूसरी बात पहली के विरुद्ध है और इससे बर्कली के एक आधारभूत ज्ञान-सिद्धात की कलई खुल जाती है। बर्कली का शायद ही कोई पाठक ऐसा हो जो ईश्वर के एकाएक प्रवेश से यह महसूस न करता हो कि यह धोखेबाजी है।

परतु मान लीजिए कि हम ईश्वर को छोड देते है। एक क्षण के लिए समझ लीजिए कि बर्कली अपने सिद्धात मे ईश्वर को कभी लाया ही नही। क्या उसके मत के विरुद्ध अन्य आक्षेप किए जा सकते है ?

२. पहले ही आक्षेप को कुछ और आगे बढाया जाए : यदि बर्कली सचमुच यह मानता है कि हमारा परिचय केवल अपने ही अनुभवो से होता है—और फलत यह कि जिन प्रतिज्ञप्तियो का हमे ज्ञान हो सकता है वे केवल हमारे अपने अनुभवो के बारे मे ही होनी हैं—तो यह मानने का हमारे पास क्या हेतु है कि ईश्वर का ही नही बल्कि अन्य मनो का भी अस्तित्व है ? मेरे पास जो प्रमाण मेज और किताबो के अस्तित्व का है वही आपके शरीर के

अस्तित्व का भी है . वर्कली के अनुसार ये सब ऐंद्रिय अनुभवो के परिवार है। मैं आपके शरीर को देख सकता हूँ, पर मैं आपके विचारो, भावो और ऐंद्रिय अनुभवो को नहीं देख सकता। तो फिर मेरे पास यह मानने का हेतु ही क्या है कि आपके शरीर के साथ एक मन जुडा हुआ है ? असल मे हम इससे भी आगे वढकर पूछ सकते है : मेरे पास यह विश्वास करने के लिए क्या हेतु है कि आपका शरीर, मेज और अन्य भौतिक वस्तुएँ मेरे ऐंद्रिय अनुभवो से अधिक कुछ हैं ?

अहमात्रवाद अपने दुर्वल रूप मे यह मानता है कि मैं ही एकमात्र ऐसा मन हूँ जिसका अस्तित्व है—कि मेरे अलावा भौतिक वस्तुएँ (अन्य शरीरो के सहित) भी है, परतु मन केवल मेरा ही ऐसा है जिसका अस्तित्व है। अपने सवल रूप मे अहमात्रवाद यह मानता है कि भौतिक वस्तुओ (अन्य शरीरो के सहित) का भी अस्तित्व नही है ; वे तो मेरे ऐंद्रिय अनुभव मात्र हैं और मेरे मन के विषय के अलावा किसी भी रूप मे उनका अस्तित्व नही है। दोनो ही तरह से मेरे पास यह विश्वास करने का कोई हेतु नही है कि मेरे मन के अलावा किसी मन का अस्तित्व है और इस प्रकार मैं कहता हूँ कि एकमात्र मेरा ही मन है। "मन का केवल अपने ही प्रत्ययो से परिचय होता है ," इसलिए अस्तित्व केवल मेरे मन और उसके प्रत्ययो का ही है।

वास्तव मे कोई भी अहमात्रवादी नही है। हम सभी यह विश्वास करते है कि अन्य लोग भी हैं जो हमारी तरह ही सोचते हैं और महसूस करते हैं तथा जिन्हे ऐंद्रिय अनुभव भी हमारी तरह होते है। ऐसा कहनेवाले व्यक्ति की स्थिति वडी विचित्र होगी कि "मैं अहमात्रवाद मे इतना पक्का विश्वास करता हूँ कि मैं समझता हूँ कि हरेक को अहमात्रवादी होना चाहिए।" और यदि कोई अहमात्रवादी अपने मत को सिद्ध करने के लिए किताबें लिखता है तो उन्हे वह लिखता किसके लिए है, क्योंकि उसका तो यह विश्वास है कि उन्हे पढने और समझनेवाला कोई है ही नहीं ? इसके अतिरिक्त अहमात्रवाद उतने ही विभिन्न मतो मे बिखर भी जाता है जितने कि लोग हैं यदि राम एक अहमात्रवादी है तो वह केवल राम के अस्तित्व मे ही विश्वास करता है, पर यदि श्याम एक अहमात्रवादी है तो उसका विश्वास केवल श्याम के ही अस्तित्व मे है, जो कि एक वहुत ही भिन्न मत है और असल मे राम के मत के विरुद्ध है।

पर इस समय प्रश्न अहंमात्रवाद की कठिनाइयों का नहीं बल्कि बर्कली के बारे में है। प्रश्न यह था : बर्कली अहंमात्रवाद से कैसे बच सकता है ? क्या अहंमात्रवाद उसके अपने ही सिद्धांतों का परिणाम नहीं है ? यह तो ठीक है कि बर्कली ने यह कहकर इस निष्कर्ष से बचने की कोशिश की कि "दृश्यते इति वर्तते" केवल भौतिक वस्तुओं पर लागू होता है, मन पर नहीं : मन का अस्तित्व इस बात से अप्रभावित रहता है कि उसका किसी को अनुभव होता है या नहीं ; केवल भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर होता है कि किसी को उसका अनुभव होता हो। मन पर तो "पश्यति इति वर्तते" ("होने का मतलब है देखनेवाला होना") लागू होता है। यहां तक तो ठीक है ; परंतु बर्कली यह जान कैसे सका ? यदि मनुष्य के मन में अपने ही अनुभवों को छोड़कर (जिनमें अन्य मन या उनके ऐंद्रिय अनुभव शामिल नहीं होते) कुछ भी देखने के लिए खिड़कियाँ नहीं हैं, तो ऐसा प्रतीत होगा कि बर्कली के मन में कम-से-कम एक दरवाजा अवश्य ही रहा होगा।

३. अब हम एक और रूप में आक्षेप करते हैं : यह कि "भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है" ("प्रत्ययों के पुंज" के रूप में नहीं, बल्कि लॉक वाले अर्थ में) बर्कली के अनुसार न केवल गलत है बल्कि स्वतोव्याघाती है। यह एक सख्त बात है। इसका यह उत्तर दिया जा सकता है : "शब्दों की सदैव ऐसी परिभाषाएँ दी जा सकती हैं कि वे जिस वाक्य में हों वह स्वतोव्याघाती बन जाए। यदि मैं 'वृत्त' की यह परिभाषा दूं कि वह 'एक विशाल अष्टभुज' है, तो 'वृत्तों के कोने नहीं होते,' यह वाक्य स्वतोव्याघाती हो जाता है—पर सिर्फ इस वजह से कि मैंने 'वृत्त' की यह विचित्र परिभाषा दी है। आप चाहें तो अवश्य ही इसकी वह परिभाषा दे सकते हैं, परंतु इसकी कोई वजह नही है कि मैं आपकी स्वनिर्मित परिभाषा को स्वीकार कर लूं, और इसलिए उसके इस परिणाम को मान लूं कि भौतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष-निरपेक्ष अस्तित्व की बात स्वतोव्याघाती है।"

बर्कली यह अवश्य कहता है कि "भौतिक वस्तु" का वह परिभाषा देने का एक समुचित हेतु है : यदि आप वैसा नहीं करते तो भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व और स्वरूप के बारे में पूर्ण संशयवादी रवैया अपनाने के अलावा कोई रास्ता नही बचता। जिन अ-विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियों को हम जान सकते हैं वे केवल वे हैं जो हमारे अपने ही ऐंद्रिय अनुभवों के बारे में होती है ; अतः

यदि भौतिक वस्तुएँ ऐंद्रिय अनुभव (या उनके परिवार) नहीं है तो वे अज्ञेय हैं। इस मत का प्रतिवाद किया जा सकता है, और इसी अध्याय में बाद में हम अवश्य ऐसा करेंगे, परंतु इसका सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि इसका प्रतिवाद जिन सिद्धांतों ने किया है उनके संदर्भ में ही ऐसा किया जाए। फिलहाल हम एक मामूली-सा अंतर बताते हैं जो बर्कली के तर्क को कुछ कमजोर कर देगा।

"भौतिक वस्तुओं को सोचनेवाले मन से पृथक् अस्तित्व रखनेवाली सोचा ही नहीं जा सकता," यह बर्कली का विश्वास था। (जब आप किताबों के एक आलमारी के अंदर किसी भी मन से स्वतंत्र अस्तित्व रखने की बात सोचने की कोशिश *करते हैं तब* आप उनके बारे में सोच रहे होते है।) परंतु इसमें एक द्व्यर्थकता है। यदि आपका अभिप्राय यह है कि—

१. भौतिक वस्तुओं को सोचनेवाले मन से पृथक् अस्तित्व-रखनेवाली-सोचा ही नहीं जा सकता,

तो यह असंदिग्ध रूप से सत्य है। आप उनके या किसी भी चीज के अस्तित्व रखने *या* कुछ भी करने के बारे में *तब तक नहीं सोच सकते जब तक* पहले आपके अंदर सोचनेवाला मन न हो। इस बात की सत्यता इतनी स्पष्ट है कि इसे कहने की ही जरूरत नही है। (शायद यह विश्लेषी है, पर हमे इस छानबीन में अभी समय बर्बाद करने की जरूरत नहीं है।) लेकिन इसे नीचे की एक *बिल्कुल ही भिन्न बात से एक नहीं समझना* चाहिए :

२. भौतिक वस्तुओं को सोचनेवाले-मन-से-पृथक्-अस्तित्व-रखनेवाली सोचा ही नहीं जा सकता।

यह एक मामूली बात नहीं है, और वास्तव में गलत है : हम हमेशा ही उनके बारे में ऐसा सोचते हैं। मैं मन के बिना नहीं सोच सकता, पर किसी चीज के बारे में *यह सोच सकता हूँ कि वह मन के बिना अस्तित्व रखती* है। विचार मन के बिना अस्तित्व नही रख सकते, परंतु इनसे यह सिद्ध नही होता कि मेज और पेड़ मन के बिना अस्तित्व नहीं रख सकते। वे अस्तित्व रखते हो या न रखते हों—और शायद हम जान भी नही सकते कि रखते हैं या नहीं—कम-से-कम यह तो हम सोचते ही हैं कि वे मन के बिना अस्तित्व रखते हैं। क्या वास्तववादी उन्हें ऐसा नहीं सोचता ? यह बात अलग है कि, जैसाकि बर्कली ने कहा था, वास्तववादी का सोचना शायद गलत हो। और यही बात

प्रत्यक्ष पर भी लागू होती है जो सोचने पर लागू है : जैसे आप मन के विना सोच नहीं सकते वैसे ही मन के विना प्रत्यक्ष भी नहीं कर सकते, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जिसका आप प्रत्यक्ष करते हैं उसका मन के विना अस्तित्व नहीं हो सकता। ऐसी वात शायद हो कि नहीं होता, पर कम से-कम वर्कली के तर्क से हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि नहीं होता। प्रत्यक्ष मन के विना नहीं हो सकता, पर जिसका आप प्रत्यक्ष करते हैं वह हो सकता है—कम-से-कम तर्कत: संभव तो यह वात है ही। इस वात की अभी जाँच होनी वाकी है कि 'भौतिक वस्तु" की "ऐंद्रिय अनुभवों का एक परिवार" से भिन्न कोई परिभाषा दी जा सकती है या नहीं। परंतु यदि यह तार्किक वाधा दूर हो जाती है तो हम आगे वढ़ सकते हैं :

४. यद्यपि हमने वर्कली के इस कथन को कुछ संदेहास्पद वना दिया है कि "भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष के विना अस्तित्व" स्वतोव्याघाती है, तथापि अभी तक हमने इससे कुछ हल्के इस कथन की जाँच नहीं की है कि यदि उनका प्रत्यक्ष के विना अस्तित्व हो तो भी हमारे पास इसका कोई समुचित प्रमाण नहीं है कि उनका अस्तित्व है, क्योंकि "किसी ने भी उनके प्रत्यक्ष के विना अस्तित्व का प्रत्यक्ष नहीं किया है"।

दैनिक जीवन में हमें यह मानने में कोई संकोच नहीं होता कि भौतिक वस्तुएँ प्रत्यक्ष के विना अस्तित्व रखती हैं। यदि मैं स्नानगृह में नल को खुला छोड़ जाता हूँ और वाद में लौटकर देखता हूँ कि नीचे जो टव रखा था वह पानी से भर गया है तो मैं मान लेता हूँ कि मेरी अनुपस्थिति में पानी टव में गिरता रहा—अन्यथा मैं समझता हूँ कि मैं पानी के उसमें भर जाने की व्याख्या कर ही नहीं सकता। परंतु प्रत्ययवादी (दुर्वल अर्थ में) का तर्क यह था कि इस वात को सिद्ध करने का कोई तरीका नहीं है : मैं उसके प्रत्यक्षनिरपेक्ष अस्तित्व को प्रत्यक्ष से नहीं जान सकता, किसी भी ऐसी निगमनात्मक युक्ति से मैं कोई निष्कर्ष अप्रेक्षित के वारे में नहीं निकाल सकूँगा जिसकी सभी आधारिकाएँ प्रेक्षित के वारे में हों, तथा कोई भी आगमनात्मक युक्ति चल ही नहीं सकेगी क्योंकि हमने अ (किसी चीज के अस्तित्व का प्रेक्षण) के व (किसी चीज के अस्तित्व का प्रेक्षण के अभाव में भी वने रहना) के साथ होने का एक भी उदाहरण नहीं देखा है। इस प्रकार यह मत की भौतिक वस्तुएँ प्रेक्षण के विना अस्तित्व रखती हैं स्वतोव्याघाती

न होने पर भी ऐसा है कि जिसका कोई प्रमाण न है और न कभी हो ही सकता है।

परंतु क्या यह सत्य है ? क्या कोई प्रमाण नहीं है ? क्या मेरे वापस आने पर नहाने के टब का पानी से भरा पाया जाना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उसमें मेरी अनुपस्थिति में पानी भरता रहा ? बर्कली के अनुसार यह एक बड़ी कल्पना है : मेरे ऐंद्रिय अनुभवों की श्रृंखला ठीक वही है जो तब होती यदि टब और पानी का मेरी अनुपस्थिति में अस्तित्व हुआ होता। पर यदि हम यह भी कह सकते हों कि उसका मेरी अनुपस्थिति में अवश्य अस्तित्व रहा तो इस चक्करदार तरीके का सहारा क्यों लिया जाए ? (यह सत्य है कि बर्कली यह नहीं मानता कि उसे कोई नहीं देख रहा था क्योंकि उसके अनुसार ईश्वर उसे निरंतर देखता रहा, लेकिन हम पहले ही बर्कली के द्वारा ईश्वर के लाए जाने को आपत्तिजनक बता चुके हैं।) ठीक है, हम ऐसा कह सकते हैं, पर इसका हम प्रमाण क्या दे सकते हैं ? हम प्रत्यक्ष के अभाव में उसका जो अस्तित्व होता है उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, और न जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं उसे बतानेवाले कथनों से उसे निगमित ही कर सकते हैं। इसलिए प्रमाण अवश्य ही आगमनात्मक होगा। यह कहा जा सकता है कि प्रत्ययवादी की आगमन की धारणा बहुत ही संकीर्ण है। प्रोटोन और इलेक्ट्रोन के अस्तित्व का हमारे पास जो प्रमाण है वह आगमनात्मक है, हालांकि किसी ने भी कभी इन चीजों को नहीं देखा है। हम नहीं कह सकते कि "जब भी हम प्रत्यक्ष के लिए अनुकूल अवस्थाओं में रहे हैं तब हमने इलेक्ट्रोनों को देखा है," क्योंकि हमने कभी उन्हें देखा नहीं है। इसके बजाय हम अपने ऐंद्रिय अनुभव की कुछ बहुत ही विशिष्ट बातों के आधार पर (वे ठीक क्या हैं, यह सही-सही केवल अनुभवी भौतिकीविद् ही बता सकता है) उन चीजों के अस्तित्व का अनुमान करते हैं जिनसे उन बातों की व्याख्या हो सकेगी। इलेक्ट्रोन प्रेक्षणगम्य नहीं हैं, पर जिसका हम प्रेक्षण करते हैं उसकी वे सर्वोत्तम व्याख्या हैं। ऐसा प्रतीत होगा कि जब हम भौतिक वस्तुओं का प्रेक्षण नहीं करते होते तब भी उनका अस्तित्व होता है, यह दिखाने के लिए हम इसी प्रकार तर्क दे सकते हैं। यदि हम यह मान लेते हैं कि उनका तब भी अस्तित्व होता है जब हम उन्हें नहीं देखते, तो अनुभव के कुछ तथ्यों की सबसे अच्छी तरह व्याख्या हो जाती है, जैसे इस बात की कि चारपाई तब भी रहती है जब हम मकान को नहीं देखते, कि जब हम स्नानगृह में वापस आ

हैं तब हमें टब पानी से भरा मिलता है, इत्यादि। विज्ञान इस तरह के तर्क के आधार पर हमेशा से चीजों का अस्तित्व मानता आया है, और इस बात का कोई हेतु प्रतीत नहीं होता कि हम यहां इस तर्क का उपयोग न करें।

यह प्राक्कल्पना—कि भौतिक वस्तुएँ तब भी अस्तित्व रखती हैं जब उन्हें कोई नहीं देखता—केवल तभी संभव है जब भौतिक वस्तुओं का प्रेक्षण के अभाव में अस्तित्व होना तर्कतः संभव हो। प्राक्कल्पना जो भी हो, उसे सदैव तर्कतः संभव होना चाहिए। परंतु यदि बर्कली का मत सही है तो भौतिक वस्तुओं का अप्रेक्षित अस्तित्व एक कामचलाऊ प्राक्कल्पना तक नहीं हो सकता, क्योंकि वह तर्कतः असंभव है—वदतोव्याघात है। बर्कली ने भौतिक वस्तु को ऐंद्रिय अनुभवों का परिवार माना है और यह बात असंदिग्ध है कि ऐंद्रिय अनुभवों का अस्तित्व अननुभूत नहीं हो सकता। तो फिर हमारा पहला काम यह होना चाहिए कि "भौतिक वस्तु" की इस परिभाषा की हमेशा के लिए कमर तोड़ दी जाए ताकि वह दुबारा कभी हमें परेशान न कर सके।

इस काम को पूरा करने के लिए एक और सिद्धांत अब अखाड़े में उतरता है। संवृतिवाद अनेक बातों में प्रत्ययवाद से सहमत है, जैसे गलत प्रत्यक्षों (भ्रम, अपभ्रम, स्वप्न) के विश्लेषण में, परंतु "दृश्यते इति वर्तते" को लेकर उसका प्रत्ययवाद से घोर मतभेद है। वह भौतिक अस्तित्व की एक ऐसी भिन्न व्याख्या देता है जिससे हम स्वतोव्याघात के बिना कह सकते हैं कि भौतिक वस्तुएँ प्रत्यक्ष का विषय बने बिना अस्तित्व रखती हैं। अब हम इस सिद्धांत की ओर ध्यान देकर देखते हैं कि वह क्या वैकल्पिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

२५. संवृतिवाद

संवृतिवाद प्रत्ययवाद से इस बात में सहमत है कि भौतिक वस्तुओं का हमारा ज्ञान पूर्णतः हमारे ऐंद्रिय अनुभवों से प्राप्त होता है। परंतु, संवृतिवाद के अनुसार, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जब हम भौतिक वस्तुओं के बारे में बात करते हैं तब हम केवल अपने ऐंद्रिय अनुभवों के बारे में ही बात कर रहे होते हैं—कम-से कम यह नहीं कि हम वास्तविक ऐंद्रिय अनुभवों के बारे में ही बात कर रहे होते हैं। हम संभव ऐंद्रिय अनुभवों के बारे में भी बात कर सकते हैं—अर्थात् उन ऐंद्रिय अनुभवों के बारे में जो कुछ शर्तों के पूरी होने की अवस्था में हमें होते। भौतिक वस्तुएँ

वास्तविक और संभव ऐंद्रिय अनुभवों के परिवार होती है। जब मैं पेड़ की ओर देखता हूँ तब मेरे ऐंद्रिय अनुभव वास्तविक होते है ; परंतु जब मैं नहीं देखता होता तब भी पेड़ का अस्तित्व रहता है, क्योंकि मुझे पेड़ के अनुभव हो सकते थे हालांकि हो नहीं रहे हैं। यदि पेड़ को काट दिया जाए और जला दिया जाए तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, और फिर पेड़ के अनुभव नहीं हो सकेंगे। परंतु जब तक पेड़ के अनुभवों का होना संभव रहता है तब तक पेड़ का अस्तित्व बना रहता है। जरूरत केवल उन शर्तों को निश्चित कर देने की है जिनमें वे अनुभव हो सकते है। मैं इस समय हॉल में नहीं हूँ, पर मुझे विश्वास है कि वहाँ पानी का कूलर अभी भी है : अर्थात् यदि मैं हॉल में जाऊँ तो मुझे कूलर के दृष्टिसंबंधी और स्पर्श-संबंधी अनुभव होंगे। यदि मैं हॉल में जाऊँ और जहाँ मैंने कुछ ही मिनट पहले पानी का कूलर देखा था वहाँ उसे न पाऊँ तो मुझे बहुत बड़ा आश्चर्य होगा और मानना पड़ेगा कि मेरा कथन, "हॉल में अब भी पानी का कूलर है," गलत था।

अतः यह दावा कि एक भौतिक वस्तु अस्तित्व रखती है, परीक्षणगम्य है : यह जरूरी नहीं है कि उसका सचमुच प्रत्यक्ष हो बल्कि यह है कि वह प्रत्यक्षगम्य हो यानी उसका प्रत्यक्ष हो सकता हो। कम से-कम हम एक भौतिक वस्तु के बारे में बात करते होते हैं तब "होना प्रत्यक्षगम्य होना है"। यदि मैं यह दावा करता हूँ कि मेरे डेस्क की दराज में एक हीरा पड़ा है तो यह जरूरी नही है कि मैं उसका प्रत्यक्ष कर रहा हूँ, परंतु यदि मैं दराज को खोलता हूँ और उसे खाली पाता हूँ तो मुझे अपना दावा वापस लेना पड़ेगा—इसलिए नही कि जब मैंने दावा किया था तब हीरा दिखाई नहीं दे रहा था बल्कि इसलिए कि वह प्रत्यक्षगम्य था ही नहीं (अर्थात् जब वे शर्तें जिनमें उस दावे को जांचा जा सकता था पूरी हो रही थी तब अपेक्षित प्रत्यक्ष नहीं हो सकता था)। निस्संदेह कुछ प्रसंगों में प्रत्यक्ष की शर्तों की पूर्ति कठिन होती है या तकनीकी रूप में असंभव तक होती है : महासागर के तल में निस्संदेह वनस्पतियाँ और जीव-जंतु हैं जिन्हें कभी किसी ने देखा नही है, परंतु हमारा उनके न होने का दावा केवल तभी सही होगा जब हम वहाँ जावें और प्रत्यक्ष की शर्तों के पूरी होने पर भी कुछ वहाँ न पावें। ऐसे बहुत बड़े भूवैज्ञानिक युग गुजर चुके हैं जिनमे पृथ्वी की सतह के ऊपर होनेवाले परिवर्तनों को देख सकने वाले चेतन प्राणियों का अस्तित्व था ही नहीं।

फिर भी हम कह सकते हैं कि वे परिवर्तन हुए. क्योंकि हम कह सकते हैं कि "यदि वहां कोई होता (हालांकि था नहीं) तो उसने उन परिवर्तनों को देखा होता।" वे परिवर्तन क्या थे, यह छानवीन निश्चय ही वर्तमान अधूरे प्रमाणों के आधार पर करना भू-वैज्ञानिकों का काम है; परतु कम-से-कम यह तो हम कह ही सकते हैं कि वे हुए अवश्य थे, और हमारे कथन स्वतोव्याघाती नहीं होंगे, भले ही कभी-कभी वे मिथ्या हो जाएँ। यह जरूरी नहीं है कि हमारा यह कथन कि वे परिवर्तन हुए, तभी सार्थक हो जव ईश्वर उन्हे देखता रहा हो। यही कहना पर्याप्त है कि "यदि कोई प्रत्यक्षकर्ता वहां होता और उसके अंदर उपयुक्त संवेदन-शक्तियां होती (वह अंधा इत्यादि न होता) तो उसने उन परिवर्तनों को होते देखा होता।"

जैसा कि शुरू के एक संवृतिवादी जॉन स्टुअर्ट मिल ने माना था, "भौतिक द्रव्य संवेदन का स्थायी रूप से संभव होना है।" जब सचमुच संवेदन नहीं होता तव भी संवेदन संभव होता है। "संवेदन" के वजाय हमने "ऐंद्रिय अनुभव" का प्रयोग किया है। "संवेदन" शब्द का प्रयोग कुछ भ्रामक हो सकता है। यदि कोई आपसे पूछे कि "आप क्या देखते हैं?" तो आप पहले शायद यह जवाब देंगे कि "एक मेज जिसके ऊपर कुछ किताबें और कागज रखे हैं।" परंतु यदि आपसे कहा जाए कि आप अपने अनुभव का कोई अर्थ न निकालकर सिर्फ वही बताएँ जो आप देखते हैं—जिसका आपको अव्यवहित रूप से (अनुमान के रूप मे नही) बोध होता है—तो आप कहेंगे "रंगों और शक्लों के कुछ नमूने।" आप यह नही कहेंगे कि "मैं कुछ संवेदनों को देख रहा हूँ।" "संवेदन" शब्द प्रायः ऐसे अनुभव के होने के अर्थ में इस्तेमाल होता है, परंतु संवेदन वह नहीं है जिसका हम अनुभव करते हैं। जिनका हमें अव्यवहित रूप से अनुभव होता है वे हैं कुछ रंग और शक्लें (जिन्हें हम प्रायः अनायास ही मेज, किताब इत्यादि के रंग और आकार समझ बैठते हैं)। निस्संदेह संवेदनों के होने पर ही हमें रंगों और आकारों का अनुभव होता है; परंतु अनुभव हमें संवेदनों का नहीं होता। (यह कहने का क्या अर्थ होगा कि "मैं कुछ दृष्टिसंबंधी संवेदनों को देख रहा हूँ"?)

हम (अव्यवहित रूप से) कुछ रंगों और आकृतियों को देखते हैं और यह बात सदैव सच होती है, भले ही हमें अपभ्रम हो रहा हो या हम स्वप्न

देख रहे हों। आप अपने सामने लाल धब्बे देखते हैं। आप समझते हैं कि भौतिक जगत् में, आपके सामने १८ इंच की दूरी पर कोई लाल धब्बे नहीं हैं। फिर भी कुछ-न-कुछ तो लाल है ही जिसे आप देखते हैं। शायद उसका अस्तित्व केवल आपके दृष्टि-क्षेत्र में हो ; आपके इस अनुभव के पहले या बाद में उसका अस्तित्व न हो। पर इस समय एक लाल धब्बा वहाँ है ही—जिसका एक भौतिक धब्बा होना जरूरी नहीं है, क्योंकि यदि वह भौतिक हुआ होता तो और लोग भी उसे देखते ; पर यह फिर भी सत्य है कि आप उसे देख रहे हैं, भले ही कोई और न देखता हो। कोई चीज, एक लाल धब्बा, आपकी चेतना में वर्तमान है, भले ही वह भौतिक जगत् का एक अंश न हो। हो सकता है कि वह भौतिकविज्ञानी की दृष्टि से वास्तविक (भौतिक जगत् का एक अंश जो दिक् में एक निश्चित जगह पर स्थित है) न हो, परंतु वह इस अर्थ में वास्तविक है कि आपको वस्तुतः उसका अनुभव होता है : आपको सचमुच अपने दृष्टि-क्षेत्र में एक लाल धब्बे को देखने का अनुभव होता है। जो आपको अव्यवहित रूप से दिखाई देता है (उसका आपको दिखाई देना नहीं)—अर्थात् अनुमान की सहायता लिए विना जिसे आप देखते हैं—वह इंद्रिय-दत्त कहलाता है।

परंतु यह समझाने के लिए कि "इंद्रिय-दत्त" क्या है, हमें अपभ्रमों और स्वप्नों पर विचार करने की जरूरत नहीं है।

मैं इस लिफाफे को पकड़ता हूँ : मैं उसपर दृष्टि स्थिर करता हूँ और आशा करता हूँ कि आप भी उसे देख रहे होंगे। और अब मैं उसे फिर नीचे रख देता हूँ। क्या हुआ ? हम अवश्य ही यह कहेंगे कि (यदि आपने उसे देखा है तो) हम सभी ने उस लिफाफे को देखा, कि हमने उसी लिफाफे को देखा : मैंने उसे देखा और आप सबने उसे देखा। हम सबने एकही चीज को देखा। और "उसे", जिसे कि हम सबने देखा, से हमारा मतलब एक वस्तु से है जो उस समय में जब हम उसे देख रहे थे संपूर्ण दिक् के अनेक स्थानों में से ठीक एक में स्थित थी।............

परंतु जब हमने उस लिफाफे को देखा था तब हम सबके साथ क्या घटना हुई ? मेरे साथ जो घटना हुई उसके एक अंश का मैं पहले वर्णन करता हूँ। मैंने एक विशेष सफेद-से रंग का एक धब्बा देखा जिसकी एक विशेष मात्रा-चौड़ाई थी, एक विशेष आकृति थी, ऐसी आकृति जिसके कोने कुछ नुकीले थे

और जो काफी सीधी रेखाओं से घिरी हुई थी। इन बातों को : सफेद-जैसे रंग के इस धब्बे को, उसकी लंबाई-चौड़ाई और उसकी आकृति को, मैंने सचमुच देखा। और मेरा प्रस्ताव है कि इन चीजों को, इस रंग, इस परिमाण और इस आकृति को इंद्रिय-दत्त, इंद्रियों के द्वारा दी हुई या प्रस्तुत, कहा जाए—वर्तमान प्रसंग में मेरी दृष्टि की इंद्रिय द्वारा दी हुई। अनेक दार्शनिक इन चीजों को जिन्हें मैं इंद्रिय-दत्त कहता हूँ, संवेदन कहते है। उदाहरणार्थ, वे इस रंग के विशेष धब्बे को एक संवेदन कहेगे। पर मुझे लगता है कि "संवेदन" शब्द भ्रामक हो सकता है। जब मैंने वह रंग देखा तब निश्चित रूप से यह कहा जाएगा कि मुझे एक संवेदन हुआ। परंतु जब यह कहा जाता है कि मुझे एक संवेदन हुआ तब मेरी समझ से मतलब यह होता है कि मुझे उस रंग को देखने का अनुभव हुआ। अर्थात् यहाँ "सवेदन" से हमारा मतलब उस रंग को देखना है, न कि वह रंग जो मैंने देखा : जब मैं कहता हूँ कि मुझे रंग का एक संवेदन हुआ तब मेरा मतलब यह नही लगता कि मुझे वह रंग हुआ। यह कहना बहुत ही अस्वाभाविक है कि मुझे वह रंग हुआ, मुझे वह विशेष सफेद-सा धूसर रंग हुआ अथवा मुझे वह धब्बा हुआ जिसका वह रंग था। जो मुझे सचमुच हुआ वह है मेरा उस रंग और उस धब्बे को देखने का अनुभव। इसलिए जब हम सवेदनों के होने की बात करते हैं तब मेरे विचार से "संवेदनो" से हमारा मतलब कुछ इंद्रिय-दत्तों को ग्रहण करनेवाले अनुभवो से होता है, न कि स्वयं उन इंद्रिय-दत्तों से ही। इस प्रकार मैं समझता हूँ कि "संवेदन" शब्द भ्रामक हो सकता है, क्योकि उसके दो अर्थ हो सकते हैं जिनको एक-दूसरे से अलग रखना बहुत जरूरी है। इसका प्रयोग जो रंग मैंने देखा उसके लिए हो सकता है और देखने के इस रूप में मुझे जो अनुभव होता है उसके लिए भी।

जो मेरे साथ हुआ उसको अब मैं अंशतः यह कहकर व्यक्त कर सकता हूँ कि मैंने कुछ इंद्रिय-दत्त देखे : मैंने एक विशेष लंबाई-चौड़ाई वाला और एक विशेष आकृति वाला रंग का एक सफेद-सा धब्बा देखा। और मुझे इस बात मे कोई सदेह नही है कि यह जो आप सबके साथ हुआ उसका भी एक अंश है। आपने भी कुछ इंद्रिय-दत्त देखे ; और मै यह आशा भी करता हूँ कि जो इंद्रिय-दत्त आपने देखे वे उनसे थोड़े-बहुत मिलते-जुलते थे जो मैंने देखे। यह कहा जा सकता है कि आपने भी रंग का एक धब्बा देखा जो

सफेद-सा था, जिसकी लंबाई-चौड़ाई मैंने जो धब्बा देखा उसकी लंबाई-चौड़ाई से अधिक भिन्न नहीं थी, और जिसकी आकृति कम-से-कम इस बात में वैसी ही थी कि उसके भी कुछ नुकीले कोने थे और वह काफी अधिक सीधी रेखाओं से घिरी हुई थी। परंतु अब मैं बल इस बात पर देना चाहता हूँ। यद्यपि हम सबने वही लिफाफा देखा, तथापि पूरी संभावना इस बात की है कि हममें से किन्हीं भी दो ने हूबहू वही इंद्रिय-दत्त नहीं देखे। इस बात की पूरी संभावना है कि प्रत्येक ने रंग की थोड़ी भिन्न छटा देखी। वे सब रंग सफेद-से रहे होंगे, परंतु प्रत्येक रंग शायद जिस तरीके से प्रकाश कागज के ऊपर पड़ रहा था उसके अनुसार, देखनेवाले की जो भिन्न स्थिति थी उसके अनुसार, तथा आपकी दृष्टि-शक्ति अथवा कागज से आपकी दूरी के अनुसार बाकी सबसे कम-से-कम कुछ भिन्न अवश्य था। और यही बात रंग के उस धब्बे की लंबाई-चौड़ाई पर भी लागू होती है जो आपने देखा : शायद आपकी आँखों की शक्ति और लिफाफे से आपकी दूरी के अनुसार रंग के धब्बे की जो लंबाई-चौड़ाई आपने देखी उसमें भी मामूली फर्क था। और फिर आकृति के बारे में भी यही कहना पड़ेगा। कमरे की उस तरफ आप में से जो-जो थे उन्होंने समातर असमचतुर्भुज की आकृति देखी होगी, और जो मेरे सामने थे उन्होंने आयत-जैसी शक्ल अधिक देखी होगी। ....

मुझे लगता है कि यह सब बहुत ही साफ तरीके से यह सिद्ध करता है कि यदि हम सबने वही लिफाफा देखा तो जो लिफाफा हमने देखा वह उन इंद्रिय-दत्तों से अभिन्न नहीं था जो हमने देखे : लिफाफा हूबहू वह चीज नहीं हो सकता जो इंद्रिय-दत्तों का वह समुच्चय है जो हममें से प्रत्येक ने देखा, क्योंकि उन समुच्चयों में से प्रत्येक शेष से निश्चित रूप से थोड़ा भिन्न था और इसलिए वे सब हूबहू वह नहीं हो सकते जो लिफाफा है।[1]

वास्तव में, ऐसा प्रतीत होगा कि जितने प्रेक्षक हैं उतने ही इंद्रिय-दत्त भी हैं। लिफाफा प्रत्येक प्रेक्षक को कुछ भिन्न दिखाई देता है। अतः इंद्रिय-दत्त प्रत्येक के लिए भिन्न हैं : इंद्रिय-दत्तों की भाषा प्रतीति की भाषा है। आपके इंद्रिय-दत्तों का वर्णन इस बात का वर्णन है कि चीजें आपको कैसी

---

१. जी० ई० मूर, सम मेन प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी (लंदन : जार्ज अलेन एंड अनविन, १९५३), पृ० ३०-३३।

प्रतीत होती हैं—और यदि कोई भौतिक वस्त न हो, जैसे अपभ्रम में, तो भी आप जिन इंद्रिय-दत्तों का अनुभव कर रहे है उनका आप वर्णन कर सकते है। भौतिक वस्तुएँ जैसी प्रतीत होती है वैसी ही हो, यह जरूरी नहीं है; परंतु इंद्रिय-दत्त वैसे ही होते है, क्योंकि इंद्रिय-दत्तों की भाषा प्रयोग में लाई ही ठीक इसलिए जाने लगी कि प्रतीतियों का उनकी वास्तविकता को लेकर कोई भी शर्तें लगाए बिना वर्णन किया जा सके।

"मै इस बात को समझ सकता हूँ कि इंद्रिय-दत्तों के वर्णन जो मैं देखता, सुनता इत्यादि हूँ केवल उसके ही वर्णन क्यों हैं। ये अव्यवहित होते हैं—अनुमान से प्राप्त नही होते। पर मैं इस बात को नही समझ पा रहा हूँ कि कोई कैसे यह कह सकता है कि हमारा भौतिक वस्तुओं का ज्ञान अनुमान से प्राप्त होता है। मुझे याद नही आता कि मैंने कभी पहले रंगों और आकृतियों के नमूनों को देखा हो और फिर यह अनुमान किया हो कि यह मेज के ऊपर किताबों का एक ढेर है। मैं किताबों और मेज को उतने ही अव्यवहित रूप से देखता हूँ जितने किसी भी चीज को, न कि किसी अनुमान-प्रक्रिया से, जैसे फर्श के ऊपर मिट्टी में सने पंजों के निशान देखकर मेरा यह अनुमान करना कि कुत्ता यहाँ आया था। मैं किताबों को देखता हूँ और उन्हें छूता हूँ; इसमें अनुमान क्या है?" संवृतिवादी इसका यह जवाब देगा कि अनुमान के दो अर्थ होते हैं, एक तार्किक और दूसरा मनोवैज्ञानिक, जिनमें अंतर रखना जरूरी है: मनोवैज्ञानिक रूप से हमें किताबों और मेजों के प्रसंग में किसी ऐसी प्रक्रिया से गुजरने की वैसे ही जानकारी नहीं होती जैसे रसोई से बैठक की ओर जाने में प्रत्येक कदम पर अपनी टाँगों को हिलाने की हमें जानकारी नही रहती। परंतु तार्किक रूप से भौतिक वस्तुओं के बारे में आपका दावा एक अनुमान है, क्योकि यह दावा आपके द्वारा अनुभूत इंद्रिय-दत्तों के स्वरूप और उनके पारस्परिक संबंधों के ऊपर आधारित है: इस दावे की पुष्टि के लिए कि आप एक लिफाफे को देख रहे हैं उससे कही अधिक कुछ करना पड़ता है जितना इस दावे की पुष्टि के लिए करना पड़ता है कि आप एक सफेद-सी आयताकृति देख रहे हैं। पहला एक बड़ा दावा है जिसे प्रमाणित करना इस मामूली-सी बात को प्रमाणित करने से कठिन होता है कि आप अपने दृष्टि-क्षेत्र में सफेद-सी आयत-जैसी आकृति को देख रहे हैं जिसे कि आप सीधे (अनुमान की मदद लिए बिना) अनुभव कर रहे हैं।

संवृतिवादियों के मन में इंद्रिय-दत्तों को देखने का (अव्यवहित) भौतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष से (आनुमानिक) अंतर करते समय जो बात रही है उसे समझने का सर्वोत्तम तरीका स्वयं से यह पूछना है कि प्रत्यक्ष के एक नमूने को लेकर हम संदेह किस बात में कर सकते हैं ; अथवा दूसरे शब्दों में यह कि हम किस बात में गलती कर सकते हैं और किस बात में नहीं। स्थिति यह है कि जिन दत्तों का हमें संवेदन होता है उनके बारे में हम गलती नहीं कर सकते (हालांकि हमारे उनके वर्णन में गलती हो सकती है), परंतु भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व और उनके गुणों के बारे में हमारा दावा गलत हो सकता है।

जब मैं एक टमाटर देखता हूँ तब इसमें बहुत कुछ ऐसा होता है जिसमें मैं संदेह कर सकता हूँ। मैं यह संदेह कर सकता हूँ कि जो मैं देख रहा हूं वह क्या टमाटर ही है अथवा चतुराई के साथ रंगा हुआ मोम का एक टुकड़ा। मुझे संदेह हो सकता है कि क्या कोई भौतिक चीज वहां है भी। शायद जिसे मैंने टमाटर समझा वह असल में एक प्रतिबिंब था ; शायद मुझे एक अपभ्रम हो रहा था। पर एक बात में कोई संदेह नहीं हो सकता : यह कि एक लाल धब्बा है जिसकी कुछ गोल और उभरी हुई शक्ल है, जो अन्य रंगों के धब्बों की पृष्ठभूमि में स्पष्ट दिखाई देता है और जिसमें कुछ गहराई दिखाई देती है, और कि रंग का यह पूरा क्षेत्र साक्षात् मेरी चेतना में प्रस्तुत है। यह लाल धब्बा क्या है, कोई द्रव्य है या किसी द्रव्य की एक अवस्था है या कोई घटना है, यह भौतिक है या मानसिक है या इनमें से कुछ भी नहीं ? ये ऐसे सवाल हैं जिनको लेकर संदेह किया जा सकता है। मेरी चेतना में प्रस्तुत होने से एक क्षण पहले से वह चीज अस्तित्व रखती है या बाद में एक क्षण तक भी बनी रहेगी या नहीं ? जैसे मुझे उसकी चेतना है वैसे ही अन्यों को भी हो सकती है या नहीं ? ये सब संदेह हो सकते हैं। पर इस बात में कम-से-कम मुझे संदेह होना संभव नहीं है कि इसका इस समय अस्तित्व है और मुझे इसकी चेतना है। और जब मैं यह कहता हूँ कि यह मेरी चेतना में "अव्यवहित रूप " प्रस्तुत है तब मेरा मतलब यह है कि मुझे इसकी चेतना अनुमान से या किसी अन्य बौद्धिक प्रक्रिया से प्राप्त नहीं हुई।[१]

यह कहने में कि "यह एक टमाटर है" (भौतिक वस्तु की सूचना) गलती का होना बहुत आसान है। भौतिक वस्तु की सूचना देनेवाले कथन संदेहातीत

१. एच० एच० प्राइस, पर्सेप्शन, पृ० ३।

अचेतन रूप से)। जब हम केवल इतना ही कहते हैं कि हम कुछ लाल और गोल (इंद्रिय-दत्त, उसका एक भौतिक वस्तु होना जरूरी नहीं है) देख रहे हैं तब भी हम अर्थ दे रहे होते हैं : हम असल में यह बता रहे होते हैं कि "लाल" और "गोल" शब्दों का संबंधित इंद्रिय-दत्तों के लिए प्रयोग सही है ; हम अपने वर्तमान अनुभव को पिछले अनुभवों के द्वारा पहले से स्थापित सांचों में ढाल रहे होते हैं। भाषा का थोड़ा भी प्रयोग यह बताता है कि हमने पहले ही अपने अनुभव को अर्थ प्रदान कर दिया है। पर यह तो आरंभ मात्र होता है। इतना पर्याप्त रूप से देख लेने के बाद कि टमाटर वाले इंद्रिय-दत्तों का एक परिवार है और अनुभूत स्पर्श-संबंधी इंद्रिय-दत्त भी उसमें शामिल हैं, हम "लाल गोल उभरे हुए धब्बे" का यह अर्थ लगाते हैं कि वह एक वास्तविक भौतिक वस्तु है : हम इंद्रिय-दत्त के अनुभव का दावा करके मानो छलांग लगाकर भौतिक वस्तु के प्रत्यक्ष का दावा कर बैठते हैं। यह और भी गहरा अर्थ लगाना हुआ। फिर भविष्य में जब भी हम एक टमाटर (या टमाटर-जैसी लगनेवाली कोई चीज) देखेंगे, तब हर बार यह अनुभव अपने साथ इस पूरी "पूर्व प्रत्यक्षों की पृष्ठभूमि" को लेकर आएगा और इस प्रकार जिसका हमें अव्यवहित रूप से संवेदन होता है उसमें हम अनेक ऐसे गुणों को भी भांप लेंगे जो उस अनुभव ने अभी प्रकट नहीं किए हैं—जैसे, कठोरता या मृदुता, हालांकि अभी चीज को छुआ नहीं गया है।

प्रायः इंद्रिय-दत्तों से भौतिक वस्तु में इस तरह मानो छलांग लगाकर पहुंच जाना उचित होता है, क्योंकि अधिकतर प्रसंगों में हम जो "लाल उभरा हुआ कुछ" देखते हैं वह सचमुच वही ("यह तो एक सचमुच का टमाटर है") निकलता है। अपभ्रम तो कभी-कभी ही होते हैं, सदैव नहीं। परंतु यदि यह संदेह करने का कि हमारे प्रारंभिक इंद्रिय दत्त भ्रामक हैं, हमारे पास कोई हेतु होता है तो हम कोई दावा करने में अधिक सावधानी से काम ले सकते हैं : "मैं एक चीज देख रहा हूं जो टमाटर की तरह लगती है," "वह टमाटर प्रतीत होता है", "लगता है कि मैं एक टमाटर देख रहा हूं" इत्यादि। हम "मुझे गोल लाल-जैसे इंद्रिय-दत्तों का संवेदन हो रहा है" नहीं कहते, क्योंकि "इंद्रिय-दत्त" शब्द ज्ञानमीमांसकों के द्वारा चलाया हुआ एक तकनीकी शब्द है ; हम इस शब्द के बिना काम चला सकते हैं, परंतु किसी तरह की एक प्रतीतिसूचक भाषा ("यह टमाटर-जैसा प्रतीत होता है," "वहां एक

टमाटर दिखाई देता है" इत्यादि) के बिना हमारा काम नहीं चल सकता, जो कि भौतिक वस्तु के पूरे दावे का क्षणिक संवेदन या इंद्रिय-दत्त के हलके दावे से भेद करने में हमारी सहायक होती है। यदि आप कहें कि "वह एक टमाटर है" और टमाटर हो कोई नही, तो आपको अपना कथन वापस लेना पड़ेगा; परंतु यदि आप केवल इतना कहते है कि "लगता है कि मैं एक टमाटर देख रहा हूँ" या इसी तरह की कोई बात, तो इस वजह से कि वहाँ कोई टमाटर नहीं है आपको अपना कथन वापस नहीं लेना पड़ेगा—यदि वहाँ टमाटर न भी हो तो भी यह कथन सही होगा कि जो आपने देखा वह टमाटर लगता था या टमाटर-जैसा कुछ था। जब आपका दावा केवल इंद्रिय-दत्त के बारे में होता है तब बाद के ऐंद्रिय अनुभव से आपके कथन के असत्य सिद्ध होने का उस तरह खतरा नही होता जिस तरह आपके भौतिक वस्तु के होने के दावे के असत्य होने का।

अब हम इस बात को अधिक यथार्थ रूप से समझ सकते हैं कि इंद्रिय-दत्तों से संबंधित कथन संदेहातीत क्यों होते है— पृ० ७९६ में उल्लिखित शर्तों के साथ—जबकि भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व और गुणों को बतानेवाले कथन ऐसे नही होते। भौतिक वस्तु से संबंधित दावों में एक प्रकार की भूल हो सकती है जो इंद्रिय-दत्त की सूचना देनेवाले कथनों में नहीं हो सकती, और यह है इंद्रियानुभविक भूल। किसी भौतिक वस्तु के होने के दावे में संदेह किया जा सकता है और बाद के अनुभव से वह [illegible]डित तक हो सकता है, परंतु इंद्रिय-दत्त की सूचना इन बातों से ऊपर होती है। यह दावा कि मैं एक सचमुच का टमाटर देख रहा हूँ, संदेहास्पद या गलत तक सिद्ध हो सकता है, परंतु ऐसा सिद्ध होने के बावजूद भी यह बात सत्य बनी रहती है कि मुझे कुछ ऐंद्रिय अनुभव हुए थे जिनके आधार पर मुझे वहाँ एक टमाटर के होने का विश्वास हो गया था। भविष्य में होनेवाला कोई भी अनुभव इस तथ्य को संदेहग्रस्त नहीं बना पाएगा कि मुझे इस क्षण यह अनुभव हुआ। भले ही अगले क्षण तथाकथित टमाटर हवा में गायब हो जाए और फिर कभी न दिखाई दे, पर यह तब भी सत्य होगा कि इस क्षण मुझे यह अनुभव हुआ। इंद्रिय-दत्त की यह सूचना देते हुए मैं उस क्षण के आगे-पीछे के बारे में कोई भी दावा नहीं कर रहा हूँ जिस क्षण की मैं सूचना दे रहा हूँ। मैं सिर्फ यह कह रहा हूँ कि मुझे ऐसा-ऐसा अनुभव हो रहा है, इससे अधिक

कुछ नहीं। परंतु—और यहीं इंद्रियानुभविक भूल का होना संभव है—जब मैं यह दावा करता हूँ कि वहाँ पर सचमुच एक टमाटर है, तब मेरा दावा वर्तमान क्षण को लांघ जाता है। दूसरे शब्दों में, मैं अव्यक्त रूप से एक भविष्यवाणी कर बैठता हूँ। उदाहरणार्थ, मेरे कथन में यह बात गर्भित है कि यदि मैं उस दिशा में देखना जारी रखूँ तो मुझे उसी तरह के अनुभव होते चलेंगे, कि यदि मैं उसे छूने के लिए अपना हाथ बढ़ाऊँ तो मुझे स्पर्शसंबंधी कुछ इंद्रिय-दत्तों का (कठोरता या मृदुता की किसी मात्रा का) अनुभव होगा, इत्यादि—इन विशेषताओं का हम पहले ही इंद्रिय-दत्तों के परिवार की चर्चा में उल्लेख कर चुके हैं। यदि टमाटर का मेरा अनुभव सच्चा है तो अनेक अन्य इंद्रिय-दत्तों का—जिनसे एक परिवार बनता है—आगे मुझे अनुभव होगा। और यह अवश्य ही मुझे होनेवाले इंद्रियानुभवों की भविष्यवाणी है। भौतिक-वस्तु-संबंधी प्रत्येक कथन एक अव्यक्त भविष्यवाणी होता है, और सभी भविष्यवाणियों की तरह यह भी गलत सिद्ध हो सकती है। परिवार में शामिल अन्य इंद्रिय-दत्त शायद हों ही नहीं।

किसी भौतिक वस्तु के अस्तित्व या स्वरूप के बारे में जो दावा किया जाता है उसमें शामिल भावी इंद्रियानुभव के पूर्वकथनों का दायरा कितना बड़ा होता है? "मेरे सम्मुख निश्चित रूप से एक वास्तविक टमाटर है," यह कहने का पूरा अधिकार पा सकने से पहले मुझे कितने इंद्रियानुभवों का हो जाना जरूरी है? क्या मैं कभी उतने ही निश्चय के साथ ऐसा कथन कर सकता हूँ जितने निश्चय के साथ यह कि "मुझे इस समय ऐसा-ऐसा अनुभव हो रहा है"? इस बारे में बहुत मतभेद है, और मैं यहाँ संक्षेप में केवल दो परस्पर विरोधी मतों का वर्णन करूँगा।

१. एक मत यह है कि भौतिक वस्तु को बतानेवाला कोई भी कथन कभी भी निश्चित रूप से सत्य नहीं जाना जा सकता; हमें अधिक-से-अधिक प्रसंभाव्यता की उत्तरोत्तर बढती हुई मात्राएँ ही प्राप्त हो सकती हैं। ऐसा क्यों है? इसलिए कि जिन इंद्रिय-दत्तों का संवेदन उस भौतिक-वस्तु-संबंधी कथन की सत्यता को निर्धारित करने के लिए आवश्यक है उनका विस्तार अनंत होता है। अकेली दृष्टि को ही लीजिए: मेज को कितने अधिक कोणों से देखा जा सकता है? अनंत कोणों से; और जिन दो कोणों से आप उसे देख सकते हैं उनके बीच में अन्य कोणों की अनंत संख्या है। व्यवहार में हम कुछ ही

बार सरसरी निगाहों से देखने के बाद आश्वस्त हो जाते हैं कि वह एक मेज है ; परंतु यदि हम पूछें कि "कब आप सचमुच असंदिग्ध रूप से जानते हैं कि वह एक वास्तविक मेज है ? कब आपका दावा इस तरह संदेहातीत हो जाता है कि किसी भी भावी इंद्रियानुभव के द्वारा उसका खंडित होना या थोड़ा भी शक उसके बारे में पैदा होना असंभव बन जाता है ?" तो उत्तर यह है कि "कभी नहीं" । आपको इंद्रिय-दत्तों की अनंत संख्या का अनुभव करना पड़ेगा, क्योंकि मेज के इंद्रिय-दत्तों का परिवार असीम रूप से विशाल है ; और निश्चय ही आप उन सबका कदापि अनुभव नहीं कर सकेंगे । पहली दृष्टि में रुपया कुछ दीर्घवृत्तीय दिखाई देता है ; एक सेकेंड के अल्पांश के बाद ही एक और भी छोटे न्यूनकोण से वह और भी अधिक दीर्घवृत्तीय लगता है ; परंतु यदि आपने बीच में एक सेकेंड के अल्पांश तक पलक न झपकाई होती तो दीर्घवृत्तीयता के इंद्रिय-दत्त के बजाय दोनों के मध्य आपको एक ऐसे दृष्टि-संबंधी इंद्रिय-दत्त का अनुभव हो सकता था जिसकी शक्ल गाय की जैसी होती । और तब आपको अपनी इस प्रारंभिक मान्यता पर संदेह करने का हेतु मिल गया होता कि आपको कोई अपभ्रम नहीं हो रहा है । परंतु इस तरह की बात का होना सदैव संभव होता है : आपको यह पक्का विश्वास कभी हो ही नहीं सकता कि ऐसा नहीं होगा, भले ही आपको अनेक अनुकूल इंद्रिय-दत्तों (इंद्रिय दत्त परिवार के सदस्यों) का अनुभव हो चुका हो । पक्का विश्वास प्राप्त करने के लिए आपको पूरे परिवार का अनुभव करना होगा, परंतु पूरा परिवार असीम होता है । जब तक कथन पूर्णतः सत्यापित नहीं हो जाता तब तक आप नहीं जान सकते कि वह सत्य है ; और पूर्ण सत्यापन के लिए आपको इंद्रिय-दत्तों की एक अनंत शृंखला का अनुभव करना पड़ेगा ।

मेरा विश्वास है कि मेरे सामने सफेद कागज का एक टुकड़ा है । मेरे इस विश्वास का आधार यह है कि मैं ऐसा देखता हूँ : एक दृष्टि-संवेदन मुझे होता है । परंतु मेरे विश्वास में यह प्रत्याशा भी शामिल है कि जब तक मैं उसी दिशा में देखता रहूँगा तब तक यह संवेदन अपने गुण में कोई भी मौलिक परिवर्तन किए बिना होता रहेगा; कि यदि मैं अपनी आँखों को दाहिनी ओर मोड़ूँ तो मेरे दृष्टिक्षेत्र के अंदर वह बाईं ओर हट जाएगा ; कि यदि मैं उन्हें बंद कर दूँ तो वह लुप्त हो जाएगा; इत्यादि । यदि जाँच करने पर इनमें से कोई भविष्यवाणी गलत सिद्ध हो जाए तो मुझे अपने सामने एक कागज के

टुकडे के सचमुच होने के वर्तमान विश्वास को छोड़ देना होगा और यह मानना होगा कि मुझे किसी असाधारण उत्तर प्रतिमा का या किसी रहस्यमय प्रतिबिंब का अथवा घबराहट पैदा कर देनेवाले अपभ्रम का अनुभव हो रहा है।

मैं कुछ समय तक उसी दिशा मे देखना जारी रखता हूँ ; तब अपनी नजर हटा देता हूँ ; और उसके बाद आँखो को बंद करने की कोशिश करता हूँ : यह सब करने पर प्रत्याशित परिणाम ही प्राप्त होते हैं। यहाँ तक मेरे विश्वास की पुष्टि होती है। और ये पुष्टियाँ मुझे और भी अधिक विश्वास के साथ उनके आधार पर अन्य भविष्यवाणियाँ करने के लिए प्रेरित करती हैं। परंतु सैद्धांतिक रूप से और आदर्श की दृष्टि से हम कहेगे कि वह पूर्णतः सत्यापित नही हुआ है क्योंकि मेरे सामने सफेद कागज के एक असली टुकड़े के होने मे मेरा जो विश्वास है उसमे और भी ऐसी बातें शामिल है जिनकी अभी तक जाँच नही हुई है : यह कि जो मैं देखता हूँ उसे यदि मोडा जाए तो उसमे सिलूलायड के टुकडे की तरह दरार नही पडेगी; कि वह आसानी से फाडा जा सकता है जबकि वास्तुशिल्पी का नक्शा बनाने का कपडा आसानी से नही फटेगा, कि इस अनुभव के बाद वैसा नही होगा जैसे कि मानो हम नीद से जगकर अपने को बिल्कुल भिन्न पर्यावरण मे देख रहे हो ; इत्यादि (सबको बताना असंभव है)। यदि मेरे सामने यह कागज का एक असली टुकडा है तो मैं इसे कल भी यहाँ पर कोने मे अभी मैंने जो संख्या लिखी है उसके साथ पाने की आशा करूँगा· इसकी वास्तविकता और इसके गुणो मे मेरा जो विश्वास है उसमे कल और भविष्य के असंख्य सत्यापनो या आंशिक सत्यापनो की संभावना छिपी हुई है।······यदि कागज के प्रसंग मे इस अनुभवमूलक विश्वास के जिन परीक्षणों का उल्लेख किया गया है वे सब पूरे हो भी जाएँ तो भी यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकेगा कि उसका सत्यापन सिद्धांतत. पूरा हो गया है, क्योंकि इस विश्वास मे अभी और भी मिलती जुलती बातें ऐसी छिपी हुई है जिनकी अभी जाँच नही हुई है।····

यदि अब हम स्वयं से पूछें कि इस विश्वास मे जो परिणाम छिपे हुए हैं उनकी संख्या कितनी है, तो स्पष्टत यह लगता है कि सफेद कागज के बहुत ही मामूली उदाहरण तक में, जिसका कि मेरे सामने होना मान लिया गया है, उनकी संख्या अनंत है।····वे संभवत. कभी समाप्त नहीं होंगे : कभी ऐसा समय नही आएगा जब मेरे मेज के ऊपर इस समय कागज के टुकड़े

के पड़े हुए होने के तथ्य—या अ तथ्य—से कोई मामूली भी फर्क न पड़े।....

यदि किसी अकेले परीक्षण का परिणाम आशा के अनुसार निकलता है तो वह निर्णय का एक आंशिक सत्यापन ही होगा, ऐसा कदापि नहीं जो पूरी तरह निश्चायक हो और सिद्धांततः पूर्ण हो। इसकी वजह यह है कि निर्णय जहाँ तक सार्थक है वहाँ तक उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिसका परीक्षण न किया जा सके, और फिर भी उसका एक ऐसा अर्थ होता है जो किसी भी अकेले परीक्षण या परीक्षणों के किसी सीमित समुच्चय में नहीं समा पाता। मैं उस वस्तुगत तथ्य की चाहे कितनी ही पूरी तरह जाँच क्यों न कर चुका होऊँ, सिद्धांततः गलती होने की फिर भी संभावना बनी रहेगी; ऐसे और भी परिणाम होंगे जो निर्णय के सत्य होने की दशा में प्राप्त होंगे और उन सभी का निर्धारण अभी नहीं हुआ है। इस संभावना का निराकरण पूरी तरह से नहीं किया जा सकता कि यदि और परीक्षण किए जाएँ तो उनके नतीजे प्रतिकूल हो सकते है। और यह संभावना प्रकट करती है कि निर्णय उस समय तक पूरी तरह सत्यापित नहीं हुआ है और उसकी निश्चयात्मकता की मात्रा पूर्ण से कम है। ऐसे संभव संदेहों को लेकर बाल की खाल उतारना अधिकांशतः सामान्य-बुद्धि-सम्मत नहीं होगा। परंतु हम सैद्धांतिक संदेह की उस मात्रा को निर्धारित करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं जो सामान्य-बुद्धि-सम्मत व्यावहारिकता के साथ चल सकती है, बल्कि ज्ञान का एक सही विश्लेषण प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं। और अधिक जांच के लिए गुंजाइश का बना रहना तथा निश्चयात्मकता की मात्रा का सिद्धांततः जो पूर्ण है उससे कम होना वस्तुगत-तथ्य-विषयक प्रत्येक निर्णय की शाश्वत विशेषताएँ हैं—प्रत्येक ऐसे निर्णय की जो यह बताता है कि अमुक वस्तु का सचमुच अस्तित्व है या उसमें अमुक गुणधर्म तथ्यतः है, अथवा यह कि अमुक घटना बाह्य जगत् में सचमुच होती है, या यह कि अमुक वस्तुस्थिति सचमुच है।[1]

२. परंतु अन्य दार्शनिक इससे सहमत नहीं है। वे कहेंगे कि यह बात तर्कतः संभव है कि भविष्य में होनेवाले इंद्रिय-दत्त आशा के अनुरूप न निकलें,

१. क्लॅरेन्स आई० ल्यूइस, ऐन अनॅलिसिस ऑफ नॉलेज ऐंड वैल्युएशन, पृ० १७५-७६, १८०।

परंतु इसका मतलव केवल यह है कि ऐसा कहना स्वतोव्याघाती नही है—जो कि सत्य तो है पर प्रसंगोचित नही है। "यह निश्चित नही है कि मैं इस समय कागज के एक टुकड़े को देख रहा हूं, क्योंकि यह तर्कत. संभव है कि मैं उसे न देख रहा होऊँ।" यह एक अवैध युक्ति है। जो भी वात स्वतोव्याघाती नही है वह अवश्य ही तर्कतः संभव है ; पर यह वात कि कोई चीज तर्कतः संभव है इस वात का आभास तक नहीं देती कि कथन सत्य, वस्तुतः निश्चयात्मक रूप से सत्य, नही है। वास्तव में, हम पहले ही स्वीकार कर चुके हैं कि इंद्रिय-दत्त की सूचना देनेवाले कथन (यदि शब्दों की भूलें और अन्य भूलें न हों तो) निश्चयात्मक होते हैं, और फिर भी यह वात तर्कतः संभव है कि वे असत्य हों—सिर्फ इस वजह से कि वे विश्लेपी कथन नहीं हैं : उनके निपेध में कोई व्याघात नही होता। इस प्रकार इस वात के तर्कतः संभव होने से कि एक कथन शायद सत्य न हो, उस कथन की निश्चयात्मकता थोड़ी भी प्रभावित नही होती। यदि कथन निश्चयात्मक नही है तो इसका हेतु इस वात से भिन्न होना चाहिए कि उसका असत्य होना तर्कतः संभव है। तर्कतः संभव होने की वात यहां बिल्कुल ही अनुपयुक्त है : उपयुक्त यह प्रश्न है : "क्या यह विश्वास करने का कोई हेतु है कि कथन निश्चयात्मक नही है ? विशेपतः क्या उसके विरुद्ध कोई प्रमाण है या कोई ऐसी वात है जिसके आधार पर आप कह सकें कि वह पूर्ण से कम निश्चयात्मक है ?"

इस मत के अनुसार ऐसे अनेक कथन होते हैं—भौतिक वस्तुओं के विपय में किए जाने वाले कथनों के सहित—जो इस वात के वावजूद (जो कि यहां अप्रासंगिक है) पूर्णतः निश्चयात्मक होते हैं कि उनका असत्य होना तर्कतः संभव है। उदाहरणार्थ :

मान लो, मैं सोचता हूँ कि पैराडाइज लॉस्ट "ऑफ मैन्स फर्स्ट डिसओविडियन्स" के साथ शुरू होता है, परंतु मुझे पक्का यकीन नही है और मैं इसकी जांच करना चाहता हूँ। मैं आलमारी से मिल्टन का काव्य-संग्रह निकालता हूँ। मैं पहला पृष्ठ खोलता हूँ और पैराडाइज लॉस्ट, वुक I के अंतर्गत मैं देखता हूँ कि पहली पंक्ति के प्रथम चार शब्द "ऑफ मैन्स फर्स्ट डिसओविडियन्स" हैं। साधारणतः यह कहा जाएगा कि मेरी वात सत्यापित हो गई है। सत्यापन-युक्ति के प्रस्तावक कहेंगे कि मैंने उसे "पूरी तरह", सत्यापित नही किया है। वे कहेंगे कि मैंने इस वात तक को पूरी तरह

सत्यापित नही किया है कि मेरे सामने खुले हुए पृष्ठ की कविता के प्रथम चार शब्द "ऑफ मैन्स फर्स्ट डिसओबिडियन्स" हैं। इस बात के और अधिक सत्यापन के लिए मुझे क्या करना होगा ? क्या मैं दुबारा देखूं ? मान लो, मैं ऐसा करता हूँ और मैं वही बात देखता हूँ। क्या मैं किसी और को देखने के लिए कहूँ ? मान लो, वह देखता है और वही बात पाता है। इस दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार बात अभी भी "पूरी तरह" सत्यापित नहीं हुई। मैं अब और सत्यापन कैसे करूँ ? यदि मैं बार-बार इस पृष्ठ को देखूं और अन्य लोग भी अधिकाधिक संख्या में बार-बार उसे देखें तो क्या यह "और अधिक सत्यापन" होगा ? बिल्कुल नहीं। ऐसा हमें नहीं कहना चाहिए। एक बार सावधानी के साथ देख लेने के बाद यदि मैं फिर उस पृष्ठ को देखना जारी रखूं तो हमें यह नहीं कहना चाहिए कि मैं इस बात का "और अधिक सत्यापन" कर रहा हूँ या और अधिक सत्यापन की कोशिश कर रहा हूँ कि उस पृष्ठ की कविता के प्रथम चार शब्द "ऑफ मैन्स फर्स्ट डिसओबिडियन्स" हैं। कार्नप ने कहा है कि यद्यपि "परीक्षण करनेवाले प्रेक्षणों की शृंखला" को जारी रखना मूर्खतापूर्ण या अव्यावहारिक होगा, तथापि "सिद्धांततः" ऐसा किया जा सकता है। इसमें यह विवक्षित है कि परिस्थितियाँ चाहे जो हों, कुछ कामों को हमें इस बात का "और अधिक सत्यापन" या "और अधिक संपुष्टीकरण" कहना चाहिए। यह एक भूल है। मान लो, मैं उस पृष्ठ को लगातार देखना जारी रखता हूँ और किसी को यह जिज्ञासा होती है कि मैं इस तरह से क्यो व्यवहार कर रहा हूँ। यदि एक तीसरा आदमी कहता है कि "वह इस बात का और अधिक सत्यापन करने की कोशिश कर रहा है कि ये ही वे प्रथम चार शब्द हैं," तो यह एक बेतुका और हास्यास्पद कथन होगा। और यदि मेरा काम किताब को एक के बाद दूसरे व्यक्ति को दिखाना हो तो भी यह बात उतनी ही बेतुकी होगी। उन परिस्थितियों में ऐसी कोई बात नहीं है जिसे हम "और अधिक सत्यापन" कह सकें। यह मानना कि "सत्यापन की प्रक्रिया" "समाप्त हुए बिना" चलती रह सकती है "सत्यापन" शब्द के साधारण प्रयोग की उपेक्षा कर देना मात्र है। यह बात गलत है कि "परीक्षणार्थ प्रेक्षणों की शृंखला को जारी रखना सिद्धांततः सदैव संभव होता है"। यह संभव है कि मैं उस पृष्ठ को देखना जारी रखूं। यह संभव नहीं है कि मैं इस बात का सत्यापन जारी रखूं, क्योंकि उन परिस्थितियों में हमें किसी

चीज को उसका "और अधिक सत्यापन" नही कहना चाहिए। सत्यापन समाप्त हो जाता है।[1]

जो इस बात से इन्कार करते है कि भौतिक वस्तु के बारे में किए जानेवाले कथन निश्चयात्मक रूप से सत्य जाने जा सकते हैं वे यह मानने से इन्कार नहीं करते कि वे "व्यवहारतः निश्चयात्मक" (जिसका अर्थ साधारणतः "प्रायः निश्चयात्मक" होता है) हो सकते हैं; वे केवल इस बात से इन्कार करते है कि ऐसे कथन "सिद्धांततः निश्चयात्मक" हो सकते हैं। परंतु यह भी एक भूल है :

"सैद्धांतिक निश्चयात्मकता" का वे कैसे प्रयोग कर रहे हैं? यदि वह प्राप्त हो जाए तो किस वस्तुस्थिति को वे "सैद्धांतिक निश्चयात्मकता" कहेंगे? किन परिस्थितियों में (मान लीजिए कि वे परिस्थितियाँ सचमुच हो सकती है) यह बात 'सिद्धांततः निश्चयात्मक" होगी कि अमुक कथन सत्य है? उनकी युक्तियो के संदर्भ से इसका जवाब स्पष्ट हो जाता है। किसी दिए हुए कथन के सत्य होने की बात सिद्धांततः निश्चयात्मक केवल तब होगी जब "परीक्षणों" की एक अनंत संख्या यानी "सत्यापन" के अनंत कार्य पूरे कर लिए जाएँ। यह निस्संदेह एक स्वतोव्याघाती कथन है कि किसी ने "परीक्षणो" या किसी तरह के कार्यों की एक अनंत संख्या पूरी कर ली है। किसी के द्वारा कार्यों की एक अनंत संख्या पूरी कर लिए जाने की बात व्यवहार में असंभव मात्र नही है। यह सिद्धांततः असंभव है। अतः ये दार्शनिक 'सिद्धांततः निश्चयात्मक" का गलत प्रयोग करते है। जिसे वे "सैद्धांतिक निश्चयात्मकता" कहते है वह सिद्धांततः भी प्राप्त नही हो सकती। परंतु शब्दो का यह दुष्प्रयोग स्वतः उपेक्षणीय है। अत्यधिक महत्त्व इस बात का है कि वे "सिद्धांततः निश्चयात्मक" का वही अर्थ समझते है जो साधारणतः "पूर्णतः निश्चयात्मक" का होता है। यदि यह अभेद सही होता तो "पूर्णतः निश्चयात्मक" का साधारण अर्थ स्वतोव्याघाती होता। इस प्रतिज्ञप्ति से कि एक दिए हुए कथन की सत्यता पूर्णतः निश्चयात्मक है यह निगमित होता है कि किसी ने कामों की एक अनत संख्या पूरी कर ली है। अतः यह कहना स्वतोव्याघाती होगा

---

१. नॉर्मन मैल्कम, "दि वेरिफिकेशन आर्गुमेंट," नॉलेज ऐंड सर्टेन्टी, पृ० ५३-५४। मैल्कम ने जो निष्कर्ष निकाला है उसके पूरे हेतुओं को उस पूरे निबंध को पढ़े बिना जिससे यह उद्धरण लिया गया है, नहीं समझा जा सकता।

कि "यह बात पूर्णतः निश्चयात्मक है कि सुकरात की एक पत्नी थी"। इस प्रकार के कथन प्रायः असत्य होते हैं अथवा उपलब्ध प्रमाण के बल को देखते हुए वे प्रायः अयुक्त होते है। परंतु यह कहना बिलकुल ही बेतुका है कि ऐसे कथन सबके-सब स्वतोव्याघाती होते हैं। जिस दार्शनिक सिद्धांत का ऐसा परिणाम हो वह स्पष्ट रूप से असत्य है।[1]

यहाँ पहुँचकर अनेक यह मानते हुए इस विवाद से हट जाना चाहेंगे कि पूर्ण निश्चयात्मकता और उसकी निकटतम चीज यानी "व्यावहारिक निश्चयात्मकता" (वह निश्चयात्मकता जो इतनी पर्याप्त हो कि आप उसे अपने कार्यों और वस्तुतः अपने जीवन का आधार बना सकें) के मध्य इतना अधिक अंतर नही है कि उसे लेकर वाद-विवाद किया जा सके। जो भी हो, बात को यही समाप्त कर देना पड़ेगा, हालांकि एक चीज बता देनी होगी जो यदि सत्य हो तो कुछ चौका देनेवाली लगेगी : अव्यवहित अनुभव-मात्र की सूचना देनेवाला कथन—इंद्रिय-दत्त को बतानेवाला कथन—अवश्य ही पूर्णतः निश्चयात्मक हो सकता है, परंतु यह भी बता दिया जाए कि ऐसा कथन कभी नही किया जा सकता जो विशुद्ध इंद्रिय-दत्त की सूचना दे। जब आप यह कहते है कि "मैं लाल धब्बे देख रहा हूँ" और इसमें थोडा भी यह विवक्षित नही होता कि आप कोई भौतिक वस्तु देख रहे हैं, तब भी आप उस क्षणिक अनुभव की सीमा को लांघ चुके होते है जिसकी आप सूचना देने की बात करते है : तब भी जब आप अपने इंद्रिय-दत्त को "लाल" कहते है, आप ऐसी कोई बात नहीं कह रहे होते जो केवल इस विशेष इंद्रिय-दत्त पर लागू होती हो : सभी *विशेषण-शब्दों की तरह "लाल" भी न केवल इस अनुभव पर बल्कि अनेक* अन्य अनुभवो पर भी लागू होता है। अब आप कहते है कि यह लाल है तब आप इस अनुभव का जो अनेक अनुभव आपको पहले हो चुके हैं (और शायद आगे भी होंगे) उनसे संबंध जोडते हैं : आप इस अनुभव को भूत और भविष्य के अन्य अनुभवों के साथ यह कहकर मिला देते हैं कि वे एकही वर्ग में आते हैं, कि उन सभी पर एक ही शब्द लागू होता है, अर्थात् आपका यह वर्तमान अनुभव आपके अन्य पिछले अनुभवों से इतना अधिक सादृश्य रखता है कि उन सबके लिए एकही विशेषण-शब्द "लाल" का प्रयोग ठीक है। और यह कहने मे क्या आप गलती नही कर रहे होंगे ? इस अनुभव को लाल कहने में आप

---

१. वही, पृ० ५५-५६।

स्मृति पर भरोसा कर रहे हैं जो कि गलत हो सकती है। लेकिन इस इद्रिय-दत्त को "लाल" कहने मे स्मृति फिर शामिल है ही . उसे "लाल" कहकर आप वस्तुत यह बताते हैं कि यह उन अन्य इद्रिय-दत्तो के समान है जिनका आप पहले अनुभव कर चुके हैं, कम से कम इतना काफी समान है कि उसी शब्द का इसके लिए प्रयोग किया जा सकता है।

लाल कहकर आप इद्रिय-दत्त का नामकरण नही कर रहे है। यदि आप ऐसा कर रहे होते तो आप इस शब्द का कभी दुबारा प्रयोग न करते, क्योकि यह इद्रिय-दत्त तो सदा के लिए लुप्त हो जाता है। असल मे आप उसका वर्णन कर रहे है, यह बताते हुए कि वह किस तरह का है। और महत्त्व की बात ठीक यही है आप कह रहे है कि वह किसकी तरह का है, कि वह अन्य दत्तो की तरह है जिनके लिए आप उसी वर्णनात्मक शब्द का प्रयोग कर चुके है। यदि आप प्रत्येक इद्रिय-दत्त के लिए एक भिन्न व्यक्तिवाचक नाम का प्रयोग कर सकते तो आप इस कठिनाई से बच सकते थे, हालाँकि तब आपको व्यक्तिवाचक नामो की अनत सख्या की, जिनमे से किसी का भी दूसरे के लिए प्रयोग न किया जा सकता, जरूरत पडती। परतु, भाषा की वर्तमान अवस्था मे यह तथ्य बना रहता है कि जब आप भाषा का व्यक्तिवाचक नाम रखने के अलावा किसी भी काम के लिए प्रयोग करते हैं तब आप उस क्षण के इद्रिय-दत्त से अनिवार्यत आगे निकल जाते है और अपने वर्तमान इद्रिय-दत्तो को अतीत के इद्रिय-दत्तो से सबधित कर देते है। इस क्षणिक इद्रिय-दत्त मात्र की सूचना देने की कोशिश मे ही आप ऐसे शब्दो का प्रयोग कर बैठते है जो उसे (सादृश्य के सबध के द्वारा) अन्य इद्रिय-दत्तो के साथ जोड देते हैं और आपको इस कथन से बध जाना पडता है कि यह उनके समान है। और ऐसा करने मे निस्सदेह आप इस क्षण के इद्रिय-दत्तो से आगे निकल जाते हैं तथा इस सबध मे आपके द्वारा गलती का हो जाना बिल्कुल सभव हो जाता है। यह अवश्य ही निश्चयात्मक है कि आपको वह सवेदन होता है जो होता है और वह अनुभव होता है जो होता है—पर यह तो एक विश्लेषी कथन है। ज्योही आप अपने अनुभव को शब्दो मे बताने लगते हैं, भले ही आप 'लाल" जैसे एक सरल इद्रिय-दत्त-बोधक शब्द का प्रयोग कर रहे हो, त्योही आप उस क्षणिक इद्रिय-दत्त की सीमा को लाघ जाते हैं जिसकी आप सूचना देने की कोशिश कर रह होते हैं। इस प्रकार भाषा का प्रयोग करने मे ही गलती सभव हो

जाती है।[1] इद्रिय-दत्त की सूचनाएँ निश्चयात्मक होती हैं, परन्तु इद्रिय-दत्त की शुद्ध सूचना नही दी जा सकती प्रत्येक सूचना मे शब्दो का प्रयोग होता है और शब्द उस अनुभव को जिसकी सूचना दी जा रही होती है अन्य अनुभवो से, जो उस क्षण मे वर्तमान नही होते, जोड देते हैं।

इस बात के बारे मे हम चाहे जो सोचते हो, यह हमे साफ-साफ समझ लेना चाहिए कि जिस तरह की गलती इद्रिय-दत्त की सूचना देनेवाले कथनो मे हो सकती है—और ऐसा प्रतीत होता है कि जो वर्णनात्मक शब्दो का प्रयोग करनेवाले सभी कथनो मे हो सकती है—वह उस अतिरिक्त प्रकार की गलती से (इद्रियानुभविक गलती से) बिलकुल भिन्न होती है जो भौतिक वस्तुओ को बतानेवाले कथनो मे हो सकती है। महत्त्वपूर्ण प्रकार की गलती वह है जो भौतिक-वस्तु-विषयक कथनो मे होती है पर इद्रिय-दत्त-विषयक कथनो मे नही होती।

इद्रिय दत्त तथा भौतिक वस्तुएँ—भौतिक-वस्तु विषयक कथनो की निश्चयात्मकता के बारे मे हम चाहे जो मानते हो, अब हम सवतिवाद के मुख्य सिद्धात मे लौटते है यह कि सभी भौतिक-वस्तु-विषयक कथनो का सवृति या दृश्यप्रपचविषयक कथनो मे—अर्थात जो अव्यवहित रूप से (अनुमान के रूप मे नही) चेतना के सामने प्रस्तुत होता है, यानी इद्रिय दत्त, उसका बोध कराने वाले कथनो मे—अनुवाद किया जा सकता है। मिल ने कहा था, "भौतिक द्रव्य सवेदन का सदैव सभव होना है।" परन्तु इद्रिय दत्तो के बारे मे हमने जो कुछ कहा है उसे ध्यान मे रखते हुए हम इसमे सशोधन करके कह सकते है कि "भौतिक द्रव्य इद्रिय-दत्तो का सदैव सभव होना है।" इद्रिय-दत्त तब वास्तविक होते हैं जब आप वस्तु का प्रत्यक्ष कर रहे होते हैं, और सभव तब होते हैं जब आप ऐसा नही कर रहे होते। यहाँ तक तो ठीक है। परन्तु मिल के विश्लेषण मे सभवताओ की क्या स्थिति है? जो वस्तु मेरे सामने है उसका अस्तित्व होता है, पर सभवताओ का अस्तित्व किस तरह होता है? जिस

---

१. कुछ दार्शनिक यह कहेंगे कि किसी इद्रिय-दत्त को "लाल" कहने में केवल एक भाषाई नियम से परिचय होना निहित होता है जो यह निर्धारित करता है कि किन परिस्थितियों में एक प्रतीक (यहाँ "लाल" शब्द) का प्रयोग किया जाएगा। ऐसा शायद हो। परन्तु परिणाम कुल यही है, क्योंकि गलती तब भी सभव है : कोई नियम का गलत प्रयोग कर सकता है।

पर्वत को कोई देख नही रहा है वह अस्तित्व रखता है —अर्थात् यदि कोई उस परिधि मे आ जाए जिससे वह दिखाई देता है तो पर्वत दिखाई पड जाएगा। परतु यह मानते हुए कि कोई पर्वत को देख नही रहा है, इस समय अस्तित्व किसका है ? एक सभवता का ? पर वह क्या होती है ? क्या इद्रिय-दत्तो की एक सभवता अपनी चोटी के ऊपर एक मीनार को धारण कर सकती है, जो पर्वत के न दिखाई देने पर भी हमे दिखाई दे जाए ? यहाँ अवश्य ही कुछ गडबड है। कुछ है अवश्य जिसका इस समय अस्तित्व है, जो किसी बात की सभवना मात्र नही है, हो वह चाहे जो भी।

समसामयिक सवृतिवादी मिल की अपेक्षा अधिक सावधानी के साथ उत्तर देता है यह सत्य नही है कि इस समय अस्तित्व केवल सभवताओ का है : इस समय अस्तित्व भौतिक वस्तुओ—पर्वत—का है, हालाँकि प्रत्यक्ष किसीको नही हो रहा है। परतु हम इस प्रतिज्ञप्ति को—कि पर्वत किसी को दिखाई दिए बिना अस्तित्व रखता है—इ द्रिय दत्तो की भाषा मे कैसे व्यक्त कर सकते हैं ? सवृतिवादियो की योजना यह है जो कुछ भी भौतिक वस्तुओ के बारे मे कहा जा सकता है उसका इ द्रिय दत्तो की भाषा मे अनुवाद किया जा सकता है। पर जब कोई पर्वत को देख ही नही रहा है तब पर्वत सबधी इ द्रिय-दत्त है ही नही। तो अनुवाद कैसे सभव है ? सवृतिवादी का उत्तर है किसी को दिखाई दिए बिना अस्तित्व रखनेवाली भौतिक व तुओ से सबधित कथनो का इ द्रिय दत्तो से सबधित कथनो मे अनुवाद किया जा सकता है, पर उन इ द्रिय दत्तो से सबधित कथनो मे नही जिनका सवेदन इस समय हो रहा है। उनका अनुवाद हेतुफलात्मक (यदि-तो) कथनो मे करना चाहिए "मेज का इस समय अस्तित्व है, हालाँकि कोई उसका प्रत्यक्ष नही कर रहा है" का अनुवाद होगा "यदि कोई प्रत्यक्ष की कुछ शर्तों को पूरा करता हो (उसी कमरे मे हो जहाँ मेज है, कमरे मे काफी रोशनी हो, इत्यादि), तो वह मेज का प्रत्यक्ष करेगा।" यह हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति तब भी सत्य होगी जब "यदि" वाले अश की शर्त पूरी न हो। परतु मेज अवश्य ही इस समय अस्तित्व रखती है, न कि सभवताओ का केवल एक समुच्चय अर्थात् इस समय यह बात सत्य है कि यदि कोई अगले कमरे मे जाए तो उसे मेज दिखाई देगी। यह मत कहिए कि हेतुफलात्मक इ द्रिय दत्तो का इस समय अस्तित्व है ("हेतुफलात्मक इ द्रिय-दत्त" का क्या अर्थ

होगा ?) ; यह कहिए कि इंद्रिय-दत्तो से सबंधित हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ इस समय सत्य है । हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति है न कि इंद्रिय-दत्त ; "हेतुफलात्मक' सज्ञा-शब्द "प्रतिज्ञप्ति" का विशेषण है, सज्ञा-शब्द "इंद्रिय-दत्त" का नही । हम भौतिक-वस्तु-विषयक प्रतिज्ञप्तियो का हेतुफलात्मक इंद्रिय-दत्त-विषयक प्रतिज्ञप्तियो मे अनुवाद नही कर रहे हैं ; हम भौतिक-वस्तु-विषयक प्रतिज्ञप्तियो का इंद्रिय-दत्त-विषयक हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियो मे अनुवाद कर रहे हैं ।

परतु यदि हमसे भौतिक-वस्तु-विषयक कथनो का इंद्रिय-दत्त-विषयक कथनो मे अनुवाद करने को कहा जाता है तो ऊपर हमने जो अनुवाद किया है वह तो सफल नही रहा । "अगले कमरे मे एक मेज है जिसे कोई नही देख रहा है" का अनुवाद बनता है "यदि मैं (या कोई और प्रेक्षक) अगले कमरे मे होता तो मैं उसे देखता" । लेकिन यह तो इंद्रिय-दत्तो की भाषा नही है, क्योंकि इस प्रस्तावित अनुवाद मे तीन भौतिक वस्तुओ का उल्लेख है : प्रथम देखने के काम को करनेवाला प्रेक्षक, द्वितीय, वह स्थान जहाँ उसे देखने के लिए प्रेक्षक को होना है ("अगला कमरा") और तृतीय, वह जिसका तब प्रत्यक्ष होगा यानी मेज । यदि सवृतिवादी की सब भौतिक-वस्तु-विषयक प्रतिज्ञप्तियो के इंद्रिय-दत्त-विषयक प्रतिज्ञप्तियो मे अनुवाद करने की योजना को पूरी होना है, तो उसे भौतिक वस्तुओ के ये जितने भी उल्लेख हैं उन्हे हटाना होगा और उनके स्थान पर केवल इंद्रिय-दत्तो का उल्लेख करना होगा । यदि वह ऐसा नही करता, तो वह अपने इस कथन का औचित्य नही सिद्ध कर पाएगा कि "भौतिक वस्तुओ के बारे मे जो कुछ कहना है उसे शुद्ध इंद्रिय-दत्तो की शब्दावली मे व्यक्त किया जा सकता है ।"

तीसरी वस्तु के उल्लेख को हटाना सबसे आसान है । "मैं मेज को देखूंगा" का अनुवाद होगा "मैं मेज वाले इंद्रिय-दत्तो का (उन इंद्रिय-दत्तो का जो मेज-परिवार मे शामिल है) अनुभव करूंगा ।" एक या दो क्षणिक मेज-अनुभवो का होना पर्याप्त नही होगा, क्योंकि यह बात अपभ्रम मे भी हो सकती है । इस बात को पक्की करने के लिए कि अनुभव यथार्थ हो रहा है और यह अपभ्रम या स्वप्न नही है, मेज-परिवार के काफी अधिक इंद्रिय-दत्तो का होना जरूरी होगा । (इस सवाल को दुबारा उठाने की जरूरत नही है कि क्या उनकी सख्या अनत होगी ।)

पहली वस्तु, यानी प्रेक्षक, का उल्लेख अधिक कठिनाई पैदा करता है। "यदि मैं ....." ..."मैं चाहे मैं होऊँ या कोई और व्यक्ति, कठिनाई वही है : मैं कम-से-कम एक शरीर हूँ और शरीर एक भौतिक वस्तु होता है। संवृतिवादी आसानी से यह जवाब दे सकता है कि चूँकि शरीरविषयक कथन भौतिक-वस्तु-विषयक कथन है, इसलिए उन्हें इंद्रिय-दत्त-विषयक कथनों में बदला जा सकता है, तथा यह कि मूल भौतिक-वस्तु-विषयक कथन में इस प्रकार दो चीजों को बदलने की जरूरत है : उल्लिखित भौतिक वस्तु (मेज) तथा प्रेक्षक का शरीर। मेज इंद्रिय-दत्तों का एक परिवार है और शरीर दूसरा। (यदि शरीर मेरा है तो पृ० ६०३-५ में बताई हुई कुछ विशेष बातों से उसकी पहचान होती है, पर है वह हर हालत में एक भौतिक वस्तु ही।) इससे कुछ जटिलता आ जाती है, पर सवृतिवादी कहता है कि सिद्धांत नहीं बदलता : यदि संवृतिवाद एक भौतिक वस्तु, मेज, से निपट सकता है तो अवश्य ही दूसरी, प्रेक्षक के शरीर, से भी निपट सकता है और इसके लिए उसे सिर्फ अनुवाद को दोहरा देना होगा।

परंतु समस्या इससे अधिक कठिन है, क्योंकि प्रेक्षक का उल्लेख एक शरीर मात्र का उल्लेख नही है। शरीर स्वतः इंद्रिय-दत्तों का अनुभव नही करता : इंद्रिय-दत्तो का अनुभव करनेवाला मैं एक व्यक्ति हूँ, और हम मान लेते है कि शरीर के बिना मैं यह काम नहीं कर सकता। परंतु प्रत्यक्ष के लिए चेतना की, एक मन की जरूरत होती है ; और तब यह परेशान करनेवाला प्रश्न फिर खड़ा हो जाता है कि आत्मा के स्वरूप का यथार्थ वर्णन क्या है (पृ० ६०१-११)। मन-विषयक प्रतिज्ञप्तियों को शुद्ध शरीर-विषयक प्रतिज्ञप्तियों में नही बदला जा सकता। पर शायद मन के उल्लेख को ज्यों-का-त्यों रखना बिलकुल स्वीकार्य है : हटाना केवल भौतिक वस्तुओं के उल्लेख को ही है और उनकी जगह लाना है इंद्रिय-दत्तों को। तब अनुवाद "मन-तथा इंद्रिय-दत्त-विषयक" प्रतिज्ञप्तियो में करना होगा।

सबसे अधिक कठिन दूसरे— भौतिक स्थान के—उल्लेख से निपटना है। "यदि मैं (या कोई अन्य प्रेक्षक) अगले कमरे में होता तो मैं मेज वाले इंद्रिय-दत्तों को देखता"। "यदि मैं दक्षिणी ध्रुव में होता तो मैं बर्फ वाले इंद्रिय-दत्तों का अनुभव कर रहा होता"। इत्यादि। परंतु दक्षिणी ध्रुव और अगला कमरा भौतिक स्थान हैं और भौतिक दिक् में स्थित हैं (मात्र प्रात्यक्षिक दिक् में नहीं,

जैसे आपकी आँखों के सामने दीखने वाले धब्बे)। और दिक् में किसी स्थान को आप भौतिक निर्देशांकों के बिना कैसे बता सकते हैं ? हम मान लेते हैं कि जैसा संवृतिवादी कहता है उस तरह आप भौतिक-वस्तु-विषयक कथनों का इंद्रिय-दत्त-विषयक कथनों में अनुवाद कर सकते हैं। परंतु जब आप किसी को न दिखाई देनेवाली भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व की बात करते होते हैं, तब आपको वह स्थान निर्धारित करना होगा जिसमें या जिससे इंद्रिय-दत्तों का अनुभव किया जा सकेगा, और ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लिए भौतिक-निर्देशांक पद्धति का उल्लेख जरूरी होगा। ऐसा लगता है कि संवृतिवादी की भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व जिस भौतिक ढांचे के अंदर होगा कम-से कम उसे संवृतिवादी की धारणा के विपरीत होना चाहिए।

इस कठिनाई का उपाय आसान नहीं है। भौतिक-वस्तु-विषयक कथन के अनुवाद के रूप में जो हेतुफलात्मक कथन प्रस्तुत किया गया है उसमें एक भौतिक स्थान का उल्लेख स्पष्टतः शामिल है। यदि संवृतिवादी की बात सही है तो भौतिक वस्तुओं के उल्लेख को पूर्णतः हटा देना है और केवल इंद्रिय-दत्तों का ही उल्लेख करना है। पर यहाँ यह कैसे किया जाएगा ? "यदि मैं इस समय पेरिस में होता........।" इस तरह के वाक्यांश का इंद्रिय-दत्तों की शब्दावली में कैसे अनुवाद किया जा सकता है ?

यदि इसका अनुवाद किया जा सकता है तो प्रक्रिया इतनी जटिल होगी कि कल्पना काम ही नहीं करेगी। संवृतिवादी यह जवाब देगा कि "यहाँ से इतने मील दूर" और "अमुक दिशा में" जैसे वाक्यांशों को उस इंद्रिय-दत्तीय मार्ग का बोधक बनाना होगा जिस पर किसी को उस स्थान से जहाँ वह है अन्य स्थान (पेरिस) को जाना है। इस काम को इस तरह करना है : इस समय मुझे दृष्टि से एक इंद्रिय-दत्तीय क्षेत्र का बोध हो रहा है। यदि मैं एक कदम चलता हूँ तो मुझे उससे मिलते-जुलते और ऐसे इंद्रिय-दत्तीय क्षेत्र का बोध होता है जो उसके अधिकांश को व्याप्त किए है। यही बात तब होती है जब मैं तीसरा कदम चलता हूँ। अंत में मेरे दृष्टि-क्षेत्र में उनमें से कोई भी इंद्रिय-दत्त नहीं बचता जो शुरू में मुझे दिखाई दिए थे। परंतु परिवर्तन एकाएक नहीं होता, बल्कि क्रमिक रूप में परस्परव्यापी इंद्रिय-दत्तीय-क्षेत्रों की एक शृंखला में होता है। हम इन्हें क्ष$_1$, क्ष$_2$, क्ष$_3$ इत्यादि कहेंगे। तब यदि क्ष$_1$ के स्थान पर क्ष$_2$ आता है, क्ष$_2$ के स्थान पर क्ष$_3$, क्ष$_3$ के स्थान पर क्ष$_4$ इत्यादि तो

अंत में मुझे पेरिस से संबंधित इंद्रिय-दत्तों के दृष्टि-क्षेत्र का संवेदन हो रहा होगा। किसी भी स्थान, स्थ, की परिभाषा उस इंद्रिय-दत्तीय मार्ग की सहायता से देनी होगी जो मेरे वर्तमान संवेदन-क्षेत्र से उस सवेदन-क्षेत्र में पहुँचाता है जिसमें स्थ शामिल है।

इससे वात वहुत ही ज्यादा उलझ जाती है। परंतु इतना भी काफी नहीं है। "यदि कोई स्थान स्थ में होता ·····" से हमारा मतलब है "यदि कोई वस्तुतः स्थान स्थ में होता ···· "। उसे यह स्वप्न हो सकता है कि वह वहाँ है, या वहाँ होने का अपभ्रम हो सकता है; परंतु इससे काम नहीं चलेगा। और यही इंद्रिय-दत्तीय मार्ग पर लागू होता है: उसे सचमुच उस मार्ग पर चलना होगा, न कि चलने का स्वप्न देखना है। इस प्रकार इंद्रिय-दत्तीय मार्ग (यहाँ पर होने के अनुभव और स्थ पर होने के अनुभव के मध्य के इंद्रिय-दत्तों की शृंखला) उससे अधिक जटिल है जो हमने ऊपर बताया था। हमें और भी "यदि"-ओं की जरूरत है। यदि इंद्रिय-दत्तीय मार्ग $क्ष_1$, $क्ष_2$, $क्ष_3$······ है, तो यह कहने में कि मैं किसी एक मंजिल— $क्ष_3$—पर हूँ मुझे और अधिक $क्ष_3$-जैसे इद्रिय-दत्तों का संवेदन संभव होना चाहिए, उतनों का जितने यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हों कि मैं स्वप्न नही देख रहा हूँ या मुझे अपभ्रम नहीं हो रहा है। अगली मंजिल $क्ष_4$ में भी और आगे की हर मजिल में ऐसा संभव होना चाहिए। स्थ तक पहुँचने वाली शृंखला की प्रत्येक मंजिल पर मुख्य इंद्रिय दत्त-शृंखला की एक शाखा के रूप में फूटकर निकलनेवाली एक और शृंखला संभव होनी चाहिए, ताकि यदि इस शाखा से संबंध रखनेवाले इंद्रिय-दत्त मुझे प्राप्त हो जाएँ तो उस स्थान पर स्थित भौतिक वस्तु का अस्तित्व मेरे द्वारा सत्यापित हो सके। हो सकता है कि इन फूटकर निकली हुई शृंखलाओं में से किसी का मुझे अनुभव न हो; और यह भी जरूरी नहीं है कि मुझे मुख्य शृंखला का अनुभव हो ही। परंतु दोनों का अनुभव करना मेरे लिए संभव होना चाहिए: वात फिर वही हुई, यानी यह कि यदि मैं इन इंद्रिय-दत्तीय परिस्थितियों में होता तो मुझे अमुक इंद्रिय-दत्तों का अनुभव हुआ होता। आखिरकार यदि यह संभव न हो तो यह कहना सत्य नही है कि मुझे यहाँ से स्थ तक सचमुच जाने का अनुभव हो सका होता।

काल को लेकर भी यही समस्याएँ पैदा होती हैं। "यदि कोई प्रेक्षक उस स्थान में काल क में होता तो उसे अमुक इंद्रिय-दत्तों का अनुभव हुआ होता।"

"काल क" का अर्थ होगा इतने दिन या सेकेंड या इतनी शताब्दियां पहले । और इसका विश्लेषण भी सवृतिवादी को उस इद्रिय-दत्तीय मार्ग में करना होगा जिससे चलकर किसी को उस इद्रिय-दत्तीय क्षेत्र का अनुभव करना होगा जिसका वक्ता अनुभव कर रहा है । इस प्रकार फिर उसके अदर ही "यदि"—ओ की एक पूरी शृ खला समाविष्ट हो जाएगी । "सीजर को २००० वर्ष पूर्व अ का अनुभव हुआ था" का विश्लेषण कुछ इस प्रकार करना होगा "सीजर को एक इद्रिय-दत्तीय क्षेत्र का अनुभव इस प्रकार हुआ कि यदि वह बाद मे काल की दृष्टि से उससे सलग्न एक और इद्रिय-दत्तीय क्षेत्र का अनुभव करता और यदि और भी बाद में वह कालिक दृष्टि से उससे भी सलग्न एक और इद्रिय-दत्तीय क्षेत्र का अनुभव करता, इत्यादि, तो अत में वह उस इद्रिय-दत्तीय क्षेत्र का अनुभव कर लेता जिसका इस समय वक्ता को अनुभव हो रहा है ।"

और बात अभी पूरी नही हुई । उसे सचमुच काल क में होना चाहिए—स्वप्न में या अपभ्रम में नही । "सीजर ५० ई०पू० में रोम में था" । इसका अनुवाद दोनो कालो को जोडनेवाले इद्रिय-दत्तीय क्षेत्रो के अनुक्रम मे से होते हुए काल में आगे पहुँचानेवाले इद्रिय-दत्तीय मार्गों के रूप में होना चाहिए , और जोडने का काम सचमुच होना चाहिए । कोई ऐसा भी हो सकता है जो ५० ई० पू० और अब-के मध्यवर्ती अवकाश को भरनेवाली घटनाओ की पूरी शृ खला को स्वप्न मे देख ले । ५० ई० पू० से अब तक का इद्रिय दत्तीय मार्ग सामान्य अथवा सचमुच के इद्रिय-दत्तो से बना होना चाहिए ; और इसका भी अर्थ यह है कि जैसे दिक् के प्रसग में वैसे ही यहाँ भी असख्य शाखावत् शृ खलाओ का अनुभव सभव होना चाहिए ।

इस समूची शृ खला को पूरा करना एक बेहद थका देनेवाला काम होगा । और इसे शुरू तक करने की कोशिश करने से पहले जो प्रश्न हमे परेशान करता है वह यह है : यदि सवृतिवादी के मन मे पहले से ही एक भौतिक जगत् का विचार न हो, जो दिक् और काल मे व्यवस्थित है, पहले से ही अस्तित्व रखता है तथा इस प्रतीक्षा मे बैठा है कि कोई उसका अनुभव करेगा, तो सवृतिवादी बात को शुरू ही कैसे कर सकेगा ? इसके अलावा कौन सी वह चीज है जो यहाँ 'यदि' वाले वाक्यो के चुनाव मे हमारा पथ-प्रदर्शन कर सके तथा हमारी मदद आगे मे यह पता कर सके कि किसके बाद क्या आता

चाहिए।[1] फिर भी भौतिक दिक् और भौतिक काल का संप्रत्यय प्रागनुभविक नही है। किसी तरह हम ऐंद्रिय अनुभव की कच्ची सामग्री से प्रारम्भ करते है और उससे दिक् और काल मे व्यवस्थित—अर्थात् दिक्कालिक निर्देशाको वाले—एक भौतिक जगत् के प्रत्यय मे पहुँच जाते हैं। यह प्रक्रिया चाहे जितनी जटिल हो, उसे पूरा करने मे हम सफल हो ही जाते हैं।[2]

कारणता—एक ऐसी ही समस्या सवृतिवादियो के सामने तब खडी होती है जब वे इ द्रिय-दत्तो की उत्पत्ति के कारण के सबध मे विचार करते हैं। हम अपने पुराने सवाल को फिर पूछते हैं : इंद्रिय-दत्तो के कारण क्या है ? सवृतिवादी इस सवाल के जवाब मे बर्कली की तरह ईश्वर का आश्रय नही लेते। यदि वे कहते हैं कि इ द्रिय-दत्त भौतिक वस्तुओ से उत्पन्न होते हैं तो उन्हे यह याद दिलाना होगा कि (उनकी अपनी ही योजना के अनुसार) भौतिक वस्तुओ का विल्कुल उल्लेख न करके केवल इंद्रिय-दत्तो का ही उल्लेख करना है। इस तरह हम पुनः इंद्रिय-दत्तो मे ही वापस आ जाते हैं। यदि वे कहते है कि इंद्रिय-दत्त अन्य इंद्रिय-दत्तो को उत्पन्न करते है, तो यह सवाल फिर खडा होता है कि "स्वय इंद्रिय-दत्तो को कौन उत्पन्न करता है ?" निस्सदेह कोई यह कह सकता है कि इ द्रिय-दत्त ही अनुभव की अतिम और अविश्लेष्य सामग्री है, जिनकी कोई व्याख्या नही दी जा सकती। पर यह तो एक निश्चित उत्तर देने के वजाय हार मान लेना है।

यहाँ पर सवृतिवादी, कम-से-कम बीसवी शताब्दी वाला, वह प्रतिवाद करेगा कि पूरा प्रश्न ही गलत समझा गया है और गलत तरीके से वताया गया है। प्रश्न को इस रूप मे रखा गया है जैसे कि दुनिया मे दो प्रकार की चीजें हो, इ द्रिय-दत्त और भौतिक वस्तुएँ, और समस्या केवल यह पता लगाने की हो कि इनके मध्य क्या सबध है। परतु प्रश्न को दुनिया की दो प्रकार की वस्तुओ के सबध का रूप नही देना चाहिए वलिक इ द्रिय दत्त-विपयक कथनों और भौतिक-वस्तु-विपयक कथनो के, यानी दो प्रकार की प्रतिज्ञप्तियो के,

---

१ देखिए एच० एच० प्राइस, ह्यूम्स थियरी ऑफ दि एक्सटर्नल वर्ल्ड, पृ० १८८ इत्यादि।

२. संवृतिवादियों ने यह दिखाने की, कम-से-कम सक्षेप में, कोशिश अवश्य की है कि भौतिक दिक् के संप्रत्यय प्रस्तुत इंद्रिय-दत्तों मे कैसे "निर्मित" होते हैं। देखिए ए० जे० एयर, फाउन्डेशन्स ऑफ एम्पीरिकल नॉलेज, पृ० २६०-६१।

संबंध का रूप देना चाहिए। कार्य-कारण का संबंध भौतिक वस्तुओं के मध्य होता है और तब इन भौतिक वस्तुओं के बारे मे जो प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं उनका इंद्रिय-दत्त-विषयक कथनों में अनुवाद किया जा सकता है। जब भौतिक वस्तुएँ (और उनके साथ होनेवाली प्रक्रियाएँ) प्रेक्षणगम्य होती हैं तब अनुवाद आसान होता है : "क ख को उत्पन्न करता है" का "क के अनंतर नियमित रूप से ख होता है" में अनुवाद होता है। परंतु यदि क और ख प्रेक्षणगम्य न हो तब ? तब संवृतिवादी का हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियों का प्रिय तरीका फिर काम में आता है। पहली बिलियर्ड की गेंद (क) दूसरी को टक्कर देती है और दूसरी (ख) चल पड़ती है। हम मानते हैं कि ऐसा तब होता है जब हम उसे देखते हैं और तब भी जब हम उसे नही देखते। हम इस बात को संवृतिवादी शब्दावली में इस प्रकार व्यक्त कर सकते है : क शायद इस समय दिखाई न दे रहा हो, परंतु यदि हम चाहें तो उसे देख सकते हैं, और यही बात ख पर भी लागू होती है। भले ही हम क और ख को न देख रहे हों, हम फिर भी कह सकते हैं कि यदि हम क को देखने के लिए अनुकूल स्थिति (उसे $स_1$ कह लीजिए) मे होते तो हम उसे देख सकते, और यदि हम ख को देखने के लिए अनुकूल स्थिति (उसे $स_2$ कह लो) में होते तो हम उसे देख सकते। इस प्रकार हमें एक हेतुफलात्मक के अंदर एक और हेतुफलात्मक प्राप्त होता है :

यदि (यदि हम $स_1$ में होते तो हम क को देखते), तो (यदि हम $स_2$ में होते तो हम ख को देखते)।

पूरी बात को उन इंद्रिय-दत्तो की शब्दावली मे व्यक्त किया जा सकता है जिनका हमें उस अवस्था मे अनुभव हुआ होता जब हम प्रत्यक्ष के अनुकूल उन परिस्थितियों में हुए होते जिनमें हम इस क्षण नही हैं।

यही विश्लेषण तब भी लागू होता है जब कार्य तो दिखाई देता है पर कारण दिखाई नही देता। एक चुंबकित सलाख किसी की जेब के अदर छिपी हुई है, और यद्यपि किसी को भी सलाख-संबंधी इंद्रिय-दत्तो का अनुभव नही हो रहा है तथापि कुतुबनुमा की सुई को हम विक्षेपित होते देख रहे हैं और यह विक्षेप चुंबकित सलाख की उपस्थिति का परिणाम है। चुंबक-परिवार के वास्तविक इंद्रिय-दत्तों का कहीं अस्तित्व नही है। फिर भी वे प्राप्य हैं ; और अब हमारा हेतुफलात्मक कथन एक बार और लागू हो जाता है। "सुई

के इंद्रिय-दत्त हैं" (यह अंश निरुपाधिक है, क्योंकि सुई सचमुच दिखाई दे रही है), "और यदि जेब को खाली कर दिया जाए तो सलाख दिखाई दे जाएगी।" इस हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति तथा साथ ही अनगिनत इसी तरह की हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता में विश्वास करने का हमारे पास पूरा हेतु है।

यहाँ तक तो बात भौतिक वस्तुओं के कारण-कार्य-संबंध के बारे में हुई। संवृतिवाद के अनुसार एतद्विषयक प्रतिज्ञप्तियों का इंद्रिय-दत्त-विषयक हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियों में अनुवाद किया जा सकता है। परंतु अब सवाल यह पैदा होता है कि स्वयं इंद्रिय-दत्त कैसे उत्पन्न होते हैं ? हम यह विश्वास करते हैं कि एक भौतिक वस्तु की उपस्थिति, जैसे एक टमाटर की, धन उससे निकलने वाली प्रकाश-तरंगों का रेटिना से टकराना इत्यादि व्यक्ति को एक लाल-से गोल-से इंद्रिय-दत्त के अनुभव के होने का कारण है। निस्संदेह इस बात को मैं स्वयं अपने प्रसंग में होते नहीं देख सकता : ऐसा नहीं हो सकता कि मैं पहले टमाटर को देख लूँ और तब टमाटर के अपने इंद्रिय-दत्त को देखूँ ; मुझे केवल इंद्रिय-दत्त का बोध होता है। तो फिर मेरे इस विश्वास का क्या आधार है कि यदि टमाटर मौजूद न होता तो मुझे टमाटर से संबंधित इंद्रिय-दत्तों का अनुभव न होता ? इसका आधार निस्संदेह अन्य शरीरों का हमारा प्रेक्षण है। मैं आपके इंद्रिय-दत्तों का अनुभव नहीं कर सकता, परंतु मैं यह देख सकता हूँ कि जब एक टमाटर आपके सामने रखा जाता है (अर्थात् जब मुझे टमाटर से संबंधित इंद्रिय-दत्तों का और आपके शरीर से संबंधित इंद्रिय दत्तों का अनुभव होता है), तब आप कहते है "टमाटर" (मुझे श्रवण से ऐसा अनुभव होता है), तथा जब एक सेव आपके सामने रखा जाता है (जब मुझे सेव से संबंधित ऐंद्रिय-दत्तों का अनुभव होता है) तब आप कहते हैं "सेव," इत्यादि ; और मैं यह भी देखता हूँ कि यदि आपकी आँखें बंद हैं या आपकी दृष्टि-तन्त्रिका कट जाती है या आपका मस्तिष्क क्षतिग्रस्त हो जाता है तो आप सदैव सही उत्तर नही दे सकते। इससे मैं यह अनुमान करता हूँ—और यह मात्र अनुमान है—कि जिन इंद्रिय-दत्तों का आप अनुभव करते हैं (यदि किसी का आपको सचमुच अनुभव होता हो तो) वे कुछ उपाधियों के ऊपर निर्भर करते हैं : किन्हीं भौतिक वस्तुओं और कुछ शारीरिक अवस्थाओं की उपस्थिति (उन सबका मैं इंद्रिय-दत्तों की शब्दावली में वर्णन कर सकता हूँ और यह जरूरी भी है)। आगे मैं एक और अनुमान

यह करता हूँ कि यदि यह आपके प्रसंग में होता है और जितने भी लोगों को मैं देखना चाहूँ उनके प्रसंग में भी होता है तो शायद मेरे प्रसंग में भी यही होता है : यह कि स्वयं मेरी चेतना में इंद्रिय-दत्तों का होना उसी तरह की उपाधियों के पहले से पूरे होने पर निर्भर करता है। मैं यह भी जान सकता हूँ कि जब मैं अपनी आँखें बंद करता हूँ तब मैं कुछ नही देख सकता, इत्यादि, परंतु मैं फिर भी इन दो चीजों को पृथक् नही देख सकता : (१) टमाटर और (२) मेरे टमाटर से संबंधित इंद्रिय-दत्त। यदि समय की दृष्टि से (१) (२) से पहले होता है—जैसा कि वैज्ञानिक कहते है कि वह एक सेकेंड के एक अत्यल्प अंश पहले होता है—तो मैं स्वयं अपने मामले में इस कालावधि के व्यतीत होने को नही देख सकता।

संवृतिवाद और प्रकृति के नियम—यदि संवृतिवाद को स्वीकार कर लिया जाए तो प्रकृति के नियमों की क्या स्थिति होगी? मान लो, एक प्राकृतिक नियम है जो अ का ब से एक अपरिवर्ती संबंध व्यक्त करता है। इसका हम क्या अनुवाद करेंगे? "जब भी अ-इंद्रिय-दत्त होते हैं तब ब-इंद्रिय-दत्त होते हैं" अथवा "अ-इंद्रिय-दत्त और ब-इंद्रिय-दत्त के मध्य एक अपरिवर्ती संबंध है"? पर इससे काम नहीं चलेगा, क्योंकि इंद्रिय-दत्तों के मध्य कोई अपरिवर्ती संबंध नहीं होता। हम "यदि बिजली चमकती है तो गर्जन होता है" को सत्य मानते हैं, पर "यदि मैं बिजली का चमकना देखता हूँ तो मैं गर्जन सुनता हूँ" निश्चय ही सत्य नहीं है—मान लो कि मैं बहरा हूँ या गर्जन इतनी दूर होता है कि मैं उसे नही सुन पाता, अथवा मैं आँखे फेर लेता हूँ और बिजली का चमकना नही देखता। यह अच्छा नियम रहा जो सिर को मोड़ने मात्र से भंग हो सकता है! अथवा इस साधारण नियम को लीजिए : "जब आप एक रबड़ की गेंद को दीवार पर मारते है तब गेंद टकराकर पीछे लौट आती है।" परंतु मान लो कि जब गेंद दीवार से टकराती है तब आप अपनी आँखें बंद कर देते हैं और उसे टकराकर वापस आते हुए नही देखते, या दीवार ही अंधेरे में छिपी है; तब नियम लागू नही होता। भूतकाल मे पहले इंद्रियानुभव के अनंतर दूसरा होता था, पर इस बार (क्योंकि आपकी आँखें बंद हैं या दीवार आपकी टार्च की रोशनी के घेरे में नही है, इसलिए) दूसरा इंद्रियानुभव नहीं होता। आँख की एक झपकी तक एक पक्के-से-पक्के सामान्यीकरण को चूर-चूर कर सकती है। बात साफ है : इंद्रिय-दत्तों के

बीच कोई अपरिवर्ती संबंध नहीं मिलेगा। अनुभव खंडशः होते हैं, पर प्रकृति के नियम खंडशः लागू नहीं होते। और असल में प्रकृति के नियम घटनाओं की ओर संकेत करते हैं, न कि किसी के उन्हें देखने की ओर। घर्षण से ताप पैदा होता है ; गैस का आयतन दवाव के विलोम अनुपात में बदलता है ; पिंड एक स्थिर गति से गिरते हैं—और यह सब प्रत्यक्षकर्ताओं या प्रत्यक्ष की शर्तों से कोई संबंध रखे बिना होता है। प्रकृति के नियमों का संबंध प्राकृतिक जगत् की चीजों, घटनाओं और प्रक्रियाओं से होता है, उनका हमें जो प्रत्यक्ष होता है उससे नहीं।

क्या इसका यह मतलब है कि यदि संवृतिवाद सही है तो विज्ञान असंभव है ? हाँ, यदि ऊपर का विश्लेषण सही हो तो ; परंतु संवृतिवादी कहेगा कि यह विश्लेषण बिल्कुल गलत है। टकराकर पीछे लौटनेवाली गेंद के उदाहरण में काम करनेवाला नियम यह नहीं कहता कि यदि आप एक गेंद को दीवार की ओर आती हुई देखें तो आप यह भी देखेंगे कि वह दीवार से टकराती है—यह प्रत्यक्ष की अनेक अनुकूल स्थितियों पर तथा आपके उस ओर मुड़ने या न मुड़ने के निश्चय पर निर्भर करता है। परंतु वह इस बारे में कुछ नहीं बताता कि यदि आप अनुकूल स्थितियों में होते तो आपको किन इंद्रिय-दत्तों का अनुभव होता, और इन स्थितियों का भी संवृतिवादी भाषा में वर्णन किया जा सकता है। अब हम उसी जानी-पहचानी बात पर पहुँच गए हैं :
यदि (यदि प्रत्यक्ष$_{१}$ की स्थितियाँ तो अ-इंद्रिय-दत्त), तो (यदि प्रत्यक्ष$_{२}$ की स्थितियाँ तो च-इंद्रिय-दत्त)।

और एक बार पुनः यह सोपाधिक कथन (इसके दो उप-सोपाधिक कथनों के सहित) तब भी सत्य हो सकता है जब "यदि" वाले वाक्यों में बताई हुई शर्तें पूरी न हों।

पत्थर की दीवार मे अभेद्यता की कारणात्मक विशेषता तब भी बनी रहती है जब कोई वैसी कोई बातें नहीं देखता होता जो बताई गई हैं। तो फिर उसका क्या मतलब है ? इससे अधिक बिल्कुल भी कुछ नहीं कि यदि कोई एक "विदेशी" (इंद्रिय-दत्त) परिवार को उस (इंद्रिय-दत्त) परिवार तक फैलता देखे जो पत्थर की दीवार से संबधित है तो वह देखेगा कि बाद में वह एक दूसरी ही दिशा में फैलता है। दूसरे शब्दों में, ऐसे मामलों मे उस कारणात्मक विशेषता का होना इंद्रिय-दत्त-विषयक एक हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति,

का सत्य होना है ; और इस हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता के लिए यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं होता कि हेतु-वाक्य में दी हुई शर्त (यदि वाला अंश) की पूर्ति हो, हालांकि जब सचमुच उसका सत्यापन किया जाएगा तब यह आवश्यक होगा।[1]

२६. विकल्प

संवृतिवादी योजना के विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ हम बता चुके हैं, परंतु संवृतिवादी का दावा है कि उसने उनका उत्तर दे दिया है। फिर भी, संवृतिवाद के विरुद्ध कुछ अन्य आपत्तियाँ हैं जिनका उत्तर देना इतना आसान नहीं है। अनेक दार्शनिकों ने कुछ मौलिक आपत्तियाँ उठाई हैं, जो संवृतिवादी योजना के ब्यौरे से संबंधित नहीं हैं (जैसी वे हैं जो ऊपर प्रस्तुत की गई हैं), बल्कि सीधे उसकी नींव पर ही आघात करती हैं। अभी हमने प्रकृति के नियमों के बारे में संवृतिवाद के प्रसंग में जो बात बताई है उसी पर कुछ और गहराई से विचार करते हुए हम शुरुआत करते हैं।

उस मत के अनुसार, यह कहना कि नलों के फटने का कारण उनके अंदर बर्फ का जमना है, यह कहने के बराबर है कि जब भी कोई एक फटे हुए नल से संबंधित इंद्रिय-दत्तों के समुच्चय में से कुछ का प्रेक्षण करता है या कर सकता है तब वह नल के अंदर स्थित जमी हुई बर्फ से संबंधित इंद्रिय-दत्तों के समुच्चय में से कुछ का पहले ही या तो प्रेक्षण कर चुका है या प्रेक्षण कर सकता था। परंतु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस नियम के प्रायः किसी भी दृष्टांत में कोई भी सचमुच बर्फ को नहीं देखता ; बर्फ के इंद्रिय-दत्त संभव-मात्र होते है, सचमुच प्रस्तुत नहीं होते। अर्थात्, कारण-कार्य-संबंध यहाँ कुछ और कुछ-नहीं के मध्य हैं, एक सचमुच देखी गई फटने की घटना और एक हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति के मध्य, जो यह बताती है कि यदि एक बात हुई होती जो हुई नहीं और व्यवहार में हो नहीं सकती थी तो एक और बात हो गई होती जो कि हुई नहीं। यह व्याख्या हमारी इस आम धारणा की उपेक्षा करती है कि जो बात हो सकती थी पर हुई नहीं वह प्रभावकारी नहीं हो सकती। भौतिकी और सामान्य बुद्धि के द्वारा वस्तुतः जो भौतिक कारण

१. ए० जे० एयर, फाउन्डेशन्स ऑफ़ इम्पीरिकल नॉलिज, पृ० २२७।

माने जाते हैं उन्हें हटाकर जो पूरी नहीं हुई उन उपाधियों से संबंधित हेतुफलात्मक तथ्यों के एक समुच्चय को उनकी जगह ले आना होगा। यदि ऐसा है तो यह समझ में आना कठिन है कि हम इन हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियों को सत्य क्यों मान लें। यदि मैं अपने कमरे में आग को जलती हुई छोड़कर चला जाता हूँ तो मैं यह आशा करता हूँ कि मेरे लौटने तक कमरा गरम हो जाएगा ; परंतु इसकी वजह क्या यह नहीं है कि मैं आग को अब भी जलती हुई मानता हूँ, एक सचमुच की वर्तमान आग को एक सचमुच के वर्तमान वातावरण पर प्रभाव डालती मानता हूँ ? मैं नही समझता कि मेरे आग को इस समय जलती हुई (यह नहीं कि यदि मैं अंदर जाऊँ और देखूं तो मुझे लपटें दिखाई देंगी) मानने से अलग क्या हेतु कमरे के गरम होने का दिया जा सकता है। मैं समझ सकता हूँ कि प्रकृति में एक घटना और एक और घटना के बीच नियमित संबंध के होने में विश्वास क्यों किया जाता है ; परंतु यह बिल्कुल नही समझ सकता कि एक घटना जो घटी है और एक और घटना जो घट सकती थी पर घटी नहीं, के बीच नियमित संबंध के होने में क्यों विश्वास किया जाए।[1]

संवृतिवादी यह उत्तर देगा कि उसने इस आरोप का पहले ही निराकरण कर दिया है—कि संबंध नल के अंदर के सचमुच के बर्फ (हेतुफलात्मक नहीं) और नल के सचमुच फटने की घटना के मध्य है, परंतु जब इस जोड़े की एक या दोनों चीजें दिखाई नहीं देती तब अर्थ को यह बतानेवाले हेतुफलात्मक कथनो से स्पष्ट करना होता है कि प्रेक्षक ने क्या देखा होता। लेकिन यहाँ आलोचक फिर चोट करता है : वह कहता है कि यह कहने से काम नहीं चलेगा कि यदि आपने अ को देखा होता तो आपने ब को देखा होता। यह अवश्य ही सत्य है कि आप दोनों को देख सकते थे, और कि यदि आप प्रत्यक्ष के अनुकूल परिस्थितियों में हुए होते तो आपने दोनों को देख लिया होता—इतना आलोचक मानता है। लेकिन यह वह नहीं मानता कि "इस समय वहाँ आग जल रही है" का अर्थ वही है जो इसका है कि "यदि मैं जाकर देखूं तो मैं लपटें देखूंगा"। संवृतिवाद का यह आधारभूत सिद्धांत ही उसे स्वीकार्य नहीं है कि पहले वाक्य का दूसरे में अनुवाद किया जा सकता है। वह कहता है कि दोनों के अर्थ बिल्कुल भिन्न हैं : पहला उन

---

१. सी० एच० ह्यार्टली, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु मेटाफिजिक्स, पृ० ६४-६५।

प्राकृतिक घटनाओं के बारे में है जो प्रत्यक्षकर्ताओं की अपेक्षा किए बिना घटती है, और दूसरा इस बारे में है कि यदि कुछ शर्तें पूरी होती हों तो प्रत्यक्षकर्ता क्या देखेगा। इन दोनों के अर्थ इतने भिन्न हैं कि एक का दूसरे से अभेद नहीं किया जा सकता। यदि पहला वाक्य सत्य है तो दूसरा भी निस्संदेह सत्य है—यदि आग है तो आप जाकर उसकी लपटों को देख सकते हैं—परंतु दूसरा पहले का परिणाम है न कि उसका अनुवाद। संवृतिवादी के अनुवाद में, जिसमें हेतुफलात्मक वाक्यों के अंदर हेतुफलात्मक वाक्य होते हैं, प्रत्यक्ष की शर्तों का निर्देश आवश्यक होता है, जबकि भौतिक नियम स्वयं कभी प्रत्यक्ष की शर्तों की ओर कोई इशारा नहीं करता। आलोचक कहता है कि अकेली यही बात यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि दोनों वाक्य भिन्न अर्थ रखते हैं, और कि पहले का (भौतिक नियम) दूसरे में (इस हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्ति में कि यदि ···तो हम अमुक बात देखेंगे) अनुवाद नहीं हो सकता। मैं यह विश्वास करता हूँ कि अगले कमरे की मेज वहीं है और उसका वहाँ होना इंद्रिय-दत्तों (प्रस्तुत या संभव) के होने से या इस तथ्य से कोई संबंध नहीं रखता कि यदि मैं अगले कमरे में जाऊँ तो मैं उसे देख लूंगा :}

अगले कमरे में मेज के अस्तित्व का सवाल एक बात है और एक प्रेक्षक की उपस्थिति या अनुपस्थिति का सवाल, भले ही वह हेतुफलात्मक रूप मे हो, एक अलग बात है। यह कथन कि यदि वहाँ कोई प्रेक्षक होता (और कोई था नहीं) तो उसने कुछ दत्तों को देखा होता (और किसी ने देखा नहीं), भौतिक वस्तुओं के भूतकालीन अस्तित्व के कथन के तुल्य नहीं है। भौतिक-वस्तु-विषयक निरुपाधिक प्रतिज्ञप्तियों को हटाकर उनकी जगह प्रेक्षकविषयक अपूरित "प्रतितथ्य" हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ रख दी जाती हैं, और साधारण आदमी को परेशानी यह सोचकर होती है कि यदि वे हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ अपूरित हैं, यदि कोई प्रेक्षक वास्तव में प्रेक्षण कर ही नहीं रहा है, तो (यदि संवृतिवादी विश्लेषण सही है तो) वहाँ—इंद्रिय-दत्त के अर्थ में—कुछ भी नहीं है ; और इसके अलावा यह सोचकर भी कि "अस्तित्व" का यह अर्थ आधारभूत है : क्योंकि वह तथाकथित भौतिक वस्तु वाला अर्थ जिसमें इंद्रिय-दत्तों के वर्तमान में न होने के बावजूद भी उनका भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व में "अनुवाद किया जा सकता है", वह अर्थ नहीं है जिसमें "अस्तित्व" शब्द को आम तौर पर समझा जाता है। यदि तब उसे यह बताया जाता है कि यह

कहना कि एक भौतिक वस्तु थी, उन दत्तों के बारे में कुछ कहना है जिनका अनुभव हुआ होता यदि ", तो वह समझता है कि उसे बहकाया जा रहा है, क्योंकि ये दत्त प्रेक्षकों की क्रिया पर आश्रित लगते हैं, जिसके फलस्वरूप भौतिक वस्तु शुद्ध रूप से हेतुफलात्मक अर्थात् अस्तित्वहीन अथवा अधिक-से-अधिक प्रेक्षक के देखने और देखना बंद करने के साथ प्रतीत होने और लुप्त होनेवाले विच्छेदशील दत्तों की शृंखला मात्र बन जाती है। और दुनिया की यह तस्वीर उसे अनुभव के तौर पर उससे भिन्न प्रतीत होती है जिसमें उसका शुरू में विश्वास था, न कि पुरानी ही तस्वीर का एक नई शब्दावली में वर्णन।......

निरुपाधिक रूप में—ज्ञापक वाक्यों के रूप में—व्यक्त अस्तित्वपरक प्रतिज्ञप्तियां मानो अपनी "वस्तुओं" की ओर "इशारा" करती हैं और अस्तित्वपरक प्रतिज्ञप्तियों में प्रयुक्त निर्देशवाचक शब्द, जैसे "यह है", "वहां है", "यहां पर है" इत्यादि, प्रायः वस्तुओं या व्यक्तियों या प्रक्रियाओं की ओर इशारा करने के ऐसे कामों के एवजी (प्रतिस्थानिक) के रूप में काम करते है। निरुपाधिक रूप में बात को कहने के तरीके में प्रायः यह विशेष बल होता है कि वह एक इशारे के काम अथवा "निदर्शन की क्रिया" के एवजी के रूप में काम करता है। मैं किसी आदमी को, जो किताब ढूंढ रहा है, कहता हूँ "किताब यहां है", अथवा मैं यह भी कर सकता हूँ कि "किताब" शब्द का उच्चारण करते हुए उसकी ओर संकेत कर दूं। दोनों ही तरीकों से मैं करीब-करीब वही सूचना देता हूँ। परंतु हेतुफलात्मक वाक्य सामान्यतः इसका उल्टा काम करते हैं। वे चाहे जो बात बनाएँ या जो अर्थ रखते हों, वे चाहे जो प्रकट करते हों, चाहे जिस तरह से उनका सत्यापन होता हो या न हो सकता हो, आम तौर पर वे सीधे यह नहीं कहते कि कोई बात हुई है या हो रही है या अस्तित्व रखती है या किसी विशेषता या गुण से युक्त है : यह यथार्थतः सोपाधिक वाक्य का बल होता है•• ---। इस प्रकार, "जो भी वहां ३ बजे मौजूद था उसने उल्कापिंड को गिरते देखा था" चूंकि "और वस्तुतः कोई वहां नहीं था" से संगति रखता है, इसलिए इसका अनुवाद "यदि कोई वहां था या होता तो उसने "देखा होगा या देखा होता" में किया जा सकता है ; जबकि "उसने अपनी किताबें जिसने भी मांगी उसे दे डालीं" "यदि कोई उसकी किताबों को मांगता या किसी ने उन्हें मांगा होता तो वह

उसे दे देता या उसने वे उसे दे दी होती····" के तुल्य नही है, बल्कि इसके अतिरिक्त यह बताना भी जरूरी हो जाता है: "और किसी ने उन्हे मांगा अवश्य"। यह बिल्कुल साफ है कि एक सोपाधिक या हेतुफलात्मक वाक्य स्वत: इस बारे में कुछ नही बताता कि हुआ असल में क्या, और इसलिए साधारण प्रयोग में "अस्तित्वपरक आशय" को प्रकट करने के लिए, अर्थात् उन घटनाओं का सचमुच होना बताने के लिए जिनके होने में विश्वास किया जाता है, एक ज्ञापक या निरुपाधिक वाक्य की जरूरत होती है।[1]

आलोचक आगे कहता है कि संवृतिवाद इस बात की एक अच्छी व्याख्या प्रस्तुत करता है कि हम भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व और उनकी विशेषताओं का सत्यापन कैसे करते हैं: हम इस बात का सत्यापन कि भौतिक वस्तुएँ अस्तित्व रखती हैं केवल इसलिए कर सकते है कि हमें इंद्रिय-दत्तों का अनुभव होता है। इससे इन्कार नही है। परंतु हमें इस बात को कि चीज क्या है इस बात से नही उलझाना चाहिए कि हम उसे कैसे जानते है: हमें प के प्रमाण को प के अर्थ से एक नही समझना चाहिए। केवल इंद्रियानुभव से ही हम जान सकते है कि भौतिक वस्तुएँ हैं, परंतु इससे इंद्रियानुभव-विषयक वाक्य भौतिक-वस्तु विषयक वाक्यों के तुल्य नही बन जाते (और इसलिए उनका उनमें अनुवाद नही किया जा सकता)। प्रमेय-वाक्य का अर्थ प्रमाण-वाक्य के अर्थ से भिन्न होता है। संवृतिवाद एक तरह से प्रत्यक्ष की विशेष समस्या में अर्थविषयक सत्यापन-सिद्धांत का अनुप्रयोग मात्र है, और इसलिए इसके विरुद्ध वे सब आपत्तियां की जा सकती है जो उसके विरुद्ध की गई थी (पृ० ३८९-४०७)।

तब, यदि ऊपर की आपत्तियां ठीक हैं तो भौतिक वस्तुओं की स्थिति क्या है? अनुभव के अव्यवहित दत्त फिर भी हैं इंद्रिय-दत्त ही: केवल इंद्रिय-दत्तों के द्वारा ही हम भौतिक वस्तुओं के बारे में कुछ जान सकते हैं। परंतु ये भौतिक वस्तुएँ जो इंद्रिय-दत्तो के द्वारा जानी जाती हैं, हैं क्या? क्या हम वापस जाकर लॉक के कारणमूलक-संवाद-सिद्धांत का सहारा लें, जिसका फल यह निकला था कि भौतिक वस्तुओं का हमारा जो ज्ञान है उसके बारे मे हम पूर्णत: संशयवादी बन गए थे? क्या इंद्रिय-दत्तों और भौतिक वस्तुओ के मध्य

१. आइजेया बर्लिन, "एम्पीरिकल प्रोपोजीशन्स एंड हाइपोथेटिकल स्टेटमेन्ट्स," माइन्ड १९५०, पृ० २९६, २९९-३००।

कोई लोहे की अभेद्य दीवार है ? कम-से-कम बर्कली ने यह कहकर ऐसी किसी दीवार से छुटकारा पा लिया था कि भौतिक वस्तुएँ इंद्रिय-दत्तों के परिवारों के अलावा कुछ नहीं हैं, हालांकि यह बात सामान्य बुद्धि के बहुत विपरीत है। संवृतिवाद भी कोई दीवार नहीं मानता, क्योंकि उसके अनुसार भौतिक-वस्तु-विषयक वाक्यों का इंद्रिय-दत्त-विषयक वाक्यों में अनुवाद किया जा सकता है, बशर्ते उनमें से कुछ वाक्य हेतुफलात्मक हों। परंतु यदि प्रत्ययवाद और संवृतिवाद को ऊपर की आपत्तियों को देखते हुए छोड़ देना है तो भौतिक वस्तुओं का क्या होगा ? क्या वे, जैसाकि ह्यूम ने सोचा था, कल्पना की उपज मात्र हैं, जो प्रत्यक्षों के बीच की अवधियों में भी उन बातों का विस्तार कर देती है जिनका हम प्रत्यक्ष की अवधियों में अनुभव करते हैं ? और क्या कल्पना की यह उपज कोरी कल्पना से, तार्किक आधार से शून्य एक सुविधाजनक कल्पितार्थ से, अधिक कुछ है ?

इस प्रश्न का एक उत्तर यह दिया गया है कि भौतिक वस्तुएँ उस व्यवस्था या क्रम की जो हमारे इंद्रिय-दत्तों में होता है, व्याख्या के लिए प्रस्तुत की गई प्राक्कल्पनाएँ हैं। हमारे इंद्रिय-दत्तों में एक व्यवस्था होती है जिसकी वजह से हम उनका परिवारों के रूप में वर्गीकरण कर सकते है, परंतु वे अधूरे और विच्छेदयुक्त भी होते हैं, तथा उनके संबंध को अपरिवर्ती या नियमित बनाने वाले कोई नियम नहीं हैं। यदि हम यह मानना ही चाहते हैं कि प्रकृति में ऐसी कोई व्यवस्था है—और इसके बिना भविष्य की घटनाओं को पहले से जान लेने का हमारे पास कोई आधार नहीं रहता—तो हमें मानना पड़ेगा कि प्रत्यक्ष घटनाओं के साथ ही ऐसी घटनाएँ भी होती हैं जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता। हम ऐंद्रिय प्रत्यक्ष से यह मालूम नहीं करते कि भौतिक जगत् में तब भी अपरिवर्ती नियमितताएँ होती हैं जब घटनाओं को हम नहीं देखते ; जिस बात को हम मालूम करते हैं वह यह है कि हमारे इंद्रिय-दत्तों में अपूर्ण नियमितताएँ हैं। यह तो एक प्राक्कल्पना है कि एक भौतिक जगत् है जिसमें घटनाओं के अनुक्रम वस्तुतः अपरिवर्ती हैं (प्रात्यक्षिक घटनाओं के अनुक्रमों से भिन्न) —एक ऐसी प्राक्कल्पना जिसका व्याख्या के लिए, और व्याख्या के द्वारा भविष्यवाणी करने के लिए, आश्रय लिया जाता है। "यह एक मान्यता है कि भौतिक वस्तुएं हैं, न कि एक दत्त। इस मान्यता का उपयोग संवेदन-संबंधी घटनाओं की नियमितताओं की व्याख्या के लिए किया जाता है ताकि

घटनाओ के क्रम को नियमित अनुक्रमो और साहचर्यों के ढांचे मे बैठाया जा सके।"[1]

परतु यदि भौतिक वस्तुओ मे विश्वास एक मान्यता (प्राक्कल्पना) है, न कि एक दत्त, तो उसे स्वीकार ही क्यो किया जाए? क्या यह प्राक्कल्पना पक्के आधार पर खडी है? इस समय हम जिस मत पर विचार कर रहे हैं उसके अनुसार, है: "इसकी मदद से अपने अनुभवो को व्यवस्थापित करने मे, अपने सामान्यीकरणो को उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और अधिक यथार्थ बनाने मे हमे जो सफलता मिलती है उससे यह सपुष्ट होती है।"[2]

एक स्वतत्र भौतिक जगत् मे हमारा जो स्वाभाविक विश्वास है उसके आधार पर हम विशाल सख्या मे भविष्यवाणियाँ कर सकते है और करते ही हैं। ये भविष्यवाणियाँ प्राय. सही निकलती हैं। इस तथ्य को देखते हुए कि इस निराधार अटकल की प्रसभाव्यता कि एक अनुभव मे अमुक विशेषता होगी, तार्किक रूप मे सभव विकल्पो की विशाल सख्या की वजह से अत्यधिक अल्प होती है, और यह देखते हुए कि जो भविष्यवाणियाँ सही निकली हैं उनकी सख्या बहुत ही बडी है, यह कहा जाएगा कि इस विश्वास के सत्य हुए बिना उन सब भविष्यवाणियो का सही निकलना अत्यधिक असभाव्य है।

भविष्यवाणी और जिस अव्यवहित प्रेक्षण के ऊपर वह आधारित होती है उसके बीच एक मध्यवर्ती कडी के रूप मे अनदेखे अस्तित्व वाली एक भौतिक वस्तु के प्रत्यय को लाए बिना अपने भावी प्रत्यक्षो के बारे में प्राय. कोई भी वैज्ञानिक भविष्यवाणियाँ, यहाँ तक कि सामान्य-बुद्धि-सुलभ भविष्यवाणियाँ तक, नही की जा सकती, और वस्तुओ की वस्तुत जो अवस्थाएँ देखी जाती हैं अकेले उन्ही तक सीमित रहते हुए प्राय कोई कारणात्मक नियम नही बताया जा सकता। इस प्रकार भविष्यवाणियाँ करने के लिए हमे कम-से-कम यह मानना पडता है कि हमारा अनुभव इस तरह चलता रहेगा जैसे कि मानो भौतिक वस्तुओ का वास्तववादी अर्थ मे हमसे स्वतत्र अस्तित्व हो। इतना तो कम से-कम हमे स्वीकार करना ही होगा, भले ही हम कह दें कि स्वतत्र

१. सी० एच० ह्वाइटली, "फिजिकल ऑब्जेक्ट्स," फिलॉसफी, XXXIV (१९५९), पृ० १४२-१४९।

२. वही, पृ० १४९।

१. हमने "इंद्रिय-दत्त" शब्द का उसका जिसका मुझे संवेदन होता है (इंद्रिय-दत्त) संवेदन की क्रिया से अंतर बनाए रखने के लिए प्रयोग शुरू किया था। मुझे लाल धब्बे का संवेदन होता है, पर संवेदन लाल नहीं है। संवेदन और इंद्रिय-दत्त में वही अंतर है जो एक क्रिया और उसके विषय में होता है। लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में यह अंतर एक उलझन पैदा करता है : यदि यहां अंतर वही है जो एक क्रिया और उसके विषय में होता है तो क्रिया के समाप्त होने पर विषय (लाल धब्बा) का अस्तित्व क्यों समाप्त हो जाता है ? यदि लाल धब्बा मेरे संवेदन की क्रिया से भिन्न है तो जब मुझे संवेदन का होना बंद हो जाता है उसके बाद भी लाल धब्बा क्यों नहीं बना रहता ? कोई यह कहना नहीं चाहता कि लाल धब्बे का अस्तित्व मुझे उसका संवेदन होने के बाद रहता है ; हम यह कहना चाहते हैं कि सुख, दु:ख और विचारों की तरह उसका अस्तित्व भी उसका अनुभव होने में है—कि जिस तरह यह कहना स्वतोव्याघाती है कि दर्द है पर महसूस नहीं होता उसी तरह यह कहना स्वतोव्याघाती है कि लाल धब्बा या उत्तरप्रतिमा है पर मुझे उसका अनुभव नहीं होता। यदि वह एक अनुभव है तो उसका अस्तित्व अनुभूत हुए बिना नहीं हो सकता। फिर भी यदि क्रिया और विषय वाला विश्लेषण स्वीकार कर लिया जाता है, जिसकी वजह से "इंद्रिय-दत्त" शब्द का प्रयोग शुरू हुआ था, तो क्या इसे कम-से-कम एक अनिर्णीत प्रश्न नहीं मानना चाहिए कि विषय (इंद्रिय-दत्त) तब भी बना रहता है या नहीं जब मुझे उसका अनुभव हो चुका होता है ?

वास्तव में, क्रिया और विषय वाले विश्लेषण को इंद्रिय-दत्तों के प्रसंग में लागू नहीं माना गया है। कुछ उदाहरणों में क्रिया और क्रिया-विषय में भेद किया जा सकता है : जब मैं एक गेंद को मारता हूँ तब मारना गेंद से अलग होता है, और (हम समझते हैं कि) मारने के बाद भी गेंद बनी रहती है। पर अन्य उदाहरणों में ऐसा अंतर नहीं किया जा सकता : जब मैं नाचता हूँ तब क्या नाचता हूँ ? एक नाच। क्या नाचने की एक क्रिया होती है और उसके अलावा नाची हुई चीज—स्वयं नाच—भी होती है ? इस उदाहरण में क्रिया और विषय वाला विश्लेषण कुछ कम विश्वसनीय लगता है : ऐसा प्रतीत होता है कि यहां स्वयं क्रिया के अलावा विषय कोई भी नहीं है—जो नाच मैं नाचता हूँ वह केवल नाचना है ; जो मैं करता हूँ उसे पूर्णतः मेरे उसे करने के रूप में

बताया जा सकता है।[1] परंतु यदि इंद्रिय-दत्तों के प्रसंग में क्रिया और विषय वाले विश्लेषण को अस्वीकार किया जाता है तो इस बात का कोई हेतु नहीं दिखाई देता कि हम "इंद्रिय-दत्त" शब्द का प्रयोग ही क्यों करें। इस शब्द का जो अर्थ मान लिया गया था वह एक अनुचित अंतर पर आधारित था।

यदि यह बात सही है तो क्या इस शब्द का प्रयोग शुरू करने के बाद हमने इस अध्याय में इंद्रिय-दत्तों के बारे में जो कुछ कहा है वह सब गलत हो जाता है? नहीं: यहां लागू न होनेवाले क्रिया और विषय के अंतर पर आधारित एक तकनीका शब्द के रूप में हम इसे अस्वीकार तो कर सकते हैं, पर ऐंद्रिय अनुभव तो हमें हर हालत में होते ही हैं, और हम पुराने शब्द "इंद्रियानुभव" का प्रयोग कर सकते है जो "इंद्रिय-दत्त" की तरह सिद्धांत-सापेक्ष नही है। और वही प्रश्न अब भी हमारे सामने बना हुआ है: हमारे इंद्रियानुभवों का उस भौतिक जगत् से क्या संबंध है जिसका हम इन इंद्रियानुभवों के होने से स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं? पर अभी पिछली बात को ही हम जारी रखते है:

२. जैसाकि हमने कहा था, इंद्रिय-दत्तीय भाषा प्रतीतियों का बोध करानेवाली भाषा है: यदि रुपया दीर्घवृत्ताकार दिखाई देता है, तो, उसकी असली शक्ल चाहे जो हो, देखते हम एक दीर्घवृत्तीय इंद्रिय-दत्त को ही है। इंद्रिय-दत्तों के प्रसंग में "है" और "प्रतीत होता है" एकही बात है: रुपया दीर्घवृत्ताकार प्रतीत होता है, इसलिए उसका इंद्रिय-दत्त दीर्घवृत्ताकार है। यह बात तर्कतः असंभव है कि इंद्रिय-दत्तों में ऐसे गुण हों जो उनमें प्रतीत न हों, क्योंकि "इंद्रिय-दत्त" शब्द इस बात का विचार किए बिना कि प्रतीत होने के लिए कोई भौतिक वस्तु वर्तमान है या नही, चलाया ही केवल प्रतीतियों का बोध कराने के लिए गया है।

यहां तक तो सब ठीक है। पर अब एक समस्या पैदा होती है: यदि प्रत्यक्ष की स्थितियां अनुकूल न हों अथवा यदि किसी अन्य वजह से प्रतीति ठीक-ठीक बताई जा सकने योग्य बिल्कुल हो ही नही तो क्या होगा? मान लो

---

१. देखिए कर्ट जे० ड्यूकास, "मूर्स रेफ्यूटेशन ऑफ आइडियलिज्म," दि फिलॉसफी ऑफ जी० ई० मूर (पी० ए० शिल्प द्वारा संपादित, १९४२); पृ० २२५-५२।

कि रुपया गोल नहीं प्रतीत होता पर दीर्घवृत्ताकार भी प्रतीत नहीं होता—कमरा करीव-करीव अंधेरा है और यह स्पष्ट नहीं होता कि वह कैसा दिखाई देता है। अथवा मान लो कि नेत्रपरीक्षक मुझसे यह पूछने के बजाय कि उसके चार्ट में कौन-से अक्षर हैं, यह पूछता है कि मुझे कौन-से अक्षर दिखाई देते हैं (आखिर यही तो वह जानना चाहता है, क्योंकि वह मेरी दृष्टि की जाँच कर रहा है ; वह यह बहुत अच्छी तरह जानता है कि वहाँ कौन-से अक्षर हैं), और मैं नहीं बता पाता कि एक अक्षर मुझे भ दिखाई देता है या म। तब वह क्या चीज है जिसकी मुझे अव्यवहित चेतना हो रही है ? एक भ-इंद्रिय-दत्त या एक म-इंद्रिय-दत्त या इनमें से कोई भी नहीं ? मध्याभाव-नियम कहता है कि "या तो अ या अ-नहीं ;" और चूँकि यह सभी प्रतिज्ञप्तियों पर लागू होता है इसलिए इंद्रिय-दत्त-विषयक प्रतिज्ञप्तियों पर भी लागू होता है। तो फिर वह कौन-सा है—एक भ-इंद्रिय-दत्त या एक म-इंद्रिय-दत्त ? उसे इनमें से एक या दूसरा होना चाहिए। परंतु कठिनाई यह है कि हम बता नहीं सकते कि कौन-सा है।

इस बात से परेशानी क्या है ? ऐसे बहुत-से अवसर आते हैं जब हम ऐसा कहते हैं—उदाहरणार्थ, "यह या तो वृषभहरिण है या वृषभहरिण नहीं है, पर मैं नही जानता कि कौन है, क्योकि मैं वृषभहरिणों का विशेषज्ञ नहीं हूँ।" परंतु ऐसे उदाहरणों में होता यह है कि यदि हम चाहें तो और अधिक गुणों को पशु में ढूंढ़ सकते हैं। पर इंद्रिय-दत्तों के उदाहरण में ऐसा बिल्कुल संभव नही होता : इंद्रिय-दत्त वही है जो वह प्रतीत होता है और उसमें वे गुण हो ही नहीं सकते जो उसमें दिखाई नहीं देते ; जिस क्षण में हमें अनुभव होता है उसमें हमें उसके गुणों का जो ज्ञान होता है वह पूर्ण होता है। अतः हम इंद्रिय-दत्तों के बारे में यह नहीं कह सकते कि "यह वास्तव में भ की शक्ल का है या नहीं है, पर मैं निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकता कि है या नहीं।" न केवल उसे इनमें से एक होना ही चाहिए बल्कि हमें यह जानना भी अवश्य चाहिए कि वह कौन सा है, क्योंकि इंद्रिय-दत्तों के मामले में अस्तित्व उसीका होता है जो दिखाई देता है, और मैं जानता हूँ कि दिखाई क्या देता है (हालांकि शायद मैं उसे शब्दों में न बता पाऊँ)।

इस समस्या को "चित्तीदार मुर्गी की समस्या" के रूप में कुछ प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। जब मैं उस मुर्गी पर नजर डालता हूँ तब मैं देखता हूँ कि उसके

ऊपर अनेक चित्तियाँ पडी है, पर मैं उनकी सख्या नही जानता। निस्संदेह सचमुच की जो हाड-मास वाली मुर्गी है उसके ऊपर चित्तियो की एक निश्चित सख्या है, हालाँकि शायद किसी ने उनकी गिनती नही की होगी। परतु यदि इस समय मैं यह बात नही कर रहा हूँ कि उस पर कितनी चित्तियाँ हैं बल्कि यह कह रहा हूँ कि उसके ऊपर चित्तियो की कितनी सख्या दिखाई देती है (इद्रिय दत्तों के रूप मे चित्तियो की सख्या), तो वहाँ कितनी चित्तियाँ हैं ? उस पर चित्तियो की कोई निश्चित सख्या नही दिखाई देती · क्योकि मैंने किसी निश्चित सख्या पर ध्यान नही दिया, इसलिए प्रतीत चित्तियो की किसी निश्चित सख्या का अस्तित्व है ही नही। पर यह तो बहुत ही विचित्र बात है : या तो वहाँ १०४७ (उदाहरण के बतौर) इद्रिय-दत्त-चित्तियाँ हैं या नही है। सख्या या तो इतनी होनी चाहिए या इतनी नही, हालाँकि हम जानते नहीं हैं कि कौन-सी है। परतु इद्रिय दत्त-चित्तियो मे कठिनाई यह है कि सख्या न यह है और न वह . न तो यह प्रतीत होता है कि मुर्गी पर १०४७ चित्तियाँ है और न यह कि १०४७ नही है। हम भौतिक चित्तियो को गिनकर बता सकते हैं कि वे वास्तव मे कितनी है। परतु इससे हमे इस प्रश्न का उत्तर देने मे कोई सहायता नही मिलती कि "उस क्षण मे उसके ऊपर कितनी चित्तियाँ प्रतीत हुई थी ?" उसके ऊपर अनिश्चित सख्या प्रतीत हुई थी। परतु ऐसा कैसे हो सकता है कि चित्तियो की कोई निश्चित सख्या न होकर एक अनिश्चित सख्या हो ? क्या "सख्या के बिना बहुसख्यकता" हो सकती है ?

तो अब हम एक कठिनाई मे फँस गए हैं : यदि इद्रिय दत्त-चित्तियो की कोई निश्चित सख्या नही है, तो "सख्या के बिना बहुसख्यकता है"—जो कि एकदम विरोधाभासी बात है। क्या यह बात कभी हो सकती है ?[1] इसके विपरीत, यदि उनकी सख्या निश्चित है तो यह बात भी है कि हम उस सख्या को नही जानते, जिससे भौतिक वस्तुओं की तरह ही इद्रिय-दत्तो मे भी ऐसे गुण हो सकते हैं जो उनमे प्रतीत नही होते। परतु यह एक बहुत ही मौलिक

---

१. कुछ लोग यह कहते है कि हो सकती है और कि समस्या केवल इसलिए पैदा होती है कि इद्रिय-दत्त-चित्तियों के बारे में हम ऐसा सोचते है जैसे कि मानो वे भौतिक चित्तियाँ हों। देखिए ए० जे० एयर, फाउन्डेशन्स ऑफ ऐम्पीरिकल नॉलेज, पृ० १२३-२५।

बात मे "इद्रिय-दत्त" की परिभाषा के विरुद्ध है—इस बात मे कि "इद्रिय-दत्त" शब्द केवल प्रतीत का बोधक है ।

यह समस्या इसलिए पैदा होती है कि हम चीजो मे ऐसी विशेषताएँ देखते हैं जिनपर शुरु मे हमारा ध्यान नही गया था । हमने यह नही देखा था कि यह गुलाव लाल प्रतीत होता है , हमने गुलावो का एक पूरा वाग देखा था और हमने इस गुलाव को केवल अधेरा सा देखा था न कि गहरा लाल या गहरा नील-लोहित या किसी अन्य रग का । वह गुलाब स्वय एक निश्चित रग का है , परतु उसका इद्रिय दत्त ऐसा नही है, क्योकि उसका कोई रग प्रतीत नही हुआ था, और इद्रिय-दत्तो के प्रसग मे जो प्रतीत होता है वही होता है । वह केवल अधेरा-सा प्रतीत हुआ था । तो क्या गुलाब का इद्रिय-दत्त अधेरा-सा था पर किसी रग का नही था ? यह बात भी वैसी ही विचित्र है जैसी सख्या के विना बहुसख्यकता । हम यह विश्वास करते हैं कि भौतिक वस्तुओ मे बिल्कुल निश्चित गुण होते है, जैसे चित्तियो की एक निश्चित सख्या और लाल रग की एक निश्चित छटा, परतु क्षण की प्रतीति के बारे मे यह बात नही कही जा सकती , उसे केवल "बहुसख्यक", "अधेरा" इत्यादि ही बताया जा सकता है । यह तो हम कह नही सकते कि हम इद्रिय-दत्तो मे वे विशेषताएँ देख सकते हैं जो हमने शुरू मे नही देखी थी, क्योकि इसका मतलब यह होगा कि इद्रिय-दत्तो मे सचमुच वे विशेषताएँ हैं जो पहले उनमें प्रतीत नही हुई थी , हम केवल यह कह सकते हैं कि (जब हम अधिक ध्यान से देखते हैं तब) अनिश्चित इद्रिय-दत्तो की जगह निश्चित इद्रिय-दत्तो का अनुभव होता है, परतु इससे भी शुरु के अनिश्चित इद्रिय-दत्तो की समस्या जहाँ की तहाँ बनी रहती है । यह कहना कि इद्रिय-दत्तो मे ऐसी विशेषताएँ थी जो प्रतीत नही हुई थी, हमारी "इद्रिय-दत्त" की परिभाषा के विरुद्ध है । अत हम यह विकल्प अपनाते है कि उसमे अधिक निश्चित विशेषताएँ (एक निश्चित सख्या, एक निश्चित रग) नही थी—परतु यह विकल्प बिल्कुल उतना ही समस्याजनक है जितना वह दूसरा था ।

३ इद्रिय-दत्तो को लेकर एक और समस्या पैदा होती है । पहले सवतिवादी इद्रिय-दत्तो और भौतिक वस्तुओ के बारे मे ऐसी बात करते थे जैसे कि मानो ये दो प्रकार की सत्ताएँ हो , मानो, यदि हमे विश्व की एक पूरी सूची बनानी होती और उसमे हर चीज को शामिल करना होता तो हमे

भौतिक वस्तुओं और इंद्रिय-दत्तों को भी गिनना होता क्योंकि दोनों ही सत्ताएँ हैं, हालांकि भिन्न प्रकार की हैं। बाद के संवृतिवादियों ने इस तरह से बात करना छोड़ दिया और विश्व की दो प्रकार की चीजों या सत्ताओं के संबंध की बात करने के बजाय दो प्रकार के वाक्यों के संबंध की बात करना शुरू कर दिया : इसीसे भौतिक-वस्तु-विषयक वाक्यों का इंद्रिय-दत्त-विषयक वाक्यों में अनुवाद करने की संवृतिवादी योजना शुरू हुई।

वस्तुओं के दो भिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंध की समस्या के रूप में प्रस्तुत किए जाने पर भौतिक वस्तुओं का इंद्रिय-दत्तों से संबंध निर्धारित करने की समस्या कुछ छिप-सी जाती है। एक ऐसा अर्थ जरूर है जिसमें यह कहना सही होता है कि इंद्रिय-दत्तों और भौतिक वस्तुओं दोनो का ही अस्तित्व है, क्योंकि इंद्रिय-दत्तों का बोध कराने के लिए प्रयुक्त वाक्य तथा भौतिक वस्तुओं का बोध कराने के लिए प्रयुक्त वाक्य, दोनों ही, अधिकतर सत्य प्रतिज्ञप्तियों को अभिव्यक्त करते हैं। परंतु इससे यह अनुमान करना सही नही होगा कि भौतिक चीजों और इंद्रिय-दत्तों, दोनों का ही उस अर्थ में अस्तित्व होता है जिस अर्थ में यह कहना सत्य होगा कि कुर्सियाँ और मेज सचमुच अस्तित्व रखते हैं अथवा स्वाद और ध्वनियों का अस्तित्व है।"

आमतौर पर यह कहा जाता है कि भौतिक वस्तुएँ कुछ नही हैं, वे सिर्फ वर्तमान और संभव इंद्रिय-दत्तों के समूह है। परंतु यह एक भ्रामक कथन है और ऐसे आक्षेपों का मौका देता है जिनसे बात को अधिक सही ढंग से कहकर बचा जा सकता है। इस प्रकार, कभी-कभी उन लोगों के द्वारा जो भौतिक वस्तुओं के स्वरूप के इस "संवृतिवादी" विश्लेषण को नही मानते, यह दलील दी जाती है कि मकान, पेड़ या पत्थरों को वर्तमान और संभव इंद्रिय-दत्तों के समूहों के रूप में सोचना उनकी "एकता" और उनके "ठोसपन" की उपेक्षा कर देना है, और कि हर हालत में यह समझ में आना कठिन है कि कोई भी चीज एक संभव इंद्रिय-दत्त जैसी छाया की तरह की चीज से निर्मित कैसे हो सकती है। लेकिन ये आक्षेप इस गलत धारणा के ऊपर आधारित हैं कि भौतिक वस्तु को उसी तरह इंद्रिय-दत्तों से निर्मित मान लिया गया है जिस तरह एक जोड़जाड़ कर बनाई हुई गुदड़ी विभिन्न रंगों के टुकड़ों से बनी होती है। इस गलत धारणा को दूर करने के लिए यह स्पष्ट कर देना

चाहिए कि इस कथन को कि भौतिक वस्तुएँ इ द्रिय-दत्तो से बनी होती हैं, किसी ताथ्यिक सबध का बोधक नही बल्कि एक भाषाई सबध का बोधक समझना चाहिए। दावा केवल इस बात का किया जा रहा है कि भौतिक वस्तुओ की ओर सकेत करनेवाले वाक्यो के द्वारा साधारणत जो प्रतिज्ञप्तियाँ व्यक्त की जाती है वे उन वाक्यो के द्वारा भी व्यक्त की जा सकती हैं जो सिर्फ इ द्रिय दत्तो की ओर सकेत करते है, तथा भौतिक वस्तुओ के घटको में वर्तमान के साथ-साथ सभव इ द्रिय-दत्तो को शामिल करने का मतलब यह समझना चाहिए कि इ द्रिय दत्त-विषयक इन कथनो में से कुछ को हेतुफलात्मक होना पडेगा।[1]

परतु इससे भी एक समस्या पैदा होती है इ द्रिय-दत्त विषयक कथन होते किस बारे में है ? प्रकटत वे इ द्रिय दत्तो के बारे में हैं। लेकिन तब इ द्रिय-दत्त अस्तित्ववान् चीजें है और उन्हे विश्व की पूरी सूची के अदर शामिल करना है। फिर भी, अनेक सवृतिवादी इस बात से इन्कार करना चाहते हैं कि इ द्रिय-दत्त घडियो और पेडो की तरह पृथ्वी के साज-सामान के अग है और कि वे "बात करने का एक सुविधाजनक तरीका मात्र" है। किसके बारे में बात करने का ? अव्यवहित अनुभव के बारे मे ? बहुत ठीक, परतु तब अव्यवहित अनुभव होते अवश्य हैं और उन्हे भौतिक वस्तुओ के साथ अस्तित्ववान् चीजो की सूची मे शामिल करना है।

इस महत्वपूर्ण बात को लेकर बडी अनिश्चितता है कभी-कभी ऐसा कहा जाता है जैसे कि इ द्रिय दत्त एक अलग ही प्रकार की सत्ताएँ हो और कभी-कभी, जैसे कि वे प्रतिज्ञप्तियो के घटक या "बातचीत के तरीके" मात्र हो। यह अनिश्चितता इस तथ्य से और भी विचित्र हो जाती है कि लेखक इस तरह बात करते हैं जैसे कि मानो वे इ द्रिय दत्तो की विशेपताओ को स्वेच्छानुसार निर्धारित कर सकते हो, जैसे "इ द्रिय दत्त परिभाषात उन गुणो से भिन्न गुणो से युक्त नही हो सकते जो उनमें प्रतीत होते हैं।" परन्तु यदि कोई चीज अस्तित्व रखती है तो आप उसके गुणो को मनमाने ढग से नही बना सकते, बल्कि आपको खोज करके पता करना होगा कि वे क्या हैं।

---

१. ए० जे० एयर, फाउन्डेशन ऑफ ऐम्पीरिकल नॉलेज, पृ० २२६, २३१-३२।

४. और भी समस्याएँ हैं जिनपर अलग से विचार करने की जरूरत नही है। उदाहरणार्थ, इसके अलावा कि इंद्रिय-दत्त कारण और कार्य बन सकते हैं या नही—इसपर पहले ही विचार किया जा चुका है—हम पूछ सकते है कि (अ) वे भौतिक हैं या मानसिक। अथवा शायद वे दोनो ही नही है, बल्कि वह कच्ची सामग्री है जिससे मानसिक और भौतिक दोनों "निर्मित" है? (इस मत को "तटस्थ-एकतत्ववाद" कहते हैं।) (आ) क्या वे दिक् में स्थिति रखते है? कहा जाता है कि भौतिक दिक् मे नही बल्कि सावृतिक दिक् में स्थिति रखते है (भौतिक दिक् सांवृतिक दिक् से निर्मित है)। बहुत अच्छा, पर (इ) क्या वे काल में होते है? भौतिक काल? अथवा सांवृतिक दिक् की तरह कोई सांवृतिक काल भी होता है जिससे भौतिक काल "निर्मित" है? परंतु क्या आप भौतिक काल मे कितनी देर तक एक इंद्रिय-दत्त चलता है, यह नही बता सकते, जैसे, यह कि आप कितनी देर तक लाल धब्बे को अपनी आंखो के सामने देखते हैं? क्या इसकी अवधि भौतिक अवधि नही है? (ई) तब कितनी देर वे चलते है? यदि आप लाल धब्बे को लगातार देख रहे हैं तो वह एक इंद्रिय-दत्त-धब्बा है या अनेक एक-जैसे धब्बे जो अविच्छिन्न रूप से एक के बाद एक आते जा रहे है? यदि धब्बे का आपके दृष्टि-क्षेत्र के अंदर आकार बढता है, तो क्या इंद्रिय-दत्त वही है जो पहले था या उससे अलग है (क्या छोटे इंद्रिय-दत्त-धब्बे की जगह पर एक बड़ा इंद्रिय-दत्त-धब्बा आ गया है)? क्या वही लाल इंद्रिय-दत्त परदे के आर-पार चल सकता है अथवा इस यात्रा के प्रत्येक क्षण मे एक भिन्न इंद्रिय-दत्त होता है क्योकि देशिक स्थिति भिन्न हो जाती है? और जब तक वह चलता नही है या छोटा-बड़ा नही होता तब तक क्या वह वही इंद्रिय-दत्त बना रहता है? (उ) क्या अलग-अलग आदमी एकही इंद्रिय-दत्त का अनुभव कर सकते है? कुछ कहते हैं, "नही, इंद्रिय-दत्त परिभाषा के अनुसार होते ही व्यक्तिगत है।" अन्य कहते है, "हाँ, यदि आप और मैं ठीक उसी जगह पर खड़े हो तो हम दोनो ठीक वही बिंब देख सकते है, न कि एक-दूसरे से मिलते-जुलते दो बिंब" इत्यादि।

हम किसी इंद्रिय-दत्त की अवधि को कैसे निर्धारित करते हैं? यदि मैं एक लाल धब्बे को देखते समय अपनी आंखो को बंद करके खोल दूँ तो क्या काल की दृष्टि से पृथक् दो इंद्रिय-दत्त होगे या पूरे समय एक ही अविछिन्न रूप

से बना रहेगा ? यदि मेरे दृष्टि-क्षेत्र के अंदर कोई परिवर्तन होता है तो क्या इंद्रिय-दत्त बदल जाता है या उसकी जगह दूसरा आ जाता है ? यदि दूसरा आ जाता है तो क्या इस बात का कोई हेतु है कि जब कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता तब एक इंद्रिय-दत्त की जगह हूबहू वैसा ही एक और इंद्रिय-दत्त नहीं आ सकता ? कोई कहेगा कि इन प्रश्नों का उत्तर कोई महत्त्व नही रखता। मैं इससे सहमत हूँगा कि नहीं है ; परंतु इसका मुझे केवल यही हेतु दिखाई देता है कि इंद्रिय-दत्त निरी काल्पनिक सत्ताएँ है और हम जो चाहे वे गुण उनके मान सकते है।[1]

समस्याओं के बाद समस्याएँ आती हैं और उनके समाधान का कोई उपाय नही दिखाई देता। इससे अनेक लेखकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि या तो (अ) इंद्रिय-दत्तों का कोई अस्तित्व नहीं है (वे काल्पनिक है), या (आ) इंद्रिय-दत्त हैं अथवा इंद्रिय-दत्त नहीं हैं, यह कहने में कोई तुक नहीं है, क्योंकि इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ है ही नही—जैसे, यदि आपसे पूछा जाए कि "फ़्लबजब होते है या नही ?" तो आप कहेंगे कि "मैं तब तक आपके प्रश्न को नही समझ सकता जब तक आप मुझे 'फ़्लबजब' का अर्थ न बता दें।" इनमें से कोई भी निष्कर्ष इंद्रिय-दत्त-सिद्धांत के लिए निश्चित रूप से घातक होगा।

एक युक्ति है जिसका प्रयोग इंद्रिय-दत्तों के विरुद्ध अंतिम निर्णय देने के लिए किया गया है—वह युक्ति एक बहुत बड़े तर्कदोष को दिखा देती है, जिसके बारे में आलोचक कहते है कि यदि वह न हुआ होता तो "इंद्रिय दत्त" शब्द का प्रयोग ही शुरू न हुआ होता। इंद्रिय-दत्तों के समर्थकों ने यह दलील दी है :

१. मैं सिक्के को देखता हूँ।
२. सिक्का गोल है।
३. सिक्का मुझे दीर्घवृत्ताकार दिखाई देता है।
अत: ४. मैं एक दीर्घवृत्ताकार इंद्रिय-दत्त को देखता हूँ।

परंतु (आलोचक के अनुसार) यह युक्ति दोषपूर्ण है। सिक्के का मुझे दीर्घवृत्ताकार दिखाई देना इस निष्कर्ष का आधार कदापि नही बन सकता

१. विन्स्टन एन० एफ० बार्न्स, "दि मिथ ऑफ सेन्स-डेटा," प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि अरिस्टोटेलियन सोसाइटी, XLV (१९४४-४५), १००।

कि कुछ (एक इंद्रिय-दत्त) है जो दीर्घवृत्ताकार है। उक्त परिस्थिति में कुछ ऐसा है ही नहीं जो दीर्घवृत्ताकार हो ; किसी भी दीर्घवृत्ताकार चीज का संवेदन नहीं हो रहा है। पर ऐसा कुछ जरूर है—सिक्का—जो गोल होने पर भी दिखाई दीर्घवृत्ताकार देता है। वह सिक्का है जो (अ) गोल है और (आ) दीर्घवृत्ताकार दिखाई देता है। यहाँ हमें किसी इंद्रिय-दत्त की जरूरत ही नहीं है। कोई दीर्घवृत्ताकार सत्ता नहीं है, केवल एक वृत्ताकार (गोल) सत्ता है, सिक्का, जो इस कोण से दीर्घवृत्ताकार प्रतीत होता है। मैं सिक्के को देख रहा हूँ ; वास्तव में मैं एक गोल सिक्के को देख रहा हूँ ; परंतु इस कोण से सिक्का गोल नहीं बल्कि दीर्घवृत्ताकार प्रतीत होता है। इस तथ्य से कि मैं कुछ देख रहा हूँ, और वह गोल है पर दीर्घवृत्ताकार प्रतीत होता है, मैं यह अनुमान नहीं कर सकता कि मेरे दृष्टि-क्षेत्र में उस स्थान पर जहाँ कि गोल चीज है (जो दीर्घवृत्ताकार दिखाई देती है) कुछ दीर्घवृत्ताकार (एक दीर्घवृत्ताकार इंद्रिय-दत्त) है।

लेकिन कोई यह आपत्ति कर सकता है : "नहीं ; सिक्का गोल है, यह मानते हैं ; सिक्का इस कोण से दीर्घवृत्ताकार लगता है, यह भी मानते हैं। अतः कुछ दीर्घवृत्ताकार है—मेरे दृष्टि-क्षेत्र में कोई दीर्घवृत्ताकार चीज है और उसी दीर्घवृत्ताकार चीज को हम इंद्रिय-दत्त कहते हैं। जब तक देखने के लिए कोई दीर्घवृत्ताकार चीज न हो तब तक मैं कुछ दीर्घवृत्ताकार कैसे देख सकता हूँ ?"

पर ठीक इसी बात से तो आलोचक इन्कार करता है। वह कहता है कि कुछ भी दीर्घवृत्ताकार नहीं है। है केवल एक गोल चीज, सिक्का, जो दीर्घवृत्ताकार प्रतीत होती है। इस बात का कोई हेतु नहीं है कि कोई चीज एक गुण वाली हो और दूसरे गुण वाली न प्रतीत हो : दूरस्थ पेड़ नीललोहित-से दिखाई देते हैं जबकि होते हरे हैं, वह चीज छोटी दिखाई देती है पर है बड़ी, और इसी प्रकार असंख्य और उदाहरण हैं। चीजें अवश्य ही विभिन्न तरीकों से दिखाई देती हैं : परंतु "दिखाई देने के तरीके अस्तित्ववान् चीज की प्रकृति का बोध करानेवाले संकेत होते हैं ; वे स्वयं अस्तित्ववान् नहीं हैं। यह पूछना अनुचित है कि प्रतीति का दीर्घवृत्तीय प्रकार (जैसा कि सिक्का मुझे दिखाई देता है) अस्तित्व रखता है या नहीं। आप यह पूछ सकते हैं कि क्या सिक्का अस्तित्व रखता है, और क्या यह गोल है या दीर्घवृत्ताकार है, और ऐसा प्रश्नों

हुए आपको यह विचार करना पड़ेगा कि वह विभिन्न स्थितियों में कैसा दिखाई देता है। परंतु दिखाई देने के प्रकार स्वयं अस्तित्व रखनेवाली चीजें नहीं हैं ; वे केवल प्रमाण प्रस्तुत करनेवाली सामग्री हैं, जिसका उपयोग हम अस्तित्व रखनेवाली वस्तुओं की प्रकृति को जानने के लिए करते हैं।

क्या हो गया ? आपने इंद्रिय-दत्तों से बिल्कुल ही छुटकारा पा लिया। प्रतीत इंद्रिय-दत्त नहीं होते : भौतिक वस्तुएँ प्रतीत होती है और प्रत्यक्ष की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उनकी प्रतीतियाँ अलग-अलग होती हैं। जो भी हो, यह प्रतीति-सिद्धांत की मान्यता है। भौतिक वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, और उनकी प्रतीतियाँ नाना प्रकार की होती हैं। (हम और किस बात की आशा करेंगे ? क्या आप यह चाहेंगे कि चीज आपसे चाहे कितनी ही दूर हो, वह एक-जैसी बड़ी दिखाई दे, या आप उसे चाहे जिस कोण से देखें, उसकी शक्ल वही बनी रहे ?) परंतु इंद्रिय-दत्त नाम की कोई ऐसी चीज नहीं है जिसकी प्रतीति हो।

स्वयं वस्तुएँ ही ऐंद्रिय प्रत्यक्ष में हमें प्रतीत होती है—जब मैं एक वृत्ताकार पेनी को दीर्घवृत्ताकार देखता हूँ तब मैं पेनी के वृत्ताकार तल को देख रहा होता हूँ, उसके स्थान पर किसी अन्य दीर्घवृत्ताकार चीज को नहीं। यह सत्य है कि यह वृत्ताकार तल मुझे दीर्घवृत्ताकार दिखाई देता है, परंतु इस तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि मैं अव्यवहित रूप से उस वृत्ताकार तल को नहीं देख रहा हूँ। यद्यपि वीनस ने अपने पुत्र इनीअस से अपने देवत्व को पूर्णतः गुप्त रखा था, तथापि इससे उसके वीनस के निकट होने में कोई कमी नहीं आई।[१]

अथवा, जब मैं एक लाल गुब्बारा देखता हूँ तो हो सकता है कि मैं उसे लाल न देखूं (यदि मैं उसे कुहरे में या धुंधलके में देखूं तो), पर जो मैं देखता हूँ वह फिर भी एक लाल गुब्बारा ही है। शायद मैं यह तक न जानता होऊँ कि वह एक गुब्बारा है—वैसे ही जैसे मैं नहीं जानता कि चिड़ियाघर में जिस पशु को मैं सामने देख रहा हूँ वह वृषभहरिण है—पर है वह फिर भी एक गुब्बारा ही, और, भले ही मैं न जानता होऊँ कि मैं एक गुब्बारे को देख

---

१. वही, पृ० ११२।

रहा हूँ, देख मैं फिर भी एक गुब्बारे को ही रहा हूँ ।[1]

अब हम एक अधिक कठिन उदाहरण की जाँच करते है। मैं चीजो को दो देखता हूँ : मैं दो रुपए देखता हूँ जबकि है केवल एक ही। निस्संदेह उनमें से एक को आभासी रुपया (इंद्रिय-दत्त-रुपया ?) होना चाहिए, क्योंकि दो भौतिक रुपए हैं नही। रुपए दो प्रतीत होते है, फिर भी प्रतीत होने के लिए केवल एक ही रुपया अस्तित्व रखता है। ऐसा नही है जैसे कि मानो रुपया एक हो जो एक कोण से एक तरह का लगता है और दूसरे कोण से दूसरी तरह का : है एक ही रुपया जो दो दिखाई देता है। और द्वित्व एक रुपए का गुण नही है।

परंतु इसका उत्तर सार-रूप में वही पहले वाला होगा : दो होना एक रुपए का गुण नही हो सकता, पर दो दिखाई देना हो सकता है। एक रुपया दो रुपए नही हो सकता, पर एक रुपया (कुछ परिस्थितियो में) दो रुपए या कितनी ही चीजें प्रतीत हो सकता है।

इस उत्तर से शायद हम कुछ परेशानी महसूस करें। जब हम दो चीजें देखते है, तब प्रतीत दो विस्तारयुक्त क्षेत्र होते हैं। क्या दोनो ही एक वस्तु के तल हैं ? यदि हैं, तो किस वस्तु के, क्योकि प्राक्कल्पनात: रुपया केवल एक है? असली रुपया कौन है और यदि इंद्रिय-दत्त को नही मानना है तो दूसरे की क्या स्थिति है ? पर अभी हम एक और भी कठिन उदाहरण को लेते हैं :

अपभ्रमों की बात को लीजिए। तब क्या होता है जब कोई सिक्का बिल्कुल होता ही नही ? उस समय प्रतीत क्या होता है ? प्रकटत: प्रतीत होने के लिए कुछ भी नही है। वह कटार क्या थी जिसे मैकबेथ समझता था कि वह देख रहा है ?

यह कहना भ्रामक है कि "एक कटार-जैसी प्रतीति" का अस्तित्व है, हालाँकि यदि हम सावधान हो तो हम "प्रतीति" शब्द के ऐसे प्रयोग से शायद धोखे में नही आएँगे। परंतु यदि ठीक-ठीक कहा जाए तो प्रतीति नाम की कोई चीज नही होती। यह मानना कि होती है यह मानने के समान है कि क्योकि

---

१. देखिए जी० जे० वार्नोक, "सीइंग," प्रोसीडिंग्ज आफ दि अरिस्टोटेलियन सोसाइटी, १९५४-५५, तथा रोडरिक चिजहोम "दि थियरी ऑफ अपियरिंग," मैक्स ब्लैक द्वारा संपादित फिलोसोफिकल अनैलिसिस (१९६३) में।

अध्याय ९

नीतिशास्त्रीय समस्याएँ

दैनिक जीवन में हम जो कथन करते हैं वे अधिकतर किसी प्रकार के तथ्य की या किसी ऐसी बात की जिसे तथ्य मान लिया गया हो, सूचनाएँ होते हैं : "इस कमरे में पाँच व्यक्ति है," "पानी २१२° फा० पर खौलता है," "४×४=१६," "हीलियम के परमाणु में दो इलेक्ट्रोन होते हैं," "ईश्वर है," "मेरे दाँत में दर्द है," "वह कर्तव्यनिष्ठ है"—ये उदाहरण काफी हैं। इनमें से कुछ विशेष हैं और कुछ सामान्य, कुछ चेतना की अवस्थाओं के बारे में हैं, कुछ बाहरी परिस्थितियों के बारे मे ; कुछ घटनाओं के बारे में हैं, कुछ शीलबोधक हैं; कुछ प्रत्यक्षगम्य वस्तुओं के बारे में है, अन्य उनके बारे में जिनका प्रत्यक्ष बातों से अनुमान ही किया जा सकता है ; कुछ इंद्रियानुभवात्मक हैं, कुछ नहीं हैं। परंतु सबका उद्देश्य किसी तथ्य की सूचना देना है।

लेकिन अब हम ऐसे कथनों को लेते हैं जो कम-से-कम लगते एक बहुत ही भिन्न प्रकार के हैं। यदि हम कहें कि "परमाणु-बम लाखों लोगों का संहार कर सकता है" तो हम एक इंद्रियानुभविक तथ्य का कथन कर रहे हैं ; लेकिन जब हम यह कहते हैं कि "परमाणु-बम का प्रयोग अवैध कर दिया जाना चाहिए," तब हमारा कथन किसी ऐसी चीज के बारे में नहीं है जो है बल्कि उसके बारे में है जो होना चाहिए। यदि हम कहें कि "वह एक तैलचित्र है जिसमें प्रधानतः नीला और हरा रंग है" तो हमारा कथन उस चित्र के बारे में एक तथ्य को बताता है ; परंतु यदि हम कहें कि "वह चित्र अच्छा है" तो हमारा कथन उस चित्र का मूल्य बताता है। प्रत्येक जोड़े के पहले कथन की सत्यता या असत्यता को जाँच करना आसान है, परंतु यह पता हम कैसे लगाएँगे कि प्रत्येक का दूसरा कथन सत्य है या नहीं ? इसी प्रकार के अंतर "यह तीन हफ्ते तक चला" और "यह अनुचित रूप से लंबा चला" के बीच, "उसके बाल लाल हैं" और "वह शानदार महिला है" में, "स्वास्थ्य की सब इच्छा करते हैं" और "स्वास्थ्य वांछनीय है" के मध्य हैं। प्रत्येक जोड़े के बाद वाले वाक्य के अर्थ के बारे में हमें क्या कहना है ?

किसी चीज का मूल्य बतानेवाली सभी प्रतिज्ञप्तियाँ नीतिशास्त्रीय प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं होतीं। इस अध्याय में हम केवल नीतिशास्त्रीय प्रतिज्ञप्तियों की ही चर्चा करेंगे। दर्शन में स्थान पानेवाले दो मूल्यमीमांसीय विषय नीतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र हैं। नीतिशास्त्र का संबंध शुभ (अच्छा) और अशुभ (बुरा), उचित और अनुचित, कर्तव्य और आबंध, तथा नैतिक दायित्व की समस्याओं से है। सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्यात्मक मूल्य (कभी "यह चित्र अच्छा है" और कभी "यह चित्र सुंदर है" के रूप में व्यक्त) से सबंधित चर्चा होती है, और इस तरह के संप्रत्ययों की भी जैसे, सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति, आलोचनात्मक निर्णय का स्वरूप और कार्य, कलात्मक प्रतीकावली, अर्थ, सत्यता तथा रसानुभव (मुख्यतः कला-कृतियों के प्रसंग में)। परंतु अनेक मूल्यांकनात्मक कथन, जैसे, "यह नीति आर्थिक दृष्टि से निर्दोष है," "वह शानदार महिला है," और "यह टोप रखने योग्य है" इन दोनों ही के क्षेत्र से बाहर प्रतीत होते है।

जिन वाक्यों में नीतिशास्त्र का सबसे मुख्य शब्द "अच्छा" प्रयुक्त होता है वे तक अधिकांशतः नैतिक निर्णयों के सूचक नहीं होते। "मैं आशा करता हूँ कि आज मौसम अच्छा रहेगा," "वह एक अच्छा तैराक है," "अच्छा यह होगा कि वह बरसात से पहले फसल काट ले," "वह बेसबाल अच्छा खेला"—इन और इनके-जैसे असंख्य वाक्यों में हम "अच्छा" शब्द का प्रयोग नैतिकता के क्षेत्र में बिल्कुल भी प्रवेश किए बिना करते है। सामान्यतः जब हम कहते हैं कि "यह एक अच्छा क है" तब हमारा मतलब प्रायः यह होता है कि यह क अधिकतर क'ओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में क'ओं की कसौटियों (जो भी वे हों) के अनुसार है—क चाहे एक टेनिस का खिलाड़ी हो, एक सेब हो, एक डेस्क हो, एक गाड़ी हो, एक सड़क हो, या एक कालेज हो। कसौटियाँ प्रत्येक उदाहरण में अलग होती हैं, पर "अच्छा" का अर्थ अलग नहीं होता।

लेकिन "अच्छा" शब्द का प्रयोग नैतिक चर्चाओं में भी होता है, और यही अनेक समस्याएँ पैदा होती है। हम "अच्छा" शब्द का किसी के चरित्र के लिए प्रयोग करते हैं : "वह एक अच्छा आदमी है"। हम यह भी कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के अभिप्रेरक और अभिप्राय अच्छे या बुरे हैं। हम कहते हैं

कि अमुक आदमी के कामो के अच्छे या बुरे परिणाम हुए है। हम किसी आदमी के आदर्शों, लक्ष्यो और उद्देश्यो को भी अच्छा या बुरा कहते है, और यह सबसे महत्वपूर्ण बात है : "उसका लक्ष्य अच्छा है"। इसके विपरीत, वह जो करता है यानी उसके जो कर्म है उन्हे हमे उचित या सत् अथवा अनुचित या असत् कहते हे : "उसने रुपया लौटाकर उचित किया, हालांकि उसके अभिप्रेरक शायद अच्छे नही थे।"

नीतिशास्त्र मे प्रयुक्त होनेवाले मुख्य शब्द "अच्छा", "बुरा", "उचित" और "अनुचित" हैं। इन शब्दो के अर्थों के बारे मे समाप्त न होनेवाला विवाद चला है। (१) नीतिशास्त्रीय शब्दो के अर्थ (और अर्थों के पारस्परिक सबधो) पर विचार करनेवाले शास्त्र को अधिनीतिशास्त्र कहते हैं। इस शताब्दी मे अधिनीतिशास्त्रीय प्रश्नो को लेकर हजारो पृष्ठ लिखे गए हैं। ये समस्याएँ प्राय. अत्यधिक तकनीकी हो जाती हैं और अनुभवहीन पाठक जो अधिक रोचक चीजें जानना चाहता है, प्राय. इन विवादो से उदासीन बना रहता है। जो भी हो, (२) नीतिशास्त्र का वह दूसरा भाग जो सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के समय से ही प्रमुख बना रहा, मानकीय नीतिशास्त्र है। इसका काम इस बारे मे कोई स्वीकार्य और तर्कसगत सिद्धात खोज निकालना है कि किस प्रकार की बातें अच्छी (जो इस योग्य हो कि उनका अनुसरण किया जाए) हैं और किस प्रकार के कर्म उचित हैं, तथा क्यो (अन्य चीजो का, जिन पर विचार करने के लिए हमे इस अध्याय मे अवसर नही मिलेगा, हम उल्लेख नही कर रहे हैं, जैसे, नैतिक प्रशसा और निंदा का आधार तथा नैतिक दायित्व)। इस विशाल क्षेत्र को इतना सक्षिप्त कर देना कि वह एक छोटे-से अध्याय के अदर आ जाए और अत्यधिक सरलीकरण का दोष भी न पैदा हो, निस्सदेह एक असभव काम है।[1] इस अध्याय के पहले परिच्छेद मे अधिनीतिशास्त्रीय समस्याओ के एक बहुत ही सक्षिप्त सर्वेक्षण के पश्चात् शेष दो परिच्छेदो मे हम मानकीय नीतिशास्त्र के दो प्रश्नो पर विचार करेंगे : "शुभ (अच्छा) क्या है?" तथा "सत् या उचित आचरण क्या है?"

---

१. एक लगभग पाँच लाख शब्दों का ग्रथ (ह्यूमन कडक्ट) लिख चुकने के बाद, जो इन समस्याओं को छू भर सका है, मै अच्छी तरह जानता हूँ कि एक अध्याय में कितनी अल्प सामग्री दी जा सकती है।

२७. अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धांत

प्रमुख अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धांत ये है : (१) नैतिक प्रकृतिवाद (या परिभाष्यवाद), जिसके अनुसार सभी नीतिशास्त्रीय वाक्यों का (जिनमें "अच्छा", "उचित" या कोई और नीतिशास्त्रीय शब्द प्रयुक्त होते है) अर्थ की हानि के विना अ-नीतिशास्त्रीय वाक्यों में अनुवाद किया जा सकता है ; (२) नैतिक न-प्रकृतिवाद, जिसके अनुसार कम-से-कम कुछ नीतिशास्त्रीय वाक्य ऐसे है जिनका किसी भी अन्य प्रकार के वाक्यो मे अनुवाद नही किया जा सकता और जिनका एक स्वतत्र वर्ग होता है; तथा (३) नैतिक निस्संज्ञानवाद, जिसके अनुसार नीतिशास्त्रीय वाक्य कोई भी प्रतिज्ञप्ति व्यक्त नही करते।

१. नैतिक प्रकृतिवाद—नैतिक प्रकृतिवाद के सभी रूपों के अनुसार नीतिशास्त्रीय वाक्यो का अनीतिशास्त्रीय वाक्यो मे अनुवाद किया जा सकता है। जब आप कोई नीतिशास्त्रीय वाक्य बोलते है तब आपके वाक्य का अर्थ में कोई परिवर्तन किए विना ऐसे वाक्य या वाक्यों में अनुवाद किया जा सकता है जिनमे कोई नीतिशास्त्रीय शब्द प्रयुक्त न हो। यदि यह विश्लेषण सफल हो जाए तो नीतिशास्त्रीय शब्दों को शब्दकोश से निकाल दिया जा सकेगा, और तब केवल अ-नीतिशास्त्रीय शब्द ही रह जाएँगे—वैसे ही जैसे जहाँ भी "गज" शब्द आता हो वहाँ "तीन फुट" रखा जा सकता है और इस तरह "गज" शब्द वाला कोई भी वाक्य नही रहेगा। कठिनाई नीतिशास्त्रीय वाक्यों का कोई ऐसा विश्लेपण प्राप्त करने की है जिसके द्वारा उन सबको हटाया जा सके और उनकी जगह पर अर्थ को वदले विना अनीतिशास्त्रीय वाक्यों को रखा जा सके। हम थोड़ा-सा प्रयत्न करके देखते है।

अ. आत्मकथामूलक परिभाषा—इस सिद्धात के अनुसार जब मैं कहता हूँ कि अमुक काम उचित है तब मेरा मतलब केवल यह होता है कि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ। यह कहना कि वह उचित है और यह कहना कि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ एकही वात है। जब मैं कहता हूँ कि वह उचित है तब मैं वास्तव मे स्वयं उस काम के स्वरूप या गुण के वारे मे कुछ नही वता रहा होता—मैं सिर्फ यह वता रहा होता हूँ कि मेरी उसके प्रति एक भावना है, अनुमोदन की भावना (अथवा नैतिक अनुमोदन की, बशर्ते सचमुच ऐसा कोई अलग प्रकार अनुमोदन का हो जिसे "नैतिक" कहा जा सके)।

परंतु यह सिद्धांत अनेक दृष्टियों से आपत्तिजनक है। (१) यदि यह सच है तो कोई भी काम स्वतः उचित या अनुचित नहीं हैं, हैं उनके प्रति केवल अनुकूल या प्रतिकूल भावनाएँ ही। इस प्रकार, यदि मैं यह जानना चाहता हूँ कि कोई एक काम अनुचित तो नहीं है तो मुझे केवल अतर्निरीक्षण करके यह मालूम करना होगा कि क्या मैं उसका अनुमोदन करता हूँ; यदि करता हूँ तो वह उचित है, यदि नहीं तो वह अनुचित है। यदि मैं एक दिन उसका अनुमोदन करता हूँ और अगले दिन अनुमोदन नहीं करता तो वह एक दिन उचित है और अगले दिन अनुचित। और यदि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ पर आप नहीं करते तो वह मेरे लिए उचित है और आपके लिए अनुचित। कोई भी काम, यहाँ तक कि हत्या भी, मेरे लिए उचित हो जाएगी, बशर्ते मैं स्वयं को उसका अनुमोदन करने की स्थिति मे ला सकूं। यह निश्चय ही उस तरीके का उल्टा है जो साधारणतः लोगों के द्वारा अपनाया जाता है। कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि "मैं इस काम का इसलिए अनुमोदन करता हूँ कि यह उचित है", परंतु वह यह नहीं कहेगा कि "यह इसलिए उचित है कि मैं इसका अनुमोदन करता हूँ"। क्या वस्तुतः ऐसा नहीं हो सकता कि व्यक्ति का अनुमोदन अनुचित, अविवेकपूर्ण या गलत हो? क्या मैं यह जाने बिना कि कोई काम उचित है, यह नहीं जान सकता कि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ या नहीं? और यदि मुझे इस बारे मे शक हो कि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ, तो क्या इसकी वजह यह नहीं है कि मुझे उसके उचित होने मे शक है? परंतु यदि अ ब पर आधारित है तो अ वह नहीं है जो ब है। यदि मैं अपने-आपको यह पक्का विश्वास दिला सकूँ कि क उचित है तो मैं उसका अनुमोदन करूँगा, लेकिन यह विश्वास कि वह उचित है यह विश्वास नहीं है कि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ। अनुमोदन की अभिवृत्ति इस विश्वास का परिणाम है, न कि यह विश्वास इस अभिवृत्ति का। जो मैं जानना चाहता हूँ वह यह नहीं कि मैं अमुक काम का अनुमोदन करता हूँ या नहीं, बल्कि यह है कि मेरा अनुमोदन ठीक है या नहीं। (२) यदि विचाराधीन सिद्धांत सही है तो नीतिशास्त्रीय बातों को लेकर कभी मतभेद नहीं होगा—और यह ऐसा निष्कर्ष है जिसपर विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई बात इससे अधिक स्पष्ट और सत्य नहीं लगती कि लोग इन बातों को लेकर हमेशा असहमत रहते हैं। फिर भी, प्रस्तुत मत के अनुसार नीतिशास्त्रीय मतभेद हो ही नहीं सकता : क्योंकि यदि मैं यह कहता

है कि काम अ उचित है तो इसका मतलब यह है कि क उसका अनुमोदन करता है ; और यदि ख यह कहता है कि काम अ अनुचित है तो इसका मतलब केवल यह है कि ख उसका अनुमोदन नही करता ; और ये दो प्रतिज्ञप्तियाँ (कि क अ का अनुमोदन करता है और ख उसका अनुमोदन नही करता), परस्पर व्याघाती होना तो बहुत दूर की बात है, साथ-साथ सत्य भी हो सकती है। वास्तव मे, क और ख दोनो ही प्राय विवाद के शुरू होने से पहले ही जानते है कि दोनो की बात सही है (क जानता है कि ख अ का अनुमोदन नही करता और ख जानता है कि क अनुमोदन करता है), क्योकि विवाद की शुरूआत ही इस वजह से होती है।

सचाई यह प्रतीत होती है साधारणत मैं किसी काम को तब तक उचित नही कहता जब तक मैं उसका अनुमोदन न करूँ, परतु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि उसे उचित कहने मे मेरा अभिप्राय केवल यह होता है कि मैं उसका अनुमोदन करता हूँ। मैं दर्शन के बारे मे तब तक बात नही करता जब तक मैं सांस न ले रहा होऊँ, परतु जब मैं दर्शन के बारे मे बात कर रहा होता हूँ तब मैं अपने सांस लेने के बारे मे बात नही कर रहा होना। सांस लेना दर्शन या किसी भी चीज के बारे मे बात करने की एक अनिवार्य उपाधि मात्र है।

आ समाजशास्त्रीय परिभाषा—इस परिभाषा के अनुसार, "क उचित है" का मतलब वही है जो "अधिकतर लोग क का अनुमोदन करते है" का है। इसके अनेक रूप-भेद हैं . 'अधिकतर लोग" मेरे समाज के, या मेरे देश के, या इस समय के सारे विश्व के, या पूरे विश्व के इतिहास के सभी युगो के मिलाकर हो सकते हैं। आप कैसे पता लगाते हैं कि क्या उचित है ? आप मत-सग्रह करते हैं। आपको पता चल जाता है कि कितने लोग प्रश्नाधीन काम का अनुमोदन करते हैं, और यह जान लेने के बाद आप जान लेते हैं कि वह उचित है या नही।

परतु बहुसख्यक लोगो का अनुमोदन जब किसी वैज्ञानिक सिद्धात को सत्य नही बना सकता, तब किसी काम को उचित क्यो बनाएगा ? क्या बहुसख्यक लोग मूर्ख, अज्ञ या गलत नहीं हो सकते ? बहुसख्यक लोगो का मत जब यह सिद्ध नहीं कर सकता कि पृथ्वी चपटी है, तब यह क्यो सिद्ध करेगा कि एक काम उचित है ? यह एक दिलचस्प समाजशास्त्रीय तथ्य है

कि बहुसख्यक लोग किसी काम का अनुमोदन करते है, परंतु नीतिशास्त्र के लिए इसका बहुत ही कम उपयोग है ; नीतिशास्त्र मे हम फिर भी यह जानना चाहते है कि बहुसंख्यक लोगो का मत कही गलत तो नही है। इसके अलावा, बहुसख्यक लोगो के विश्वास को किसी चीज के बारे मे होना चाहिए ; और प्रकटतः उनका विश्वास इस बारे मे होता है कि काम उचित है या नही है, न कि इस बारे मे कि उनमे से अधिकतर उसका अनुमोदन करते है या नही करते। बहुसख्यक लोग किस काम का अनुमोदन करते है, इस बारे मे सचमुच मतभेद का होना संभव है, जिससे आत्मकथामूलक सिद्धात के विरुद्ध जो आपत्ति थी वह यहाँ लागू नही होती, पर दुर्भाग्य से उनका विश्वास गलत चीज के बारे मे है। अल्पसंख्यक लोग यह जानकर कि बहुसख्यक लोग क का अनुमोदन करते है, यह निष्कर्ष नही निकालेंगे कि क अनुचित है ; इसके बजाय वे यह निष्कर्ष निकालेंगे कि बहुसंख्यक लोग गलती कर रहे हैं।

इ. **ईश्वरपरक परिभाषा**—इस परिभाषा के अनुसार यह कहना कि क उचित है यह कहना है कि ईश्वर उसका अनुमोदन करता है (या उसका आदेश देता है) : "क उचित है" कोई इंद्रियानुभविक कथन नही है, जैसा कि पिछली दो परिभाषाओ मे माना गया है, बल्कि एक ईश्वरपरक कथन है। लेकिन ईश्वर को माननेवाले को भी इस कथन के निहितार्थ को जान लेना चाहिए कि "क उचित है" का मतलब केवल यह है कि ईश्वर क का अनुमोदन करता है। इसमे यह बात निहित है कि सब नीतिशास्त्रीय कथन प्रच्छन्न रूप से ईश्वरपरक कथन हैं : कि यदि कोई यह कहता है कि एक काम उचित है पर वह ईश्वर को नही मानता, तो उसका कथन न केवल असत्य है बल्कि स्वतोव्याघाती भी है, क्योंकि वह यह कहता होगा कि कोई काम उचित है (ईश्वर उसका अनुमोदन करता है) पर ईश्वर नही है—और निश्चय ही नास्तिको के भी उचित-अनुचित के बारे मे अपने विचार होते हैं, हालाँकि उनके विचार सब गलत हैं। "उचित" की यह परिभाषा देना ईश्वर के अस्तित्व को न माननेवालो या उसमे सदेह करनेवालो को मनमाने ढंग से कानून बनाकर निकाल बाहर कर देना जैसा है। हो सकता है कि ईश्वर के द्वारा अनुमोदित हर काम उचित हो और जो उचित है यह ईश्वर के द्वारा अनुमोदित हो, परतु क्या उसे उचित कहने का मतलब यही है कि यह

ईश्वर द्वारा अनुमोदित है ? प्लेटो के यूथिफ्रो में ऐसा लगता है कि सुकरात ने इस सिद्धांत का अंतिम रूप से खंडन कर दिया है।

ई. आदर्श-प्रेक्षक-परक परिभाषा—इस परिभाषा के अनुसार यह कहना कि क उचित है यह कहना है कि न आप, न मैं और न बहुसंख्यक लोग, बल्कि एक आदर्श प्रेक्षक क का अनुमोदन करेगा। आदर्श प्रेक्षक क्या है ? संक्षेप में, आदर्श प्रेक्षक (या आदर्श निर्णायक) वह है जो (अ) विचाराधीन प्रश्न के संबंध में निष्पक्ष (अभिनतिशून्य) हो (निष्पक्षता के बारे में अधिक हम बाद में कहेंगे), (आ) जो विचाराधीन परिस्थिति से संबंधित सारे तथ्यों की पूरी जानकारी रखता हो, तथा (इ) जो कल्पना में उस परिस्थिति से संबंधित प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपना तादात्म्य कर सकता हो। यदि किसी व्यक्ति में ये विशेषताएँ हों, तो वह यह कहने में कभी गलती नहीं करेगा कि क्या उचित है और क्या अनुचित है और इसलिए वह किसी भी परिस्थिति का पूर्णयोग्यता-संपन्न नैतिक निर्णायक होगा। केवल इतना ही नहीं बल्कि आदर्श प्रेक्षक की घोषणा "उचित" और "अनुचित" के अर्थ का बोधक भी होगी (जब तक इस सिद्धांत को अधिनीतिशास्त्रीय माना जाता है तब तक)। यह जानना कि आदर्श प्रेक्षक क का अनुमोदन करता है और यह जानना कि क उचित है, एकही बात है।

यह सिद्धांत निस्संदेह पिछले सिद्धांतों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यह बात बिल्कुल विश्वसनीय नहीं लगती कि किसी काम का औचित्य और उसका मेरे द्वारा या आपके द्वारा या किसी भी व्यक्ति या समूह के द्वारा अनुमोदन किया जाना एक ही चीज है, लेकिन यह बात काफी युक्तयुक्त लगती है कि क का उचित होना और उसका एक आदर्श प्रेक्षक या निर्णायक के द्वारा अनुमोदन किया जाना एकही चीज है। शायद ऐसे किसी प्रेक्षक का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि दुनिया में कोई भी पूर्णतः निष्पक्ष, पूर्णतः ज्ञानी तथा कल्पना में पूर्णतः अपना तादात्म्य स्थापित करने की सामर्थ्य रखनेवाला नही है। परंतु प्रस्तुत सिद्धांत को किसी ऐसे प्राणी के अस्तित्व की जरूरत भी नहीं है—वह केवल यह कहता है कि यदि ऐसा कोई प्राणी होता तो उसका निर्णय सदैव पूर्णतः सही होता। लेकिन यह सिद्धांत और भी आगे बढ़कर न केवल यह कहता है कि आदर्श प्रेक्षक का निर्णय प्रत्येक प्रसंग में सही होगा बल्कि यह कहता है कि परिभाषातः सही होगा, अर्थात् "क उचित है" का अर्थ ही यह है। और

यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है। हम कह सकते है : "शायद ऐसा आदर्श निर्णायक जो कुछ कहेगा वह वस्तुतः सदैव सत्य होगा (यदि नही, तो आप उसे आदर्श निर्णायक कहेगे ही नही), लेकिन यह निश्चय ही इस कथन का अर्थ नही है कि क उचित है।"

यदि आपत्ति इस बात को लेकर है कि आदर्श प्रेक्षक परक परिभाषा हमे वह नही बताती जो हमारा एक काम को उचित कहते समय प्रकटतः तात्पर्य होता है, तो आपत्ति निश्चित रूप से ठीक है : शायद हमने पहले कभी आदर्श-प्रेक्षक-परक सिद्धांत के बारे मे नही सुना, इसलिए किसी काम को उचित कहते समय हमारा ऐसा कोई तात्पर्य हो ही नही सकता था। परंतु जैसा कि हमने अध्याय १ मे देखा था, हमारा एक बात से प्रकट रूप मे मतलब न होना इस बात का प्रमाण नही है कि एक परिभाषा अपर्याप्त है। ऐसा हो सकता है कि हम यह निश्चय करने के लिए कि एक चीज क है या नही, एक कसौटी का प्रयोग करे पर उसे स्वयं हमने सूत्रबद्ध न किया हो : इतना ही पर्याप्त होता है कि हमने उस कसौटी का प्रयोग किया है। परंतु प्रस्तुत प्रसग मे क्या आदर्श-प्रेक्षक-परक परिभाषा इस अर्थ की दृष्टि से भी पर्याप्त है ? ऐसा लगेगा कि वह पर्याप्त नही है। यह परिभाषा काम क के स्वरूप के बारे मे हमें वस्तुतः कुछ भी नही बताती—वह हमे यह बताती है कि एक पूर्ण योग्यता रखनेवाला निर्णायक क के बारे मे क्या कहेगा, पर इससे तो हमे निर्णीत काम के बजाय निर्णायक के बारे मे ही अधिक जानकारी मिलती है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि नैतिक समस्या की जटिलता और कठिनता से हम घबरा जाएँ और यह कह दें कि "अ मुझसे अधिक ज्ञानी और स्थिर मन वाला है और उसके निर्णय का मैं सम्मान करता हूँ ; यदि वह यहाँ हो और निर्णय दे तो मैं उसके निर्णय को सही मानूंगा।" परतु उसके निर्णय को सत्य मानने के बावजूद भी हम यह नही मानेंगे कि "क उचित है" से हमारा मतलब बराबर वही रहा अथवा क के औचित्य के निर्धारण के लिए हम बराबर उसी को कसौटी बनाते रहे। हम जिस प्रकार केंद्र से सब बिंदुओं की समान दूरी को यह निर्धारित करने के लिए कि एक समतलाकृति वृत्त है या नही, कसौटी के रूप मे इस्तेमाल करते हैं उस प्रकार हम काल्पनिक आदर्श निर्णायक के निर्णय को बराबर एक कसौटी नहीं बनाते रहे। यदि हम पहले से ही एक काम को उचित मानते हैं तो हम इस बात मे विश्वास करते होंगे कि एक

आदर्श प्रेक्षक उसका अनुमोदन करेगा, परंतु इसका उल्टा शायद ही चले : हम कहते हैं कि जब एक आदर्श प्रेक्षक उसका अनुमोदन करेगा तब हम उसके उचित होने में विश्वास कर सकते हैं, परंतु ऐसा नहीं है कि यही उसे उचित कहने का अर्थ हो। जब हम कहते हैं कि क उचित है तब हमारा मतलब यह होता है (या ऐसा प्रतीत होता है) कि क स्वतः एक गुण से युक्त है। इन सिद्धांतों में से सबसे सरल यह है :

उ. उपयोगितावादी परिभाषा—इस परिभाषा के अनुसार, "क उचित है" का वही मतलब है जो इसका है कि "क अधिकतम सुख की प्राप्ति का साधन बनेगा" (अंत में सभी संबंधित लोगों के लिए)। हम आगे मानकीय नीतिशास्त्र के एक सिद्धांत के रूप में उपयोगितावाद की जांच करेंगे। यहाँ हम उसका उल्लेख केवल "उचित" शब्द का अर्थ बताने की कोशिश करनेवाले एक अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में ही कर रहे हैं। इसमें कम-से-कम यह अच्छाई तो है कि यह "उचित" की स्वयं काम ही की एक विशेषता (सुख पैदा करने की उसकी प्रवृत्ति) के द्वारा परिभाषा देता है : कोई काम उचित है यदि वह अमुक परिणामों को पैदा करे, यानी उनको जिनसे सभी संबंधित लोगों को अधिकतम संभव सुख प्राप्त हो। (यदि हम "अधिकतम संभव शुभ" कहते तो यह एक नीतिशास्त्रीय शब्द "उचित" की एकदूसरे नीतिशास्त्रीय शब्द "शुभ" की सहायता से परिभाषा देना होता, और हमारी परिभाषा प्रकृतिवादी न होती।) परंतु मानकीय नीतिशास्त्र के एक सिद्धांत के रूप में इसके पक्ष-विपक्ष में जो भी कहा जा सके, "उचित" की एक परिभाषा के रूप में इसका पर्याप्त होना बहुत ही संदेहास्पद है। अनेक नीतिमीमांसक उपयोगितावाद को नहीं मानते। क्या उनका मत गलत ही नहीं बल्कि स्वतोव्याघाती भी है ? जब वे कहते हैं कि अमुक काम उचित तो है पर अधिकतम सुख को उत्पन्न करनेवाला नहीं है, तब क्या उनका मतलब यह होता है कि वह अधिकतम सुख का उत्पादक तो है पर अधिकतम सुख का उत्पादक नहीं है ? भले ही मानकीय नीतिशास्त्र के गैर-उपयोगितावादी सिद्धांत गलत हों, परिभाषा बनाकर उन्हें निकाल बाहर करना शायद ही संभव होगा। उपयोगितावादी स्वेच्छा से यह परिभाषा बना सकते हैं, पर गैर-उपयोगितावादी अवश्य ही उसे अस्वीकार कर देंगे। "उचित" की जो भी परिभाषा हो (यदि वह मिल सकती हो तो), उसकी ऐसी परिभाषा नहीं दी

जानी चाहिए जिससे उचित क्या है, इस बारे में बनाए गए किसी विशिष्ट सिद्धांत की सचाई के बारे में जांच से पहले ही कोई निर्णय हो जाए। कोई किसी विशेष सिद्धात को अपने शब्दों की ऐसी परिभाषा मात्र देकर सत्य नही बना सकता कि वह विश्लेषी बन जाए। यह बात उपयोगितावाद पर और, ऐसा प्रतीत होता है कि, मानकीय नीतिशास्त्र के प्रत्येक सिद्धांत पर लागू होगी। यदि नीतिशास्त्रीय शब्दो की परिभाषा दी जा सकती है तो परिभाषा ऐसी होनी चाहिए कि मानकीय नीतिशास्त्र के इस या उस सिद्धांत के गुण-दोषो का निर्णय उससे अछूता रहे।

२. **न-प्रकृतिवाद**—अब हम नीतिशास्त्रीय न-प्रकृतिवाद पर विचार करते है (जैसे कभी-कभी भ्रमवश "अंतःप्रज्ञावाद" कहा जाता है)। इस मत के अनुसार कम-से-कम कुछ नीतिशास्त्रीय शब्द ऐसे हैं जिनकी शब्दों के द्वारा परिभाषा नही दी जा सकती। भले ही "उचित" शब्द की परिभाषा दी जा सकती हो (पिछले पैरा में जो कहा गया है उसे ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होगा कि शायद उसकी परिभाषा नही दी जा सकती), जैसे यह कि वह जो "अधिकतम अच्छाई का उत्पादक" हो, कम-से-कम "अच्छा" की कोई परिभाषा नही दी जा सकती। गैर-नीतिशास्त्रीय शब्दो का कोई भी ऐसा समुच्चय नही है जिसके द्वारा इसका अनुवाद पर्याप्त हो (शायद "उचित" का भी)। जैसा कि हेनरी सिजविक ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ दि मेथड्स ऑफ इथिक्स मे लिखा है :

"हम 'चाहिए,' 'उचित' और इसी आधारभूत प्रत्यय को व्यक्त करनेवाले अन्य शब्दो की क्या परिभाषा दे सकते है ? इसका जवाब मुझे यह देना चाहिए कि इन शब्दो मे जो सामान्य प्रत्यय निहित है वह इतना सरल है कि कोई औपचारिक परिभाषा दी ही नही जा सकती।......जिस प्रत्यय की हम जांच करते रहे वह जिस रूप मे इस समय हमारे मन मे है उस रूप मे उसका विश्लेषण और अधिक सरल प्रत्ययो मे नही किया जा सकता : केवल उसे अधिक स्पष्ट ही किया जा सकता है और वह भी यथासभव यथार्थ रूप मे उन अन्य प्रत्ययों के साथ उसका संबंध निर्धारित करके जिनके साथ साधारण विचार-क्रिया मे वह जुड़ा होता है, विशेषतः उनके साथ जिनके साथ उसके एक समझ लिए जाने की गलती की जा सकती है।"[१]

---

१. लदन : मैकमिलन को ; १८७८, पृ० २३।

यदि आप कहें कि अमुक चीज के अमुक-अमुक परिणाम होते हैं, तो आप एक इंद्रियानुभविक कथन कर रहे हैं ; परंतु यदि आप कहें कि अमुक अमुक परिणामों का होना शुभ है तो आप एक बिल्कुल ही भिन्न बात कह रहे हैं जिसका किसी भी इंद्रियानुभविक वाक्य में अनुवाद नहीं किया जा सकता। यह कहना एक बात है कि क अमुक विशेषताओं से युक्त है (सुखद है, इष्ट है, वक्ता अथवा ईश्वर या बहुसंख्यक लोगों के द्वारा अनुमोदित है, इत्यादि); और यह कहना कि क शुभ है एक बिल्कुल ही भिन्न बात है। यह कहना कि क अच्छा है, वास्तव में क को वांछनीय बताने के (वांछित बताने के नहीं) लगभग तुल्य है ; परंतु "वांछनीय" "जिसकी इच्छा करनी चाहिए" का पर्याय है और "चाहिए" एक नीतिशास्त्रीय शब्द है। न-प्रकृतिवाद यह नही कहता कि नीतिशास्त्रीय शब्दों की अन्य नीतिशास्त्रीय शब्दों के द्वारा परिभाषा नही दी जा सकती—उदाहरणार्थ "वांछनीय" का "वह जिसकी इच्छा की जानी चाहिए" में अनुवाद किया जा सकता है और "उचित" का "वह जिसका अनुमोदन किया जाना चाहिए" में (जो कि यह कहने से बहुत भिन्न है कि उसका अनुमोदन किया जाता है)। परंतु यह तो एक नीतिशास्त्रीय शब्द की सहायता से परिभाषा देना मात्र है। न-प्रकृतिवाद यह कहता है कि कोई नीतिशास्त्रीय शब्दों की केवल गैर-नीतिशास्त्रीय शब्दों के द्वारा परिभाषा नहीं दे सकता—जैसे कालबोधक शब्दों की कोई ऐसे शब्दों के द्वारा परिभाषा नहीं दे सकता जिनका काल की ओर कोई संकेत न हो अथवा परिमाणबोधक शब्दों की ऐसे शब्दों के द्वारा परिभाषा नहीं दे सकता जो परिमाण की ओर कोई संकेत न करें। न-प्रकृतिवाद का सिद्धांत-वाक्य है "आप 'है' से 'चाहिए' को नहीं प्राप्त कर सकते।" "अच्छा", "उचित" और "चाहिए" जैसे शब्द नीतिशास्त्र में इतने आधारभूत हैं कि ऐसे अन्य शब्द हैं ही नही जिनके द्वारा इनकी परिभाषा दी जा सके : उनके ही पर्यायों से काम नहीं चलेगा, क्योंकि वे भी उतने ही आधारभूत नीतिशास्त्रीय शब्द हैं जितने वे जिनकी हम परिभाषा देने की कोशिश कर रहे हैं।

जी० ई० मूर (१८७४-१९५८) ने सभी प्रकृतिवादी सिद्धांतों का "विवृत-प्रश्न-प्रविधि" नामक एक प्रसिद्ध युक्ति के द्वारा खंडन करने का प्रयत्न किया था। एक नीतिशास्त्रीय शब्द का अर्थ आप किसी चीज के चाहे जिस गुणधर्म को बताएं, मूर के कथनानुसार, यह आपत्ति सदैव लागू होती है : कोई हमेशा

ही बात को सार्थक बनाए रखते हुए यह स्वीकार कर सकता है कि क में प्रश्नाधीन गुणधर्म अ है और इसके बावजूद वह इस बात से इन्कार कर सकता है कि वह अच्छा है अथवा इस बात में संदेह कर सकता है। कोई सदैव यह कह सकता है ; "मैं मानता हूँ कि क में यह गुणधर्म है (जिसके द्वारा आप "अच्छा" की परिभाषा देने की कोशिश कर रहे हैं), परंतु इसके बावजूद क्या क अच्छा है ?" मैं जानता हूँ कि यह व्यक्ति अत्यधिक सुखी है, परंतु इसके बावजूद क्या सुख (सदैव और सर्वत्र) अच्छा होता है ? मैं जानता हूँ कि यह आदमी ईमानदार है, परंतु क्या ईमानदारी अच्छी है ? शायद उत्तर "हाँ" हो ; परंतु यदि हो भी तो कोई इसका उत्तर "अच्छा" की अपनी पसंद की परिभाषा मात्र के आधार पर नहीं दे सकता, जिससे अन्य लोग बहुत ही ज्यादा असहमत हो सकते हों।

मूर का कथन है कि "अच्छा" शब्द असल में अन्य शब्दों के द्वारा अपरिभाष्य है, उसी तरह जिस तरह हमारी भाषा में "पीला" और "सुख" जैसे शब्द अन्य शब्दों के द्वारा अपरिभाष्य हैं। "अच्छा" का किसी भी "प्राकृतिक वस्तु" से अभेद करना मूर के अनुसार प्रकृतिवादी दोष है।

मान लो, कोई आदमी कहता है, "मैं सुखी हूँ," और मान लो, यह कोई झूठी बात नहीं है बल्कि सत्य है। अच्छा यदि यह सत्य है, तो इसका क्या मतलब है ? इसका मतलब यह है कि उसका मन, एक निश्चित मन, कुछ निश्चित लक्षणों से शेष सभी मनों से अलग पहचाना जानेवाला मन, इस क्षण एक निश्चित अनुभूति से, जिसे सुख कहते है, युक्त है। "सुखी" का अर्थ सुख से युक्त के अलावा कुछ नहीं है, और यद्यपि हम कम या अधिक सुखी हो सकते हैं और फिलहाल यह माना जा सकता है कि एक या दूसरे प्रकार के सुख की अनुभूति से भी युक्त हो सकते हैं, तथापि जहाँ तक हमारी अनुभूति सुख की है, चाहे वह कम हो या अधिक, और चाहे वह एक प्रकार की हो या अन्य प्रकार की, वहाँ तक वह एक निश्चित चीज है जो बिल्कुल अपरिभाष्य है, ऐसी जो मात्राओं के विविध होने के बावजूद और प्रकारों के विविध होने के बावजद सभी मात्राओं और सभी प्रकारों में अभिन्न बनी रहती है। हम यह कह सकते हैं कि वह अमुक प्रकार से अन्य चीजों से संबंधित है : उदाहरणार्थ यह कि वह मन के अंदर है, वह इच्छा को पैदा करती है, हमें उसकी चेतना होती है इत्यादि। मैं कहता हूँ कि हम अन्य चीजों के साथ उसका संबंध दिखा

सकते है, परतु परिभाषा हम उसकी नही बता सकते । और यदि कोई सुख की किसी अन्य प्राकृतिक चीज के रूप मे परिभाषा देने की कोशिश करता है, जैसे, यदि कोई कहे कि सुख का अर्थ है लाल का संवेदन और फिर इससे वह यह निष्कर्ष निकालता है कि सुख एक रंग है, तो हमे उसके ऊपर हँसने का और भविष्य मे सुख के बारे मे वह जो भी कथन करेगा उस पर अविश्वास करने का अधिकार होना चाहिए । यह वही दोष होगा जिसे मैंने प्रकृतिवादी दोष कहा है । यह बात कि "सुखी" का मतलब "लाल के सवेदन से युक्त" अथवा कोई भी अन्य चीज नही है, हमे उसका जो असली अर्थ है उसे समझने मे कोई रुकावट नही डालती । बस इतना जानना हमारे लिए काफी है कि "सुखी" का अर्थ अवश्य ही "सुख के सवेदन से युक्त" होता है, और यद्यपि सुख बिलकुल ही अपरिभाष्य है, यद्यपि सुख सुख है और सुख के अलावा कुछ भी नही है, तथापि हमे यह कहने मे कोई कठिनाई नही होती कि हम सुखी हैं ।[1]

परतु अब एक कठिनाई पैदा होती है : यह तो ठीक है कि "सुख" की अन्य शब्दो के द्वारा परिभाषा नही दी जा सकती, परंतु निदर्शनात्मक परिभाषा तो उसकी हम दे ही सकते है, और इसी तरह यह हमारी भाषा मे आया भी है तथा अनेक लोग इसी तरह इसका अर्थ भी समझते है । यह शब्द एक विशेष प्रकार के अनुभव का बोधक है जो वास्तव मे सभी को होता है । परतु "अच्छा" "पीला" और "सुख" से यह इस बात मे भिन्न प्रतीत होता है कि यह किसी अनुभव का बोधक नही है । किसी को ऐसा अनुभव जरूर हो सकता है जिसे हम "अच्छा महसूस करना" कहते है (जैसे तब जब हम स्वस्थ होते हैं, प्रसन्न होते हैं और शक्ति से भरपूर होते हैं), परतु नीतिशास्त्र मे "अच्छा" का यह अर्थ नही है ।

कोई कह सकता है कि "अच्छा" की भी निदर्शनात्मक परिभाषा दी जा सकती है : उन चीजो की ओर इशारा किया जा सकता है जो इस गुण से युक्त होती हैं । कोई इस ईमानदार आदमी की ओर, उस परोपकार के काम इत्यादि की ओर इशारा कर सकता है । शायद; परतु वह गुण क्या है जो इशारे से बताई जानेवाली सब चीजो मे समान है ? वे अच्छी किस बात मे हैं ? यह गुण क्या है (या वे गुण क्या हैं), इस चीज को लेकर क्या लोगो मे बहुत

---

१. प्रिंसिपिया इथिका (लंदन : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९०३), पृ० १२-१३ ।

अधिक मतभेद नहीं होगा ? एक आदमी दयालुता की ओर इशारा कर सकता है, दूसरा उदासीनता या शत्रुता की ओर (अथवा उन चीजो या परिस्थितियों की ओर जिनमे ये गुण मिलते है) कर सकता है। और यदि कोई ईमानदारी इत्यादि के उदाहरणो की ओर इशारा करता है तो वह यह कैसे सिद्ध कर पाएगा कि ये अच्छाई के भी उदाहरण है ? इस तरह "अच्छा" के साथ एक कठिनाई है जो "पीला" और "सुख" के साथ नही है : "पीला" और "सुख" की भले ही लोग परिभाषा न दे सके, पर इनके अर्थ के बारे मे उनमे सहमति तो है। लेकिन नीतिशास्त्रीय चर्चाओ मे "अच्छा" शब्द का जिस रूप मे प्रयोग होता है उसमे यह बात नही है, और यह एक सर्वविदित तथ्य है।

परंतु यदि नीतिशास्त्रीय वाक्य एक ऐसा अर्थ रखते हैं जिसका अ-नीतिशास्त्रीय वाक्यो मे अनुवाद नही किया जा सकता, तो वह अर्थ है क्या ? वह किसी भी अन्य प्रकार के वाक्य के अर्थ से बस भिन्न है। "समय," "घटना," "पहले" और अन्य कालबोधक शब्दो का प्रयोग करने वाले वाक्यो का अर्थ-परिवर्तन के बिना ऐसे वाक्यो मे अनुवाद नही किया जा सकता जिनमे कोई कालबोधक शब्द न हो : कालिक विधेय बेजोड होते है और किन्ही अन्य विधेयो मे नही बदले जा सकते। इसी प्रकार "सख्या" "जोड" और "बराबर" इत्यादि शब्दो का प्रयोग करनेवाले गणितीय वाक्य किन्ही अ-गणितीय वाक्यो मे नही बदले जा सकते (इनमे से कुछ शब्दो का गणित के क्षेत्र के अंदर के ही अन्य वाक्यो मे अनुवाद किया जा सकता है, परतु अ-गणितीय वाक्यो मे नही)। यही बात अनेक अन्य वाक्यो पर भी लागू होती है। इसी तरह, नीतिशास्त्रीय वाक्यो का अ-नीतिशास्त्रीय वाक्यो से भिन्न अर्थ होता है, और उनका किन्ही अन्य वाक्यो मे अनुवाद करने की—चाहे वे इंद्रियानुभविक हो, ईश्वरपरक हो या कोई और हो, कोशिश करना उस अर्थ के साथ ज्यादती करना होगा। वे अद्वितीय है, और नीतिशास्त्रीय शब्दो के साथ छेड छाड न करके (उन्हे हटाकर उनकी जगह मे अ-नीतिशास्त्रीय शब्दो को लाने की कोशिश न करके) ही हम इस अद्वितीयता को सुरक्षित बनाए रख सकते है।

कोई कहेगा कि यह तो सब बहुत अच्छा है ; पर फिर भी क्या नीतिशास्त्रीय वाक्यो के बारे मे (और अन्य मूल्याकनात्मक वाक्यो के बारे मे भी) एक ऐसी कठिनाई नही है जो अन्यो के प्रसग मे नही पैदा होती ? नीतिशास्त्रीय वाक्य होते किसके बारे मे है ? वे प्रश्नाधीन काम क के प्रति

वक्ता की अनुमोदन की भावना के बारे मे नही हैं, न किसी और भावना या अभिवृत्ति के बारे मे हैं, न क के प्रति ईश्वर के दृष्टिकोण के बारे मे हैं, न क के परिणामो के बारे मे, और न हमारी कल्पना मे आ सकनेवाले क के किसी और गुण के बारे मे है। न-प्रकृतिवादी कहता है कि यह सही है कि वे इनमे से किसी भी चीज के बारे में नही होते : वे इस बारे में होते हैं कि शुभ या अच्छा क्या है, मूल्यवान् क्या है, उचित क्या है, हमें क्या करना चाहिए, किसी की किस बात के लिए प्रशसा की जानी चाहिए, कोई किस बात के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी होता है, इत्यादि। २०० वर्ष पूर्व बिशप बटलर ने कहा था, "एक चीज वही होती है जो वह है · कोई और चीज नहीं"। अच्छाई अच्छाई है, और कुछ भी नही। नीतिशास्त्र स्वतन्त्र है, किसी और शास्त्र मे उसे परिवर्तित नही किया जा सकता।

फिर भी, समस्या सुलझी नहीं। एक नया रास्ता अपनाते हुए हम पूछ सकते हैं कि कोई जैसे यह जाने कि नीतिशास्त्रीय प्रतिज्ञप्तिया सत्य है ? हम जानते हैं कि हम कैसे इस तरह की कालसबधी प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता का पता लगाते हैं जैसे "वह उससे पहले पहुँच गया"। हम जानते हैं कि हम कैसे इस तरह की गणितीय प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता जानते है जैसे "६ × ३ = ६ + ६ + ६"। परतु हमें इस बात का पता कैसे करना है कि नीतिशास्त्रीय प्रतिज्ञप्तिया सत्य है ? जब लोगो में उनको लेकर असहमति होती है तब असहमति को दूर कैसे करना है ?

यहाँ कुछ न-प्रकृतिवादियो ने कुछ इस तरह की बात कही है "कोई ऐंद्रिय प्रेक्षण और कोई गणितीय या तार्किक परिकलन ऐसा नही है जिसमे हमें नीतिशास्त्रीय प्रतिज्ञप्तिया की सत्यता जानने में सहायता मिले। हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि उन्हें सावधानी से सब अन्य प्रतिज्ञप्तियो से (विशेषत उन इद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियो से जिनसे उनके अभिन्न समझे जाने की गलती की जा सकती है) अलग पहचान लें और तब उनके ऊपर विचार करके यह देख लें कि क्या विचार के पश्चात् हम विश्वास करते हैं कि वे सत्य हैं।"[1] कुछ लोगो ने तो और भी आगे बढकर यह कह डाला है कि हम अत प्रज्ञा से जान सकते हैं कि वे सत्य हैं (इसीलिए न-प्रकृतिवाद के सभी

१. देखिए जी० ई० मूर, पूर्वाद्धृत ग्रथ, अध्याय १।

रूपों के साथ गलती से "नीतिशास्त्रीय अंतःप्रज्ञावाद" नाम जुड़ गया है)। लेकिन ये दोनों ही उपाय कठिनाइयों से भरे हुए हैं। "विचार" (जो भी यथार्थतः इसमें शामिल हो) और "अंतःप्रज्ञा" दोनों ज्ञान-प्राप्ति के बहुत ही संदेहास्पद साधन है, जैसा कि अंतःप्रज्ञा-विषयक हमारी चर्चा (पृ० २०१-५) से सिद्ध हो चुका है, और इससे सभी प्रकार की परस्पर-विरोधी अंतःप्रज्ञाओं के लिए रास्ता खुल जाता है, जिनकी सत्यता या असत्यता कभी निश्चित नहीं हो सकती। क्या यही बात को छोड़ दें ? शायद हम कुछ और कर भी नहीं सकते, परंतु क्या यह निराशा की अवस्था में दिया जानेवाला परामर्श नहीं है ?

अन्य लोगो ने न-प्रकृतिवादी होते हुए भी यह कहा है कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का किसी अन्य प्रकार के वाक्यो मे अनुवाद तो नही किया जा सकता, पर उनमें से कुछ को स्वीकार करने और अन्यों को अस्वीकार करने के लिए अच्छे हेतु दिए जा सकते हैं।[1] लेकिन यह मत भी कठिनाइयो से रहित नही है। अच्छा हेतु क्या होता है, यह निर्धारित करने की क्या कसौटी है ? यदि यह कहने के लिए कि "उसका बटुआ चुराना अनुचित है" "क्योंकि इससे उसे अनावश्यक कष्ट होगा" एक अच्छा हेतु है और "क्योंकि तुम पकड़े जा सकते हो" अच्छा हेतु नही है (कम-से-कम एक नैतिक हेतु नही है), तो ऐसा क्यो ? और कोई इस बात को जानेगा कैसे ? वास्तव में कोई यह तब तक जान ही कैसे सकता है कि क ख में विश्वास करने के लिए एक अच्छा हेतु है जब तक वह पहले से ही यह न जानता हो कि ख का क्या अर्थ है ? यहाँ हम इस विचार-धारा को और आगे नहीं बढ़ा सकते, पर शायद यह दिखाने के लिए काफी कहा जा चुका है कि न-प्रकृतिवाद की समस्याएँ (प्रकृतिवादी विश्लेषण का विरोध करने मे उसकी जो भी अच्छाइयाँ हों) इस नई युक्ति से समाप्त नही हुई है।

३. निस्संज्ञानवाद—नीतिशास्त्रीय वाक्यो का अभी एक और विश्लेषण बाकी है जिसे निस्संज्ञानवाद कहते है (कभी-कभी "संवेग-सिद्धांत" भी इसे कहते हैं)। इसके अनुसार नीतिशास्त्रीय वाक्यो का मुख्य कार्य प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करना है ही नही। जब कोई कहता है "क अच्छा है" तब वह किसी बात का अभिकथन नही कर रहा होता, हालाँकि वाक्य अभिकथन जैसा लगता है। "बर्फ सफेद है" और "राम प्रसन्न है" ऐसे वाक्य हैं जिनका

---

१. उदाहरणार्थ, देखिए, स्टीफेन टूलमिन, दि प्लेस ऑफ रीजन इन एथिक्स।

प्रयोग किसी बात का अभिकथन करने के लिए किया जाता है (ये प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करते हैं जो सत्य या असत्य होती है), पर "झूठ बोलना अनुचित है" किसी भी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त नही करता और वक्ता इसका प्रयोग किसी बात का अभिकथन करने के लिए नही करता । यह इस प्रतिज्ञप्ति तक को व्यक्त नही करता कि वक्ता झूठ का अनुमोदन नही करता । नीतिशास्त्रीय वाक्यो (नीतिशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग करनेवाले वाक्यो) की बात कही जा सकती है, पर नीतिशास्त्रीय प्रतिज्ञप्तियो की नही, क्योंकि कोई नीतिशास्त्रीय वाक्य प्रतिज्ञप्तियो को व्यक्त नही करते ।

यदि नीतिशास्त्रीय वाक्य प्रतिज्ञप्तियो को व्यक्त नही करते तो क्या करते है ? उनका कार्य वक्ता की अनुभूतियो और अभिवृत्तियो को प्रकट करना होता है । इस दृष्टि से वे रोने, कराहने और हर्ष प्रकट करनेवाली आवाजो से भिन्न नही होते—ये भी मानवीय अभिव्यक्तियाँ है, पर ये प्रतिज्ञप्तियो को व्यक्त नही करते और किसी बात का अभिकथन करने के लिए इनका प्रयोग नही किया जाता । इनका प्रयोग भावों को बाहर निकालने के लिए किया जाता है पर कुछ कहने के लिए (यहाँ तक कि स्वयं अपने भावों के बारे मे कुछ कहने के लिए भी) नही । मैं उन वाक्यो का प्रयोग प्रसन्नता या क्रोध इत्यादि को प्रकट करने के लिए करता हूँ और इससे लोग कभी-कभी यह अनुमान कर सकते है कि मैं सबधित चीज के बारे में क्या महसूस करता हूँ जबकि मैं स्वयं कोई अभिकथन नही करता—ठीक वैसे ही जैसे मैं आपके कराहने से यह अनुमान करता हूँ कि आप कैसा महसूस करते है या कुत्ते के दुम हिलाने से उसके प्रसन्न होने का अनुमान करता हूँ । मेरा उद्गार आपको अनुमान करने के लिए एक टिकट दे देता है लेकिन किसी अभिकथन के द्वारा नही । अनुमान अभिकथनो के अतिरिक्त और भी अनेक बातो से किए जा सकते हैं ।

इस मत को नीतिशास्त्रीय प्रकृतिवाद के आत्मकथापरक प्रकार से एक समझने की भूल नही करनी चाहिए । एक अभिवृत्ति या अनुभूति को प्रकट करना और यह कहना कि आपकी अमुक अभिवृत्ति या अनुभूति है एक ही बात नही है । "अहा !" हर्ष को प्रकट करता है, पर "मुझे हर्ष हो रहा है" एक आत्मकथापरक वाक्य है जो यह कहता है कि वक्ता को एक अनुभूति हो—रही है । वक्ता दूसरे का प्रयोग एक प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए करता

है, पर पहले का नही। लेकिन श्रोता पहले शब्द का और दूसरे शब्द समुच्चय का भी प्रयोग वक्ता की अनुभूति के बारे मे अनुमान करने के लिए कर सकता है।

यदि मैं किसी से कहता हूँ कि "तुमने वह रुपया चुराकर गलत काम किया" तो मैं इससे अधिक कुछ नही कह रहा हूँ कि "तुमने वह रुपया चुराया"। यह अतिरिक्त बात कि यह काम गलत है इसके बारे मे अधिक कुछ नही बताती। इससे मैं सिर्फ उस काम के अपने नैतिक अननुमोदन को व्यक्त कर रहा हूँ। बात ऐसी है जैसे कि मानो मैंने एक विचित्र घृणासूचक लहजे मे "तुमने वह रुपया चुराया" कहा हो या इस वाक्य को एक विशेष विस्मयादिबोधक चिह्न लगाकर लिखा हो। वाक्य के शाब्दिक अर्थ मे उस लहजे से या उस विशेष चिह्न से कोई वृद्धि नही होती। वह केवल यह प्रकट करने का काम करता है कि उस वाक्य के साथ वक्ता को एक विशेष अनुभूति होती है।[1]

पर यह जरूरी नही है कि निस्सज्ञानवादी अपने को यह मानने तक ही सीमित रखे कि नीतिशास्त्रीय वाक्य वक्ता की केवल अनुभूतियो या अभिवृत्तियो को व्यक्त करने का ही काम करते है। वह यह भी मान सकता है कि उनका प्रयोग श्रोताओ के अदर अनुभूतियो या अभिवृत्तियो को जगाने के लिए किया जा सकता है, जैसे तब जब माँ अपने बच्चे से "झूठ बोलना गलत बात है" झूठ के प्रति अपनी अभिवृत्ति प्रकट करने के लिए उतना नही कहती जितना बच्चे के अदर झूठ के प्रति एक प्रतिकूल अभिवृत्ति भरने के लिए। *नीतिशास्त्रीय शब्दो और वाक्यो का प्रचार के लिए जो प्रयोग किया* जाता है वह प्राय. भावनाओ को व्यक्त करने के बजाय उन्हे उभाडने वाला होता है—असल मे यह भी हो सकता है कि (सबधित वस्तु के प्रति) वक्ता की वह अभिवृत्ति हो ही नही जो वह श्रोताओ के अदर पैदा करना चाहता है। यह भी जरूरी नही है कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो को रोना, कराहना, चीख मारना इत्यादि के समकक्ष समझा जाए : उन्हे आदेश भी समझा जा सकता है। इस प्रकार "चोरी करना अनुचित है" को "चोरी मत करो!" के तुल्य माना जा सकता है जो एक आदेश होने से न सत्य है और न असत्य।

---

१. ऐल्फ्रेड जे० एयर, लैंगुएज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक, पृ० १४८।

नीतिशास्त्रीय वाक्यों का प्रयोग भावनाएँ प्रकट करने, भावनाएँ पैदा करने, आदेश देने, सुझाव देने, प्रार्थना करने, फुसलाने तथा अनेक तरह-तरह की चीजें करने के लिए किया जा सकता है—और ये सारी चीजें निस्संज्ञानवादी सिद्धांत से समान रूप से संगति रखती हैं, क्योकि इन सबमे समान निस्संज्ञानवाद में अनन्य रूप से पाई जानेवाली यह निषेधात्मक विशेषता है कि उनका प्रयोग किसी प्रतिज्ञप्ति को प्रकट करने के लिए नही किया जाता।

तो यह हुआ निस्संज्ञानवाद का विशुद्ध रूप। परंतु आजकल असल में कोई भी विशुद्ध निस्संज्ञानवादी नही है। निस्संज्ञानवाद को उन अन्य अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धातो के साथ मिला दिया गया है जिनका हम पहले ही वर्णन कर चुके है। इस प्रकार कोई यह कह सकता है कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का प्रयोग अभिवृत्तियो को व्यक्त करने और पैदा करने के लिए किया जाता है पर कुछ तथ्यो को बताने के लिए भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, "क उचित है" का अनुवाद "मैं क का अनुमोदन करता हूँ ; ऐसा करना भी है" मे किया जा सकता है।[1] पहला भाग एक प्रकृतिवादी परिभाषा है (आत्मकथापरक परिभाषा), जिसके अनुसार इस वाक्य का प्रयोग वक्ता के बारे मे एक तथ्य को बताने के लिए किया जाता है ; दूसरा भाग निस्संज्ञानवादी अर्थ रखता है और एक आदेश है (जो न सत्य है और न असत्य)।

वास्तव मे, जब तथ्य बता दिया जाता है तब इस बात से इन्कार करना कठिन हो जाता है कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का प्रयोग वक्ता की अभिवृत्तियों को प्रकट करने, श्रोता के अंदर अभिवृत्तियां पैदा करने, इत्यादि के लिए किया जाता है। इस बात का विश्वास प्राप्त करने के लिए कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का यही प्रयोग किया जा रहा है (कम-से-कम इन अवसरो पर) जरूरत केवल माता-पिताओं को अपने बच्चो की शिक्षा मे उनका प्रयोग करते हुए देखने की है—और यही बात प्रौढो की आपसी बातचीत मे ("मैं नही समझता कि आपको ऐसा करना चाहिए—यह गलत है" इत्यादि), एक के दूसरे को समझाने-बुझाने में, और दूसरे का उल्टे पहले को

१. सी० एल० स्टीवेंसन, इथिक्स ऐंड लैंगुएज (न्यू हैवन, कॉन० : येल यूनि०सिटी प्रेस, १९४४), पृ० २१।

समझाने-बुझाने मे, एक-दूसरे को प्रभावित करने की कोशिशो मे, अपनी ही अभिवृत्तियो को व्यक्त करने तथा दूसरो की अभिवृत्तियो को प्रभावित करने के खेल मे नीतिशास्त्रीय वाक्यो को पासो की तरह इस्तेमाल करने मे लागू होती है। यह बात बिल्कुल साफ लगती है कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का प्राय इस तरह प्रयोग किया जाता है ; यह भी लगभग उतना ही साफ है कि प्रधानत उनका इस तरह प्रयोग किया जाता है। जब एक बच्चा नीतिशास्त्रीय शब्दो का और वाक्यो का प्रयोग करना सीखता है, तब वह अच्छी या बुरी, उचित या अनुचित कहलाने वाली क नामक चीज के गुणो के बारे मे कुछ नही सीखता। वह केवल यह जानता है कि जिसे "बुरी" कहते हैं वह एक ऐसी चीज है जो उसे नही करनी है, और कि सबधित वाक्य का उच्चारण करते हुए घृणा या निंदा की उपयुक्त अभिव्यक्ति करनी है।

तो क्या हम सभी को निस्सज्ञानवादी हो जाना है ? नही ; यह मानने से कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का इस रूप मे प्रयोग किया जाता है, हम निस्सज्ञानवाद से नही बध जाते, बल्कि केवल इस निष्कर्ष से बध जाते हैं कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो के अर्थ मे एक निस्सज्ञानात्मक अश होता है। कोई निस्सज्ञावादी है या नही है (विशुद्ध नही बल्कि मिश्रित या सशोधित), यह बात इसपर निर्भर नही है कि वह यह विश्वास करता है या नही कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का भावनाएँ व्यक्त करने या उन्हे जाग्रत करने के लिए प्रयोग होता है, बल्कि इसपर निर्भर है कि वह यह विश्वास करता है या नही कि यह निस्सज्ञानपरक कार्य मुख्य है। यह माननेवाला कि नीतिशास्त्रीय वाक्यो का मुख्य कार्य निस्सज्ञानपरक है निस्सज्ञानवादी ही है, भले ही वाक्य क की कुछ विशेषताओ को बताने का गौण कार्य भी करता हो। आप यह मान सकते हैं कि "चोरी करना ठीक नही है" (१) वक्ता की चोरी के प्रति जो अभिवृत्ति है उसे व्यक्त करता है और (२) चोरी करने के कुछ परिणामो को भी बताता है , परतु सज्ञानात्मक अश (दूसरा) के बावजूद आप तब तक निस्सज्ञानवादी ही रहेगे जब तक आप यह मानते रहेगे कि पहला कार्य मुख्य है : अर्थात् यदि आपका यह विश्वास हो कि वक्ता उस अवस्था मे अपने कथन को वापस ले लेगा जब वह उसका प्रयोग चोरी के प्रति अपनी अनुमोदन की अभिवृत्ति को व्यक्त करने के लिए नही करता होगा, भले ही चोरी करने के परिणामो (वर्णनात्मक अश) के प्रति उसकी धारणा मे कोई परिवर्तन न हुआ हो।

कहना छोड़ देंगे) और (२) कम-से-कम अव्यक्त रूप से यह कह रहे होते हैं कि हूबहू क के सदृश कोई भी अन्य चीज अथवा मुख्य बातों में उससे मिलती-जुलती चीज भी अच्छी होगी—अर्थात् हम यह नहीं कह सकेंगे कि क अच्छा है पर क के हूबहू समान कोई अन्य चीज अच्छी नही है। यदि हम ऐसा कहें तो हम स्वतोव्याघात के दोषी होंगे, क्योंकि यह कहना कि क अच्छा है अव्यक्त रूप से यह कहना है कि हूबहू क के समान अन्य चीजें (अथवा मुख्य बातों में उसके समान अन्य चीजें) भी अच्छी हैं : हम व्याघात के बिना एक को स्वीकार और दूसरी को अस्वीकार नहीं कर सकते।[1] यह कहना कि क अच्छा है अप्रकट रूप से एक विशेष प्रकार की सब चीजों के बारे में एक सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति का कथन करना है। "अच्छा" के अर्थ के अंदर ही एक सर्वव्यापीकरणीयता शामिल होती है। हम इस अध्याय में बाद में सर्वव्यापी-करणीयता के बारे में कुछ और बातें बताएंगे।

२८. अच्छाई (शुभत्व) के सिद्धांत

हमारे अधिनीतिशास्त्रीय निष्कर्ष चाहे जो हों, अब हम मानकीय नीतिशास्त्र की ओर ध्यान देते है। नीतिशास्त्रीय शब्दों के अर्थों के बारे में छानबीन करने के बजाय हम यह विचार करेंगे कि किन चीजो के लिए उनका प्रयोग किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिको में "अच्छा" शब्द (तथा अन्य नीतिशास्त्रीय शब्दों) के कम-से-कम कुछ वस्त्वर्थों के बारे में कम मतभेद है और उससे कही अधिक मतभेद उसके गुणार्थ के बारे में है। (यह स्थिति पहले हमारे सामने पृ० ७४ पर आ चुकी है।)

इस परिच्छेद में हम "किस प्रकार की चीजें अच्छी हैं ?", इस प्रश्न को लेकर कुछ मतों पर विचार करेंगे (अच्छाई के सिद्धांत), और अगले परिच्छेद में हम "हमें किस प्रकार के कर्म करने चाहिए ?", इस प्रश्न को लेकर कुछ मतो पर विचार करेंगे (आचरण के सिद्धात)। परंतु इस बात की छानबीन करने से पहले कि किन चीजो को अच्छी और किनको बुरी कहा जा सकता है और क्यो, प्रारंभ मे ही मूल्य के बारे मे कुछ प्रश्न पूछ लेना उपयोगी होगा।

---

१. देखिए, हेयर, फ्रीडम ऐंड रीजन, अध्याय २। (हम प्रभावी परिभाषा की चर्चा पृ० ८३-८४ में कर चुके हैं।)

"मूल्य" की सनोषप्रद परिभाषा देने की कोशिश करना अप्रत्याशित रूप से कठिन और पेचीदा काम है जिसे करने के लिए यहां स्थान नही है। यह मूल्यमीमासा से सबध रखता है जिसकी नीतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र विशेष शाखाएँ हैं।

अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इस बारे मे कोई निर्णय तब होते ही नही यदि लोग कुछ चीजो का कुछ अन्य चीजो से अधिक मूल्य न आकते। सबसे सरल अर्थ मे, किसी चीज को मैं मूल्यवान् समझता हूँ यदि म उसे पसद करता हूँ या किसी अन्य चीज से अधिक चाहता हूँ। कुत्ता हड्डी का घास से अधिक मूल्य मानता है, पर गाय से लिए घास का हड्डी से अधिक मूल्य होता है। कुछ लोग निश्चितता से अधिक महत्व हलचल को देते है, अन्य निश्चितता को हलचल से अधिक चाहते हैं। किसी चीज को मूल्यवान् समझने के लिए यह जरूरी नही है कि कोई मूल्यात्मक निर्णय व्यक्त किया जाए बिल्ली क्रीम को मूल्यवान् समझती है, परतु प्रकटतः कोई निर्णय क्रीम के मूल्य के बारे मे व्यक्त नही करती। लेकिन मूल्याकन के लिए चेतना का होना जरूरी है, क्योकि किसी चीज को पसद करना या चाहना एक चेतन अवस्था होती है। इस प्रकार मूल्य का सप्रत्यय जीवो से शून्य किसी ग्रह मे लागू नही होगा, वह केवल तब लागू होता है जब रुचियां रखनेवाले— पसद और नापसद, अनुभिवृत्ति और प्रत्यभिवृत्ति वाले— चेतन प्राणी होते हैं। बिल्कुल ही आदिम अर्थ मे, "मैं इसे मूल्यवान समझता हूँ" लगभग यह कहने के बराबर है कि "मैं इसे चाहता हूँ," "मैं इसे अधिक पसद करता हूँ।'

लेकिन एक और अर्थ मे भी हम मूल्य की बात करते है जिसमे अधिक पसद करने की जैसी चेतन अवस्था विद्यमान नही होती। हम कहते है कि स्वास्थ्य एक आदमी के लिए मूल्यवान् है, भले ही वह ऐसा काम करता हो जिससे वह कमजोर या नष्ट हो जाए। हम कहते हैं कि शराब पीने की आदत उसके लिए अनिष्टकारी है, हालाकि आदमी उसे कायम रखना पसद करता है। हम एक छात्र को कहते है कि "समय नष्ट करने के बजाय जमकर अध्ययन करना तुम्हारे लिए मूल्यवान् है," हालाँकि छात्र आवारागर्दी करना अधिक पसद करता है। आपके लिए किसी लक्ष्य की प्राप्ति मे जो चीज मूल्यवान् है वह अनिवार्यत वह चीज नही होती जिसे आप अधिक पसद करते हैं। वह जिसका कोई मूल्य समझता है (व्यक्तिनिष्ठ रूप मे) एक बात है और वह

जिसका उसके लिए मूल्य है (वस्तुनिष्ठ रूप से) एक भिन्न बात है। यहाँ तक हमने "मूल्य" के दो अर्थों में भेद किया है : (१) पसंद या तरजीह, और (२) वह जो पसंद या तरजीह से स्वतंत्र रूप से किसी लक्ष्य के लिए उपयोगी होता है।

क्या मूल्य का संप्रत्यय पेड़-पौधों पर लागू होता है ? हाँ, दूसरे अर्थ में : पौधे के लिए उसके जीवन की रक्षा में मिट्टी, नमी और ताप मूल्यवान् होते हैं, क्योंकि इन चीजों के बिना पौधा मर जाएगा। पौधे प्रयोजनमूलक व्यवहार प्रदर्शित करते हैं, हालाँकि अनुमानतः उन्हें लक्ष्यों की कोई कल्पना नहीं होती। परंतु पहले अर्थ में, नहीं : चेतना जैसे पशुओं में होती है वैसे पौधों में नहीं होती (जहाँ तक हमारी जानकारी है), इसलिए उनके अंदर पसंद और तरजीह नहीं होती।

पौधे और मनुष्येतर प्राणी इस तरह काम करते हैं जैसे कि उन्हें इस बात की चिंता हो कि उनकी सक्रियता बनी रहे। परमाणु और अणु तक अन्य घटनाओं के प्रभावों के प्रति उदासीनता, आकर्षण और विकर्षण के व्यवहार में से एक के चुनाव की प्रवृत्ति प्रदर्शित करते है। कुछ चीजों के संबंध में उनकी भूख लोलुपता की सीमा तक तीव्र होती है ; अन्यों की उपस्थिति में वे मंद और ठंडे होते हैं। इस बात मे कोई आश्चर्य नहीं है कि आदिम विज्ञान ने सब प्राकृतिक प्रक्रियाओं के पीछे एषणाओं को माना था।····· मनोवैज्ञानिक अर्थ में न सही, पर एक सच्चे अर्थ में प्राकृतिक चीजें तरजीह और केंद्रवत्ता प्रदर्शित करती है।[1]

परंतु कहानी अभी पूरी नहीं हुई। कुछ चीजें स्वास्थ्य के लिए मूल्यवान् होती हैं, कुछ काम में सफलता के लिए, कुछ मानसिक शांति के लिए। प्रत्येक संदर्भ में क्या चीजें मूल्यवान् है, यह बात व्यक्ति-व्यक्ति के लिए कुछ भिन्न होती है, परंतु प्रत्येक मामले मे वे जगत् के ऐसे तथ्य है जिनका हमारी पसंदों से स्वतंत्र अस्तित्व होता है। लेकिन यह आपत्ति की जा सकती है कि हमने अभी तक यह नहीं दिखाया है कि ये चीजें (स्वास्थ्य, काम में सफलता इत्यादि) स्वयं मूल्यवान् है : हमने केवल इतना दिखाया है कि कुछ चीजें कुछ अन्य चीजों की प्राप्ति के साधन है। पर हमें उन अन्य चीजों के बारे में

---

१. जॉन ड्यूई, ऐक्सपीरियन्स ऐंड नेचर (न्यूयार्क: डोवर पब्लिकेशन्स) पृ० २०३।

क्या कहना है ? उपयुक्त आहार स्वास्थ्य-प्राप्ति का साधन है ; लेकिन क्या स्वास्थ्य मूल्यवान् है ? हम सभी यह मान बैठते है कि है, पर इस बात को सिद्ध कैसे किया जा सकेगा ? स्वास्थ्य वस्तुतः किसी और चीज के लिए, जैसे सुख या मानसिक शांति के लिए, साधन के रूप में मूल्यवान् हो सकता है ; पर तब हम कैसे सिद्ध करेंगे कि ये अन्य चीजें स्वयं भी मूल्यवान् है ? यहाँ तक "मूल्य" के जिस "वस्तुनिष्ठ" अर्थ का हमने विचार किया है— अ ब की प्राप्ति के लिए मूल्यवान् है—वह घटकर इस इंद्रियानुभविक कथन मात्र के बराबर रह जाता है कि अ ब का साधन है (ब की एक अनिवार्य उपाधि है या कम-से-कम ब की प्राप्ति में सहायक है) । यदि आप ब को लक्ष्य बनाते है, तो अ उसका साधन है, और इसलिए उसकी प्राप्ति में मूल्यवान् है ; परंतु यदि आप द को लक्ष्य बनाते है तो चीजों का एक भिन्न समुच्चय, स, द की प्राप्ति मे मूल्यवान् होगा । लेकिन क्या ऐसी चीजें नही है जो निरपेक्ष रूप से, जो भी हमारा लक्ष्य हो उससे कोई संबंध रखे बिना, मूल्यवान् होती हो ? क्या किसी चीज की मूल्यवत्ता सदैव किसी लक्ष्य की सापेक्ष होती है ? ऐसा प्रतीत होगा कि यहाँ हम "मूल्य" का एक और अर्थ में प्रयोग कर रहे है : (३) वह जो स्वतः, किसी भी लक्ष्य से कोई संबंध रखे बिना, मूल्य रखता है । यदि इस अर्थ में कोई चीज मूल्य रखती है तो वह मात्र इस अर्थ मे मूल्यवान् नही है कि वह किसी अन्य चीज की साधक है बल्कि मूल्यवान् है बस, न कि प्रश्नाधीन लक्ष्य की अपेक्षा से । लेकिन क्या कोई चीज इस अर्थ मे मूल्यवान् होती है ? अधिकतर दार्शनिको ने इस सवाल का जवाब हाँ में दिया है, हालांकि इस बारे में वे सदैव एकमत नही रहे कि किन चीजों का इस प्रकार का मूल्य होता है ।

स्वतः अच्छा और साधन-रूप में अच्छा—इन दार्शनिकों ने कहा है कि कुछ चीजे स्वयं अपने हेतु मूल्यवान्, वांछनीय, उपयोगी, अच्छी होती है, जबकि अन्य चीजें केवल इन चीजो की प्राप्ति के साधन होने से मूल्यवान् होती है । (यह जरूरी नही है कि वे नैतिक दृष्टि से अच्छी हों—यह सवाल बाद का है ।) यदि आपको ऐसी चीजों की एक सूची बनानी हो जिन्हें आप वांछनीय, उपयोगी या अच्छी समझते है तो इसमें इस तरह की चीजें आ सकती हैं जैसे सुरक्षा, शांति, धन, सुख या प्रसन्नता या आनंद, ज्ञान, ईमानदारी, दयालुता, बुद्धिमत्ता, स्नेह, सौंदर्य । लेकिन ये सब चीजें एक ही प्रकार की नहीं होंगी ।

आप इन सबकी कामना कर सकते है, परंतु समान रूप से नही : इनमे से कुछ की कामना आप केवल उन्हीं के लिए करते है (किसी अन्य चीज के साधन के रूप मे नही), और कुछ की कामना आप इसलिए करते हैं कि उनकी सहायता से आप उन चीजो को प्राप्त कर सकते हैं जिनकी कामना आप उन्ही के हेतु करते हैं। यदि आप समझते है कि धन अच्छी चीज है तो वह अच्छा केवल उन अन्य चीजो की वजह से है जिन्हे आप उसकी सहायता से प्राप्त कर सकते हैं : भौतिक सुविधाएं, एकरसता से मुक्ति, भविष्य-संबंधी कुछ भयो से छुटकारा, शाति और सुख की प्राप्ति। यदि धन से इनमे से कोई चीज प्राप्त न हो सके तो धनवान् होने का कोई लाभ नही है। धन मे जितनी भी अच्छाई है वह स्पष्टत. उसके साधन होने से है। हम उसकी कामना स्वय उसके लिए नही करते बल्कि केवल उन अन्य चीजो के लिए करते हैं जिनकी उसके द्वारा हमें प्राप्ति होगी। रौबिन्सन क्रूसो के लिए वह बिल्कुल व्यर्थ था।

क्या ये सब चीजे जो धन से प्राप्त होती हैं स्वत. मूल्यवान् है? उन भौतिक सुविधाओ के बारे मे क्या कहना है जो धन से खरीदी जा सकती हैं—क्या वे स्वत वाछनीय हैं? बिल्कुल नही · यदि हमसे पूछा जाए कि हम उनकी कामना क्यो करते है तो हम जवाब मे यह कह सकते हैं कि उनसे हमारा जीवन अधिक सुखी हो जाएगा। हम उन्हे भी किसी और चीज के लिए चाहते है। सुख के बारे मे हमे क्या कहना है? ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक ऐसी चीज है जिसको हम उसीके हेतु मूल्यवान् समझते हैं। हम अन्य चीजो को अधिक सुखी होने के लिए चाहते है, पर सुख एक ऐसी चीज है जिसको हम स्वय उसीके हेतु चाहते है। यदि कोई यह पूछे कि "आप सुखी किसके लिए होना चाहते है?" तो हमे ऐसा महसूस होगा कि यह प्रश्न अटपटा है और शायद हमे इसका उत्तर ही न सूझे। हम किसी भी अन्य चीज के हेतु सुख की कामना नही करते—हम सुखी होना चाहते है, बस। हम अन्य चीजो को प्राप्त करने के लिए उसे लक्ष्य नही बनाते—हम उसकी प्राप्ति के लिए अन्य चीजो को अपना लक्ष्य बनाते हैं।

इसके विपरीत, जब आप दांत के डाक्टर के औजार से होनेवाले दर्द को बर्दाश्त करते हैं तब आप यह नही सोचते कि दर्द को आप उसीके हेतु सह रहे हैं. आप उसे इसलिए सहते हैं कि आप उसे कुछ परिणामो की प्राप्ति का, जैसे स्वास्थ्य की प्राप्ति और मूल पीडा की समाप्ति का साधन मानते हैं।

यदि आप उसे इस परिणाम को प्राप्त करनेवाला न मानते तो आप डाक्टर के पास जाते ही नही। (मैसोकीय वृत्ति वाला—अपने को पीडा पहुँचाने मे मजा लेनेवाला—भी सिरदर्द जैसे सामान्य दर्दो से मजा नही लेता—केवल उन्ही शारीरिक पीडाओ से उसे मजा आता है जिनके द्वारा उसे आनद का अनुभव होता है।) सामान्यत. आप डाक्टरो और दतचिकित्सको के पास अपने स्वास्थ्य की पुन. प्राप्ति के लिए जाते है। "परतु स्वास्थ्य की आप क्यो कामना करते है ?" यह प्रश्न भी विचित्र लगेगा, क्योकि प्राय· हम बिना प्रतिवाद किए मान लेते है कि स्वास्थ्य एक वाछनीय चीज है। परतु पूछे जाने पर आप निस्सदेह यह उत्तर दे सकते हैं कि "क्योकि यदि मुझे बराबर दर्द बना रहे तो मैं जीवन का आनद नही ले सकता, मैं सुखी नही हो सकता या कम-से-कम उतना सुखी नही हो सकता जितना दर्द न होने की अवस्था मे होता।" परंतु तब हम वापस सुख मे पहुँच जाते हैं, जो स्वय अपने ही हेतु मूल्यवान् लगता है।

सुख और आनंद (या प्रसन्नता)—कभी हम सुख की बात करते हैं और कभी आनद की। अतर ठीक-ठीक क्या है ? सुख चेतना की एक विशेष अवस्था है (जिसकी शाब्दिक परिभाषा सभव नही है), एक मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिससे हम अपने अनुभव मे भली-भाँति परिचित है। हम खाने, पीने, सभोग, खुले मे टहलने, एक अच्छी पुस्तक को पढने, कलाकृतियो को देखने, किसी नई अवधारणा को हृदयगम करने, मित्रो के साथ बातचीत करने इत्यादि के सुखो की बात करते है। ये सब चीजे सुख के साधन है, परतु इनमे से प्रत्येक काम से जो सुख प्राप्त होता है वह अलग-अलग होता है। फिर भी उन सभी मे इतनी काफी समानता होती है कि उन्हे "सुख" कहा जाता है। "सुखमय जीवन" का अर्थ अनिवार्य रूप से वैषयिक असयम (इस अर्थ मे ही शुद्धाचारवादी-प्यूरिटान-यह प्रयोग करता है) नही है। किसी गूढ विषय को समझने, गणित के प्रश्नो को हल करने, दिव्य अनुभव, सगीत सुनने इत्यादि के सुख खाने-पीने के विशुद्ध शारीरिक सुखो की तरह तीव्र तो नही होते पर प्राय. अधिक समय तक चलते है। सुख के विपरीत भाव को दुख कहते हैं जो कि पीडा से भिन्न होता है। पीडा साधारणत. दुख का कारण होती है (परंतु मैसोकीय वृत्ति वाले के लिए नही ; उसके लिए तो वह सुख का कारण होती है), और अकेली वही दुख

का कारण नही होती दैनिक जीवन मे जितनी झुझलाहटे होती है (जैसे ट्राफिक मे घिर जाने से) उन्हे शायद ही पीडा कहा जाएगा, पर इसके बावजूद वे बहुत दुख देती है।

अब, आनद या प्रसन्नता क्या है ? हम "आनद" या "प्रसन्नता" का प्रयोग "सुख" के पर्याय के रूप मे नही करते। हम कहते हैं कि एक तीव्र सुख कुछ क्षणो तक महसूस हुआ और तब समाप्त हो गया, परतु यह कहना अटपटा लगेगा कि हम कुछ क्षणो तक प्रसन्न या आनदित रहे, फिर अप्रसन्न रहे और तब थोडे क्षणो के बाद पुन प्रसन्न हो गए। ऐसा हो सकता है कि एक आदमी को अनेक ऐसे सुखो का अनुभव होने के बावजूद भी वह प्रसन्न न हो। सुख का प्रसन्नता से सबध कुछ वैसा ही है जैसा अश का पूर्ण से : प्रसन्नता सुखो का योग होती है। ऐसा हो सकता है कि एक आदमी को अनेक सुखो का अनुभव हो जाए और वह प्रसन्न न हो, परतु किसी-न किसी स्रोत से सुख का अनुभव किए बिना वह प्रसन्न नही हो सकता प्रसन्न वह व्यक्ति होता है जिसे सुख का, प्राय विविध स्रोतो से, अनुभव होता है। ऐसा हो सकता है कि एक व्यक्ति मजेदार पुस्तके पढे और फिर भी प्रसन्न न हो, और उसे बार-बार सभोग-सुख उपलब्ध हो और वह प्रसन्न न हो। परतु यदि उसे ये चीजे उपलब्ध है और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण अच्छा है, और यदि जगत् से वह कोई असभव माँग नही करता, तथा यदि उसका व्यवहार ज्ञान से निर्देशित है (जिससे वह अप्रत्याशित विपत्तियो से स्वय को बचाए रखता है), इत्यादि, तो वह शायद प्रसन्न है। निस्सदेह सुख का कोई स्रोत हमे प्रसन्न बनाने मे अन्य स्रोतो की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यश, शान शौकत अथवा विषय-भोगो की अपेक्षा जीवन के प्रति मूलत एक स्वस्थ अभिवृत्ति और प्रफुल्ल मनोवृत्ति, जो कि दीर्घकाल तक प्रतिदिन व्यक्ति के अदर बनी रहती है, प्रसन्नता के लिए कही अधिक उपयोगी हैं।[1]

सुखवाद—सुखवादी नीति के अनुसार (१) सुखमात्र स्वत शुभ होता है, और (२) केवल सुख ही स्वत शुभ है—अर्थात् वह चीज है जिसका अपने ही हेतु मूल्य है। सुख का प्रसन्नता से जो सबध बताया गया है उसे ध्यान मे

१ सुख और प्रसन्नता के सबध की विस्तृत चर्चा के लिए देखिए, जॉन हॉस्पर्स, ह्यूमन कडक्ट, पृ० ११२-१६।

रखते हुए हम सुखवाद में प्रसन्नता या आनंद को भी शामिल कर सकते हैं, क्योंकि वह सुखों का योग होता है, और इस प्रकार हम कह सकते है कि सुखवाद के अनुसार प्रसन्नता या आनंद ही अकेली वह चीज है जो स्वतः शुभ है।

परंतु इस सिद्धांत का गलत अर्थ लगा बैठना बहुत आसान है। "सुख" कुछ अप्रिय-सा गौण अर्थ रखता है और "सुखमय जीवन" अब कुछ ऐसी बात का द्योतक बन गया है जो मनुष्यो के बजाय पशुओं के लिए अधिक उपयुक्त है। अतः इस बात को याद रखना जरूरी है कि "सुख" मे न केवल वह शामिल है जो खाने, पीने और काम से प्राप्त होता है बल्कि हर तरह का संतोप शामिल है। सुखवाद केवल यह कहता है कि दुनिया में जितना ही अधिक सुख हो उतना ही अच्छा है, और कि जो चीज स्वत. शुभ है उससे परिपूर्ण जीवन वह है जो अधिकतम सुख और अल्पतम दु ख से युक्त हो। परंतु यहाँ हमें सावधान रहने की जरूरत है : (१) इसका मतलब यह नही है कि हमे अपने जाग्रत् जीवन मे हर समय सुख को जानबूझकर लक्ष्य बनाकर चलना चाहिए। अधिकतर होता यह है कि "सुख को प्राप्त करने के लिए उसे भूल जाना पडता है" और यदि कोई सुख के बारे मे खास तौर से कुछ न सोचते हुए अपने दैनिक काम मे लगा रहता है तो जो जानबूझकर सुख को लक्ष्य बनाकर चलता है, उसकी अपेक्षा उसे सुख के प्राप्त होने की संभावना अधिक रहती है : (२) अंत मे सुख की अधिक मात्रा प्राप्त करने के लिए एक अनिवार्य साधन के रूप मे प्रायः अनेक ऐसे काम करने पडते है जो बहुत ही दु खदायी होते है। कभी-कभी आदमी का काम अप्रिय हो सकता है, परंतु यदि वह उसमे लगा रहे तो उसे आर्थिक निश्चिंतता की प्राप्ति का, अपनी आय से कुछ सुखोत्पादक चीजें खरीदने में समर्थ होने का, एक काम को भली-भाँति पूरा करने इत्यादि का संतोप प्राप्त होगा। कभी-कभी सुख के साधनों को जुटाने के लिए अनिवार्य रूप से बहुत दु ख सहन करना पडता है : डाक्टर बनने के लिए जो ज्ञान और कुशलता चाहिए उसकी प्राप्ति के लिए अपने को अनुशासन में रखना पडता है और कठिन अध्ययन करना पड़ता है ; आजीवन संगीत के कुछ प्रकारों का आनंद लेने की योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रारंभ मे प्रायः कुछ कष्ट सहना पडता है ; स्वतंत्रता के बिना जीवन जीने योग्य नही होता, इस दृढ विश्वास के होने पर स्वतंत्रता की रक्षा के लिए युद्ध तक

करना पड सकता है। (३) कभी-कभी एक सुख के भोग से बाद के सुख-भोग की सामर्थ्य घट जाती है। स्वादिष्ट खाना भरपेट खा लेने से अपच हो सकता है और यह जानते हुए हम इस सुख से दूर रहते हैं। कोई यह सिफारिश नही करेगा कि चोरो और हत्यारो को जेल मे अधिक सुख सुविधाएँ दी जानी चाहिए, क्योकि इससे जेल इतनी आकर्षक हो जाएगी कि अन्य लोग भी जेल मे उपलब्ध सुखो का आनद लेने के लिए अपराध करने लगेंगे। सब कदियो को जहाज से (दक्षिणी प्रशान्त मे स्थित) टाहिटी नामक द्वीप मे भेज देने से अपराधो का दौर शुरू हो सकता है (टाहिटी-निवासियो के ऊपर इसका जो प्रभाव होगा उसकी तो बात ही अलग है)। प्रयत्न पूरे जीवनकाल मे सब मिलाकर अधिकतम सुख को प्राप्त करने के लिए ही होना चाहिए (स्वसुखवादी के अनुसार अपने ही अधिकतम सुख को और उपयोगितावादी के अनुसार प्रत्येक के अधिकतम सुख को—इसकी चर्चा अगले परिच्छेद मे आचरण के सिद्धातो पर विचार करते समय की जाएगी)।

इस प्रकार सुखवादी के अनुसार सुख और आनद सदैव स्वत शुभ होते है। पर यह आवश्यक नही है कि ये सदैव साधन के रूप मे भी शुभ हो। उन्हे स्वत शुभ कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि वे साध्यो के रूप मे सदैव शुभ होते हैं और यह विचार करने की जरूरत नही होती कि उनके परिणाम क्या होते है। हत्यारा अपने शिकार को मारकर जो सुख प्राप्त करता है वह तक स्वत-शुभ ही होता है सुखद अनुभव के एक उदाहरण मात्र के रूप मे जब उसपर विचार किया जाता है तब वह स्वत शुभ होता है। परतु यदि ऐसे सुखद अनुभवो को प्रोत्साहन दिया जाए तो मानव जीवन का अत्यधिक विनाश होगा (और जो मारे जाएंगे उनका भावी सुख सभव ही नही होगा)। अत इस बात का पक्का उपाय होना चाहिए कि कोई ऐसे सुखो का अनुसरण न कर पाए, इसलिए नही कि वे स्वत शुभ नही है बल्कि इसलिए कि अत मे सभी सबधित लोगो को जो अत्यधिक दुख प्राप्त होता है उसके साधन बनकर वे अत्यत अनर्थकारी सिद्ध होते हैं। विश्व मे आनद की सपूर्ण मात्रा को अधिक से-अधिक बढाने का जो आदर्श है उसे ध्यान मे रखते हुए हम कहेंगे कि ऐसे सुख इस आदर्श के सहायक होने के बजाय उसमे बाधा ही डालेंगे—बात ऐसी है जैसे कोई एक पैसे को ले ले, (जैसे हत्यारा हत्या का सुख प्राप्त करता है), जबकि उसे छोडने से उसे सौ रुपये का लाभ हो सकता था। एक और

उदाहरण : मान लो कि कालिदास के मेघदूत को पढने से एक आदमी जो सुख प्राप्त करता है उसकी मात्रा वही है जो एक दूसरे आदमी को कमरे मे भरी हुई क्राकरी को तोडने से प्राप्त होनेवाले सुख की है। तब दोनों सुख समान रूप से स्वतः शुभ है। फिर भी, पहले को दूसरे से कही अधिक पसद किया जाएगा, क्योंकि पहला दूसरे की अपेक्षा भविष्य मे अधिक स्वत' शुभ का उत्पादक है. क्राकरी की कीमत किसी को अदा करनी पडेगी, और उसे तोडना सुख प्राप्ति के लिए तोडने के काम को प्रोत्साहन दे सकता है, जिसके फलस्वरूप आदमी और क्राकरी तोडेगा या अन्य प्रकार के तोड-फोड के काम करेगा ; परतु मेघदूत को पढना आनद-प्राप्ति के लिए महान् कलाकृतियो को पढने के काम को प्रोत्साहन देता है (जो किसी को हानि नहीं पहुँचाता, जबकि क्राकरी को तोडना हानि पहुँचानेवाला है) और व्यक्ति के जीने का कला के ज्ञान को बढा सकता है, तथा इससे उसके पूरे जीवन का आनद बढ सकता है। इस प्रकार भविष्य के सुख की दृष्टि से इन दो घटनाओ की क्षमता मे बहुत अतर है।

और भी बहुत-सी चीजें है जिन्हे सुखवादी अच्छी मानेगा, परतु केवल सुख और आनद ही स्वतः शुभ माने जाएँगे। कलाकृतियाँ इस बात मे अच्छी होती है कि उनसे सुखद सौंदर्यात्मक अनुभव सभव हो जाता है कलाकृतियाँ स्वत शुभ नही होती, केवल उनसे प्राप्त सुखद अनुभव स्वत शुभ है। (ऐसी कलाकृतियाँ जिनको कोई न देखे स्वत मूल्यवान् नही होगी—केवल अनुभवो का स्वत मूल्य होता है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि उनका एक विशेष प्रकार का साधन-मूल्य, अतर्निहित मूल्य, होता है, क्योंकि उनका चिंतन स्वय ही सुखद होता है ; इसके विपरीत, हथौडे का कोई अतर्निहित मूल्य नही होता, क्योंकि उसका चिंतन स्वय सुखद नही होता, परतु इस रूप मे उसका साधन-मूल्य होता है कि वह मनुष्य के लिए मकान इत्यादि के निर्माण मे उपयोगी होता है और इससे सुख की वृद्धि होती है।) धन यदि मनुष्य के आनद मे वृद्धि करता है तो वह साधन के रूप मे अच्छा है, हालांकि वह साधन के रूप मे बुरा भी हो सकता है, जो कि इस बात पर निर्भर करता है कि उसका किस प्रयोजन के लिए उपयोग किया जाता है। उत्पादन-कार्य साधन के रूप मे अच्छा होता है, न केवल उस सतोष की दृष्टि से जो स्वय उससे प्राप्त होता है (अतर्निहित मूल्य) बल्कि उस आय की दृष्टि से भी जो उससे प्राप्त

होगी और जिसे पुन. व्यक्ति अपने आनद की वृद्धि करने मे खर्च कर सकता है। निस्सदेह, अनेक चीजें साधन-रूप मे किन्ही परिस्थितियो मे अच्छी होती है और किन्ही मे अच्छी नही होती। दीर्घकालिक आनद की प्राप्ति की दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति की क्षमता का अलग से मूल्याकन करना होगा।

साधन रूप मे जो चीजें शुभ (सुखवादी की दृष्टि से) हैं उनमे नैतिक गुण—ईमानदारी, परहितपरता, परिश्रमशीलता इत्यादि—शामिल हैं। आम तौर पर नैतिक गुण वे होते है जो व्यक्ति को या अन्य लोगो को अच्छे मनुष्य बनाते हैं। परतु नैतिक और निर्नैतिक गुणो के मध्य कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नही है। (क्या मितव्ययिता एक नैतिक गुण है ?) परतु इन वाछनीय गुणो के बारे मे सुखवादी का कहना मुख्य रूप से यह है कि उनकी अच्छाई केवल साधन के रूप मे है। साहस स्वत अच्छा नही है बल्कि केवल इसलिए अच्छा है कि (कभी कभी) वह ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देता है जिनमे विश्व मे आनद की मात्रा बढ जाती है (अथवा उसके लिए पैदा होनेवाला एक खतरा दूर हो जाता है)। ईमानदारी अच्छी चीज है, पर स्वत नही : जिस दुनिया मे लोग रुपये पैसे से सबधित तथा अन्य व्यवहारो मे एक दूसरे पर विश्वास कर सकते हो वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ (या अधिक सुखी) दुनिया है जिसमे कोई किसी पर विश्वास न कर सकता हो। कर्तव्यपरायणता प्राय साधन के रूप मे शुभ होती है, हालाँकि कर्तव्यपरायण नाजी के प्रसग मे वह साधन के रूप मे एक बुरी चीज है, क्योंकि जिस तत्र के प्रसग मे वह व्यक्ति कर्तव्यपरायण है उसकी बुराइयो को वह और बढा देती है। इसका किसी भी दशा मे स्वत मूल्य नही है—कर्तव्यपरायणता मे अपने आप मे कोई अच्छाई नही है—(जब वह अच्छी होती है तब) वह अच्छी केवल इसलिए होती है कि उससे अधिक स्वत शुभ की प्राप्ति होती है। ज्ञान की प्राप्ति सामान्यत शुभ है, परतु वह अशुभ भी हो सकता है, जो इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उपयोग किस प्रयोजन के लिए किया जाता है : जो भी हो, जब वह शुभ होता है तब उसका शुभत्व साधन के रूप मे होता है—जो ज्ञान आनद मे वृद्धि करता है वह शुभ है, जो उसमे वृद्धि नही करता वह शुभ नही है। जिस समय ज्ञान प्राप्त किया जाता है उस समय प्राय यह बताना असभव होता है कि वह शुभ है या नही भौतिकी के सिद्धाता का ज्ञान मानव-जीवन के लिए अत्यधिक उपयोगी रहा है, पर हाइड्रोजन बम का उनके बिना निर्माण न हुआ होता।

ऐसे आनंद के बारे में क्या कहा जाएगा जिसकी पात्रता व्यक्ति मे न हो—जैसे अपराधी का आनंद जो वह अपराध से प्राप्त करता है अथवा उस आदमी का आनंद जो छल से प्रतियोगिता मे विजय प्राप्त करता है ? सभी आनंदों की तरह वह भी स्वतः शुभ है—यानी अपने-आप मे देखे जाने पर, परिणाम-निरपेक्ष रूप मे। यदि ऐसे आनद के बुरे परिणाम न हो तो वह दुनिया मे विद्यमान शुभ की मात्रा मे कुछ और वृद्धि करनेवाला ही होगा। परतु उसके दुष्परिणाम अवश्य ही होते हैं : जो आदमी जीतने की योग्यता रखता है (प्रतियोगिता के स्तर के अनुसार) उसे विजय नही मिली और वह तज्जन्य संतोष से वंचित रह गया ; और ऐसा प्रत्येक अपराधी जो अपने अपराध के लिए दड पाने से वच जाता है, अनेक अन्य डकैतियो या अनेक अन्य निर्दोष लोगो की हत्या के लिए रास्ता वना देता है।

नैतिक बहुतत्ववाद—सुखवाद के अधिकतर विरोधी इस बात से इन्कार नही करते कि सुख और आनद स्वतः शुभ है, परंतु इनके अतिरिक्त और भी चीजो को वे स्वतः शुभ मानते हैं। उनमे से दो मुख्य चीजो पर हम विचार करते है :

अ. ज्ञान—कभी-कभी स्वतः शुभ सत्य को नही बल्कि ज्ञान को माना जाता है। सत्य प्रतिज्ञप्तियो का तब तक कोई मूल्य नही है जब तक कोई यह जानने वाला न हो कि वे सत्य है। जब उनका सत्य होना जान लिया जाता है तभी हम इस ज्ञान के अनुसार काम कर सकते हैं। यदि आप जानते हो कि एक बीमारी छूत से फैलती है तो आप अपने को उससे दूर रख सकते है ; यदि आप जानते हो कि कार के इजन से जो गैस निकलती है उसमे कार्बन मोनोक्साइड होती है और कार्बन मोनोक्साइड जहरीली होती है तो आप गैरेज के दरवाजे को बद रखकर इजन को चालू नही रखेंगे। ज्ञान ही प्रस्तर-युग और सभ्य समाज के अतर का कारण है। मानवीय जीवन मे ज्ञान का अपरिमित मूल्य है। पर क्या वह एक स्वत मूल्य है ?

बहुतत्ववादी कहेगा, "हाँ"। "ज्ञान न केवल मानवीय सभ्यता की प्रगति का एक साधन है अपितु उसका अपने-आप मे भी मूल्य है। ज्ञान की प्राप्ति तब भी एक अच्छी वात है जब उससे आपके या दुनिया के आनद मे कोई वृद्धि न हो। आप अपने या दुनिया के आनंद मे वृद्धि करने के उद्देश्य के बिना भी

दर्शन, गणित या किसी इंद्रियानुभविक विज्ञान का अध्ययन केवल ज्ञानप्राप्ति के लिए कर सकते है (हालांकि उस उद्देश्य के लिए भी ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है) । शायद वे लोग जिन्होने इनमे से कोई विषय पढ़ा है उनसे अधिक सुखी न हो जिन्होने नही पढा ; फिर भी वह पढे जाने के योग्य होता है, और केवल इसलिए कि उससे मानवीय ज्ञान मे वृद्धि होगी । जितना ही अधिक कोई जानता है और दुनिया मे जितनी अधिक वृद्धि ज्ञान की होती है उतना ही अधिक अच्छा है—बशर्ते कि ज्ञान सच्चा हो, न कि मात्र कल्पना या अंधविश्वास । ज्ञान की वृद्धि एक अच्छी बात है, भले ही उसके फलस्वरूप ज्ञाता के या किसी भी अन्य व्यक्ति के सुख मे कोई वृद्धि न हो ।"

परंतु सुखवादी को विश्वास नही होता । वह कहता है : "एक बहुत बड़ी अच्छाई होने के बावजूद ज्ञान स्वतंत्रता की तरह एक साधन मात्र है । वह स्वत शुभ नही है, वह केवल कुछ स्वत.शुभ चीजो को संभव मात्र करता है । जब ज्ञान शुभ होता है तब साधन के रूप मे शुभ होता है ; और सदैव वह शुभ होता भी नही है । क्या असाध्य रोग से ग्रस्त आदमी को यह बता देना चाहिए कि उसकी बीमारी असाध्य है ? निस्सदेह अधिकतर लोग जानना अधिक पसद करेंगे, परतु हरेक मामले को उसके अपने विशेष गुण-दोषो के आधार पर अलग से जाँचना चाहिए । जो आदमी इतनी अधिक आयु का हो गया है कि वह बदल नही सकता उसे क्या यह बता देना चाहिए कि वह एक मूर्ख ढोंगी है और उसकी नैराश्यपूर्ण युक्तियो पर कोई विश्वास नही करता ? इससे तो वह पहले से भी अधिक दुःखी हो जाएगा और बात के सत्य होने पर भी उसे बता देने से कोई लाभ नही होगा । जिस व्यक्ति का जीवन अपनी पत्नी के प्रेम पर ही केंद्रित है उसे क्या यह सचाई बता देनी चाहिए कि वह उससे प्रेम नही करती बल्कि उसके बजाय किसी और से प्रेम करती है ? शायद बता देना उसकी अपनी पत्नी के उस अन्य पुरुष के साथ भाग जाने की स्थिति का सामना करने के लिए तैयार होने मे सहायता करेगा अथवा स्वयं को उसके प्रेम के अधिक योग्य बनाने मे उसका सहायक होगा । लेकिन शायद नही बताना चाहिए, क्योकि इस संबंध मे वह कुछ कर ही नही सकता । कम-से-कम तब तक उसे यह जानकारी नही होनी चाहिए जब तक वह वर्तमान महत्वपूर्ण योजना पर काम कर रहा है, क्योकि इससे उसका हृदय टूट जाएगा और योजना को पूरा करने मे वह असमर्थ बन जाएगा । कुछ परिस्थितियाँ ऐसी

होती हैं जिनमे स्वत मूल्य होना तो दूर रहा, ज्ञान कोई मूल्य होता ही बिल्कुल नही है , और उसका मूल्य होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसमे आनद पैदा करने की कितनी क्षमता है । स्वत शुभ आनद होता है, ज्ञान नही । ज्ञान का शुभत्व आनद की प्राप्ति कराने की उसकी सामर्थ्य पर निर्भर होता है । जब वह शुभ होता भी है तब स्वत. शुभ नही होता ।"

बहुतत्ववादी कहता है . "परतु इस परिस्थिति पर विचार कीजिए । एक आदमी है जिसका एक सच्चा विश्वास है । और एक और आदमी है जिसका एक झूठा विश्वास है । दोनो आदमी अपने अपने विश्वास से समान आनद प्राप्त करते हैं। निश्चय ही पहले आदमी की परिस्थिति दूसरे की अपेक्षा अच्छी है । मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अपने विश्वास से सतुष्ट होने के बजाय अधिक अच्छा यह होगा कि दूसरे को अपने झूठे विश्वास के कारण इतना अधिक दु खी बन जाना पडे कि वह छान-बीन करने के लिए उत्सुक हो जाए तथा अपने विश्वास के झूठे होने का पता लगा ले ।"

सुखवादी जवाब देता है "स्वत मूल्य की दृष्टि से दोनो मे कोई भी अतर नही है, परंतु भविष्य के आनद की प्राप्ति (और दु ख के परिहार) की दृष्टि मे उनकी सामर्थ्य मे विशाल अतर है । जो आदमी अपने मिथ्या विश्वास से सुखी है वह वास्तविकता के साथ एक खतरनाक खेल खेल रहा है ; वास्तविक तथ्य उसके विरुद्ध है और उसे ठोकर लग सकती है । यदि वह यह विश्वास करता है कि वह दुनिया का सबसे बडा रसायनशास्त्री है (यह मानते हुए कि वह नही है), तो जब वह सबसे अच्छा पद प्राप्त नही करता तब उसे महसूस होगा कि उसके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार नही हुआ है, और अत मे वह यह यकीन कर बैठेगा कि प्रत्येक आदमी उसे तग कर रहा है और उसकी महत्ता को नही मान रहा है । यदि उसका यह मिथ्या विश्वास है कि उसकी पत्नी उससे प्रेम करती है, तो उसे तब धक्का लगेगा जब वह उसे छोडकर चली जाएगी या उसे सचाई बता देगी । परतु सच्चे विश्वासो के विपरीत झूठे विश्वास भावी सुख के सबध मे बिना फटे मियादी बम की तरह होते हैं और यही उनके उतने अधिक निंदनीय होने की वजह है । परतु सुखवाद इस सबकी पूर्ण व्याख्या दे सकता है ।"

"लेकिन निश्चय ही आपने अपनी बात सिद्ध नही की है । मेरा यह कहना अभी भी सही हो सकता है कि ज्ञान एक स्वत मूल्य है, लेकिन साथ ही यह

भी मानना होगा कि कभी-कभी उससे पैदा होनेवाले निषेधात्मक स्वतःमूल्य अर्थात् दुःख की मात्रा उससे भी कहीं अधिक बढ़ जाती है, विशेषतः तब जब परिस्थिति ऐसी होती है कि आदमी को सचाई बता देने से उसमें कोई सुधार नही होता।"

"आपने भी तो अपनी बात सिद्ध नही की है। मैंने इस सीधी-सादी प्राक्कल्पना के द्वारा तथ्यों की पर्याप्त रूप से व्याख्या कर दी है कि केवल सुख ही स्वतः मूल्यवान् है ; इसमें यह बात जोड़ने की जरूरत नही है कि ज्ञान भी एक स्वत.मूल्य है, और मैं यह भी मानता हूँ कि ऐसा कहना गलत है, क्योकि यदि हम ज्ञान को स्वतःमूल्य मानते हैं तो मानवीय सुख मे कोई वृद्धि न करने-वाला होने पर भी उसको अनावश्यक सम्मान मिल जाएगा।"

आ. नैतिक गुण—दयालुता, ईमानदारी, परहितपरता, निष्ठा, औदार्य, सदाशयता, स्वामिभक्ति के बारे मे हमें क्या कहना है ? इन गुणों का मूल्य किस वजह से है ? सुखवादी के अनुसार केवल साधन के रूप में ही इनका मूल्य है। जिस दुनिया मे लोग ईमानदार, दयालु और उदार हों वह उससे अधिक सुखी होगी जिसमें ये गुण न हों। परंतु स्वतः उनमें कोई अच्छाई नही है। यदि उद्यम और कठिन परिश्रम दुनिया को अधिक सुखी नही बनाते (सभ्यता के लाभों को संभव बनाकर तथा लोगों के मन मे आत्मानुशासन और चरित्र-निर्माण के महत्व को बैठाकर, जिससे वे सुख को उत्पन्न करनेवाले अन्य काम करने मे समर्थ हो सकेंगे) तो इनका कोई मूल्य नही होगा। नालियाँ खोदना स्वतः कोई मूल्य नही रखता, वल्कि केवल उस लक्ष्य के कारण उसका मूल्य है जिसकी उससे पूर्ति होती है। असल में इन सभी गुणो का अच्छा उपयोग हो सकता है और बुरा भी, और ये सदैव साधन-रूप मे भी शुभ नही होते : निष्ठा, उदारता और ईमानदारी तब अनिष्टकारी होती हैं जब किसी बुरे उद्देश्य के लिए इनका उपयोग किया जाता है, जैसा कि धर्मांध व्यक्ति के उदाहरण मे होता है जो अपने संप्रदाय के प्रति निष्ठा के कारण हजारों लोगो की हत्या करने के लिए तैयार रहता है, पर अपने विश्वास को छोड़ने के लिए नहीं। जो व्यक्ति आलसी और बहानेबाज लोगो के साथ उदारता दिखाता है वह उनकी परोपजीविता को ही बनाए रखता है : जो व्यक्ति सदैव सत्य बोलता है, तानाशाहो और गुप्तचरो से भी सच बोलता है, वह अपनी सत्यवादिता के कारण उनकी अपने बुरे उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता करता है।

परंतु बहुतत्ववादी इन गुणों का स्वतः मूल्य मानता है। जब उनके परिणाम बुरे होते हैं तब भी उनका स्वतः मूल्य होता है, हालांकि कभी-कभी उनके दुरुपयोग से जो दुःख पैदा होता है वह उनके स्वतःमूल्य से बहुत भारी हो जाता है। वास्तव में प्रायः उनका मूल्य उस सुख से अधिक महत्त्वपूर्ण होगा जो उनसे उत्पन्न होता है।

भले ही ऐसा हो जाए (शुभ संकल्प के बारे में कान्ट ने लिखा था) कि भाग्य के विशेष रूप से प्रतिकूल होने से या विमाता की तरह प्रकृति की कृपणता से यह संकल्प अपने प्रयोजनों की पूर्ति करने की शक्ति से बिलकुल ही शून्य हो जाए, भले ही अधिकतम प्रयत्न के बावजूद भी वह कुछ करने में सफलता प्राप्त न कर सके····, परंतु तब भी वह एक रत्न की तरह अपने ही प्रकाश से जगमगाता रहेगा, ऐसी चीज बना रहेगा जिसका अपने-आप में ही सपूर्ण मूल्य है, जिसके मूल्य में उपयोगिता से न कोई वृद्धि हो सकती है और न अनुपयोगिता से कोई ह्रास हो सकता है।[1]

हमें अपनी आंखों को केंद्रित नैतिक सद्गुणों के ऊपर रखना चाहिए और सुख की चिंता छोड़ देनी चाहिए। एक ऐसी दुनिया की कल्पना करने की कोशिश कीजिए जिसके निवासियों में इन गुणों का अभाव हो, और आपको पता चल जाएगा कि इन गुणों का कितना अधिक मूल्य है।

सुखवादी उत्तर देता है : "ठीक है। पर यह मूल्य फिर भी साधन के रूप में ही है। इन सद्गुणों के विकास का ध्यान इसलिए रखना चाहिए कि वे सुख-प्राप्ति के पक्के साधन हैं। कभी-कभी सुख को प्राप्त करने के लिए उसे भूल जाना पड़ता है। परंतु यदि आप सद्गुणों को उनके द्वारा साध्य सुख से पृथक् कर सकते है, जिसके साधन के रूप में ही उनका मूल्य होता है, तो आपके सामने यह सवाल पैदा होता है कि ये सद्गुण हैं किस लिए ? उन्हें प्राप्त ही क्यों किया जाए ? वे किस उद्देश्य के लिए है ? आप कहते है कि किसी उद्देश्य के लिए नही हैं—वे स्वयं ही उद्देश्य हैं। परंतु यहाँ मैं सहमत नही हूँ। निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता और परिश्रमशीलता में स्वयं क्या चीज मूल्यवान् है ? किसी अच्छे उद्देश्य के लिए प्रयुक्त होने पर उनसे कुछ वांछनीय परिणाम निकलते हैं, और उनको प्राप्त करने के लिए आत्मानुशासन की कुछ मात्रा

---

१. फंडामेंटल प्रिंसिपल्स ऑफ दि मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स, भाग १, पृ० ११।

जरूरी होती है जो जीवन में हमारे सामने आनेवाली असंख्य परिस्थितियों में हमारे काम में आनेवाली एक महत्त्वपूर्ण चीज होती है—यानी आत्मानुशासन यहाँ फिर एक साधन-मूल्य है। परंतु इनके स्वतः शुभ होने की क्या बात है ?"

—"यदि आप यह कल्पना करने की कोशिश करें कि उनके अभाव में क्या होता है तो आप जान सकेंगे कि उनके स्वतः शुभ होने की क्या बात है। यदि नैतिक गुणों के प्रयोग के बिना सुख प्राप्त हो भी सके तो भी उनके बिना उसमें क्या अच्छाई होगी ? वांछनीय चरित्र-गुणों का विकास अंत में अधिक मानवीय सुख की प्राप्ति का साधन मात्र नही है (हालांकि उसका साधन है भी) ; ये गुण स्वतः वांछनीय होते है और लोग प्रायः उन्हें स्वतः मूल्यवान् समझते है। दुनिया में दया, उदारता, बुद्धिमानी इत्यादि जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक अच्छी बात होगी, और यह उन परिणामों से बिल्कुल अलग है जो उनसे प्राप्त होगे। यदि उनके फलस्वरूप मानवीय सुख में वृद्धि होती है (जैसा कि सामान्यतः होता भी है), तो यह एक अतिरिक्त अच्छाई है। परंतु संपूर्ण शुभ में वृद्धि केवल तभी होती है, जब सुख सद्गुण के परिणाम के रूप में प्राप्त हो ; अकेले इस सुख से पूरा शुभ नहीं बनता। जब इन सद्गुणों का विकास किया जा चुका होता है तब जो स्वतः शुभ है उसका अधिकांश हमारे यह-जानने से पहले ही प्राप्त हो गया होता है कि उनके फलस्वरूप सुख में कुछ वृद्धि होगी। यदि आप किसी के प्रति दया दिखाते हैं (कम-से-कम एक ऐसे व्यक्ति के प्रति जो दयापूर्ण व्यवहार का पात्र हो) तो परिणाम के प्रकट होने से पहले ही दुनिया में एक शुभ की वृद्धि हो जाती है, ऐसे शुभ की जो अपने-आप में ऐसा है, भले ही आपके काम का परिणाम सुख न हो। यह सत्य है कि हम आदमी के किसी गुण को (जैसे दयालुता को) तब सद्गुण नहीं कहते जब अंततोगत्वा उसके परिणाम के रूप में सामान्यतः मनुष्य के सुख में वृद्धि न हो। परंतु इससे किसी भी तरह यह सिद्ध नही होता कि उस सद्गुण का विकास स्वतः शुभ नही है। मेरी धारणा यह है कि वह स्वतः शुभ है और यदि उसके फलस्वरूप सुख प्राप्त होता है तो यह एक दूसरी स्वतः शुभ चीज है। अतः नैतिक सद्गुण का विकास सुख की प्राप्ति का साधन मात्र नहीं है बल्कि सुख पैदा करने की अपनी क्षमता से अलग ही एक स्वकीय मूल्य रखता है।"

यहाँ हमें इस विवाद को छोड़ देना होगा। परतु एक और विकल्प है जिसका उल्लेख कर देना चाहिए।

आत्मोपलब्धि—आत्मोपलब्धिवाद के अनुसार, वह चीज जिसका स्वतः मूल्य है केवल व्यक्ति की उन क्षमताओ का विकास है जो एक मनुष्य होने के नाते उसके अदर सबसे उत्तम हैं। प्रत्येक मनुष्य के अंदर अनेक क्षमताएँ या अव्यक्त शक्तियाँ होती है जिनमें से अधिकतर कभी विकसित नही हो पाती। वास्तव मे उसके लिए उन सभी का विकास करना संभव ही नही होता, क्योकि एक का विकास करने के लिए (जैसे एक कुशल चिकित्सक बनने की उसकी क्षमता के विकास के लिए) कई अन्य क्षमताओं की, जिनका कि उसके लिए विकास करना सभव था, उपेक्षा कर देनी होगी। एक हजार जन्म भी व्यक्ति के लिए अपनी सभी क्षमताओ के विकास के लिए पर्याप्त नही होगे। इसके अलावा, प्रत्येक के अंदर ऐसी अव्यक्त क्षमताएँ भी होती हैं जिनका विकास बिल्कुल नही होना चाहिए : जैसे पागल होने की क्षमता, परोपजीवी होने की क्षमता, हत्यारा बनने की या बैंक लूटनेवाला बनने की क्षमता। इसीलिए यह सलाह कि "अपनी क्षमताओ का विकास करो" हमें बहुत कम जानकारी देती है और इसके बजाय सलाह यह होनी चाहिए कि "अपनी सर्वोत्तम क्षमताओं का विकास करो।" परंतु तुरंत ही यह सवाल पैदा हो जाता है कि सर्वोत्तम क्षमताएँ क्या है।

अरस्तू ने कहा था कि "अपनी सर्वोत्तम क्षमताओ के विकास" का अर्थ उस क्षमता का विकास है जो मनुष्य मे विलक्षण है, अर्थात् बुद्धिशक्ति या तर्कबुद्धि का विकास। मनुष्य मे वृद्धि और पोषण की जो शक्तियाँ हैं वे सभी जीवो में समान रूप से होती हैं और उसमे जो चेतनाशक्ति (इंद्रियानुभवों की क्षमता) होती है वह समान रूप से पशुओ मे भी होती है, परतु तर्कबुद्धि मनुष्य की वह शक्ति है जो किसी भी अन्य जीव-जाति मे नही पाई जाती। यही शक्ति मनुष्य में विलक्षण है और तदनुसार यही वह शक्ति है जिसका विकास करना चाहिए—अन्य शक्तियों को छोडकर नही (यह जीवविज्ञानीय दृष्टि से असंभव है) बल्कि अन्य शक्तियो के सहित, उन्हे इसके अधीन रखते हुए : मनुष्य की तर्कबुद्धि चालक के समान है और वह अन्य सभी शक्तियों को अपने नियन्त्रण में रखती है। लेकिन कोई कह सकता है कि तर्कबुद्धि

का मनुष्य में विलक्षण होना इस बात को सिद्ध नहीं करता कि उसका विकास करना सर्वोत्तम बात है : विलक्षणता वांछनीयता का प्रमाण नहीं है। इसके अलावा, क्या इस शक्ति की सभी अभिव्यक्तियाँ वांछनीय हैं ?

हाल में हमारे एक समसामयिक दार्शनिक और उपन्यासकार एन. रैंड ने एक नीतिशास्त्रीय सिद्धांत प्रस्तुत किया है जो कुछ वातों में अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा आत्मोपलब्धिवाद के अधिक निकट है। इस सिद्धांत के अनुसार शुभ वह है जो एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के रूप में मनुष्य के जीवन के लिए उचित (उपयुक्त, सहायक) है। इस बात को काफी अधिक खोलकर समझाने की जरूरत है।

एन. रैंड का सिद्धांत "मूल्य" के संप्रत्यय के विश्लेपण के साथ शुरू होता है। उनकी धारणा है कि मूल्य जीवों की विलक्षण प्रकृति से पैदा होते हैं और उससे उनका होना अनिवार्य हो जाता है। संक्षेप में, तर्क यह है : मूल्य वह है जिसको प्राप्त करने और। या बनाए रखने के लिए कोई प्रयत्नशील होता है। मूल्य कर्म का लक्ष्य होता है : वह जो केवल कर्म से ही प्राप्त हो सकता है। मूल्यों से पहले किसी ऐसी चीज का अस्तित्व जरूरी होता है जिसके लिए चीजों का मूल्य होता है, उसका जो मूल्यों को प्राप्त करने के लिए कर्म करने में समर्थ हो, उसका जो लक्ष्योन्मुख व्यवहार शुरू करने की सामर्थ्य से युक्त हो। मूल्यों से पहले विकल्पों का अस्तित्व भी जरूरी होता है, जिनके होने पर कर्म अनिवार्य होता है। यदि विकल्प न हो तो कोई लक्ष्य नहीं होंगे और इसलिए मूल्य संभव नही होंगे।

विश्व में केवल एक ही आधारभूत विकल्प है : अस्तित्व अथवा अनस्तित्व— और यह वस्तुओं के एक अकेले वर्ग से संबंध रखता है : जीवित जीवों से। निर्जीव पदार्थ का अस्तित्व निरुपाधिक होता है, जीवन का अस्तित्व निरुपाधिक नही होता : वह एक विशिष्ट कार्य-प्रणाली पर निर्भर होता है। जड़ द्रव्य अविनश्वर होता है, वह अपना रूप बदल देता है, परंतु उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो सकता। केवल जीवित जीव के सामने ही निरंतर एक विकल्प बना रहता है: जीवन या मृत्यु का प्रश्न। जीवन अपने-आप को बनाए रखनेवाले और स्वतः उत्पन्न कर्मों की शृंखला है। यदि जीव इसमें असफल रहता है तो उसकी मृत्यु हो जाती है : उसके रासायनिक घटक तो बने रहते हैं पर उसका जीवन समाप्त हो जाता है। केवल "जीवन" का संप्रत्यय ही "मूल्य' के संप्रत्यय को

संभव बनाता है। केवल एक जीवित जीव के लिए ही चीजें शुभ या अशुभ हो सकती हैं।[1]

इस प्रकार मूल्यों के अस्तित्व को संभव और आवश्यक बनानेवाली चीज है जीवों का अस्तित्व, उनकी प्रकृति और उनकी आवश्यकताएँ। जीव की अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जो आवश्यकताएँ होती है उन्ही को उसके मूल्यों का मानक निर्धारित करनेवाली होना चाहिए।

पेड़-पौधों और पशुओं के लिए मूल्य के मानक के रूप में अपने जीवन से चिपके रहना एक अपने-आप होनेवाली बात है : मनुष्य को छोड़कर सभी जीव-जातियाँ प्रकृति की बनाई हुई योजना के अनुसार अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक काम करती हैं और आवश्यक मूल्यों का अनुसरण करती है (बशर्ते उपयुक्त पर्यावरण मौजूद हों जिसमे उनके लिए यह संभव हो)। इस बात का सवाल ही नही पैदा होता कि उन्हें किसी मूल्य-तंत्र का चुनाव करना है।

परंतु आदमी के सामने ठीक यही समस्या है। आदमी इस बात के सहज ज्ञान को लेकर नहीं आता कि उसके लिए क्या शुभ है और क्या अशुभ है, क्या उसके जीवन के लिए उपयोगी होगा और क्या उसके लिए घातक होगा। उसे सोच-विचार करके उन लक्ष्यों और कामों का पता लगाना पड़ता है जिनके ऊपर उसका जीवन और हित आश्रित होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए आदमी को सोचना होता है। परंतु सोचना चुनाव का एक काम है। आदमी की बुद्धि का, तर्कशक्ति का, प्रयोग संकल्पात्मक होता है।

चेतना—उन जीवों के लिए जिनके अंदर वह होती है—अस्तित्व को कायम रखने का आधारभूत साधन है। आदमी के लिए इसका आधारभूत साधन तर्कबुद्धि है। आदमी अपने अस्तित्व को जानवरों की तरह प्रत्यक्ष मात्र का अनुसरण करके नही बनाए रख सकता। भूख का संवेदन उसे बताएगा कि उसे भोजन की आवश्यकता है (यदि उसने उसे भूख के रूप में पहचानना सीख लिया हो तो), परंतु वह उसे यह नही बताता कि भोजन प्राप्त कैसे करना है और यह भी नही कि कौन-सा भोजन उसके लिए अच्छा है और कौन-सा विषैला। वह विचार-प्रक्रिया के बिना अपनी

---

१. एन० रैंड, एटलस श्रग्ड (न्यूयार्क : रैंडम हाउस, १९५७), पृ० १०१२-१३।

बिल्कुल मामूली शारीरिक आवश्यकताओं को भी पूरी नहीं कर सकता। भोजन प्राप्त करने के लिए पौधे कैसे उगाने हैं या शिकार के लिए हथियार कैसे बनाने हैं, यह जानने के लिए उसे विचार करने की जरूरत होती है। प्रत्यक्ष के द्वारा वह एक गुफा तक पहुँच सकता है, यदि वह कहीं हो तो—परंतु एक मामूली-सा घर बनाने के लिए उसे विचार-प्रक्रिया का सहारा लेने की जरूरत होती है। कोई प्रत्यक्ष और कोई सहज प्रवृत्ति उसे यह नहीं बताएगी कि आग कैसे जलाई जाती है, कपड़ा कैसे बुना जाता है, औजार कैसे बनाए जाते हैं, पहिया कैसे बनाया जाता है, हवाई जहाज कैसे बनाया जाता है, बिजली का बल्ब या बिजली का ट्यूब या साइक्लोरोन या माचिस का बक्स कैसे बनाया जाता है। फिर भी, उसका जीवन ऐसे ज्ञान पर अवलंबित होता है—और वह केवल उसकी चेतना के एक संकल्पनात्मक कर्म से, विचार की एक प्रक्रिया से, ही प्राप्त हो सकता है।[१]

इस प्रकार यदि आदमी को जिंदा रहना है तो उसे सोचने या काम करना होगा, उसे जीवन को मूल्य के अपने मानक के रूप में अपनाना होगा, उसे उन विशिष्ट मूल्यों को ढूंढना होगा जिनकी उसके जीवन को आवश्यकता है। रैंड का कहना है कि चुनावपूर्वक अपनाया हुआ एक मूल्य-तंत्र ही नैतिक नियमावली या आचार-संहिता है।

चूंकि तर्कबुद्धि मनुष्य का अपने अस्तित्व को बनाए रखने का आधारभूत साधन है, इसलिए मनुष्योचित जीवन वह जीवन है जो एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के रूप में मनुष्य के लिए उपयुक्त होता है। तर्कबुद्धि वह शक्ति है जो आदमी की ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त सामग्री को पहचानती है और उसका समन्वय करती है। प्रस्तुत नीतिशास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार तर्कबुद्धिशीलता आदमी का सबसे पहला सद्गुण है और शेष सभी सद्गुणों का स्रोत है। तदनुसार कतराना, सोचने से इन्कार करना, चेतना का निलंबन आदमी का मूल दुर्गुण है। चूंकि आदमी को उन चीजों का उत्पादन करना ही चाहिए जिनकी उसके जीवन को जरूरत है, इसलिए उत्पादन-कार्य उसकी नैतिक संहिता का मुख्य सद्गुण है। चूंकि मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न और संघर्ष करना होना है, इसलिए आदमी को अपने-आपको एक योग्य हिताधिकारी सोचना होगा, अपने

---

१. एन० रैंड, दि वर्चू ऑफ सेल्फिशनेस, पृ० २१।

जीवन को परिरक्षणीय मानना होगा—अतः उसकी आचार-संहिता का एक और मुख्य सद्‌गुण अभिमान है।

कुछ लोग विचार किए बिना या उत्पादक काम किए बिना रहने की कोशिश करते हैं, परंतु उनके अस्तित्व का बना रहना संभव केवल उनकी वजह से होता है जो विचार करते है और उत्पादन करते है। जो मनुष्योचित जीवन बिता रहे है उनका अस्तित्व उनके अस्तित्व के बने रहने के लिए जरूरी है। जो ऐसा जीवन नही बिता रहे हैं, जो तर्कबुद्धि का उपयोग नही कर रहे है,—परोपजीवी है, लुटेरे है।

जो लोग तर्कबुद्धि के द्वारा नही बल्कि बल-प्रयोग से अपना अस्तित्व बनाए रखने की कोशिश करते हैं वे जानवरो के तरीके से अपना अस्तित्व बनाए रखने की कोशिश कर रहे है। परंतु जैसे जानवर पेड पौधो के तरीको के सहारे, चलने-फिरने से इन्कार करके और इस प्रतीक्षा मे रहते हुए कि मिट्टी उन्हे पोषण दे देगी, जीवित नही रह सकते—वैसे ही मनुष्य जानवरो के तरीके को अपनाकर, तर्कबुद्धि को छोडकर और उत्पादन करनेवाले मनुष्यो के ऊपर निर्भर रहते हुए जीवित नही रह सकते। ऐसे लुटेरे विनाश—अपने शिकार और स्वयं अपने विनाश—से एक क्षण के लिए अपने लक्ष्यो को प्राप्त कर सकते हैं। इसके प्रमाण के रूप मे मैं आपके सामने किसी भी अपराधी या तानाशाही तंत्र को प्रस्तुत करूँगी।[1]

तो फिर "मनुष्य के जीवित बने रहने" का मतलब है एक विशिष्ट प्रकार के प्राणी के रूप मे उसका जीवित बने रहना—अर्थात् मनुष्य के रूप मे उसका जीवित बने रहना, यानी एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के रूप मे। तदनुसार,

इसका मतलब किसी क्षणिक या भौतिक अस्तित्व मात्र का बने रहना नही है। इसका मतलब एक बुद्धिशून्य पशु के भौतिक अस्तित्व का बने रहना नही है जिसकी खोपडी को एक क्षण के बाद ही दूसरा पशु चूर-चूर कर देगा। इसका मतलब एक ऐसी रेंगनेवाली पेशी-संहति के क्षणिक भौतिक अस्तित्व का बने रहना नही है जो उसके लिए जिसे "किसी भी कीमत पर जीवित बने रहना" कहते है और जो एक सप्ताह या एक वर्ष तक भी शायद रहे या न

१. वही, पृ० २३-२४।

रहे, कोई भी शर्तें स्वीकार करने के लिए, किसी भी दुष्ट का हुक्म मानने के लिए तथा किन्हीं भी मूल्यों को त्यागने के लिए तैयार हो। "मनुष्य का मनुष्य के रूप में जीवित बने रहने" का मतलब है एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के अपनी पूरी आयु तक उन सभी बातों के सहित जिनका वह चुनाव कर सकता है, जीवित बने रहने के लिए आवश्यक शर्तें, तरीके, परिस्थितियाँ और लक्ष्य।[१]

तब, मनुष्य के रूप में मनुष्य का जीवन इस नैतिक संहिता के मूल्य का मानक है। परंतु प्रत्येक मनुष्य के लिए एक व्यष्टि के रूप में अपना ही जीवन प्रयोजन है। इस नैतिक सिद्धांत में सुख का क्या कार्य है? वह जीवनोपकारक कर्म का संवेगात्मक पुरस्कार दिखाई देता है—यानी सफल जीवन के एक सहचारी भाव के रूप में प्रकट होता है। जीवन मूल्यों की उपलब्धि की माँग करता है। आनंद या प्रसन्नता मनुष्योचित अर्थात् मनुष्य की प्रकृति और आवश्यकताओं के उपयुक्त मूल्यों की उपलब्धि का संवेगात्मक परिणाम है। इस प्रकार अपने जीवन को बनाए रखना तथा अपने आनंद की प्राप्ति एकही उपलब्धि के दो पक्षों के रूप में दिखाई देते हैं। यदि मनुष्य व्याघाती मूल्यों को यानी ऐसे मूल्यों को जिनकी उसकी प्रकृति से और उसकी सहज आवश्यकताओं से तथा वास्तविक तथ्यों से संगति न हो, अपनाता है तो उसका जीवन और उसकी प्रसन्नता दोनों ही खतरे में पड़ जाते हैं। इस प्रकार इस नीतिशास्त्रीय सिद्धांत में मनुष्य का जीवन (और उसके सहचारी के रूप में उसका आनंद) चरम मूल्य है जिसके साधन शेष सब मूल्य हैं। वही एकमात्र वह चीज है जो स्वतः साध्य है।

क्या इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदमी के लिए अपने जीवन को खतरे में डालना या आत्महत्या ही कर बैठना अनुचित है? बिल्कुल नहीं: उदाहरण के लिए, यदि एक आदमी तानाशाही शासन में फँस जाता है, जिसमें काम और सोचने की आजादी नहीं होती और मानव-जीवन के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ असंभव होती हैं तो उसके लिए उससे मुक्त होने या उस शासन को उलटने के लिए युद्ध करने में अपने प्राणों को खतरे में डालना बहुत ही अच्छा होगा; परंतु इस काम का अभिप्रेरक होगा मनुष्योचित जीवन के प्रति

१. वही, पृ० २४।

उसकी निष्ठा तथा एक अवमानवीय अवस्था मे जीवित रहने की उसकी अनिच्छा। अथवा यदि एक आदमी किसी असाध्य बीमारी की यंत्रणा भोगता हुआ मर रहा हो, तो वह यह निश्चय कर सकता है कि उस यंत्रणा को अधिक समय तक भोगते रहने से कोई लाभ नही है, और इसलिए वह अपने जीवन को समाप्त करना चाह सकता है। परंतु तब वह अपने ही शरीर की अनुपयुक्त अवस्था के विरुद्ध विद्रोह करता होगा ; वह एक ऐसी अवस्था के विरुद्ध विद्रोह करता होगा जो न मृत्यु है और न मनुष्य के जीवन के उपयुक्त अवस्था है। यहाँ निश्चय ही तत्व की बात यह नही है कि उसकी आत्महत्या विहित होगी बल्कि केवल यह है कि वह अनिवार्यतः तर्कबुद्धिविरुद्ध नही होगी अथवा मनुष्य के जीवन के सिद्धांत को मूल्य का मानक मानने के विपरीत नही होगी।

मान लो, कोई यह कहता है कि "मुझे सिद्ध करके बताओ कि जीवन मूल्यवान् है।" रैंड कहेगी कि इस प्रार्थना मे एक असंगति है। उनका मत यह है कि मूल्यवान् क्या है, इसकी शर्तें निर्धारित करनेवाला जीवन का अस्तित्व और उसकी प्रकृति है ; जीवन की जो विलक्षण प्रकृति है वही मूल्यों की आवश्यकता को पैदा करती है। यह कहना यह मात्र कह देने से कहीं अधिक है कि मूल्यों का अनुसरण करने के लिए मनुष्य का जीवित रहना जरूरी है। इसका मतलब यह है कि जीवित रहने के लिए मनुष्य को मूल्यों का अनुसरण करना होगा—और यही नीतिशास्त्र का तथा नैतिक मूल्य के सभी प्रश्नो का आधार है। जैसे (रैंड के अनुसार) केवल जीवन का सप्रत्यय ही स्वास्थ्य और रोग जैसे संप्रत्ययो को जन्म देता है—जैसे स्वास्थ्य और रोग की जीवन के मानक और लक्ष्य के संदर्भ से बाहर बात करना निरर्थक होगा—ठीक वैसे ही मूल्यों की, शुभ और अशुभ की किसी जीवित प्राणी की आवश्यकताओ के संदर्भ से बाहर बात करना निरर्थक है। रैंड की धारणा है कि जैसे स्वास्थ्य और रोग के संप्रत्यय उत्पत्ति की तथा ज्ञानमीमासीय दृष्टियों से जीवन के संप्रत्यय पर आश्रित हैं, वैसे ही मूल्य का संप्रत्यय इन्ही दृष्टियों से जीवन के सप्रत्यय पर आश्रित है। इस प्रकार यह कहना कि "सिद्ध करो कि जीवन को मूल्यवान् समझना नैतिक दृष्टि से अनिवार्य है" यह कहने के समान है कि "सिद्ध करो कि जीवन को मूल्यवान् समझना चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से (अर्थात् स्वास्थ्य के लिए) अनिवार्य है।"

२९. आचरण के सिद्धांत

जिन्हें हम मूल्यवान् या उपयुक्त मानते हैं वे चीजें चाहे जो भी हों, अगला प्रश्न स्पष्टतः यह सामने आता है : हमें उन चीजों के संबंध में क्या करना चाहिए ? जहाँ तक इसके बाद के कार्यों का संबंध है, यह पूछा जा सकता है कि फिर क्या करना है। इन बातों पर सोच-विचार करने के फलस्वरूप हमें कैसे काम करना चाहिए ? सबसे अधिक नीतिशास्त्रीय मतभेद यहीं है।

हममें से अधिकतर को बचपन में ही कुछ नैतिक नियमों का पालन करना सिखाया गया था। परंतु अलग-अलग समुदायों द्वारा, विशेषतः अलग-अलग संस्कृतियों में, जो नैतिक नियम माने जाते हैं उनमें तीव्र अंतर पाए जाते हैं। नीचे ऐसे नैतिक नियमों के कुछ उदाहरण हैं जिन्हें विभिन्न समुदाओं ने विभिन्न कालों में आवश्यक समझा है :

मानव-हत्या कभी मत करो।
अपने कबीले के बाहर किसी आदमी को मत मारो।
कभी किसी को अनावश्यक दुःख और पीड़ा मत पहुँचाओ।
जुआ मत खेलो और शर्त मत लगाओ।
व्यभिचार मत करो।
सुअर या मछली मत खाओ।
यदि कोई एक गाल पर चपत मारता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।
जो आपको हानि पहुँचाता है उससे अवश्य बदला लो।
चोरी मत करो।
चोरी करते हुए पकड़े जाने से बचो।
जब तुम्हारे माता-पिता इतने वृद्ध हो जाएँ कि कारवाँ के साथ न चल सकें तब उन्हें मार डालो।
अपने माता-पिता का आदर करो।
कभी झूठ न बोलो।
शत्रु (या अपरिचित) को छोड़कर किसी से झूठ न बोलो।

परंतु आचरण-संबंधी कोई भी धारणा ऐसे नैतिक नियमों की सूची बनाकर चुपचाप नहीं बैठ सकती, और इसके अनेक हेतु हैं : (1) इनमें से कोई भी आचरण का पूरा मार्ग दर्शक नहीं है—प्रत्येक आचरण के एक

सीमित क्षेत्र में ही लागू होता है और यह नहीं बताता कि कोई अन्य प्रसंगों या परिस्थितियों में क्या करे। (२) अनेक नियम परस्पर व्याघाती है और उन सभी का पालन करना तर्कतः असंभव है। शत्रु से झूठ बोलना एक नियम का उल्लंघन है और न बोलना एक और नियम का उल्लंघन है। यदि किसी को ऐसी पीड़ा नहीं पहुँचानी है जो अनावश्यक हो या जिसके बिना काम चल सकता हो तो शायद असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्तियों को उनकी सहमति से (सदा के लिए) आराम की नींद मे सुला देना चाहिए ; पर यह उस नियम का उल्लंघन होगा जो मानव-हत्या का निषेध करता है। (३) नियम आपको यह तो बताता है कि क्या करना है पर यह नही बताता कि आप उसका पालन क्यों करें। हमें जरूरत एक नैतिक सिद्धांत की या सिद्धातो के एक समुच्चय की है जिससे ऐसे नियम निगमित हों और यही हम नीतिशास्त्र में खोजने का प्रयत्न करते हैं। तो फिर, क्या आचरण के कोई सामान्य सिद्धांत है जो यह निर्धारित कर दें कि सभी परिस्थितियो मे किसी को क्या करना चाहिए ? आचरण के (उचित-अनुचित के, या आवंध के) बारे में अनेक मत है जो ऐसे सिद्धांतों को बताने का प्रयत्न करते है जिनसे कुछ विशेष आचरण-नियम व्युत्पन्न होंगे।

अ. सर्वव्यापीकरणीयता

स्वर्ण-नियम—नीतिशास्त्र का एक उपदेश ईसाई धर्म के इस स्वर्ण-नियम में समाविष्ट है : "दूसरों के साथ वही व्यवहार करो जो आप चाहेंगे कि दूसरे आपके साथ करें।" यदि आप चाहते है कि आपके साथ न्याय का वर्ताव हो तो आपको अन्यों के साथ न्याय का वर्ताव करना चाहिए ; यदि आप मुसीबत के समय सहायता चाहते हैं तो आपको दूसरों की मुसीबत में सहायता करनी चाहिए ; इत्यादि। इस उपदेश मे मुख्य रूप से इस बात पर बल दिया गया है कि अपने-आप को अपवाद मत बनाओ : दूसरो से ऐसे वर्ताव की आशा मत करो जो आप दूसरो से करने के इच्छुक न हों, और दूसरो के साथ एसा काम न करो जो आप अपने साथ नहीं होने देना चाहते। इस प्रकार यह एक पक्षपातहीन आचरण का नियम है : अपने-आपको एक विशिष्ट व्यक्ति मत बनाओ ; आपके लिए बिल्कुल ही अपरिचित जो व्यक्ति है (जिसमें आपकी कोई विशेष दिलचस्पी न हो) उसके कर्तव्य का निश्चय करने में आप जितने निष्पक्ष होंगे उतने ही निष्पक्ष आपको

यह विचार करते समय होना चाहिए कि आपका क्या कर्तव्य है। लेकिन स्वर्ण-नियम को जिस रूप मे रखा गया है उसमे थोडी-सी कठिनाइयाँ हैं।

यदि आप किसी ऐसी चीज की इच्छा करें जिसकी अन्य लोग इच्छा नही करते तो क्या होगा ? मुझे बडे दिन पर चाकलेटो का उपहार लेना बहुत ही अच्छा लगता है, इसलिए मुझे अपने सब दोस्तो को चाकलेट उपहार मे देने चाहिए (भले ही वे उनसे घृणा करें)—मैं केवल वही चीज उन्हें दे रहा हूँ जो मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे दें। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने कहा था, "दूसरो के प्रति वह व्यवहार न करो जो आप उनसे अपने प्रति चाहते हैं—उनकी रुचियाँ भिन्न हो सकती हैं।"

लेकिन शायद हम स्वर्ण-नियम का बहुत सकीर्ण अर्थ लगा रहे हैं। शायद उसका यह अर्थ नही लेना चाहिए कि यदि आप चाहते हैं कि लोग आपको रसगुल्ला दें तो आपका उन्हें रसगुल्ला देना चाहिए, बल्कि यह अर्थ लेना चाहिए कि यदि आप चाहते हैं कि लोग आपको उपयोगी या अच्छी चीजें दें तो आपको चाहिए कि आप उन्हें उपयोगी या अच्छी चीजें दें। (और इसमे कोई सदेह नही है कि जो चीजें आपके लिए अच्छी हैं उनसे भिन्न चीजें उनके लिए अच्छी हो सकती हैं।) शायद यह पहले वाले से अच्छा अर्थ है। परतु अब भी हम समस्या के अतस्तल मे नही पहुँचे हैं।

मान लीजिए कि कुछ गैरकानूनी कामो मे आप "वह करने से जो आप चाहते हैं कि आपके साथ किया जाए" बिल्कुल सतुष्ट हैं · तिजोरियो को तोडने या बैंक लूटने के कामो मे आप चाहेंगे कि लोग आपकी मदद करें, और चूँकि आपको इनमे आनद आता है इसलिए आप इसी तरह के कामो मे उनकी मदद करने के लिए पूरी तरह तैयार हैं। शायद स्वर्ण-नियम ऐसे कामो का अनुमोदन नही करेगा। परतु क्यो नही ? इन सब मे आप दूसरो के साथ वही तो करते हैं जो आप उनके द्वारा अपने साथ किया जाना पसद करते हैं ?

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ण-नियम मे मुख्य दोष चाहने के सबध मे है। यदि आप किसी चीज को बहुत ही ज्यादा चाहते हैं (चाहे वह अच्छी हो या बुरी), तो आप ऐसी चीजो मे दूसरो से सहायता पाने के बदले मे उनकी सहायता करने के बहुत इच्छुक हो सकते हैं। परतु क्या इससे वे चीजें उचित हो जाएँगी ? स्वर्ण-नियम का जरा अधिक सावधानी के साथ कथन करना

चाहिए : "यदि कोई काम करना आपके लिए उचित है तो वह अन्यों के लिए भी उचित है ; और यदि वह उनके लिए अनुचित है तो आपके लिए भी अनुचित है ।" ऐसा नहीं हो सकता कि अन्य लोगों की अंधाधुंध हत्या करना तथा रुपए-पैसे-संबंधी लेन-देन में छल करना आपके लिए उचित हो और दूसरों के लिए अनुचित, अथवा उनका आपके ऊपर हमला करना गलत हो और आपका उनके ऊपर हमला करना गलत न हो । इस प्रकार अर्थ लगाने पर स्वर्ण-नियम पक्षपातहीनता मात्र का एक नियम बन जाता है, और यह बताता है कि कोई भी व्यक्ति स्वयं को विशिष्ट या अपवादस्वरूप न समझे ।

परंतु निश्चय ही वह आपको यह नही बताता कि उचित या अनुचित, सही या गलत क्या है ; वह तो सिर्फ यह बताता है कि यदि एक काम करना दूसरों के लिए गलत है तो वह आपके लिए भी गलत है । फिर भी, क्या यह निर्दोष लगनेवाला कथन सत्य है ? तब क्या होगा जब आपकी विशेष परिस्थितियाँ भिन्न हों ? यदि आप यह निश्चय करते है कि आपके पड़ोसियों को तलाक न मिले तो क्या आप इस बात से बंध जाते हैं कि आपको भी न मिले ? नहीं, क्योंकि आपकी परिस्थितियाँ भिन्न हो सकती हैं : उनके शायद बच्चे हों जबकि आप और आपकी पत्नी निःसंतान हों, और शायद आपकी कठिनाइयों का कोई उपाय हो जबकि उनकी कठिनाइयों का कोई उपाय न हो । नियम आपको सिर्फ यह बताता है कि यदि किसी दूसरे का एक काम गलत (या सही) हो तो वह आपके लिए भी गलत (या सही) है, बशर्ते आपको ठीक वही परिस्थितियाँ हों । परंतु अवश्य ही कभी ऐसा नहीं होता कि आपकी ठीक वही परिस्थितियाँ हों जो अन्य लोगों की हैं । अतः यह नियम व्यर्थ प्रतीत होता है । उपयोगी बनाने के लिए उसे नरम बनाना होगा : यदि कोई काम उनके लिए गलत है तो यह आपके लिए भी गलत है, बशर्ते आपकी परिस्थितियाँ उनकी परिस्थितियों के काफी समान हों या महत्वपूर्ण बातों में समान हों । परंतु इससे कुछ नई समस्याएँ पैदा होती है : परिस्थितियाँ काफी समान कब होती हैं ? और महत्वपूर्ण बातों में समान वे कब होती हैं ? महत्वपूर्ण बात क्या होती है ? जब तक इन कठिन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे दिया जाता तब तक उक्त नियम से हमें कोई स्पष्ट निर्देशन प्राप्त नहीं होता ।

निरपेक्ष नियोग—इमानुएल कान्ट ने स्वर्ण-नियम से कुछ बातों में मिलता-जुलता और उसके दोषों को दूर करने के उद्देश्य से एक नैतिक सिद्धांत प्रस्तुत किया था : "वह काम करो जिसके आधारभूत सिद्धांत को आप मानवीय आचरण का एक सर्वव्यापक नियम बनाना चाह सकें।" यदि आप किसी समझौते को इसलिए तोड़ना चाहते हैं कि वह अब आपके लिए लाभदायक नहीं रहा, तो आपके काम का आधारभूत सिद्धांत (या "निजी नियम") है "यदि समझौते का पालन आपके लिए लाभदायक न रहे तो उसे तोड़ डालिए"। क्या आप यह चाहेंगे कि प्रत्येक इस नियम का, विशेषतः आपके साथ व्यवहार करने में, अनुसरण करे ? आप किसी समझौते (वचन या अनुबंध) को, जब वह आपके लिए दुःखदायी हो जाए तब, तोड़ना चाह सकते हैं, परंतु क्या आप यह भी चाहेंगे कि अन्य लोग आपके साथ हुए समझौते को अपनी सुविधानुसार तोड़ दें, विशेषतः तब जब आपको समझौते के पालन का बहुत बड़ा सहारा हो ? स्पष्टतः आप यह नहीं चाहेंगे कि वे इस तरह आपके साथ व्यवहार करें, और इसलिए (आपके एक विशिष्टता-प्राप्त व्यक्ति न होने से) आपको उनके साथ उस तरह का व्यवहार नही करना चाहिए।

यहाँ तक निरपेक्ष नियोग स्वर्ण-नियम से बहुत मिलता-जुलता है। परंतु अब कुछ अतर दिखा देने चाहिए। कुछ ऐसे उपदेश है जिनका सर्वव्यापीकरण नहीं हो सकता, जिनका सर्वव्यापीकरण वस्तुतः तार्किक रूप में असंभव होता है। "परोपजीवी बनो" का सर्वव्यापीकरण नही हो सकता, क्योंकि यदि हरेक परोपजीवी हो जाए तो कोई ऐसा बचेगा ही नही जिसके सहारे कोई जीवित रह सके। "अखबार मत खरीदो, किसी की पीठ की तरफ से उसका अखबार पढकर काम चला लो" का भी इसी वजह से सर्वव्यापीकरण नहीं हो सकता। इसी तरह "दर्शन का अध्यापक बनो" को सर्वव्यापी नहीं बनाया जा सकता : यदि हरेक अध्यापक बन जाए तो विद्यार्थी कौन रहेगा ? और खाना तथा मकान कहाँ से आएगा ? इत्यादि। निश्चय ही, यह कहने से काम नहीं चलेगा कि जब तक प्रत्येक का वह कर्तव्य न हो तब तक किसी का भी वह कर्तव्य नहीं है।[१]

परंतु अन्य नियम ऐसे हैं जिनका सर्वव्यापीकरण संभव है, हालांकि उनका

---

१. इस प्रसंग में देखिए मार्कस सिंगर, जनरलाइजेशंस इन इथिक्स।

सर्वव्यापीकरण शायद वांछनीय न हो। आप यह निश्चय कर सकते हैं कि मुसीबत में पड़े हुए किसी भी अन्य व्यक्ति की आप कभी मदद नहीं करेंगे : "मैं दूसरों से अलग ही रहूँगा, बशर्ते वे मुझसे अलग रहें," ऐसा आप कह सकते हैं, और इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिसका सर्वव्यापीकरण असंभव हो। एक पूरा समाज इस तरह रह सकता है। परंतु समाज इस नियम का भी अनुसरण कर सकता है कि "आपको मुसीबत में पड़े हुए अन्य लोगों की मदद करनी चाहिए और उन्हें भी मुसीबत में आपकी मदद करनी चाहिए।" ये दोनों ही विकल्प संभव हैं और कान्ट का निरपेक्ष नियोग हमें यह नहीं बताता कि इन दो नियमों में से किसका अनुसरण करना चाहिए। पक्षपातहीनता की दोनों ही से पूर्ण संगति है। यही बात तब भी लागू होती है जब नियम ये हों: "मेरे लिए दूसरों की चोरी करना उचित है और दूसरों के लिए मेरी चोरी करना उचित है" तथा "मेरे लिए अपने रेडियो सेट को पूरी आवाज पर चलाकर अपने पड़ोसियों को रात भर जागते रखना उचित है और मैं उनकी ओर से भी इस काम को उचित मानता हूँ।" ये सब नियम सब पर लागू किए जा सकते हैं ; पर फिर भी ऐसे कुछ नियम अवश्य ही अन्यों से अधिक वांछनीय होते हैं ? जो भी हो, उन सबका सर्वव्यापीकरण तर्कतः असंभव है, क्योंकि वे परस्पर व्याघाती हैं (हालाँकि प्रत्येक का अकेले सर्वव्यापीकरण संभव है)।

क्या यह कहने के बजाय कि आपके काम के आधारभूत सिद्धांत का सर्वव्यापीकरण हो सकता हो, कान्ट की तरह यह कहने से परिस्थिति में कुछ सुधार किया जा सकता है कि आप अपने काम के आधारभूत सिद्धांत का सर्वव्यापीकरण चाह सकते हों ? नियम के कथन में वस्तुतः यह परिवर्तन किया जा सकता है, परंतु क्या इससे कुछ सुधार होगा ? इससे तो नियम का लागू होना अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ हो जाएगा, क्योंकि किस बात का कोई सर्वव्यापीकरण चाहेगा, यह इस पर निर्भर करता है कि चाहनेवाला कौन है। जो व्यक्ति खतरों से भरा जीवन पसंद करता है वह यातायात से संबंधित थोड़े-से कानूनों से ही या उनके बिल्कुल न होने से संतोष कर लेगा—वह नहीं चाहता कि लाल बत्ती पर अवश्य ही रुका जाय और न यही जरूरी समझता है कि दूसरे उसके लिए लाल बत्ती पर रुकें (यदि यह बाद वाली बात न हो तो वह इस नियम को निष्पक्ष रूप से लागू करना नहीं चाहेगा)। अथवा एक आदमी यह

निरपेक्ष नियोग—इमानुएल कान्ट ने स्वर्ण-नियम से कुछ वातों में मिलता-जुलता और उसके दोषों को दूर करने के उद्देश्य से एक नैतिक सिद्धांत प्रस्तुत किया था : "वह काम करो जिसके आधारभूत सिद्धांत को आप मानवीय आचरण का एक सर्वव्यापक नियम बनाना चाह सकें।" यदि आप किसी समझौते को इसलिए तोड़ना चाहते है कि वह अब आपके लिए लाभदायक नही रहा, तो आपके काम का आधारभूत सिद्धांत (या "निजी नियम") है "यदि समझौते का पालन आपके लिए लाभदायक न रहे तो उसे तोड़ डालिए"। क्या आप यह चाहेंगे कि प्रत्येक इस नियम का, विशेषत: आपके साथ व्यवहार करने में, अनुसरण करे ? आप किसी समझौते (वचन या अनुबंध) को, जब वह आपके लिए दु:खदायी हो जाए तब, तोड़ना चाह सकते हैं, परंतु क्या आप यह भी चाहेंगे कि अन्य लोग आपके साथ हुए समझौते को अपनी सुविधानुसार तोड़ दें, विशेषत: तब जब आपको समझौते के पालन का बहुत बड़ा सहारा हो ? स्पष्टत: आप यह नहीं चाहेगे कि वे इस तरह आपके साथ व्यवहार करें, और इसलिए (आपके एक विशिष्टता-प्राप्त व्यक्ति न होने से) आपको उनके साथ उस तरह का व्यवहार नही करना चाहिए।

यहाँ तक निरपेक्ष नियोग स्वर्ण-नियम से बहुत मिलता-जुलता है। परंतु अब कुछ अतर दिखा देने चाहिए। कुछ ऐसे उपदेश है जिनका सर्वव्यापीकरण नहीं हो सकता, जिनका सर्वव्यापीकरण वस्तुत: तार्किक रूप मे असंभव होता है। "परोपजीवी बनो" का सर्वव्यापीकरण नही हो सकता, क्योंकि यदि हरेक परोपजीवी हो जाए तो कोई ऐसा बचेगा ही नही जिसके सहारे कोई जीवित रह सके। "अखबार मत खरीदो, किसी की पीठ की तरफ से उसका अखबार पढ़कर काम चला लो" का भी इसी वजह से सर्वव्यापीकरण नहीं हो सकता। इसी तरह "दर्शन का अध्यापक बनो" को सर्वव्यापी नही बनाया जा सकता : यदि हरेक अध्यापक बन जाए तो विद्यार्थी कौन रहेगा ? और खाना तथा मकान कहाँ से आएगा ? इत्यादि। निश्चय ही, यह कहने से काम नहीं चलेगा कि जब तक प्रत्येक का वह कर्तव्य न हो तब तक किसी का भी वह कर्तव्य नही है।[1]

परंतु अन्य नियम ऐसे हैं जिनका सर्वव्यापीकरण संभव है, हालांकि उनका

---

१. इस प्रसंग में देखिए मार्कस सिंगर, जनरलाइजेशंस इन इथिक्स।

सर्वव्यापीकरण शायद वांछनीय न हो। आप यह निश्चय कर सकते हैं कि मुसीबत में पड़े हुए किसी भी अन्य व्यक्ति की आप कभी मदद नहीं करेंगे : "मैं दूसरों से अलग ही रहूँगा, बशर्ते वे मुझसे अलग रहें," ऐसा आप कह सकते है, और इसमें ऐसी कोई बात नही है जिसका सर्वव्यापीकरण असंभव हो। एक पूरा समाज इस तरह रह सकता है। परंतु समाज इस नियम का भी अनुसरण कर सकता है कि "आपको मुसीबत में पड़े हुए अन्य लोगों की मदद करनी चाहिए और उन्हें भी मुसीबत में आपकी मदद करनी चाहिए।" ये दोनों ही विकल्प संभव है और कान्ट का निरपेक्ष नियोग हमें यह नहीं बताता कि इन दो नियमों में से किसका अनुसरण करना चाहिए। पक्षपातहीनता की दोनों ही से पूर्ण संगति है। यही बात तब भी लागू होती है जब नियम ये हों: "मेरे लिए दूसरों की चोरी करना उचित है और दूसरों के लिए मेरी चोरी करना उचित है" तथा "मेरे लिए अपने रेडियो सेट को पूरी आवाज पर चलाकर अपने पड़ोसियों को रात भर जागते रखना उचित है और मैं उनकी ओर से भी इस काम को उचित मानता हूँ।" ये सब नियम सब पर लागू किए जा सकते है ; पर फिर भी ऐसे कुछ नियम अवश्य ही अन्यों से अधिक वांछनीय होते है ? जो भी हो, उन सबका सर्वव्यापीकरण तर्कतः असंभव है, क्योंकि वे परस्पर व्याघाती हैं (हालाँकि प्रत्येक का अकेले सर्वव्यापीकरण संभव है)।

क्या यह कहने के बजाय कि आपके काम के आधारभूत सिद्धांत का सर्वव्यापीकरण हो सकता हो, कान्ट की तरह यह कहने से परिस्थिति में कुछ सुधार किया जा सकता है कि आप अपने काम के आधारभूत सिद्धांत का सर्वव्यापीकरण चाह सकते हों ? नियम के कथन में वस्तुतः यह परिवर्तन किया जा सकता है, परंतु क्या इससे कुछ सुधार होगा ? इससे तो नियम का लागू होना अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ हो जाएगा, क्योंकि किस बात का कोई सर्वव्यापीकरण चाहेगा, यह इस पर निर्भर करता है कि चाहनेवाला कौन है। जो व्यक्ति खतरों से भरा जीवन पसंद करता है वह यातायात से संबंधित थोड़े-से कानूनों से ही या उनके बिल्कुल न होने से संतोष कर लेगा—वह नहीं चाहता कि लाल बत्ती पर अवश्य ही रुका जाय और न यही जरूरी समझता है कि दूसरे उसके लिए लाल बत्ती पर रुकें (यदि यह बाद वाली बात न हो तो वह इस नियम को निष्पक्ष रूप से लागू करना नहीं चाहेगा)। अथवा एक आदमी यह

सोच सकता है कि चोरी करना, यदि यह करते हुए वह पकड़ा न जाए तो, साहस का उत्कृष्ट काम है ; हम शायद यह शक करें कि वह विना रोक-टोक के चोरी का काम करना चाहता है पर यह नहीं चाहता कि दूसरे उसकी चोरी करें—और यदि यह बात है तो वह फिर नियम को निष्पक्ष रूप से लागू करना नही चाहता। परंतु मान लो कि वह इस बात के लिए भी तैयार है कि दूसरे उसकी चोरी करें। वह यह कह सकता है ; "जब तक मैं रंगे हाथ पकड़ा न जाऊँ तब तक चोरी चल सकती है, और जो मेरी चोरी करता है वह भी जब तक रंगे हाथ न पकड़ा जाए तब तक ठीक है। यदि वह इसमें सफल हो सकता है तो मुझे उसे श्रेय देना होगा।" जिस तरह की दुनिया को ऐसा व्यक्ति पसंद करेगा वह उसकी अपेक्षा अधिक खतरनाक और अनपेक्षित घटनाओं वाली दुनिया होगी जो चोरी को बिल्कुल निषिद्ध ठहराती है, परंतु ऐसी दुनिया तर्कतः संभव है तथा अनेक निष्पक्ष भाव से सचमुच चाहते होंगे कि दुनिया ऐसी हो जाए। जिस बात का एक प्रकार के स्वभाव और एक प्रकार की इच्छाओं वाला व्यक्ति सर्वव्यापीकरण चाहेगा उसका एक भिन्न स्वभाव और भिन्न इच्छाओं वाला व्यक्ति सर्वव्यापीकरण नहीं चाहेगा।

तो फिर किस कसौटी से हमें यह बताना है कि कौन-से नियम का सर्वव्यापीकरण होना चाहिए ? यह हम मानते है कि जो भी वे हैं उन्हें लागू निष्पक्षता के साथ करना चाहिए ; परंतु चूंकि ऐसे नियम बहुत है जो परस्पर व्याघाती होते है और फिर भी उन्हें निष्पक्षता के साथ लागू किया जा सकता है, इसलिए हमारे सामने यह सवाल रह जाता है कि वे कौन-से नियम हैं जिन्हें लागू करना वांछनीय है, और यह हम बताएँ कैसे। निष्पक्षता नैतिक नियमों की एक अनिवार्य शर्त हो सकती है, परंतु वह पर्याप्त शर्त नही है, क्योंकि यह बताने के लिए कि किन नियमों को लागू किया जाना चाहिए, हमें अन्य सिद्धान्तों की जरूरत होती है। और इससे हम आचरण-संबंधी अन्य मतों में पहुँच जाते हैं।

परंतु पहले हम नैतिक नियमों के बारे में स्पष्टीकरण के बतौर एक शब्द कह देते हैं। क्या सभी नैतिक नियम इस अर्थ में सर्वव्यापी है कि वे हरेक पर लागू होते हैं ? क्या "उन सभी को दंड मिलना चाहिए जो हत्या करते हैं" हरेक पर लागू होता है, या केवल उन्हीं पर जो हत्या करते हैं ? यह

नियम अवश्य ही सर्वव्यापी है, क्योंकि वह हेतुफलात्मक है : "यदि कोई हत्या करता है तो उसे दंड दिया जाना चाहिए।" इस तरह वह हरेक पर लागू होता है—यह प्रत्येक के बारे में सत्य है कि यदि वह हत्या करता है तो उसे दंड दिया जाना चाहिए। इसके अलावा, इस नियम के अंदर ही कुछ शर्तें हो सकती हैं और तब भी वह सर्वव्यापी हो सकता है : "जो आत्मरक्षा को छोड़ कर सब परिस्थितियों में मानव-हत्या करते हैं उन सबको दंड मिलना चाहिए" भी सर्वव्यापी है : यह प्रत्येक व्यक्ति के बारे में सही है (यदि यह नियम स्वीकृत हो तो) कि यदि वह आत्मरक्षा के अलावा अन्य परिस्थितियों में मानव-हत्या करता है तो वह दंडनीय है।

लेकिन यह कहने का कि एक नियम सर्वत्र लागू होता है, यह मतलब नहीं है कि वह एक अच्छा या स्वीकार्य नियम है। "जितने भी लोगों के नाम ब अक्षर से शुरू होते है उन्हें गबन के दंड से मुक्त होना चाहिए" निश्चय ही एक अच्छा नियम नहीं है (वजह हम बाद में बताएँगे), हालांकि यह सर्वव्यापी है। असल में कोई व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग किए बिना एक ऐसा नियम बना सकता है जिसमें वह अपने-आप को दंड से मुक्त रखे : "सब व्यक्तियों को चोरी के लिए दंड मिलेगा, बशर्ते वे ५ फीट ११ इंच लंबे, १६० पौ० वजन के, नीली आंखों वाले इत्यादि न हो" (शर्तो को इतना बढाया जा सकता है कि अंत में केवल वक्ता ही ऐसा रह जाएगा जो दंड से मुक्त रहे)। फिर भी यह नियम सर्वव्यापी है क्योंकि वह यह कहता है कि यदि कोई आगे दी हुई शर्तों को पूरा करता हो तो ····· · ······। इसके अलावा, प्रत्येक व्यक्ति नियम को इस रूप में रख सकता है कि वह स्वयं दंड या आरोप से मुक्त रहे। स्पष्टतः यह पूछना होगा कि इन विचित्र और मनमाने अपवादों के क्या हेतु हैं, परंतु इससे हमें ऐसी स्थितियों की छानबीन करनी होगी जो स्वयं नियम की सर्वव्यापीकरणीयता से भिन्न है, क्योंकि नियम स्वयं तब तक सर्वव्यापी है जब तक वह "यदि" वाले उपवाक्य में बताई हुई शर्तों को पूरा करने वाले हरेक व्यक्ति पर लागू होता है।

आ. नैतिक स्वार्थवाद

व्यक्ति किन नियमों के अनुसार आचरण करे ? नैतिक स्वार्थवाद अपने सभी रूपों में यह कहता है कि व्यक्ति के कर्मों का लक्ष्य उसका अपना हित

होना चाहिए : उसका लक्ष्य उस चीज की वृद्धि होना चाहिए जिससे अंततोगत्वा उसका लाभ हो। विभिन्न नैतिक स्वार्थवादियों में इस बात में मतभेद हो सकता है कि किन कामों का यह परिणाम होगा, परंतु यह ज्ञात हो जाने पर कि एक काम अन्य काम की अपेक्षा कर्ता के दीर्घकालीन हित का अधिक अच्छा साधक है, कर्ता को वह काम करना चाहिए।

पहले ऐसा लगेगा कि जो मेरे हित का साधक है उस काम को करना और जो मै करना चाहता हूँ उस काम को करना एकही बात है। परंतु ऐसा नही है : एक आदमी यह चाह सकता है कि रोज नशा करे, लेकिन ऐसा करने से उसके दीर्घकालीन हित की वृद्धि नही होगी, क्योंकि इसकी उसे इष्ट अन्य बातों से संगति नही होगी, जैसे दीर्घायु होना, ढलती उम्र में दर्दों और पीडाओ से मुक्त रहना, तथा आय के स्रोत का लगातार बने रहना। अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना इन दीर्घकालीन लक्ष्यो की प्राप्ति की एक अनिवार्य शर्त है, और इसलिए स्वार्थ के लिए ही उसे ऐसा करना चाहिए, भले ही वह कुछ ऐसी चीजो को न करना चाहे जो इसे संभव करने के लिए आवश्यक हैं। शायद वह दूसरे लोगो से बर्ताव करने में ईमानदार न होना चाहे, परंतु यदि वह समाज मे अच्छा कहलाना चाहता है तो उसे ऐसा होना ही होगा, और यदि उनके साथ अपने व्यवहार को वह लगातार बनाए रखना चाहता है तो यह उसकी आवश्यकता है। तो फिर, वह करना जो आप चाहते है और वह करना जो आपके अपने ही दीर्घकालीन हित का साधक है, एकही चीज बिल्कुल भी नही है। हो सकता है कि एक आदमी "खाओ, पियो और मौज उडाओ" का जीवन बिताना चाहे, परंतु इस प्रकार का जीवन अंत मे शायद ही उसके लिए हितकारी हो। अतः स्वार्थ की दृष्टि से भी उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।

एपिक्यूरसवाद— लेकिन स्वार्थवादियो का इस बारे मे अत्यधिक मतभेद रहा है कि किस प्रकार का जीवन अच्छा है। प्राचीन काल में नैतिक स्वार्थवाद के प्रमुख समर्थक एपिक्यूरस के अनुयायी थे। उनका मत यह था कि हरेक आदमी को इस तरह अपने जीवन को चलाना चाहिए कि उसे अधिकतम सुख प्राप्त हो (उन्होंने सुख को एकमात्र स्वतःशुभ चीज माना, जिससे "जो मेरे लिए शुभ है" का मतलब "जो मेरे अधिकतम सुख का साधक है" हो जाता है)। और इस बारे मे उनके निश्चित विचार थे कि प्रत्येक व्यक्ति को

अधिकतम सुख कैसे प्राप्त हो सकता है प्रत्येक व्यक्ति को सयम का जीवन बिताना चाहिए, न बहुत ज्यादा खाना-पीना चाहिए और न अधिक घनिष्ठ व्यक्तिगत सबध लोगो से रखने चाहिए। उसे केवल उतना ही खाना-पीना चाहिए जितना जीवित रहने के लिए आवश्यक हो, और स्वय को अधिक कीमती खान-पान का अभ्यस्त नही बनाना चाहिए, ताकि वह उसका आदी न बन जाए और कम-से-कम अपच तथा बाद मे होनेवाली गभीर बीमारियो से बचा रहे। उसे दूसरो के साथ घनिष्ठ सबध नही रखने चाहिए, क्योकि वे उसके साथ धोखा कर सकते है, उसे छोड सकते है, या मर सकते है और प्रेम-सबध मे जो ईर्ष्या और कटुता हो जाती है उससे मिलने वाले दुख की मात्रा उस क्षणिक सुख की मात्रा से अधिक होती है जिसका इस सबध की पराकाष्ठा पर अनुभव होता है। वस्तुत आदमी का किसी भी ऐसी चीज से लगाव नही होना चाहिए—चाहे वह *भौतिक चीज हो या दूसरा व्यक्ति हो*—जिसके नष्ट होने की सभावना होती है और जो उसके वश के बाहर हो। आदमी को ठढा, शात और *एकाएक भाग्य-विपर्यय* हो *जाने की घटना के साथ भावात्मक* सामजस्य बनाकर रहना चाहिए। जैसे अपने-आप को घनिष्ठ व्यक्तिगत सबधो मे उलझने से बचाकर रखना चाहिए ताकि आदमी दूसरो की बदलती हुई सनको का आश्रित बनकर न रहे, वैसे ही राजनीतिक और नागरिक गतिविधियो मे भाग लेने से भी बचाकर रखना चाहिए, क्योकि (उनका तर्क था कि) उनमे भाग लेने से आदमी कभी अधिक सुखी नही होता, बल्कि अपने आदर्शवादी स्वप्नो के पूरे न होने से उसे निराश ही होना पडता है। आदमी को इन सब बातो से विमुख रहना चाहिए और अपने आप से ही सतोष प्राप्त करना चाहिए। (*अत मे वह अपने अलावा किस पर निर्भर रहेगा?*) असल मे, एपिक्यूरसीय नीतिशास्त्र सुख की प्राप्ति का उपाय उतना नही है जितना दुख से बचे रहने का है।

निस्सदेह, कोई बडी आसानी से एक नैतिक स्वार्थवादी होते हुए भी एपिक्यूरसवाद के सिद्धातो *को अस्वीकार कर सकता है। कोई यह माने बगैर स्वहित साधन मे विश्वास कर सकता है कि अपना हित अधिकतम सुख प्राप्त* करने मे है। और यदि कोई सुखवादी भी हो तथा यह विश्वास करता भी हो कि शुभ सुख की प्राप्ति मे निहित है, तो भी वह यह मानने से इन्कार कर सकता है कि एपिक्यूरसवादियो ने उसके जो साधन बताए हैं वे सर्वोत्तम

हैं : कोई यह कह सकता है कि एपिक्यूरसवादियो के इस तरह के कथन कि "अमुक कामो से व्यक्ति अधिकतम सुख प्राप्त कर सकेगा" सही नही हैं। कोई यह मान सकता है कि मानवीय कार्य-कलाप मे तथा व्यक्तिगत सबधो मे उलझा हुआ जीवन शात, उदासीन तथा निर्लिप्त साक्षिभाव वाले एपिक्यूरसोक्त जीवन की अपेक्षा अधिक सुखद होता है। यह माना जाता है कि एपिक्यूरसीय मत कुछ ऐसा है कि "न गेंद पर चोट पडेगी, न दौडना पडेगा और न गलतियाँ ही होगी' (क्रिकेट के खेल मे) और कि सर्वोत्तम जीवन वह होता है जिसमे थोडी-बहुत रागात्मकता (शायद कुछ वैराग्य के साथ मिली-जुली) होती है, तथा यह कि भले ही धन की हानि हो जाए या जिससे प्रेम किया है उसकी मृत्यु हो जाए, पर कभी प्रेम न करने की अपेक्षा प्रेम करके उसे खो देना अच्छा है। वास्तव मे एपिक्यूरसवाद के सभी सिद्धातो का—अपने दीर्घकालिक सुख को अधिक-से अधिक किस प्रकार बढाया जाए, इस बारे मे—इद्रियानुभविक आधार पर प्रतिवाद किया जा सकता है। कोई उन सबका विरोध करने के बावजूद भी नैतिक स्वार्थवादी हो सकता है।

भले ही एपिक्यूरसवाद दूरदर्शी स्वार्थवाद (अपने जीवन को बिताने के लिए एक दीर्घकालिक योजना के अनुसार काम करनेवाला) होने का दावा करे, यह सदेह फिर भी पैदा होता है कि एपिक्यूरसवादी कही एक सिर्फ निकट की चीजें देख सकनेवाला स्वार्थवादी तो नही है। वह लबी अवधि की योजना बनाता है, परतु अपने नियत्रण मे न रहनेवाली चीजो मे उलझने का उसे इतना अधिक डर है कि वह अनावश्यक रूप से अनेक ऐसे अनुभवो से वचित रह जाता है जिनमे उसे अधिकतम सतोष प्राप्त हुआ होता, बशर्ते उसने उन्हे होने देने के लिए स्वय को तैयार मान किया होता। अठारहवी शताब्दी मे "प्रबुद्ध स्वार्थ' के सबध मे अनेक मत प्रस्तुत किए गए, परतु यह दिखाने के लिए कि नैतिक स्वार्थवाद के शीर्षक के अतर्गत कितना अधिक भिन्न एक मत शामिल किया जा सकता है, हम बीसवी शताब्दी के एक मत पर सक्षेप मे विचार कर सकते है यह है एन॰ रैड का आचरण सिद्धात, जिसके शुभ-विषयक सिद्धात को हम पहले ही बता चुके हैं।

तर्कबुद्धिपरक स्वार्थ—हम पहले ही बता चुके है (पृ० ८८४-९) कि रैड के मतानुसार, शुभ या अशुभ क्या है, यह निर्णय करने के लिए मानक मनुष्य का जीवन है—यानी वह जो मनुष्य के रूप मे जीवित रहने के

लिए मनुष्य के लिए आवश्यक है ; और यह कि चूंकि तर्कबुद्धि जीवित बने रहने का आधारभूत साधन है इसलिए जो एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के जीवन के लिए उपयुक्त है वह शुभ है तथा जो उसके विपरीत है या उसका नाशक हो सकता है वह अशुभ है। चूंकि जीवन जीवों का व्यष्टिगत गुण है, इसलिए अलग-अलग मनुष्यों के लिए स्वयं अपना जीवन ही नैतिक उद्देश्य है। इस प्रकार यह सिद्धांत नैतिक स्वार्थवाद का ही एक रूप बन जाता है।

उद्देश्य और मानक के अंतर को हम पहले ही रोगी और चिकित्सक के उदाहरण में दिखा चुके है : किसी रोगी के इलाज में चिकित्सक का उद्देश्य उसे (अन्यों को नहीं बल्कि उस विशेष रोगी को) पहले की स्वस्थ अवस्था में ले आना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चिकित्सक को मनुष्य की शारीरिक प्रकृति और आवश्यकताओं के, मानवीय स्वास्थ्य और रुग्णता के कारणों के अपने ज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन और स्वास्थ्य (तथा इस विषय से संबंधित संपूर्ण चिकित्साशास्त्रीय ज्ञान) वह मानक है जिससे चिकित्सक उस विशेष रोगी के शारीरिक कल्याण की प्राप्ति के अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति करने में सफल होता है।

रैंड के अनुसार आदमी स्वयं साध्य है, न कि अन्यों के साध्यों का साधन। एक व्यष्टि का जीवन अपने-आप में एक साध्य होता है। आदमी का नैतिक उद्देश्य अपने ही तर्कबुद्धिमूलक स्वार्थ की प्राप्ति है। सामाजिक संबंधों में न किसी को दूसरों के लिए स्वहित का त्याग करना चाहिए और न दूसरों की कीमत पर अपने हित को प्राप्त करना चाहिए ; दूसरों के साथ व्यवहार लेन-देन, मूल्य-विनिमय, पारस्परिक हित-साधन के लिए स्वेच्छापूर्वक सहमति के आधार पर करना चाहिए।

क्या इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किन्हीं परिस्थितियों में एक आदमी को दूसरे आदमी की सहायता करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए ? बिल्कुल नहीं :

जिनको एक व्यक्ति प्यार करता है उनके कल्याण की चिंता उसके स्वार्थ का ही एक तर्कबुद्धिमूलक भाग है। यदि एक आदमी जो अपनी पत्नी से उत्कट प्रेम करता है उसकी एक भयानक बीमारी के इलाज में अपना सर्वस्व खर्च कर डालता है तो यह दावा करना मूर्खतापूर्ण होगा कि वह यह त्याग उसी के खातिर करता है, स्वयं अपने खातिर नहीं, और कि उसका जीवित

रहना या मर जाना व्यक्तिगत रूप से और स्वार्थ की दृष्टि से उसके अपने लिए कोई अतर नही रखता ।

जिन्हे एक व्यक्ति प्यार करता है उनके हित के लिए वह जो भी काम हाथ मे लेता है वह तब कोई त्याग नही होता जब उसके मूल्य-सोपान मे, जितने विकल्प उसके सामने खुले है उनके पूरे सदर्भ मे, किसी ऐसी चीज की उससे प्राप्ति होती है जिसका उसके लिए अधिकतम वैयक्तिक (और तर्कबुद्धिमूलक) महत्त्व होता है ।····

यदि किसी का दोस्त मुसीबत मे है तो उसे उसकी आत्म-बलिदान को छोडकर जो भी उपाय उचित हो उसका सहारा लेकर सहायता करनी चाहिए । उदाहरण के लिए, यदि दोस्त भूख से व्याकुल है तो स्वय अपने लिए कोई जुगत खरीदने के बजाय खाने की चीज खरीदने के लिए उसे पैसा दे देना कोई बलिदान नही है बल्कि निष्ठा का काम है, क्योकि व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत मूल्यो के सोपान मे दोस्त का हित एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यदि वह जुगत दोस्त के कष्ट से अधिक महत्त्व रखती है तो उसका दोस्ती का दम भरना व्यर्थ है ।[1]

एक बडे पैमाने पर परतु उसी सिद्धात के अनुसार वह सरकार जिसके शासन मे कोई रहता है उसके जीवन के लिए बहुत बडा वैयक्तिक और स्वार्थमूलक महत्व रखती है । एक तर्कबुद्धिपरक स्वार्थवादी अपने देश मे किसी तानाशाही शासन को स्थापित होने से रोकने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार पूरी कोशिश करेगा, क्योकि तानाशाही शासन उसके अधिकारों को, उसकी आजादी को और सभवत उसके जीवन ही को छीनकर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देगा जिनमे तर्कबुद्धिपरक स्वार्थ की प्राप्ति असभव हो जाएगी ।

रैंड के स्वहित सिद्धात के विशिष्ट स्वरूप को समझने के लिए उसके मानवीय अधिकारो से सबधित सिद्धात पर विचार कर लेना जरूरी है, जो कि उसके नैतिक सिद्धात का आधार है और जो उसे स्वार्थवाद के अन्य रूपो से बिल्कुल अलग कर देता है । प्रत्येक आदमी कुछ मौलिक अधिकार रखता है, इसलिए नहीं कि वे ईश्वर ने उसे प्रदान किए है या समाज ने उनको

---

१. रैंड, "दि एथिक्स ऑफ इमर्जेंसीज," दि वर्चूज आफ सेल्फिशनेस, पृ० ४५-४६ ।

अनुमति दी है (अनुमति सदैव रद्द की जा सकती है) बल्कि इसलिए कि वह एक तर्कबुद्धिशील प्राणी है और इस रूप में उसकी एक प्रकृति है। अधिकार एक सामाजिक संदर्भ में अस्तित्व बनाए रखने की उन शर्तों को बताते हैं जो एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के उपयुक्त होती हैं।

"अधिकार" एक सामाजिक संदर्भ में आदमी की कर्म करने की स्वतंत्रता को निर्धारित करनेवाला और स्वीकृति देनेवाला एक नैतिक सिद्धांत है। केवल एकही मूलभूत अधिकार है (शेष सब उसके परिणाम या परिणाम के परिणाम हैं) : आदमी का अपने ही जीवन का अधिकार। जीवन स्वयं को कायम रखने वाली और स्वतः उत्पन्न क्रिया का एक सिलसिला है। जीवन के अधिकार का अर्थ है स्वयं को कायम रखनेवाली और स्वतः उत्पन्न क्रिया में लगे रहने का अधिकार—जिसका अर्थ है उन सब कामों को करने की आजादी जिनकी एक तर्कबुद्धिशील प्राणी को अपनी प्रकृति के अनुसार अपने ही जीवन को बनाए रखने, उसकी वृद्धि, उसकी सफलता और उसके उपभोग के लिए जरूरत है। (ऐसा ही जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख-प्राप्ति के अधिकार का अर्थ है।)[१]

रौबिन्सन क्रूसो के लिए अधिकारों का प्रश्न कभी उठा ही नहीं—अर्थात् तब तक नहीं जब तक फ्राइडे नहीं आ गया, क्योंकि तब तक अन्य आदमी थे ही नहीं जिनकी उपस्थिति पर उसे ध्यान देना पड़ता। परंतु अन्य सभी परिस्थितियों में, जब मनुष्य समाज के अंदर परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं तब, यह प्रश्न कि "प्रत्येक आदमी के अन्य आदमियों के संबंध में क्या अधिकार हैं" अत्यावश्यक हो जाता है। इसी वजह से रैंड ने अधिकारों को एक सामाजिक संदर्भ में आदमी के कर्म-स्वातंत्र्य से संबंधित सिद्धांत कहा है।

अब अगर कर्म का मानक, शुभ और अशुभ का मानक, आदमी का जीवन (जैसाकि पिछले परिच्छेद में बताया गया है) ही है, तो हरेक आदमी का एक व्यष्टि की हैसियत से यह अधिकार हो जाता है कि वह जीवित रहे और ऐसे काम करे जो एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के रूप में उसके जीवन के लिए जरूरी है। उसे यह अधिकार है कि वह अपने ही विचार और प्रयत्न से अपने

---

१. "मैन्स राइट्स," वही, पृ० ९३-९४।

जीवन को समृद्ध करे ; उसे काम करने और अपने परिश्रम के परिणामो को अपने पास रखने का अधिकार है, जो कि संपत्ति का अधिकार कहलाता है ; उसे अपने ही मूल्यो का चुनाव करने और उन्हें प्राप्त करने का अधिकार है—अर्थात् स्वतत्रता का और सुखी होने का अधिकार है। ये सब एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के रूप मे उसके लम्बी अवधि तक जीवन-यापन करने के लिए जरूरी है।

प्रत्येक आदमी को ये अधिकार प्राप्त हैं, क्योकि ये मनुष्य के रूप मे मनुष्य की जो प्रकृति है उससे व्युत्पन्न है। अतः किसी आदमी को यह अधिकार नही है कि वह अन्यो के अधिकारो का उल्लघन करे। अधिकारो का उल्लंघन करने का अधिकार हो ही नही सकता। किसी आदमी को अन्य आदमियो की हत्या करने, उनकी सपत्ति का अपहरण करने या उन्हें दास बनाने का अधिकार प्राप्त नही है। किसी को यह अधिकार नही है कि वह शारीरिक बल का प्रयोग करके अन्यो से मूल्यवान् चीजो की माँग करे।

कोई भी उन कर्तव्यो को छोडकर जिन्हे उसने अपने ही कार्यो के द्वारा स्वेच्छा से अपनाया है अन्य लोगो के प्रति कोई कर्तव्य नही रखता। जन्म लेने मात्र से वह सपूर्ण मानव-जाति के दुःख-दर्द के लिए दोष का भागी नही बन जाता। वह उसका कोई दायित्व वहन नही करता जिसका वह कारण नही है, और उसने अन्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दास के रूप मे जन्म नही लिया है। यदि उसने किसी और के साथ कोई अनुबध किया है तो वह उसका पालन करने के लिए नैतिक रूप से बँधा हुआ है, यदि उसके बच्चे हैं तो वह उनका पालन-पोषण करने के लिए नैतिक रूप से बँधा हुआ है, क्योकि उसके कार्य के फलस्वरूप ही वे इस दुनिया मे आए है। परतु उसके कर्तव्य ऐसे नही है जो उसके द्वारा स्वय चुने हुए न हो, उसके अपने ही कामो के परिणाम न हो। अन्य मनुष्यो के अधिकारो का सम्मान करने का कर्तव्य—जो कि शुद्ध रूप से निषेधात्मक है क्योकि उसका मतलब उनके अधिकारो का उल्लघन न करना होता है—चुना हुआ इस बात मे होता है कि वह अन्य मनुष्यो के साथ व्यवहार करना पसद करने का नैतिक परिणाम है।

यदि प्रत्येक आदमी के अधिकारो को सुरक्षित रखना है तो कोई भी ऐसी जिम्मेदारी लेने के लिए जिसमे एक से अधिक आदमी शामिल हो प्रत्येक की ऐच्छिक सहमति आवश्यक होती है, क्योकि उसमे शामिल प्रत्येक व्यक्ति स्वय

फैसला करने का अधिकार रखता है। जीवन के अधिकार का मतलब यह नही हैं कि अन्य लोगो को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ आपको देनी होगी ; उनका ऐसा कोई कर्तव्य आपके प्रति नही है, और उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर करना उनके अधिकारो का उल्लघन करना होगा। सपत्ति के अधिकार का मतलब यह है कि आदमी सपत्ति को अर्जित करने के लिए आवश्यक काम कर सकता है, और उसे अपनी इच्छा के अनुसार इस्तेमाल कर सकता है या किसी को दे सकता है, न कि यह कि अन्य लोग आपको अनिवार्य रूप से सपत्ति प्रदान करे ; यदि यह वाद वाला उसका मतलब होता तो जिन्हे सपत्ति प्रदान करनी होती वे अपने अधिकारो से वचित होने के लिए मजबूर होते—वे आपके दास होते। स्वतत्र भाषण के अधिकार का यह मतलब नही है कि अन्य लोगो को (अपनी सहमति के बिना) आपको भाषण करने के लिए एक हॉल या उसे प्रसारित करने के लिए रेडियो स्टेशन देना पडेगा, इस बात का आग्रह भी कि आपको ये चीजें देने की किसी की जिम्मेदारी है यह मतलव रखता है कि कोई आपका गुलाम है, कि आपकी इच्छाओ की पूर्ति के लिए किसी और के अधिकारो का वलिदान करना होगा। कोई भी ऐसी चीज अधिकार नही हो सकती जिसकी पूर्ति के लिए अन्य मनुष्यो का अनिच्छापूर्वक शामिल होना जरूरी हो, क्योकि इस प्रक्रिया मे उनके अधिकारो का अवश्य ही उल्लघन होगा।

इस प्रकार नैतिक स्वार्थवाद के इस सिद्धात को सब अन्य स्वार्थवादी सिद्धातो से बिल्कुल अलग पहचान लेना चाहिए। तर्कबुद्धिमूलक स्वार्थ को केवल एक तर्कबुद्धिशील प्राणी के रूप मे व्यक्ति के जीवन की वस्तुनिष्ठ आवश्यकताओ के द्वारा ही परिभाषित किया जा सकता है। तर्कबुद्धिमूलक स्वार्थ का मतलब यह नही है कि जो इच्छा हो वह किया जाए। उसका मतलब विचार की तार्किक प्रक्रिया से यह पता लगाने की जिम्मेदारी लेना है कि अपना स्वार्थ वस्तुत किस बात मे है, और इस खोज के अनुरूप काम करना है। उसका मतलब दूसरो के अधिकारो को कुचलना नही है। उसका मतलब दूसरो के अधिकारो का सम्मान करना तथा यह मॉग करना है कि मेरे अधिकारो का दूसरे लोग सम्मान करें। तर्कबुद्धिमूलक स्वार्थवाद का मतलब यह नही है कि अन्य मनुष्यो को बलिदान की चीजें बना दिया जाए,

वल्कि यह है कि किसी भी मनुष्य को—स्वयं या अन्यो को—वलिदान की वस्तु वनाने से इन्कार कर दिया जाए।

इ. सामान्य शुभ

उपयोगितावाद—चाहे जिस तरह की दुनिया को हम सर्वाधिक महत्व की पाएँ—ऐसी दुनिया को जिसमे अधिकतम सुख या आनंद उपलब्ध हो, अथवा जिसमे इसके अतिरिक्त सर्वाधिक ज्ञान भी हो, अथवा जिसमे अपनी उचित सामर्थ्य के अनुसार काम करनेवाले सर्वाधिक तर्कबुद्धिशील प्राणी रहते हों—आचरण की समस्या का एक समाधान उपयोगितावाद ने प्रस्तुत किया है जो वहुत ही सरल है, और यह है कि "इस तरह से काम करो कि यथासंभव अधिक शुभ की प्राप्ति हो सके"। आपको सिर्फ अपने ही शुभ को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नही करना है वल्कि आपके कर्म से प्रभावित होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के शुभ को प्राप्त करने के लिए करना है। यदि आपका काम दस आदमियो को प्रभावित करता है तो उन दसो मे से—आपके सहित (आपकी गिनती एक है, सिर्फ एक)—प्रत्येक के ऊपर पडनेवाले उसके प्रभावो की वात सोचो ; आपको यह नही सोचना है कि अकेले आपके ऊपर उसके क्या प्रभाव पडते हैं, वल्कि उसके पूरे प्रभावो की वात सोचनी है। आपके सामने जितने विकल्प हैं उनमे से उसका आपको चुनाव करना चाहिए जिससे उत्पन्न शुभ की कुल मात्रा सबसे अधिक हो—अर्थात्, दूसरे शब्दो मे, उसका जिसके कुल परिणाम सर्वोत्तम हो। उदाहरणार्थ, यदि सुख वह शुभ है जिसको लक्ष्य वनाना है तो हमारे कर्म ऐसे होने चाहिए जो सव मिलाकर अधिकतम सुख को उत्पन्न करें, केवल मेरे या आपके सुख को नही वल्कि प्रत्येक संवधित व्यक्ति के अधिकतम सुख को। इसका हिसाव लगाना कठिन हो सकता है, और गणित के द्वारा ऐसा करना असभव होता है : मैं नहीं कह सकता कि आपको या मुझको तव दुगुना या पाचगुना अधिक सुख होगा जव मैं इस काम के वजाय उस काम को करूँ। फिर भी, हम काफी अच्छा अदाज लगा सकते है : मैं जानता हूँ कि उपहार मे दर्शन की एक किताव देने से अ व की अपेक्षा अधिक प्रसन्न होगा ; कि तरवूज को सडते छोडने की अपेक्षा उसे खा लेने से अधिक आनद आएगा ; कि यदि मैं अपने दोस्त के घर मे आग लगाने के वजाय वहाँ जाकर उससे मुलाकात करूँ तो अधिक सुख की प्राप्ति होगी। और मेरे पास यह विश्वास करने के लिए अच्छा प्रमाण है कि अपने पडोसी के जीवन को

बचाने या मुसीबत मे उसकी मदद करने का परिणाम, भले ही उसकी मदद करना मेरे लिए बहुत ही ज्यादा असुविधाजनक हो, उसे उसकी वर्तमान दशा मे छोड देने की अपेक्षा सब मिलाकर अधिक सुखदायी होगा।

सभी सबधित लोगो के अधिकतम सुख की प्राप्ति के लिए काम करने मे मुझे विशुद्ध सुख को ध्यान मे रखना है, कुल सुख को नही। मैं किसी को शायद भरपेट गोश्त और शराब की दावत देकर प्रसन्न कर सकूँ, परतु यदि उसके पेट मे तकलीफ है तो (अस्पताल जाने पर) वह मुझे मेरी उदारता के लिए गाली देगा, दावत से जो आनद उसे प्राप्त हुआ था उससे कही अधिक दुख और कष्ट सब मिलाकर उसे बाद मे दावत के परिणामस्वरूप होगा। मुझे सोचनी उस पूरे सुख की बात चाहिए जो मेरे कामो से दुख को घटा देने के बाद प्राप्त होगा। कुछ उदाहरणो मे ऐसा होता है कि मैं जो भी विकल्प चुनूँ मिलेगा प्रधान रूप से दुख ही। ऐसी दशा मे मैं दो बुराइयो मे से छोटी बुराई का चुनाव करता हूँ—उस वैकल्पिक काम को करता हूँ जिसमे अभावात्मक (दुख) का भावात्मक (सुख) से आधिक्य अल्पतम हो। उदाहरणार्थ, यदि मैं युद्धकाल मे एक कपनी कमाडर हूँ और यह निश्चित हो कि मैं चाहे कुछ भी करूँ मेरे कुछ आदमियो को मरना ही है, तो मैं उस विकल्प को चुनूँगा जिसके फलस्वरूप (अपनी अच्छी-से-अच्छी जानकारी के अनुसार जहाँ तक मैं अनुमान कर सकता हूँ) अधिक-से अधिक लाभ और प्राणो की कम-से-कम हानि हो।

यह जानना कि कौन-से विकल्प का यह परिणाम होगा, प्राय बहुत कठिन होता है और कभी-कभी व्यवहार मे असभव होता है। फिर भी मैं कर यही सकता हूँ कि अपनी अच्छी-से-अच्छी जानकारी के अनुसार, उस समय उपलब्ध सर्वोत्तम सूचना के अनुसार, काम करूँ। मेरा कर्तव्य सर्वोत्तम उपलब्ध प्रमाण के अनुसार काम करना है ; सर्वज्ञ होने की जरूरत नही है। चूँकि "चाहिए" मे "सकना" गर्भित होता है, इसलिए मुझसे यह आशा नही की जा सकती कि मैं वह काम करूँ जो मेरे लिए असभव है। मुझसे हवा मे ५०० फुट की छलाग लगाने की या पत्थरो को पचा जाने की आशा नही की जा सकती और न यह जानने की कि युद्ध का क्या नतीजा होगा (यह ऐसी अगरज बातो पर निर्भर करता है जिन्हे मैं उस समय जान ही नही सकता जब मुझे निर्णय करना होता है)। यह भी हो सकता है कि मेरे निर्णय का अनर्थकारी

परिणाम निकले। हो सकता है कि मैं पैदल चलते हुए बच्चो के एक समूह को अपनी कार मे बिठा दूं और दो ही मिनट बाद मेरी ओर से कोई गलती न होने पर भी एक दूसरी कार मेरी कार को टक्कर मार दे और कुछ बच्चे इस दुर्घटना मे मारे जायँ। परंतु उस समय मैं इस दुष्परिणाम की कल्पना भी नही कर सकता था—अधिक-से-अधिक एक अत्यत असभाव्य घटना के रूप में ही उसकी आशका कर सकता था। इसलिए बच्चों को अपनी कार मे ले लेने का मेरा काम (जो साधारणतः उनकी सहायता करना माना जाएगा) गलत नही था। इसी प्रकार, भीडभाड मे तेजी से कार चलाना मेरा एक गलत काम होगा, जिससे मेरा जीवन और बहुत-से अन्य कारवालो का जीवन खतरे मे पड जाएगा, भले ही मैं दुर्घटना करने से बच जाऊँ और अपने गतव्य स्थान पर कुछ जल्दी पहुँच जाऊँ। मैं चाहे सुरक्षित निकल जाऊँ, पर जोखिम बहुत बडी है। सक्षेप मे, मुझे काम वह करना चाहिए जो मेरे सामने जितने विकल्प हैं उनकी तुलना मे (उस समय उपलब्ध सर्वोत्तम प्रमाण के आधार पर) सभी सबधित व्यक्तियो के अधिकतम शुभ का साधक हो।

उपयोगितावादी नीति बहुत ही सरल रूप मे इस प्रकार है। यह प्रतिज्ञप्ति कि एक काम उचित है इन दो आधारिकाओ से निष्कर्ष के रूप मे निकलती है

वह काम जो (उसे करते समय मुझे ज्ञात सर्वोत्तम प्रमाण के आधार पर) सब मिलाकर अधिकतम शुभ उत्पन्न करेगा, उचित है।

यह काम सब मिलाकर अधिकतम शुभ उत्पन्न करेगा।

अतः यह काम उचित है।

दूसरी आधारिका—कि इस काम के अमुक परिणाम होगे—का निर्धारण प्रायः कठिन होता है, यहाँ तक कि असभव ही होता है। परतु इसकी वजह सिर्फ यह है कि दुनिया मे कारणो और कार्यो का अनुक्रम बडा ही जटिल होता है, और यह जानना अथवा इस बात को लगभग सही आकना, खास तौर से जटिल मामलो मे, अत्यधिक कठिन होता है कि मेरे कामो के सब दूरगामी परिणाम क्या होगे। फिर भी, यदि मुझे पता हो जाए कि मेरे इस काम का परिणाम सब मिलाकर अधिकतम शुभ होगा, तो उपयोगितावादी के अनुसार मुझे उस काम को कर डालना चाहिए। क्या काम करना चाहिए, इस बारे मे सदेह

दूसरी आधारिका से ज्यादा पैदा होता है—इससे कि क्या इस काम के सर्वोत्तम परिणाम होंगे—और पहली से कम, जो कि असल मे आचरण विषयक उपयोगिता सिद्धांत का ही कथन है ।

लेकिन उपयोगितावाद के विरुद्ध कई आक्षेप किए गए है : अनेक दार्शनिको को ऐसा लगा है कि ऐसे काम को करना सदैव कर्तव्य नही होता जो अधिकतम शुभ का साधक हो । थोडे-से उदाहरण लीजिए : (१) मान लो कि मैं आपकी कोई सहायता करने का वचन देता हूँ । क्या मैं इस वचन का पालन केवल तभी करूँ जब मुझे (समुचित प्रमाण के आधार पर) यह विश्वास हो कि उसे करने से अधिकतम शुभ परिणाम होगा ? क्या मैं वचन का पालन केवल इसलिए करूँ कि संबंधित काम को करने से सबसे अधिक हित होगा (यदि होगा तो) ? क्या मुझे वचन का पालन सिर्फ इसलिए नही करना चाहिए कि मैंने वचन दिया था ? यदि मुझसे पूछा जाए कि "आपने उस वचन का पालन क्यो किया ?" तो सामान्य उत्तर यह नही होगा कि "क्योंकि मैंने सोचा कि उसका पालन करने से मैं अधिकतम हित करूँगा ।" यदि जिसे मैंने वचन दिया है वह सोचे कि मैंने उक्त कारण से वचन का पालन किया है तो वह भविष्य मे दिए जानेवाले वचनो के प्रति सदेहशील बन जाएगा : वह सोचेगा (और यह सही भी है) कि अगली बार मैं यह मानते हुए वचन को भंग कर सकता हूँ कि मैं कोई और काम करके उसका अधिक हित करूँगा । इसका मतलब यह नहीं है कि आदमी को अपने वचन का सदैव पालन करना ही चाहिए—यदि मैंने आपको ४ बजे शाम को मिलने का वचन दिया है पर देर करके मार्ग मे मैं एक दुर्घटनाग्रस्त आदमी के जीवन को बचा सकता हूँ तो मेरा देर मे पहुंचना असदिग्ध रूप से उचित होगा । और न मुझे अपना यह वचन पूरा करना चाहिए कि मैं आपको बैंक को लूटने मे मदद करूँगा । परतु ऐसी बात भी नही है (आक्षेप करनेवाला आगे कहता है) कि वचन को पूरा करने का मेरा कर्तव्य पूर्णतः उसके अच्छे परिणामो पर ही आधारित हो ' यह इस तथ्य पर भी आधारित होता है (और यह बात मुख्य है) कि मैंने वचन दिया था । (२) यह बात विशेषतः तब आवश्यक हो जाती है जब वचन ऐसा हो जिसके दिए जाने की बात कोई न जानता हो । यदि उत्तरी ध्रुव की यात्रा मे दो खोजी भटक जाते हैं और खाद्य सामग्री केवल इतनी शेष है कि और सामग्री लेकर पहुंचनेवाले जहाज के आने की तारीख तक उनमें से केवल

एक ही उससे जीवित रह सकता है, तो पहला खोजी मरने के लिए तैयार हो सकता है, बशर्ते दूसरा उसे यह वचन दे दे कि वह वापस अपने देश में पहुँचकर पहले के बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था कर देगा। क्या वापस पहुंचकर दूसरे आदमी का यह तर्क उचित होगा : "कोई नहीं जानता कि वचन दिया गया था ; उसे तोड़ने से कोई बुरे परिणाम नही होंगे। चूंकि मैं अपने बच्चों को मृतक के बच्चो की अपेक्षा शिक्षा पाने के अधिक योग्य समझता हूँ और चूँकि दोनो को शिक्षा दिलाने के लिए पैसा मेरे पास नही है, इसलिए मैं अपने ही बच्चो को शिक्षा दिलाऊँगा और मरनेवाले को दिए हुए वचन की बात भूल जाऊँगा" ? (३) हर आदमी अपने परिवार का भरण-पोषण करना साधारणतः अपना कर्तव्य समझता है, न कि अपने पड़ोसी के परिवार का। परंतु यदि एक ऐसा अवसर आ पडे कि उसका अपने पड़ोसी के परिवार की सहायता करना स्वयं अपने परिवार की सहायता करने की अपेक्षा अधिक हितकर हो तो क्या होगा ? क्या उसे ऐसा करना चाहिए ? क्या ऐसा करना उसका ठीक उतना ही कर्तव्य होगा जितना अपने परिवार की सहायता करना ? (४) मान लो कि एक कैदी यह दलील देता है : "मैं मानता हूँ कि मैंने सशस्त्र डकैती का जुर्म किया। पर वह तो हो चुकी है। यदि मैं छोड़ दिया जाऊँ तो मैं अधिक सुखी होऊँगा। मेरा परिवार मेरे ऊपर आश्रित है। वह भी मेरे मुक्त हो जाने और उनके लिए अधिक पैसा कमाने लायक हो जाने पर अधिक सुखी हो जाएगा। और जज साहब, आपका भी कोई अहित नही होगा : अगर मैं छूट जाऊँ तो आपका थोडा भी नुकसान नही होगा। अन्य लोगो को भी इसी प्रकार छूट जाने की आशा रखते हुए अपराध करने का प्रोत्साहन नही मिलेगा, क्योंकि मेरे परिवार के अलावा कोई भी नही जानता कि मैंने यह अपराध किया है। न वे कुछ कहेंगे और न मैं ही इसका प्रचार करने जा रहा हूँ। मुझे अब कोई अपराध करने भी नही है। मुझे सबक मिल चुका है। मेरे लिए नौकरी तैयार है। इस प्रकार यदि मैं छोड दिया जाऊँ तो हरेक का हित होगा। अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे छोड दीजिए।" फिर भी हम इस प्रार्थना को शक की नजर से देखेंगे। शायद हम ठीक-ठीक न बता सकें कि क्यो, परंतु हमारा मन यह कहने को करेगा कि यदि इस आदमी को अपने अपराध का कोई दंड चुकाए बिना छोड़ दिया जाय तो न्याय नही होगा। अथवा इस पर विचार

कीजिए : (५) पुलिस एक आदमी को उसके अपराधों के लिए दंड दिलवाने की बार-बार कोशिश करती है पर असफल रहती है, और अंत में सबसे बाद के कथित अपराध के लिए उसे दंड दिलवा ही देती है। तब उसे निश्चित रूप से पता चलता है कि उस आदमी ने वह बादवाला अपराध किया ही नहीं था। मान लो कि तब वह यह सोचती है : "हम प्रमाण को दबा देंगे। कोई और नही जानता और न जान पाएगा कि इस बार आदमी निर्दोष है; यदि उसे इस बार छोड़ दिया जाए तो वह और अपराध करेगा तथा जीवन और संपत्ति के लिए खतरा बना रहेगा; इस बार सजा पा लेने से वह उन अपराधों का ही बदला चुकाएगा जो वह पहले कर चुका है और जिनका उसे दंड नही मिला था (पर जिन्हें उसने मुकदमे के बाद स्वीकार कर लिया था)। यदि उसे छोड़ा न जाए (पर यदि हम इस सूचना को प्रचारित कर दे तो वह अवश्य ही छूट जाएगा) तो सब मिलाकर अच्छा ही होगा। अतः हम इस प्रमाण को दबाकर अच्छा काम कर रहे है।" परंतु क्या इस तर्क से हमें बहुत बेचैनी नहीं होगी? हमारा यह दृढ़ विश्वास बना रहेगा कि यदि उसने यह अपराध नहीं किया है तो इसके लिए उसे दंड नही मिलना चाहिए, भले ही अभियोग को कायम रखना अधिक अच्छा हो। (६) यदि आपके पिताजी और एक प्रसिद्ध डाक्टर दोनो एक जलती हुई इमारत के अंदर फँस जाएँ और आपके पास केवल एक ही को बचाने का समय हो, तो आपको अपने पिता को बचाना चाहिए या डाक्टर को? मान लो कि डाक्टर यदि जीवित रहे तो ऐसे आपरेशन करके जिन्हें थोड़े ही डाक्टर कर सकते हों जाने बचा सकेगा। उपयोगितावादी निश्चित रूप से यह कहेगा कि आपको डाक्टर को बचाना चाहिए। डाक्टर को बचाने का परिणाम कही अधिक शुभ होगा। फिर भी अधिकतर लोग कहेंगे कि पहले आपको अपने पिता को बचाना चाहिए।

नियम-उपयोगितावाद—इस तरह के उदाहरणों का विचार करके उपयोगितावाद अब एक और रूप ग्रहण करता है। उपयोगितावाद का परंपरागत रूप जिस पर अब तक हम विचार करते रहे कर्म-उपयोगितावाद है : हमें उस काम को करना चाहिए जिसके सर्वोत्तम परिणाम हों। परंतु नियम-उपयोगितावाद एक संशोधन प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि हमें काम के औचित्य का निर्णय उसके परिणामों के आधार पर नहीं बल्कि जिन

नियम के अंतर्गत वह काम आता है उसके अनुसरण से होनेवाले परिणामों के आधार पर करना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक महत्वपूर्ण नियम कानून में यह है कि जिस आदमी का निर्दोष होना ज्ञात हो उसके अपराधी होने का निर्णय कभी नही करना चाहिए। यह जानने के बाद भी कि आदमी निर्दोष है उसे दोषी सिद्ध करना स्पष्टतः इस नियम के विरुद्ध है। इस विशेष दोष-सिद्धि के जो भी परिणाम हों, किसी ऐसे नियम का अनुसरण करने के परिणाम जो निर्दोष लोगों को दोषी सिद्ध करने की अनुमति देता हो सचमुच बहुत बुरे होते हैं—और बचाना हम नियम को चाहते हैं। भले ही कोई (पुलिस के अलावा) इस बात को न जानता हो कि यहाँ नियम का उल्लंघन हुआ है, तथ्य यह है कि नियम का उल्लंघन हो गया होता और नियम है अच्छा। वह अच्छा क्यो है ? उन परिणामों पर विचार कीजिए जो ऐसे नियम के अभाव में हुए होते। किसी व्यक्ति की दोषसिद्धि प्रमाण पर आधारित न होती, यानी इस बात पर कि (सर्वोत्तम उपलब्ध प्रमाण के अनुसार) वह निर्दोष है या दोषी। लोग पूरे कानून को शक की नजर से देखने लगते और यह ठीक भी होता। जनता का बहुत ही ज्यादा नैतिक पतन हो जाता, जैसे किसी भी ऐसे देश में हो जाता है जिसमें किसी भी आदमी के विरुद्ध प्रमाण रचा जा सकता है और किसी भी निर्दोष व्यक्ति को केवल इसलिए घसीट कर जेल में बंद किया जा सकता है या मौत की सजा दी जा सकती है कि अधिकारी उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। ऐसी पद्धति इतनी भयानक होगी कि हमें हर दशा मे इस नियम को बचाकर रखना चाहिए कि "जिस आदमी का निर्दोष होना ज्ञात हो उसे दोषी सिद्ध नहीं किया जाएगा", भले ही एक विशेष दृष्टांत में इस नियम के अनुसरण से सर्वोत्तम परिणाम न निकलें। हमें नियम के परिणामों को देखना है, एक विशेष काम के परिणामों को नहीं।

सर्वोत्तम नियम (ऐसा नियम जिसे मानने से सर्वोत्तम परिणाम होंगे) को खोजना प्रायः कठिन होता है। अधिकतर ऐसे नियम सरल बिल्कुल भी नहीं होंगे। उदाहरणार्थ, क्या हमें इस नियम को मानना चाहिए कि "कभी मानवहत्या न करो" ? क्या हत्या करना इतनी भयानक बात है कि उसे हमें कभी नहीं करना चाहिए ? क्या हत्या का निषेध करनेवाला नियम इतना महत्वपूर्ण है कि सभी परिस्थितियों में हत्या को हम बुरी समझें ? कट्टर शांतिवादी का तो ऐसा ही विश्वास है। परंतु "हत्या न करो," यह सरल

नियम शायद सर्वोत्तम नियम न हो। उदाहरणार्थ, आत्मरक्षा के लिए हत्या करने के बारे में क्या कहा जाएगा ? यदि कोई आपको मारने की कोशिश कर रहा है, तो क्या आप बिना विरोध किए अपने-आप को मरवा देंगे ? "किसी भी परिस्थिति में हत्या मत करो," इस नियम का पालन करने से क्या परिणाम होंगे ? यह तो किसी भी ऐसे आदमी के लिए जो आपको मारना चाहे, एक खुला निमंत्रण होगा। और ऐसे नियम के अनुसरण का यह फल होगा कि निर्दोष लोग मारे जाएँगे तथा चोर और हत्यारे जीवित रहेंगे। एक कहीं अधिक अच्छा नियम यह लगता है कि "आत्मरक्षा के अलावा कभी हत्या न करो" (अथवा इसी से मिलता-जुलता यह नियम कि "किसी आदमी पर पहले आक्रमण न करो")। इससे भावी आक्रमणकारी इस बात को ध्यान में रखेंगे कि आप उनके हमले को चुपचाप नहीं सहेंगे और साथ ही अन्य लोग भी यह जानकर निश्चित रहेंगे कि आप उनके विरुद्ध बल का प्रयोग शुरू नहीं करेंगे। "आत्मरक्षा के अलावा" कहना नियम का अपवाद नहीं माना जाएगा बल्कि नियम के अंदर ही शामिल एक शर्त माना जाएगा : नियम निष्पक्ष रूप से सभी अप्रतिरक्षात्मक हत्या के कामों पर लागू होगा। यह विचार करने के लिए कि इस नियम में और भी बातें (जैसे, फाँसी की सजा) जोड़ना ठीक होगा या नहीं, इतना विवाद बढ़ जाएगा कि वह यहाँ नहीं आ सकेगा। महत्व की बात यह है कि हमें हत्या के बारे में सर्वोत्तम नियम स्थिर कर देना चाहिए और तब किसी भी अपवाद के बिना (हालांकि नियम के अंदर ही अनेक शर्तें शामिल हो सकती हैं) उसपर जमे रहना चाहिए, और सर्वोत्तम नियम वह होगा जिसे मानने से सर्वोत्तम परिणाम पैदा होंगे।

"कभी वचन-भंग न करो" का अनुसरण उतना अच्छा नहीं होगा जितना इस नियम का कि "वचन-भंग तब तक न करो जब तक दवाब में आकर वचन न दिया गया हो," और शायद (यह कहा जाएगा कि) यह सोपाधिक नियम भी उतना अच्छा न होगा जितना यह कि "किसी वचन को तब तक भंग न करो जब तक वह दबाव में आकर न दिया गया हो या उसे भंग करने से कोई बहुत ही बड़ा हित न होनेवाला हो या कोई बड़ा अहित रुकनेवाला न हो"—यह अंतिम शर्त अस्पष्ट होने पर भी इस तरह की घटनाओं का ध्यान रखेगी जैसे किसी से मिलने के लिए दिए हुए वचन का रास्ते में कार-दुर्घटना में घायल एक व्यक्ति की सहायता करने के कारण भंग हो जाना। परंतु "वचन-

भंग तब तक न करो जब तक वह गुप्त रूप से न दिया गया हो" एक अच्छा नियम न होगा : ऐसे समय भी आते हैं जब वचन का पालन करना तब भी मूल्य रखता है जब वचन देनेवाले और जिसे वचन दिया गया है उसके अलावा कोई भी वचन के बारे में नही जानता (जैसे उत्तरी ध्रुव के खोजियों के पिछले उदाहरण में), परंतु यदि इस नियम को माना जाए तो गुप्त रूप से दिए हुए या किसी साक्षी के अभाव में दिए हुए वचनों का भरोसा नही किया जा सकेगा। जिन परिस्थितियों में आपका वचन भंग करना क्षम्य होगा उनमे यह शामिल नही है कि किसी को भी वचन की बात मालूम न हो, क्योंकि यदि इस तरह के अपवाद नियम में शामिल कर लिए जाएँ तो उसके परिणाम उनसे भी बुरे होंगे जो ऐसी शर्त को नियम में शामिल न करने से होंगे। "वचन को तब तक न तोड़ो जब तक उसको तोड़ने से अधिकतम अच्छाई न पैदा हो" को तक एक अच्छा नियम नहीं माना जाएगा (हालाँकि धर्म-उपयोगितावादी इस नियम को मानेगा), क्योंकि जिसे वचन दिया गया है वह जान ही नही पाएगा कि किस प्रकार की स्थिति में वचन देनेवाला वचन को तोड़ना उचित मान बैठेगा—ऐसा कोई नियम नही होगा जो यह निश्चित करे कि किस प्रकार की स्थितियो में वह वचन भंग करेगा और जिसे वचन दिया गया है उसे थोड़ा भी अन्दाज इस बात का न होगा कि कब वह वचन देनेवाले पर विश्वास करे और कब न करे, जिसके फलस्वरूप वचनों की विश्वसनीयता घट जाएगी।

नियम-उपयोगितावाद भी उस समस्या को हल करने की कोशिश करता है जिसने हमें पहले परेशान किया था : दो परिस्थितियाँ कब भिन्न होती है ? जो आपको नही करना चाहिए वह मुझे भी नही करना चाहिए, बशर्ते हमारी परिस्थितियाँ भिन्न न हों—पर वे भिन्न कब होती हैं ? नियम-उपयोगितावाद में यह प्रश्न सर्वोत्तम नियमो के—अर्थात् अधिकतम शुभ को उत्पन्न करनेवाले नियमों के—अनुसरण का प्रश्न बन जाता है। यह नियम कि "कभी तलाक मत लो" एक खराब नियम होगा, क्योंकि इससे अनेक दम्पती आजीवन दुःखी रहेंगे ; परन्तु यह नियम भी कि "झगड़ा होने पर पति-पत्नी को सदैव अलग से रहना चाहिए" खराब ही होगा, क्योंकि अनेक झगड़े सुलझाए जा सकते हैं। यह नियम कि "कभी झूठ न बोलो" खराब होगा, क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, इससे बुरा काम करनेवालों को हमारी सत्यनिष्ठा का

अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उपयोग करने में सहायता मिलेगी। परंतु "अपने लाभ को देखते हुए सदैव झूठ बोलो" भी एक खराब ही नियम होगा, क्योंकि विश्वसनीय व्यक्ति भी तब हमारी सत्यवादिता पर निर्भर नही रह सकेंगे। झूठ के बारे में कोई सर्वोत्तम नियम खोज पाना कठिन है : झूठ के विरुद्ध नियम बनाने में कई विभिन्न शर्तें दिमाग में आती है और यह देखने के लिए कि (यदि उन्हें नियम में जोड़ दिया जाए तो) उनसे नियम में कुछ सुधार होगा या नही, प्रत्येक की जाँच करनी होगी। परंतु कम-से-कम नियम-उपयोगितावाद संबद्धता की एक कसौटी तो प्रदान करता है। मान लो कि मैं मंगलवार की पूर्णिमा की रात को ११ : ३० बजे जब मैं एक नीला सूट पहने होता हूँ एक झूठ बोलता हूँ ; और मान लो कि कोई जो मेरे इस काम को नापसंद करता है (पर शायद स्वयं झूठ नही बोलता) इस नियम का प्रस्ताव करता है : "मंगलवार को जब पूर्णिमा की रात हो और आप एक नीला सूट पहने हो ११ : ३० बजे कभी झूठ न बोलो।" हम सब यकीन करते है कि ये परिस्थितियाँ असंबद्ध है, परतु क्यों ? इसलिए कि मंगलवार को झूठ बोलने के जो परिणाम होते है और किसी और दिन झूठ बोलने के जो परिणाम होते है उनके मध्य कोई अंतर नही है ; पूर्णिमा होने या न होने से भी कोई अंतर नही होता, इत्यादि। इन अतिरिक्त परिस्थितियो के उल्लेख से झूठ के बारे मे नियम अधिक विशिष्ट जरूर हो गया है, पर उसके विशिष्ट होने मे संबद्धता कुछ नही है, क्योकि इन स्थितियो की उपस्थिति या अनुपस्थिति मे बोले जानेवाले झूठ के प्रभावो में कोई अंतर ज्ञात नही है। दूसरे शब्दो मे, यह एक अनुभूत तथ्य है कि मंगलवार का होना या नीला सूट पहनना उन परिणामो से कोई संबंध नही रखता जो झूठ बोलने के होते हैं। (यदि मंगलवार को झूठ बोलने के अच्छे परिणाम हो परंतु सप्ताह के अन्य दिनो मे बोले जानेवाले झूठ के न हो तो मंगलवार का विचार यह निर्णय करने में उचित होगा कि झूठ-संबंधी नियम मे क्या शामिल किया जाना चाहिए।) जब किसी नियम को विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का उल्लेख करके अधिक विशिष्ट बनाया जा सकता है पर उसकी विशिष्टता असंबद्ध होती है, तब असंबद्ध परिस्थितियों को नियम मे शामिल नही करना चाहिए। इसके विपरीत, जब किसी नियम को संबद्ध तरीके से अधिक विशिष्ट बनाया जा सकता है तब यह विचारणीय होता है और केवल उन्हीं परिस्थितियों को उसमें शामिल करना चाहिए जो नियम में सुधार करनेवाली हों। उदाहरणार्थ शाकाहारी कहता है, 'मुझे

कदापि दूसरे आदमी के ऊपर बल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।" परंतु "बल का प्रयोग" के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के काम आते हैं और उनके परिणाम परस्पर बहुत भिन्न होते हैं। आक्रमण के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिए बल का प्रयोग किया जाता है; बल का प्रयोग तब भी होता है जब भड़कानेवाली बिल्कुल कोई बात नही होती; पुलिसवाला कानून तोड़नेवाले को पकड़ने के लिए बल का प्रयोग करता है; और पियक्कड़ एक काल्पनिक अपमान की प्रतिक्रिया में बल का प्रयोग करता है। किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध बल का प्रयोग जो आपकी हत्या करना चाहता है आपको सुरक्षित रखने का अच्छा परिणाम पैदा करता है, जबकि कहीं से खतरा न होने पर आपका बल-प्रयोग करना शायद यह दुष्परिणाम पैदा करेगा कि कोई निर्दोष व्यक्ति मारा जाएगा या घायल हो जाएगा, तथा झगड़ों को हल करने के लिए बल का प्रयोग करने का एक बुरा नमूना भी बनेगा। इस प्रकार बल-प्रयोग के बारे में सर्वोत्तम नियम निश्चित करने में बल-प्रयोग के विभिन्न प्रकारों को बता देना उचित होता है: अर्थात् इन परिस्थितियों का उल्लेख करके नियम संबद्ध तरीके से अधिक विशिष्ट बन जाता है।

नियम-उपयोगितावाद नैतिक सापेक्षवाद की समस्या (जिसका यहाँ उल्लेख मात्र किया जा सकता है) को हल करने की कोशिश करता है। नैतिक सापेक्षवाद का सांस्कृतिक सापेक्षवाद से अंतर साफ-साफ समझ लेना चाहिए। यह वादवाला सिद्धांत कोई नैतिक सिद्धांत नहीं है बल्कि एक मानवविज्ञानीय और समाजशास्त्रीय तथ्य की सूचना मात्र है। वह सिर्फ यह कहता है कि अलग-अलग समाजों में अलग-अलग नैतिक नियम माने जाते है। और इस रूप में सांस्कृतिक सापेक्षवाद स्पष्टतः सत्य है। परंतु यदि वह यह कहता है (जैसा कि सांस्कृतिक सापेक्षवादी कभी-कभी कहते हैं) कि अलग-अलग समाज अलग-अलग आधारभूत नैतिक सिद्धांतों के अनुसार चलते है तो उसकी सचाई उतनी साफ नहीं है। भिन्न-भिन्न स्थानों और कालों में प्रचलित अनेक बहुत ही भिन्न नियम इस नैतिक सिद्धांत के ही विशेष दृष्टांत हैं कि "वह काम सर्वोत्तम होता है जो कबीले के अस्तित्व को बनाए रखने में सर्वाधिक सहायक हो।" इसके अलावा कभी-कभी कबीलों के अंतर नैतिकेतर होते हैं। कुछ एस्कीमो कबीलों में उस दशा में अपने माँ-बाप की हत्या कर देना आदमी का कर्तव्य समझा जाता है जब वे इतने वृद्ध हो जाते हैं कि यात्रा

नही कर सकते (माँ-बाप को भी यह बात अवश्य ही मालूम रहती है), क्योकि यदि ऐसे माँ-बाप जीवित रहे तो कबीले के लिए अपने जाडो के स्थान से गर्मियो के गतव्य मे इतने समय के अदर कि कबीले का अस्तित्व खतरे मे न पडे पहुँचना असभव हो जाएगा, जहाँ कि उनके जानवर चर सकते है, जहाँ तूफान और ठड से वे सुरक्षित रह सकते है। ऐसी परिस्थिति मे जो कि हमारी परिस्थिति से बहुत ही भिन्न है, जिसमे कुछ के बने रहने या किसी के भी जीवित न रहने की बात बहुत महत्त्व रखती है, क्या हम भी ऐसे नियम का अनुमोदन नही करेंगे ? दक्षिणी सागर के द्वीपो मे निवास करनेवाले कुछ कबीलो मे भी माँ-बाप को ६० वर्ष की आयु तक मार दिया जाता है और वहाँ जलवायु भी इतना कठोर नही है कि ऐसा काम उचित लगे। परतु वहाँ एक दार्शनिक विश्वास की वजह से यह बात है वहाँ के निवासियो का यकीन है कि मृत्यु के समय इस लोक मे उनका जो शरीर था उसी शरीर के साथ उनका अगले लोक मे अस्तित्व रहेगा, और वे नही चाहते कि वे परलोक मे झुर्रियो से भरा और जीर्ण शरीर लेकर जायं। क्या इससे सास्कृतिक सापेक्षवाद सिद्ध होता है अथवा केवल यह कि जब कुछ नैतिकेतर विश्वास भिन्न होते है तब आचरण के नियम भिन्न हो जाते है ?

परतु नैतिक सापेक्षवाद का सबध केवल इस प्रश्न से है कि क्या एक आधारभूत नैतिक सिद्धात (या सिद्धात समुच्चय) ऐसा है जिसे सभी समाजो मे माना जाना चाहिए (न कि जो सभी मे माना जाता हो)। नियम-उपयोगितावाद के अनुसार केवल एक ही आधारभूत नैतिक सिद्धात है—वह जिसे नियम-उपयोगितावाद मानता है , परतु जब इस नैतिक आधारिका को कुछ इद्रियानुभविक आधारिकाओ के साथ सयुक्त किया जाता है जो विभिन्न समाजो मे पाई जानेवाली परिस्थितियो के बारे मे होती हैं, तब हो सकता है कि भिन्न नैतिक नियम प्राप्त हो यह बात कि अमुक नियम एक समाज मे सर्वोत्तम हैं या नही, उस समाज की परिस्थितियो पर निर्भर होती है। इस प्रकार एक रेगिस्तानी समाज मे पानी को बर्बाद करने के लिए मृत्युदड को उचित माना जा सकता है, क्योकि पानी को बर्बाद न करने से अनेक अन्य व्यक्तियो के प्राण बच सकते हैं ; परतु जिस समाज मे पानी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हो वहाँ पानी के खूब अधिक प्रयोग का निषेध करने के लिए किसी नियम की जरूरत नही है (बशर्ते भविष्य की आवश्यकताओ का ध्यान रखा

जाता हो), क्योकि ऐसे नियम से हानि अधिक होगी और लाभ कम होगा। जिस समाज मे पुरुषो का स्त्रियो से अनुपात लगभग बराबर हो, उसमे एक-विवाह पद्धति सर्वोत्तम हो सकती है (विवाहेतर काम-सबंधो की बात अलग है), परन्तु ऐसे समाज मे जिसमे युद्ध के कारण पुरुप बहुत कम हो गए हैं, जिसमे स्त्रियाँ पुरुषो से दसगुनी अधिक हैं, एकविवाह का नियम सर्वोत्तम शायद न हो। जो भी हो, बात परिस्थितियो पर निर्भर करती है। उद्योग-प्रधान समाज मे अनुबधो का पालन करना और समय की पाबदी महत्त्वपूर्ण गुण होते है, क्योकि उद्योग का सुचारु रूप से चलते रहना इन बातो पर निर्भर करता है ; परंतु खानाबदोशो के या कृषिप्रधान समाज मे इन सद्‌गुणो का (कम-से कम कुछ दृष्टियो से) कम ही महत्व होगा। दूसरी ओर, कुछ नियम—जैसे वह जो आत्मरक्षा (तथा शायद कुछ अन्य प्रकार की बहुत ही थोडी परिस्थितियो) को छोडकर हत्या का निपेध करता है—समाज के चलते रहने तथा उसके अदर रहनेवाले व्यक्तियो के अस्तित्व के बने रहने के लिए इतने अधिक आवश्यक होते हैं कि इस तरह का निषेध सर्वत्र होना चाहिए। नियम-उपयोगितावाद के अनुसार नैतिक सापेक्षवाद नियमो पर तो लागू होता है पर उस नैतिक सिद्धात (या उन नैतिक सिद्धातो) पर लागू नही होता जिससे (या जिनसे) नियम व्युत्पन्न होते है।

आचरण-सबंधी वे मत जो परिणामो को आधार नहीं बनाते—दोनो ही प्रकार के उपयोगितावाद के अनुसार हमे जो करना चाहिए वह पूरी तरह से परिणामो के ऊपर निर्भर है—कर्म-उपयोगितावाद मे कर्म-विशेष के परिणामों के ऊपर, नियम-उपयोगितावाद मे उस नियम के परिणामो के ऊपर जिसका वह कर्म-विशेप एक उदाहरण है। परतु ऐसा नहीं है कि आचरणविषयक प्रत्येक मत केवल परिणामो को ही कर्मों को उचित बनानेवाली विशेषताएँ मानता हो।[1] "मैं हत्या का विरोधी क्यो हूँ ? बस इसलिए कि हत्या अनुचित काम है।" "वचन भग करना बुरी बात है—मैं हेतु कोई नही बता सकता।

---

१. आचरण-संबधी जो मत काम के औचित्य का आधार केवल परिणामों को (काम के या नियम के) मानते है, वे परिणाम-सापेक्ष मत कहलाते हैं और जो अन्य बातों को (परिणामों के सहित पर अनन्य रूप मे नहीं) आधार बनाते हैं वे परिणाम-निरपेक्ष मत कहलाते हैं।

सिर्फ यही कह सकता हूँ कि मैं इसे ठीक नही मानता। शायद हद दर्जे की मजबूरी की अवस्था को छोड़कर कभी हत्या नही करनी चाहिए।" ये नैतिक विश्वास के सीधे-सादे कथन हैं जो बहुत प्रायः सुनने को मिलते हैं। इनमें किसी अपेक्षित बात की कमी हो सकती है, परंतु इनसे प्रकट होता है कि जो ऐसे कथन करते हैं वे कुछ प्रकार के कामों को उन दुष्परिणामों की ओर बिल्कुल ध्यान न देते हुए (अथवा कम-से-कम उनके अतिरिक्त अन्य हेतुओं से भी) अनुचित समझते है जो उनको करने से हो सकते है। ऐसे मतो के अनुसार हमें न केवल काम के प्रसंभाव्य परिणामों का (जो भविष्य में होगे) बल्कि उन स्थितियों का भी विचार करना चाहिए जिनमें काम किया गया था (जो भूतकाल मे थी)।

इस विचारधारा के अनुसार यह कहा गया है कि अनेक प्रकार के नैतिक कर्तव्य ऐसे है जिनको उपयोगितावादी पर्याप्त मान्यता नही देता अथवा जिनकी वह संतोषजनक व्याख्या नही देता। (१) जिन्होने हमारी सहायता की है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारा कर्तव्य है। अपने माता-पिता का आभार मानना हमारा कर्तव्य है, जिन्होने बचपन के उन सारे वर्षो मे हमारा पालन-पोषण किया--यह कर्तव्य ऐसा है जैसा बाहरी लोगो के प्रति कभी नही हो सकता। अपने पिता के प्रति कृतज्ञ होना मेरा कर्तव्य है, न कि डाक्टर के प्रति, और इसलिए जलती हुई इमारत से मुझे अपने पिता को बाहर निकालना चाहिए। यह कर्तव्य किन्ही ऐसे परिणामो पर आधारित नही है जो भविष्य मे हो सकते है। यदि ऐसा होता तो मेरा कर्तव्य डाक्टर को बचाने का होता, क्योंकि दुनिया मे कही अधिक भलाई वह करेगा। परंतु मेरा अपने पिता के प्रति एक ऐसा विशेष कर्तव्य है जो डाक्टर के प्रति नही है, और इसका हेतु अतीत में है ; मेरा अपने पिता के प्रति जो कर्तव्य है वह भूतसापेक्ष है न कि भविष्यसापेक्ष। इसके अलावा, इसमे एक वैयक्तिकता है—कर्तव्य अपने पिता के प्रति मेरा है, आपका नही (आपका कर्तव्य अपने ही पिता के प्रति है)। कर्तव्यों मे वैयक्तिक विशेषता होती है : वे कुछ लोगों के प्रति होते हैं और अन्यों के प्रति नही होते, क्योंकि उनका आपसे विशेष संबंध होता है। (२) निष्ठा के कर्तव्य होते हैं। मैंने एक वचन दिया है और इसलिए मुझे उसको पूरा करना चाहिए। उसे पूरा करने का मेरा कर्तव्य इस तथ्य पर आश्रित है कि मैंने वचन दिया है और वचन देने का काम ऐसा है जो भूतकाल

में हुआ था। यह कर्तव्य भूतसापेक्ष है, भविष्यसापेक्ष नहीं—वह इस बात पर आधारित नहीं है कि उसे पूरा करने से भविष्य में शायद अच्छे परिणाम निकलेंगे, वल्कि सिर्फ इस वात पर आधारित है कि वचन दिया गया था। वह वैयक्तिक भी है, क्योंकि जिस व्यक्ति के प्रति मेरा वह कर्तव्य है वह वह है जिसे मैंने वचन दिया था, कोई ऐसा-वैसा नही। यह भी "के-कारण" कर्तव्य है, न कि "के-लिए" कर्तव्य। (३) न्याय के कर्तव्य भी होते हैं। "न्याय" शब्द का सदैव एकही अर्थ नहीं होता, और यहाँ इतना स्थान नहीं है कि इसका विश्लेषण किया जा सके।[1] एक अर्थ में "न्याय" समान व्यवहार का सूचक है : यदि न्यायाधीश एक अपरिचित व्यक्ति को कानून तोड़ने के लिए पूरा दंड देता है लेकिन अपने दोस्त को या अपने राजनीतिक गुट के आदमी को ठीक उसी अपराध के लिए दंड से मुक्त रखता है तो यह अन्याय है, क्योंकि दोनों के प्रति असमान व्यवहार किया गया है : न्याय की माँग यह है कि समान अपराध के लिए समान दंड (तथा समान उपलब्धि के लिए समान पुरस्कार) मिलना चाहिए। परंतु "न्याय" का कुल अर्थ समान व्यवहार नहीं है। मान लो कि न्यायाधीश सबको, परिचित मित्र और अपरिचित दोनों को, एक मामूली यातायात-संबंधी नियम के उल्लंघन के लिए आजीवन कारावास की सजा देता है (यह मानते हुए कि ऐसा करना उसके अधिकार के अंतर्गत है), और बाद में यदि वह स्वयं उसी अपराध को करे तो स्वयं को भी अपवाद नहीं बनाता। इस प्रकार वह दंड देने में कड़ाई के साथ निष्पक्ष बना रहेगा, क्योंकि उसका निर्णय जिस नियम के अनुसार है उससे वह स्वयं को भी मुक्त नहीं रखता। परंतु फिर भी हम कहेंगे कि ऐसा दंड अन्यायपूर्ण होगा—इसलिए नहीं कि सभी दोषी व्यक्तियों को समान रूप से दंडित नहीं किया गया है बल्कि इसलिए कि दंड का दिया जाना ही अन्यायपूर्ण था : वह अपराधियों की पात्रता के अनुसार नहीं था। इस बहुत ही महत्वपूर्ण अर्थ में न्याय पात्रता के अनुसार व्यवहार करना है। एक विशेष उदाहरण में शायद यह निश्चित करना बहुत ही कठिन हो कि एक व्यक्ति में किस बात की पात्रता है (क्या सशस्त्र डकैती डालनेवाले को केवल अर्थ-दंड मिलना चाहिए या एक वर्ष का

---

१. देखिए जॉन हॉस्पर्स, ह्यूमन कंडक्ट, अध्याय ६ ("जस्टिस")। विभिन्न प्रकार के गैर-उपयोगी कर्तव्यों के बारे में देखिए डब्ल्यू० डी० रॉस, दि राइट ऐंड दि गुड।

कारावास अथवा दस वर्ष का ?), परंतु एक बार यह यकीन हो जाने के बाद कि अपराधी जिस दंड का पात्र है उससे अधिक कठोर दंड उसे मिल रहा है (अथवा कम कठोर दंड मिल रहा है), हम मान लेते है कि उसका दंड न्यायपूर्ण नहीं है। न्याय का संबंध अर्हता (पात्रता) से है और अर्हता का विचार करना भविष्य में होनेवाले परिणामों का विचार करना नहीं है। आदमी दंड का पात्र है क्योंकि उसने किसी की हत्या की है या गबन किया है या डकैती इत्यादि की है—और ये ऐसी चीजें हैं जो वचन की तरह भूतकाल में हुई थीं। अपराधी के दंड का आधार भविष्य में होनेवाले उसके काम के प्रसंभाव्य परिणाम नहीं होने चाहिए बल्कि उसके अतीत के कामों से निश्चित उसकी पात्रता मात्र होनी चाहिए।

दंडसंबंधी उपयोगितावादी मत पूर्णतः भविष्यलक्षी है : दंड "के-लिए" दिया जाना चाहिए, न कि "के-कारण"। उपयोगितावादी के अनुसार दंड का औचित्य यह है कि (अ) उससे अपराधी का सुधार हो सकता है—शायद उसे एक सबक मिल जाएगा जिससे वह दुबारा उस अपराध को नहीं करेगा ; (आ) दूसरे लोगों को वह उस तरह के अपराध करने से रोकेगा ; तथा (इ) अपराधियों के समाज के अन्य लोगों से पृथक् कर दिए जाने से अन्य लोग उनके शिकार बनने से बचे रहेंगे। परंतु प्रतिकारार्थ-दंड-सिद्धांत यह है कि ऐसे सब अच्छे प्रभाव अनुषंगी मात्र होते हैं और इस बात के हेतु नही होते कि दंड क्यों दिया जाना चाहिए। दंड सिर्फ इसलिए दिया जाना चाहिए कि एक अपराध हुआ है जिसके लिए अपराधी दंड के योग्य है।

कर्म-उपयोगितावाद के अनुसार यदि इस वचन को निभाने के या इस अपराधी को दंड देने के परिणाम इस विशेष दृष्टांत में शुभ नही हैं तो वचन को पूरा नहीं करना चाहिए या दंड नही देना चाहिए। परंतु नियम-उपयोगितावाद कर्म-विशेष के परिणामों का विचार नहीं करता बल्कि नियम के परिणामों का विचार करता है। दोनों प्रकार के उपयोगितावादी केवल परिणामों को ही महत्व देते हैं, परंतु कर्म-विशेष के परिणाम बिल्कुल वही नहीं होते जो एक नियम का अनुसरण करने से होते हैं, और नियम-उपयोगितावादी कहेगा कि कर्म का औचित्य या अनौचित्य उस नियम के अच्छे या बुरे परिणामों पर निर्भर होता है जिसके अंतर्गत वह कर्म आता है। वह पूछेगा कि किसी व्यक्ति को उसकी अर्हता के अनुसार क्यों दंड देना चाहिए ? हमें क्यों उन

लोगों के हित का जिन्होंने हमारा हित किया है अन्यों से अधिक ध्यानरखना चाहिए ? उसके अनुसार उत्तर नियम के अनुसरण से होनेवाले परिणामों में खोजना चाहिए : लोगों को हितकारी काम करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और इसलिए कोई नियम होना चाहिए जिसके अनुसार उन्हें जिन्होंने हमारा हित किया है हमसे हित चाहने का पहला अधिकार मिले। फिर, दंड क्यों दिया जाए ? क्यों न अपराध की बिल्कुल उपेक्षा ही कर दी जाए ? "इसलिए कि दंड न देने के परिणाम अधिक गंभीर होते हैं, और जो आदमी अधिक गंभीर अपराध करता है वह अधिक कड़े दंड के योग्य होता है।" परंतु दंड किसी और कसौटी के अनुसार न देकर पात्रता के अनुसार ही क्यों दिया जाए ? इसलिए कि अधिक गंभीर अपराधों में अपराधी को आगे के लिए अपराध करने से रोकने की जरूरत अधिक होती है और समाज को उन अपराधों को करनेवालों से बचाने की अधिक जरूरत होती है। अंत में बात नियम-उपयोगितावादी के अनुसार परिणामों पर ही आ जाती है—कर्म-विशेष के परिणामों पर नहीं बल्कि नियम को अपनाने के परिणामों पर। एक नियम को दूसरे से अच्छा सदैव उसके परिणाम ही बनाते हैं—और यह बात भविष्यलक्षी है न कि भूतलक्षी।

यहाँ हम इस विवाद का सामान्य रूप में समाधान निकालने का प्रयत्न नहीं करेंगे। प्रत्येक पक्ष अपनी बात को तर्क से परिपुष्ट करके प्रस्तुत कर सकता है। हम एक प्रकार के उदाहरण पर विशेष ध्यान देंगे जिससे दोनों पक्ष बिल्कुल स्पष्ट रूप से सामने आ जाएँगे और हम नियम-उपयोगितावाद की यथासंभव अधिक जाँच करेंगे। हम एक निरपराध आदमी का उदाहरण लेते हैं जिसे अधिकारियों ने मृत्यु-दंड देने का फैसला किया है। अधिकारी अच्छी तरह जानते हैं कि वह निरपराध है (अथवा कम-से-कम उनके पास उसके दोषी होने का कोई प्रमाण नहीं है) परंतु फिर भी उसे अपराधी घोषित कर चुके हैं। उन्हें यकीन है, और शायद इसका हेतु भी अच्छा है, कि उसे मृत्यु-दंड देने में बड़ा हित होगा या अनिष्ट टल जाएगा ; फिर अपराधों का दौर भी चल रहा है और लोग पुलिस पर अपराधियों को न पकड़ पाने के लिए आरोप लगा रहे हैं—यदि उन्हें यकीन हो जाए कि अपराधी पकड़ लिया गया तो वे शांत हो जाएँगे और इससे कानून और व्यवस्था के प्रति उनमें सम्मान की भावना भी आ जाएगी तथा भावी अपराधी जान जाएँगे कि यदि

उन्होंने कोई अपराध किया तो वे बचेंगे नहीं। हम यह भी मान लेते हैं कि असली अपराधी मर चुका है और अधिकारियों के अलावा कोई भी नहीं जानता कि वह कौन था या कि उसने अपराध किया था, जिसके परिणामस्वरूप भविष्य में बात के प्रकट होने की और उनके शर्मिंदा होने की कोई संभावना नहीं है। तो फिर क्यों न किसी निरपराध व्यक्ति के सिर पर यह अपराध मढ़ दो, विशेषतः उसके जो पहले अनेक अपराध कर चुका हो और जनता को सता चुका हो, भले ही यह अपराध उसने न किया हो ? ऐसा करने से अनेक अच्छे परिणाम होंगे और कोई भी दुष्परिणाम ऐसे न होंगे जिनकी कल्पना की जा सके—तो फिर क्यों न ऐसा ही करो ?

प्रतिकारवादी तत्काल कह बैठेगा कि उस आदमी को इस अपराध के लिए दंडित नहीं करना चाहिए, और इसका सीधा-सा हेतु यह है कि उसने यह अपराध किया ही नही है। उसे किसी ऐसे काम के लिए दंडित करना जो उसने किया ही नहीं स्पष्टतः *अन्याय* का एक उदाहरण होगा। भले ही उसे दंडित करने के परिणाम बहुत ही अच्छे हों, उसे दंडित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि दंड का औचित्य अर्हता से होता है न कि दंडित करने के भावी परिणामों से। परंतु नियम-उपयोगितावादी भी उसे दंडित करने के पक्ष में नहीं होगा, हालाँकि उसके हेतु भिन्न होंगे : वह, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कहेगा कि ऐसे नियम को अपनाने से (जो कि कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को दंड देने की अनुमति देता है जिसका निरपराध होना ज्ञात हो) समाज के लिए घातक परिणाम होंगे : इससे हर आदमी अपने को असुरक्षित महसूस करेगा, इससे कानून की बुनियाद कमजोर पड़ जाएगी, इत्यादि। इस प्रकार दोनों ही पक्ष इस मसले पर एकमत होंगे, हालांकि उनके हेतु अलग-अलग हैं।

परंतु अब प्रतिकारवादी नियम-उपयोगितावादी के ऊपर दबाव डालना शुरू कर सकता है। "जैसे आपने वचन का पालन करने के संबंध मे जो नियम स्वीकार किया था उसमें 'बशर्ते वचन को भंग करने का एक बहुत ही अच्छा परिणाम न हो', यह वाक्यांश जोड़ा था, वैसे ही क्या आप निरपराध को दंड देने से संबंधित अपने नियम में यही शर्त नहीं जोड़ेंगे ? क्या आपको यह न कहना होगा कि 'निरपराध को दंड न दो, बशर्ते उससे कोई बहुत ही अच्छा परिणाम न निकले—जैसे जनता के मनोबल को पुनः कायम करना, अपराधों के दौर को रोकना, या एक महान् समाज का निर्माण ?' यदि 'निरपराध को

दंड न दो' जैसे नियम को मानने का आपके पास एक हेतु जनता के मनोबल को बनाए रखना है, तो निश्चय ही ऐसा लगेगा कि जब निरपराध को दंडित करने से जनता के मनोबल को वापस लाया जा सकता हो तब आपके नियम में इस तरह के अपवाद के लिए गुंजाइश होनी चाहिए, और उसका रूप यह होना चाहिए : 'निरपराध को दंड न दो, बशर्ते इससे कोई बहुत ही बड़ी अच्छाई होनेवाली न हो ।' मैं समझता हूँ कि आप इससे बंध जाते हैं, क्योंकि आप नियमों की वांछनीयता को केवल परिणामों के आधार पर ही आंकते हैं—और इस रूप में संशोधित नियम के परिणाम उस नियम के परिणामों से अवश्य ही अधिक अच्छे होंगे जिसमें इस प्रकार के अपवाद के लिए गुंजाइश रखने के लिए कोई शर्त न लगी हो । मैं समझता हूँ कि यदि आप केवल परिणामों को आधार बनाते है तो आपको नियम में ऐसी शर्त शामिल करने की जरूरत होगी, वैसे ही जैसे आपने वचन का पालन करने से संबंधित नियम में उसे शामिल किया था। परंतु भले ही आप इससे बंधे हुए हों क्योंकि आपका नैतिक सिद्धांत पूर्णतः परिणामों पर आधारित है, मेरा विश्वास है कि यहाँ आप गलती कर रहे हैं । मैं कहता हूँ कि निरपराध को दंड देना गलत होगा, भले ही उससे कितने ही अच्छे परिणाम क्यों न निकलें । तथ्य यह है कि आदमी निरपराध है, और इतना ही हमारे यह कहने को उचित सिद्ध करने के लिए पूरी तरह काफी है कि उसे दंड नहीं दिया जाना चाहिए—नहीं, कभी नहीं, किसी भी परिस्थिति में नहीं, यहाँ तक कि अपराधों के दौर को रोकने या दंगे को शांत करने के लिए भी नहीं । मुझे यकीन है कि १९३०-४० के बीच की अवधि के सोवियत रूस के 'सामाजिक इंजीनियर' अपने कामों का उपयोगिता के आधार पर (हां, नियम की उपयोगिता तक के आधार पर) औचित्य बता सकते थे । बहुत-से लोगों को मृत्यु-दंड दिया गया था, हालांकि यह ज्ञात था कि जो अपराध उनपर लगाए गए हैं वे उन्होंने किए ही नहीं ; परंतु उन्हें दंड देने के लिए एक पूर्णतः संतोषजनक हेतु उपयोगिता के आधार पर दिया जा सकता था : एक महान् समाज का निर्माण किया जा रहा है (अथवा ऐसा नेता लोगों ने सोचा होगा), और इतने महान् आदर्श की तुलना में एक आदमी के जीवन का, या कुछ हजार लोगों के जीवन तक का, क्या मूल्य है ? उनका तर्क यह होता कि व्यष्टि का जीवन धारा में बहते हुए एक मामूली तिनके की तरह है; और यदि व्यष्टि के जीवन के बने रहने से इस महान् आदर्श की प्राप्ति रुक जाती है या उसमें बाधा भी पड़ती है तो आनेवाली

पीढ़ियों के असंख्य लोगों के हित के लिए बनाए हुए आदर्श के रास्ते में रुकावट बनने देने के बजाय क्यों न उसे जरूरत पड़ने पर झूठे आरोप लगाकर भी समाप्त कर दिया जाए ? मैं नहीं समझता कि क्यों उन नृशंस कर्मों के कर्ताओं के कामों को उपयोगिता के आधार पर उचित सिद्ध करके उन्हें अच्छे और कर्तव्यनिष्ठ उपयोगितावादी न बताया जाय। यह सच है कि उन कामों के वे परिणाम नहीं हुए जिनकी कल्पना की गई थी—हत्याओं के बाद और भी हत्याएँ हुई, आतंक और हिंसा के बाद आतंक और हिंसा में वृद्धि ही हुई, और वह आदर्श वास्तविकता कभी न बन पाया तथा आज भी वास्तविकता से पहले जितना ही दूर है—और शायद प्राचीन काल की नृशंसताओं के बारे में उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाण से नेताओं को यह बात जान लेनी चाहिए थी। परंतु जो भी हो, उन्होने अपने कामों का उपयोगितावादी आधार पर उतना ही जोरदार समर्थन किया होता जितना आजकल अधिकतर उपयोगितावादी अपने रोजाना के कामों का उनके प्रसंभाव्य परिणामों को बताकर करते है। जब उपयोगितावाद न्याय के सिद्धांतों पर, जिनका कोई अपवाद नहीं हो सकता, आधारित नही होता तब यही उसका अंत होता है।

परंतु क्या स्वयं न्याय को भी मानवीय अधिकारों की धारणा पर आधारित नहीं होना चाहिए ? इस प्रकार हमें पुनः अधिकारों के प्रकरण में वापस जाना पड़ता है। यदि हरेक आदमी को अपने जीवन को जीने का अधिकार है, अपने परिश्रम से कमाने का अधिकार है, और दबाव से मुक्त होकर स्वतंत्र निर्णय का अधिकार है, तो कोई यह तर्क दे सकता है कि न्याय का उल्लंघन तब नही होगा जब राष्ट्र के विधितंत्र में इन अधिकारों को मान्यता प्राप्त हो और कोई अपवाद न माना जाए। किसी भी राष्ट्र के संविधान को व्यक्ति के अधिकारों को सरकारी अधिकारियों की पहुँच से बाहर रखना चाहिए, यहाँ तक कि वोट के प्रभाव से भी दूर रखना चाहिए। अन्यथा बहुसंख्यक वर्ग किसी भी अलोकप्रिय अल्पसंख्यक वर्ग के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही कर सकता है, उसकी हत्या कर सकता है या उसे नजरबंदी शिविर में डाल सकता है। राजनीतिक सत्ता की इस प्रकार सीमा बाँध दिए जाने पर, अल्पसंख्यकों के जीवन और उनकी संपत्ति को कोई खतरा नही रहता ; इन्हें बहुसंख्यकों का वोट नहीं छीन सकता, और कोई भी आदमी राजनीतिक सत्ता प्राप्त करके इन्हें नही छीन सकता। न्यायनिष्ठ समाज वह है जो व्यक्ति के

अधिकारों को स्वीकार करता है और उन्हें अपने संवैधानिक ढांचे के अंदर इस प्रकार जड़ देता है कि कोई भी भावी तानाशाह चाहे वह "अधिकतमसंख्यकों का अधिकतम सुख" का कितना ही ऊँचा नारा क्यों न लगाए, उन्हें नहीं छीन सकता। "अधिकतम सुख" प्रत्येक व्यक्ति का गुण है और एक व्यक्ति या अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के लिए बलिदान करके प्राप्त नहीं हो सकता। आचरणविषयक जो मत मानवीय अधिकारों के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता उसमें कोई जान नहीं है, और जो सिद्धांत कर्मों के औचित्य को उनके परिणामों के आधार पर आंकता है वह कभी उसमें जान नहीं डाल सकता।

परिच्छेदानुसार प्रश्नावलियाँ

१

१. "यह जो मेरा म्याऊँ-म्याऊँ करनेवाला और घुरघुरानेवाला पालतू जानवर है उसके लिए 'बिल्ली' शब्द का प्रयोग क्या सही नहीं है ? यदि मैं इसे भैंस कहूँ तो अवश्य यह एक गलत नाम होगा !" "चीजों के लिए किसी भी नाम का प्रयोग सही और गलत नहीं होता। इसलिए यदि आप इसे भस कह दें तो यह भी उतना ही सही होगा।" इस विवाद का निर्णय कीजिए।

२. जब कोई बच्चा शब्दों के अर्थ सीखता है तब वह चीजों के बारे में बात करने के लिए शब्दों को गढ़ता नही है। तो फिर यह कहने में क्या तुक है कि मनुष्यों ने नाम गढ़े हैं, उन्हें खोजा नहीं है ?

३. इस आपत्ति का उत्तर दीजिए : "भाषा के प्रचलित प्रयोग के आधार पर कोई बात निश्चित नहीं की जा सकती। आप यह दिखाकर कि लोग शब्दों का किस तरह प्रयोग करते हैं, किसी विवाद का निर्णय नहीं कर सकते। प्रचलित प्रयोग गलत हो सकता है। मान लो, हम इस प्रश्न का निर्णय करने में कि पृथ्वी गोल है या नहीं, इस प्रणाली का सहारा लेते हैं। मध्ययुग में इसी प्रणाली के बल पर पृथ्वी को चपटी सिद्ध किया जा सका होता। फिर भी, जैसा कि हम जानते ही हैं, इस तरह एक क्षण के लिए भी यह सिद्ध नहीं हो सकेगा कि पृथ्वी सचमुच चपटी है।"

४. निम्नलिखित वाक्यों में उद्धरण-चिह्न सही स्थान पर रखिए :

अ. डॉग एक अंग्रेजी शब्द है जिसका वही अर्थ है जो हिंदी शब्द कुत्ता का है।

आ. डॉग शब्द कुत्ते का बोधक अंग्रेजी शब्द है।

इ. वाक्य का अर्थ निर्धारित करने में शब्दों का क्रम महत्त्व रखता है : जैसे, जर्नल ने कर्नल को मार डाला का वही अर्थ नहीं है जो कर्नल ने जर्नल को मार डाला का है।

ई. श्रम शब्द में तीन अक्षर है।

उ. मुख्य सड़क पर कारें दौड़ रही हैं एक सत्य कथन है।

ऊ बिल्ली शब्द बिल्लियों का नाम है; और बिल्ली शब्द का नाम 'बिल्ली है।

५. "शौर्य बहादुरी है"। "'शौर्य' का वही अर्थ है जो 'बहादुरी' का है।" निम्नलिखित वाक्य गलत क्यों हैं?

अ. "शौर्य" का अर्थ "बहादुरी" है।

आ. "शौर्य" का वही अर्थ है जो बहादुरी का है।

६. नीचे के वाक्यों में रेखांकित शब्दों में से कौन-से ऐसे हैं जिन्हें उद्धरण-चिह्न के सहित होना चाहिए? हेतु भी बताइए।

अ. आपके व्यवहार का क्या अर्थ है?

आ. इस समाचार का क्या अर्थ है?

इ. दर्शनरति का क्या अर्थ है?

ई. आप प्रेम का अर्थ नही जानते।

उ. कोई भी जीवन का सच्चा अर्थ नही जानता।

ऊ. यही लोकतंत्र का सच्चा अर्थ है।

७. पिछले प्रश्न में प्रयुक्त "सच्चा अर्थ" की आलोचना कीजिए। चीजों का सच्चा अर्थ हो सकता है? क्या शब्दों का कोई सच्चा अर्थ हो सकता है? समझाकर बताइए। आप "'लोकतंत्र' शब्द का सच्चा अर्थ", इस वाक्यांश का क्या मतलब लगाएँगे?

८. निम्नलिखित "क्या है" पूछनेवाले प्रश्नों और कथनों का विश्लेषण कीजिए—

अ. कोई नहीं जानता कि बिजली क्या है (हम केवल इतना जानते हैं कि वह क्या करती है)।

आ. कोई नही जानता कि जुकाम क्या होता है (हम केवल यह जानते हैं कि उसके लक्षण क्या होते हैं)।

इ. दूरप्रेरण क्या है?

ई. लोकतंत्र वस्तुतः क्या है?

उ. इस दल में कोई भी नही जानता कि यह जानवर क्या है।

ऊ. सत्यता क्या है ?

९. निम्नलिखित लाक्षणिक प्रयोगवाले वाक्यों का ऐसे वाक्यों मे अनुवाद कीजिए जिनमें ऐसे प्रयोग न हो। (एक लाक्षणिक प्रयोग की जगह पर दूसरा लाक्षणिक प्रयोग रखने की कोशिश न कीजिए।)

अ. वह ईर्ष्या से जल-भुन गई।

आ. वह एक ऊंची ध्वनि है (पियानो पर)।

इ. उसके नैतिक आदर्श उसकी अपेक्षा उच्च हैं।

ई. मैं इन सबसे ऊपर हूँ।

उ. मैं बात को अपने मन के अंदर पक्का जमा देना चाहता हूँ।

ऊ. ऐसा सचमुच हुआ नही ; यह सब केवल आपके मन में है।

ए. उसका मन सब तरह की बेकार की बातो का गड्डमड्ड है।

ऐ. वह विपत्तियों के समुद्र में गोता लगा रहा है।

ओ. वह जो पहले थी उसकी अब परछाई-भर रह गई है।

औ. जीवन एक चलती-फिरती छाया मात्र है।

अं "सारा संसार एक नाटक है"।

अः जीवन एक स्वप्न मात्र है।

क. "वास्तुशिल्प हिमीभूत संगीत है"।

ख. उसकी आंखो से आग बरसती थी।

ग. नदी सबसे सरल रास्ता अपनाती है—ढलान की ओर। यही अधिकतर लोग करते है।

घ. राजा होने के लिए लौह संकल्प चाहिए : उसे सिंह और लोमडी दोनों ही होना चाहिए।

१०. क्या आप इन शब्दों की संतोषजनक परिभाषा बता सकते हैं—"शब्द," "वाक्यांश," "वाक्य" ?

११. क्या 'रंग" शब्द इसलिए अनेकार्थक है कि उससे लाल, हरा इत्यादि का बोध होता है ? क्या "सुखद" शब्द इसलिए अनेकार्थक है कि जो मुझे सुखद लगता है वह शायद आपको सुखद न लगता हो ? क्या "तेज" शब्द इसलिए अनेकार्थक है कि जो चाल वायुयान के लिए धीमी है वह कार के लिए तेज है और जो कार के लिए धीमी है वह साइकल के लिए तेज है ?

१२ इन उदाहरणो के द्वारा सिद्ध कीजिए कि "है" (और "होना"

क्रिया के सभी रूप) अनेकार्थक है : "एक गज तीन फुट होता है" ; "कुर्सी पीली है" ; "पानी एच$_2$ ओ है" ।

१३. क्या ये क के विभिन्न प्रकार हैं या "क" शब्द के विभिन्न अर्थ ?—

अ. रोटी खाना, शब्दों को खाना ।

आ. कमरे का पिछवाड़ा, दिमाग का पिछवाड़ा ।

इ. मकान के पीछे, कामों के पीछे ।

ई. सख्त कुर्सी, सख्त परीक्षा ।

उ. आरामकुर्सी, दर्शनशास्त्र की कुर्सी ।

१४. क्या ये अनेकार्थक शब्द मिलते-जुलते हैं, अथवा एक ही शब्द का दोनों ही अर्थों में प्रयोग एक "भाषाई संयोग" है ?—

अ. जानवर का मुख, सभा-मुख ।

आ. संख्याओं को जोड़ना, तत्त्वों को जोड़ना ।

इ. ऊँचे पहाड़, ऊँचे इरादे ।

ई. कर जोड़ना, कर देना ।

उ. बाल काटना, लकड़ी काटना ।

ऊ. वृक्ष का मूल, जगत का मूल ।

ए. आवश्यक संदेश, स्वादिष्ट संदेश ।

ऐ. सूर्य की रश्मि, अश्व की रश्मि ।

२

१. समझाकर बताइए कि निम्नलिखित वाक्यों में से कौन (शब्द के आजकल के सबसे अधिक प्रचलित अर्थ में) परिभाषक विशेषताएँ बताता है और कौन अनुषंगी विशेषताएँ बताता है (और इस प्रकार शब्द जिस वस्तु का बोधक है उसके बारे में एक कथन है) :

अ. त्रिभुज तीन भुजाओंवाले होते है ।

आ. शेर भारत के निवासी हैं ।

इ. कुत्ते मांसाहारी होते है ।

ई. पुस्तकें कागज की होती है ।

उ. अच्छा खिलाड़ी शायद ही कभी हारता हो ।

ऊ. महिलाएँ अश्लील शब्दों का प्रयोग नही करती ।

ए. कुल्हाड़ी काटने के लिए प्रयुक्त औजार है।

ऐ. यूरेनियम का प्रयोग परमाणु-बम बनाने में होता है।

ओ. आदमी पच्चीस फुट से कम लंबे होते हैं।

औ. अंडों के अंदर पीतक होता है।

२. मान लो कि *अ* क-वर्ग की एक परिभाषक विशेषता है तथा *आ* एक अनुषंगी विशेषता है। नीचे के कथनों में से कौन सत्य है?—

अ. यदि इसमें *अ* न होती तो यह *क* न होता।

आ. यदि इसमें *आ* न होती तो यह *क* न होता।

इ. यदि यह *क* न होता तो इसमें *अ* न होती।

ई. यदि यह *क* न होता तो इसमें *आ* न होती।

३. उदाहरण देकर सिद्ध करो कि शब्दों का गुणार्थ भिन्न होते हुए भी उनका वस्त्वर्थ एक ही हो सकता है।

४. "शब्द का अर्थ वह होता है जिसका वह निर्देश करता है।" इस कथन में क्या दोष है?

५. नीचे दिए हुए शाब्दिक विवादों पर विचार कीजिए, और परिभाषक तथा अनुषंगी विशेषताओं की जानकारी के आधार पर प्रत्येक का समाधान निकालिए :

अ. यदि मैं इसकी टाँगें काट दूँ तो क्या यह मेज होगा? यदि मैं इसे काटकर जलाने की लकड़ियाँ बना दूँ तो?

आ. यह अब द्रव के रूप में नहीं रहा। इसके बावजूद क्या यह अब भी पानी है?

इ. मैं इसे जला चुका हूँ। फिर भी क्या यह लकड़ी है?

ई. क्या २१ वर्ष की आयु होने से पहले ही वह प्रौढ़ है?

उ. क्या सभी डिब्बों के बदल जाने के बावजूद यह वही रेलगाड़ी है?

ऊ. क्या यह वही रेलगाड़ी है, हालांकि इसका स्टेशन से छूटने का समय बदल गया है?

ए. क्या यह चुम्बकयुक्त न होने पर भी लोहा है?

ऐ. क्या पट्टियाँ न होने के बावजूद भी यह जेबरा है?

ओ. क्या मैं वही व्यक्ति हूँ जो दस वर्ष पहले था, हालांकि उस समय मेरे शरीर में जितनी कोशिकाएँ थीं वे सब बदल चुकी हैं?

औ. क्या डायल के अभाव मे भी यह घडी है ?
अ यह एक टीला है या पहाड ?
अ'. क्या गाय द्वारा चर लिए जाने के बाद भी यह घास है ?

६. क्या नीचे के विवाद शाब्दिक हैं ? आप उनका समाधान किस तरह करेंगे ?

अ. आपके पास एक पुरानी कार है। एक पुरजा खराब हो गया है और उसकी जगह आप एक नया पुरजा लगा देते है। अगले दिन यही आप एक और पुरजे के साथ करते है और ऐसा करते-करते एक दिन पूरी कार का प्रत्येक भाग बदल जाता है। अत मे जो कार आपके पास अब है वह क्या वही कार है जो पुरजो का बदलना शुरू करने से पहले आपके पास थी ?

आ. राम ने अपने भाई मोहन से कहा, "जब मै मरूँगा तब अपना पैसा तुम्हे दे जाऊँगा।" अगले दिन उसने अपना इरादा बदल दिया और यह निश्चय किया कि वह उसके बजाय अपनी पत्नी को अपना रुपया दे जाएगा। इसलिए उसने अपनी वसीयत मे लिखा, "मेरा सारा रुपया मेरे निकटतम सबधी (पत्नी) को मिले।" परतु उसकी पत्नी पहले ही मर चुकी थी और इस तथ्य का उसे पता नही था। अगले दिन राम की मृत्यु हो गई और उसका रुपया उसके निकटतम सबधी यानी उसके भाई को मिल गया। सवाल यह है : राम ने मोहन को दिया हुआ अपना वचन पूरा किया या नही किया ?

७. लोगो को पता चल गया है कि व्हेल स्तनधारी प्राणी है (हालांकि शुरू म जो बात मानी जाती थी उसके यह विपरीत है)। इसके अतिरिक्त स्तनधारी होना "व्हेल" की परिभाषक विशेषता भी है। इस प्रकार, परिभाषक विशेषताए खोजी जाती है, न कि दी जाती है। है न ?

८ किसी शब्द के गुणार्थ मे शामिल विशेषताओ का पता लगाने के लिए आम तौर पर उस वस्तु के जिसका वह शब्द बोध कराता है, यथासभव अधिक उदाहरणो की सूची तैयार की जाती है और तब यह देखा जाता है कि कौन-सी विशेषताएँ उन सब उदाहरणो मे समान है। उन समान विशेषताओं को परिभाषक विशेषताएँ कहा जाता है और उनकी पूरी सूची ही शब्द की परिभाषा होती है। यह प्रणाली निरापद क्यो नही है ? क्या आप कोई ऐसा शब्द सोच सकते है जिसके सबध मे इस प्रणाली का अनुसरण करने से नतीजे गलत निकलें ?

९. "मनुष्य" को एक तर्कबुद्धिशील प्राणी, एक पंखहीन द्विपद या एक हँसनेवाला जीव परिभाषित करने से क्या "मनुष्य" शब्द के वस्त्वर्थ में कोई अंतर पड़ेगा ? "मनुष्य" (जाति के अर्थ में) की यथाशक्ति सही प्रतिवेदक परिभाषा बताने की कोशिश कीजिए, यानी प्रचलित प्रयोग में वस्तुतः जैसे यह शब्द इस्तेमाल किया जाता है, उसे बताने की। अर्थात् वे विशेषताएँ क्या हैं जिनके बिना "मनुष्य" कहलानेवाला कोई प्राणी रह न सके ? (यदि कोई एक और ही परिभाषा बताए तो क्या आप उसे गलत परिभाषा, असत्य परिभाषा कहेंगे ?)

१०. निम्नलिखित परिभाषाओं की जाँच कीजिए—

अ. पक्षी : पंखोंवाला कशेरुकी।

आ. धर्मांध : वह जो लक्ष्य को भूलने के बाद अपने प्रयत्न को चौगुना कर देता है।

इ. दालचीनी : पुलाव में डाला जानेवाला एक मसाला।

ई. वृक्ष : वनस्पतियों में सबसे बड़ा।

उ. उदार : वह जो स्वतंत्रता का समर्थक हो।

ऊ भवन : मनुष्य के निवास के लिए बनाई गई एक इमारत।

ए. संध्या : दिन और रात के बीच की अवधि।

ऐ. गति : पृथ्वी की सतह के ऊपर स्थिति का परिवर्तन।

ओ. रद्दी की टोकरी : बेकार की चीजें डालने के लिए इस्तेमाल की जानेवाली टोकरी।

औ पुस्तक : कागज, आवरण और छपाईवाली कोई भी चीज।

अं. विषुवत् रेखा : ध्रुवों के मध्य में पृथ्वी के सब ओर खींची हुई काल्पनिक रेखा।

अः. विवाह : विधिसम्मत वेश्यावृत्ति।

क. बायाँ : दाहिने का विपरीत।

ख. धर्म : वह जो आप अपने खाली समय में करते हैं।

ग. बुधवार : मंगल के अनंतर आनेवाला दिन।

घ. पम्प : पृथ्वी की सतह के नीचे से पानी खींचने के लिए प्रयुक्त एक यंत्र।

ङ. खाना : मुँह से ग्रहण करना।

च. हृदय : शरीर के अंदर रक्त को प्रवाहित करनेवाला अवयव।

११. "इस बात की वजह कि हम गुणधर्म अ को क की परिभापक विशेपता मानते है (जैसे, टाँगो के अभाव को साँपो की परिभापक विशेपता), यह है कि सब क-ओ में अवश्य ही यह विशेपता होती है।" इसमें क्या गलती है ?

१२. "सेव क्या होता है ?" "सेव एक फल है जो एक पेड़ पर लगता है।" "मैने आपसे यह नही पूछा कि वह किस वर्ग में आता है; मैने केवल यह पूछा है कि वह है क्या।" "अच्छा, तो सेव····उगता है।" "मैने यह नही पूछा कि वह क्या करता है; मैने पूछा है कि वह है क्या।" "अच्छा, तो सेव एक ऐसी चीज है जो निम्नलिखित रासायनिक तत्त्वो से वनी होती है····।" "मैने यह नही पूछा कि वह किस चीज से बना होता, या यदि मै उसे सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखूं तो मुझे क्या दिखाई देगा। मैने तो एक सीधी-सी बात पूछी है कि वह क्या है।" इस विवाद मे गलती कहाँ है ?

१३. पचास वर्ष पहले स्किजोफ्रीनिया को इतना असाध्य माना जाता था कि यदि कोई रोगी स्वस्थ हो जाता था तो तुरत यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता था कि रोगी को गलती से स्किजोफ्रीनिया मान लिया गया था। अव असाध्य होने की बात को स्किजोफ्रीनिया की परिभापक विशेपता नही माना जाता। क्या इससे यह सिद्ध होता है कि पचास वर्ष पहले की परिभापा गलत थी ?

१४. अ : सब क-ओ मे जो विशेपताएँ समान होती है उन्हे क की परिभापक विशेपताएँ होना चाहिए।

ब : नही। सब मेज ठोस चीजें है पर यह "मेज" की संतोपजनक परिभापा नही है। यह परिभापा अतिव्याप्त है, क्योकि यह मेजो को उन ठोस चीजो से जो मेज नही है अलग नही करती। आपको न केवल यह जानना है कि सब मेजो मे क्या समान है वल्कि यह भी कि वह क्या है जो मेजो मे विलक्षण है।

अ . वहुत ठीक। मान लो कि आप क-ओ में जो विलक्षण है, उसे जानते हैं, यानी उस वात को जो किसी और चीज में नही है। उदाहरणार्थ, केवल हाथियो मे ही सूँड होती है जिसमें वे पानी खीचते है। यह हाथियों की एक विलक्षणता है। तो क्या यह एक संतोपजनक परिभापा है ?

ब : नही, क्योकि यह ऐसी बात हो सकती है जो सव हाथियो मे समान न हो, वल्कि केवल उनकी विलक्षणता हो। संतोपजनक परिभापा में दोनों वातें होना जरूरी है।

अ · बहुत ठीक। पर अब मान लीजिए कि सभी हाथियो मे सूँड होती है : सब हाथियो मे वह होती है और केवल हाथियो मे ही होती है। अब अततोगत्वा हमे "हाथी" की सतोषजनक परिभाषा मिल ही गई।

ब . नही, क्योकि ········

शेष बात आप बताइए। दोनो शर्तो को पूरी करने के बावजूद क्यो परिभाषा अपर्याप्त हो सकती है ?

१५. निम्नलिखित बातो और सवालो को ध्यान मे रखते हुए "कर्म" शब्द की एक सतोषजनक परिभाषा बनाने का प्रयत्न कीजिए।

"कानून मे, किसी कर्म का होना आवश्यक है", हत्या का प्रयत्न एक कर्म माना जाता है, परतु हत्या का इरादा कर्म नही है। परतु, कर्म मे क्या बाते आती है ? यदि आप किसीको गोली का निशाना बनाते हैं और वह मर जाता है तो आपका कर्म क्या था घोडे को उँगली से दबाना ? उँगली से घोडे को दबाना और गोली का बदूक से निकल पडना ? ये दो बाते और गोली का आदमी के शरीर के अदर प्रवेश ? ये तीनो बातें और गोली का आदमी के हृदय मे प्रवेश ? ये चार और आदमी का मर जाना ? कौन आपके कर्म का अग है और कौन आपके कर्म का परिणाम ?

निम्नलिखित मे से किसे कर्म माना जाएगा और क्यो ?

(१) आप नीद मे चलते समय किसी को मार बैठते है। (२) आप किसी को छुरे से मार डालते हैं, परतु इसका आपको ज्ञान नही रहता और बाद मे इसकी कोई स्मृति भी नही रहती। (३) आप बिल्कुल आदत के वश होकर, कोई विचार पहले से किए बिना ही कोई बात कर डालते है। (४) आप कुछ भी नही करते, परतु एक आदमी को भूखे मरने देते है हालांकि आप उसे खाना दे सकते थे या उसे डूबने देते है हालांकि आप उसे बचा सकते थे। (५) आप अपनी कार की देखभाल नही करते जिससे उसका ब्रेक ऐन मौके पर खराब हो जाता है और उसकी टक्कर से एक पैदल चलनेवाला मर जाता है।

१६ "फल" की इस तरह परिभाषा देने की कोशिश कीजिए कि परिभाषा के आधार पर आप बता सकें कि कौन-सी चीजें फल हैं। यह ध्यान मे रखिए कि यह शब्द अनेकार्थक है कोई चीज जीवविज्ञानीय अर्थ मे फल हो सकती है (यानी पेड का वह भाग जिसके अन्दर बीज होते हैं)

और हो सकता है कि खाद्य के रूप मे वह फल न हो (यानी मीठा न होने के कारण उसे फल के बतौर ग्रहण न किया जाता हो)। कुछ चीजो के नाम बताइए जो दोनो अर्थो मे फल हो; फिर ऐसी चीजो के जो एक अर्थ मे फल हो और दूसरे मे फल न हो। क्या टमाटर फल है? कद्दू और सेम को क्या कहेगे? [देखिए विलियम पी० ऐल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज पृ० ८७।]

१७. क्या कोई व्यक्ति यह जाने बिना कि क क्या होते हैं उनके बारे मे कोई बात जान सकता है? अधिक साफ शब्दो मे, क्या कोई व्यक्ति यह जाने बिना कि "क" शब्द का क्या अर्थ है, क-ओ के बारे मे कोई तथ्य जान सकता है? ("क का क्या अर्थ है" को "क की परिभाषा क्या है" का समानार्थक समझिए। तब उसे किसी अधिक विस्तृत अर्थ मे लीजिए।)

१८. कुतिया से जो भी पैदा होता है उसे पिल्ला होना चाहिए, उसकी शक्ल चाहे जैसी हो, क्योकि "पिल्ला" शब्द की परिभाषा है "कुत्ते की नन्ही सतान"। इसमे क्या दोष है? यदि कुतिया बिलौटे को जन्म दे तो क्या बिलौटा पिल्ला हो जाएगा?

१९ "क्या सगीत कोई भाषा है"? "यह तो एक शाब्दिक प्रश्न मात्र है—यह पूछनेवाला प्रश्न कि आप 'भाषा' शब्द के प्रयोग का विस्तार करके सगीत को उसमे शामिल करना चाहते है अथवा आप उसे रूढ सकेतो तक ही सीमित रखना चाहते हैं। और, शाब्दिक प्रश्न के रूप मे प्रश्न की रोचकता समाप्त सी हो जाती है।" इस निर्णय मे क्या विवक्षित है कि सगीत एक भाषा है? पहले यह बताइए कि भाषा की परिभाषक विशेषताएँ आप क्या मानते हैं।

२०. "यदि आपको पक्का विश्वास है कि आप इस शब्द का अर्थ जानते हैं तो मुझे इसकी परिभाषा बताइए।" यह पूछना सदैव उचित क्यो नही होता? क्या इसलिए कि इसका उत्तर देना सदैव सभव नही होता?

२१. "कोई नही जानता कि बिजली क्या है: हम केवल यह जानते है कि वह क्या करती है।" "कोई नही जानता कि जुकाम क्या है: हम केवल उसके लक्षणो को जानते हैं।" इन कथनों का मूल्याकन कीजिए।

२२. "यह एक लोमड़ी है या एक भेड़िया?" यह प्रश्न शाब्दिक है या तात्विक—(अ) तब, जब आप प्रातःकाल घूमने मे कुछ दूरी पर जगल

में उस जानवर को देख रहे हों और उसे स्पष्ट रूप से न पहचान पा रहे हों ; (आ) तब, जब जानवर आपके सामने हो, आपने उसकी विस्तार से जाँच कर ली हो, आपने रासायनिक परीक्षण कर लिए हों, इत्यादि; और यह सब करने के बाद भी आप इस प्रश्न को पूछ रहे हों ?

२३. नीचे के प्रत्येक कथन का मूल्यांकन कीजिए। प्रत्येक में जो भी अस्पष्टताएँ हो उन्हें स्पष्ट कीजिए :

अ. सौंदर्य के या न्याय के स्वरूप के बारे में विवाद मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ है। "सौंदर्य" और "न्याय" शब्द की जो भी परिभाषा लोग देना चाहें, दे सकते हैं। क्या नहीं ? उन्हें स्वेच्छानुसार प्रयोग की आजादी है। तो फिर विवाद किसलिए ?

आ. "इस लेखक की परिभाषा के अनुसार किसी व्यक्ति का धर्म वह है जिसका वह अपने जीवन में सबसे अधिक मूल्य समझता है। निश्चय ही यह एक गलत परिभाषा है। धर्म वास्तव में ऐसा बिल्कुल नहीं होता।" 'परंतु, कोई भी व्यक्ति अगर चाहे तो 'धर्म' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग कर सकता है और न यह कथन गलत ही है, क्योंकि वह परिभाषा बता रहा है, और परिभाषा सही या गलत नहीं हो सकती।"

इ. पीढ़ियों तक वैज्ञानिक यह पता लगाने की कोशिश करते रहे कि निमोनिया असल में क्या है। अंततः उन्होंने पता लगा ही लिया। यह एक विशेष प्रकार के वाइरस से होनेवाला रोग है। इस प्रकार अब हम "निमोनिया" की सच्ची परिभाषा जान गए है।

ई. ऐसा कैसे संभव है कि एक आदमी बदलता है और इसके बावजूद वह वही आदमी बना रहता है जो पहले था ? इस सवाल का उत्तर अभी तक कोई नहीं दे पाया।

उ. आप उसी नदी में दो बार डुबकी नहीं लगा सकते, क्योंकि पहली बार उसमें जो पानी था वह बहकर पहले ही आगे निकल चुका है।

ऊ. मेरे सामने यह जो अंडा रखा है यह तब वह न हुआ होता जो यह है यदि वह इस मुर्गी ने इस समय और इस जगह पर न दिया होता, यदि मैं उसे इस समय न देख रहा होता, और यदि मैं अभी इसे खानेवाला न होता (प्रत्येक चीज जो है वह उन सब बातों की वजह से है जो उसके साथ हुई हैं और उन सब परिस्थितियों की वजह से है जिनमें उसका अस्तित्व है।)

२४. दस ऐसे शब्द बताइए जो तीव्र सवेगात्मक अर्थ रखते हो। फिर उन्हे बताइए जो आपकी समझ से उनकी प्रभावी परिभाषाएँ हो सकती है।

२५. "सच्चा अपराधी केवल वही है जो उत्तेजना के वश मे होकर नही बल्कि भली भाँति सोच-विचारकर ठडे दिमाग से अपराध करता है।' यह दिखाइए कि यहा प्रभावी परिभाषा का कैसे प्रयोग होता है तथा "पागल", "तन्त्रिकातापी" और "मनुष्य" के प्रयोग मे भी कैसे होता है। (क्या आप कोई ऐसा उदाहरण सोच सकते है जिसमे प्रभावी परिभाषा का प्रयोग किसी आदमी के जान से हाथ धोने का कारण बना हो ?)

२६. क्या आदमी और गिलहरी के उदाहरण मे परिच्छेद मे बताई हुई अनेकार्थकताओ के अलावा और भी अनेकार्थकताएँ है ? क्या "चक्कर लगाना" का उदाहरण मे बताए हुए अर्थों से भिन्न कोई और अर्थ भी हो सकता है ?

२७. पशुओ के इन नामो के साधारण प्रयोग मे क्या सपृक्तार्थ है ? भेडिया; बिल्ली ; उल्लू ; तिलचटा ; ऊदबिलाव , दरियाई घोडा , गिद्ध ; साँप ; उकाब ; गाय , चूहा।

२८ सपृक्तार्थ और गुणार्थ; दोनो की दृष्टि से आप निम्नलिखित शब्द-युग्मो मे किसी को क्या बिल्कुल सही पर्याय मानेंगे, और क्यो ?—

हराना वश मे करना, खिझाना, चिढाना ; चीखना चिल्लाना ; आलोकित करना, प्रकाशित करना; पिता, बाबा ; क्षुद्रग्रह, ग्रहिका , अचानक, अनजाने; आलसी, निष्क्रिय, विवेकी, ज्ञानी ; नग्न, नगा, छिडकाव, छिडकाई ; सपन्न, धनी , छोटा, नन्हा ; मोटा, स्थूल।

२९ हमने "क्या यह वही क है या नही ?" के कुछ उदाहरणो पर विचार किया था। अब इस प्रश्न पर विचार कीजिए · "क्या यह वही शब्द है या नही ?" क्या नीचे दिए हुए उदाहरण दो शब्दो के है या दो भिन्न अर्थों-वाले एक शब्द के ? एक ही शब्द कहने के लिए आपका हेतु क्या है ? (क्या वर्तनी एक होनी चाहिए ? क्या अर्थ परस्पर सबधित होने चाहिए ? वर्तमान प्रयोग मे या व्युत्पत्ति मे ?) कलम (लेखनी), कलम (जैसे, गुलाब की) सील (प्राणी), सील (मुहर) ; जाली ('जाली नोट'); जाली ('जाली से छानना'), टाँग (जानवर की), टाँग (मेज की) ; मद (नशा), मद (घमड), बहाना (जैसे, पानी को), बहाना (जैसे नींद

का) ; चालू (आदमी), चालू (मशीन) ; सेना (फौज), सेना (जैसे, 'अंडे सेना ') ।

२०. बीस ऐसे शब्द बताइए जिनकी आपके विचार से केवल निदर्शनात्मक परिभाषा ही दी जा सकती है। उनकी शाब्दिक परिभाषा क्यों नहीं दी जा सकती ?

३

१. क्या आप इन शब्दों को अस्पष्ट समझते हैं ? यदि हाँ, तो किन बातों में ?—सुखी ; ऊपर ; ३ ; पूर्व ; वेतन ; दौड़ना ; अधीर ; और ; ठोस ; चिल्लाना ; धन ; पीना ।

२. "कुत्ता" के उदाहरण में दिखाए गए तरीके से "टोप" शब्द की अस्पष्टता का विश्लेषण करने की कोशिश कीजिए। क्या आप कोई ऐसी विशेषताएँ सोच सकते है जिनका किसी चीज का टोप होने के लिए उसमें होना जरूरी हो ? क्या सिर पर पहनी जानेवाली (या पहनने के लिए बनाई गई) कोई चीज टोप है ? यदि हाँ, तो टोपी और पगड़ी इत्यादि चीजों से उसे अलग करनेवाली क्या बात है ? क्या टोप वाली विशेषताओं का कोई समुच्चय है ? क्या आप "टोप" शब्द की कोई ऐसी परिभाषा दे सकते है जो टोप कहलानेवाली चीजों पर लागू हो, पर सिर पर पहनी जानेवाली उन चीजों पर लागू न हो जिन्हें हम टोप नहीं कहते ?

३. क्या निम्नलिखित शब्दों के प्रयोग की अनेक कसौटियाँ हैं ? परिच्छेद मे बताए हुए पाँच लक्षणों में से कौन उनपर लागू होते हैं ?—बिल्ली ; कुर्सी ; जीवित प्राणी ; निवासी ; टाँग ; घबड़ानेवाला ; बक्स ; नाव ; परदा ; कविता ।

४. नीचे दी हुई सभी विशेषताएँ "धर्म" शब्द के साथ जुड़ी हुई हैं। क्या उनमे से किसीको आप आवश्यक (परिभाषक) समझते हैं और किसको ? कौन ऐसी है जिसे दूसरों के रहने पर छोड़ा जा सकता हो ? अन्य की तुलना में अधिक महत्त्व किसका है ? "धर्म" शब्द के प्रयोग के लिए पर्याप्त आप किन विशेषताओं के कोरम को समझते हैं ? [सूची विलियम पी० ऐल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज, पृ० ८८ से ली गई है ।]

अ. अलौकिक सत्ताओं (देवताओं) में विश्वास ।

आ. सांसारिक और पवित्र वस्तुओं में अंतर करना ।

इ. पवित्र वस्तुओं के सबध मे कुछ कृत्यो या अनुष्ठानो का किया जाना।

ई देवताओ के द्वारा अनुमोदित एक नैतिक नियमावली मे विश्वास।

उ पवित्र वस्तुओं की उपस्थिति मे और अनुष्ठान के दौरान पैदा होने-वाली विशेष धार्मिक अनुभूतियाँ (श्रद्धायुक्त विस्मय, रहस्यात्मकता, दोषी होने की भावना इत्यादि), जो देवताओ से संबधित होती है।

ऊ. प्रार्थना तथा अन्य तरीको से देवताओ के साथ सपर्क।

ए सपूर्ण जगत् और उसमे व्यक्ति के स्थान के बारे मे तथा इस बारे मे एक मत कि सब मिलाकर उसका प्रयोजन क्या है।

ऐ. इस विश्व-दृष्टि के आधार पर अपने जीवन का प्रायः पूर्ण व्यवस्थापन।

ओ पिछली विशेषताओ के द्वारा परस्पर जुडे हुए लोगो का एक सामाजिक सगठन।

५. "जब हम किसी शब्द का वस्तुत जो अर्थ है उसे बताने की कोशिश करते होते है, न कि उसका परिष्कार करने की, तब हमे जरूरत ऐसी एक अन्य शब्दावली की होती है जो अस्पष्टता मे पहले की यथासभव बिल्कुल जोड की हो। इस प्रकार, "किशोरावस्था" की यह परिभाषा कि वह बाल्यावस्था और प्रौढावस्था के मध्य की आयु है, शायद एक अच्छा जोड है, क्योंकि किशोरावस्था की सीमाएँ ठीक उतनी ही अनिश्चित है जितनी बाल्यावस्था की ऊपरी सीमा और प्रौढावस्था की निचली सीमा।" क्या आप कोई अन्य ऐसे उदाहरण सोच सकते है जिनमे अस्पष्ट शब्दो की परिभाषाएँ उनमे समान रूप से अस्पष्ट शब्दावली के प्रयोग के कारण सतोषजनक हो गई हो ? [देखिए ऐल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंगुएज, पृ० ९५।]

४

१ वाक्यो के निम्नलिखित युग्मो मे से कौन ऐसे हैं जो एक ही प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करते हों—

अ. राम श्याम से लम्बा है।
श्याम राम से छोटा है।

आ. सीता कमला से अधिक सुन्दर है।
कमला सीता से अधिक कुरूप है।

इ. मुझे रायता पसन्द है।
मुझे रायने से अरुचि नही है।

ई. उन्होने विवाह कर लिया और उनके बच्चे हो गए।
उनके बच्चे हो गए और उन्होने विवाह कर लिया।

उ. क ख से बडा है, और ख ग से बड़ा है।
क ग से बडा है।

ऊ कल रात मैं सिनेमा देखने गया।
कल रात मैं सिनेमा देखे बिना नही रह पाया।

ए. जो कुछ मैंने देखा उससे मुझे आश्चर्य हुआ।
जो कुछ मैंने देखा उससे मुझे धक्का लगा।

ऐ या तो तुम जाओ या मैं जाता हूँ।
या तो मैं जाता हूँ या तुम जाओ।

ओ. जिस आदमी को उन्होने बाजार मे देखा उसने एक नीला सूट पहन रखा था।
जिस आदमी को उन्होने बाजार मे देखा, उसने एक नीला सूट पहन रखा था।

औ. मैंने उसे अपने शब्द वापस लेने के लिए कहा।
मैंने उसे अपनी बात का प्रतिवाद करने के लिए कहा।

२. क्या आप नीचे के वाक्यो को स्वव्याघाती समझते है ? हेतु बताते हुए उत्तर दीजिए।

अ द्विघात समीकरण घुडदौड मे जाते है।

आ. राजा अपने दासो का दास था।

इ. उसने अध्यवसाय को खाया और पिया।

ई. इस बहुभुज की अनन्त भुजाएँ है।

उ. उसने एक लाल साडी पहन रखी थी जो हरी थी।

ऊ. उसने एक लाल साडी पहन रखी थी जो संगमरमर की बनी थी।

३. क्या आप निम्नलिखित सुझावो (या सुझाव प्रतीत होनेवाली बातो) को सार्थक समझते है ? क्यो ?

अ. "आप कैसे जानते हैं कि आकाश मे एक बहुत बडा छेद नही है ?" "आकाश मे ? आपका मतलब आकाश मे स्थित कुछ पिंडो से तो नही है ?

ग्रहों में छेद हो सकते है।" "नहीं, मेरा मतलब किसी भौतिक पिंड के छेद से नहीं है बल्कि स्वयं आकाश के छेद से है।"

आ. "चतुर्थ विमा में यात्रा करते हुए मैं एक ही सेकेंड में पृथ्वी से उछलकर लाखों प्रकाश-वर्षों की दूरी पर स्थित एक तारे में पहुँच सकता हूँ।"

इ. "जिस कुर्सी के ऊपर आप बैठे हैं और जिस फर्श के ऊपर आपके पैर टिके हैं उसके अंदर भी शायद वैसे ही विचार और वैसी ही अनुभूतियाँ हैं जैसी आपके अंदर।"

ई. "शायद बीस अरब वर्षों तक कुछ भी नही था और तब एकाएक कुछ—भौतिक द्रव्य—हो गया।"

४. कविता के निम्नलिखित लघु अंशों का संतोषजनक ढंग से भाव बताइए :

अ. उठी अधीर धधक पौरुष की
　　आग राम के शर से। (दिनकर)

आ. पिसती कराहती जगती के
　　प्राणों में भरते अभय दान। (सोहनलाल द्विवेदी)

इ. किस जगह यात्रा खतम हो जाएगी,
　　यह भी अनिश्चित,
है अनिश्चित, कब सुमन,
　　कब कंटकों के शर मिलेंगे। (बच्चन)

५. क्या आप निम्नलिखित शब्द-समुच्चयों के कोई अर्थ बता सकते है? यदि हाँ, तो क्या और क्यों?

अ. गणितीय स्नानागार
आ. चार भुजाओं से युक्त कनाति
इ. गृदंतपरक द्विपद
ई. मूर्ख पूर्णांक
उ. अश्लील मेज़ें
ऊ. नरभक्षी चतुर्भुज
ए. सोते हुए मंदिर
ऐ. निष्क्रिय मुहावरे
ओ. आक्रामक कलन
औ. अनुबद्ध आवर्तन

६. क्या आप निम्नलिखित वाक्यों को सार्थक समझते हैं ? क्या आप उनका अनुवाद कर सकते हैं या भाव बता सकते हैं ? यदि वे निरर्थक हैं तो किस त्रुटि के कारण ?

अ. दिल्ली कलकत्ता के बीच में है।

आ. उसने एक रेखा खींची जो –२ इंच लंबी थी।

इ. हव येगा जा हार है।

ई. रंग का स्वाद कड़ुवा है।

उ. संख्या ३ की कल मृत्यु हो गई।

ऊ. यह समस्या लाल है।

ए. उसके विचार भारी हैं (अभिधा में)।

ऐ. वह औरों से धीरे सोता है।

५

१. यदि आपको केवल खट्टे और कड़ुवे स्वादों का ही अनुभव हुआ होता तो क्या आप इस बात की कल्पना कर सके होते कि मीठा स्वाद किस तरह का होता है ? अगर आपने केवल नींबू और नारंगी का ही स्वाद चखा होता तो क्या आप मुसम्मी के स्वाद की कल्पना कर सके होते अथवा यदि आपने केवल आडू और आलूबुखारे ही चखे होते तो क्या आप शफतालू के स्वाद की कल्पना कर सके होते ? अगर आपने विषाद का केवल अन्य संदर्भों में ही अनुभव किया है, जैसे आनंद के समाप्त होने पर और अपनी किसी बहुमूल्य चीज के चुराए जाने पर, तो क्या आप पहले से बता सकेंगे कि किसी प्रियजन की मृत्यु से होनेवाला विषाद क्या होता है ? यदि आपने स्वयं कभी लोभ का अनुभव नहीं किया है तो क्या आप जान सकेंगे कि लोभी होना क्या होता है ? (यदि आपने लोभ का अनुभव नही किया तो क्या "लोभ" शब्द आपके लिए निरर्थक होगा ? यदि आपसे कहा जाए कि क लोभी है तो क्या आप उसकी अनुभूति को नहीं समझ पाएंगे ? यह न जान पाएंगे कि उससे किस व्यवहार की आशा की जाए ?)

२. पहले स्वयं निम्नलिखित का अनुभव किए बिना क्या आप उन्हें समझ सकते हैं ? आप उनके प्रत्ययों को लॉक के अर्थ में सरल मानेंगे या जटिल ? यह बताइए कि आप "प्रत्यय" का प्रयोग बिंब के अर्थ में कर रहे

हैं या संकल्पना के ? (अ) दिक्; (आ) पुस्तक के किनारे ; (इ) कुछ नही ; (ई) गति ; (उ) तैरना ; (ऊ) जीवन ; (ए) नवीनता ; (ऐ) खेद ।

३. क्या आप बता सकते हैं कि निम्नलिखित संप्रत्यय अनुभव पर किस रूप मे आधारित हैं ? इन संप्रत्ययों मे से प्रत्येक के होने के लिए व्यक्ति को क्या या किस प्रकार के अनुभव होने चाहिए ? (अ) दरवाजे की मूठ ; (आ) जातीय एकता ; (इ) नैतिक दृष्टि से अर्हता-युक्त ; (ई) स्वागत ; (उ) प्रसंभाव्यता ; (ऊ) साबुन ; (ए) आर्थिक अवसर ; (ऐ) आनंत्य ।

४. संप्रत्यय क्या होता है ? स्वयं परिभाषा बनाने की कोशिश करके देखिए ।

६

१. निम्नलिखित वाक्यों मे से प्रत्येक में "सच्चा" या "सचाई" शब्द के अर्थ का विश्लेषण कीजिए :

अ. वह एक सच्चा मित्र है ।

आ. वह अपनी पत्नी के प्रति सच्चा है ।

इ. (उपन्यास का) यह पात्र उस प्रकार के लोगों के व्यवहार के वास्तविक जीवन मे जो तौर-तरीके होते हैं उनका सच्चा प्रतिनिधित्व करता है ।

ई. इस समस्या को हल करने का सच्चा तरीका ······· है ।

उ. विषुवत् रेखा कोई सच्ची भौतिक जगह नही है ।

ऊ. यह रेखा सच्चा लव नही है ।

ए. "लोकतंत्र" का सच्चा अर्थ है ············· ।

ऐ. सचाई अच्छी नही लगती ।

ओ. यह अवश्य ही उसका सच्चा चित्र है ।

औ. आप सच्चा वृत्त नही खीच सकते ।

२. क्या इस समय यह सत्य है कि कल सूर्योदय होगा ?

३. यदि सत्यता को वास्तविकता मे संवाद माना जाता है तो यथासंभव अच्छी तरह मे समझाइए कि निम्न प्रतिज्ञप्तियाँ किन तथ्यों से संवाद रखती हैं । यदि आप उन्हें सत्य नही समझते तो वे असत्य किस रूप में हैं ?

अ. बिल्ली चटाई के ऊपर बैठी है ।

आ. मुझे लालत्व का संप्रत्यय है ।

इ. मनुष्य एक तर्कबुद्धिशील प्राणी है ।

ई. जानबूझकर किसी को पीड़ा पहुँचाना बुरा है ।

उ. यह चित्र सुंदर है ।

ऊ. अगर तुम इस समय कमरे में होते तो तुम मुझे देखते ।

४. क्या आप कोई ऐसे विश्वास सोच सकते है जो सत्य हों पर "काम न करे" या "काम करे" पर सत्य न हों ? उत्तर देने से पहले यथासंभव स्पष्ट करके बताइए कि "काम करना' को आप किस अर्थ में लेते है ।

५. मान लो कि "काम करना" का वही अर्थ है जो "संतोषजनक परिणाम उत्पन्न करना" का है तो क्या एक प्रतिज्ञप्ति सत्य और असत्य दोनो, एक व्यक्ति के लिए सत्य और दूसरे के लिए असत्य हो सकती है ? समझाकर बताइए ।

६. निम्न वाक्यों के प्रयोग की समीक्षा कीजिए । यदि आप वाक्य को निरर्थक नही समझते तो उसे अन्य शब्दों में प्रकट कीजिए ।

अ. यह उसके लिए सत्य है पर मेरे लिए नही ।

आ. यह उसके बारे में सत्य है पर मेरे बारे मे नही ।

इ. जब तक प्रतिज्ञप्ति के पक्ष या विपक्ष में हमारे पास कोई प्रमाण न हो तब तक वह सत्य या असत्य कुछ भी नही होती ।

ई. जब तक एक प्रतिज्ञप्ति के बारे में कोई सोच न रहा हो तब तक वह सत्य या असत्य, कुछ नही है ।

उ. ऐसा हो सकता है कि एक प्रतिज्ञप्ति न सत्य हो और न असत्य (१) वह अर्थहीन हो सकती है या (२) उसकी सत्यता या असत्यता शायद कभी ज्ञात ही न हो सके ।

ऊ हो सकता है कि एक प्रतिज्ञप्ति एक अवसर पर सत्य हो और दूसरे अवसर पर सत्य न हो—उदाहरणार्थ, "पृथ्वी पर तीन अरब मनुष्य रहते हैं ।

ए. हो सकता है कि एक प्रतिज्ञप्ति एक स्थान मे सत्य हो और दूसरे मे नही—जैसे, "इस स्थान पर पूरे वर्ष में ३० इंच वर्षा होती ।"

ऐ. हो सकता है कि एक प्रतिज्ञप्ति एक व्यक्ति के लिए सत्य हो और दूसरे के लिए न हो—जैसे "मुझे बार-बार तेज सिरदर्द हो जाता है ।"

७. क्या कोई प्रतिज्ञप्ति अंशतः सत्य और अंशतः असत्य हो सकती है ? क्या अर्ध-सत्य होते हैं ?

७

१. नीचे दिए हुए उदाहरणों में से किनमें अनुभूति इस बात की निश्चायक है कि जिस बात का महसूस होना बताया गया है वह सत्य है ? हेतु भी दीजिए।

अ. मुझे उद्विग्नता महसूस हो रही है।

आ. मैं अस्वस्थता महसूस कर रहा हूँ।

इ. मुझे ऐसा महसूस हो रहा है जैसे कि मानो मैं बीमार पड़नेवाला हूँ।]

ई. मुझे ऐसा महसूस हो रहा है कि मैं बीमार पड़नेवाला हूँ।

उ. मुझे महसूस हो रहा है कि मैं हर काम करने के योग्य हूँ।

ऊ. मुझे ऐसा महसूस हो रहा है जैसे कि मानो मेरे गले में एक मेंढक है।

ए. मुझे महसूस होता है कि उसके साथ अन्याय हुआ है।

ऐ. मुझे महसूस होता है कि ईश्वर है।

२. यह जानने के लिए कि नीचे की प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य हैं, क्या आपको अपने वर्तमान अनुभव और प्रयुक्त शब्दों के अर्थों की जानकारी के अतिरिक्त कोई और चीज चाहिए ?

अ. मेरे दाँत में दर्द है।

आ. आज सुबह मैंने नाश्ता किया था।

इ. मेरा अस्तित्व है।

ई. मैं आशा करता हूँ कि कल वर्षा होगी।

उ. मैं समझता हूँ कि कल वर्षा होगी।

ऊ. कल वर्षा होगी।

३. आप निम्नलिखित को घटना-अवस्थाएँ मानते है या शीलअवस्थाएँ या दोनों ?

अ. वह क्रुद्ध है।

आ. वह तुनुकमिजाज है।

इ. वह धर्मनिष्ठ है।

ई. वह गुस्से से उबल रहा है।

उ. वह मोटा है।

ऊ. वह चंचल है।

ए. फल सड़ा हुआ है।

ए. उसके चेहरे का रग उड गया।

ओ. तिजोरी खाली है।

औ. उसके शौक बड़े खर्चीले है।

४. निम्न प्रतिज्ञप्तियो की सत्यता या असत्यता का निश्चय करने के लिए जिस प्रकार के इद्रियानुभवो की जरूरत होगी उनका वर्णन कीजिए :

अ. वह मितव्ययी है

आ. आक्सीजन की संयोजकता २ है।

इ. पृथ्वी का अक्ष क्रांतिवृत्त के ध्रुव की ओर २३½° झुका हुआ है।

ई. वर्तमान ध्रुवतारा प्राचीन काल मे विषुव-अयन के कारण ध्रुवतारा नही था।

उ वृत्त की परिधि का उसकी त्रिज्या से अनुपात π (पाई) है।

ऊ. रासायनिक, वैद्युत और अन्य प्रकार की ऊर्जाएँ ऊष्मा में बदल सकती है, परतु ऊष्मा ऊर्जा के इन रूपो मे नही बदल सकती।

ए. ब्रह्माड के छोरो के बीच लाखो प्रकाशवर्षो की दूरी होने के बावजूद उसका विस्तार सीमित है।

ए. पुद्गल के प्रत्येक अणु के मुकाबले मे प्रति-पुद्गल का एक अणु अस्तित्व रखता है।

ओ. गुरुत्वाकर्षण का बल समय के साथ घटता जा रहा है।

५. एक वैध निगमनात्मक युक्ति मे क्या ऐसा हो सकता है कि

अ. आधारिकाएँ असत्य हो और निष्कर्ष असत्य हो,

आ. आधारिकाएँ असत्य हो और निष्कर्ष सत्य हो,

इ. आधारिकाएँ सत्य हो और निष्कर्ष असत्य हो ?

उदाहरण देकर समझाइए।

६. निम्नलिखित आगमनात्मक युक्तियों मे से प्रत्येक का हेतु बताते हुए मूल्याकन कीजिए :

अ. यदि संयुक्त राज्य, अमरीका के प्रत्येक पांचवें राष्ट्रपति की उसके कार्य-काल मे हत्या कर दी गई होती तो क्या आप इस बात को प्रसभाव्य मानते कि पिछले उस राष्ट्रपति के बाद जिसकी हत्या हुई होती आनेवाले पाँचवें राष्ट्रपति की भी हत्या हो जाएगी।

आ सोमवार को मैं व्हिस्की और सोडा पीकर नशे मे हो गया , मगल को जिन और सोडा पीकर, बुध को वोड्का और सोडा पीकर, वृहस्पति को रम और सोडा पीकर । अव मैं नशा नही करना चाहता ; अत. अव मैं सोडा नही लूँगा ।

इ जब भी मैंने सूर्यास्त के समय सूर्य को नमस्कार किया तब सदैव अगली प्रात काल सूर्योदय हुआ । मैं यह वर्षो से प्रतिदिन करना आ रहा हूँ ; अत (१) यदि मैं आज सूर्यास्त के समय सूर्य को नमस्कार करूँगा तो कल सूर्योदय होगा , तथा (२) यदि आज मैं सूर्यास्त के समय सूर्य को नमस्कार नही करूँगा तो कल सूर्योदय नही होगा ।

ई जब मैं भूखा था तब मैंने एक किलो खीर खाई थी और मैं स्वस्थ हो गया था । अत , यदि मुझे फिर भूख लगे और मैं पाँच किलो खीर खा जाऊँ ता मैं पाँच गुना स्वस्थ हो जाऊँगा ।

उ अत प्रज्ञा से ज्ञान होने के निम्न दावो का मूल्याकन कीजिए, और यह बताइए कि क्या कोई और ऐसा आधार बताया जा सकता है जिससे दावे को बल मिले ?

अ मैं नारीसुलभ अत प्रज्ञा की शक्ति रखती हूँ और जानती हूँ कि वह झूठ बोल रहा है ।

आ मैं जानता हूँ कि वह झूठ बोल रहा है, क्योकि भूतकाल मे उसके बारे मे मेरा कथन सदैव सत्य रहा है ।

इ मैं अत प्रज्ञा से जानता हूँ कि यह बात सत्य नही हो सकती कि एक स्वव्याघाती प्रतिज्ञप्ति मे कोई भी प्रतिज्ञप्ति आपादित हो सकती है ।

ई मेरी अत प्रज्ञा बताती है कि जगल से निकलने का यह रास्ता है ।

उ उस छत्रक को मत खाओ । मेरी अत प्रज्ञा कहती है कि वह विषैला है ।

ऊ मेरी अत प्रज्ञा कहती है कि अपने मित्रो को प्रत्येक बात स्पष्ट रूप से बता देना अच्छी चीज नही है ।

८ नीचे के कथनो म से कौन ऐसे हैं जिनपर सबधित क्षेत्र के विशेषज्ञ के कहने मात्र से आपका विश्वास कर लेना ठीक होगा ? कौन ऐसे है जिनपर विशेषज्ञ के कहने मात्र से विश्वास कर लेना आपको युक्तियुक्त नही लगेगा ?

अ. माना पीटे जाने पर फैलता है ।

आ. इस प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ के अनुसार ब्रह्मांड की सृष्टि छह दिन में हुई थी।

इ. विश्व की सृष्टि छह दिन में हुई थी।

ई. प्रत्येक सम संख्या दो अभाज्य संख्याओं का योग होती है।

उ. किसी दिन युद्ध बिल्कुल बंद हो जाएगा।

ऊ. π (पाई) का मूल्य ३. १४१६··होता है, परंतु बिल्कुल सही मूल्य किसी भी परिच्छिन्न दशमलव-संख्या के रूप में नहीं बताया जा सकता।

ए. कुछ बिल्लियाँ बात कर सकती है।

९. यह मान लो कि आप नीचे की प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति को जानने का दावा करते हैं। यदि किसी ने यह पूछ कर आपको चुनौती दी कि "आप कैसे जानते है कि यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है?" तो आप अपने दावे की पुष्टि कैसे करेंगे?

अ. पृथ्वी लगभग गोल है।

आ. सूर्य की पृथ्वी से दूरी नौ करोड और नौ करोड़ पचास लाख मील के बीच है।

इ. रोजाना सुबह जागने के बाद लगभग एक घंटे तक मुझे उदास लगता है।

ई. जब वह निश्चय कर लेता है तब वह उसे बिल्कुल नहीं बदलता।

उ. रोजाना सुबह जागने के बाद लगभग एक घंटे तक उसे उदास लगता है।

ऊ उसके मन में अनेक दमित दोष-भावनाएँ हैं।

ए हाइड्रोजन के परमाणु में एक इलेक्ट्रॉन होता है।

ऐ. अल्ला और जेहोवा उसी ईश्वर के रूप है।

ओ हरे सेब खाना आपके लिए अच्छा नहीं है।

औ. किसीका विश्वासपात्र बनने के लिए उसकी चाटुकारिता करना अच्छी बात नहीं है।

८

१. इनमें से किन उदाहरणों मे "जानना" प्रतिज्ञप्तिमय है? समझाकर बताइए और जहाँ कोई प्रतिज्ञप्ति शामिल हो उसे बताइए।

अ. क्या आप जानते हैं कि इस समस्या का हल क्या है?

आ. क्या आप उसे निकट से जानते हैं?

इ. क्या मनुष्य की बुद्धि वास्तविकता को जान सकती है?

ई. क्या आप जानते है कि उडुकच्छेदन कैसे किया जाता है ?

उ क्या आप जानते है कि वह अपने परिवार को उस तरह से त्यागकर क्यो चला गया ?

ऊ क्या आप जानते है कि किस प्रेमी से उसने विवाह किया ?

ए कोई भी व्यक्ति तब तक युद्ध को नही जानता जब तक उसने युद्ध न देखा हो ।

ऐ क्या आप जानते है कि डेजा वू की अनुभूति (पहली बार सामने आनवाली वस्तु के बारे मे यह भ्रम कि उसे पहले कही देखा था) किस प्रकार की होती है ?

ओ मैं नही जानता कि ऐसी परिस्थिति मे क्या करना चाहिए ।

औ क्या आप उस शब्द का अर्थ जानते है ?

२ क्या आप भविष्य के बारे मे किसी प्रतिज्ञप्ति को जान सकते हैं (यह नही कि आप किसी ऐसी प्रतिज्ञप्ति मे विश्वास करना युक्तियुक्त समझते है) ? हेतु भी बताइए ।

३ निम्नलिखित प्रत्येक उदाहरण मे क्या आप जानते है (न कि विश्वास मात्र करते है या विश्वास करने का हेतु तक बता सकते है) कि प्रतिज्ञप्ति सत्य है ? अपने उत्तर को हेतु बताकर पुष्ट कीजिए ।

अ यह सडक पहाड के दूसरी ओर चली गई है ।

आ यदि मैं खडिया के इस टुकडे को छोड दूं तो यह गिर पडेगा ।

इ इस इमारत की दूसरी मंजिल अब पानी मे नही डूबी हुई है ।

ई मेज का एक पिछला भाग है और एक अदरूनी भाग है, हालांकि उन्हे इस समय मैं देख नही पा रहा हूं ।

उ. मेरे सामने यह जो कौवा है वह काला है ।

ऊ सब कौवे काले होते हैं ।

ए आपके अदर एक दृष्टि तन्त्रिका है ।

ऐ आप अब एक करोडपति नही हैं ।

ओ जूलियस सीजर कभी जीवित था ।

औ आज सुबह तुमने नाश्ता किया था ।

अं कल सूर्योदय होगा ।

अः धार कालिदास मे अवतार नही है ।

क. मेरे अंदर रक्त, अस्थियाँ और हृदय आदि अंग हैं और मैं घास-फूस का नही बना हूँ ।

ख. यह मेज एलीवेटर बनकर हम सबको नीचे नही ले जाएगी ।

ग. कुतिया कभी बिलौटो को जन्म नही देगी ।

घ आप कभी किसी संतरे के पिता (या माता) नहीं बनेगे ।

ङ. आप इस समय निद्रा मे (या मृत) नही है ।

च. आपने कल रात के खाने के साथ कपूर की गोलियाँ नही खाईं ।

छ. यह वही मेज है जो कल इस कमरे मे थी ।

ज. कुछ सिनेमाघर इस समय दुनिया मे है ।

झ आपका जन्म हुआ था (यह नही कि आप अंडे से निकले या स्वत. उत्पन्न हुए) ।

ञ. सब मनुष्य मरणशील हैं ।

ट पृथ्वी (लगभग) गोल है ।

ठ. इस समय आपको अपभ्रम नही हो रहा है ; आप सिर्फ यह सोच रहे है कि आप मेज को देख रहे है।

ड. पृथ्वी पाँच मिनट पहले उत्पन्न नही हुई।

ढ २ धन २ बराबर ४ होता है ।

ण. इस समय आप स्वप्न नही देख रहे हैं ।

त. इस समय आप अनेक रग देख रहे है ।

थ आप अपने माता-पिता से आयु मे छोटे हैं ।

द आप कोयल नही है ।

ध. मकान के अदर बिजली के तार डालना एक ऐसा काम है जिसे या तो अच्छी तरह करना चाहिए या करना ही नही चाहिए ।

४ ऊपर की किस-किस प्रतिज्ञप्ति को आप प्रबल अर्थ मे जानने का दावा करेगे और क्यो ?

५ क्या आप निम्नलिखित कथनो से सहमत है ? क्यो अथवा क्यो नही ?

अ व्यक्ति केवल उसीको जान सकता है जिसे उसने अपनी ज्ञानेंद्रियो से देखा हो ।

आ देखना और विश्वास करना एक ही बात है।

इ जो आप सुनते है उसपर कतई विश्वास न कीजिए और जो आप देखते हैं उसमे से केवल आधे पर विश्वास कीजिए ।

ई. पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित कोई भी निर्णय पूर्णत: निश्चयात्मक नही होता ।

उ. आप तब तक कुछ नही जान सकते जब तक आप उसे सिद्ध न कर दें।

ऊ. आस्था से आप ऐसी बातें जान सकते हैं जिन्हें आप इंद्रियानुभव से या तर्कबुद्धि से नही जान सकते ।

ए. किसी बात पर विश्वास करना यह अर्थ रखता है कि आप उसे सत्य मानकर उसपर अमल करने के लिए तैयार है।

ऐ यदि आप्तप्रमाण को ज्ञान का एक स्रोत न माना जाय तो हमारे ज्ञान का इस समय जितना विशाल दायरा है वह असंभव हुआ होता ।

ओ. यदि मुझे किसी चीज का इल्हाम हुआ है तो उसे सत्य होना चाहिए ; यदि वह सत्य नही है तो ऐसा केवल लगा ही था कि उसका मुझे इल्हाम हुआ !

६. किसी बात का ज्ञान होने के लिए यह जरूरी है कि उसके पक्ष में प्रमाण हो । क्या यह जानना भी जरूरी है कि वह प्रमाण है, अथवा इतना ही पर्याप्त है कि आपके पास प्रमाण है ?

७. "जानना" की निम्नलिखित परिभाषा का मूल्याकन कीजिए : जानना सदैव सही कहने की योग्यता है । यदि मैं सदैव आपको यह बता सकूं कि आपके मन मे क्या विचार है तो मैं जानता हूँ कि वे क्या है—भले ही मैं यह न जानता होऊँ कि मैं वह कैसे जान लेता हूँ (मैं कोई प्रमाण न बता पाऊँ), और मैं जो कहता हूँ उसपर विश्वास तक न करूं (हो सकता है कि जो मेरे मन में आता हो उसको मैं कह मात्र देता होऊँ और उसमें विशेष रूप से कोई विश्वास प्रकट न करूं)। अत:, ज्ञान की परिभाषा से विश्वास और प्रमाण को हटा देना चाहिए : ज्ञान के लिए सिर्फ सदैव सही कहने की योग्यता ही काफी है ।

८ इस कथन का मूल्यांकन कीजिए : "कुछ प्रतिज्ञप्तियों को निश्चयात्मक होना चाहिए, क्योंकि यदि कोई भी निश्चयात्मक न हो तो कोई भी प्रसंभाव्य नहीं हो सकेगी। प्रसभाव्यता का संप्रत्यय निश्चयात्मकता के संप्रत्यय मे अनुस्यूत है । यदि हम यह न जानते होते कि किसी बात का निश्चयात्मक होना क्या होता है तो प्रसभाव्यता को आंकने के लिए हमारे पास कोई मानक न होता । हम यह तक न जान पाते कि "प्रसभाव्य" शब्द का क्या अर्थ है ।"

९

१ निम्नलिखित प्रतिज्ञप्तियो मे से विश्लेषी कौन हैं ? हेतु बताते हुए उत्तर दीजिए

अ. सब हस सफेद होते हैं।

आ. सब हस पक्षी हैं।

इ. सब चाचियाँ महिलाएँ होती हैं।

ई. सब चाचिया रक्त सबधी होती हैं।

उ सब मनुष्य मरणशील है।

ऊ. सब मनुष्य स्वार्थी होते है।

ए सामान्य व्यक्ति बहुसख्यको की तरह व्यवहार करते है।

ऐ. वृत्त कभी सीधी रेखाओं से नही बनते।

ओ. ऊदबिलाव समूर वाला प्राणी है।

औ समुद्र की सतह पर पानी २१२° फा० पर खौलता है।

अं सभी मछलियाँ पानी मे रहती है।

अः लोग विचित्र होते हैं।

क जब लोग बहुत बडी सख्या मे कारोबार से हीन हो जाते है तब इसके फलस्वरूप बेरोजगारी हो जाती है।

२. सूची ३ मे जो प्रतिज्ञप्ति-आकार दिए गए हैं उनमे से पुनरुक्तियो के बोधक कौन है ? (किनसे प और फ के सभी मूल्यों के लिए सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ प्राप्त होगी ?) हेतु बताते हुए उत्तर दीजिए।

३. सूची २ मे कौन-सी प्रतिज्ञप्तियाँ पुनरुक्तियाँ हैं (उन प्रतिज्ञप्ति-आकारो के प्रतिस्थापन-दृष्टात, जिनमे सदैव पुनरुक्तियाँ प्राप्त होती हैं) ? हेतु भी बताइए।

४. क्या आपके विचार से सूची १, २ या ३ मे कोई ऐसी बातें हैं जो स्वतोव्याघाती हो ? हेतु भी बताइए।

५ क्या नीचे के कथनो का खडन करनेवाली कोई बात हो सकती है ? यदि नही, तो क्या इस वजह से वे विश्लेषी हैं ? समझाकर बताइए।

अ. यदि आप इस किताब को काफी देर तक पढ़ें तो आप इसे समझ जाएँगे।

आ. यदि मै गलती नही कह रहा हूँ तो मैं इस समय बगदाद मे हूँ ।

इ. किसी दिन राष्ट्रों के बीच युद्धो का होना बंद हो जाएगा ।

ई. काल पीछे की ओर नही लौट सकता ।

उ. प्रत्येक ऐसे अभिप्रेरक से काम करता है जो (काम के समय) सबसे प्रबल होता है ।

ऊ इस दौड मे सबसे अच्छा धावक वह है जो जीतेगा ।

६. क्या निम्नलिखित बाते तर्कत. सभव है ? अपने उत्तर के समर्थन में हेतु भी दीजिए ।

अ. १०,००० फुट ऊँची छलांग मारना ।

आ ध्वनि को देखना ।

इ. अचेतन इच्छा का होना ।

ई. कोई ऐसी चीज देखना जिसका अस्तित्व नही है ।

उ. (आनेवाले) कल का समाचारपत्र आज पढना ।

ऊ. नदी को पार कर लेना और उसके उसी किनारे पर रहना जहाँ से आप चले थे ।

ए. आखों के बिना देखना ।

ऐ उछलकर अगले सप्ताह के मध्य मे पहुँच जाना ।

ओ ठोस लोहे के एक टुकडे का पानी पर तैरना ।

औ. ऐसी ध्वनि का होना जिसे दुनिया मे कोई भी प्राणी न सुन सके ।

अं. ऐसे मेज का होना जो अपने ऊपर रखी किताबो को खा जाय ।

अः ऐसे चकसे का होना जिसकी पूरी सतह एक ही समय मे शुद्ध लाल और शुद्ध हरी हो ।

क. मगल के बाद बुध न होकर सीधे बृहस्पतिवार का आना (मान लो कि आप उसी जगह पर है और अतर्राष्ट्रीय दिनाक-रेखा को पार नही करते) ।

ख. किसी भी जगत् का अस्तित्व न होना ।

ग. दिक् के एक भाग का किसी अन्य भाग मे पहुँच जाना ।

घ. विचारक के बिना विचार का होना ।

ङ. सरल रेखा का दो बिंदुओं के बीच की अल्पतम दूरी न होना ।

च. समय का उल्टी ओर चलना (हाँ या नही कहने से पहले इस कथन को स्पष्ट करने की कोशिश कीजिए) ।

छ. भौतिक शरीर के समाप्त हो जाने पर व्यक्ति को अनुभवों का होना (इस बारे में अधिक अध्याय ६ में कहा गया है)।

ज. एक युवती थी
जो प्रकाश से भी तेज चलती थी।
एक दिन वह भाग गई
और पिछली रात को लौट आई।

१०

१. नीचे के प्रत्येक उदाहरण में प्रतिज्ञप्ति क्या एक अनिवार्य सत्य है ? क्या वह सत्य है भी ? हेतु सहित बताइए।

अ "प्रत्येक रंगवाली चीज आकृतिवाली होती है।" परंतु आकाश ?

आ. "प्रत्येक आकृतिवाली चीज रंगवाली होती है।" परंतु बर्फ का क्यूब ?

इ. "प्रत्येक आकृतिवाली चीज परिमाणवाली होती है।" परंतु इंद्रधनुष के या आपको अपनी आँखों के सामने दिखाई देनेवाले गोल धब्बों के बारे में क्या कहा जाएगा ?

ई. "आकृतिवाली प्रत्येक चीज आयतनवाली होती है।" परंतु त्रिभुज के बारे में क्या कहेंगे ? (यदि तीन विमाओं वाली आकृति से मतलब हो तो क्या यह कथन सत्य होगा ?)

उ. "आयतनवाली प्रत्येक चीज आकृतिवाली होती है।" एक गिलास में भरे पानी के या एक कक्ष में छोड़ी हुई गैस या गैसों के बारे में क्या कहेंगे ?

ऊ. "भौतिक द्रव्य सदैव ठोस, तरल या वायव्य होता है।" एक अणु के बारे में क्या कहेंगे ?

२. निम्नलिखित प्रतिज्ञप्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार कीजिए :

(१) अनिवार्य परंतु संश्लेषी नहीं,
(२) संश्लेषी परंतु अनिवार्य नहीं, अथवा
(३) अनिवार्य और संश्लेषी, दोनों ही।

प्रत्येक का हेतु भी बताइए।

अ. आकृतिवाली प्रत्येक चीज परिमाणवाली होती है।

आ. आयतनवाली प्रत्येक चीज आकृतिवाली होती है।

इ. आकृतिवाली प्रत्येक चीज रंगवाली होती है (नोट—क्या "रंगवाली" में पारदर्शी भी शामिल है ?)

ई. प्रत्येक ध्वनि मे तारत्व, आयतन और टिम्बर होता है।

उ. प्रत्येक रग मे वर्ण, दीप्ति और सतृप्ति होते है।

ऊ. आकृतिवाली प्रत्येक चीज विस्तारवाली होती है।

ए. विस्तारवाली प्रत्येक चीज आकृतिवाली होती है।

ऐ ४०६९४ + २७५९३ = ६८२८७

ओ. स्तनधारी किसी भी प्राणी के पर नही उगते।

औ. विश्व के अदर भौतिक द्रव्य का प्रत्येक कण प्रत्येक अन्य कण को अपनी ओर आकर्षित करता है और उसका आकर्षण-बल मध्यगत दूरी के प्रतिलोम अनुपात मे तथा द्रव्यमानो के गुणनफल के अनुलोम अनुपात में बदलता है। (न्यूटन का सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण का नियम।)

अं. सरल रेखा दो बिंदुओ के बीच की अल्पतम दूरी है।

अ. यदि एक रेखा र हो और एक बिंदु व उस रेखा के ऊपर न हो, तो व मे से र के समातर केवल एक ही रेखा खीची जा सकती है।

क. यदि प सत्य है तो प असत्य नही है।

ख या तो प सत्य है या असत्य है।

ग. अपने कर्तव्य का पालन करना ठीक होता है।

घ. यदि क ख के उत्तर मे है और ख ग के उत्तर मे है तो क ग के उत्तर मे है।

ङ. यदि क ख के पूर्व मे है और ख ग के पूर्व मे है तो क ग के पूर्व मे है।

च. यदि सैनफ्रासिस्को टोक्यो के पूर्व मे है और टोकियो लदन के पूर्व मे है तो सैनफ्रान्सिको लदन के पूर्व मे है।

छ कोई भी व्यक्ति अपनी माँ की मृत्यु के तीन महीने बाद पैदा नही हो सकता।

ज कोई भी व्यक्ति अपने पिता की मृत्यु के तीन महीने बाद पैदा नही हो सकता।

झ प्रत्येक घन के बारह किनारे होते है (देखिए सी० एच० लैंगफोर्ड, "ए प्रफ दैट सिन्थैटिक अ प्रायोराइ प्रीपोजीशन्स एक्जिस्ट," जर्नल ऑफ फिलॉसफी, १९४९)।

ञ यदि अ ब को मारा है और ब स को खा चुका है तो अ स को खा चुका है।

ट. यदि अ ब के पहले होता है और व स के पहले होता है तो अ स के पहले होता है।

ठ यदि अ व से काम लेता है और ब स से काम लेता है तो अ स से काम लेता है।

ड. एकही स्थान और एकही काल मे एकही परिच्छेद्य (जैसे रग) के अतर्गत दो भिन्न परिच्छिन्न (जैसे लाल और हरा) नही हो सकते।

ढ. प्रत्येक सम संख्या दो अभाज्य सख्याओ का योग होती है (गोल्डबाक का प्रमेय)।

ण. यदि अ ब से अलग नही पहचाना जा सकता और ब स से तो अ स से अलग नही पहचाना जा सकता।

३ नीचे के कथनो पर टिप्पणी कीजिए .

अ. एक अमीवा दो मे विभक्त हो जाता है और दो अमीबा बन जाते है। अत: १=२।

आ पाँच सेर आटे के एक थैले को एक-एक सेर के पाँच थैलो मे विभक्त करने की कोशिश करके देखिए। आप ऐसा नही कर पाएगे—प्रत्येक थैले मे एक सेर से थोडा-सा कम आटा होगा। अत १+१+१+१+१ का ५ के बराबर होना अनिवार्य नही है।

इ दो सेव और दो सेव अनिवार्यत. चार सेव होते है।

ई. सत्यता ज्यामिति के प्रसग मे कुछ नही है।

उ. अकगणित की प्रतिज्ञप्तियाँ ताथ्यिक अश से रहित होती है।

ऊ एक प्रतिज्ञप्ति से दूसरी का अनुमान करने के लिए आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम इसके लिए उपयुक्त शाब्दिक परिपाटी को चला दें।

ए. जैसा कि वैकल्पिक ज्यामितियो के अस्तित्व से सिद्ध है, एक ज्यामिति दूसरी से अधिक सत्य नही है।

ऐ. जब हम बच्चे थे तब हमने सीखा था कि २+२=४। अत, यह प्रागनुभविक नही हो सकता।

११

१. नीचे के कथनो पर टिप्पणी कीजिए :

अ. "वह या तो कमरे मे है या नही है"—मध्याभाव-नियम का एक उदाहरण। परंतु मान लो कि वह आधा अंदर और आधा बाहर है? अथवा

मान लो कि वह मर गया है ? अथवा मान लो कि हमने गलती से यह सोच लिया था कि उसका अस्तित्व है ? ऐसे प्रसगो मे मध्याभाव-नियम सत्य नही होता ।

आ. एक आदमी अपनी पत्नी से एकसाथ और एकही बात तक मे प्रेम और घृणा कर सकता है । अत अव्याघात का नियम ऐसे प्रसंग मे लागू नही होता । इसी प्रकार "मेरे पास वह है और नही भी है" इत्यादि प्रसंगो मे भी ।

इ. अ सदैव अ नही होता—एक लडका आदमी बन जाता है; एक बेंगची मेढक बन जाता है । विश्व गतिशील है, स्थिर नही—और अरस्तू का तादात्म्य का नियम विश्व के गतिशील स्वरूप का विचार नही कर सकता ।

ई आधारिकाओ से निष्कर्ष निगमित करने मे हम ऐसी नई बाते सीख सकते है जिन्हे हम आधारिकाओ का कथन करते समय नही जानते थे । इस प्रकार हम उनसे नया ज्ञान प्राप्त करते हैं । अत , निगमन के निष्कर्ष विश्लेषी नही हो सकते ।

उ. यह सिद्ध करना असभव है कि अ अ है या जो मेज है वह अ-मेज नही है । किसी अन्य बात की सहायता से इसे सिद्ध नही किया जा सकता, और स्वय इसी के द्वारा इसे सिद्ध करना चक्रक-दोष होगा । अत , इसे सिद्ध किया ही नही जा सकता । इसलिए इसपर विश्वास करने का कोई आधार नही है ।

ऊ. "या तो अ या न-अ" । उदाहरणार्थ, या तो विचार हरे हैं या हरे-नही हैं । परतु यह तो एक बेतुकी बात हुई । वे न तो हरे होते हैं और न हरे-नही रग या सप्रत्यय विचारो पर लागू होता ही नही । उसे उनपर लागू करना कोटि-दोष है ।

ए. "यह मेज और मेज नही दोनो नही हो सकता" एक ऐसा कथन है जो अतर्वस्तु से बिल्कुल शून्य है । यह हमे मेज के बारे मे कुछ भी नही बताता, यह कोई जानकारी नही देता, इसमे बिल्कुल भी "तात्त्विक अतर्वस्तु (अर्थ)' नही है ।

ऐ तर्कशास्त्र के तथाकथित नियम कुछ नही है, सिर्फ अनुमान के तरीके हैं—और तरीके सत्य या असत्य नही होते, हालांकि उपयोगी या अनुपयोगी हो सकते हैं ।

ओ जब माता-पिता बच्चे को एक शब्द "अ" का अर्थ सिखाते हैं तब उसे बताया यह जाता है कि "अ" का चीजो के लिए कब प्रयोग होगा और

कब नही। यही बात तब भी होती है जब वाक्य का अर्थ सिखाया जाता है, जैसे "बर्फ गिर रही है" का। इस प्रकार बालक सीख लेता है कि वाक्य वास्तविक जगत की किस परिस्थिति का निर्देश करता है। परतु वह "अ और न-अ दोनो नहीं" का अर्थ कैसे सीख सकता है, क्योकि यह तो कभी असत्य हो नही सकता ? चूंकि ऐसी कोई परिस्थिति सभव है ही नही जिसपर यह लागू न होता हो, इसलिए वह इसका अर्थ कैसे सीख पाएगा ?

२. तर्कशास्त्र के मूल सिद्धातो के बारे मे इद्रियानुभववादियो का जो मत है उसके पक्ष मे आप जितनी भी युक्तियाँ सोच सकते हो उनको यथासभव स्पष्ट रूप से सक्षेप मे बताइए और तत्पश्चात् तर्कबुद्धिवादियो के मत की समर्थक सब युक्तियो को। आप किस मत को अधिक युक्तियुक्त पाते है, और क्यो ?

१२

१. गणित को कभी-कभी विज्ञान कहते हैं, पर वह इद्रियानुभविक विज्ञान नहीं है। क्यो नही है ?

२. ज्योतिष, कीमिया, और कपालविद्या को विज्ञान क्यो नही माना जाता ? क्या भूगोल को एक विज्ञान मानना चाहिए ? (क्या उसमे नियम होते हैं ?) इजीनियरी और चिकित्साशास्त्र को क्या माना जाएगा ?

३. नीचे कौन-कौन सैद्धातिक सप्रत्यय हैं और कौन-कौन प्रेक्षणगम्य वस्तुओ मात्र का निर्देश करते है ? (अ) गुरुत्वाकर्षण (भौतिकी मे); (आ) द्रव्यमान (भौतिकी मे); (इ) प्रकाश-तरगे (भौतिकी मे), (ई) सवहन-धाराएँ (भौतिकी मे), (उ) क्वासर (खगोल मे); (ऊ) कास्मिक किरणें (भौतिकी और खगोल मे); (ए) चुबकीय क्षेत्र (भौतिकी मे); (ऐ) समस्थानिक (रसायन मे); (ओ) जीन (जीवविज्ञान मे); (औ) औसत अमरीकी मतदाता (समाजशास्त्र मे) ; (अं) बु०ल० (मनोविज्ञान मे) , (अ) अवरुद्ध अक्रामकता (मनोविज्ञान मे)।

४. वर्णनात्मक और विधायी नियमो के अतर को ध्यान मे रखते हुए नीचे के कथनो का मूल्याकन कीजिए :

अ हमे प्रकृति के नियमो का उल्लघन नही करना चाहिए।

आ. मैं कल क्या करूँगा, यह प्रकृति के नियमो ने पहले ही नियत कर लिया है।

इ. जब नियम होता है तब नियम-प्रदाता का अस्तित्व भी जरूरी होता है।

ई. हम नियम बनाते नही है, उन्हें हम ढूंढ़ते है।

उ प्रकृति के नियम विश्व का नियंत्रण करते है।

ऊ. हमारा व्यवहार अनिवार्यतः मनोवैज्ञानिक नियमों का अनुसरण करता है।

५. नीचे की किन प्रतिज्ञप्तियों को आप प्रकृति के नियम कहेंगे ? क्यो ?

अ. आक्सीजन के संपर्क से लोहा जंग खा जाता है।

आ. सोना आघात से बढ़ता है।

इ. सब मनुष्य मरणशील है। (वे कभी-न-कभी मर जाते है।)

ई. नीली आँखोंवाले सारे सफेद बिल्ले बहरे होते है।

उ. जब जीव संतान को पैदा करते है तब संतान सदैव उसी जाति की होती है।

ऊ. संयुक्तराज्य, अमरीका के सब कौवे काले है।

ए. सब महासागर जल से भरे हैं।

ऐ. अमरीकी मतदाताओं मे से एक तिहाई रिपब्लिक पार्टी से संबंध रखते हैं।

६. नीचे के कौन-से क्यो-प्रश्न हेतु पूछ रहे है और कौन-से व्याख्या पूछ रहे हैं ? क्या कोई ऐसा है जिसे दोनों ही चीजे पूछनेवाला समझा जा सके ?

अ. पानी क्यों खौला ? क्योंकि मैंने उसे आग के ऊपर रख दिया था।

आ. तुमने मैनेजर की चापलूसी क्यो की ? क्योंकि मै तरक्की चाहता था।

इ आप क्यों सोचते हैं कि शाम को वर्षा होगी ? क्योंकि काले बादल घिर रहे हैं।

ई. आप क्यों सोचते हैं कि इस शताब्दी में एक और महायुद्ध नहीं होगा ? क्योंकि वर्तमान नाभिकीय अस्त्रों के भय से कोई देश यह खतरा मोल नही लेगा।

७. नीचे की व्याख्याओं का मूल्यांकन कीजिए। जो व्याख्याएँ असंतोषजनक है उनके असंतोषजनक होने की वजह बताइए।

अ पक्षी घोंसले क्यों बनाते है ? क्योंकि उन्हें एक ऐसी जगह की जरूरत होती है जहाँ वे अंडे दे सकें और अपने बच्चों को पाल सकें।